जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(प्रथम भाग)

तीर्थंकर खण्ड

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(प्रथम भाग)

तीर्थंकर खण्ड

प्रेरणा एवं निर्देशन

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

आलेखन, सम्पादन

श्री गजसिंह राठौड़

जैन न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ

श्री प्रेमराज बोगावत

व्याकरण तीर्थ, न्याय-सिद्धान्त विशारद

परामर्श

श्री देवेन्द्र मुनि 'शास्त्री'

डॉ. नरेन्द्र भानावत

प्रकाशक

जैन इतिहास समिति

लाल भवन चौड़ा रास्ता

जयपुर-302004 (राजस्थान)

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर-3 (राजस्थान)

फोन . 0141 - 565997

प्रकाशक :
जैन इतिहास समिति
आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता
जयपुर-302 004 (राज.)

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर-302003 (राज.)
फोन : 0141 - 565997

प्रथम संस्करण : 1971
द्वितीय संस्करण : 1981
तृतीय संस्करण : 1998
चतुर्थ संस्करण : 1999
पंचम संस्करण : 2000
षष्ठम् संस्करण : 2002

मूल्य : रु. 500/- (रुपये पाँच सौ मात्र)

मुद्रक :
दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस
मोतीसिंह भौमियों का रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर
फोन . 562929, 564711

विषय सूची

भगवान् श्री पार्श्वनाथ :

समर्पण

पुण्ये शताब्दि-सु-महे तव पंचविंशे,

श्री वर्द्धमान ! जिननाथ ! समर्पयामि ।

जैनेतिहासकुसुमस्तवकं द्वितीयम्,

ते हस्तिमल्लमुनिपोऽहमतीव भक्त्या ।।

जिस व्यक्ति को, अपनी सस्कृति, अपने धर्म, राष्ट्र, समाज अथवा जाति के इतिहास का ज्ञान नहीं, उसे यदि किसी सीमा तक चक्षुविहीन की सज्ञा दे दी जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार चक्षुविहीन व्यक्ति को पथ, सुपथ, कुपथ, विपथ का ज्ञान नहीं होने के कारण पग-पग पर स्खलनाओ एव विपत्तियो का दु ख उठाना अथवा पराश्रित होकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार अपने धर्म, समाज, सस्कृति और जाति के इतिहास से नितान्त अनभिज्ञ व्यक्ति भी न स्वय उत्कर्ष के पथ पर आरूढ हो सकता है और न ही अपनी सस्कृति, अपने धर्म, समाज अथवा जाति को अभ्युत्थान की ओर अग्रसर करने मे अपना योगदान कर सकता है।

इन सब तथ्यो से यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी धर्म, समाज, संस्कृति अथवा जाति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरणा के प्रमुख स्रोत उसके सर्वांगीण शृखलाबद्ध इतिहास का होना अनिवार्य रूप से परमावश्यक है।

जैनाचार्य प्रारम्भ से ही इस तथ्य से भलीभॉति परिचित थे। श्रुतशास्त्र-पारगामी उन महान् आचार्यो ने प्रथमानुयोग, गण्डिकानुयोग, नामावलि आदि ग्रन्थो मे जैन धर्म के सर्वांगपूर्ण इतिहास को सुरक्षित रखा। उन ग्रन्थो मे से यद्यपि आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ये तीनो ही कालप्रभाव से विस्मृति के गहन गर्त मे विलुप्त हो गये तथापि उन विलुप्त ग्रन्थो मे जैन धर्म के इतिहास से सम्बन्धित किन-किन तथ्यो का प्रतिपादन किया गया था, इसका स्पष्ट उल्लेख समवायाग सूत्र, नन्दिसूत्र और पउमचरिय मे अद्यावधि उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यो ने भी इस दिशा मे समय-समय पर सजग रहते हुए निर्युक्तियो, चूर्णियो, चरित्रो, पुराणो, प्रबन्धकोषो, प्रकीर्णको, कल्पो, स्थविरावलियो आदि की रचना कर प्राचीन जैन इतिहास की थाती को सुरक्षित रखने मे अपनी ओर से किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। उन इतिहास ग्रन्थो मे प्रमुख है— पउम चरिय, कहावली, तित्थोगाली पइन्नय, वसुदेव हिडी, चउवन्न महापुरिस-चरिय, आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, परिशिष्ट पर्व, हरिवश पुराण, महापुराण, आदि पुराण, महाकवि पुष्पदन्त का अपभ्रश भाषा मे महापुराण, हिमवन्त स्थविरावली, प्रभावक चरित्र, कल्पसूत्रीया स्थविरावली, नन्दीसूत्रीया स्थविरावली, दुस्समा समणसघथय आदि। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त खारवेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख और विविध स्थानो से उपलब्ध सहस्रो शिलालेखो, ताम्रपत्रों आदि मे जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य यत्र-तत्र

सुरक्षित रखे अथवा बिखरे पड़े हैं। इन ग्रन्थो एव शिलालेखों की भाषा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम आदि प्राचीन प्रान्तीय भाषाएँ है, जो सर्वसाधारण की समझ से परे है। उपरिलिखित इतिहासग्रन्थो मे अपने-अपने ढंग से तत्कालीन शैलियो मे जिन ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख किया गया है, उन सबके समीचीन व क्षीर-नीर विवेकपूर्वक अध्ययन-चिन्तन मनन के पश्चात् उन सब मे ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की सामग्री को कालक्रम एव शृखलाबद्ध रूप से चुन-चुन कर सार रूप मे लिपिबद्ध करने पर तीर्थकरकालीन जैन धर्म का इतिहास तो सर्वागपूर्ण एव अतीव सुन्दर रूप मे उभर कर सामने आता है किन्तु तीर्थकर काल से उत्तरवर्ती काल का, विशेषतः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का लगभग ७ शताब्दियो तक का जैन धर्म का इतिहास ऐसा प्रच्छन्न, विशृंखल, अन्धकारपूर्ण, अज्ञात अथवा अस्पष्ट है कि उसको प्रकाश मे लाने का साहस कोई विद्वान् नहीं कर सका। जिस किसी विद्वान् ने इस अवधि के तिमिराच्छन्न जैन इतिहास को प्रकाश मे लाने का प्रयास किया, उसी ने पर्याप्त प्रयास के पश्चात् हतोत्साह हो यही लिख कर अथवा कह कर विश्राम लिया कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का पॉच-छह शताब्दी का जैन इतिहास नितान्त अन्धकारपूर्ण है, उसे प्रकाश मे लाने के स्रोत वर्तमान काल मे कहीं उपलब्ध नहीं हो रहे है।

इन्हीं सब कारणो के परिणामस्वरूप पिछले लम्बे समय से अनेक वार प्रयास किये जाने के उपरान्त भी वर्तमान दशक से पूर्व जैन धर्म का सर्वागपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास समाज को उपलब्ध नहीं कराया जा सका। जैनधर्म के सर्वागीण क्रमबद्ध इतिहास का यह अभाव वस्तुत बडे लम्बे समय से चतुर्विध संघ के सभी विज्ञ सदस्यों के हृदय में खटकता आ रहा था। सन् १९३३ की ५ अप्रैल से २९ अप्रैल तक अजमेर में जब वृहद् साधु सम्मेलन हुआ तो उसमे भी बड़े-बड़े आचार्यो, सन्तों, साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओं ने जैन धर्म के इतिहास के निर्माण की दिशा मे प्रयास करने का निर्णय लिया। जैन कान्फ्रेन्स ने भी अपने वार्षिक अधिवेशनो मे इस कमी को पूरा करने के सम्बन्ध मे प्रस्ताव भी अनेक बार पारित किये किन्तु समुद्र मन्थन तुल्य नितान्त दुस्साध्य इस इतिहास-लेखन कार्य को हाथ मे लेने का किसी ने साहस नहीं किया, क्योकि इस महान् कार्य को अथ से इति तक सम्पन्न करने के लिए वर्षो तक भगीरथ तुल्य श्रम करने वाले, साधना करने वाले किसी भगीरथ की ही आवश्यकता थी। इस सब के परिणामस्वरूप इतिहास निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता को एक स्वर से समाज द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के उपरान्त भी प्रस्ताव पारित कर

लेने के अतिरिक्त इस दिशा मे किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकी।

अन्ततोगत्वा सन् १९६५ मे यशस्विनी रत्नवश श्रमण परम्परा के आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज ने समुद्र मन्थन तुल्य श्रमसाध्य, समयसाध्य, इतिहास-निर्माण के इस अतीव दुष्कर कार्य को दृढ सकल्प के साथ अपने हाथ मे लिया। सवत् १९२२ (सन् १९६५) के बालोतरा चातुर्मासावास काल मे सस्कृत, प्राकृत, आगम, आगमिक साहित्य और इतिहास के महामनीषी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा के उद्बोधनो एवं निर्देशन मे न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी, उच्चकोटि के जैन विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, डॉ नरेन्द्र भानावत आदि से परामर्श के साथ इतिहास समिति का निर्माण किया गया। इतिहास-समिति का अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी को, मत्री श्री सोहनमलजी कोठारी को और कोषाध्यक्ष श्री पूनमचन्दजी बड़ेर को सर्वसम्मति से मनोनीत किया गया। इतिहास-निर्माण के इस कठिन कार्य मे सक्रिय सहयोग देने के लिए इतिहास-समिति द्वारा अनेक विद्वान् सन्तो की सेवा मे अनेक बार विनम्र प्रार्थनाए की गई।

बालोतरा चातुर्मासावास की अवधि के समाप्त होते ही आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा ने स्वेच्छापूर्वक अपने हाथ मे लिये गये इस गुरुतर कार्य को पूरा करने के दृढ-सकल्प के साथ बालोतरा से गुजरात की ओर विहार किया। मरुस्थल एव गुजरात प्रदेश मे ग्रामानुग्राम अप्रतिहत विहार करते हुए आपने पाटन, सिद्धपुर, पालनपुर, कलोल, खेड़ा, खम्भात, लींबडी, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि नगरो के शास्त्रागारो, प्राचीन हस्तलिखित ज्ञान भण्डारो के अथाह ज्ञान समुद्र का मन्थन किया, प्राचीन जैन वाङ्मय का आलोडन किया और सहस्रो प्राचीन ग्रन्थो से सारभूत ऐतिहासिक सामग्री का अथक श्रम के साथ सकलन किया। वह सम्पूर्ण संकलन हमारी अनमोल ऐतिहासिक थाती के रूप मे आज श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, शोध-सस्थान, लाल भवन, जयपुर मे सुरक्षित है।

सवत् २०२३ तदनुसार सन् १९६६ के अहमदाबाद चातुर्मास मे विधिवत् इतिहास-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया। तदनन्तर एक चातुर्मासावासावधि में इतिहास समिति ने एक सुशिक्षित नवयुवक को विद्वान् मुनिश्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री की सेवा मे भी इस कार्य को गति देने के लिए रखा। किन्तु सन् १९७० के जून मास तक इस कार्य में अपेक्षित प्रगति नहीं हो पाई। इसका एक बहुत

बड़ा कारण यह था कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी राजस्थानी (राजस्थानी गुजराती मिश्रित) इन सभी प्राच्य भारतीय भाषाओ मे समान रूप से निर्बाध गति रखने वाला कोई ऐसा विद्वान् इतिहास-समिति को नहीं मिला, जो इन भाषाओ के अगाध साहित्य का ऐतिहासिक शोध-दृष्टि से निष्ठापूर्वक अहर्निश अध्ययन कर सारभूत ऐतिहासिक सामग्री को आचार्यश्री के समक्ष प्रस्तुत कर सके। इतना सब कुछ होते हुए भी आचार्यश्री ऐतिहासिक सामग्री के सकलन, आलेखन एवं चिन्तन-मनन मे निरत रहे। आप श्री ने मरुस्थल से सागर तट तक के गुजरात प्रदेश के विहार काल मे विभिन्न ज्ञान भण्डारो से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पट्टावलियो का चयन संशोधन किया। उनके आधार पर एक सारभूत क्रमबद्ध एव संक्षिप्त ऐतिहासिक काव्य की रचना की। उन पट्टावलियो मे से आधी के लगभग पट्टावलियो का इतिहास समिति ने डॉ. नरेन्द्र भानावत से सम्पादन करवा कर सन् १९६८ मे "पट्टावली प्रबन्ध सग्रह" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

१९७० के मई मास के अन्त मे आचार्यश्री के जयपुर नगर मे शुभागमन पर, "महापुरुषो द्वारा चिंतित समष्टिहित के कार्य अधिक समय तक अवरुद्ध नहीं रहते, अगतिमान नहीं रहते"— यह चिर सत्य चरितार्थ हुआ। जैन प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी प्राच्य भाषाओ मे समान गति रखने वाले जिस विद्वान् की विगत पॉच-छ: वर्षों से खोज थी, वह आचार्यश्री को जयपुर आने पर अनायास ही मिल गया। इतिहास-समिति की मांग पर श्री प्रेमराजजी बोगावत, राजस्थान विधानसभा से उन्हीं दिनो अवकाश प्राप्त श्री गजसिंह राठौड़, जैन-न्याय-व्याकरण तीर्थ को आचार्यश्री की सेवा मे दर्शनार्थ लाये। बातचीत के पश्चात् आचार्यश्री द्वारा रचित जैन इतिहास की काव्य कृति— "आचार्य चरितावली" सम्पादनार्थ एव टकणार्थ इतिहास-समिति ने श्री राठौड़ को दी। इसके सम्पादन एव इतिहास विषयक पारस्परिक बातचीत से प्रमुदित हो आचार्यश्री ने फरमाया— "इसका सम्पादन आपने बहुत शीघ्र और समुचित रूप से सम्पन्न कर दिया, गजसा! हमारा एक बहुत बड़ा कार्य पॉच-छ वर्षों से रुका सा पड़ा है, आप इसे गति देने मे सहयोग दीजिये।"

जून, १९७० मे श्री राठौड़ ने इतिहास के सम्पादन का कार्य सम्भाला। समवायाग, आचारांग, विवाह प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रो, आवश्यक चूर्णि, चउवन्न महापुरिस चरियं, वसुदेव हिण्डी, तिलोय पण्णत्ती, सत्तरिसय द्वार, पउम चरियं गच्छाचार पइण्णय, अभिधान राजेन्द्र (७ भाग) षट्खण्डागम, धवला, जय धवला

आदि प्राकृत ग्रन्थो, सर मोन्योर की मोन्योर-मोन्योर संस्कृत टू इंग्लिश डिक्शनेरी आदि आग्ल भाषा के ग्रन्थो, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आदि पुराण, महापुराण, वेदव्यास के सभी पुराणो के साथ-साथ हरिवश पुराण आदि सस्कृत ग्रन्थो और पुष्पदन्त के महापुराण आदि अपभ्रश के ग्रन्थो का आलोडन किया गया और पर्युषण पर्व से पूर्व ही "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" पहला भाग की पाण्डुलिपि का चतुर्थांश और मेड़ता चातुर्मासावासावधि के समाप्त होते-होते पाण्डुलिपि का शेष अन्तिम अश भी प्रेस मे दे दिया गया। प्रथम भाग के पूर्ण होते ही मेड़ता धर्म स्थानक मे इतिहास के द्वितीय भाग का आलेखन भी प्रारम्भ कर दिया गया। जैन धर्म के इतिहास के अभाव की चतुर्थांश पूर्ति से आचार्यश्री को बड़ा प्रमोद हुआ, जैन समाज मे हर्ष की लहर तरगित हो उठी और इतिहास-समिति का उत्साह शतगुणित हो अभिवृद्ध हुआ। प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ-साथ ही इतिहास-समिति ने इसी के अन्तिम अश को "ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर" नाम से एक पृथक् ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित करवाया। सन् १९७१ के वर्षावास काल मे ये दोनो ग्रन्थ मुद्रित हो सर्वतः सुन्दर रूप लिये समाज, इतिहासज्ञों और इतिहास प्रेमियो के करकमलों मे पहुंचे। सन्तो, सतियो, श्रावको, श्राविकाओ, श्वेताम्बर, दिगम्बर, जैन-अजैन सभी परम्पराओ के विद्वानो ने भावपूर्ण शब्दो में मुक्तकण्ठ से इस ऐतिहासिक कृति की और आचार्यश्री की भूरि-भूरि प्रशसा की।

आचार्यश्री की लेखनी मे एक ऐसा अद्‌भुत चमत्कार है कि आपने इतिहास जैसे शुष्क-नीरस विषय को ऐसा सरस-रोचक एवं सम्मोहक बना दिया है कि सहस्रो श्रद्धालु और सैकड़ो स्वाध्यायी प्रतिदिन इसका पारायण करते है।

सन् १९७४ मे आचार्यश्री ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" दूसरा भाग भी पूर्ण कर दिया। १९७५ मे इतिहास-समिति ने इसे प्रकाशित किया। इसकी भी प्रथम भाग की ही तरह भूरि-भूरि प्रशसा और हर्ष के साथ समाज मे स्वागत किया गया। आचार्यश्री के अथाह ज्ञान, अथक श्रम और इस इतिहास ग्रन्थ की प्रामाणिकता एव सर्वांगपूर्णता के सम्बन्ध मे एक शब्द भी कहने के स्थान पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे जैन समाज के सर्वमान्य उच्च कोटि के विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणिया के आन्तरिक उद्‌गार ही उद्धृत कर देना हम पर्याप्त समझते है। श्री मालवणियां ने लिखा है—

"आचार्यश्री !

सादर बहुमान पूर्वक वन्दणा। "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" के रोचक प्रकरण एवं आपकी प्रस्तावना पढ़ी।.................... आपने इस ग्रन्थ मे जैन इतिहास की गुत्थियो को सुलझाने में जो परिश्रम किया है, जैसी तटस्थता दिखाई है, वह दुर्लभ है। वहुत काल तक आपका यह इतिहास-ग्रन्थ प्रामाणिक इतिहास के रूप मे कायम रहेगा। नये तथ्यो की संभावना अव कम ही है। जो तथ्य आपने एकत्र किये हैं और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रन्थ को पढ़कर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी वढ़ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागो मे भी आप करेगे।

ये है लब्ध-प्रतिष्ठ शोधकर्ता विद्वान् दलसुख भाई मालवणियॉ के इस अमर ऐतिहासिक कृति और इसके रचनाकार इतिहास-मार्तण्ड आचार्यश्री के भागीरथ प्रयास के सम्बन्ध मे हार्दिक उद्‌गार ! एक गवेषक विद्वान् ही गवेषक विद्वान् के श्रम का सही आंकलन कर सकता है। यह पराकाष्ठा है सही मूल्यांकन की ! आचार्यश्री और इनकी ऐतिहासिक अमर कृति के सम्बन्ध मे इससे अधिक और क्या लिखा जा सकता है ?

सन् १९७५ के अन्तिम चरण मे "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—तृतीय भाग" के लिए सामग्री एकत्रित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वार्गारोहण के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा अपनी नई-नई मान्यताओ के साथ जैन जगत् पर छा गई थी। लगभग सात सौ आठ सौ वर्षो तक भारत के विभिन्न भागो मे चैत्यवासी परम्परा का एकाधिपत्य रहा। भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के साधु-साध्वियो का उत्तर भारत के जनपदो मे विचरण तो दूर रहा, प्रवेश तक पर राजमान्य चैत्यवासी परम्परा ने राज्य की ओर से प्रतिबन्ध लगवा दिया। फलस्वरूप मूल परम्परा के श्रमण, श्रमणियो एव श्रावक-श्राविकाओ की सख्या देश के सुदूरस्थ प्रदेशो मे अंगुलियो पर गिनने योग्य रह गई। विशुद्ध श्रमण धर्म मे मुमुक्षुओ का दीक्षित होना तो दूर, अनेक प्रान्तो मे विशुद्ध श्रमणाचार का नाम तक लोग प्राय· भूल गये। नवोदिता चैत्यवासी परम्परा को ही लोग भगवान् की मूल विशुद्ध परम्परा मानने लगे। वस्तुत. उस सक्राति-काल मे विशुद्ध मूल परम्परा क्षीण से क्षीणतर होती गई और वह लुप्त तो नहीं, किन्तु सुप्त अथवा गुप्त अवश्य हो गई। वीर नि

आदि प्राकृत ग्रन्थो, सर मोन्योर की मोन्योर-मोन्योर सस्कृत टू इग्लिश डिक्शनेरी आदि आंग्ल भाषा के ग्रन्थो, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आदि पुराण, महापुराण, वेदव्यास के सभी पुराणो के साथ-साथ हरिवश पुराण आदि संस्कृत ग्रन्थों और पुष्पदन्त के महापुराण आदि अपभ्रश के ग्रन्थो का आलोडन किया गया और पर्युषण पर्व से पूर्व ही "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" पहला भाग की पाण्डुलिपि का चतुर्थाश और मेड़ता चातुर्मासावासावधि के समाप्त होते-होते पाण्डुलिपि का शेष अन्तिम अश भी प्रेस मे दे दिया गया। प्रथम भाग के पूर्ण होते ही मेडता धर्म स्थानक मे इतिहास के द्वितीय भाग का आलेखन भी प्रारम्भ कर दिया गया। जैन धर्म के इतिहास के अभाव की चतुर्थांश पूर्ति से आचार्यश्री को बडा प्रमोद हुआ, जैन समाज मे हर्ष की लहर तरंगित हो उठी और इतिहास-समिति का उत्साह शतगुणित हो अभिवृद्ध हुआ। प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ-साथ ही इतिहास-समिति ने इसी के अन्तिम अंश को "ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थकर" नाम से एक पृथक् ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित करवाया। सन् १९७१ के वर्षावास काल मे ये दोनो ग्रन्थ मुद्रित हो सर्वत- सुन्दर रूप लिये समाज, इतिहासज्ञो और इतिहास प्रेमियो के करकमलों मे पहुंचे। सन्तो, सतियो, श्रावको, श्राविकाओ, श्वेताम्बर, दिगम्बर, जैन-अजैन सभी परम्पराओ के विद्वानो ने भावपूर्ण शब्दो में मुक्तकण्ठ से इस ऐतिहासिक कृति की और आचार्यश्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

आचार्यश्री की लेखनी मे एक ऐसा अद्‌भुत चमत्कार है कि आपने इतिहास जैसे शुष्क-नीरस विषय को ऐसा सरस-रोचक एवं सम्मोहक बना दिया है कि सहस्रो श्रद्धालु और सैकड़ो स्वाध्यायी प्रतिदिन इसका पारायण करते है।

सन् १९७४ मे आचार्यश्री ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" दूसरा भाग भी पूर्ण कर दिया। १९७५ मे इतिहास-समिति ने इसे प्रकाशित किया। इसकी भी प्रथम भाग की ही तरह भूरि-भूरि प्रशसा और हर्ष के साथ समाज मे स्वागत किया गया। आचार्यश्री के अथाह ज्ञान, अथक श्रम और इस इतिहास ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं सर्वांगपूर्णता के सम्बन्ध मे एक शब्द भी कहने के स्थान पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे जैन समाज के सर्वमान्य उच्च कोटि के विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणियां के आन्तरिक उद्‌गार ही उद्धृत कर देना हम पर्याप्त समझते है। श्री मालवणियां ने लिखा है—

"आचार्यश्री !

सादर बहुमान पूर्वक वन्दणा। "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" के रोचक प्रकरण एवं आपकी प्रस्तावना पढ़ी। .... आपने इस ग्रन्थ मे जैन इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने में जो परिश्रम किया है, जैसी तटस्थता दिखाई है, वह दुर्लभ है। बहुत काल तक आपका यह इतिहास-ग्रन्थ प्रामाणिक इतिहास के रूप मे कायम रहेगा। नये तथ्यों की संभावना अब कम ही है। जो तथ्य आपने एकत्र किये हैं और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रन्थ को पढ़कर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी बढ़ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागो मे भी आप करेंगे।

ये है लब्ध-प्रतिष्ठ शोधकर्ता विद्वान् दलसुख भाई मालवणियॉं के इस अमर ऐतिहासिक कृति और इसके रचनाकार इतिहास-मार्तण्ड आचार्यश्री के भागीरथ प्रयास के सम्बन्ध मे हार्दिक उद्गार ! एक गवेषक विद्वान् ही गवेषक विद्वान् के श्रम का सही आकलन कर सकता है। यह पराकाष्ठा है सही मूल्याकन की ! आचार्यश्री और इनकी ऐतिहासिक अमर कृति के सम्बन्ध मे इससे अधिक और क्या लिखा जा सकता है ?

सन् १९७५ के अन्तिम चरण मे "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—तृतीय भाग" के लिए सामग्री एकत्रित करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वार्गारोहण के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा अपनी नई-नई मान्यताओ के साथ जैन जगत् पर छा गई थी। लगभग सात सौ आठ सौ वर्षों तक भारत के विभिन्न भागो मे चैत्यवासी परम्परा का एकाधिपत्य रहा। भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के साधु-साध्वियो का उत्तर भारत के जनपदो मे विचरण तो दूर रहा, प्रवेश तक पर राजमान्य चैत्यवासी परम्परा ने राज्य की ओर से प्रतिबन्ध लगवा दिया। फलस्वरूप मूल परम्परा के श्रमण, श्रमणियो एव श्रावक-श्राविकाओं की सख्या देश के सुदूरस्थ प्रदेशो में अंगुलियो पर गिनने योग्य रह गई। विशुद्ध श्रमण धर्म मे मुमुक्षुओं का दीक्षित होना तो दूर, अनेक प्रान्तो मे विशुद्ध श्रमणाचार का नाम तक लोग प्राय भूल गये। नवोदिता चैत्यवासी परम्परा को ही लोग भगवान् की मूल विशुद्ध परम्परा मानने लगे। वस्तुत. उस संक्रांति-काल मे विशुद्ध मूल परम्परा क्षीण से क्षीणतर होती गई और वह लुप्त तो नहीं, किन्तु सुप्त अथवा गुप्त अवश्य हो गई। वीर नि.

स १५५४ मे वनवासी वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि ने दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासी परम्परा के आचार्यो को शास्त्रार्थ मे परास्त कर चैत्यवासी परम्परा पर गहरा घातक प्रहार किया। तदनन्तर अभय देव सूरि के शिष्य जिन वल्लभ सूरि वीर नि स १६३७ तक चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन मे निरत रहे। अन्ततोगत्वा जिस चैत्यवासी परम्परा ने भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा को पूर्णत नष्ट कर देने के लगभग सात सौ-आठ सौ वर्ष तक निरन्तर प्रयास किये, उनकी पट्ट-परम्पराओ को नष्ट किया, उसके स्मृति चिह्नो तक को निरवशिष्ट करने के प्रयास किये, वह चैत्यवासी परम्परा भी अन्ततोगत्वा वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के आते-आते इस धरातल से विलुप्त हो गई। यह आश्चर्य की बात है कि जो चैत्यवासी परम्परा देश मे बहुत बड़े भाग पर ७-८ शताब्दियो तक छाई रही, उसकी मान्यता के ग्रन्थ, पट्टावलियाँ आदि के रूप मे कोई साक्ष्य आज कहीं नाममात्र के लिए भी उपलब्ध नहीं है।

इन्हीं कारणो से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् काल के इतिहास की कड़ियो को खोजने और उसे शृखलाबद्ध व क्रमबद्ध बनाने मे बड़े लम्बे समय तक कड़ा श्रम करना पड़ा, अनेक कठिनाइयो को झेलना पड़ा। एक बार तो घोर निराशा सी हुई किन्तु पन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज द्वारा लिखी गई अनेक नोटबुको को सूक्ष्म शोध दृष्टि से पढ़ने पर विशुद्ध मूल परम्परा के एक दो सकेत मिले। महा निशीथ, तित्थोगाली पइन्नय, जिनवल्लभ सूरि सघ पट्टक, मद्रास यूनिवर्सिटी के प्रागण मे अवस्थित ओरियन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मेकेन्जी कलेक्शन्स आदि से तथा पुराने जर्नल्स के अध्ययन से आशा बधी कि वीर नि स. १००० से २००० तक का तिमिराच्छन्न इतिहास भी अब अप्रत्याशित रूप से प्रकाश मे लाया जा सकेगा। यापनीय संघ के सम्बन्ध मे यथाशक्य पर्याप्त खोज की गई। उस खोज के समय भट्टारक परम्परा के उद्भव एव विकास के सम्बन्ध मे तो ३४९ श्लोकों का एक ग्रन्थ मेकेन्जी के सग्रह में प्राप्त हो गया। कर्नाटक मे यापनीय सघ के सम्बन्ध मे भी थोड़े बहुत ऐतिहासिक तथ्य मिले। इन सभी को आधार बनाकर अब तक जैन इतिहास के चारो भाग प्रकाशित किए जा चुके है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन-परिवर्द्धन-परिमार्जन मे श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. ने जो कल्पनातीत श्रम किया था इसके लिए इन महासन्त के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करने हेतु कोष में उपयुक्त शब्द ही नहीं है। स्व आचार्यश्री के सुशिष्य वर्तमान आचार्य प्रवर हीराचन्द्र जी म.

सा ने इस ग्रन्थ के परिमार्जन व परिवर्द्धन में बड़े श्रम के साथ जो अपना अमूल्य समय दिया, उसके लिए हम आचार्य श्री के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ माला के प्रधान सम्पादक श्री गजसिंह राठौड़ ने द्वितीय सस्करण के सम्पादन मे शोध आदि के माध्यम से जो श्रम किया है, उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता।

पंचम संस्करण सहृदय पाठको की प्रगाढ रुचि एवं अत्यधिक मांग के कारण स्वल्प समय मे ही समाप्त हो गया अत. षष्ठम् संस्करण के शीघ्रत: प्रकाशन मे हमे गौरव मिश्रित हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह संस्करण जैन इतिहास समिति एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

पारसचन्द हीरावत	चन्द्रराज सिंघवी	चेतनप्रकाश डूँगरवाल	प्रकाशचन्द डागा
अध्यक्ष	मन्त्री	अध्यक्ष	मन्त्री
जैन इतिहास समिति		सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल	

अपनी बात

(आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज)

धार्मिक इतिहास का आकर्षण

किसी भी देश, जाति, धर्म अथवा व्यक्ति के पूर्वकालीन इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है। उसके पीछे विशिष्ट पुरुषो की स्मृति भी हेतु होती है। इतिहास-लेखन के पीछे मुख्य भावना होती है— महापुरुषो की महिमा प्रकट करते हुए भावी पीढ़ी को तदनुकूल आचरण करने एव अनुगमन करने की प्रेरणा प्रदान करना।

सामान्यत जिस प्रकार देश, जाति और व्यक्तियो के विविध इतिहास प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है, उस प्रकार धार्मिक इतिहासो की उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके परिणामस्वरूप केवल जनसाधारण ही नहीं अपितु अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भी अधिकाशत यही समझ रहे है कि जैन धर्म का कोई प्राचीन प्रामाणिक इतिहास आज उपलब्ध नहीं है।

परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म के इतिहास-ग्रन्थ यद्यपि चिरकाल से उपलब्ध हैं और उनमे आदिकाल से प्राय सभी प्रमुख धार्मिक घटनाएं उल्लिखित है, तथापि ऐतिहासिक घटनाओ का क्रमबद्ध (सिलसिलेवार) एव रुचिकर आलेखन किसी एक ग्रथ के रूप मे नहीं होने, तथा ऐतिहासिक सामग्रीपूर्ण ग्रन्थ प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे आबद्ध होने के कारण वे सर्वसाधारण के लिए सहसा बोधगम्य, आकर्षण के केन्द्र एव सर्वप्रिय नहीं बन सके।

यह मानव की दुर्बलता है कि वह प्राय· भोग एव भोग्य सामग्री की ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है अत ससार के दृश्य, मोहक पदार्थ और मानवीय जीवर्न के स्थूल व्यवहारो के प्रति जैसा पाठको का आकर्षण होता है, वैसा धर्म अथवा धार्मिक इतिहास के प्रति नहीं होता। क्योकि धर्म एव धार्मिक इतिहास मे मुख्यत· त्याग-तप की बात होती है।

जैन धर्म का इतिहास

धर्म का स्वतन्त्र इतिहास नहीं होता। सम्यक् विचार व आचार रूप धर्म हृदय की वस्तु है, जिसका कब, कहाँ और कैसे उदय, विकास अथवा ह्रास हुआ तथा कैसे विनाश होगा यह अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को ज्ञात नहीं। ऐसी स्थिति मे उसका इतिहास कैसे लिखा जाये यह समस्या है। अत इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म धर्म का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए धार्मिक महापुरुषो का जीवन और उनका उपदेश ही धर्म का परिचायक है। धर्म का आविर्भाव, तिरोभाव एव

विकास मनुष्य आदि धार्मिक जीवो में ही होता है क्योंकि धर्म विना धर्मी अर्थात् गुणी के नहीं होता। अत. धार्मिक मानवो का इतिहास ही धर्म का इतिहास है। धार्मिक पुरुषों मे आचार-विचार, उनके देश में प्रचार एवं प्रसार तथा विस्तार का इतिवृत्त ही धर्म का इतिहास है।

सम्यक् विचार और सम्यक् आचार से रागादि दोपो को जीतने का मार्ग ही जैन धर्म है। यह किसी जाति या देश-विशेष का नहीं, वह तो मानवमात्र के लिए शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग है। धर्म का अस्तित्व कब से है ? इसके उत्तर मे शास्त्राकारो ने बतलाया है कि जैसे पंचास्तिकायात्मक लोक सदा काल से है, उसी प्रकार आचाराग आदि द्वादशांगी गणिपिटक रूप सम्यक्श्रुत् भी अनादि है।

भारतवर्ष जैसे क्षेत्र एव धर्म को मानने वाले व्यक्तियो की अपेक्षा से भोगयुग के पश्चात् धर्म का आदिकाल और अवसर्पिणी के दुःषमकाल के अन्त मे धर्म का विच्छेद होने से इसका अन्तकाल भी कहा जा सकता है। इस उद्‌भव और अवसान के मध्य की अवधि का धार्मिक इतिवृत्त ही धर्म का पूर्ण इतिहास है।

प्रस्तुत इतिहास भारतवर्ष और इस अवसर्पिणीकाल की दृष्टि से है। अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरक के अन्त मे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव हुए और उन्हीं से देश मे विधिपूर्वक श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का प्रादुर्भाव हुआ अतः क्षेत्र तथा काल की दृष्टि से यही जैन धर्म का आदिकाल कहा गया है। देश के अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायो ने भी अपने-अपने धर्म को प्राचीन बतलाने का प्रयत्न किया है पर जैन-सघ की तरह अन्यत्र कहीं भी धर्म के आदिकाल से लेकर उनके प्रचार, प्रसार एव विस्तार की आचार्य-परम्परा का क्रमबद्ध निर्देश नहीं मिलता। प्राय. वहाँ राज्य-परम्परा का ही प्रमुखता से उल्लेख मिलता है।

ग्रन्थ का नामकरण

जैन शास्त्रो के अनुसार इस अवसर्पिणीकाल मे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव— ये ६३ उत्तम पुरुष हुए हैं। प्रकृति के सहज नियमानुसार मानव समाज के शारीरिक, मानसिक आदि ऐहिक और आध्यात्मिक सरक्षण, संगोपन तथा सवर्द्धन के लिए लोकनायक एव धर्मनायक दोनो का नेतृत्व आवश्यक माना गया है।

चक्री या अर्द्धचक्री, जहाँ मानव-समाज मे व्याप्त सघर्ष और पापाचार का दण्डभय से दमन करते एवं जनता को नीति-मार्ग पर आरूढ करते है, वहाँ धर्मनायक-तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करके उपदेशो द्वारा लोगो का हृदय-परिवर्तन करते हुए जन-जन के मन मे पाप के प्रति घृणा उत्पन्न करते है। दण्ड-नीति से दोषो का दमन मात्र होता है पर धर्म-नीति ज्ञानामृत से दोषो को सदा के लिए केवल शान्त ही नहीं करती अपितु दोषो के प्रादुर्भाव के द्वारो को अवरुद्ध करती है।

धर्मनायक तीर्थकर मानव के अन्तर्मन मे सोई हुई आत्मशक्ति को जागृत करते और उसे विश्वास दिलाते है कि मानव ! तू ही अपने सुख-दु ख का निर्माता है, बाहर मे किसी को शत्रु या मित्र समझकर व्यर्थ के रागद्वेष से आकुल-व्याकुल मत बन।

ऐसे धर्मोत्तम महापुरुष तीर्थकरो का प्राचीन ग्रन्थो के आधार से यहॉ परिचय दिया गया है अत इस ग्रन्थ का नाम 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' रखा गया है।

इतिहास का मूलाधार

यो तो इतिहास-लेखन मे प्राय सभी प्राचीन ग्रन्थ आधारभूत होते है पर उन सबका मूलभूत आधार दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के पॉच भेदो मे से चौथा अनुयोग है, जिसे वस्तुत जैन धर्म के इतिहास का मूल स्रोत या उद्भव स्थान कहा जा सकता है। समवायांग और नन्दीसूत्र मे उल्लिखित हुण्डी के अनुसार प्रथमानुयोग मे (१) तीर्थकरो के पूर्वभव, (२) देवलोक मे उत्पत्ति, (३) आयु, (४) च्यवन, (५) जन्म, (६) अभिषेक, (७) राज्यश्री, (८) मुनिदीक्षा, (९) उग्रतप, (१०) केवल ज्ञानोत्पत्ति, (११) प्रथम प्रवचन, (१२) शिष्य, (१३) गण और गणधर, (१४) आर्याप्रवर्तिनी, (१५) चतुर्विध सघ का परिमाण, (१६) केवलज्ञानी, (१७) मन.पर्यवज्ञानी, (१८) अवधिज्ञानी, (१९) समस्त श्रुतज्ञानी-द्वादशागी, (२०) वादी, (२१) अनुत्तरोपपात वाले, (२२) उत्तरवैक्रिय वाले, (२३) सिद्धगति को प्राप्त होने वाले, (२४) जैसे सिद्धि मार्ग बतलाया और (२५) पादोपगमन में जितने भक्त का तप कर अन्तक्रिया की, उसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भाव आबद्ध होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल प्रथमानुयोग की तरह गण्डिकानुयोग मे कुलकर, तीर्थकर, चक्रवर्ती, दशार्ह, बलदेव, वासुदेव, गणधर और भद्रबाहु गण्डिका का विचार है। उसमे हरिवश तथा उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणीकाल का चित्रण भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुयोग रूप दृष्टिवाद मे इतिहास का सम्पूर्ण मूल बीज निहित कर दिया गया था।

इन उपरोक्त उल्लेखो से निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म का सम्पूर्ण, सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास बारहवे अग दृष्टिवाद मे विद्यमान था। ऐसी दशा मे डॉ हर्मन, जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानो का यह अभिमत कि रामायण की कथा जैनो के मूल आगम मे नहीं है, वह वाल्मिकीय रामायण अथवा अन्य हिन्दू ग्रन्थो से उधार ली गई है— नितान्त भ्रान्तिपूर्ण एव निराधार सिद्ध होता है।

प्रथमानुयोग धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना गया है। जैन धर्म के इतिहास मे जितने भी ज्ञात, अज्ञात, उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं उनका मूल स्रोत अथवा आधार प्रथमानुयोग ही रहा है। आज श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थो, समवायाग, नन्दी, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति मे जो इतिहास की यत्र-तत्र झांकी मिलती है, वह सब प्रथमानुयोग की ही देन है।

कालप्रभावजन्य क्रमिक स्मृति-शैथिल्य के कारण शनै. शनै चतुर्दश पूर्वो के साथ-साथ इतिहास का अक्षय भण्डार प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग रूप वह शास्त्र आज विलुप्त हो गया। वही हमारा मूलाधार है।

इतिहास-लेखन में पूर्वाचार्यो का उपकार

प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के विलुप्त हो जाने के बाद जैन इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र पूर्वाचार्यो की श्रुतसेवा को है। इस विषय मे उन्होने जो योगदान दिया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आगमाश्रित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका आदि ग्रन्थो के माध्यम से उन्होने जो उपकार किया है, वह आज के इतिहास-गवेषको के लिए बड़ा ही सहायक सिद्ध हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की होती तो आज हम सर्वथा अन्धकार मे रहते अत वहॉ उन कतिपय ग्रन्थकारो और लेखको का कृतज्ञतावश स्मरण करना आवश्यक समझते हैं।

(१) उनमें सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु है, जिन्होने दशवैकालिक आवश्यक आदि १० सूत्रो पर निर्युक्ति की रचना की। आपका रचनाकाल वीर नि. सवत् १००० के आसपास का है।

(२) जिनदास गणी महत्तर— आपने आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथो की रचना की। आपका रचनाकाल ई सन् ६००-६५० है।

(३) अगस्त्य सिह ने दशवैकालिक सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी (वल्लभी-वाचना से २००-३०० वर्ष पूर्व का) है।

(४) संघदास गणी ने वृहत्कल्प भाष्य और वसुदेव हिण्डी की रचना की। आपका रचनाकाल ई. सन् ६०९ है।

(५) जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम सं. ६४५ है।

(६) विमल सूरि ने पउमचरियं आदि इतिहास ग्रन्थो की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम सवत् ६० है।

धर्मनायक तीर्थंकर मानव के अन्तर्मन मे सोई हुई आत्मशक्ति को जागृत करते और उसे विश्वास दिलाते हैं कि मानव ! तू ही अपने सुख-दु ख का निर्माता है, बाहर मे किसी को शत्रु या मित्र समझकर व्यर्थ के रागद्वेष से आकुल-व्याकुल मत बन।

ऐसे धर्मोत्तम महापुरुष तीर्थंकरो का प्राचीन ग्रन्थो के आधार से यहाँ परिचय दिया गया है अत. इस ग्रन्थ का नाम 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' रखा गया है।

इतिहास का मूलाधार

यो तो इतिहास-लेखन मे प्राय सभी प्राचीन ग्रन्थ आधारभूत होते है पर उन सबका मूलभूत आधार दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के पॉच भेदो मे से चौथा अनुयोग है, जिसे वस्तुत जैन धर्म के इतिहास का मूल स्रोत या उद्भव स्थान कहा जा सकता है। समवायाग और नन्दीसूत्र मे उल्लिखित हुण्डी के अनुसार प्रथमानुयोग मे (१) तीर्थंकरो के पूर्वभव, (२) देवलोक मे उत्पत्ति, (३) आयु, (४) च्यवन, (५) जन्म, (६) अभिषेक, (७) राज्यश्री, (८) मुनिदीक्षा, (९) उग्रतप, (१०) केवल ज्ञानोत्पत्ति, (११) प्रथम प्रवचन, (१२) शिष्य, (१३) गण और गणधर, (१४) आर्याप्रवर्तिनी, (१५) चतुर्विध सघ का परिमाण, (१६) केवलज्ञानी, (१७) मन पर्यवज्ञानी, (१८) अवधिज्ञानी, (१९) समस्त श्रुतज्ञानी-द्वादशागी, (२०) वादी, (२१) अनुत्तरोपपात वाले, (२२) उत्तरवैक्रिय वाले, (२३) सिद्धगति को प्राप्त होने वाले, (२४) जैसे सिद्धि मार्ग बतलाया और (२५) पादोपगमन मे जितने भक्त का तप कर अन्तक्रिया की, उसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भाव आबद्ध होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल प्रथमानुयोग की तरह गण्डिकानुयोग मे कुलकर, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, दशार्ह, बलदेव, वासुदेव, गणधर और भद्रबाहु गण्डिका का विचार है। उसमे हरिवश तथा उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणीकाल का चित्रण भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुयोग रूप दृष्टिवाद मे इतिहास का सम्पूर्ण मूल बीज निहित कर दिया गया था।

इन उपरोक्त उल्लेखो से निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म का सम्पूर्ण, सर्वागपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास बारहवे अग दृष्टिवाद मे विद्यमान था। ऐसी दशा मे डॉ हर्मन, जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानो का यह अभिमत कि रामायण की कथा जैनो के मूल आगम मे नहीं है, वह वाल्मिकीय रामायण अथवा अन्य हिन्दू ग्रन्थों से उधार ली गई है— नितान्त भ्रान्तिपूर्ण एव निराधार सिद्ध होता है।

प्रथमानुयोग धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना गया है। जैन धर्म के इतिहास मे जितने भी ज्ञात, अज्ञात, उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं उनका मूल स्रोत अथवा आधार प्रथमानुयोग ही रहा है। आज श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थो, समवायाग, नन्दी, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति मे जो इतिहास की यत्र-तत्र झाकी मिलती है, वह सब प्रथमानुयोग की ही देन है।

कालप्रभावजन्य क्रमिक स्मृति-शैथिल्य के कारण शनै. शनै. चतुर्दश पूर्वो के साथ-साथ इतिहास का अक्षय भण्डार प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग रूप वह शास्त्र आज विलुप्त हो गया। वही हमारा मूलाधार है।

इतिहास-लेखन में पूर्वाचार्यो का उपकार

प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के विलुप्त हो जाने के बाद जैन इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र पूर्वाचार्यो की श्रुतसेवा को है। इस विषय मे उन्होंने जो योगदान दिया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आगमाश्रित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका आदि ग्रन्थो के माध्यम से उन्होने जो उपकार किया है, वह आज के इतिहास-गवेषको के लिए बड़ा ही सहायक सिद्ध हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की होती तो आज हम सर्वथा अन्धकार मे रहते अत· वहॉ उन कतिपय ग्रन्थकारो और लेखको का कृतज्ञतावश स्मरण करना आवश्यक समझते है।

(१) उनमे सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु है, जिन्होने दशवैकालिक आवश्यक आदि १० सूत्रो पर निर्युक्ति की रचना की। आपका रचनाकाल वीर नि. सवत् १००० के आसपास का है।

(२) जिनदास गणी महत्तर— आपने आवश्यक चूर्णि आदि ग्रथो की रचना की। आपका रचनाकाल ई सन् ६००-६५० है।

(३) अगस्त्य सिंह ने दशवैकालिक सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी (वल्लभी-वाचना से २००-३०० वर्ष पूर्व का) है।

(४) सघदास गणी ने वृहत्कल्प भाष्य और वसुदेव हिण्डी की रचना की। आपका रचनाकाल ई. सन् ६०९ है।

(५) जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम सं. ६४५ है।

(६) विमल सूरि ने पउमचरियं आदि इतिहास ग्रन्थो की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम संवत् ६० है।

(७) यतिवृषभ ने तिळोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थो की रचना की। आपका रचनाकाल ई. चौथी शताब्दी के आसपास माना गया है।

(८) जिनसेन ने ई ९वीं शताव्दी के प्रारम्भकाल मे आदि पुराण और हरिवंश पुराण की रचना की।

(९) आचार्य गुणभद्र ने शक सम्वत् ८२० मे उत्तर पुराण की रचना की।

(१०) रविषेण ने ई सन् ६७८ मे पद्मपुराण की रचना की।

(११) आचार्य शीळाक ने ई सन् ८६८ मे चउवन महापुरिसचरियं की रचना की।

(१२) पुष्पदन्त ने विक्रम सम्वत् १०१६ से १०२२ में अपभ्रंश भाषा के महापुराण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।

(१३) भद्रेश्वर ने ईसा की ११वीं शताब्दी मे कहावली ग्रन्थ की रचना की।

(१४) आचार्य हेमचन्द्र ने ई स १२२६ से १२२९ मे त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र नामक इतिहास-ग्रथ की रचना की।

(१५) धर्मसागर गणी ने तपागच्छ-पट्टावली सूत्रवृत्ति नामक (प्राकृत-स.) इतिहास-ग्रन्थ की रचना वि स १६४६ मे की।

इन सस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रश भाषा के इतिहास-ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक ज्ञात और अगणित अज्ञात विद्वानो ने जैन इतिहास के सम्बन्ध मे हिन्दी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ मे रचनाए की है। जागरूक सन्त-समाज ने अनेको स्थविरावळिया, सैकडो पट्टावलिया आदि लिखकर भी इतिहास की श्रीवृद्धि करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी है। उन सबके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते है।

इतिहास की विश्वसनीयता

उपरोक्त पर्यालोचन के बाद यह कहना किंचित्मात्र की अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हमारा जैन-इतिहास बहुत गहरी सुदृढ नींव पर खड़ा है। यह इधर-उधर की किवदन्ती या कल्पना के आधार से नहीं पर प्रामाणिक पूर्वाचार्यो की अविरळ परम्परा से प्राप्त है। अत इसकी विश्वसनीयता मे लेशमात्र भी शका की गुजाइश नहीं रहती। जैसा कि आचार्य विमळसूरि ने अपने पउमचरिय ग्रन्थ मे लिखा है :—

नामावलिय निबद्ध आयरियपरम्परागय सव्व।
वोच्छामि पउम चरिय, अहाणुपुव्विं समासेण॥

अर्थात् आचार्य परम्परागत सब इतिहास जो नामावली मे निबद्ध है, यह संक्षेप में कहूँगा। उन्होने फिर कहा है :—

परम्परा से होती आई पूर्व-ग्रन्थो के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव समझ कर विद्वज्जनो को खिन्न नहीं होना चाहिए। यथा—

एवं परम्पराए परिहाणि पुव्वगथ अत्थाण।
नाऊण कालभावं न रुसियव्वं वुहजणेणं॥

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय मे नामावली के रूप मे संक्षिप्त रूप से इतिहास को सुरक्षित रखने की पद्धति बहुमान्य थी। धर्म-सम्प्रदायो की तरह राजवंशो में भी इस प्रकार इतिहास को सुरक्षित रखने का क्रम चलता था। जैसा कि बीकानेर राज्य के राजवंश की एक ऐतिहासिक उक्ति से स्पष्ट होता है -

बीको नरो लूणसी जैसी कलो राय।
दळपत सूरो करणसी अनूप सरूप सुजाय॥

जोरो गजो राजसी प्रतापो सूरत्त।
रतनसी सरदारसी, डूग गंग महिमत्त॥

इस प्रकार नामावलि-निबद्ध इतिहास के प्राचीन एव प्रामाणिक होने से इसकी विश्वसनीयता मे कोई शका नहीं रहती।

तीर्थंकरो और केवली

केवली और तीर्थंकरो मे समानता होते हुए भी अतर है। घाती-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन करने वाले केवली कहलाते है। तीर्थंकरो की तरह उनमें केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है फिर भी वे तीर्थंकर नहीं कहलाते।

ऋषभ देव से वर्धमान-महावीर तक चौबीसों अरिहंत केवली होने के साथ-साथ तीर्थंकर भी है। केवली और तीर्थंकर मे वीतरागता एवं ज्ञान की समानता होते हुए भी अन्तर है। तीर्थंकर स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भी विशिष्ट योग्यता रखते हैं। वे त्रिजगत् के उद्धारक होते है। उनका देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, सब पर उपकार होता है। उनकी कई बाते विशिष्ट होती हैं। वे जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिए होते है जो केवली मे नहीं होती। जैसे तीर्थंकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते है[1] केवली के नहीं। तीर्थंकर की तरह केवली में विशिष्ट वागतिशय और नरेन्द्र-देवेन्द्र कृत पूजातिशय नहीं होता। उनमे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य होता है पर महाप्रातिहार्य नही होते। तीर्थंकर की यह खास विशेषता है कि उनके साथ (१) अशोक वृक्ष,

१ अट्ठसहस्सलक्खणधरो . उत्तराध्ययन, २२/५

(७) यतिवृषभ ने तिळोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थो की रचना की। आपका रचनाकाल ई. चौथी शताब्दी के आसपास माना गया है।

(८) जिनसेन ने ई ९वीं शताव्दी के प्रारम्भकाल मे आदि पुराण और हरिवंश पुराण की रचना की।

(९) आचार्य गुणभद्र ने शक सम्वत् ८२० मे उत्तर पुराण की रचना की।

(१०) रविषेण ने ई सन् ६७८ मे पद्मपुराण की रचना की।

(११) आचार्य शीळाक ने ई सन् ८६८ मे चउवन महापुरिसचरिय की रचना की।

(१२) पुष्पदन्त ने विक्रम सम्वत् १०१६ से १०२२ मे अपभ्रश भाषा के महापुराण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।

(१३) भद्रेश्वर ने ईसा की ११वीं शताब्दी मे कहावली ग्रन्थ की रचना की।

(१४) आचार्य हेमचन्द्र ने ई स १२२६ से १२२९ मे त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र नामक इतिहास-ग्रंथ की रचना की।

(१५) धर्मसागर गणी ने तपागच्छ-पट्टावली सूत्रवृत्ति नामक (प्राकृत-सं.) इतिहास-ग्रन्थ की रचना वि. स. १६४६ मे की।

इन सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रश भाषा के इतिहास-ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक ज्ञात और अगणित अज्ञात विद्वानो ने जैन इतिहास के सम्बन्ध मे हिन्दी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ मे रचनाए की है। जागरूक सन्त-समाज ने अनेको स्थविरावळिया, सैकड़ो पट्टावलिया आदि लिखकर भी इतिहास की श्रीवृद्धि करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी है। उन सबके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते है।

इतिहास की विश्वसनीयता

उपरोक्त पर्यालोचन के बाद यह कहना किंचित्मात्र की अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हमारा जैन-इतिहास बहुत गहरी सुदृढ़ नींव पर खड़ा है। यह इधर-उधर की किवदन्ती या कल्पना के आधार से नहीं पर प्रामाणिक पूर्वाचार्यो की अविरळ परम्परा से प्राप्त है। अत इसकी विश्वसनीयता मे लेशमात्र भी शंका की गुजाइश नहीं रहती। जैसा कि आचार्य विमळसूरि ने अपने पउमचरिय ग्रन्थ मे लिखा है —

नामावलिय निबद्ध आयरियपरम्परागय सव्व।
वोच्छामि पउम चरिय, अहाणुपुव्वि समासेण॥

अर्थात् आचार्य परम्परागत सव इतिहास जो नामावळी मे निबद्ध है, यह संक्षेप मे कहूँगा। उन्होने फिर कहा है :—

परम्परा से होती आई पूर्व-ग्रन्थो के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव समझ कर विद्वज्जनो को खिन्न नही होना चाहिए। यथा—

एवं परम्पराए परिहाणि पुव्वगंथ अत्थाणं।
नाऊण काळभावं न रुसियव्व वुहजणेणं॥

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय मे नामावली के रूप मे सक्षिप्त रूप से इतिहास को सुरक्षित रखने की पद्धति बहुमान्य थी। धर्म-सम्प्रदायो की तरह राजवशो मे भी इस प्रकार इतिहास को सुरक्षित रखने का क्रम चलता था। जैसा कि बीकानेर राज्य के राजवंश की एक ऐतिहासिक उक्ति से स्पष्ट होता है :-

बीको नरो लूणसी जैसी कलो राय।
दळपत सूरो करणसी अनूप सरूप सुजाय॥

जोरो गजो राजसी प्रतापो सूरत्त।
रतनसी सरदारसी, डूंग गंग महिपत्त॥

इस प्रकार नामावलि-निबद्ध इतिहास के प्राचीन एवं प्रामाणिक होने से इसकी विश्वसनीयता मे कोई शका नहीं रहती।

तीर्थंकरो और केवली

केवली और तीर्थंकरो मे समानता होते हुए भी अतर है। घाती-कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन करने वाले केवली कहलाते है। तीर्थंकरो की तरह उनमे केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है फिर भी वे तीर्थंकर नहीं कहलाते।

ऋषभ देव से वर्धमान-महावीर तक चौबीसों अरिहंत केवली होने के साथ-साथ तीर्थंकर भी है। केवली और तीर्थंकर में वीतरागता एव ज्ञान की समानता होते हुए भी अन्तर है। तीर्थंकर स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भी विशिष्ट योग्यता रखते है। वे त्रिजगत् के उद्धारक होते है। उनका देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, सब पर उपकार होता है। उनकी कई बाते विशिष्ट होती हैं। वे जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिए होते है जो केवली मे नहीं होती। जैसे तीर्थंकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते है[१] केवली के नहीं। तीर्थंकर की तरह केवली मे विशिष्ट वागतिशय और नरेन्द्र-देवेन्द्र कृत पूजातिशय नहीं होता। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य होता है पर महाप्रातिहार्य नहीं होते। तीर्थंकर की यह खास विशेषता है कि उनके साथ (१) अशोक वृक्ष,

---

१ अट्ठसहस्सलक्खणधरी , उत्तराध्ययन, २२/५

(२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल, (७) देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय— ये अतिशय होते हैं। इनको प्रातिहार्य कहते है।

सामान्यरूपेण तीर्थकर से बारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थकर की ३४ अतिशयमयी विशेषताए होती है। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट गुणवती होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

तीर्थकरो का बल

तीर्थकर धर्मतीर्थ के सस्थापक और चालक होते है अत उनका बलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नहीं सुरेन्द्र से भी तीर्थकर का बल अनन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ५६३ पर तीर्थकर के बल को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति मे इसको प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का और चक्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थकर का कहा गया है। वहॉ उदाहरणपूर्वक बताया गया है कि —

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को साकळो से बाधकर सोलह हजार राजा अपनी सेनाओ के साथ पूरी शक्ति लगाकर खींचे तब भी वह लीला से बैठे खाना खाते रहे, तिलमात्र भी हिले-डुले नहीं।[1]

तीर्थकरो का बल इन्द्रो को भी इसलिए हरा देता है कि उनमे तन-बल के साथ-साथ अतुल मनोबल और अदम्य आत्मबल होता है। कथा-साहित्य मे नवजात शिशु महावीर द्वारा चरणांगुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने की बात इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नहीं कही जा सकती क्योकि तीर्थकर के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाएँ साधारण समझनी चाहिये। 'अहिसा, सयम और तप रूप धर्म मे जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते और सेवा करते रहते है' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थकर भगवान् सदा देव-देवेन्द्रो द्वारा सेवित रहते है।

---

१ सोलस रायहस्सा, सव्व-बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति वासुदेव, अगडतडम्मि ठिय सत॥ ७०॥
घेलूण सकल सो, वाम हत्थेण अछमाणाण।
भुँजिज्ज विलिंपिज्ज व, महुमण ते न चाएति॥ ७१॥
दो सोला बत्तीसा, सव्व बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति चक्कवट्टि अगडतडम्मि ठिय सत॥ ७२॥
घेलूण सकल सो, वामगहत्थेण अछमाणाणे।
भुँजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहर ते न चायन्ति॥ ७३॥
ज केसवस्स बल, त दुगुण होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिंदा॥ ७४॥

(विशेषावश्यक भाष्य, मूल पृ ५७-५८, गा ७०-७४)

तीर्थंकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थंकरो ने साधना और सिद्धान्त मे सर्वत्र गुण और तप की प्रधानता बतलाई है,[1] जाति या कुल की प्रधानता नहीं मानी। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि तीर्थंकरो का जन्म क्षात्र-कुलो मे ही क्यो माना गया ? क्या इसमे जातिवाद की गन्ध नहीं है ? जैन शास्त्रानुसार जाति मे जन्म की अपेक्षा गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है—

'कम्मुणा बंमणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।' (उत्त. २३। ३३)

'ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण— ब्रह्मचर्य-सत्य-सतोप-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जबकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, रणक्रिया-प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के संचालन और रक्षण मे आन्तरिक सत्य शीलादि गुणो के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकता रहती है अन्यथा दुर्बल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एव मृदु स्वभाव वाला होता है, तेज-प्रधान नहीं। उसके द्वारा किया गया अहिंसा-प्रचार प्रभावोत्पादक नहीं होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभव को साहसपूर्वक त्यागकर अहिंसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है। यही कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थंकरो का क्षात्रकुल में ही जन्म मान्य किया है।[2] दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आदि का खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-कुल के विमल गगन मे उदय पाकर ससार को विमल ज्योति से चमकाते रहे। कठोर-से-कठोर कर्म काटने मे भी उन्होने अपने तपोबल से सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थंकर की स्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रो से पूजित होकर भी तीर्थंकर अपनी तप-साधना मे स्वावलम्बी होते है। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नहीं चाहते। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की साधना मे धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्रेन्द्र का सेवा मे आकर उपसर्ग-दाताओ को हटाने का उल्लेख आता है पर पार्श्वनाथ या महावीर ने मारणान्तिक कष्टो मे भी उनकी साहाय्य की इच्छा नहीं की। जब भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया— भगवन् ! आप पर भयंकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले है। आज्ञा हो तो मै आपकी सेवा मे रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हूँ।

उत्तर मे प्रभु ने यही कहा— "शक्र ! स्वय द्वारा बाधे हुये कर्म स्वय को ही काटने होते है। दूसरों की सहायता से फलभोग का समय आगे-पीछे हो

---

१ सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोइ। उ १२/३७

२ देखें कल्पसूत्र।

(२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल, (७) देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय— ये अतिशय होते है। इनको प्रातिहार्य कहते है।

सामान्यरूपेण तीर्थकर से वारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थकर की ३४ अतिशयमयी विशेषताए होती है। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट गुणवती होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

तीर्थकरो का बल

तीर्थकर धर्मतीर्थ के सस्थापक और चालक होते है अत· उनका बलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नहीं सुरेन्द्र से भी तीर्थकर का वल अनन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ५६३ पर तीर्थकर के बल को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति मे इसको प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का और चक्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थकर का कहा गया है। वहाँ उदाहरणपूर्वक बताया गया है कि ·—

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को साकळो से बाधकर सोलह हजार राजा अपनी सेनाओ के साथ पूरी शक्ति लगाकर खींचे तब भी वह लीला से बैठे खाना खाते रहे, तिलमात्र भी हिले-डुले नहीं।[1]

तीर्थकरो का बल इन्द्रो को भी इसलिए हरा देता है कि उनमे तन-बल के साथ-साथ अतुल मनोबल और अदम्य आत्मबल होता है। कथा-साहित्य मे नवजात शिशु महावीर द्वारा चरणांगुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने की बात इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नहीं कही जा सकती क्योकि तीर्थकर के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाएँ साधारण समझनी चाहिये। 'अहिसा, सयम और तप रूप धर्म मे जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते और सेवा करते रहते है' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थकर भगवान् सदा देव-देवेन्द्रो द्वारा सेवित रहते है।

---

१ सोलस रायहस्सा, सव्व-बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति वासुदेव, अगडतडम्मि ठिय सत। ७०।
घेत्तूण सकल सो, वाम हत्थेण अछमाणाण।
भुँजिज्ज विलिंपिज्ज व, महुमण ते न चाएति। ७१।
दो सोला बत्तीसा, सव्व बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति चक्कवट्टि, अगडतडम्मि ठिय सत। ७२।
घेत्तूण सकल सो, वामगहत्थेण अछमाणाणे।
भुँजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहर ते न चायन्ति। ७३।
ज केसवस्स बल त दुगुण होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिंदा। ७४।

(विशेषावश्यक भाष्य, मूल पृ ५७-५८, भा ७०-७१)

तीर्थंकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थंकरो ने साधना और सिद्धान्त मे सर्वत्र गुण और तप की प्रधानता बतलाई है,[1] जाति या कुल की प्रधानता नहीं मानी। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि तीर्थंकरो का जन्म क्षात्र-कुलो मे ही क्यो माना गया ? क्या इसमे जातिवाद की गन्ध नहीं है ? जैन शास्त्रानुसार जाति मे जन्म की अपेक्षा गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है—

'कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।' (उत्त २३। ३३)

'ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण— ब्रह्मचर्य-सत्य-सतोष-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जबकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, रणक्रिया-प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के सचालन और रक्षण मे आन्तरिक सत्य शीलादि गुणो के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकता रहती है अन्यथा दुर्बल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एव मृदु स्वभाव वाला होता है, तेज-प्रधान नहीं। उसके द्वारा किया गया अहिसा-प्रचार प्रभावोत्पादक नहीं होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभव को साहसपूर्वक त्यागकर अहिसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है। यही कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थंकरो का क्षात्रकुल में ही जन्म मान्य किया है।[2] दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आदि का खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-कुल के विमल गगन मे उदय पाकर ससार को विमल ज्योति से चमकाते रहे। कठोर-से-कठोर कर्म काटने मे भी उन्होने अपने तपोबल से सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थंकर की स्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रो से पूजित होकर भी तीर्थंकर अपनी तप-साधना मे स्वावलम्बी होते है। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नहीं चाहते। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की साधना मे धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्रेन्द्र का सेवा मे आकर उपसर्ग-दाताओ को हटाने का उल्लेख आता है पर पार्श्वनाथ या महावीर ने मारणान्तिक कष्टो मे भी उनकी साहाय्य की इच्छा नहीं की। जब भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया— भगवन् ! आप पर भयंकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले हैं। आज्ञा हो तो मै आपकी सेवा मे रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हूँ।

उत्तर मे प्रभु ने यही कहा— "शक्र ! स्वय द्वारा बाधे हुये कर्म स्वय को ही काटने होते है। दूसरो की सहायता से फलभोग का समय आगे-पीछे हो

---

१ तवो विसेसो, न जाइ विसेस कोइ। उ १२/३७

२ देखें कल्पसूत्र।

(२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल, (७) देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय— ये अतिशय होते है। इनको प्रातिहार्य कहते है।

सामान्यरूपेण तीर्थकर से बारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थकर की ३४ अतिशयमयी विशेषताए होती है। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट गुणवती होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

तीर्थकरो का बल

तीर्थंकर धर्मतीर्थ के सस्थापक और चालक होते है अत· उनका बलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नहीं सुरेन्द्र से भी तीर्थकर का बल अनन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ५६३ पर तीर्थकर के बल को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति मे इसको प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का और चक्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थकर का कहा गया है। वहॉ उदाहरणपूर्वक बताया गया है कि :—

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को साकळो से बांधकर सोलह हजार राजा अपनी सेनाओ के साथ पूरी शक्ति लगाकर खींचे तब भी वह लीला से बैठे खाना खाते रहे, तिलमात्र भी हिले-डुले नहीं।[1]

तीर्थकरो का बल इन्द्रो को भी इसलिए हरा देता है कि उनमे तन-बल के साथ-साथ अतुल मनोबल और अदम्य आत्मबल होता है। कथा-साहित्य मे नवजात शिशु महावीर द्वारा चरणागुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने की बात इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नहीं कही जा सकती क्योकि तीर्थकर के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाएँ साधारण समझनी चाहिये। 'अहिसा, संयम और तप रूप धर्म मे जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते और सेवा करते रहते है' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थकर भगवान् सदा देव-देवेन्द्रो द्वारा सेवित रहते है।

---

१ सोलस रायहस्सा, सव्व-बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति वासुदेव, अगडतडम्मि ठिय संत। ७०।
घेलूण सकल सो, वाम हत्थेण अछमाणाण।
भुँजिज्ज विलिंपिज्ज व, महुमण ते न चाएंति। ७१।
दो सोला बत्तीसा, सव्व बलेण तु सकलनिबद्ध।
अछति चक्कवट्टि, अगडतडम्मि ठिय सत। ७२।
घेलूण सकल सो वामगहत्थेण अछमाणाणे।
भुँजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहर ते न चायन्ति। ७३।
ज केसवस्स बल, त दुगुण होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिंदा। ७४।

(विशेषावश्यक भाष्य मूल पृ ५७-५८ मा ७०-७१)

तीर्थंकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थंकरो ने साधना और सिद्धान्त मे सर्वत्र गुण और तप की प्रधानता बतलाई है,[1] जाति या कुल की प्रधानता नहीं मानी। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि तीर्थंकरो का जन्म क्षात्र-कुलो मे ही क्यो माना गया ? क्या इसमे जातिवाद की गन्ध नहीं है ? जैन शास्त्रानुसार जाति मे जन्म की अपेक्षा गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है—

'कम्मुणा बमणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।' (उत्त. २३। ३३)

'ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण— ब्रह्मचर्य-सत्य-सतोष-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जबकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, रणक्रिया-प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के सचालन और रक्षण मे आन्तरिक सत्य शीलादि गुणो के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकता रहती है अन्यथा दुर्बल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एव मृदु स्वभाव वाला होता है, तेज-प्रधान नहीं। उसके द्वारा किया गया अहिसा-प्रचार प्रभावोत्पादक नहीं होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभव को साहसपूर्वक त्यागकर अहिसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है। यही कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थंकरो का क्षात्रकुल मे ही जन्म मान्य किया है[2] दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आदि का खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-कुल के विमल गगन मे उदय पाकर ससार को विमल ज्योति से चमकाते रहे। कठोर-से-कठोर कर्म काटने मे भी उन्होने अपने तपोबल से सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थंकर की स्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रो से पूजित होकर भी तीर्थंकर अपनी तप-साधना मे स्वावलम्बी होते है। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नहीं चाहते। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की साधना मे धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्रेन्द्र का सेवा मे आकर उपसर्ग-दाताओ को हटाने का उल्लेख आता है पर पार्श्वनाथ या महावीर ने मारणान्तिक कष्टो मे भी उनकी साहाय्य की इच्छा नहीं की। जब भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया— भगवन् ! आप पर भयकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले हैं। आज्ञा हो तो मै आपकी सेवा मे रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हूँ।

उत्तर मे प्रभु ने यही कहा— "शक्र ! स्वय द्वारा बाधे हुये कर्म स्वय को ही काटने होते है। दूसरो की सहायता से फलभोग का समय आगे-पीछे हो

---

१ तवो विसेसो न जाइ विसेस कोइ। उ १२/३७

२ देखे कल्पसूत्र।

सकता है पर कर्म नहीं कटते। तीर्थकर स्वय ही कर्म काट कर अरिहंत-पद प्राप्त करते है।[1] इसी भाव से प्रभु ने शूलपाणि यक्ष के उपसर्ग और एक रात मे ही सगमकृत बीस उपसर्गो को समतापूर्वक सहन किया।[2] प्रभु यदि मन मे भी लाते कि ऐसा क्यो हो रहा है तो इन्द्र सेवा मे तैयार था पर प्रभु अडोल रहे।

प्रत्येक तीर्थकर के शासन-रक्षक यक्ष, यक्षिणी[3] होते है, जो समय-समय पर शासन की सकट से रक्षा और तीर्थकरो के भक्तो की इच्छा पूर्ण करते रहते है। तीर्थकर भगवान् अपने कष्ट-निवारणार्थ उन्हे भी याद नहीं करते।

इसके अतिरिक्त भी जब भगवान् महावीर ने देखा कि परिचित भूमि मे लोग उन पर कष्ट और परीषह नहीं आने देते है, तब अपने कर्मो को काटने हेतु वे वज्रभूमि शुभ्रभूमि जैसे अनार्य-खण्ड मे चले गये, जहाँ कोई भी परिचित न होने के कारण उनकी सहाय या कष्ट-निवारण न कर सके। वहाँ कैसे-कैसे कष्ट सहे, यह विहार चर्या मे पढे।[4]

इस प्रकार की अपनी कठोरतम दिनचर्या एव जीवनचर्या से तीर्थकरो ने ससार को यह पाठ पढाया कि प्रत्येक व्यक्ति को साहस के साथ अपने कर्मो को काटने मे जुट जाना चाहिए। फलभोग के समय घबराकर भागना वीरता नहीं। अशुभ फल को भोगने मे भी धीरता के साथ डटे रहना और शुभ ध्यान से कर्म काटना ही वीरत्व है। यही शान्ति का मार्ग है।

तीर्थंकरों का अतरकाल

एक तीर्थकर के निर्वाण के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर के निर्वाण तक के काल को मोक्ष-प्राप्ति का अन्तरकाल कहते है। एक तीर्थकर के जन्म से दूसरे तीर्थकर के जन्म तक और एक की केवलोत्पत्ति से दूसरे की केवलोत्पत्ति तक का अन्तरकाल भी होता है पर यह निर्वाणकाल की अपेक्षा अन्तरकाल है। प्रवचन सारोद्धार और तिलोयपण्णत्ती मे इसी दृष्टि से तीर्थकरो का अन्तरकाल बताया गया है। प्रवचन सारोद्धार की टीका एव अर्थ मे स्पष्ट रूप से कहा है कि समुत्पन्न का अर्थ जन्मना नहीं करके 'सिद्धत्वेन समुत्पन्न ' अर्थात् सिद्ध हुए करना चाहिए। तभी बराबर काल की गणना बैठ सकती है। तीर्थकरो के अन्तरकालो मे उनके शासनवर्ती आचार्य और स्थविर तीर्थकर-वाणी के आधार पर धर्म तीर्थ का अक्षुण्ण सचालन करते है। आत्मार्थी साधक शास्त्रानुकूल आचरण कर सिद्धि भी प्राप्त करते है। प्रथम

---

१ इतिहास का पृ ५७१

२ इतिहास का पृ ५७४-७७, ५९९-६०४

३ (क) समवायाग
(ख) तिलोयपण्णत्ती ४/९३४-३९

४ इतिहास का पृ ५९२-९३

तीर्थकर श्री ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के आठ अन्तर और शान्तिनाथ से महावीर तक के ८ इन कुल १६ अतरो मे संघरूप तीर्थ का विच्छेद नहीं हुआ। पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात अंतरो मे धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया।

संभव है उस समय कोई खास राजनैतिक या सामाजिक सघर्ष के कारण जैन धर्म पर बड़ा सकट आया हो। आचार्य के अनुसार सुविधिनाथ के पश्चात् और शीतलनाथ से पूर्व इतना विषम समय था कि लोग जैन धर्म की बात करने मे भी भय खाते थे। कोई धर्म-श्रवण के लिए भी तैयार नहीं होता।

इस प्रकार चतुर्विध सघ मे नई वृद्धि नहीं होने से तीर्थ का विच्छेद हो गया। भरतकालीन ब्राह्मण जो धर्मच्युत हो गये थे, उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा। ब्राह्मणो को अन्न-धन-स्वर्णादि का दान करना ही धर्म का मुख्य अग माना जाने लगा। भ. शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग मे राजा मेघरथ भी इस उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने मत्री की वीतराग-मार्गानुकूल सलाह को भी अस्वीकार कर दिया।[1]

सभव है शीतलनाथ के शासनकाल की तरह अन्य सात तीर्थकरो के अन्तर मे भी ऐसे ही किसी विशेष कारण से तीर्थ का विच्छेद हुआ हो। तीर्थ-विच्छेदो का कुल समय पौने तीन पल्य बताया गया है।

वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के अन्तर मे दृष्टिवाद को छोडकर ग्यारह अग-शास्त्र विद्यमान रहते है पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के अंतरो मे बारहो अंग-शास्त्रो का पूर्ण विच्छेद माना गया है। शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी दृष्टिवाद का ही विच्छेद होता है। अन्य ग्यारह अंग-शास्त्रो का नहीं जैसा कि कहा है :—

मुत्तूण दिट्ठिवायं, हवति एक्कारसेव अगाइ।
अट्ठसु जिणतरेसु, उसह जिणिदाओ जा सुविही॥ ४३४॥
सत्तसु जिणतरेसु, वोच्छिन्नाइ दुवालसगाइ।
सुविहि जिणा जा सति, कालपमाण कमेणेसिं॥ ४३५॥
अट्ठसु जिणत्तरेसु, वोच्छिन्नाइं न हुन्ति अगाइ।
सति जिणा जा वीरं, वुच्छिन्नो दिट्ठिवाउ तहि॥ ४३६॥

(प्रवचन सारोद्धार द्वार, ३६)

ऋषभदेव से भगवान वर्द्धमान-महावीर तक चौबीस तीर्थकरो के शासनकाल मे सात अतरो को छोड़कर निरतर धर्मतीर्थ चलता रहा। सख्या मे न्यूनाधिक होने पर भी कभी भी चतुर्विध संघ का सर्वथा अभाव नहीं हुआ। कारण कि धर्मशास्त्र-ग्यारह अंग परंपरा से सुरक्षित रहे। शास्त्र रक्षा ही धर्म रक्षा का सर्वोपरि साधन है।

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार चौबीस तीर्थकरो के जन्म से २३ अन्तरकाल निम्न प्रकार हैं :—

---
१ उत्तरपुराण, पूर्व ५६, श्लो ६६-९६

तृतीय काल के चौरासी लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और एक पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

१ भगवान् ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पचास लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अजितनाथ का जन्म हुआ।

२ भगवान् अजितनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् ३० लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् सभवनाथ का जन्म हुआ।

३ भगवान् सभवनाथ के जन्म के पश्चात् १० लाख करोड़ सागर और १० लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अभिनन्दन का जन्म हुआ।

४ भगवान् अभिनन्दन की उत्पत्ति के पश्चात् ९ लाख करोड़ सागर और दस लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुमतिनाथ का जन्म हुआ।

५ भगवान् सुमतिनाथ के जन्म के अनन्तर ९० हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व वर्ष बीत जाने पर भगवान पद्मप्रभ का जन्म हुआ।

६ भगवान् पद्मप्रभ के जन्म के पश्चात ९ हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व व्यतीत होने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

७ भगवान् सुपार्श्वनाथ की उत्पत्ति के ९०० करोड़ सागर और १० लाख पूर्व वर्ष बीतने पर भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ।

८ भगवान् चन्द्रप्रभ के जन्म के पश्चात् ९० करोड़ सागर और ८ लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदत्त) का जन्म हुआ।

९. भगवान् सुविधिनाथ के जन्म से ९ करोड़ सागर और एक लाख पूर्व वर्ष पश्चात् भगवान् शीतलनाथ का जन्म हुआ।

१० भगवान् शीतलनाथ के जन्म के अनन्तर एक करोड़ सागर और एक लाख पूर्व मे एक सौ सागर एव एक करोड़ पचास लाख छब्बीस हजार वर्ष कम समय व्यतीत होने पर भगवान् श्रेयासनाथ का जन्म हुआ।

११ भगवान् श्रेयांसनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् वासुपूज्य का जन्म हुआ।

१२ भगवान् वासुपूज्य के जन्म के पश्चात् ३० सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् विमलनाथ का जन्म हुआ।

१३ भगवान् विमलनाथ के जन्म के अनन्तर ९ सागर और ३० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् अनन्तनाथ का जन्म हुआ।

१४ भगवान् अनन्तनाथ के जन्म के पश्चात् ४ सागर और २० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् धर्मनाथ का जन्म हुआ।

१५ भगवान् धर्मनाथ के जन्म के पश्चात् पौन पल्य कम तीन सागर और ९ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ।

१६ भगवान् शान्तिनाथ के जन्म के पश्चात् आधा पल्य और ५ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् श्री कुंथुनाथ का जन्म हुआ।

१७ भगवान् कुंथुनाथ के जन्म के पश्चात् ग्यारह हजार वर्ष कम एक हजार करोड वर्ष न्यून पाव पल्य बीतने पर भगवान् अरनाथ का जन्म हुआ।

१८ भगवान् अरनाथ के जन्म के पश्चात् उनत्तीस हजार वर्ष अधिक एक हजार करोड़ वर्ष बीतने पर भगवान् मल्लिनाथ का जन्म हुआ।

१९ भगवान् मल्लिनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन लाख पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ।

२० भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के जन्म के पश्चात् ६ लाख बीस हजार वर्ष बीतने पर भगवान् नमिनाथ का जन्म हुआ।

२१ भगवान् नमिनाथ के जन्म के पश्चात् पॉच लाख नौ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ।

२२ भगवान् अरिष्टनेमि के जन्म के पश्चात् चौरासी हजार ६५० वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

२३ भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म के पश्चात् दो सौ अठहत्तर (२७८) वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

विचार और आचार

सामान्यरूप से देखा जाता है कि अच्छे-से-अच्छे महात्मा भी उपदेश मे जैसे उच्च विचार प्रस्तुत करते है, आचार उनके अनुरूप नहीं पाल सकते। अनेक तो उससे विपरीत आचरण करने वाले भी मिलेगे। परन्तु तीर्थंकरो के जीवन की यह विशेषता होती है कि वे जिस प्रकार के उच्च विचार रखते है, पूर्णत वैसा का वैसा ही प्रचार, समुच्चार और आचार भी रखते है। उनका आचार उनके विचारो से भिन्न अथवा विदिशागामी नहीं होता।

फिर भी तीर्थकरो की जीवन घटनाए देखकर कई स्थलो पर साधारण व्यक्ति को शकाएं हो सकती है। उदाहरणस्वरूप कुछ आचार्यों ने लिखा है कि भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ज्योही विहार किया तो एक दरिद्र

ब्राह्मण मार्ग मे आ करुणाजनक स्थिति मे उनसे कुछ याचना करने लगा। दया से द्रवित हो प्रभु ने देवदूष्य का एक खण्ड फाड़कर उसे दे दिया। साधु के लिए गृहस्थ को रागवृद्धि के कारणरूप वस्त्रादि दान का निषेध करने वाले प्रभु स्वयं वैसा करे यह कैसे सम्भव है ? क्योकि प्रभु मे अनन्त दया होती है, वस्त्र फाड़कर देने रूप सीमित दया नहीं होती। मान ले कि भगवान् का हृदय दया से पिघल गया तो भी देवदूष्य को फाड़ने की उनको आवश्यकता नहीं थी। सभव है सेवा मे रहने वाले सिद्धार्थ आदि किसी देव ने ऐसा किया हो। उस दशा मे आचार्यो द्वारा ऐसा लिखना सगत हो सकता है।

इसी प्रकार तीर्थकर का सर्वथा अपरिग्रही होकर भी देवकृत छत्र, चामरादि विभूतियो के बीच रहना साधारण जन के लिए शका का कारण हो सकता है। आज के बुद्धिवादी लोग तीर्थकर की देवकृत भक्ति का गलत अनुकरण करना चाहते है। वास्तव मे तीर्थकर की स्थिति दूसरे प्रकार की थी। देवकृत महिमा के समय तीर्थकर को केवलज्ञान हो चुका था। वे पूर्ण वीतरागी बन चुके थे। आज के संत या गुरु छद्मस्थ होने के कारण सरागी है। तीर्थकर के तीर्थकर नामकर्म के उदय होने से देव स्वय शाश्वत नियमानुसार छत्र चामरादि विभूतियो से उनकी महिमा करते, वैसी आज के सतो की विशिष्ट पुण्य प्रकृतियो का उदय नहीं है, जिससे कि तीर्थंकरो के समवशरण की तरह पुष्पवर्षा कर भक्तो को बाह्याडम्बर हेतु निमित्त बनना पड़े। रागादि का उदय होने से आज की महिमा पूजा दोनो के लिए बन्ध का कारण हो सकती है अत शासनप्रेमियो को तीर्थंकर के नाम का मिथ्यानुकरण नहीं करना चाहिए।

निश्चय और व्यवहार

वीतराग और कल्पातीत होने के कारण तीर्थंकर व्यवहार की मर्यादाओ से बधे नहीं होते। इतना होते हुए भी तीर्थकरो ने हमे निश्चय एव व्यवहार रूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया और स्वय ने व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं की। फिर भी आचार्यो ने केवलज्ञान के पश्चात् भगवान महावीर का रात्रि मे विहार कर महासेन वन पधारना माना है। यह ठीक है कि केवलज्ञानी के लिए रात-दिन का भेद नहीं होता फिर भी यह व्यवहार-विरुद्ध है। वृहत्कल्पसूत्र की वृत्ति के अनुसार प्रभु ने व्यवहार-पालन हेतु प्यास और भूख से पीड़ित साधुओ को जगल मे सहज अचित्त पानी एव अचित्त तिलो के होते हुए भी खाने-पीने की अनुमति नहीं दी।[1] निर्युक्तिकार ने 'राईए सपत्तो महसेणवणम्मि उज्झाणे' लिखा है। वैसे आवश्यक चूर्णि आदि मे दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्र खण्ड देने का भी उल्लेख है। इन सबकी क्या सगति हो सकती है, इस पर गीतार्थ गम्भीरता से विचार करे।

हम इतना निश्चित रूप से कह सकते है कि तीर्थकर 'जहा वाई तहा

---

१ वृहत्कल्प भा भा २, गा ९९७, पृ ३१४-१५

कारिया वि हवइ' होते हैं। उनका आचार विचारानुगामी और व्यवहार मे अविरुद्ध होता है। निश्चय मार्ग के पूर्ण अधिकारी होते हुए भी तीर्थंकर व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं करते। तीर्थंकरों का रात्रि-विहार नहीं करना और मल्लिनाथ का केवलज्ञान के बाद भी साधु-सभा मे न रहकर साध्वी-सभा मे रहना आदि, व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं करने के ही प्रमाण है।

तीर्थंकरकालीन महापुरुष

भगवान् ऋषभदेव से महावीर तक २४ तीर्थंकरो के समय मे अनेक ऐसे महापुरुष हुए है, जो राज्याधिकारी होकर भी मुक्तिगामी माने गये हैं। उनमे २४ तीर्थंकरो के साथ बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव इस तरह कुल मिलाकर ५४ महापुरुष कहे गये है। पीछे और नव प्रतिवासुदेवो को जोड़ने से त्रिषष्टि शलाका-पुरुष के रूप मे कहे जाने लगे।

भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के समय मे हुए जिनके सम्बन्ध मे जैन, हिन्दू और बौद्ध-ये भारत की तीनो प्रमुख परम्पराए एक मत से स्वीकार करती हैं कि इन्हीं ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।

सगर चक्रवर्ती दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के समय मे, मघवा और सनत्कुमार भगवान् धर्मनाथ एव शान्तिनाथ के अन्तरकाल मे हुए। भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ एव अरनाथ चक्री और तीर्थंकर दोनो ही थे। आठवे सुभौम चक्रवर्ती भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल मे हुए। नौवे चक्रवर्ती पद्म भगवान् मल्लिनाथ और भगवान् मुनिसुव्रत के अन्तरकाल मे हुए। दसवे चक्रवर्ती हरिषेण भगवान् मुनिसुव्रत और भगवान् नमिनाथ के अन्तरकाल में हुए। ग्यारहवे चक्रवर्ती जय भगवान् नमिनाथ और भगवान् अरिष्टनेमि के अन्तरकाल मे तथा बारहवे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल मे हुए।

त्रिपृष्ठ आदि पांच वासुदेव भगवान् श्रेयासनाथ आदि पांच तीर्थंकरो के काल मे हुए। भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल मे पुण्डरीक, भगवान् मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अन्तरकाल मे दत्त नामक वासुदेव हुए। भगवान् मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तरकाल मे लक्ष्मण वासुदेव और भगवान् अरिष्टनेमि के समय मे श्रीकृष्ण वासुदेव हुए।

वासुदेव आदि की तरह ग्यारह रुद्र, ९ नारद और कहीं बाहुबली आदि चौबीस कामदेव भी माने गये है।

(१) भीमावलि, (२) जितशत्रु, (३) रुद्र, (४) वैश्वानर, (५) सुप्रतिष्ठ, (६)

अचल, (७) पुण्डरीक, (८) अजितघर, (९) अजितनाभि, (१०) पीठ और (११) सात्यकि—ये ग्यारह रुद्र माने गये है।

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (५) काल, (६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) नरमुख और (९) अधोमुख नामक नौ नारद हुए। ये सभी भव्य एव मोक्षगामी माने गये है।

प्रथम रुद्र भगवान् ऋषभदेव के समय मे, दूसरे रुद्र भगवान् अजितनाथ के समय मे, तीसरे रुद्र से नौवे रुद्र तक सुविधिनाथ आदि सात तीर्थकरो के समय मे, दसवे रुद्र भगवान् शान्तिनाथ के समय मे और ग्यारहवे रुद्र भगवान् महावीर के समय मे हुए। अन्तिम दोनो रुद्र नरक के अधिकारी माने गये है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे धार्मिक इतिहास-लेखन का मुख्य दृष्टिकोण होने से चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि का यथावत् विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। चक्रवर्तियो मे से भरत और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का, वासुदेवो मे श्रीकृष्ण का और प्रतिवासुदेवो मे से जरासन्ध का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त वर्णन किया गया है। रुद्र एव नारदो के लिए तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार मे पठनीय सामग्री उल्लिखित है।

भगवान् महावीर के भक्त राजाओ मे श्रेणिक, कूणिक, चेटक, उदायन आदि प्रमुख राजाओ का परिचय दिया गया है। श्रेणिक, भगवान् महावीर के शासन का प्रभावक भूपति हुआ है। उसने शासन-सेवा से तीर्थकर-गोत्र का उपार्जन किया। पूर्वबद्ध निकाचित कर्म के कारण उसे प्रथम नरकभूमि मे जाना पड़ा। उसने अपने नरक-गति के बध को काटने हेतु सभी प्रकार के प्रयत्न किये। श्रमण भगवान् महावीर की चरण-शरण ग्रहण कर उसने अपने नरक-गमन से बचने का कारण पूछा। आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रभु ने उसे नरक से बचने के दो उपाय-क्रमश कालशौकरिक से हिसा छुड़ाना और कपिला ब्राह्मणी से भिक्षा दिलाना बताये। श्रेणिक चरित्र मे नमुक्कारसी पच्चखाण, श्रेणिक की दादी द्वारा मुनि-दर्शन और पूणिया श्रावक से सामायिक का फल खरीदना—ये तीन कारण अधिक बताये गये है। श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर नमुक्कारसी का व्रत करने मे सफल नहीं हो सका। अपनी दादी द्वारा मुनिदर्शन के दूसरे उपाय के सम्बन्ध मे उसे विश्वास था कि उसकी प्रार्थना पर उसकी दादी अवश्य ही मुनिदर्शन कर लेगी और उसके फलस्वरूप सहज ही वह नरक-गमन से बच जायेगा। परन्तु श्रेणिक द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी दादी ने मुनिदर्शन करना स्वीकार नहीं किया। नरक से बचने का तीसरा उपाय पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदना था। पर पूणिया श्रावक की सामायिक तो त्रैलोक्य की समस्त सम्पत्ति से भी अधिक कीमती एव अमूल्य थी अत वह कीमत से मिलती ही कैसे ? अन्त मे श्रेणिक ने समझ लिया कि उसका नरक-गमन अवश्यभावी है।

तीर्थंकर और नाथ-संप्रदाय

तीर्थंकरो का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वेद, पुराण आदि वैदिक और त्रिपिटक आदि बौद्ध धर्म-ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है। परन्तु उनमे ऋषभ, संभव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि आदि रूप से ही उल्लेख मिलता है, कहीं भी नाथ पद से युक्त तीर्थंकरो के नाम उपलब्ध नहीं होते। समवायाग, आवश्यक और नदीसूत्र मे भी नाथ-पद के साथ नामो का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी स्थिति मे सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द कब से और किस अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा।

शब्दार्थ की दृष्टि से विचार करते है तो नाथ शब्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। आगम मे वशीकृत-आत्मा के लिए भी नाथ शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र मे अनाथी मुनि के शब्दो मे कहा गया है —

खन्तो दन्तो निरारभो, पव्वइओ अणगारियं॥ ३४॥
तो ह नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य॥ ३५॥
(उ.,अ. २०)।

अर्थात् "जब मै शान्त, दान्त और निरारम्भी रूप से प्रव्रजित हो गया, तब अपना और पर का नाथ हो गया।"

प्रत्येक तीर्थंकर त्रिलोकस्वामी और उपरोक्त महान् गुणो से सम्पन्न होते है अतः उनके नाम के साथ 'नाथ' उपपद का लगाया जाना नितान्त उपयुक्त एवं उचित ही है। प्रभु, नाथ, देव एव स्वामी आदि शब्द एकार्थक है अत तीर्थंकर के नाम के साथ देव, नाथ अथवा स्वामी उपपद लगाया गया है।

सर्वप्रथम भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर का और आवश्यक सूत्र मे अरिहन्तो का उत्कीर्तन करते हुए 'लोगनाहेण', 'लोग नाहाणं' विशेषण से उन्हे लोकनाथ कहा है।

टीकाकार ने 'नाथ' शब्द की एक दूसरी व्याख्या भी की है। 'योगक्षेम-कृन्नाथ·' अलभ्यलाभो योग , लब्धस्य परिपालनं क्षेम.। इस दृष्टि से तीर्थंकर भव्य जींवो के लिए अलब्ध सम्यग्दर्शन आदि का लाभ और लब्ध सम्यग्दर्शन का परिपालन करवाते है अत वे इस अपेक्षा से भी नाथ कहे जा सकते है।

चौथी शताब्दी के आस-पास हुए दिगम्बर आचार्य यतिवृषम ने अपने ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' मे अधोलिखित कतिपय स्थलो पर तीर्थंकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है —

'भरणी रिक्खम्मि संतिणाहो य।' ति. प. ४।५४१।
'विमलस्स तीसलक्खा, अणतणाहस्स पचदसलक्खा।'
(ति. प. ४।५९९)

आचार्य यतिवृषभ ने तीर्थकरो के नाम के आगे नाथ शब्द की तरह ईसर और सामी पदो का भी उल्लेख किया है। यथा —

'रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं'

(ति प. ४।१२८३)।

'लक्खा पणप्पमाणा वासाण धम्मसामिस्स।'

(ति प ४।५९९)।

इससे इतना तो सुनिश्चित एव निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी मे यतिवृषभ के समय मे तीर्थकरो के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग लिखने-पढ़ने व बोलने मे आने लगा था।

जैन तीर्थंकरो के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनै शनै इतनी बढ़ी कि शैवमती योगी अपने नाम के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गौरखनाथ आदि रूप से नाथ शब्द जोड़ने लगे फलस्वरूप इस सप्रदाय का नाम ही 'नाथ सप्रदाय' के रूप मे पहिचाना जाने लगा।

इतर सप्रदाय के साधारण लोग जो सर्वथा आदिनाथ, अजितनाथ आदि तीर्थकरो की महिमा और उनके इतिहास से अनभिज्ञ है, गोरखनाथ की परम्परा मे नीमनाथी, पारसनाथी नाम देख कर भ्रान्ति मे पड़ सकते है कि गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ हुए या नेमनाथ पारसनाथ से गोरखपंथी हुए। सही स्थिति यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ जो नाथ सप्रदाय के मूल प्रवर्तक[1] एवं आदि आचार्य माने जाते है, उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना गया है जबकि तीर्थंकर भगवान् नेमनाथ, पारसनाथ और जैन धर्मानुयायी हजारो वर्ष पहले के है। नेमनाथ पार्श्वनाथ से ८३ हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं। दोनो मे बड़ा कालभेद है। अत गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ या जैन धर्मानुयायियो के होने की तो संभावना ही नहीं हो सकती। ऐसी मिथ्या कल्पना विद्वानो के लिए किसी भी तरह विश्वसनीय नहीं हो सकती। हॉ नेमनाथ पारसनाथ से गोरखनाथ की सभावना की जा सकती है। पर विचारने पर वह भी ठीक नहीं बैठती क्योकि भगवान् पार्श्वनाथ विक्रम सवत् से ७२५ वर्ष से भी अधिक पहले हो चुके है जबकि गोरखनाथ को विद्वानो ने बप्पा रावल का भी समकालीन माना है। हो सकता है कि भगवान् नेमनाथ के व्यापक अहिसा प्रचार का जिसने कि पूरे यादव वश का मोड़ बदल दिया था, नाथ परम्परा पर प्रभाव पड़ा हो और पार्श्वनाथ के कमठ प्रतिबोध की कथा से नाथ परम्परा के योगियो का मन प्रभावित हुआ हो और इस आधार से नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हजारी प्रसाद

---

१ हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वीं-शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे। — हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि। पृ ३२७

द्विवेदी ने अपनी 'नाथ संप्रदाय' नामक पुस्तक मे लिखा है :—

"चांदनाथ संभवत. वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैन साधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"[१]

ऐतिहासिक मान्यताओं में मतभेद

"यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैन इतिहास का मूलाधार जब सबका एक है तो फिर विभिन्न आचार्यो के लिखने मे मतभेद क्यो ?

वास्तविकता यह है कि जैन परम्परा का सम्पूर्ण श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा से प्राय मौखिक ही चलता रहा। एक गुरु के शिष्यो मे भी मौखिक ज्ञान क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। एक की स्मृति मे एक बात एक तरह से है तो दूसरे की स्मृति मे वही बात दूसरी तरह से और तीसरे को सभव है उसका बिलकुल ही स्मरण न हो। अति सन्निकट काल के घटनाचक्र के सम्बन्ध में जब इस प्रकार की मतवैचित्र्य की स्थिति है तो प्राचीनकाल की ऐतिहासिक घटनाओ के सम्बन्ध मे दीर्घकाल की अनेक दुष्कालियो के समय स्मरण, चिन्तन एवं परावर्तन के बराबर अवसर प्राप्त न होने की दशा मे कतिपय मतभेदों का होना स्वाभाविक है। जैसा कि विमलसूरि ने पउम चरियं में कहा है —

एवं परम्पराए परिहाणी पुव्व गंथ अत्थाण।
नाऊण कालभावं, न रूसियव्व बुहजणेण॥

निकट भूत मे हुए अनेक संतो, उनकी परम्पराओं एवं उनके जन्मकाल आदि के सम्बन्ध मे बड़ा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कबीर को कोई हिन्दू मानते हैं तो कई मुस्लिम। उनके जन्मकाल, माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में भी आज मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। पूज्य धर्मदासजी महाराज जिनके नाम पर स्थानकवासी समाज मे कितनी ही उपसम्प्रदायें चल रही है, उनके माता-पिता, जन्मकाल और स्वर्गवास-तिथि के सम्बन्ध मे आज मतभेद चल रहा है। ऐसी स्थिति मे हजारो वर्ष पहले हुए तीर्थंकरो के विषय मे मतभेद हो तो इसमें विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। कालप्रभाव, स्मृतिभेद, दृष्टिभेद के अतिरिक्त लेखक और वाचक के दृष्टिदोष के कारण भी मान्यताओं मे कुछ विभेद आ गये है, जो कालान्तर मे ईसा की तीसरी शती के आसपास श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओ की मध्यवर्ती यापनीय नामक तीसरी परम्परा के भी जनक रहे है। पाठको को इस मतभेद से खिन्न होने की अपेक्षा यह देख कर अधिक गौरवानुभव करना चाहिए कि तीर्थंकरो के माता-पिता, जन्मस्थान, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म नक्षत्र,

१ नाथ सम्प्रदाय — हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ १९०

आचार्य यतिवृषभ ने तीर्थकरो के नाम के आगे नाथ शब्द की तरह ईसर और सामी पदो का भी उल्लेख किया है। यथा —

'रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्ख'

(ति. प. ४।१२८३)।

'लक्खा पणप्पमाणा वासाण धम्मसामिस्स।'

(ति प ४।५९९)।

इससे इतना तो सुनिश्चित एव निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी मे यतिवृषभ के समय मे तीर्थकरो के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग लिखने-पढ़ने व बोलने मे आने लगा था।

जैन तीर्थंकरो के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनै. शनै इतनी बढी कि शैवमती योगी अपने नाम के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि रूप से नाथ शब्द जोड़ने लगे फलस्वरूप इस सप्रदाय का नाम ही 'नाथ सप्रदाय' के रूप मे पहिचाना जाने लगा।

इतर सप्रदाय के साधारण लोग जो सर्वथा आदिनाथ, अजितनाथ आदि तीर्थकरो की महिमा और उनके इतिहास से अनभिज्ञ है, गोरखनाथ की परम्परा मे नीमनाथी, पारसनाथी नाम देख कर भ्रान्ति मे पड़ सकते है कि गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ हुए या नेमनाथ पारसनाथ से गोरखपथी हुए। सही स्थिति यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ जो नाथ सप्रदाय के मूल प्रवर्तक[1] एवं आदि आचार्य माने जाते हैं, उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना गया है जबकि तीर्थकर भगवान् नेमनाथ, पारसनाथ और जैन धर्मानुयायी हजारो वर्ष पहले के है। नेमनाथ पार्श्वनाथ से ८३ हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं। दोनो मे बड़ा कालभेद है। अत गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ या जैन धर्मानुयायियों के होने की तो संभावना ही नहीं हो सकती। ऐसी मिथ्या कल्पना विद्वानो के लिए किसी भी तरह विश्वसनीय नहीं हो सकती। हॉ नेमनाथ पारसनाथ से गोरखनाथ की सभावना की जा सकती है। पर विचारने पर वह भी ठीक नहीं बैठती क्योकि भगवान् पार्श्वनाथ विक्रम सवत् से ७२५ वर्ष से भी अधिक पहले हो चुके है जबकि गोरखनाथ को विद्वानो ने बप्पा रावल का भी समकालीन माना है। हो सकता है कि भगवान् नेमनाथ के व्यापक अहिसा प्रचार का जिसने कि पूरे यादव वंश का मोड़ बदल दिया था, नाथ परम्परा पर प्रभाव पड़ा हो और पार्श्वनाथ के कमठ प्रतिबोध की कथा से नाथ परम्परा के योगियो का मन प्रभावित हुआ हो और इस आधार से नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हजारी प्रसाद

---

१ हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वीं-शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे। — हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि। पृ ३२७

द्विवेदी ने अपनी 'नाथ सप्रदाय' नामक पुस्तक मे लिखा है :—

"चादनाथ समवत. वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पड़ते है। जैन साधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"[1]

ऐतिहासिक मान्यताओं में मतभेद

"यहॉ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैन इतिहास का मूलाधार जब सबका एक है तो फिर विभिन्न आचार्यो के लिखने मे मतभेद क्यो ?

वास्तविकता यह है कि जैन परम्परा का सम्पूर्ण श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा से प्राय मौखिक ही चलता रहा। एक गुरु के शिष्यों मे भी मौखिक ज्ञान क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। एक की स्मृति मे एक बात एक तरह से है तो दूसरे की स्मृति मे वही बात दूसरी तरह से और तीसरे को समव है उसका बिलकुल ही स्मरण न हो। अति सन्निकट काल के घटनाचक्र के सम्बन्ध मे जब इस प्रकार की मतवैचित्र्य की स्थिति है तो प्राचीनकाल की ऐतिहासिक घटनाओ के सम्बन्ध मे दीर्घकाल की अनेक दुष्कालियो के समय स्मरण, चिन्तन एवं परावर्तन के बराबर अवसर प्राप्त न होने की दशा मे कतिपय मतभेदो का होना स्वाभाविक है। जैसा कि विमलसूरि ने पउम चरिय मे कहा है:—

एव परम्पराए परिहाणी पुव्व गंथ अत्थाण।
नाऊण कालभाव. न रुसियव्वं बुहजणेण॥

निकट भूत मे हुए अनेक सतो, उनकी परम्पराओ एवं उनके जन्मकाल आदि के सम्बन्ध मे बड़ा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कबीर को कोई हिन्दू मानते हैं तो कई मुस्लिम। उनके जन्मकाल, माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध मे भी आज मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। पूज्य धर्मदासजी महाराज जिनके नाम पर स्थानकवासी समाज मे कितनी ही उपसप्रदायें चल रही हैं, उनके माता-पिता, जन्मकाल और स्वर्गवास-तिथि के सम्बन्ध मे आज मतभेद चल रहा है। ऐसी स्थिति मे हजारो वर्ष पहले हुए तीर्थंकरो के विषय मे मतभेद हो तो इसमे विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। कालप्रभाव, स्मृतिभेद, दृष्टिभेद के अतिरिक्त लेखक और वाचक के दृष्टिदोष के कारण भी मान्यताओ मे कुछ विभेद आ गये है, जो कालान्तर मे ईसा की तीसरी शती के आसपास श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओ की मध्यवर्ती यापनीय नामक तीसरी परम्परा के भी जनक रहे हैं। पाठको को इस मतभेद से खिन्न होने की अपेक्षा यह देख कर अधिक गौरवानुभव करना चाहिए कि तीर्थकरो के माता-पिता, जन्मस्थान, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म नक्षत्र,

१ नाथ सप्रदाय' — हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ १९०

वर्ण, लक्षण, कुमारकाल, दीक्षातप, दीक्षाकाल, साधनाकाल, निर्वाणतप, निर्वाणकाल आदि मान्यताओ मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो परम्पराओ का प्रायः साम्य है। नाम, स्थान, तिथि आदि का भेद, श्रुतिभेद या गणनाभेद से हो गया है, उससे मूल वस्तु मे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

भगवान् वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाच तीर्थकरो को दोनो परम्पराओ मे कुमार माना गया है। अरिष्टनेमि, मल्ली, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाचो ने कुमारकाल मे और शेष १९ तीर्थकरो ने राज्य करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की[1] इस प्रकार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती मे किया गया है। कुमारकाल के साथ राज्य का उल्लेख होने के कारण वे पाचो तीर्थकर अविवाहित ही दीक्षित हुए हो ऐसा स्पष्ट नही होता। इस अस्पष्टता के कारण दोनो परम्पराओ मे पार्श्व, वासुपूज्य और महावीर के विवाह के विषय मे मतैक्य नहीं रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीर्थकर परिचय-पत्र एव प्रत्येक तीर्थकर के जीवन-परिचय मे यथास्थान उन मतभेद के स्थलो का भी निर्देश किया है। कुछ ऐसे भी मतभेद है जो परम्परा से विपरीत होने के कारण मुख्यरूपेण विचारणीय है। जैसे-सब आचार्यो ने क्षत्रियकुण्ड को महाराज सिद्धार्थ का निवासस्थल माना है परन्तु आचार्य शीलांक ने उसे सिद्धार्थ का विहारस्थल (Hill Station) लिखा है।[2]

आचारॉग सूत्र, कल्पसूत्र आदि मे नन्दीवर्धन को श्रमण भगवान् महावीर का ज्येष्ठ भाई लिखा है जबकि आचार्य शीलाक ने नन्दीवर्धन को महावीर का छोटा भाई बताया है।[3]

भगवती सूत्र के अनुसार गोशालक द्वारा सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अणगार पर तेजोलेश्या का प्रक्षेपण और समवसरण मे मुनिद्वय का प्राणान्त होना बताया गया है, जबकि आचार्य शीलाक ने चउवन महापुरिस चरियम् मे गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या से किसी मुनि की मृत्यु का उल्लेख नहीं किया है। उन्होने लिखा है कि सर्वानुभूति अणगार के साथ विवाद होने पर गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या फेकी। बदले मे सर्वानुभूति ने भी तेजोलेश्या प्रकट की। दोनो तेजोलेश्याए टकराई। भगवान् महावीर ने तेजोलेश्याओ द्वारा होने वाले अनर्थ को रोकने के लिए शीतललेश्या प्रकट की। उसके प्रबल प्रभाव को नहीं सह सकने के कारण वह तेजोलेश्या गोशालक पर गिर कर उसे जलाने लगी। तेजोलेश्या की तीव्र ज्वालाओ

---

१ तिलो प ४/६७०

२ अण्णया य गामाणुगाम गच्छमाणो कीलाणिमित्तमागओ णियभुत्तिपरिसठिय कुण्डपुर णामनयर।
(चउपन्नमहापुरिसचरिय, पृ २७०)

३ 'परलोयमइगतेसु जणणि-जणएसु' पणामिऊण णियकणिट्ठस्स भाउणो रज्ज
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, पृ २७२)

से भयभीत हो गोशालक भगवान् महावीर के चरणो मे गिर पड़ा। प्रभु के चरणो की कृपा से उस पर आया हुआ तेजोलेश्या का उपसर्ग शान्त हो गया।[1]

गोशालक को अपने दुष्कृत्य पर पश्चाताप हुआ और अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए उसने शुभ-लेश्या प्राप्त की और मरकर अन्त मे अच्युत स्वर्ग मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।[2]

उपरोक्त मन्तव्यो से प्रतीत होता है कि आचार्य शीलांक के समय मे भी गोशालक द्वारा भगवान् के पास सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर तेजोलेश्या फेकने के सम्बन्ध मे विचार-विभेद था। आचार्य शीलाक जैसे शास्त्रज्ञ मुनि द्वारा परम्परागत मान्यता के विपरीत लिखने के पीछे कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इतने बड़े विद्वान् यो ही बिना सोचे कुछ लिख डाले, इस पर विश्वास नहीं होता। यह विषय विद्वानो की गहन गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

तीर्थंकरकालीन प्रचार-नीति

तीर्थंकरो के समय मे देव, देवेन्द्र और नरेन्द्रो का पूर्णरूपेण सहयोग होते हुए भी जैन धर्म का देश-देशान्तरो मे व्यापक प्रचार क्यो नहीं हुआ, तीर्थंकरकाल की प्रचार-नीति कैसी थी, जिससे कि भरत जैसे चक्रधर, श्रीकृष्ण जैसे शक्तिधर और मगधनरेश श्रेणिक जैसे भक्तिधरो के सत्ताकाल मे भी देश मे जैन धर्म का प्रचुर प्रचार नहीं हो सका। साधु-सत और शक्तिशाली भक्तो ने प्रचारक भेजकर तथा अधिकारियो ने राजाज्ञा प्रसारित कर अहिसा एव जैन धर्म का सर्वत्र व्यापक प्रचार क्यो नहीं किया, इस प्रकार के प्रश्न सहज ही प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे उत्पन्न हो सकते है।

तत्कालीन स्थिति का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि तीर्थंकरो के मार्ग मे प्रचार का मूल सम्यग्विचार और आचारनिष्ठा ही माना गया था। उनके उपदेश का मूल लक्ष्य हृदय-परिवर्तन रहता था। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् ने अपने पास आये हुए श्रोताओ को भी सम्यग्दर्शन आदि मार्ग का ज्ञान कराया पर किसी को बलपूर्वक अथवा आग्रहपूर्वक यह नहीं कहा कि तुम्हे अमुक व्रत ग्रहण करना होगा। उपदेश श्रवण के पश्चात् जो भी इच्छापूर्वक

---

१. अण्णया य भिक्खु   सव्वाणभूईहि सम विवाओ सजाओ। तओ विवायवसुप्पण्ण कोवाईसयेण य पक्खित्ता ताणोवरि तेउलेसा, तेहिमि तस्स सतेवलेस त्ति। ताण य परोप्परं तेउलेसाण सपलग्ग जुज्झे एत्थायसरम्मि य भयवया तस्सुवसमण, णिमित्त पेसिया सीयलेसा। तओ सीयलेसापहावमसहमाणा वियलाया तेउलेसा, मदसाहियकिच्च म्म पयत्ता अहिद्दविउ गोसालय- णवरमसहमाणो तेयजलणप्पहाव समल्लीणो जयगुरु। जय गुरुपलणप्पहावपणट्ठोवसग्गपसरो य सबुद्धो पयत्तो चितिउ हा ! दुट्ठु मे कय ज भयवथा सह समसीसिमारुहतेण अच्चासायणा कया।

(वही, पृ ३०६-७)

२ एव य पइदिण णिदणाइय कुणमाणो कालमासे कयपाणपरिच्चाओ समुप्पण्णो अच्चुए देवलोए त्ति।
(वही पृ ३०७)

साधुधर्म अथवा श्रावकधर्म ग्रहण करने के लिए खड़ा होता उसे यही कहा जाता— 'यथा-सुखम्' अर्थात् जिसमे सुख हो उसमे प्रमाद मत करो।

भावना उत्पन्न करने के बाद क्या करना, इसका निर्णय श्रोता पर ही छोड़ दिया जाता। आज की तरह बल प्रयोग या आडम्बर से प्रचार नहीं किया जाता था। कारण कि प्रचार की अपेक्षा आचार की प्रधानता थी। अन्यथा चक्रवर्ती और वासुदेवो के राज्यकाल मे अनार्य-खण्ड मे भी जैन धर्म के प्रति व्यापक आदर हो जाता और लाखो ही नहीं करोड़ो मानव जैन धर्म के श्रद्धालु अनुयायी बन जाते एव सर्वत्र वीतराग-वाणी का प्रचार एव प्रसार हो जाता।

तीर्थकरो के समय के प्रचार को देखते हुए प्रतीत होता है कि उन्होने ज्ञानपूर्वक विशुद्ध प्रचार को ही उपादेय मान रखा था। सत्ताबल, धनबल अथवा सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न कर, किसी को भय, प्रलोभन या प्रशसा से चढाकर बिना पाये (बुनियाद) के तैयार करना उचित नहीं माना जाता था। जैन साधु सार्वजनिक स्थान मे ठहरते, बिना भेद-भाव के सब जातियो के अनिद्यकुलो से भिक्षा ग्रहण करते और सबको उपदेश देते थे। धर्म, सप्रदाय या पथ-परिवर्तन कराने मे खास रस नहीं लिया जाता था। बोध पाकर कोई स्वय धर्म ग्रहण करना चाहता, उसे ही दीक्षित किया जाता। जैनाचार्यो अथवा शासको द्वारा कोई बलात् धर्म-परिवर्तन का उदाहरण नहीं मिलेगा।

उस समय स्थिति ऐसी थी कि समाज के शुभ वातावरण मे अनायास ही लोग धर्मानुकूल जीवन जी सकते थे। सस्कारो का पाया इतना दृढ था कि अनार्य लोग भी उनके प्रभाव से प्रभावित हो जाते। अभयकुमार ने अनार्य देशस्थ अपने पिता के मित्र अनार्य नरेश के राजकुमार को धर्मप्रेमी बनाने के लिए धर्मोपकरण की भेट भेजी और सेठ जिनदत्त ने अनार्यभूप को धर्मरत्न की ओर आकृष्ट कर भगवान् महावीर की सेवा मे उपस्थित किया। इसी प्रकार मत्री चित्त ने केशिश्रमण को श्वेताम्बिका नगरी ले जा कर नास्तिक नरेश प्रदेशी को आस्तिक एव धर्मानुरागी बनाया।

प्रचार का तरीका यह था कि किसी विशिष्ट पुरुष को ऐसा तैयार करना कि वह हजारो को धर्मनिष्ठ बना सके। उस समय किसी की धार्मिक साधना मे बाधा पहुचाना या किसी को धर्मच्युत करना जघन्य कृत्य समझा जाता था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज अनार्य देश मे भी आर्यजन आते-जाते तथा रहते है एव कई अनार्य लोग भारत की आर्यधरा मे भी रहने लगे है। एक दूसरे का परस्पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति मे आवश्यक है कि उनमे अहिसा, सत्य एव सदाचार का खुलकर प्रचार किया जाये। उन्हे खाद्या-खाद्य का स्वरूप

समझाया जाये। अन्यथा बढ़ते हुए हिंसा और मांसाहार के युग मे निर्बल मन वाले धार्मिक लोग विदेशियों से प्रभावित हो धर्मानुकूल व्यवहार से विमुख हो जावेगे। प्रचार आवश्यक है पर वह अपनी संस्कृति के अनुरूप होना चाहिए। हमारी प्रचार-नीति आचार-प्रधान और ज्ञानपूर्वक हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर ही आधारित होनी चाहिए। इसी से हम जिन-शासन का हित कर सकते है और यही तीर्थकरकालीन संस्कृति के अनुरूप प्रचार का मार्ग हो सकता है।

आज के इतिहास लेखक

जैन इतिहास के इस प्रकार के प्रामाणिक आधार होने पर भी आधुनिक विद्वान् उसको बिना देखे जैन धर्म और तीर्थकरों के विषय मे भ्रान्ति-पूर्ण लेख लिख डालते है, यह आश्चर्य एवं खेद की बात है। इतिहासज्ञ को प्रामाणिक ग्रन्थो का अध्ययन कर जिस धर्म या सप्रदाय के विषय मे लिखना हो प्रामाणिकता से लिखना चाहिए। साम्प्रदायिक अभिनिवेश या बिना पूरे अध्ययन-मनन के सुनी-सुनाई बात पर लिख डालना उचित नही।

गोशालक द्वारा महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करना और आजीवक मत पर महावीर के सिद्धान्त का प्रभाव शास्त्रसिद्ध होने पर भी यह लिखना कि महावीर ने गोशालक से अचेलधर्म स्वीकार किया, कितनी बड़ी भूल है। आज भी कुछ विद्वान जैन धर्म को वैदिक मत की शाखा बताने की व्यर्थ चेष्टा करते है, यह उनकी गहरी भूल है। हम आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास करते हैं कि हमारे विज्ञ इतिहासज्ञ इस ओर विशेष सतर्क रहकर जैन धर्म जैसे भारत के प्रमुख धर्म का सही परिचय प्रस्तुत कर राष्ट्र को तद्विषयक अज्ञान से हटा आलोक मे रखने का प्रयास करेगे।

ग्रंथ परिचय

'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नाम का प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग की प्राचीन आगमीय परम्परा के अनुसार लिखा गया है। इस तीर्थंकर-खड में तीर्थंकरो के पूर्व-भव, देवगति का आयु, च्यवन, च्यवनकाल, जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि परिवारमान एवं किये हुए विशेष उपकार का परिचय दिया गया है। ऋषभदेव से महावीर तक चौबीसो तीर्थंकरो का परिचय आचारांग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, समवायाग, आवश्यक आदि सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, प्रवचन सारोद्धार, सत्तरिसय द्वार और दिगम्बर परम्परा के महापुराण, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती आदि प्राचीन ग्रन्थो के आधार से लिखा गया है।

मतभेद के स्थलो मे त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र, आगमीय मत और सत्तरिसय प्रकरण को सामने रखकर शास्त्रसम्मत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया है। भगवान् ऋषभदेव के प्रकरण मे अत्यधिक अनुसन्धान अपेक्षित था। वह पहले तो अनेक कारणो से पूर्णत सभव नहीं हो सका पर इस वार यह पर्याप्त रूपेण सुन्दर बन गया है। अनेक स्थलो पर परिवर्द्धन, परिमार्जन किये गये हैं।

ऐतिहासिक तथ्यो की गवेषणा के लिये जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य से भी यथाशक्य सामग्री सकलन का लक्ष्य रखा है। गवेषणा मे हमने किसी साहित्य की उपेक्षा नहीं की है।

मौलिक ग्रन्थो के अतिरिक्त आधुनिक लेखको के साहित्य का भी पूरा उपयोग किया गया है। पार्श्वनाथ मे श्री देवेन्द्र मुनि, जो सम्पादक-मडल मे प्रमुख है, के साहित्य का और भगवान् महावीर के प्रकरण मे श्री विजयेन्द्र सूरि, श्री कल्याण विजयजी आदि के साहित्य का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। लिखते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि कोई भी चीज शास्त्र के विपरीत नहीं जावे और निर्ग्रन्थ परम्परा के विरुद्ध न हो। कहीं भी साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश कोई अप्रामाणिक बात नहीं आने पावे, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। इस खण्ड मे मुख्यतया तीर्थकरो का ही परिचय है अत इसे तीर्थकर खण्ड कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्पराओ की मान्यतानुसार तीर्थकरो का तुलनात्मक परिचय और आवश्यक टिप्पणी भी दिये है।

संस्मरण—

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन, सकलन एव सम्पादन कार्य मे प शशिकान्तजी झा और गजसिह जी राठौड का श्रमपूर्ण सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। वैदिक साहित्य के माध्यम से अलभ्य उपलब्धियाँ श्री राठौड़ के लगनपूर्ण अनवरत चिन्तन एव गवेषण का ही प्रतिफल है। उनका इतिहास के लिए रात-दिन तन्मयता से चिन्तन सचमुच अनुकरणीय कहा जा सकता है। मेरे कार्य-सहायक प मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, सेवाव्रती मुनि लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, श्री चौथमलजी प्रभृति का व्याख्यान आदि कार्य मे और हीरा मुनि, शीतल मुनि आदि छोटे मुनियो का सेवा कार्य मे अनवरत सहयोग मिलता रहा है। उन सबके सहयोग से ही कार्य सम्पन्न हो सका है।

प्रूफ सशोधन एव प्रकाशन की समीचीन व्यवस्था मे सम्यक्ज्ञान प्रचारक

मण्डल के साहित्य मंत्री श्री प्रेमराजजी बोगावत का एव ग्रन्थ को सुन्दर बनाने मे डॉ नरेन्द्र भानावत का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। और भी ज्ञात, अज्ञात, छोटे-बड़े कार्यो मे जिन-जिन का सहयोग रहा है, उन सबका नाम पूर्वक स्मरण यहाँ संभव नहीं है।

भाव, भाषा और सिद्धान्त का यथाशक्य खयाल रखते हुए भी मानव-स्वभाव की अपूर्णता के कारण यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए "मिच्छामि दुक्कड।" विद्वज्जन सुहृद्भाव से उन त्रुटियो की सूचना करेगे तो भविष्य मे उन्हे सुधारने का ध्यान रखा जा सकेगा।

(द्वितीय सस्करण से साभार उद्धृत)

(प्रथम सस्करण से साभार उद्धृत)

सम्पादकीय

ससार के विविध विषयो मे इतिहास का भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारको द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, सस्कृति एव सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, सभ्यता अथवा सस्कृति का इतिहास जितना अधिक समुन्नत, समृद्ध एव सर्वांगपूर्ण होता है उतना ही अधिक वह धर्म, देश और समाज उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर होता हुआ संसार मे चिरजीवी और स्थायी सम्मान का अधिकारी होता है। वास्तव मे इतिहास मानव की वह जीवनी-शक्ति है, वह शक्ति का अक्षय्य अजस्र स्रोत है, जिससे निरन्तर अनुप्राणित एव सशक्त हो मानव उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त मे अपने चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफलकाम होता है।

यो तो ससार मे सत्ता, सभ्यता, सस्कृति, समृद्धि, सम्मान, सन्तान आदि सभी को प्रिय है परन्तु तत्त्वदर्शियो ने बडे गहन चिन्तन के पश्चात आत्मानुभव से इन सब ऐहिक सुखो को क्षणविध्वसी समझ कर धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह ध्रुव-सत्य ससार के समक्ष रखा कि—

"धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित.।"

अर्थात् जिसने अपने धर्म की रक्षा नहीं की उसका सम्मान, सुख, समृद्धि, सत्ता, सभ्यता आदि सब कुछ चौपट होने के साथ वह स्वय भी चौपट हो गया पर जिसने अपने धर्म को नहीं छोड़ा, प्राणपण से भी धर्म की रक्षा की, उसने अपने धर्म की रक्षा के साथ-साथ सत्ता, सम्मान, समृद्धि आदि की और अपनी स्वय की भी रक्षा कर ली।

चिन्तको ने ससार की सारभूत वस्तुओ का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार विभागो मे वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण मे भी धर्म को मूर्धन्य

स्थान दिया है। क्योकि यह प्राणी का परम हितैषी, सच्चा मित्र और चिरसंगी है। ऐसे परम कल्याणकारी अद्वितीय सखा धर्म की रक्षा करने का प्रत्येक प्राणी तभी प्रयत्न करेगा जबकि वह धर्म का सर्वागीण स्वरूप, परमोत्कृष्ट महत्त्व अच्छी तरह से समझता हो। धर्म के महत्त्व और स्वरूप को भलीभांति समझने और जानने का माध्यम उस धर्म का इतिहास है।

इसके अतिरिक्त इतिहास की एक और महत्ती उपयोगिता है। वह हमे हमारी अतीत की भूलों, अतीत के हमारे सही निर्णयो, सामयिक सुन्दर विचारो और प्रयासो का पर्यवेक्षण कराने के साथ-साथ भूतकाल की भूलों से बचने एव अच्छाइयो को दृढता के साथ पकड़ कर उन्नति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करता रहता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि किसी धर्म, देश और सस्कृति का सच्चा इतिहास वास्तव मे उस धर्म, देश और संस्कृति का प्राण, जीवन-शक्ति, प्रकाशस्तम्भ, प्रेरणास्रोत, पथ-प्रदर्शक, अभ्युन्नति का प्रशस्त मार्ग, खतरो से सावधान कर विनाश के गहरे गर्त से बचाने वाला सच्चा मित्र और सब कुछ है।

इतिहास वस्तुत मानव को उस प्रशस्त मार्ग का, उस सीधी और सुन्दर सड़क का दिग्दर्शन कराता है, जिस पर निरन्तर चलते रहने से पथिक निश्चित रूप से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने मे समर्थ होता है। इतिहास मानव को चरमोत्कर्ष के प्रशस्त मार्ग का केवल दिग्दर्शन मात्र ही नहीं कराता अपितु वह उस प्रशस्त पथ के पथिको को उस मार्ग मे आने वाली समस्त बाधाओ, रुकावटो, स्खलनाओ और छलनाओ से भी हर डग पर बचते रहने के लिए सावधान करता है। इतिहास मे वर्णित साधना-पथ के अतीत के पथिको के भले-बुरे अनुभवो से साधना-पथ पर अग्रसर होने वाला प्रत्येक नवीन पथिक लाभ उठा कर मार्ग मे आने वाली सभी कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करता हुआ निर्बाध गति से अपने ईप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

जैन समाज, खासकर श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज मे जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास की कमी चिरकाल से खटक रही थी। जैन कान्फ्रेन्स और मुनिमण्डल ने सम्मेलन में भी अनेक बार जैन धर्म का प्रामाणिक इतिहास निर्मित करवाने का निर्णय किया पर किसी कर्मठ इतिहासज्ञ विद्वान् ने इस अतिकष्टसाध्य कार्य को सम्पन्न करने का भार अपने जिम्मे नहीं लिया अत· इसे मूर्त स्वरूप नहीं मिल सका।

समाज द्वारा चिराभिलषित इस कार्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से

स्वनामधन्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने 'स्वान्त सुखाय-परजनहिताय च' इस भावना से प्रेरित हो जैन धर्म का प्रारम्भ से लेकर आज तक का सही, प्रामाणिक, सर्वांगपूर्ण और क्रमवद्ध इतिहास लिखने का भगीरथ प्रयास प्रारम्भ किया। वास्तव मे आचार्यश्री ने इस दुस्साध्य एव गुरुतर महान् दायित्व को अपने ऊपर लेकर अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

इतिहास-लेखन जैसे कार्य के लिये गहन अध्ययन, क्षीरनीर विवेकमयी तीव्र बुद्धि, उत्कृष्ट कोटि की स्मरणशक्ति, उत्कट साहस, अथाह ज्ञान, अडिग अध्यवसाय, पूर्ण निष्पक्षता, घोर परिश्रम आदि अत्युच्चकोटि के गुणो की आवश्यकता रहती है। वे सभी गुण आचार्यश्री मे विद्यमान है। पर इतिहास-लेखन का कार्य लेखक से इस बात की अपेक्षा करता है कि वह अपना अधिकाधिक समय लेखन के लिये दे। ध्यान, स्वाध्याय, अध्यापन, व्याख्यान, सघ-व्यवस्था एव विहारादि अनिवार्य कार्यो के कारण पहले से ही अपनी अति-व्यस्त दिनचर्या का निर्वहरण करने के साथ-साथ "जैन धर्म के मौलिक इतिहास" का यह प्रथम भाग पूर्ण कर आचार्यश्री ने नीतिकार की इस सूक्ति को अक्षरश चरितार्थ कर दिखाया :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै:,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

इस महान् कार्य को सम्पन्न करने मे आचार्यश्री को कितना घोर परिश्रम, गहन चिन्तन-मनन-अध्ययन करना पडा है, इसकी कल्पना मात्र से प्रत्यक्षदर्शी सिहर उठते है। आचार्यश्री के अक्षय शक्ति भण्डार, बौद्धिक एव शारीरिक प्रबल परिश्रम का इस ही से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्यश्री से आशुलिपि मे डिक्टेशन लेने, उसे नागरी लिपि मे लिखने तथा स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देशन के अनुसार लेखन-सम्पादन के एक वर्ष मात्र के कार्य से मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव होता कि कहीं मेरे मस्तिष्क की शिराए फट न जाये। पर ज्योही प्रात काल इन महान् योगी को पूर्ण मनोयोग से नित्यनवीन शतगुणित शक्ति से इतिहास-लेखन मे व्यस्त देखता तो मुझे अपनी दुर्बलता पर लज्जा का अनुभव होता, अन्तर के कर्णरन्ध्रो मे एक उद्घोष सा उद्भुत होता—

कुतस्त्वा कश्मलमिद विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ, नैतत्त्वटयुपपद्यते।
क्षुद्र हृदयदौर्बल्य । त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप ।।

और तत्क्षण ऐसा अनुभव होता मानो अंतर का तार विद्युत् के बहुत बड़े जनरेटर से जुड गया है। मै पुनः यथावत् कार्य मे जुट जाता।

श्रमणश्रेष्ठ-जीवन और आचार्य-पद के दैनिक दायित्वो का निर्वहन करने के साथ-साथ अहर्निश इतिहास-लेखन मे तन्मयता के साथ लीन रहने पर भी आचार्यश्री के प्रशस्त भाल पर थकान की कोई हल्की सी रेखा तक भी कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। चेहरे पर वही सहज मुस्कान आखो मे महर्घ्य मुक्ताफल की सी स्वच्छ-अद्‌भुत चमक सदा अक्षुण्ण विराजमान रहती।

जिस प्रकार ससार और ससार के मूलभूत-द्रव्य अनादि एव अनत है, उसी प्रकार आत्मधर्म होने के कारण जैन धर्म तथा उसका इतिहास भी अनादि तथा अनन्त है। अत जैन इतिहास को किसी एक ग्रन्थ अथवा अनेक ग्रन्थो मे सम्पूर्ण रूप से आबद्ध करने का प्रयास करना वस्तुत अनन्त आकाश को बाहो मे समेट लेने के प्रयास के तुल्य असाध्य और असमव है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना से प्रारम्भ कर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण-समय तक का जैन धर्म का क्रमबद्ध एव सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके साथ ही साथ कुलकर-काल एवं अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल को मिलाकर बीस कोडाकोड़ी सागर के पूर्ण काल-चक्र का एक रेखाचित्र की तरह अति सक्षिप्त स्थूल विवरण भी यथाप्रसग दिया गया है।

इस प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल मे भरतक्षेत्र मे सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने तृतीय आरक की समाप्ति में ९९६ वर्ष ३ मास १५ दिन कम एक लाख पूर्व का समय अवशेष रहा उस समय धर्म-तीर्थ की स्थापना की। उसी समय से इस अवसर्पिणीकालीन जैन धर्म का इतिहास प्रारम्भ होता है। भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन के काल से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाणकाल तक का इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थ मे देने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ आरक के समाप्त होने मे जब तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष रहे तब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।

इस प्रकार यह इतिहास एक कोडा-कोड़ी सागर, ७० शंख, ५५ पद्म, निन्यानवे नील, निन्यानवे खरब, निन्यानवे अरब, निन्यानवे करोड़, निन्यानवे लाख और सत्तावन हजार वर्ष का अति संक्षिप्त इतिहास है।

कल्पना द्वारा भी अपरिमेय इस सुदीर्घ अतीत मे असख्य बार भरत-क्षेत्र की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एव भौगोलिक स्थिति मे उतार-चढ़ाव आये, उन सब का लेखा-जोखा रखना वास्तव मे दुस्साध्य ही नहीं नितान्त असमव कहा जा सकता है। पर इस लम्बी अवधि मे भी आर्यधरा पर समय-समय पर चौबीस तीर्थकर प्रकट हुए और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को हस्तामलक की तरह युगपद् देखने-जानने वाले त्रिकालदर्शी उन तीर्थकरो ने विस्मृति के गर्भ मे छुपे उन सभी उपयोगी तथ्यो को समंय-समय पर वाणी द्वारा प्रकाशित किया।

तीर्थकरो द्वारा प्रकट किये गये उन ध्रुव-तथ्यो मे से कतिपय तथ्य तो सुदीर्घ अतीत के अन्धकार मे विलीन हो गये पर नियतकालभावी अधिकाश तथ्य सर्वज्ञभाषित आगम परम्परा के कारण आज भी अपना असदिग्ध स्वरूप लिये हमारी अमूल्य थाती के रूप मे विद्यमान है। जो कतिपय तथ्य विस्मृति के गह्वर मे विलीन हुए उनमे से भी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राचीन आचार्यो ने अपनी कृतियो मे आबद्ध कर सुरक्षित रखे है। उन बिखरे तथ्यो को यदि पूरी शक्ति लगा कर क्रमबद्ध रूप से एकत्रित करने का सामूहिक प्रयास किया जाये तो हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों मे और भी ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध होने की सभावना है, जिससे कि केवल जैन इतिहास के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के समूचे प्राचीन इतिहास के कई धूमिल एव लुप्तप्राय तथ्यो के प्रकाश मे आने और अनेक नई ऐतिहासिक उपलब्धियॉ होने की आशा की जा सकती है।

हमारा अतीत बड़ा आदर्श, सुन्दर और स्वर्णिम रहा है। हम लोगो के ही प्रमाद के कारण वह धूमिल हो रहा है। आज भी भारतीय दर्शन की ससार के उच्चकोटि के तत्त्वचिन्तको के हृदय पर गहरी छाप है। पाश्चात्य विद्वानो ने समय-समय पर यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन एव चिन्तको का ससार मे सदा से सर्वोच्च स्थान रहा है और भारतीय संस्कृति मानव-सस्कृति का आदि-स्रोत है। सर्वतोमुखी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज अत्यधिक बढे-चढ़े थे, यह तथ्य हमारे शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थ डिण्डिम घोष से प्रकट कर रहे हैं। अमोघ शक्तियॉ, अमोघबाण, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैशणवास्त्र, वरुणास्त्र, रथमूसलास्त्र (आधुनिक टैकों से भी अत्यधिक सहारक स्वचालित भीषण अस्त्र), महाशिलाकण्टक (अद्भुत प्रक्षेपणास्त्र), शतघ्नी आदि सहारक अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण और प्रयोग हमारे पूर्वज जानते थे, यह हमारे प्राचीन ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कहते है पर हमारा सम्मोह और मतिविभ्रम हमे इस ध्रुव सत्य को स्वीकार नहीं करने देता।

इतिहास साक्षी है कि जब तक भारतीयो ने अपने उज्ज्वल अतीत के सही इतिहास को विस्मृत नही किया, तब तक वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर आसीन रहे और जब से अपने इतिहास को भुलाया उसी दिन से अधःपतन प्रारम्भ हो गया। हमने प्राचीन— "संगच्छध्व सवदध्वं स वो मनांसि जानताम्, समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समान मनस्सहचित्तमेषाम्। समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि व। समानमस्तु वो मनो यथा वस्सुसहासति।" और "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह नौ वीर्य करवावहै तेजस्वी नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।" इन सिंहनादो को भुला कर सफलता की कुंजी ही खो दी।

यदि हम वास्तव मे सच्चे हृदय से अपनी खोई हुई समृद्धि प्रतिष्ठा और गौरवगरिमा को पुन. प्राप्त करना चाहते है तो हमे अपने इतिहास का वास्तविक ज्ञान करना होगा। क्योकि इतिहास वह सीढी है जो सदा ऊपर की ओर ही चढाती है और कभी नीचे नही गिरने देती।

उन्नति के इस मूलमन्त्र को श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने अच्छी तरह अनुभव करने के पश्चात् जैन धर्म के मौलिक इतिहास के रूप मे एक महान् सम्बल और अक्षय्य पाथेय हमे प्रदान किया है, जिसमे जीवन को समुन्नत बनाने वाले प्रशस्त मार्ग के साथ-साथ 'सत्य शिव सुन्दरम्' के दर्शन होते हैं।

अत्युच्चकोटि के विचारक, इतिहासज्ञ और महान् सत की कृति का सपादन करना किसी बड़े विद्वान् का कार्य हो सकता है, जिसने सम्पूर्ण जैनागम और प्राचीन साहित्य का समीचीन रूप से अध्ययन किया हो और जो स्वय उच्च कोटि का इतिहासज्ञ एवं इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियो को परखने मे कुशल हो। पर इन पंक्तियो के प्रस्तुतकर्त्ता मे इस प्रकार की कोई भी योग्यता नाम मात्र को भी नहीं है। जो कुछ सम्पादन कार्य बन पडा है, वह इस पुस्तक के लेखक करुणाकार आचार्यश्री की असीम कृपा और इस पुस्तक के संपादक मण्डल के सम्माननीय विद्वानो के विश्वास और स्नेह का ही फल है।

इस पुस्तक मे यदि कोई त्रुटि अथवा आगम-विरुद्ध बात रह गई हो तो पूरी ईमानदारी के साथ कार्य करते रहने पर भी अल्पज्ञ होने के कारण यह सम्पादकीय का लेखक ही उसके लिये पूर्णरूपेण दोषी है।

'यदत्रासौष्ठव किञ्चित्तन्ममैव न कस्यचित्' इस पद के माध्यम से सम्भावित अपनी सभी त्रुटियो के लिए विद्वद्वृन्द के समक्ष मै क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रद्धेय आचार्यश्री ने जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध मे नोट्स, लेख

कल्पना द्वारा भी अपरिमेय इस सुदीर्घ अतीत मे असख्य बार भरत-क्षेत्र की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एव भौगोलिक स्थिति मे उतार-चढ़ाव आये, उन सब का लेखा-जोखा रखना वास्तव मे दुस्साध्य ही नहीं नितान्त असभव कहा जा सकता है। पर इस लम्बी अवधि मे भी आर्यधरा पर समय-समय पर चौबीस तीर्थकर प्रकट हुए और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को हस्तामलक की तरह युगपद् देखने-जानने वाले त्रिकालदर्शी उन तीर्थकरो ने विस्मृति के गर्भ मे छुपे उन सभी उपयोगी तथ्यो को समय-समय पर वाणी द्वारा प्रकाशित किया।

तीर्थकरो द्वारा प्रकट किये गये उन ध्रुव-तथ्यो मे से कतिपय तथ्य तो सुदीर्घ अतीत के अन्धकार मे विलीन हो गये पर नियतकालभावी अधिकाश तथ्य सर्वज्ञभाषित आगम परम्परा के कारण आज भी अपना असदिग्ध स्वरूप लिये हमारी अमूल्य थाती के रूप मे विद्यमान है। जो कतिपय तथ्य विस्मृति के गह्वर मे विलीन हुए उनमे से भी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राचीन आचार्यो ने अपनी कृतियो मे आबद्ध कर सुरक्षित रखे है। उन बिखरे तथ्यो को यदि पूरी शक्ति लगा कर क्रमबद्ध रूप से एकत्रित करने का सामूहिक प्रयास किया जाये तो हस्तलिखित प्राचीन पुस्तको मे और भी ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध होने की सभावना है, जिससे कि केवल जैन इतिहास के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के समूचे प्राचीन इतिहास के कई धूमिल एव लुप्तप्राय तथ्यो के प्रकाश मे आने और अनेक नई ऐतिहासिक उपलब्धियाँ होने की आशा की जा सकती है।

हमारा अतीत बड़ा आदर्श, सुन्दर और स्वर्णिम रहा है। हम लोगो के ही प्रमाद के कारण वह धूमिल हो रहा है। आज भी भारतीय दर्शन की ससार के उच्चकोटि के तत्त्वचिन्तको के हृदय पर गहरी छाप है। पाश्चात्य विद्वानो ने समय-समय पर यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन एव चिन्तको का ससार मे सदा से सर्वोच्च स्थान रहा है और भारतीय सस्कृति मानव-सस्कृति का आदि-स्रोत है। सर्वतोमुखी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी हमारे पूर्वज अत्यधिक बढे-चढे थे, यह तथ्य हमारे शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थ डिण्डिम घोष से प्रकट कर रहे है। अमोघ शक्तियाँ, अमोघबाण, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैशणवास्त्र, वरुणास्त्र, रथमूसलास्त्र (आधुनिक टैकों से भी अत्यधिक सहारक स्वचालित भीषण अस्त्र), महाशिलाकण्टक (अद्‌भुत प्रक्षेपणास्त्र), शतघ्नी आदि सहारक अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण और प्रयोग हमारे पूर्वज जानते थे, यह हमारे प्राचीन ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कहते है पर हमारा सम्मोह और मतिविभ्रम हमे इस ध्रुव सत्य को स्वीकार नहीं करने देता।

इतिहास साक्षी है कि जब तक भारतीयों ने अपने उज्ज्वल अतीत के सही इतिहास को विस्मृत नही किया, तब तक वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर आसीन रहे और जब से अपने इतिहास को भुलाया उसी दिन से अध.पतन प्रारम्भ हो गया। हमने प्राचीन— "सगच्छध्व संवदध्व सं वो मनांसि जानताम्, समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समानं मनस्सहचित्तमेषाम्। समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वस्सुसहासति।" और "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह नौ वीर्य करवावहै तेजस्वी नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।" इन सिहनादों को भुला कर सफलता की कुजी ही खो दी।

यदि हम वास्तव मे सच्चे हृदय से अपनी खोई हुई समृद्धि प्रतिष्ठा और गौरवगरिमा को पुन प्राप्त करना चाहते है तो हमे अपने इतिहास का वास्तविक ज्ञान करना होगा। क्योकि इतिहास वह सीढी है जो सदा ऊपर की ओर ही चढाती है और कभी नीचे नहीं गिरने देती।

उन्नति के इस मूलमन्त्र को श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने अच्छी तरह अनुभव करने के पश्चात् जैन धर्म के मौलिक इतिहास के रूप मे एक महान् सम्बल और अक्षय्य पाथेय हमें प्रदान किया है, जिसमे जीवन को समुन्नत बनाने वाले प्रशस्त मार्ग के साथ-साथ 'सत्य शिव सुन्दरम्' के दर्शन होते है।

अत्युच्चकोटि के विचारक, इतिहासज्ञ और महान् संत की कृति का सपादन करना किसी बडे विद्वान् का कार्य हो सकता है, जिसने सम्पूर्ण जैनागम और प्राचीन साहित्य का समीचीन रूप से अध्ययन किया हो और जो स्वय उच्च कोटि का इतिहासज्ञ एवं इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियो को परखने मे कुशल हो। पर इन पंक्तियो के प्रस्तुतकर्त्ता मे इस प्रकार की कोई भी योग्यता नाम मात्र को भी नहीं है। जो कुछ सम्पादन कार्य बन पडा है, वह इस पुस्तक के लेखक करुणाकार आचार्यश्री की असीम कृपा और इस पुस्तक के सपादक मण्डल के सम्माननीय विद्वानों के विश्वास और स्नेह का ही फल है।

इस पुस्तक मे यदि कोई त्रुटि अथवा आगम-विरुद्ध बात रह गई हो तो पूरी ईमानदारी के साथ कार्य करते रहने पर भी अल्पज्ञ होने के कारण यह सम्पादकीय का लेखक ही उसके लिये पूर्णरूपेण दोषी है।

'यदत्रासौष्ठव किञ्चित्तन्ममैव न कस्यचित्' इस पद के माध्यम से सम्भावित अपनी सभी त्रुटियो के लिए विद्वद्वृन्द के समक्ष मै क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रद्धेय आचार्यश्री ने जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध मे नोट्स, लेख

आदि सामग्री तैयार की है, वह इतनी विपुल मात्रा मे है कि यदि उसमे से सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण सामग्री को प्रकाशनार्थ लिया जाता तो तीर्थकरकाल के ही प्रस्तुत ग्रन्थ के समान आकार वाले अनेक भाग तैयार हो जाते अत अतीव सक्षिप्त रूप मे प्रमुख ऐतिहासिक सामग्री को ही इस ग्रन्थ मे स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आद्योपान्त सम्यक् अध्ययन से धर्म एव इतिहास के विज्ञ पाठको को विदित होगा कि आचार्यश्री ने भारतीय इतिहास को अनेक नवीन उपलब्धियो से समृद्ध, सुन्दर और अलकृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कालचक्र, कुलकर तुलनात्मक विश्लेषण, धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था, श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराओ की तुलना, भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि मे उल्लेख, हरिवश की उत्पत्ति, उपरिचर वसु (पूरा उपाख्यान), वसुदेव-सम्मोहक व्यक्तित्व, उस समय की राजनीति, अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन, अरिष्टनेमि द्वारा अद्‌भुत रहस्य का उद्‌घाटन, क्षमामूर्ति गज सुकुमाल, वैदिक साहित्य मे अरिष्टनेमि और उनका वशवर्णन, भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव, आर्य केशिश्रमण, गोशालक का परिचय, कुतर्कपूर्ण भ्रम, कालचक्र का वर्णन, एक बहुत बडा भ्रम, भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या, महाशिलाकटक युद्ध, रथमूसल सग्राम, ऐतिहासिक दृष्टि के निर्वाणकाल तथा भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण आदि शीर्षको मे आचार्यश्री की ललित लेखन-कला के अद्‌भुत चमत्कार के साथ-साथ आचार्यश्री के विराट् स्वरूप, महान् व्यक्तित्व, अनुपम चहुंमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अधिकारिकता के दर्शन होते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल आगमो, चूर्णियो वृत्तियो और प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ मे वर्णित प्राय सभी तथ्य धर्म एवं इतिहास के मूल ग्रन्थो से लिये गये है एवं जैन धर्म का इतिहास इसके प्रारम्भिक मूलकाल से लिखा गया है अत इसका नाम "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" रखा गया है। तीर्थकरो को धर्म-परिषद् के लिए आदि के स्थलो मे समवसरण और आगे के स्थलो मे समवशरण लिखा गया है। विद्वान् दिगम्बर मुनिश्री ज्ञानसागरजी ने अपने 'वीरोदय काव्य' के अधोलिखित श्लोक मे—

समवशरणमेतन्नामतो विश्रुतासी—
जिनपतिपदपूता ससदेषा सुभाशी ।
जनिमरणदु खाद्‌दुखितो जीवराशि—
रिह समुपगत सन् सम्भवेदाशु काशी ।

समवशरण शब्द का प्रयोग करते हुए 'समवशरण' शब्द की व्याख्या मे अन्यत्र लिखा है —

"ख्यात च नाम्ना समवेत्य यत्र, ययुर्जना श्रीशरण यदत्र।"

अर्थात् उसमे चारो ओर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री वीर भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, इसलिए वह समवशरण के नाम से ससार मे प्रसिद्ध हुआ।

'सम्यग्-एकी भावेन, अवसरण-एकत्र गमन-मेलापक समवसरणम्' अभिधान-राजेन्द्र-कोष मे दी हुई इस समवशरण की व्याख्या से उपरिवर्णित व्याख्या अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत हुई अत. प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगे चलकर समवशरण शब्द का प्रयोग किया गया।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे जिन प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन विद्वान् लेखको की पुस्तको से सहायता ली गई है, उनकी सूची लेखको के नाम सहित दे दी गई है। हम उन सभी विद्वान् लेखको के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है।

इस ग्रथ के सम्पादन-काल मे मुझे आगम-साहित्य के साथ-साथ अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन ग्रन्थो को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनमे एकत्रित अपार ऐतिहासिक सामग्री वस्तुत अमूल्य है। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के दृष्टिकोण से जैन धर्मानुयायी अन्य सभी धर्मावलम्बियो से बहुत अधिक समृद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री के स्वामी होते हुए भी आज जैन धर्मावलम्बी चारो ओर से यह आवाज क्यो उठा रहे है कि जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास का अभाव हमे खटक रहा है अत. जैन धर्म के एक सर्वांगपूर्ण प्रामाणिक इतिहास का निर्माण किया जाना चाहिए।

अटल दृढ विश्वास के साथ मेरा तो यही उत्तर होगा कि आज जैन धर्म का इतिहास प्राकृत, अपभ्रश तथा सस्कृत के वज्रकपाटो मे बन्द पडा है और जो बाहर है, वह यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थो-भण्डारो मे बिखरा पड़ा है। इतिहास की विपुल सामग्री के विद्यमान होते हुए भी सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य भाषा मे क्रमबद्ध एव सर्वांगपूर्ण जैन इतिहास आज समाज के समक्ष नहीं है।

आवश्यकता थी एक ऐसे भागीरथ की जो सुदूर के विभिन्न स्थानो

मे रुधे-रुके पड़े इतिहास के अजस्र निर्मल स्रोतो की धाराओ को एकत्र प्रवाहित कर कलकल-निनादिनी, उत्ताल-तरगिणी इतिहास-गगा को सर्वसाधारण के हृदयो मे प्रवाहित कर दे।

जन-जन के अन्तस्तल मे उद्भूत हुई भावनाएँ कभी निष्फल नहीं होतीं। आज जैन समाज के सौभाग्य से एक महान् सन्त इतिहास की गगा प्रवाहित करने के लिए भागीरथ बनकर प्रयास कर रहे है। देखिये, आज के इन भागीरथ द्वारा प्रवाहित त्रिवेणी (गगा-तीर्थकर काल का इतिहास, यमुना-निर्वाण पश्चात् लौकाशाह तक का इतिहास और सरस्वती-लौकाशाह से आज दिन तक का इतिहास) की यह पहली गगाधारा आप ही की ओर बढ रही है। जी भर कर अमृत-पान कर इसमे मज्जन कीजिये और एक साथ बोलिये—

अभय प्रदायिनि अघदलदारिणी,
जय, जय, जय इतिहास तरंगिणि।

पूजनीय आचार्यश्री ने मानव को परमोत्कर्ष पर पहुँचाने एव जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो इस ग्रन्थ के लेखन का जो अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य सम्पन्न किया है, उस भावना के अनुरूप ही पाठकगण मानवीय दृष्टिकोण को अपना कर आत्मोन्नति के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय उन्नति के प्रति अग्रसर होगे तो आचार्यश्री को परम सतोष प्राप्त होगा।

गजसिंह राठौड़
न्या व्या तीर्थ,
सिद्धान्त विशारद

कालचक्र और कुलकर

जैन शास्त्रों के अनुसार संसार अनादि काल से सतत गतिशील चलता आ रहा है। इसका न कभी आदि है और न कभी अन्त।

यह दृश्यमान् समस्त जगत् परिवर्तनशील परिणामी नित्य है। मूल द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तन सदा चालू रहता है, अतः अनित्य है। प्रत्येक जड़-चेतन का परिवर्तन नैसर्गिक ध्रुव एवं सहज स्वभाव है। जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, प्रकाश के पश्चात् अन्धकार और अन्धकार के पश्चात् प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त, शरद् और बसन्त इन षड्ऋतुओं का एक के बाद दूसरी का आगमन, गमन, पुनरागमन और प्रतिगमन का चक्र अनादि काल से निरन्तर चलता आ रहा है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का केवल फेनलेखा तुल्य चन्द्र क्रमशः वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र बन जाता है और फिर कृष्णपक्ष के आगमन पर वही ज्योतिपुंज षोडश कलाधारी पूर्णचन्द्र, क्षय रोगी की तरह धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता हुआ क्रमशः अमावस्या की काली अंधेरी रात्रि में पूर्णरूपेण तिरोहित हो अस्तित्व-विहीन सा हो जाता है। अभ्युदय के पश्चात् अभ्युत्थान एवं अभ्युत्थान की पराकाष्ठा के पश्चात् अधःपतन का प्रारम्भ और इसके पश्चात् क्रमशः पूर्ण पतन, फिर अभ्युदय, अभ्युत्थान, उत्कर्ष और पूर्ण उत्कर्ष, इस प्रकार चराचर जगत् का अनादि काल से अनवरत क्रम चला आ रहा है। संसार के इस अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र को क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की संज्ञा दी गई है। कृष्णपक्ष के चन्द्र में क्रमिक ह्रास की तरह ह्रासोन्मुख काल को अवसर्पिणी काल और शुक्लपक्ष के चन्द्र के क्रमिक उत्कर्ष की तरह विकासोन्मुख काल को उत्सर्पिणी काल के नाम से कहा जाता है।

*अवसर्पिणी का क्रमिक अपकर्ष काल निम्नांकित छः भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) सुषमा सुषम — चार कोड़ाकोड़ी सागर का।†
(२) सुषम — तीन कोड़ाकोड़ी सागर का।
(३) सुषमा दुःषम — दो कोड़ाकोड़ी सागर का।
(४) दुःषमा सुषम — ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का।
(५) दुःषम — इक्कीस हजार वर्ष का।
(६) दुःषमा दुःषम — इक्कीस हजार वर्ष का।

---

* कृपया परिशिष्ट देखें

† कृपया परिशिष्ट देखें

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक उत्कर्ष काल को भी छः भागों में विभक्त कर अवसर्पिणी काल के उल्टे क्रम से (१) दुःषमा दुःषम, (२) दुःषम, (३) दुःषमा सुषम, (४) सुषमा दुःषम, (५) सुषम और (६) सुषमा सुषम नाम से समझना चाहिए। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी – इन दोनों के योग से बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।[1]

हम सब इस ह्रासोन्मुख अवसर्पिणी काल के दौर से ही गुजर रहे हैं। अवसर्पिणी के परमोत्कर्ष काल में अर्थात् प्रथम सुषमा सुषम आरे में पृथ्वी परमोत्कृष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सर्वोत्कृष्ट समृद्धियों से सम्पन्न होती है। उस समय के प्राणियों को जीवनोपयोगी सर्वश्रेष्ठ सामग्री विना प्रयास के ही कल्पवृक्षों से सहज सुलभ होती है, अतः उनका जीवन अपने आप मे मग्न एवं परम सुखमय होता है। प्रकृति की सुखद, सुन्दर एवं मन्द-मधुर बयार से उस समय के मानव का मन-मयूर प्रतिक्षण आनन्द-विभोर हो अपनी अद्भुत मस्ती में मस्त रहता है। सहज-सुलभ भोग्य सामग्री में, उपभोग में, मानव मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं को झंकृत होने का कभी कोई किञ्चित्मात्र भी अवसर नहीं मिलता और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की झंकृति के अभाव में मस्तिष्क की चंचलता, चिन्तन, मनन एवं विचार-संघर्ष का कोई कारण ही उसके समक्ष उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार वीणा की मधुर झंकार अथवा बांसुरी की सम्मोहक स्वर-लहरियों से विमुग्ध हरिण मन्त्रमुग्ध सा अपने आपको भूल जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के परमोत्कृष्ट मादक माधुर्य में विमुग्ध उस समय का मानव सब प्रकार की चिन्ताओं से विमुक्त हो ऐहिक आनन्द से ओत-प्रोत जीवन यापन करता है। इसे भोगयुग की संज्ञा दी जाती है।

प्रकृति के परिवर्तनशील अटल स्वभाव के कारण संसार की वह परमोत्कर्षता और मानव की वह मधुर मादकता भरी अवस्था भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रह पाती। उसमें क्रमशः परिवर्तन आता है और पृथ्वी का वह परमोत्कर्ष काल शनैः शनैः सुषमा सुषम आरे से सुषम, सुषमा दुःषम आदि अपकर्ष काल की ओर गतिशील होता है। फलतः पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं माधुर्य में और यहां तक कि प्रत्येक अच्छाई में क्रमिक ह्रास आता रहता है। प्रकृति की इस ह्रासोन्मुख दशा में मानव के शारीरिक विकास और उसकी सुख शान्ति में भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों मानव की सुख सामग्री में कमी आती जाती है और उसे अभाव का सामना करना पड़ता है, त्यों-त्यों उसके मस्तिष्क में चंचलता पैदा होती जाती है और उसका शान्त मस्तिष्क शनैः शनैः विचार-संघर्ष का केन्द्र बनता जाता है। "अभाव से अभियोगों का जन्म होता है।" इस उक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों अभाव बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों विचार-संघर्ष और अभियोग भी बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का जब आधे से

---

[1] आरक के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिये जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २ देखें

अधिक समय व्यतीत हो जाता है तो पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उर्वरता आदि गुणों का पहले की अपेक्षा पर्याप्त (अनन्तानन्तगुणित) मात्रा में ह्रास हो जाता है। कल्पवृक्षों के क्रमिक विलोप के कारण सहज सुलभ जीवनोपयोगी सामग्री भी आवश्यक मात्रा मे उपलब्ध नहीं होती।[1] अभाव की उस अननुभूत-अदृष्टपूर्व स्थिति में जनमन आन्दोलित हो उठता है। फलतः विचार-संघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल, प्रपंच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है और शनैः शनैः इन दोषों के दावानल में मानव-समाज जलने लगता है। अशान्ति की असह्य आग से त्रस्त एवं दिग्विमूढ़ मानव के मन में जब शान्ति की पिपासा जागृत होती है तो उस समय उस दिशाभ्रान्त मानव-समाज के अन्दर से ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति संयोग पाकर, भूमि में दबे हुए बीज की तरह ऊपर आते हैं, जो उन त्रस्त मानवो को भौतिक शान्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल

ऐसे विशिष्ट बल, बुद्धि एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही मानव समाज में कुलों की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं। कुलकरों के द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है, जिससे तात्कालिक समस्या का आंशिक समाधान होता है। किन्तु जब उन बढ़ती समस्याओ को हल करना कुलकरो की सामर्थ्य से बाहर हो जाता है, तब समय के प्रभाव और जनता के सद्भाग्य से एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न तेजोमूर्ति नर-रत्न का जन्म होता है, जो धर्म-तीर्थ का संस्थापक अथवा आविष्कर्ता होकर जन-जन को नीति एवं धर्म की शिक्षा देता और मानव समुदाय को परम शान्ति तथा अक्षय सुख के सही मार्ग पर आरूढ़ करता है।

इसी समय मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का सूत्रपात होता है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

भगवान् ऋषभदेव के पूर्ववर्त्ती मानव, स्वभाव से शान्त, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। सहज शान्त और निर्दोष जीवन जीने के कारण उस समय के मनुष्यों को धर्म की आवश्यकता ही नही थी। अतः उनमें भौतिक मर्यादाओ का अभाव था। वे केवल सहज भाव से व्यवहार करते और उसमे कभी पुण्य का और कभी पाप का उपार्जन भी कर लेते। वे न किसी नर या पशु से सेवा-सहयोग ग्रहण करते और न किसी के लिये अपना सेवा-सहयोग अर्पित ही करते। दश प्रकार के कल्पवृक्षो[2] के द्वारा सहज-प्राप्त फल-फूलो से वे

---

[1] तेसु परिहीयंतेसु कसाया उप्पण्णा—[आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ (१)]

[2] स्थानांग सूत्र मे कल्पवृक्षो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख है :—

सुसम-सुसमाए णं समाए दसविहा रुक्खा उपभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तंजहा :—

मत्तंगयाय भिंगा, तुडियंगा दीवजोइ चित्तंगा।

चित्तरसा मणियंगा, गेहागारा अणियणा य॥ [सुत्तागम मूल, सू० १०५८]

सुषमा-सुषम काल मे १० प्रकार के वृक्ष मनुष्यों के उपभोगार्थ काम आते हैं। जैसे :— (१) मत्तंगा-मादक-रस देने वाले, (२) भृंगांग—भाजन बर्तन देने वाले,

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक उत्कर्ष काल को भी छः भागों में विभक्त कर अवसर्पिणी काल के उल्टे क्रम से (१) दुःषमा दुःषम, (२) दुःषम, (३) दुःषमा सुषम, (४) सुषमा दुःषम, (५) सुषम और (६) सुषमा सुषम नाम से समझना चाहिए। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी – इन दोनों के योग से बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।[1]

हम सब इस ह्रासोन्मुख अवसर्पिणी काल के दौर से ही गुजर रहे हैं। अवसर्पिणी के परमोत्कर्ष काल में अर्थात् प्रथम सुषमा सुषम आरे में पृथ्वी परमोत्कृष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सर्वोत्कृष्ट समृद्धियों से सम्पन्न होती है। उस समय के प्राणियों को जीवनोपयोगी सर्वश्रेष्ठ सामग्री विना प्रयास के ही कल्पवृक्षों से सहज सुलभ होती है, अतः उनका जीवन अपने आप में मग्न एवं परम सुखमय होता है। प्रकृति की सुखद, सुन्दर एवं मन्द-मधुर बयार से उस समय के मानव का मन-मयूर प्रतिक्षण आनन्द-विभोर हो अपनी अद्भुत मस्ती मे मस्त रहता है। सहज-सुलभ भोग्य सामग्री में, उपभोग मे, मानव मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं को झंकृत होने का कभी कोई किञ्चित्मात्र भी अवसर नहीं मिलता और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की झंकृति के अभाव में मस्तिष्क की चंचलता, चिन्तन, मनन एवं विचार-संघर्ष का कोई कारण ही उसके समक्ष उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार वीणा की मधुर झंकार अथवा बांसुरी की सम्मोहक स्वर-लहरियों से विमुग्ध हरिण मन्त्रमुग्ध सा अपने आपको भूल जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के परमोत्कृष्ट मादक माधुर्य में विमुग्ध उस समय का मानव सब प्रकार की चिन्ताओं से विमुक्त हो ऐहिक आनन्द से ओत-प्रोत जीवन यापन करता है। इसे भोगयुग की संज्ञा दी जाती है।

प्रकृति के परिवर्तनशील अटल स्वभाव के कारण संसार की वह परमोत्कर्षता और मानव की वह मधुर मादकता भरी अवस्था भी चिरकाल तक स्थिर नहीं रह पाती। उसमें क्रमशः परिवर्तन आता है और पृथ्वी का वह परमोत्कर्ष काल शनैः शनैः सुषमा सुषम आरे से सुषम, सुषमा दुःषम आदि अपकर्ष काल की ओर गतिशील होता है। फलतः पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं माधुर्य में और यहां तक कि प्रत्येक अच्छाई में क्रमिक ह्रास आता रहता है। प्रकृति की इस ह्रासोन्मुख दशा में मानव के शारीरिक विकास और उसकी सुख शान्ति में भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों मानव की सुख सामग्री में कमी आती जाती है और उसे अभाव का सामना करना पड़ता है, त्यों-त्यों उसके मस्तिष्क में चंचलता पैदा होती जाती है और उसका शान्त मस्तिष्क शनैः शनैः विचार-संघर्ष का केन्द्र बनता जाता है। "अभाव से अभियोगों का जन्म होता है।" इस उक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों अभाव बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों विचार-संघर्ष और अभियोग भी बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का जब आधे से

[1] आरक के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २ देखें

अधिक समय व्यतीत हो जाता है तो पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उर्वरता आदि गुणों का पहले की अपेक्षा पर्याप्त (अनन्तानन्तगुणित) मात्रा में ह्रास हो जाता है। कल्पवृक्षों के क्रमिक विलोप के कारण सहज सुलभ जीवनोपयोगी सामग्री भी आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं होती।[1] अभाव की उस अननुभूत-अदृष्टपूर्व स्थिति में जनमन आन्दोलित हो उठता है। फलतः विचार-संघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल, प्रपंच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है और शनैः शनैः इन दोषो के दावानल में मानव-समाज जलने लगता है। अशान्ति की असह्य आग से त्रस्त एवं दिग्विमूढ़ मानव के मन में जब शान्ति की पिपासा जागृत होती है तो उस समय उस दिशाभ्रान्त मानव-समाज के अन्दर से ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति संयोग पाकर, भूमि में दबे हुए बीज की तरह ऊपर आते हैं, जो उन त्रस्त मानवो को भौतिक शान्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल

ऐसे विशिष्ट बल, बुद्धि एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही मानव समाज मे कुलों की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं। कुलकरों के द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है, जिससे तात्कालिक समस्या का आंशिक समाधान होता है। किन्तु जब उन बढ़ती समस्याओं को हल करना कुलकरों की सामर्थ्य से बाहर हो जाता है, तब समय के प्रभाव और जनता के सद्भाग्य से एक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न तेजोमूर्ति नर-रत्न का जन्म होता है, जो धर्म-तीर्थ का संस्थापक अथवा आविष्कर्ता होकर जन-जन को नीति एवं धर्म की शिक्षा देता और मानव समुदाय को परम शान्ति तथा अक्षय सुख के सही मार्ग पर आरूढ़ करता है।

इसी समय मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का सूत्रपात होता है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

भगवान् ऋषभदेव के पूर्ववर्ती मानव, स्वभाव से शान्त, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। सहज शान्त और निर्दोष जीवन जीने के कारण उस समय के मनुष्यो को धर्म की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः उनमे भौतिक मर्यादाओ का अभाव था। वे केवल सहज भाव से व्यवहार करते और उसमे कभी पुण्य का और कभी पाप का उपार्जन भी कर लेते। वे न किसी नर या पशु से सेवा-सहयोग ग्रहण करते और न किसी के लिये अपना सेवा-सहयोग अर्पित ही करते। दश प्रकार के कल्पवृक्षो[2] के द्वारा सहज-प्राप्त फल-फूलों से वे

[1] तेसु परिहीयंतेसु कसाया उप्पण्णा—[आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ (१)]

[2] स्थानांग सूत्र मे कल्पवृक्षो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख है :-
सुसम-सुसमाए णं समाए दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तजहा :-
मत्तंगयाय भिंगा, तुडियंगा दीवजोइ चित्तंगा।
चित्तरसा मणियंगा, गेहागारा अणियणा य॥ [सुत्तागम मूल, सू० १०५८]
सुषमा-सुषम काल मे १० प्रकार के वृक्ष मनुष्यो के उपभोगार्थ काम आते हैं। जैसे :- (१) मत्तंगा-मादक-रस देने वाले, (२) भृंगांग-भाजन बर्तन देने वाले,

अपना जीवन चलाते थे, उनका जीवन रोग, शोक और वियोग रहित था। जब कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री क्षीण होने लगी और मानव की आवश्यकता-पूर्ति नहीं होने लगी तो उनकी सहज शान्ति भग हो गई, परस्पर सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। तव उन्होने मिल कर छोटे-छोटे कुलो के रूप मे अपनी व्यवस्था बनाई और कुलों की उस व्यवस्था को करनेवाले कुलकर कहलाये। ऐसे मुख्य कुलकरो के नाम इस प्रकार है :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि।[1] कुलकरो की सख्या के संवध मे ग्रन्थकारो मे मतभेद है। जवूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकरो का उल्लेख है।

तीसरे आरे मे जव पल्योपम का अष्टम भाग शेप रहा, तव क्रमशः सात कुलकर उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। किसी समय वन-प्रदेश मे घूमते हुए एक मानव युगल को किसी श्वेतवर्ण सुन्दर हाथी ने देखा और पूर्व जन्म के स्नेह से उसको उसने अपनी पीठ पर बिठा लिया, तो लोगो ने उस युगल को गजारूढ देख कर सोचा – "यह मनुष्य हम से अधिक शक्तिशाली है।" उज्ज्वल वाहन वाला होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे।[2]

उस समय कल्पवृक्षो की कमी होने के परिणामस्वरूप लोगो मे परस्पर विवाद होने लगे, जिससे उनकी शान्ति भग हो गई। उन्होने मिल कर अपने से

(३) त्रुटिताग-वाद्य के समान आमोद-प्रमोद के साधन देने वाले, (४) दीपाग-प्रकाश के लिए दीपक के समान फल देने वाले, (५) ज्योति-अग्नि की तरह ताप-उष्णता देने वाले, (६) चित्राग-विविध वर्णों के फूल देने वाले, (७) चित्तरस–अनेक प्रकार के रस देने वाले, (८) मणिमग–मणि रत्नादि की तरह चमकदार आभूषणो की पूर्ति करने वाले, (९) गेहागार–घर, शाला आदि आकार वाले और (१०) अनग्न-नग्नता दूर करने वाले अर्थात् वल्कल की तरह वस्त्र की पूर्ति करने वाले।

इन वृक्षो से यौगलिक मनुष्यो की आहार-विहार और निवास आदि की आवश्यकताए पूर्ण हो जाती थी, अत इन्हें कल्पवृक्ष की सज्ञा दी है। कोषकारो ने कल्पवृक्ष का अपर नाम सुरतरु भी दिया है। कल्पवृक्ष के लिए साधारण जनो की मान्यता है कि ये मनचाहे पदार्थ देते हैं, इनसे उत्तमोत्तम पक्वान्न और रत्नजटित आभूषण आदि जो मांगा जाय, वही मिलता है। पर वस्तुत ऐसी बात नही है। यौगलिको को शास्त्र मे 'पुढवीपुप्फफलाहारा', पृथ्वी, पुष्प और फलमय आहार वाले कहा गया है। यदि दैवी प्रभाव से कल्पवृक्ष इच्छानुसार वस्तुए देते तो उनकी दश जातिया नही बताई जाती। हाँ, कल्पवृक्ष की विभिन्न जातियों से तत्कालीन मनुष्यो की सभी आवश्यकताए पूर्ण हो जाती थी, इस दृष्टि से उन्हे मनोकामना पूर्ण करने वाला कहा जा सकता है। विशेप स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखें।

[1] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ गा० १५२

[2] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५३

अधिक प्रभावशाली विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। विमलवाहन ने सब के लिये मर्यादा निश्चित की और मर्यादा के उल्लंघन का अपराध करने पर दण्ड देने की घोषणा की।

जब कोई मर्यादा का उल्लंघन करता तब "हा" – तूने क्या किया, ऐसा कह कर अपराधी को दंडित किया जाता। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इस दंड को सर्वस्वहरण जैसा कठोर दंड मानता और एक बार का दंडित अपराधी व्यक्ति, दुबारा फिर कभी गलती नहीं करता। इस प्रकार चिरकाल तक "हा" कार की दंड नीति से व्यवस्था चलती रही।

कालान्तर में विमलवाहन की चन्द्रजसा युगलिनी से दूसरे कुलकर चक्षुष्मान का युगल के रूप में जन्म हुआ। इसी क्रम से तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें कुलकर हुए। तत्कालीन मनुज कुलों की व्यवस्था करने से वे कुलकर कहलाये। विमलवाहन और दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक 'हाकार" नीति चलती रही। तीसरे और चौथे कुलकर तक "माकार" नीति एवं पांचवें, छठे और सातवें कुलकर तक "धिक्कार" नीति से व्यवस्था चलती रही।

जब अपराधी को "हा" कहने से काम नहीं चलता तब जरा उच्च स्वर मे कहा जाता "मा" यानि मत करो। इससे लोग अपराध करना छोड़ देते। समय की रूक्षता और स्वभाव की कठोरता से जब लोग 'हाकार' और 'माकार' नीति के प्रभावक्षेत्र से बाहर हो चले तब 'धिक्कार' नीति का आविर्भाव हुआ। पिछले ३ कुलकरों के समय यही नीति चलती रही।[1]

कुलकर - एक विश्लेषण

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग मे जब समय के प्रभाव से भूमि की उर्वरकता एव सत्व का शनैः शनैः ह्रास होने के कारण-कल्पवृक्षो ने आवश्यक परिमाण मे फल देना बन्द कर दिया, तब केवल कल्पवृक्षो पर आश्रित रहने वाले उन लोगो मे उन वृक्षो पर स्वामित्व भावना का विकास होने लगा। अधिक से अधिक कल्पवृक्षो को अपने अधिकार में रखने की प्रवृत्ति उनमे उत्पन्न होने लगी। कल्पवृक्षो पर स्वामित्व के इस प्रश्न को लेकर जब कलह व्यापक रूप धारण करने लगा और इतस्ततः अव्यवस्था उग्र रूप धारण करने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

वन-विहारी उन स्वतन्त्र मानवो ने एकत्र होकर छोटे-छोटे कुल बनाये और प्रतिभाशाली विशिष्ट पुरुष को अपना नेता स्वीकार किया। कुल की सुव्यवस्था करने के कारण उन कुलनायको को कुलकर कहा जाने लगा। आदि पुराण और वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि मे मननशील होने से इनको मनु

---

[1] (क) हक्कारे, मक्कारे धिक्कारे चेव [आ० नि०, पृ० १५६ (२)]
(ख) दंड कुव्वन्ति 'हाकार' [ति० पन्नत्ति, गा० ४५२]
(ग) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अपना जीवन चलाते थे, उनका जीवन रोग, शोक और वियोग रहित था। जब कल्पवृक्षो से प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री क्षीण होने लगी और मानव की आवश्यकता-पूर्ति नही होने लगी तो उनकी सहज शान्ति भग हो गई, परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। तब उन्होने मिल कर छोटे-छोटे कुलो के रूप में अपनी व्यवस्था बनाई और कुलों की उस व्यवस्था को करनेवाले कुलकर कहलाये। ऐसे मुख्य कुलकरो के नाम इस प्रकार हैं –

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि।[1] कुलकरो की संख्या के संबंध मे ग्रन्थकारो में मतभेद है। जबूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकरो का उल्लेख है।

तीसरे आरे में जब पल्योपम का अष्टम भाग शेष रहा, तब क्रमशः सात कुलकर उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। किसी समय वन-प्रदेश मे घूमते हुए एक मानव युगल को किसी श्वेतवर्ण सुन्दर हाथी ने देखा और पूर्व जन्म के स्नेह से उसको उसने अपनी पीठ पर बिठा लिया, तो लोगो ने उस युगल को गजारूढ देख कर सोचा – "यह मनुष्य हम से अधिक शक्तिशाली है।" उज्ज्वल वाहन वाला होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे।[2]

उस समय कल्पवृक्षो की कमी होने के परिणामस्वरूप लोगो में परस्पर विवाद होने लगे, जिससे उनकी शान्ति भग हो गई। उन्होने मिल कर अपने से

---

(३) त्रुटितांग-वाद्य के समान आमोद-प्रमोद के साधन देने वाले, (४) दीपाग–प्रकाश के लिए दीपक के समान फल देने वाले, (५) ज्योति-अग्नि की तरह ताप-उष्णता देने वाले, (६) चित्रांग-विविध वर्णों के फूल देने वाले, (७) चित्तरस–अनेक प्रकार के रस देने वाले, (८) मणियग–मणि रत्नादि की तरह चमकदार आभूषणो की पूर्ति करने वाले, (९) गेहागार–घर, शाला आदि आकार वाले और (१०) अनग्न–नग्नता दूर करने वाले अर्थात् वल्कल की तरह वस्त्र की पूर्ति करने वाले।

इन वृक्षो से यौगलिक मनुष्यो की आहार-विहार और निवास आदि की आवश्यकताए पूर्ण हो जाती थी, अत इन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा दी है। कोषकारो ने कल्पवृक्ष का अपर नाम सुरतरु भी दिया है। कल्पवृक्ष के लिए साधारण जनो की मान्यता है कि ये मनचाहे पदार्थ देते हैं, इनसे उत्तमोत्तम पक्वान्न और रत्नजटित आभूपण आदि जो मांगा जाय, वही मिलता है। पर वस्तुत ऐसी बात नही है। यौगलिको को शास्त्र मे 'पुढवीपुप्फफलाहारा', पृथ्वी, पुष्प और फलमय आहार वाले कहा गया है। यदि दैवी प्रभाव से कल्पवृक्ष इच्छानुसार वस्तुए देते तो उनकी दश जातिया नही बताई जाती। हाँ, कल्पवृक्ष की विभिन्न जातियों से तत्कालीन मनुष्यो की सभी आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती थी, इस दृष्टि से उन्हे मनोकामना पूर्ण करने वाला कहा जा सकता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखें।

[1] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ गा० १५२

[2] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५३

अधिक प्रभावशाली विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। विमलवाहन ने सब के लिये मर्यादा निश्चित की और मर्यादा के उल्लंघन का अपराध करने पर दण्ड देने की घोषणा की।

जब कोई मर्यादा का उल्लंघन करता तब "हा" – तूने क्या किया, ऐसा कह कर अपराधी को दंडित किया जाता। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इस दंड को सर्वस्वहरण जैसा कठोर दंड मानता और एक बार का दंडित अपराधी व्यक्ति, दुबारा फिर कभी गलती नहीं करता। इस प्रकार चिरकाल तक "हा" कार की दंड नीति से व्यवस्था चलती रही।

कालान्तर में विमलवाहन की चन्द्रजसा युगलिनी से दूसरे कुलकर चक्षुष्मान का युगल के रूप में जन्म हुआ। इसी क्रम से तीसरे, चौथे, पांचवे, छठे और सातवें कुलकर हुए। तत्कालीन मनुज कुलों की व्यवस्था करने से वे कुलकर कहलाये। विमलवाहन और दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक 'हाकार" नीति चलती रही। तीसरे और चौथे कुलकर तक "माकार" नीति एवं पांचवे, छठे और सातवें कुलकर तक "धिक्कार" नीति से व्यवस्था चलती रही।

जब अपराधी को "हा" कहने से काम नहीं चलता तब जरा उच्च स्वर में कहा जाता "मा" यानि मत करो। इससे लोग अपराध करना छोड़ देते। समय की रूक्षता और स्वभाव की कठोरता से जब लोग 'हाकार' और 'माकार' नीति के प्रभावक्षेत्र से बाहर हो चले तब 'धिक्कार' नीति का आविर्भाव हुआ। पिछले ३ कुलकरों के समय यही नीति चलती रही।[1]

कुलकर : एक विश्लेषण

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग में जब समय के प्रभाव से भूमि की उर्वरकता एवं सत्व का शनैः शनैः ह्रास होने के कारण कल्पवृक्षों ने आवश्यक परिमाण में फल देना बन्द कर दिया, तब केवल कल्पवृक्षों पर आश्रित रहने वाले उन लोगों में उन वृक्षों पर स्वामित्व भावना का विकास होने लगा। अधिक से अधिक कल्पवृक्षों को अपने अधिकार में रखने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होने लगी। कल्पवृक्षों पर स्वामित्व के इस प्रश्न को लेकर जब कलह व्यापक रूप धारण करने लगा और इतस्ततः अव्यवस्था उग्र रूप धारण करने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

वन-विहारी उन स्वतन्त्र मानवों ने एकत्र होकर छोटे-छोटे कुल बनाये और प्रतिभाशाली विशिष्ट पुरुष को अपना नेता स्वीकार किया। कुल की सुव्यवस्था करने के कारण उन कुलनायकों को कुलकर कहा जाने लगा। आदि पुराण और वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि में मननशील होने से इनको मनु

[1] (क) हक्कारे, मक्कारे धिक्कारे चेव [आ० नि०, पृ० १५६ (२)]
(ख) दंड कुव्वन्ति 'हाकार' [ति० पण्णत्ति, गा० ४५२]
(ग) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

कहा गया और जैन साहित्य की परिभाषा में कुल की व्यवस्था करने के कारण कुलकर नाम दिया गया। कुलकरों की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से मतैक्य होने पर भी कुलकरों की संख्या के सम्बन्ध में शास्त्रों में मतभेद है। जैनागम – स्थानांग, समवायांग तथा भगवती में सात कुलकर बताये गये हैं और आवश्यक चूर्णि एवं आवश्यक निर्युक्ति मे भी उसी के अनुरूप सात कुलकर मान्य किये गये हैं। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि के अनुसार सात कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान्, (३) यशोमान्, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित्, (६) मरुदेव और (७) नाभि। जैसा कि कहा है :–

"जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था। तं जहा :–

"पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुमं जसमं चउत्थमभिचन्दे।
ततो अ पसेणई पुण, मरुदेवे चेव नाभी य।।[1]

महापुराण में चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकर बताये गये हैं। पउम चरियं में – (१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमंकर, (४) सीमंधर (५) क्षेमंकर, (६) क्षेमंधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी, (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित्, (१३) मरुदेव और (१४) नाभि, इस प्रकार चौदह नाम गिनाये हैं; जब कि महापुराण में पहले प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकृत्, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर और छठे सीमंधर, इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम से संख्या दी गई है।[2] विमलवाहन से आगे के नाम दोनों में समान हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पउम चरियं के १४ नामों के साथ ऋषभ को जोड़कर पन्द्रह कुलकर बतलाये गये हैं – जो अपेक्षा से संख्या भेद होने पर भी बाधक नहीं है। चौदह कुलकरों मे प्रथम के छः और ग्यारहवें चन्द्राभ के अतिरिक्त सात नाम ये ही स्थानांग के अनुसार हैं। संभव है प्रथम के छः कुलकर उस समय के मनुष्यों के लिये योगक्षेम में मार्गदर्शक मात्र रहे हों।

---

[1] स्थानांग, ७ स्वरमण्डलाधिकार – आव० चूर्णि पृ० २८ – २९ = आव० नि० गा० १५२ = समवायांग

[2] आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सन्मतिर्मतः।
तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः।।
सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः, षष्ठः सीमधृदिष्यते।
ततो विमलवाहांकश्चक्षुष्मानष्टमो मतः।।
यशस्वान्नवमस्तस्मान्नाभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः।
चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम्।।
प्रसेनजित् परं तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः।

[महापुराण जिनसेनाचार्य, प्रथम भाग, पर्व ३, श्लो० २२९–२३२, पृष्ठ ६६]

पिछले कुलकरों की तरह दण्ड व्यवस्था आदि में उनका सक्रिय योग नहीं होने के कारण इनको गौण मानकर केवल सात ही कुलकर गिने गये हों। ऋषभदेव को प्रथम भूपति होने व यौगलिक रूप को समाप्त कर कर्मभूमि के रूप में नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित कर राजा होने के कारण कुलकर रूप में नहीं गिना गया हो और संभव है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुल का सामान्य अर्थ मानव-समूह लेकर उनकी भी बड़े कुलकर के रूप में गणना कर ली गई हो।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे कुलकरों की संख्या इस प्रकार है :-

"तीसे समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, त जहा—सुमई, पडिस्सुई, सीमकरे, सीमधरे, खेमंकरे, खेमधरे, विमलवाहणे, चक्खुमं, जसमं, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी, उसभेत्ति।"[1]

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां पर कुलकरों के स्थान पर प्रायः मनु शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति में स्थानांग के सात कुलकरों की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार बतलाये गये हैं :-

(१) स्वयम्भू,	(४) तामस,	(७) वैवस्वत।
(२) स्वारोचिष्,	(५) रैवत,	
(३) उत्तम,	(६) चाक्षुष,	

यथा :-　स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजा स्वा स्वाः महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरि तेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥[2]

अन्यत्र[3] चौदह मनुओं का भी उल्लेख मिलता है –

(१) स्वायम्भुव,	(६) चाक्षुष,	(११) धर्म सावर्णि,
(२) स्वारोचिष,	(७) वैवस्वत,	(१२) रुद्र सावर्णि,
(३) औत्तमि,	(८) सावर्णि,	(१३) रौच्य देव सावर्णि,
(४) तापस,	(९) दक्षसावर्णि,	(१४) इन्द्र सावर्णि।
(५) रैवत,	(१०) ब्रह्मसावर्णि,	

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पत्र १३२

[2] मनुस्मृति, अ. १/श्लो ६१-६२-६३

[3] मोन्योर-मोन्योर विलियम संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ७८४

कहा गया और जैन साहित्य की परिभाषा में कुल की व्यवस्था करने के कारण कुलकर नाम दिया गया। कुलकरों की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से मतैक्य होने पर भी कुलकरों की सख्या के सम्बन्ध में शास्त्रों मे मतभेद है। जैनागम – स्थानांग, समवायांग तथा भगवती मे सात कुलकर बताये गये हैं और आवश्यक चूर्णि एवं आवश्यक निर्युक्ति में भी उसी के अनुरूप सात कुलकर मान्य किये गये हैं। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि के अनुसार सात कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान्, (३) यशोमान्, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित्, (६) मरुदेव और (७) नाभि। जैसा कि कहा है :–

"जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था। तं जहा :–

"पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुमं जसमं चउत्थमभिचन्दे।
ततो अ पसेणई पुण, मरुदेवे चेव नाभी य॥"[1]

महापुराण मे चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकर बताये गये हैं। पउम चरियं में – (१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमंकर, (४) सीमंधर (५) क्षेमंकर, (६) क्षेमंधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वी, (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित्, (१३) मरुदेव और (१४) नाभि, इस प्रकार चौदह नाम गिनाये हैं; जब कि महापुराण मे पहले प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकृत्, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर और छठे सीमंधर, इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम से संख्या दी गई है।[2] विमलवाहन से आगे के नाम दोनों में समान हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पउम चरियं के १४ नामों के साथ ऋषभ को जोड़कर पन्द्रह कुलकर बतलाये गये हैं – जो अपेक्षा से संख्या भेद होने पर भी बाधक नहीं है। चौदह कुलकरों में प्रथम के छः और ग्यारहवें चन्द्राभ के अतिरिक्त सात नाम वे ही स्थानांग के अनुसार हैं। संभव है प्रथम के छः कुलकर उस समय के मनुष्यों के लिये योगक्षेम में मार्गदर्शक मात्र रहे हों।

---

[1] स्थानांग, ७ स्वरमण्डलाधिकार – आव० चूर्णि पृ० २८ – २९ – आव० नि० गा० १५२ – समवायांग

[2] आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सम्मतिर्मतः।
तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः॥
सीमकृत्पंचमो ज्ञेय-, षष्ठः सीमधृदिष्यते।
ततो विमलवाहांकश्चक्षुष्मानष्टमो मतः॥
यशस्वान्नवमस्तस्मान्नाभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः।
चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम्॥
प्रसेनजित् परं तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः।
[महापुराण जिनसेनाचार्य, प्रथम भाग, पर्व ३, श्लो० २२९–२३२, पृष्ठ ६६]

पिछले कुलकरों की तरह दण्ड व्यवस्था आदि में उनका सक्रिय योग नही होने के कारण इनको गौण मानकर केवल सात ही कुलकर गिने गये हों। ऋषभदेव को प्रथम भूपति होने व यौगलिक रूप को समाप्त कर कर्मभूमि के रूप मे नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित कर राजा होने के कारण कुलकर रूप मे नही गिना गया हो और संभव है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे कुल का सामान्य अर्थ मानव-समूह लेकर उनकी भी वहे कुलकर के रूप में गणना कर ली गई हो।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे कुलकरों की संख्या इस प्रकार है :-

"तीसे समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, त जहा—सुमई, पडिस्सुई, सीमकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, चक्खुम, जसमं, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी, उसभोत्ति।"[1]

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य मे, भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां पर कुलकरों के स्थान पर प्रायः मनु शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति मे स्थानाग के सात कुलकरो की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार वतलाये गये है :-

(१) स्वयम्भू, (२) स्वारोचिष्, (३) उत्तम, (४) तामस, (५) रैवत, (६) चाक्षुष, (७) वैवस्वत।

यथा :-

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्त. प्रजा. स्वा: स्वा. महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरि तेजस.।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥[2]

अन्यत्र[3] चौदह मनुओं का भी उल्लेख मिलता है –

(१) स्वायम्भुव, (२) स्वारोचिष, (३) औत्तमि, (४) तापस, (५) रैवत, (६) चाक्षुष, (७) वैवस्वत, (८) सावर्णि, (९) दक्षसावर्णि, (१०) ब्रह्मसावर्णि, (११) धर्म सावर्णि, (१२) रुद्र सावर्णि, (१३) रौच्य देव सावर्णि, (१४) इन्द्र सावर्णि।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पत्र १३२

[2] मनुस्मृति, अ १/श्लो ६१–६२–६३

[3] मोन्योर-मोन्योर विलियम सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८४

मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत और विष्णु पुराण में भी स्वायभुव आदि चौदह मनु बतलाये गये हैं।

(१) स्वायभुव,	(६) चाक्षुष,	(११) मेरु सावर्णि,
(२) स्वारोचिष,	(७) वैवस्वत,	(१२) ऋभु,
(३) औत्तमि,	(८) सावर्णि;	(१३) ऋतुधामा,
(४) तामस,	(९) रौच्य,	(१४) विश्वक्सेन।
(५) रैवत,	(१०) भौत्य,	

वैवस्वत के बाद मार्कण्डेय पुराण मे ५ सावर्णि, तथा रौच्य और भौत्य ये सात मनु और माने गये है।

श्रीमद्भागवत मे अष्टम मनु–

(८) सावर्णि,	(१२) रुद्र सावर्णि,
(९) दक्ष सावर्णि,	(१३) देव सावर्णि,
(१०) ब्रह्म सावर्णि,	(१४) इन्द्र सावर्णि,[1]
(११) धर्म सावर्णि,	

इस प्रकार १४ मनुओ के नाम बतलाये गये हैं।

चतुर्दश मनुओं का काल-प्रमाण सहस्र युग* माना गया है।[2]

मनुओं के विस्तृत परिचय के लिए मत्स्यपुराण के ९वें अध्याय से २१वें अध्याय तक और जैन प्राचीन ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार की ४२१ से ५०९ तक की गाथाएं पठनीय हैं। तिलोय पण्णत्ती में जो १४ कुलकरो और उनके समय की परिस्थितियो का वर्णन किया गया है, उसे परिशिष्ट मे देखें।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन से भारतीय मानवो की आदि व्यवस्था की ऐतिहासिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

---

[1] भागवत ८/५ अ.

* कृपया परिशिष्ट देखें

[2] (क) भाग. स्कंध ८ अ० १४

(ख) हिन्दी विश्वकोष, १६ वा भाग, पृ ६४८ से ६५५

भगवान् ऋषभदेव

तीर्थंकर पद प्राप्ति के साधन

भगवान् ऋषभदेव मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्म-नायक रहे हैं। जब तीसरे आरे के ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे[1] और अन्तिम कुलकर महाराज नाभि जब कुलों की व्यवस्था करने में अपने आपको असमर्थ एवं मानव कुलों की बढ़ती हुई विषमता को देखकर चिन्तित रहने लगे, तब पुण्यशाली जीवों के पुण्य प्रभाव और समय के स्वभाव से महाराज नाभि की पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। आस्तिक दर्शनों का मन्तव्य है कि आत्मा त्रिकाल सत् है, वह अनन्त काल पहले था और भविष्य में भी रहेगा। वह पूर्व जन्म में जैसी करणी करता है, वैसे ही फल भोग प्राप्त करता है। प्रकृति का सहज नियम है कि वर्तमान की सुख समृद्धि और विकसित दशा किसी पूर्व कर्म के फलस्वरूप ही मिलती है। पौधों को फला-फूला देख कर हम उनकी बुआई और सिंचाई का भी अनुमान करते हैं। उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव के महा महिमामय पद के पीछे भी उनकी विशिष्ट साधनाएँ रही हुई हैं।

जब साधारण पुण्य-फल की उपलब्धि के लिए भी साधना और करणी की आवश्यकता होती है, तब त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर पद जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति सहज ही किसी को कैसे प्राप्त हो सकती है? उसके लिए बड़ी तपस्या, भक्ति और साधना की जाय, तब कहीं उसकी उपलब्धि हो सकती है। जैनागम ज्ञाताधर्म कथा में तीर्थंकर गोत्र के उपार्जन के लिए ऐसे बीस स्थानों का आराधन आवश्यक कारणभूत माना गया है, जो इस प्रकार है :-

'इमेहि य णं वीसाए कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर नाम गोयं कम्मं निवत्तिंसु, तं जहा :-

> अरहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु।
> वच्छलयाय एसिं, अभिक्खनाणोवओगे य॥
> दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
> खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥

[1] (क) सुसम दुस्समाए ततियाएवि बहुवितिक्कताए चउरासीए पुव्वसयसहस्सेहिं सेसएहिं एगूणणउइए य पक्खेहिं सेसएहिं आसाढबहुलपक्खे चउत्थीए उत्तरासाढाजोगजुत्ते मियंके विणीयाए भूमिए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववण्णो। [आवश्यक चूर्णि (जिनदास) पूर्व भाग, पृ० १३५]

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अप्पुव्वनाण गहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।"[1]

अर्थात् (१) अरिहंत की भक्ति, (२) सिद्ध की भक्ति, (३) प्रवचन की भक्ति, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मुनि की भक्ति-सेवा करना, (८) निरतर ज्ञान में उपयोग रखना, (९) निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, (१०) गुणवानों का विनय करना, (११) विधिपूर्वक षड़ावश्यक करना, (१२) शील और व्रत का निर्दोष पालन करना, (१३) वैराग्यभाव की वृद्धि करना, (१४) शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, (१५) चतुर्विध संघ को समाधि उत्पन्न करना, (१६) व्रतियो की सेवा करना, (१७) अपूर्वज्ञान का अभ्यास, (१८) वीतराग के वचनो पर श्रद्धा करना, (१९) सुपात्र दान करना और (२०) जिन-शासन की प्रभावना करना ।

सब के लिए यह आवश्यक नही है कि बीसों ही बोलों की आराधना की जाय, कोई एक दो बोल की उत्कृष्ट साधना एवं अध्यवसायो की उच्चता से भी तीर्थंकर बनने की योग्यता पा लेते हैं ।

महापुराण मे तीर्थंकर बनने के लिए षोडश कारण भावनाओं का आराधन आवश्यक बतलाया गया है । उनमें दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता को प्राथमिकता दी है; जब कि ज्ञाताधर्म कथा में अर्हद्भक्ति आदि से पहले विनय को ।

इनमे सिद्ध, स्थविर और तपस्वी के बोल नही हैं, उन सबका अन्तर्भाव षोडश-कारण भावनाओ मे हो जाता है । अत: सख्या-भेद होते हुए भी मूल वस्तु मे भेद नही है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में षोडश कारण भावना इस प्रकार है :–

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-संवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी, संघ-साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ-कृत्त्वस्य" ।[2]

भगवान् ऋषभदेव के जीव ने कहा किस भव मे इन बोलो की आराधना कर तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया, इसको समझने के लिए उनके पूर्व भवो का परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है :–

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भव और साधना

भगवान् ऋषभदेव का जीव एक बार महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ नगर मे धन्ना नामक सार्थवाह के रूप मे उत्पन्न हुआ । उसके पास विपुल सम्पदा थी, दूर-दूर के देशो मे उसका व्यापार चलता था । एक बार उसने यह घोषणा करवाई – "जिस किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ चले । मे

[1] आव नि० १७९-७८–ज्ञाता० ८ क. ८
[2] तत्त्वार्थ सूत्र ६–२३

उसको सभी प्रकार की सुविधाएं दूंगा।" यह घोषणा सुन कर सैकड़ों लोग उसके साथ व्यापार के लिए चल पड़े।

आचार्य धर्मघोष को भी वसंतपुर जाना था। उन्होंने निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त इस संयोग को अनुकूल समझा और अपनी शिष्यमंडली सहित धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणों को अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल लेकर आया। सेठ ने आचार्य से आम्रफल ग्रहण करने की प्रार्थना की तो पता चला कि श्रमणों के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य है। श्रमणों की इस कठोर चर्या को सुन कर सेठ का हृदय भक्ति से आप्लावित और मस्तक श्रद्धावनत हो गया।

सार्थवाह के साथ आचार्य भी पथ को पार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। तदनन्तर वर्षा का समय आया और उमड़-घुमड़ कर घनघोर घटाएं बरसने लगीं। सार्थवाह ने वर्षा के कारण मार्ग में पंक व पानी आदि की प्रतिकूलता देख कर जंगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षावास बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वहीं पर एक अन्य निर्दोष स्थान पर ठहर गये। संभावना से अधिक समय तक जंगल में रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्ण खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, मूल, कन्दादि से जीवन बिताने लगे।

ज्यों ही वर्षा की समाप्ति हुई कि सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा, आचार्य धर्मघोष भी हमारे साथ थे। मैंने अब तक उनकी कोई सुधि नहीं ली। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए वह शीघ्र आचार्य के पास गया और आहार की अभ्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमण-आचार की मर्यादा समझाई। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने भी परम उल्लास-भाव से मुनि को विपुल घृत का दान दिया। उत्तम पात्र, श्रेष्ठ द्रव्य और उच्च अध्यवसाय के कारण उसको वहां सम्यग्दर्शन की प्रथम बार उपलब्धि हुई, अतः पहले के अनन्त भवों को छोड़ कर यहीं से ऋषभदेव का प्रथम भव गिना गया है। ऋषभदेव के अन्तिम तेरह भवों में यह प्रथम भव है।

धन्ना सार्थवाह के भव से निकल कर देव तथा मनुष्य के विविध भव करते हुए आप सुविधि वैद्य के यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। यह ऋषभदेव का नवमां भव था। इनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के चार अन्तरंग मित्र थे, पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठि-पुत्र, तीसरा मंत्री-पुत्र और चौथा सार्थवाह-पुत्र। एक बार जब वह अपने साथियों के साथ घर में वार्तालाप कर रहा था, उस समय उसके यहाँ एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। प्रतिकूल आहार-विहारादि कारणों से मुनि के शरीर में कृमिकुष्ठ की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि को कुष्ठ के कारण विपन्न स्थिति को देख कर जीवानन्द से कहा,

अप्पुव्वनाण गहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहि कारणेहि, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।"[१]

अर्थात् (१) अरिहंत की भक्ति, (२) सिद्ध की भक्ति, (३) प्रवचन की भक्ति, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मुनि की भक्ति-सेवा करना, (८) निरतर ज्ञान मे उपयोग रखना, (९) निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, (१०) गुणवानो का विनय करना, (११) विधिपूर्वक षडावश्यक करना, (१२) शील और व्रत का निर्दोष पालन करना, (१३) वैराग्यभाव की वृद्धि करना, (१४) शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, (१५) चतुर्विध संघ को समाधि उत्पन्न करना, (१६) व्रतियो की सेवा करना, (१७) अपूर्वज्ञान का अभ्यास, (१८) वीतराग के वचनो पर श्रद्धा करना, (१९) सुपात्र दान करना और (२०) जिन-शासन की प्रभावना करना ।

सब के लिए यह आवश्यक नही है कि बीसों ही बोलों की आराधना की जाय, कोई एक दो बोल की उत्कृष्ट साधना एवं अध्यवसायों की उच्चता से भी तीर्थंकर बनने की योग्यता पा लेते हैं ।

महापुराण मे तीर्थंकर बनने के लिए षोडश कारण भावनाओं का आराधन आवश्यक बतलाया गया है । उनमे दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता को प्राथमिकता दी है; जब कि ज्ञाताधर्म कथा मे अर्हद्भक्ति आदि से पहले विनय को ।

इनमे सिद्ध, स्थविर और तपस्वी के बोल नही हैं, उन सबका अन्तर्भाव षोडश-कारण भावनाओ मे हो जाता है । अतः संख्या-भेद होते हुए भी मूल वस्तु मे भेद नही है ।

तत्त्वार्थ सूत्र मे षोडश कारण भावना इस प्रकार है :—

"दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग-सवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी, सघ-साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ-कृत्त्वस्य" ।[२]

भगवान् ऋषभदेव के जीव ने कहा किस भव मे इन बोलो की आराधना कर तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया, इसको समझने के लिए उनके पूर्व भवो का परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है —

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भव और साधना

भगवान् ऋषभदेव का जोव एक बार महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ नगर मे धन्ना नामक सार्थवाह के रूप मे उत्पन्न हुआ । उसके पास विपुल सम्पदा थी, दूर-दूर के देशो मे उसका व्यापार चलता था । एक बार उसने यह घोषणा करवाई — "जिस किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ चले । मैं

---

[१] आव नि० १७९-७८—ज्ञाता० ध क. ८

[२] तत्त्वार्थ सूत्र ६—२३

उसको सभी प्रकार की सुविधाएं दूंगा।" यह घोषणा सुन कर सैकड़ों लोग उसके साथ व्यापार के लिए चल पड़े।

आचार्य धर्मघोष को भी वसंतपुर जाना था। उन्होंने निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त इस संयोग को अनुकूल समझा और अपनी शिष्यमंडली सहित धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणों को अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल लेकर आया। सेठ ने आचार्य से आम्रफल ग्रहण करने की प्रार्थना की तो पता चला कि श्रमणों के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य हैं। श्रमणों की इस कठोर चर्या को सुन कर सेठ का हृदय भक्ति से आप्लावित और मस्तक श्रद्धावनत हो गया।

सार्थवाह के साथ आचार्य भी पथ को पार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। तदनन्तर वर्षा का समय आया और उमड़-घुमड़ कर घनघोर घटाएं बरसने लगीं। सार्थवाह ने वर्षा के कारण मार्ग में पंक व पानी आदि की प्रतिकूलता देख कर जंगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षावास बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वहीं पर एक अन्य निर्दोष स्थान पर ठहर गये। संभावना से अधिक समय तक जंगल में रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्ण खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, मूल, कन्दादि से जीवन बिताने लगे।

ज्यों ही वर्षा की समाप्ति हुई कि सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा, आचार्य धर्मघोष भी हमारे साथ थे। मैंने अब तक उनकी कोई सुधि नहीं ली। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए वह शीघ्र आचार्य के पास गया और आहार की अभ्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमण-आचार की मर्यादा समझाई। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने भी परम उल्लास-भाव से मुनि को विपुल घृत का दान दिया। उत्तम पात्र, श्रेष्ठ द्रव्य और उच्च अध्यवसाय के कारण उसको वहां सम्यग्दर्शन की प्रथम बार उपलब्धि हुई, अतः पहले के अनन्त भवों को छोड़ कर यहीं से ऋषभदेव का प्रथम भव गिना गया है। ऋषभदेव के अन्तिम तेरह भवों में यह प्रथम भव है।

धन्ना सार्थवाह के भव से निकल कर देव तथा मनुष्य के विविध भव करते हुए आप सुविधि वैद्य के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। यह ऋषभदेव का नवमां भव था। इनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के चार अन्तरंग मित्र थे, पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठि-पुत्र, तीसरा मंत्री-पुत्र और चौथा सार्थवाह-पुत्र। एक बार जब वह अपने साथियों के साथ घर में वार्तालाप कर रहा था, उस समय उसके यहां एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। प्रतिकूल आहार-विहारादि कारणों से मुनि के शरीर में कृमिकुष्ठ की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि को कुष्ठ के कारण विषम स्थिति को देख कर जीवानन्द से कहा,

मित्र ! तुम सब लोगों की चिकित्सा करते हो, पर खेद की बात है कि इन तपस्वी मुनि की भीषण व्याधि को देखकर भी तुम कुछ करने को तत्पर नही हो रहे हो। उत्तर में जीवानन्द ने कहा, भाई ! तुम्हारा कथन सत्य है पर इस रोग की चिकित्सा के लिए मुझे जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनके अभाव में मैं इस दिशा में कर ही क्या सकता हूँ ? मित्र के पूछने पर जीवानन्द ने बतलाया कि मुनि की चिकित्सा के लिए रत्नकम्बल, गोशीर्ष चन्दन और लक्ष पाक तेल, ये तीन वस्तुएं आवश्यक हैं। लक्ष पाक तेल तो मेरे पास है पर अन्य दो वस्तुएं मेरे पास नहीं हैं। ये दोनों वस्तुएं प्राप्त हो जायं तो मुनि की चिकित्सा हो सकती है।

यह सुन कर महीधर ने अपने चारों मित्रों के साथ उसी समय अभीष्ट वस्तुएं उपलब्ध करने की इच्छा से बाजार की ओर प्रस्थान कर दिया और नगर के एक बड़े व्यापारी के यहाँ पहुंच कर रत्नकम्बल और गोशीर्ष चन्दन की गवेषणा की। व्यापारी ने इन तरुणों को इन दोनों वस्तुओ का मूल्य एक-एक लाख मोहरें बताया और पूछा कि इन दोनों वस्तुओं की किनके लिए आवश्यकता है ? उन लोगो के इस उत्तर से कि कुष्ठ-रोग-पीड़ित तपस्वी मुनि की चिकित्सा के लिए उन्हें इन दो बहुमूल्य वस्तुओ की आवश्यकता है, वह सेठ बडा प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि जब इन बालकों के मन मे मुनि के प्रति इतनी अगाध श्रद्धा है तो क्या मैं स्वयं इस सेवा का लाभ नही ले सकता ? मुनि के लिए बिना कुछ लिए ही दवा देना उचित है, यह सोच कर उसने विना मूल्य लिए ही वे दोनो वस्तुए दे दीं। वैद्य जीवानन्द और उसके साथी तीनों आवश्यक औषधिया लेकर साधु के पास उद्यान मे गये, जहाँ कि मुनि ध्यानावस्थित थे। वैद्य-पुत्र जीवानन्द ने वन्दन कर मुनि के शरीर पर पहले तेल का मर्दन किया। जब तेल रोम-कूपो से शरीर में समा गया तो तेल के अन्दर पहुंचते ही कुष्ठकृमि कुलबुला कर बाहर निकलने लगे। तदनन्तर वैद्यपुत्र ने रत्नकम्बल से साधु के शरीर को ढक दिया और सारे कीड़े शीतल रत्नकम्बल में आ गये। इस पर वैद्य जीवानन्द ने कम्बल को किसी पशु के मृत कलेवर पर रख दिया जिससे वे सब कीट उस कलेवर में समा गये। फिर जीवानन्द ने मुनि के शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। इस प्रकार तीन बार मालिश करके जीवानन्द ने अपने चिकित्सा कौशल से उन मुनि को पूर्णरूपेण रोग से मुक्त कर दिया।[1]

मुनि की इस प्रकार निस्पृह एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्ण सेवा से जीवानन्द आदि मित्रों ने महान् पुण्य-लाभ किया। मुनि को पूर्ण रूप से स्वस्थ देख कर उनका अन्तर्मन गद्गद् हो गया। जीवानन्द ने मुनि से ध्यानान्तराय के लिए क्षमा याचना की। मुनि ने उनको त्याग विरागपूर्ण उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर जीवानन्द ने अपने चारों मित्रों के साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया। तदनन्तर श्रमणधर्म की विधिवत् आराधना कर, आयु पूर्ण होने पर पांचो मित्र अच्युतकल्प नामक बारहवें स्वर्ग मे देव पद के अधिकारी बने।

---

[1] आवश्यक मलय वृत्ति, पृ० १६५

जीवानन्द ने अपनी विशिष्ट शुभ साधना के फलस्वरूप देवलोक की आयु पूर्ण कर पुष्कलावती विजय मे महाराज वज्रसेन की रानी धारिणी के यहाँ पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया। गर्भ-काल मे माता ने चौदह महा-स्वप्न देखे। महाराज वज्रसेन ने अपने उस पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा, जो आगे चल कर षट्खण्ड राज्य का अधिकारी चक्रवर्ती बना। जीवानन्द के अन्य चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ के नाम से सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न हुए। वज्रनाभ ने पूर्व जन्म की मुनि सेवा के फलस्वरूप चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया और अन्य भाई माण्डलिक राजा हुए। इनके पिता तीर्थंकर वज्रसेन ने जब केवली होकर देशना आरम्भ की तब पूर्वजन्म के संस्कारवश चक्रवर्ती वज्रनाभ भी वैराग्यभाव में रग कर दीक्षित हो गये। चिर काल तक संयम-धर्म की साधना करते हुए उन्होने दीर्घकाल तक तपस्या की और अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानो की सम्यक् आराधना कर उसी जन्म में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त मे सलेखना और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर मुनि वज्रनाभ सर्वार्थ सिद्ध नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र देव हुआ।

जन्म

वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान मे अपने देवभव की ३३ सागर की स्थिति पूर्ण होने पर आषाढ कृष्णा चतुर्थी को[१] सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत हो उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन कर जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जीव मरुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस रात्रि के पिछले भाग में माता मरुदेवी ने निम्नलिखित चौदह शुभ स्वप्न देखे :—

(१) गज,
(२) वृषभ,
(३) सिंह,
(४) लक्ष्मी,
(५) पुष्पमाला,
(६) चन्द्र,
(७) सूर्य,
(८) ध्वजा,
(९) कुंभ,
(१०) पद्मसरोवर,
(११) क्षीर समुद्र,
(१२) विमान,
(१३) रत्नराशि और
(१४) निर्धूम अग्नि।[२]

कल्पसूत्र में उल्लिखित गाथा में विमान के साथ नाम 'भवन' भी दिया है। इसका भाव यह है कि तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जित किये हुए जो जीव नरक भूमि से आते है, उनकी माता भवन का स्वप्न देखती है और देवलोक से आने वालों की माता विमान का शुभ-स्वप्न देखती है। सख्या की दृष्टि से तीर्थंकर

---

[१] उववातो सव्वट्ठे सव्वेसिं पढमतो चुतो उसभो।
रिक्खेण असाढाहिं, असाढ बहुले चउत्थिए॥ (आवश्यक निर्युक्ति गा० १८२)

[२] गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम ससि-दिणयरं-झयं-कुम्भं।
पउमसर, सागर, विमाण-भवण-रयणुच्चय सिहिं च॥ (कल्पसूत्र, सू० ३३)

और चक्रवर्ती की माताएं समान रूप से चौदह स्वप्न ही देखती हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह स्वप्न देखना बतलाया है।[1]

यहां यह स्मरणीय है कि अन्य सब तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में हाथी को मुख में प्रवेश करते हुये देखती हैं, जब कि मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुये देखा।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् जागृत होकर मरुदेवी महाराज नाभि के पास आई और उसने विनम्र, मृदु एवं मनोहर वाणी में स्वप्नदर्शन सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त नाभि कुलकर से कह सुनाया। उस समय स्वप्न-पाठक नहीं थे, अतः स्वयं महाराज नाभि ने औत्पातिकी बुद्धि से स्वप्नों का फल सुनाया। गर्भकाल सानन्द पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अष्टमी[2] को, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। कहीं-कहीं अष्टमी के बदले नवमी को[3] जन्म होना लिखा गया है। संभव है उदय तिथि, अस्ततिथि की दृष्टि से ऐसा तिथिभेद लिखा गया हो।

भगवान् ऋषभ का जन्मकाल

जब दो कोडाकोड़ी सागर की स्थिति वाले तृतीय आरक के समाप्त होने में ८४ लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और १५ दिन शेष रहे थे, उस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' में भी प्रथम मनु स्वायंभुव के मन्वन्तर में ही उनके वंशज अग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थों में भी लगभग जैन परम्परा के आगमों के समान ही रघुकुल तिलक श्री पुरुषोत्तम राम ही नहीं अपितु उनके पूर्वपुरुष सगर आदि से भी सुदीर्घ समयावधि पूर्व भगवान् ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है।

जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, उस समय सभी दिशायें शान्त थी। प्रभु का जन्म होते ही सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षण भर के लिये नारक भूमि के जीवों को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई।

जन्माभिषेक और जन्ममहोत्सव

सुरासुर-नर-नरेन्द्रों, देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों द्वारा वन्दित, त्रिलोकपूज्य, संसार के सर्वोत्कृष्ट पद तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों का बन्ध किये हुए महान्

---

[1] आचार्य जिनसेन ने मत्स्य-युगल और सिंहासन ये दो स्वप्न बढ़ा कर सोलह स्वप्न बतलाये हैं। (महापुराण पर्व १२, पृ० १०३-१२०)

[2] चेत्त बहुलट्ठमीए जातो उसभो आषाढ नक्खत्ते।
(आवश्यक निर्युक्ति० गा० १८४ व कल्पसूत्र, सू० १९३)

[3] चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुदये रवेः। (महापुराण, जिनसेन, सर्ग १३, श्लो० २-३)

पुण्यात्मा जब जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय ५६ दिक्कुमारियों और ६४ (चौसठ) देवेन्द्रों के आसन प्रकम्पित होते हैं। अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें विदित होता है कि तीर्थंकर का जन्म हो गया है, तो वे सब अनादिकाल से परम्परागत दिशाकुमारिकाओं और देवेन्द्रों के जीताचार के अनुसार अपनी अद्भुत दिव्य देव ऋद्धि के साथ अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार तीर्थंकर के जन्मगृह तथा मेरुपर्वत और नन्दीश्वर द्वीप में उपस्थित हो बड़े ही हर्षोल्लास पूर्वक जन्माभिषेक आदि के रूप में तीर्थंकर का जन्ममहोत्सव मनाते हैं। यह संसार का एक अनादि अनन्त शाश्वत नियम है।

इसी शाश्वत नियम के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ तो तत्क्षण ५६ महत्तरिका दिशाकुमारियों एवं चौसठ इन्द्रों के आसन चलायमान हुये। सर्वप्रथम उन्होंने सिंहासन से उठ प्रभु जिस दिशा में विराजमान थे उस दिशा में उत्तरासंग किये सात-आठ कदम आगे जा प्रभु को प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे सब अपनी अद्भुत देवर्द्धि के साथ प्रभु ऋषभ का जन्माभिषेक एवं जन्मोत्सव मनाने के लिए प्रस्थित हुए।

सर्वप्रथम अधोलोक में रहने वाली भोगंकरा आदि आठ दिशाकुमारियां अपने विशाल परिवार के साथ नाभि कुलकर के भवन में, प्रभु के जन्मगृह में उपस्थित हुई। उन्होंने माता मरुदेवी और नवजात प्रभु ऋषभ को वन्दन नमन करने के पश्चात् उनकी स्तुति की। तदुपरान्त उन्होंने माता मरुदेवी को अपना परिचय देते हुए अति विनम्र एवं मधुर स्वर में निवेदन किया – "हे त्रिभुवनप्रदीप तीर्थंकर को जन्म देने वाली मातेश्वरी ! हम अधोलोक में रहने वाली दिक्कु-मारिकाएं हैं। हम यहाँ इन त्रिभुवनतिलक तीर्थंकर भगवान् का जन्म महोत्सव करने आई हैं। अतः आप अपने मन में किंचित्मात्र भी आशंका अथवा भय को अवकाश मत देना।

माता मरुदेवी को इस प्रकार आश्वस्त कर उन्होंने रजकण, तृण, धूलि, दुरभिगन्ध आदि को दूर कर जन्मगृह और उसके चारों ओर एक योजन की परिधि में समस्त वातावरण को सुरभिगंध से ओतप्रोत कर देने वाले वायु की विकुर्वणा द्वारा उस एक योजन मण्डल की भूमि को स्वच्छ सुरम्य एवं सुगन्धित बना दिया। किंकरियों के समान यह सब कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् वे आठों महत्तरिका दिक्कुमारियां अपने विशाल देवी समूह के साथ गीत गाती हुई मां मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो गई।

उसी समय ऊर्ध्वलोक में रहने वाली मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां अपने देव-देवी समूह के साथ जन्मगृह में आई। माता पुत्र को वन्दन-नमन-स्तवन आदि के पश्चात् उन्होंने सुगन्धित जलकणों की वृष्टि और दिव्य धूप की सुगन्ध से जन्मगृह के एक योजन के परिमण्डल को देवागमन योग्य सुमनोज्ञ-सुरम्य बना दिया। तत्पश्चात् वे विशिष्टतर मंगल गीत गाती हुई मातृमन्दिर में माता मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो गई।

और चक्रवर्ती की माताएं समान रूप से चौदह स्वप्न ही देखती हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह स्वप्न देखना बतलाया है।[1]

यहां यह स्मरणीय है कि-अन्य सब तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में हाथी को मुख में प्रवेश करते हुये देखती हैं, जब कि मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुये देखा।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् जागृत होकर मरुदेवी महाराज नाभि के पास आई और उसने विनम्र, मृदु एवं मनोहर वाणी में स्वप्नदर्शन सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त नाभि कुलकर से कह सुनाया। उस समय स्वप्न-पाठक नहीं थे, अतः स्वयं महाराज नाभि ने औत्पातिकी बुद्धि से स्वप्नों का फल सुनाया। गर्भकाल सानन्द पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अष्टमी[2] को, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। कहीं-कहीं अष्टमी के बदले नवमी को[3] जन्म होना लिखा गया है। संभव है उदय तिथि, अस्ततिथि की दृष्टि से ऐसा तिथिभेद लिखा गया हो।

भगवान् ऋषभ का जन्मकाल

जब दो कोड़ाकोडी सागर की स्थिति वाले तृतीय आरक के समाप्त होने में ८४ लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और १५ दिन शेष रहे थे, उस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' में भी प्रथम मनु स्वायंभुव के मन्वन्तर में ही उनके वंशज अग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के धर्मग्रन्थों में भी लगभग जैन परम्परा के आगमों के समान ही रघुकुल तिलक श्री पुरुषोत्तम राम ही नहीं अपितु उनके पूर्वपुरुष सगर आदि से भी सुदीर्घ समयावधि पूर्व भगवान् ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है।

जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, उस समय सभी दिशायें शान्त थीं। प्रभु का जन्म होते ही सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षण भर के लिये नारक भूमि के जीवों को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई।

जन्माभिषेक और जन्ममहोत्सव

सपुरासुर-नर-नरेन्द्रों, देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों द्वारा वन्दित, त्रिलोकपूज्य, संसार के सर्वोत्कृष्ट पद तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों का बन्ध किये हुए महान्

---

[1] आचार्य जिनसेन ने मत्स्य-युगल और सिंहासन ये दो स्वप्न बढ़ा कर सोलह स्वप्न बतलाये हैं। (महापुराण पर्व १२, पृ० १०३-१२०)

[2] चेत्त बहुलट्ठमीए जाओ उसभो आसाढ नक्खत्ते।

(आवश्यक निर्युक्ति० गा० १८४ व कल्पसूत्र, पृ० ११३)

[3] चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुदये रवेः। (महापुराण, जिनसेन, सर्ग १३, श्लो० २-३)

पुण्यात्मा जब जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय ५६ दिक्कुमारियों और ६४ (चौसठ) देवेन्द्रो के आसन प्रकम्पित होते हैं। अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें विदित होता है कि तीर्थंकर का जन्म हो गया है, तो वे सब अनादिकाल से परम्परागत दिशाकुमारिकाओ और देवेन्द्रो के जीताचार के अनुसार अपनी अद्भुत दिव्य देव ऋद्धि के साथ अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार तीर्थंकर के जन्मगृह तथा मेरुपर्वत और नन्दीश्वर द्वीप में उपस्थित हो बड़े ही हर्षोल्लास पूर्वक जन्माभिषेक आदि के रूप में तीर्थंकर का जन्ममहोत्सव मनाते हैं। यह ससार का एक अनादि अनन्त शाश्वत नियम है।

इसी शाश्वत नियम के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ तो तत्क्षण ५६ महत्तरिका दिशाकुमारियों एवं चौसठ इन्द्रों के आसन चलायमान हुये। सर्वप्रथम उन्होने सिंहासन से उठ प्रभु जिस दिशा में विराजमान थे उस दिशा में उत्तरासंग किये सात-आठ कदम आगे जा प्रभु को प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे सब अपनी अद्भुत देवर्द्धि के साथ प्रभु ऋषभ का जन्माभिषेक एव जन्मोत्सव मनाने के लिए प्रस्थित हुए।

सर्वप्रथम अधोलोक में रहने वाली भोगंकरा आदि आठ दिशाकुमारियां अपने विशाल परिवार के साथ नाभि कुलकर के भवन मे, प्रभु के जन्मगृह में उपस्थित हुई। उन्होने माता मरुदेवी और नवजात प्रभु ऋषभ को वन्दन नमन करने के पश्चात् उनकी स्तुति की। तदुपरान्त उन्होंने माता मरुदेवी को अपना परिचय देते हुए अति विनम्र एवं मधुर स्वर मे निवेदन किया – 'हे त्रिभुवनप्रदीप तीर्थंकर को जन्म देने वाली मातेश्वरी ! हम अधोलोक मे रहने वाली दिक्कुमारिकाएं हैं। हम यहाँ इन त्रिभुवनतिलक तीर्थंकर भगवान् का जन्म महोत्सव करने आई हैं। अत' आप अपने मन में किंचित्मात्र भी आशंका अथवा भय को अवकाश मत देना।

माता मरुदेवी को इस प्रकार आश्वस्त कर उन्होने रजकण, तृण, धूलि, दुरभिगन्ध आदि को दूर कर जन्मगृह और उसके चारो ओर एक योजन की परिधि में समस्त वातावरण को सुरभिगंध से ओतप्रोत कर देने वाले वायु की विकुर्वणा द्वारा उस एक योजन मण्डल की भूमि को स्वच्छ सुरम्य एवं सुगन्धित बना दिया। किंकरियों के समान यह सब कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात् वे आठों महत्तरिका दिक्कुमारियां अपने विशाल देवी समूह के साथ गीत गाती हुई मां मरुदेवी के चारो ओर खड़ी हो गई।

उसी समय ऊर्ध्वलोक में रहने वाली मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां अपने देव-देवी समूह के साथ जन्मगृह मे आई। माता पुत्र को वन्दन-नमन-स्तवन आदि के पश्चात् उन्होने सुगन्धित जलकणो की वृष्टि और दिव्य धूप की सुगन्ध से जन्मगृह के एक योजन के परिमण्डल को देवागमन योग्य सुमनोज्ञ-सुरम्य बना दिया। तत्पश्चात् वे विशिष्टतर मगल गीत गाती हुई मातृमन्दिर में माता मरुदेवी के चारों ओर खड़ी हो गई।

तदनन्तर पूर्व के रुचक कूट पर रहने वाली नंदुत्तरा आदि आठ दिक्कुमारिकाएं हाथो मे दर्पण लिये, दक्षिण के रुचक पर्वत पर रहने वाली समाहारा आदि आठ दिशाकुमारिया हाथो-मे झारियां लिये, पश्चिम दिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली इलादेवी आदि ८ दिक्कुमारिकाएं हाथो मे तालवृन्त (पंखे) लिये, उत्तर रुचक पर्वत पर रहने वाली अलम्बुषा आदि आठ दिशाकुमारियां हाथों में चामर लिये मगल गीत गाती हुई तीर्थंकर के जन्मगृह मे माता मरुदेवी के चारो ओर खडी हो जाती है।

तदुपरान्त विदिशा के रुचक पर्वत पर रहने वाली चित्रा, चित्र-कनका, सतेरा और सुदामिनी ये चार दिशाकुमारिकाए माता एवं तीर्थंकर की वन्दन नमन पूर्वक स्तुति कर चारों दिशाओ मे दीपिकाएँ लिए माता मरुदेवी के चारो ओर की विदिशाओ में गीत गाती हुई खडी रहती है।

उसी समय मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली रूपा, रूपाशा, सुरूपा और रूपकावती ये चार महत्तरिका दिक्कुमारिकाएं मां मरुदेवी और प्रभु ऋषभदेव को वन्दन-नमन आदि के पश्चात् उनके समीप जाकर भगवान् की नाभिनाल को चार अगुल छोड कर काटती हैं। नाभिनाल को काटने के पश्चात् भवन के प्रागण मे एक ओर गड्ढा खोद कर नाभिनाल को उसमें गाड़ देती है। तदनन्तर गड्ढे को वज्ररत्नो और भाति-भाति के रत्नो से भर कर उस पर हरताल की पीठिका बाधती है। तदनन्तर पूर्व, उत्तर और दक्षिण इन तीन दिशाओं मे तीन कदलीघरों, प्रत्येक कदलीगृह के बीच मे एक-एक चतुश्शाल और प्रत्येक चतुश्शाल के मध्यभाग मे एक-एक नयनाभिराम सिंहासन की विकुर्वणा करती हैं।

तदुपरात वे मध्यरुचक पर्वत पर रहने वाली रूपा आदि चारों ही दिशाकुमारिकाएँ मा मरुदेवी के पास आ, प्रभु ऋषभ को करतल में ले माता मरुदेवी के हाथ थामे हुये दक्षिण दिशा के कदलीगृह की चतुश्शाला मे लाकर उन्हें सिंहासन पर बिठा देती हैं। वहां माता और पुत्र दोनों के शरीर का शतपाक, सहस्रपाक तैल से शनैः शनैः मर्दन कर उनके शरीर पर दिव्य सुगन्धित गन्धपुडे की पीठी करती हैं।

पीठी करने के पश्चात् रूपा आदि वे चारों दिशाकुमारियाँ माता और पुत्र को पूर्ववत् लिये हुये पूर्व दिशा के कदलीगृह की चतुश्शाला के मध्यवर्ती सिंहासन पर बिठाती है और वहाँ क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान कराती है। स्नान कराने के पश्चात् वे उन दोनो को उत्तरदिशा के कदलीगृह की चतुश्शाला के मध्यभाग में रखे सिंहासन पर बिठा देती है। वहाँ वे अरणी द्वारा अग्नि उत्पन्न कर अपने आभियोगिक देवों द्वारा मंगवाई हुयी गोशीर्ष चन्दन की काष्ठ से हवन, हवन के अनन्तर वे वहां भूतिकर्म निष्पन्न कर रक्षापोटली बांधती है। तत्पश्चात् मणिरत्न के समान दो गोल पाषाण हाथों में ले भगवान् के कर्णमूल के पास दोनो पाषाणो को परस्पर टकरा कर 'टिट्-टिट'

की ध्वनि करती हुई – "प्रभो ! आप पर्वत के समान चिरायु होवें" – यह आशीर्वाद देती हैं।

इस प्रकार प्रसव के पश्चात् निष्पन्न किये जाने वाले सभी आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् रूपा आदि वे चारों दिक्कुमारिकाएं माता मरुदेवी और प्रभु ऋषभ को जन्मगृह में ला उन्हें शय्या पर बिठा, मंगल गीत गाती हुई वहीं खड़ी रहती हैं।

उसी समय सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र आभियोगिक देवों द्वारा निर्मित अतीव विशाल एवं अनुपम सुन्दर विमान में अपने अलौकिक वैभव एवं देवों तथा देवियों के विशाल परिवार के साथ विनीता में आया। अपने दिव्य विमान से उसने तीन बार जन्म-भवन की प्रदक्षिणा की। तदनन्तर विमान से उतर कर दिव्य दुन्दुभिघोष के बीच अपनी आठ अग्रमहिषियों और देव-देवियों के साथ जन्म-गृह में आया। माता मरुदेवी को देखते ही शक्र ने सांजलि शीष झुका आदक्षिणा प्रदक्षिणापूर्वक तीन बार प्रणाम किया। तदनन्तर उसने माता मरुदेवी की स्तुति करने के पश्चात् उन्हें निवेदन किया – "हे देवानुप्रिये ! मैं शक्र नामक सौधर्मेन्द्र तीर्थंकर प्रभु का जन्ममहोत्सव करने आया हूं। आप पूर्णतः निर्भय रहें।"

तदनन्तर शक्र ने अवस्वापिनी निद्रा से माता मरुदेवी को निद्राधीन कर प्रभु ऋषभ का दूसरा स्वरूप बना उनके पास रख दिया। इसके पश्चात् शक्र ने वैक्रिय शक्ति से अपने पांच स्वरूप बनाये। वैक्रिय शक्ति से बने पांच शक्रों में से एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल में उठाया, दूसरे ने प्रभु पर छत्र धारण किया, दो शक्र दोनों पार्श्व में चामर वीजने लगे और पांचवां शक्र हाथ में वज्र धारण किये हुए प्रभु के आगे-आगे चलने लगा। तत्पश्चात् चारों जाति के देवों और देवियों के अति विशाल परिवार से परिवृत्त शक्र, प्रभु को करतल में लिये, दिव्य वाद्ययन्त्रों के निर्घोष के बीच दिव्य देवगति से चलते हुए मेरु पर्वत पर पण्डक वन में अभिषेक शिला के पास आया। उसने भगवान् ऋषभदेव को पूर्वाभिमुख कर अभिषेक सिंहासन पर बैठाया।

उसी समय शेष ६३ इन्द्र भी अपने-अपने विशाल देव-देवी-परिवार और दिव्य ऋद्धि के साथ पण्डक वन में अभिषेक शिला के पास पहुंचे और शक्र सहित वे ६४ इन्द्र प्रभु ऋषभ की पर्युपासना करने लगे।

उसी समय अच्युतेन्द्र ने आभियोगिक देवों को आज्ञा दे, तीर्थंकर प्रभु के महार्घ्य महाभिषेक के योग्य १००८ स्वर्ण कलश, उतने-उतने ही रजतमय, मणिमय, स्वर्ण-रौप्यमय, स्वर्ण-मणिमय, स्वर्ण-रजत-मणिमय, मृत्तिकामय और चन्दन के कलश, उतने-उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरंड, पंखे, पुष्पों की चंगेरियां, १००८ ही धूप के कडछुल, सब प्रकार के फूलों, आभरणों आदि की अनेक चंगेरियां, सिंहासन, छत्र, चामर, तैल के डिब्बे, सरसों डिब्बे आदि-आदि विपुल सामग्री मंगवाई।

अभिषेक की सम्पूर्ण सामग्री के प्रस्तुत हो जाने पर वे कलशो को क्षीरसागर के क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत तथा एरवत क्षेत्र के मागधादि तीर्थों के जल, गंगा आदि महानदियों के जल, सभी वर्षधरो, चक्रवर्ती विजयों, वक्षस्कार पर्वत के द्रहो, महानदियो आदि के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलों के ढक्कन लगा, सभी तीर्थो एव महानदियों की मिट्टी, सुदर्शन, भद्रशाल, नन्दन आदि वनो के पुष्प, तुअर, औषधियो, गोशीर्ष प्रभृति श्रेष्ठ चन्दन आदि को ले अभिषेक के लिये प्रस्तुत करते हैं।

तदनन्तर अच्युतेन्द्र उपर्युक्त सभी चन्दनचर्चित कलशों एव सभी प्रकार की अभिषेच्य सामग्री से भगवान् ऋषभदेव का महाभिषेक करते हैं। प्रभु के अभिषेक के समय देव जयघोषो से गगनमण्डल को गुंजरित करते हुए, नृत्य, नाटक आदि करते हुए अपने अन्तर के अथाह हर्ष को प्रकट करते हैं। देव चारों ओर पच दिव्यो की वृष्टि करते हैं।

इसी प्रकार शेष ६३ इन्द्र भी प्रभु का अभिषेक करते हैं। शक्र चारो दिशाओं मे चार श्वेत वृषभो की विकुर्वणा कर उनके शृ गो से आठ जलधाराए बहा प्रभु का अभिषेक करते हैं। इस प्रकार अभिषेक के पश्चात् शक्र प्रभु को जन्मगृह में ला माता के पास रख, उनके सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख, प्रभु के दूसरे स्वरूप को हटा माता की निद्रा का साहरण करते हैं।

तदनन्तर देवराज शक्र कुबेर को बुला तीर्थंकर प्रभु के जन्मघर में बत्तीस कोटि हिरण्य, बत्तीस कोटि स्वर्णमुद्राएं, ३२ कोटि रत्न, बत्तीस नन्द नामक वृत्तासन, उतने ही भद्रासन और प्रसाधन की सभी सामग्री रखने की आज्ञा देते हैं।[1] कुबेर जृंभक देवों को आज्ञा दे ३२ करोड़ मुद्राए आदि जन्मभवन में रखवा देता है।

---

[1] तएण से सक्के देविंदे देवराया वेसमण देव सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एव वयासी – "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया। बत्तीसं हिरण्ण कोडीओ, बत्तीस सुवण्ण कोडीओ, बत्तीस रयण कोडीओ, बत्तीस-बत्तीस णदाई, भद्दाई सुभग-सुभग रूवे जोवण लावण्णेण भगवओ तित्थयरस्स जम्मण भवणंसि साहराहि साहराहित्ता एयमाणत्तिय पच्चप्पिणाहि।" तए ण से वेसमण देवे सक्केण जाव विणएण वयण पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता जभए देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एव वयासी–"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! बत्तीस हिरण्णकोडीओ जाव भगवओ तित्थयरस्स जम्मण भवणंसि साहरह साहरहेत्ता एयमाणत्तिय पच्चप्पिणह।" तएण ते जभगा देवा वेसमणेण देवेण एव वुत्तासमाणा हट्ठतुट्ठ जाव खिप्पामेव बत्तीस हिरण्ण कोडीओ जाव सुभगसोभग रूव जोव्वणलावण्ण भगवओ तित्थयरस्स जम्मणभवणंसि साहरंति साहरित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव जाव पच्चप्पिणंति। तए ण से वेसमणे देवे जेणेव सक्के देविंदे देवराया जाव पच्चप्पिणइ॥३५॥

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, अधि० ५, पृ० ४८८
(अमोलक ऋषिजी म० द्वारा अनूदित)

वैश्रमण (कुबेर), जृंभक देवों द्वारा बत्तीस कोटि रजत मुद्राएं, उतनी ही स्वर्ण मुद्राएं, बत्तीस कोटि रत्न, बत्तीस-बत्तीस नंद वृत्तासन, भद्रासन और रूप, लावण्य, यौवन आदि को अभिवर्द्धित करने वाली सभी प्रकार की प्रसाधन सामग्री तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के जन्मगृह में पहुँचा दिये जाने के पश्चात् शक्र की सेवा में उपस्थित हो, उन्हें उनकी आज्ञा की पूर्ति कर दिये जाने की सूचना देता है।

तदनन्तर देवराज शक्र आभियोगिक देवों को बुला कर कहते हैं – "हे देवानुप्रिय ! तीर्थंकर प्रभु के जन्म-नगर विनीता के शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों, महापथों एवं बाह्याभ्यन्तर सभी स्थानों में, उच्च और स्पष्ट स्वरों में उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार की घोषणा करो :–

"जितने भी भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव तथा देवियां हैं, वे सभी सावधान होकर सुन लें कि यदि कोई तीर्थंकर भगवान् और उनकी माता का अशुभ करने का विचार तक भी मन में लावेगा, तो उसका मस्तक ताल वृक्ष की मंजरी के समान तोड़ दिया जायगा, फोड़ दिया जायगा।"

आभियोगिक देवों ने देवराज शक्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर तीर्थंकर भगवान् के जन्म-नगर के बाह्याभ्यन्तरवर्ती सभी स्थानों में उक्त प्रकार की घोषणा कर दी।[1]

बाल-जिनेश्वर प्रभु ऋषभ का जन्माभिषेक महामहोत्सव सम्पन्न कर चारों जाति के देव-देवेन्द्र नन्दीश्वर द्वीप में गये और वहाँ उन्होंने प्रभु के जन्म का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाया।

महाराज नाभि ने और प्रजा ने भी बड़े हर्षोल्लास के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

प्रथम जिनेश्वर का नामकरण

जन्म-महोत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् प्रथम जिनेश का नामकरण किया गया। प्रथम जिन के गर्भागमन काल में माता मरुदेवी ने चौदह महास्वप्नों में सर्वप्रथम सर्वांग-सुन्दर वृषभ को देखा था और शिशु के उरुस्थल पर भी वृषभ

---

[1] तए णं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी–"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणयरंसि सिंघाडग जाव महापहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वयह–हंदि ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवइ वाणमंतर जोइस वेमाणिया देवा य देवीओ य जे णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स तित्थयरमाऊए वा उवरिं असुहं मणं पहारेइ, तस्स णं अज्जगमंजरिया इव सयहा मुद्धा णं फुट्टओ, तिकट्टु घोसणं घोसेह २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।" तए णं ते आभिओग देवा जाव एवं देवो त्ति आणाए पडिसुणंति २ त्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियाओ पडिनिक्खमंति २ त्ता खिप्पामेव भगवओ तित्थयरस्स जम्मणणगरंसि सिंघाडग जाव एवं वयासी–"हंदि ! सुणंतु भवंतो बहवे भवणवई जाव जे णं देवाणुप्पिया ! तित्थयरस्स जाव फुट्टिहिति" तिकट्टु घोसणं घोसेंति २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (अमोलक ऋषिजी म०) अधिकार ५, पृ० ४८६-४९१

का शुभ-लाञ्छन (चिह्न) था, अतः माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम ऋषभदेव रखा।[१] ऋषभ का अर्थ है – श्रेष्ठ। प्रभु त्रैलोक्यतिलक के समान संसार में सर्वश्रेष्ठ थे, उन्होंने आगे चलकर सर्वश्रेष्ठ धर्म की संस्थापना की, इस दृष्टि से भी प्रभु का 'ऋषभ' नाम सर्वथा समुचित और यथा नाम तथा गुण निष्पन्न था। पंचम अंग 'वियाह पन्नति' आदि आगम और आगमेतर साहित्य में प्रभु के नाम ऋषभ के साथ 'नाथ' और देव का भी प्रयोग किया गया है, जो प्रभु ऋषभ के प्रति अतिशय भक्तिभाव का द्योतक प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे ऋषभ का कई स्थानो पर वृषभदेव नाम उपलब्ध होता है। वृषभदेव जगत् मे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। ये जगत् के लिये हितकारक धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने वाले हैं, इसलिये इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा।[२]

भागवतकार के मन्तव्यानुसार सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा।[३]

चूर्णिकार के उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभ का एक नाम 'काश्यप' भी रखा गया था। इक्षु के विकार अथवा परिवर्तित स्वरूप इक्षुरस का पर्यायवाची शब्द कास्य भी है, उस कास्य का पान करने के कारण प्रभु ऋषभदेव को काश्यप नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है। ऋषभ कुमार जिस समय एक वर्ष से कुछ कम अवस्था के थे, उस समय जब देवराज शक्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुये, उस समय देवराज के हाथ में इक्षुदण्ड था। बाल आदिजिनेश ने इक्षु की ओर हाथ बढ़ाया। इन्द्र ने प्रभु को वह इक्षुदण्ड प्रस्तुत किया। प्रभु ने उस इक्षुदण्ड के रस का पान किया।[४] उस घटना को लेकर सम्भव है नामकरण के कुछ मास पश्चात् प्रभु का वंश भी काश्यप नाम से कहा जाने लगा।

कल्पसूत्र मे भगवान् ऋषभदेव के पांच नामों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं:–

(१) ऋषभ, (२) प्रथम राजा, (३) प्रथम भिक्षाचर, (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर।[५]

---

[१] ऊरूसु उसभलञ्छणं, उसभो सुमिणम्मि तेण कारणेण उसभो त्ति णामं कयं।
आवश्यक चूर्णि, पृ० १५१

[२] महापुराण (जिनसेन), पर्व १४, श्लोक १६०

[३] श्रीमद्भागवत ५-४-२ प्रथम खण्ड, गोरखपुर संस्करण ३, पृ० ५५६

[४] कास उच्छु तस्य विकारो कास्य रस, सो जस्स पाण सो कासवो-उसभसामी।
– दशवैकालिक, अ० ४, अगस्त्य ऋषि की चूर्णि

[५] उसभे इ वा, पढमराया इ वा, पढमभिक्खायरे इ वा, पढम जिणे इ वा, पढम तित्थयरे इ वा।
कल्पसूत्र, सूत्र १६४

मनुस्मृति में भगवान् ऋषभ देव को 'उरुक्रमः' के नाम से भी अभिहित किया गया है।[१]

भगवान् ऋषभदेव जिस समय माता के गर्भ मे आये, उस समय कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की, इस कारण उनका नाम हिरण्यगर्भ भी रखा गया।[२]

उत्तरकालीन आचार्यों एवं जैन इतिहासविदों ने, भगवान् ऋषभदेव का, कर्मभूमि एवं धर्म के आद्य प्रवर्तक होने के कारण आदिनाथ के नाम से उल्लेख किया है। जनसाधारण में, शताब्दियों से भगवान् ऋषभदेव प्रायः आदिनाथ के नाम से विख्यात हैं।

बालक ऋषभ का आहार

यद्यपि आगमों में तीर्थंकरो के आहार के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है तथापि आगमोत्तरकालीन निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगमों के व्याख्या-साहित्य तथा कहावली आदि ग्रन्थों के उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि तीर्थंकर स्तन्यपान नहीं करते। देवेन्द्र अथवा देवो ने प्रभु ऋषभ के जन्म ग्रहण करते ही उनके अगूठे (अंगुली) मे अमृत अथवा मनोज्ञ पौष्टिक रस का संक्रमण (स्थापन) कर दिया। आहार की इच्छा होने पर शिशु तीर्थंकर अपने अगूठे को मुह मे रख लेते और उसी से नानाविध पौष्टिक रस ग्रहण करते।[३] देवेन्द्र द्वारा नियुक्त देवियां अहर्निश बाल-जिनेश की प्रगाढ़ भक्ति और निष्ठा के साथ सेवा-सुश्रूषा करती। शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र की कला के समान भगवान् ऋषभ उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों वृद्धिगत होने लगे, त्यों-त्यों देवों द्वारा उन्हें फलादि मनोज्ञ आहार पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत किया जाता रहा।

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के विद्वान् आचार्य भद्रेश्वर सूरि की वृहद् ऐतिहासिक कृति 'कहावली' के उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभदेव प्रव्रजित होने से पूर्व तक के अपने सम्पूर्ण गृहस्थजीवन-काल में देवों द्वारा लाये गये देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रों के फलों का आहार और क्षीर सागर के जल का पान करते रहे।[४]

---

[१] अष्टमो मरुदेव्या तु, नाभेर्जात उरुक्रमः। मनुस्मृति

[२] विभोर्हिरण्यगर्भस्त्वमिव बोधयितुं जगत् ॥६५॥ हिरण्यगर्भस्त्वं धाता ॥५७॥
— महापुराण, पर्व १२ और १५

[३] आहारमगुलीए, ठवति देवा मणुन्न तु ॥१॥ आव० अ० १

[४] समइक्कंत बालभावा य सेस जिणा अग्गिपक्कमेवाहार मुंजंति। उसह सामी उण पवज्जं अपडिवन्नो देवोवणीय देवकुरु उत्तरकुरु कप्परुक्खामय फलाहार खीरोदहि जल च उपभुजति। [कहावली, हस्तलिखित प्रति, एल. डी इ. इ, अहमदाबाद]

शिशु-लीला

शिशु जिनेश ऋषभ, देवेन्द्र द्वारा अगुष्ट मे निहित अमृत का पान करते हुए अनुक्रमश बढने लगे। प्रभु की सुकोमल शय्या, आसन, वस्त्रालकार, प्रसाधन सामग्री, अनुलेपन, विलेपन, क्रीडनक आदि सभी वस्तुए दिव्य और अत्युत्तम थी। सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान से च्यवन के समय से ही प्रभु मति, श्रुत और अवधिज्ञान से सम्पन्न थे, अत उनकी बाल्य लीलाए भी अद्भुत् और जन-मन को परमाह्लादित, सम्मोहित और आत्मविभोर कर देने वाली होती थी। बाल रवि के समान उनकी सुमनोहर, नयनाभिराम छवि दर्शक के तन, मन और रोम-रोम को तृप्त-आप्यायित कर देती थी। उनके बिम्बोष्ठो पर, पूर्णिमा के चन्द्र की दुग्धधवला ज्योत्स्ना को भी लज्जित कर देने वाला मन्द-मन्द सम्मोहक स्मित् सदा विराजमान रहता था। उनके त्रैलोक्य-ललाम अलौकिक सौन्दर्य को देखने के लिये आने वाले स्त्री-पुरुषो का दिन भर ताता-सा लगा रहता था। दर्शक, उन शैशव-लीलारत बाल-जिनेश्वर प्रभु की त्रिभुवन-सम्मोहक रूपसुधा का विस्फारित एव निर्निमेष नेत्रो से निरन्तर पान करते प्रभु की रूपसुधा के सागर मे निमग्न हो अपने आपको भूल जाते थे। अपने नयनो से जितनी अधिक प्रभु की रूपसुधा का पान करते, उतनी ही अधिक उनकी आँखो की प्यास बढती जाती थी।

प्रभु की एक-एक मधुर मुस्कान पर, उनकी एक-एक मन लुभा देने वाली बाल-लीला पर माता मरुदेवी और पिता नाभिराज आत्मविभोर हो उद्वेलित आनन्द सागर की उत्ताल तरगो के झूले पर झूलते-झूलते झूम उठते थे।

यौगलिक की अकाल मृत्यु

जिन दिनो शिशु-जिन ऋषभ अपनी अद्भुत शिशु-लीलाओ से नाभिराज, माता मरुदेवी, परिजनो, पुरजनो और देव-देवियो को अनिर्वचनीय, अलौकिक आनन्द सागर मे निमग्न कर रहे थे, उन्ही दिनो वन मे एक यौगलिक (बालक-बालिका) युगल बालक्रीडा कर रहा था। सहसा उस बालक के मस्तक पर तालवृक्ष का फल गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। यह प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की प्रथम अकाल-मृत्यु थी। इस अदृष्टपूर्व घटना को देख कर यौगलिक सहम उठे। बालिका को वन मे ऐकाकिनी देख विस्मित हुए यौगलिक उसे नाभिराय के पास ले आये और उन्होने इस अश्रुतपूर्व-अदृष्टपूर्व घटना पर बडा आश्चर्य प्रकट किया। नाभि कुलकर ने उन लोगो को समझाया कि अब काल करवट बदल रहा – अगडाई ले रहा है, यह सब उसी का प्रभाव है, यह उसकी पूर्व सूचना मात्र है। कुलकर नाभिराज ने उस बालिका को अपने भवन मे यह कह कर रख लिया कि बड़ी होने पर यह ऋषभकुमार की भार्या होगी। उस परम रूपवती बालिका का नाम सुनन्दा रखा गया। सुनन्दा भी अब ऋषभकुमार और सुमगला के साथ-साथ बाल-लीलाए करने लगी। इस प्रकार देवगण से परिवृत्त, उदयगिरि

पर आरूढ नवोदित भुवनभास्कर बालभानु के समान कमनीय कान्तिवाले, प्रभु ऋषभ बाल-लीला करते हुए, सुमंगला और सुनन्दा के साथ बढ़ने लगे।[1]

वंश और गोत्र-स्थापना

यौगलिकों के समय से, भगवान् ऋषभदेव के जन्मकाल तक मानव समाज किसी कुल, जाति अथवा वंश के विभाग में विभक्त नहीं था। अतः प्रभु ऋषभदेव का भी उस समय तक न कोई वंश था और न कोई गोत्र ही। जिस समय प्रभु ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम वय के हुए, उस समय एक दिन वे अपने पिता नाभि कुलकर की क्रोड़ में बैठे हुए बालक्रीडा कर रहे थे। उसी समय एक हाथ में इक्षुदण्ड लिये वज्रपाणि देवराज शक्र उनके समक्ष उपस्थित हुए। देवेन्द्र शक्र के हाथ में इक्षुदण्ड देखकर शिशु-जिन ऋषभदेव ने, उसे प्राप्त करने के लिये अपना प्रशस्त लक्षण युक्त दक्षिण हस्त आगे बढ़ाया। यह देख देवराज शक्र ने सर्वप्रथम प्रभु की इक्षुभक्षण की रुचि जान कर त्रैलोक्यप्रदीप तीर्थंकर प्रभु ऋषभ के वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश रखा।[2] उसी समय से भगवान् ऋषभदेव की जन्मभूमि भी इक्ष्वाकु भूमि के नाम से विख्यात हुई।[3] पानी की क्यारी को काटने पर जिस प्रकार पानी की धारा बह चलती है, उसी प्रकार इक्षु के काटने और छेदन करने से रस का स्राव होता है, अतः भगवान् का गोत्र 'काश्यप' रखा गया।[4] शैशव-लीलाएं करते-करते क्रमशः वृद्धिगत हो प्रभु बालक्रीडाएं करने लगे। समवयस्क सखाओं और देवकुमारों के साथ क्रीडा करते प्रभु के अद्‌भुत कौशल, अतुल बल, हृदयहारी हस्तलाघव और धूलिधूसरित सुमनोहर छवि को देख माता-पिता और दर्शक रीझ-रीझ कर झूम उठते।

---

[1] (क) पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारओ पहओ।
कन्ना य कुलगरेण, सिट्ठे गहिया उसभपत्ती ॥२२॥
अह वड्ढइ सो भयवं, दियलोगचुओ अणुवमसिरीओ।
देवगण परिवुडो, नंदाइ सुमंगला सहिओ ॥११६॥
असियसिरो सुनयणो, बिंबुट्ठो धवल दंत पंतीओ।
वर पउमगब्भ गोरो फुल्लुप्पल गन्ध नीसासो ॥१२०॥
[आ० भाष्य]

(ख) पवणपाडियतालरुक्खस्स फलेण य आभमिहुणयस्स पुत्तो विणासिओ···· सा य सुनंदा सुट्ठु रूववई वणे भमती जोलाहिम्मिएहिं दट्ठूणेगागिणी नाभि कुलगरस्स समप्पिया। तेणावि भज्जा उसभस्स भविस्सइ त्ति भणिऊण गहिया।
[कहावली, अप्रकाशित, एल डी इ. इ. अहमदाबाद]

[2] आवश्यक निर्युक्ति गा० १८६, निर्युक्ति दीपिका गा० १८९

[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५२

[4] आवश्यक म० पूर्व भाग, पृ० १६२, चूर्णि पृ० १५३

तीर्थेशो जगतां गुरु

क्रमश प्रभु ने किशोर वय मे प्रवेश किया। उस समय उनको देखते ही दर्शक को ऐसा प्रतीत होता कि मानो सम्पूर्ण ससार का समस्त सौन्दर्य एकत्र पुंजीभूत हो प्रभु के रूप मे प्रकट हो गया है। सभी तीर्थकर महाप्रभु गर्भागमन से पूर्व च्यवन काल से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान–इन तीन ज्ञान के धारक होते हैं। भगवान् ऋषभदेव भी सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुत और अवधि – इन तीनो ज्ञान के धारक थे। उन्हे जातिस्मरण ज्ञान से अपने पूर्व जन्मों का भी सम्यक् परिज्ञान था।[1] इसीलिये उन्हे किसी कलागुरु अथवा कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नही थी। वे तो स्वयं ही समस्त विद्याओ के निधान और निखिल कलाओ के पारगामी जगद्गुरु थे।

भगवान् ऋषभदेव का विवाह

समय की गति के साथ बढते हुए कुमार ऋषभ ने शैशव से किशोर वय मे और किशोर वय से यौवन की देहली पर पैर रखा। सतत साधना-पूर्ण अपने पूर्व जन्म मे उन्होने जो ज्ञान का अक्षय भण्डार सचित कर लिया था, वह उन्हे इस भव हेतु गर्भ में आगमन के समय से ही प्राप्त था। उन्होने तत्कालीन घटनाचक्र और लोक-व्यवहार से समयोचित नूतन अनुभवो को हृदयगम कर लोक-व्यवहार मे पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करली।

जब इन्द्र ने देखा कि अब कुमार ऋषभ भोगसमर्थ युवावस्था एव विवाह योग्य वय मे प्रविष्ट हो गये है, तो उन्होने कुमार ऋषभ का विवाह करने का निश्चय किया। लावण्य सम्पन्ना सुमंगला और सुनन्दा के साथ नाभिराज के परामर्श से देव-देवियो से युक्त शक्रेन्द्र ने ऋषभकुमार का विवाह सम्पन्न किया। उस समय के मानवों के लिये विवाह कार्य पूर्णत: नवीन था। विवाह कार्य किस प्रकार सम्पन्न किया जाय, कैसे क्या किया जाय, इस विधि से तत्कालीन नर-नारी नितान्त अनभिज्ञ थे। अत: इन्द्र और इन्द्राणियों ने ही विवाह सम्बन्धी सब कार्य अपने हाथों सम्हाला। वरपक्ष का कार्य स्वयं देवराज शक्र ने और वधु-पक्ष का कार्य शक्र की अग्रमहिषियों ने बड़े हर्षोल्लास से विधिवत् सम्पन्न किया।[2] इससे पूर्व उस समय के मानव समाज मे ऐसी कोई वैवाहिक प्रथा प्रचलित नही थी। ऋषभदेव के विवाह से पूर्व यौगलिक काल मे, नर-नारी शिशु युगल एक माता की कुक्षि से एक साथ जन्म ग्रहण करता और कालान्तर मे युवावस्था मे प्रवेश करने पर उस मिथुन का जीवन – सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में

---

[1] आवश्यक म० १८६,

[2] भोग समत्थं नाउ, वरकम्मं तस्स कासि देविन्दो।
दोण्हं वरमहिलाण, बहुकम्म कासि देवीतो ॥१६१॥

आवश्यक निर्युक्ति

परिवर्तित हो जाया करता था। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही भावी मानव-समाज के हित की दृष्टि से विवाह परम्परा का सूत्रपात किया। इस प्रकार उन्होंने मानव मन की बदलती हुई स्थिति और उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का अध्ययन कर कालप्रभाव से बढ़ती हुई विषय-वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाया।

अपने युग की इस नितान्त नवीन और सबसे पहली विवाह-प्रणाली को देखने के लिये यौगलिक नर-नारियों के विशाल झुण्ड कुलकर नाभि के भवन की ओर उमड़ पड़े। महाराज नाभि ने और प्रजा ने बड़े हर्षोल्लास के साथ प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के इस प्रथम विवाह के उपलक्ष में अनेक दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया। जनमानस में आनन्द सागर की उमड़ती ऊर्मियों से समस्त वातावरण आनन्द से ओतप्रोत हो गया। भली-भांति सजाई संवारी हुई विनीता नगरी अलका सी प्रतीत होने लगी। संसार के निखिल सौन्दर्य, सुषमा, कीर्ति और कान्ति के सर्वोच्च कीर्तिमान वरराज ऋषभकुमार, इन्द्राणियो द्वारा दिव्य वस्त्राभरणों एवं अलकारों से सजाई-संवारी गई उन दोनों सुमगला और सुनन्दा नववधुओं के साथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो संसार का पुंजीभूत सौन्दर्य साक्षात् सदेहा श्री और कीर्तिदेवी के साथ विराजमान हो। दो नववधुओं के साथ वरवेष में सजे अपने पुत्र ऋषभ को देख-देख माता मरुदेवी बार-बार बलैयां लेने लगीं, पिता नाभि पुलकित हो उठे और स-सुरासुर-गन्धर्व-किन्नर-नर-नारियों का आनन्द-सागर वेलाओं को लांघ-लांघ कर कल्लोलें करने लगा।

विवाहोपरान्त ऋषभकुमार देवी सुमंगला और सुनन्दा के साथ उत्तम मानवीय इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करने लगे।

भोगभूमि और कर्मभूमि का संधिकाल

यों तो इस अवसर्पिणी काल के प्रथम कुलकर के समय से ही काल करवट बदलने के लिये अंगड़ाइयां लेने लगा था, प्रकृति के चरण परिवर्तन की ओर प्रवृत्त होने के लिये कसमसाने लग गये थे, सभी प्रकार के अभाव अभियोगों से पूर्णतः विमुक्त और प्रकृति मां के शान्त सुखद-सुन्दर क्रोड़ में परमोत्कृष्ट वात्सल्यपूर्ण मादक माधुर्य में अनेक सागरों की सुदीर्घावधि तक विमुग्ध रहे हुए प्रकृति-पुत्र यौगलिकों की चिरशान्त हृतन्त्रियों के तार यदा-कदा थोड़ा-थोड़ा प्रकम्पन अनुभव करते-करते क्रमशः झनझनाने भी लगे थे। जब भोग भूमि के अन्त और कर्मभूमि के उदय का संधिकाल समीप आया तो प्रकृति ने परिवर्तन की ओर चरण बढ़ाया और काल ने एक करवट ली। कालप्रभाव से कल्पवृक्ष क्रमशः विरल और क्षीण हो गये, नाम मात्र को अवशिष्ट रह गये।

यौगलिक काल में – भोगभूमि के समय में चिरकाल से कल्पवृक्षों पर आश्रित रहता आया मानव कल्पवृक्षों के नष्टप्रायः हो जाने पर भूख से पीड़ित हो त्राहि-त्राहि कर उठा। भूख से संत्रस्त लोग नाभि कुलकर के पास आये

और उन्हे अपनी दयनीय स्थिति से अवगत करवाया। कुलकर नाभि ने अपने पुत्र ऋषभ कुमार से परामर्श लिया। वे अपने पुत्र के अलौकिक गुणो और बुद्धि-कौशल से भली-भाति परिचित थे। उन्होने अपने पुत्र को कहा कि वे संकटग्रस्त मानवता का मार्गदर्शन करे।

पन्द्रहवें कुलकर के रूप में

तीन ज्ञान के धनी कुमार ऋषभदेव ने लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा – "अवशिष्ट कल्पवृक्षो के फलो के अतिरिक्त स्वत ही वन में उगे हुए शाली आदि अन्न से अपनी भूख की ज्वालाओ को शान्त करो, इक्षुरस का पान करो। इन शाली आदि स्वत. ही उगे हुए धान्यो से तुम्हारा जीवन निर्वाह हो जायगा। इनके अतिरिक्त वनो मे अनेक प्रकार के कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र आदि है, उनका भी भक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार तुम्हारी क्षुधा शान्त होगी।" १५वे कुलकर के रूप मे तत्कालीन भूखी मानवता का मार्गदर्शन करते हुए कुमार ऋषभ ने उन लोगो को खाने योग्य फलो, फूलो, कन्द-मूल और पत्तो का भली भाति परिचय कराया। भूख से पीडित उन लोगो ने प्रभु द्वारा निर्दिष्ट कन्द, मूल फल, फूल, पत्र एव कच्चे शाल्यन्नादि से अपनी भूख को शान्त कर सुख की श्वास ली। अब वे लोग शाल्यन्न, व्रीही और जगलो मे स्वत. ही उगे हुए अनेक प्रकार के धान्यादि तथा कन्द, मूल, फल, पुष्प, पत्रादि से अपना जीवनयापन करने लगे।[1] इस प्रकार अपनी भूख की ज्वाला को शान्त कर वे लोग प्रभु ऋषभदेव को ही अपनी कामनाओ को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष समझने लगे।

यद्यपि वे लोग प्रभु ऋषभ के निर्देशानुसार अधिकाशत कन्द, मूल, फल, फूल आदि का ही भक्षण करते, कच्चे धान्यों का बहुत स्वल्प मात्रा मे ही उपभोग करते थे, तथापि छिलके सहित कच्चे अन्न के खाने से कतिपय लोगों को अपच और उदर की पीडा भी सताने लगी। उदर पीडा की इस अश्रुतपूर्व नई दुविधा के समाधान के लिये वे लोग पुन प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुए। प्रभु ऋषभकुमार ने उनकी समस्या का समाधान करते हुए कहा – "शाली आदि धान्यो का छिलका हटा कर उन्हे हथेलियो मे अच्छी तरह मसल-मसल कर खाओ, कम मात्रा में खाओ, इससे उदर-पीडा अथवा अपच आदि की व्याधि नही होगी।"

---

[1] आसी कंदाहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य।
पुप्फ-फल भोइणो वि य, जइया किर कुलगरो उसहो ॥

आमम्पाहारता, अजीरमाणम्मि ते जिणमुर्वेति। (अथममप्याहरत·)
हत्थेहि घसिऊण, आहारेहति ते भणिया ॥३८॥

आसी य पाणिघसी, तिम्मिअ तदुलपवालपुडभोई।
हत्यतलपुडाहारा, जइआ किर कुलगरो उसभो ॥३९॥

— आवश्यक भाष्य

प्रभु के निर्देशानुसार उन्होंने वनों में स्वत. ही उत्पन्न हुए धान्यों के छिलकों को हटा, हथेली में खूब मसल-मसल कर खाना प्रारम्भ किया, और इस प्रकार उनका सुखपूर्वक निर्वाह होने लगा। धान्य कच्चे रहे, तब तक उन्हें अपच अथवा उदरशूल की किसी प्रकार की व्याधि नहीं हुई। किन्तु जब धान्य पूरी तरह पक गये तो उन्हें पुनः उसी प्रकार की अपच आदि की व्याधि से पीड़ा होने लगी। इस पर उन लोगों ने पुनः प्रभु की सेवा में उपस्थित हो उनके समक्ष अपनी समस्या रखी। प्रभु ने उनका मार्गदर्शन करते हुए कहा – "इस पके हुए अन्न को पहले जल में भिगोओ, थोड़ा भीग जाने पर इसे मुट्ठी में बंद रख कर अथवा बगल में रख कर गरम कर के खाओ, इससे तुम्हें अपच आदि की बाधा उत्पन्न नहीं होगी।"

उन लोगों ने प्रभु के निर्देशानुसार अन्न को भिगो कर और मुट्ठी अथवा बगल में रख कर खाना प्रारम्भ किया। कुछ समय तक तो उनका कार्य अच्छी तरह चलता रहा किन्तु कच्चे धान्य के खाने से उन्हें पुन अपच आदि की व्याधि सताने लगी।

कुमार ऋषभदेव अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय में जानते थे। वे यह भी जानते थे कि काल की एकान्त स्निग्धता के कारण अभी अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती, अत. कालान्तर में काल की स्निग्धता कम होने पर उन्होंने अरणियों को घिस कर अग्नि उत्पन्न की और लोगों को पाक कला का ज्ञान कराया।[1]

चूर्णिकार ने लिखा है कि संयोगवश एक दिन जंगल के बांस-वृक्षों में वायु के वेग के कारण अनायास ही संघर्ष से अग्नि उत्पन्न हो गई। इस प्रकार बांसों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि भूमि पर गिरे सूखे पत्ते और घास को जलाने लगी। युगलियों ने उसे रत्न समझ कर ग्रहण करना चाहा किन्तु उसको छूते ही जब हाथ जलने लगे तो वे अंगारों को फेंक कर ऋषभ देव के पास आये और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषभकुमार ने कहा – "आस-पास की घास साफ करने से अग्नि आगे की ओर नहीं बढ़ सकेगी।" उन युगलिकों ने ऋषभ के आदेशानुसार अग्नि के आस-पास के भूखण्ड पर पड़े सूखे पत्तों और काष्ठ को हटा कर भूमि को साफ कर दिया। उसके परिणामस्वरूप आग का बढ़ना रुक गया।

तदनन्तर प्रभु ने उन युगलिकों को बताया कि इसी आग में कच्चे धान्य को पका कर खाया जाय तो अपच अथवा उदरशूल आदि की व्याधि नहीं होगी। उस समय के भोले युगलिकों ने धान्य को आग में डाला तो वह जल गया। इस पर यौगलिक समुदाय हताश हो पुन ऋषभकुमार के पास आया और बोला कि अग्नि तो स्वयं ही इतनी भूखी है कि वह समग्र – सारा का सारा धान्य खा जाती

[1] आवश्यक चूर्णि पृ० १५५

है। तब भगवान् ने मिट्टी गीली कर हाथी के कुम्भस्थल पर उसे जमा कर पात्र बनाया और बोले कि ऐसे पात्र बना कर धान्य को उन पात्रों मे रख कर आग पर पकाने से वह नही जलेगा। इस प्रकार वे लोग आग मे पका कर खाद्यान्न खाने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखा कर ऋषभदेव ने उन लोगो की समस्या हल की, इसलिये लोग उन्हे धाता, विधाता एव प्रजापति कहने लगे। इस प्रकार समय-समय पर ऋषभदेव से मार्गदर्शन प्राप्त कर प्रभु की शीतल छत्रछाया मे सब लोग शान्ति से अपना जीवन बिताने लगे।

इस प्रकार लगभग १४ लाख पूर्व तक भगवान् ऋषभदेव ने भोगभूमि और कर्मभूमि के सक्रान्तिकाल मे उस समय के भोले यौगलिक लोगों को कुलकर के रूप मे समय-समय पर जीवनयापन का मार्ग दिखा कर एवं उनकी पीडाओ, कष्टों और समस्याओ का समुचित रूप से समाधान कर मानवता पर महान् उपकार किया। प्रभु ऋषभदेव द्वारा मानवता पर अपने कुलकरकाल में किये गये महान् उपकारों की अमर स्मृति के रूप में ही आगमीय-व्याख्या ग्रन्थो की रचना करने वाले आचार्यों ने "जइया किर कुलगरो उसभो" इन गाथापदो के रूप मे प्रभु की यशोगाथाओं का गान किया है।

भ० ऋषभदेव की सन्तति

चौदहवें कुलकर अपने पिता नाभि के सहयोगी कुलकर के रूप में लगभग चौदह लाख पूर्व के अपने उक्त कुलकर काल के प्रारम्भ मे जब भ० ऋषभदेव की वय ६ लाख पूर्व की हुई, उस समय देवी सुमगला ने पुत्र और पुत्री के एक मिथुन के रूप मे भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया। भरत और ब्राह्मी के जन्म के थोडी ही देर पश्चात् देवी सुनन्दा ने भी पुत्र-पुत्री के एक मिथुन के रूप मे बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। देवी सुमंगला ने कालान्तर मे पुन. अनुक्रमश. उनपचास बार गर्भ धारण कर, ४६ पुत्र युगलो को जन्म दिया। इस प्रकार देवी सुमगला ६६ पुत्रो और एक पुत्री की तथा देवी सुनन्दा एक पुत्र एव एक पुत्री की माता बनी।

देवी सुमगला ने प्रथम गर्भधारण काल मे तीर्थंकरो की माताओ के समान ही १४ महास्वप्नो को देखा। सुखपूर्वक सोयी हुई देवी सुमंगला ने रात्रि के पश्चिम प्रहर मे अर्द्ध-जागृतावस्था मे वे चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नो को देखते ही देवी सुमगला जागृत हुई और उसी समय वे प्रभु ऋषभ के शयन कक्ष मे गई। पति द्वारा प्रदर्शित आसन पर बैठ कर देवी सुमगला ने उन्हे अपने चौदह स्वप्न सुना कर स्वप्नों के फल की जिज्ञासा की। तीन ज्ञान के धनी ऋषभदेव ने देवी सुमंगला द्वारा देखे गये स्वप्नो का फल सुनाते हुए कहा— "देवी! इन स्वप्नो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तुम एक ऐसे महान् पुण्यशाली चरम शरीरी पुत्ररत्न को जन्म दोगी जो आगे चल कर सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट् होगा।"

स्वप्नफल सुन कर देवी सुमंगला परम प्रमुदित हुई और प्रभु को प्रणाम कर अपने शयनकक्ष में लौट गई। उसने शेष रात्रि धर्मजागरणा करते हुए व्यतीत की। जैसा कि ऊपर बताया गया है, गर्भकाल पूर्ण होने पर देवी सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया। भरत के चरणों में चौदह रत्नो के चिह्न थे। पितामह नाभिराज और मातामही मरुदेवी ने दो पौत्रों और दो पौत्रियों के जन्म के उपलक्ष में हर्षोल्लास के साथ उत्सव मनाया।

कालान्तर में देवी सुमगला ने अनुक्रमश. ४९ बार में युगल रूप से जिन ९८ पुत्रों को जन्म दिया, उन सहित प्रभु ऋषभदेव के सब मिला कर १०० पुत्र और दो पुत्रियां हुई। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. भरत
२. बाहुबली
३. शङ्ख
४. विश्वकर्मा
५. विमल
६. सुलक्षण
७. अमल
८. चित्राङ्ग
९. ख्यातकीर्ति
१०. वरदत्त
११. दत्त
१२. सागर
१३. यशोधर
१४. अवर
१५. थवर
१६. कामदेव
१७. ध्रुव
१८. वत्स
१९. नन्द
२०. सूर
२१. सुनन्द
२२. कुरु
२३. अग
२४. बग
२५. कौशल
२६. वीर
२७. कलिग
२८. मागध
२९. विदेह
३०. सगम
३१. दशार्ण
३२. गम्भीर
३३. वसुवर्मा
३४. सुवर्मा
३५. राष्ट्र
३६. सुराष्ट्र
३७. बुद्धिकर
३८. विविधकर
३९. सुयश
४०. यश.कीर्ति
४१. यशस्कर
४२. कीर्तिकर
४३. सुषेण
४४. ब्रह्मसेण
४५. विक्रान्त
४६. नरोत्तम
४७ चन्द्रसेन
४८. महसेन
४९ सुसेण
५० भानु
५१ कान्त
५२ पुष्पयुत्
५३. श्रीधर
५४. दुर्द्धर्ष
५५. सुसुमार
५६. दुर्जय
५७. अजयमान
५८. सुधर्मा
५९. धर्मसेन
६०. आनन्दन
६१. आनन्द
६२. नन्द
६३ अपराजित
६४. विश्वसेन
६५. हरिषेण
६६. जय
६७. विजय
६८. विजयन्त
६९. प्रभाकर
७०. अरिदमन
७१. मान
७२. महाबाहु
७३ दीर्घबाहु
७४ मेघ
७५. सुघोष
७६ विश्व
७७ वराह
७८ वसु
७९. सेन
८० कपिल
८१ शैल विचारी

८२. अरिजय	८८ वीर	९४. सञ्जय
८३ कुञ्जरबल	८९. शुभमति	९५ सुनाम
८४ जयदेव	९०. सुमति	९६ नरदेव
८५. नागदत्त	९१. पद्मनाभ	९७. चित्तहर
८६. काश्यप	९२. सिंह	९८. सुखर
८७. बल	९३. सुजाति	९९. दृढरथ
		१००. प्रभजन[1]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने हैं। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियो के नाम – १ ब्राह्मी २. सुन्दरी।

संतति को प्रशिक्षण

भ० ऋषभदेव के १०० पुत्र एव दो पुत्रिया – ये सभी सर्वांग सुन्दर, शुभ लक्षणो एव उत्तम गुणों से सम्पन्न थे। वे अपने पितामह नाभिराज, पितामही मरुदेवी, माता-पिता और परिजनो का अपनी बाल-लीलाओं से मनोविनोद करते हुए अनुक्रमश. वृद्धिगत होने लगे। वे सभी वज्रऋषभ, नाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान के धनी एव उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी थे। अनुक्रमशः बालवय को पार कर प्रभु की संतानो ने किशोर वय मे प्रवेश किया।

अपने कुलकर काल मे यौगलिको के समक्ष समय-समय पर उपस्थित होने वाली भाति-भाति की समस्याओ का समाधान कर उनका मार्गदर्शन करने वाले तीन ज्ञान के धनी ऋषभदेव ने सोचा कि भरतक्षेत्र मे अब यह भोग-युग के अवसान का अन्तिम चरण है। भोग-युग की समाप्ति के साथ ही भोगभूमि की सब प्रकार की सुख सुविधाएँ—कल्पवृक्षादि की भी परिसमाप्ति सुनिश्चित है। भोगयुग के पश्चात् जो कर्मयुग आने वाला है, उसमे मानव-समाज को अपने परिश्रम से जीवननिर्वाह करना है। यह भोगभूमि अब कर्मभूमि के रूप मे परिवर्तित हो जायेगी। इन दोनो युगो का सधिकाल मानव-समाज के लिये वस्तुत. एक प्रकार का सकटकाल है। भोगभूमि की सुख-सुविधाओं के अभ्यस्त मानव को, कर्मभूमि के कठोर श्रमसाध्य कर्मयुग के अनुरूप अपना जीवन ढालने मे अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़ेगा। जब तक भोगयुग की अवधि पूर्णत. समाप्त नही हो जाती तब तक इन लोगो के जीवन को कर्मभूमि के अनुरूप ढालने का प्रयास पूर्ण सफल नही होगा। क्योकि इस भोगभूमि का प्राकृतिक वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यो के लिये पूर्णत प्रतिकूल है। कर्मभूमि

---

[1] (क) कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–५२
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान ७, पृ० ४९८

[2] महापुराण पर्व १६, पृ० ३४६

के प्रारम्भ होने पर ही धरती का धरातल और वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यों के लिये अनुकूल बनेगा ।

इस प्रकार की स्थिति में इन सर्वगुण सम्पन्न एवं कुशाग्रबुद्धि भरत आदि सौ कुमारों और ब्राह्मी एवं सुन्दरी को कर्मभूमि के लिये परमावश्यक सभी प्रकार के कार्यों, कलाओं और विद्याओं आदि का पूर्णरूपेण प्रशिक्षण दे दिया जाय तो वह समय आने पर मानवता के लिये परम कल्याणकारी होगा । भोगभूमि के अवसान पर कर्मभूमि का शुभारम्भ होते ही कर्मभूमि के उन कार्यों, कलाओं और विद्याओं में पारंगत ये भरत आदि सौ कुमार सुदूरस्थ प्रदेशों के लोगों को भी तत्काल उन सब आवश्यक कार्यकलापों का प्रशिक्षण देकर मानवों को कष्ट से बचाने में बड़े सहायक सिद्ध होंगे । वस्तुतः प्रभु का यह अलौकिक दूरदर्शिता-पूर्ण विचार प्रभु के त्रिलोकवंद्य अलौकिक व्यक्तित्व के अनुरूप ही था । प्यास लगने पर कुआ खोदने जैसी प्रक्रिया की तो साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति से भी अपेक्षा नहीं की जाती । आखिर चौदह लाख पूर्व जैसी सुदीर्घावधि तक वे अपनी संतानों को अशिक्षित क्यों रखते ?

इस प्रकार का दूरदर्शितापूर्ण निश्चय करने के पश्चात् एक दिन प्रभु ऋषभदेव ने अपनी संतानों को प्रारम्भिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया । सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया[1] और सुन्दरी को वाम हस्त से गणित ज्ञान की शिक्षा दी ।[2]

तदनन्तर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषों की ७२ कलाओं[3] और बाहुबली को प्राणिलक्षण का ज्ञान कराया । प्रभु ने अपनी दोनों पुत्रियों को महिलाओं की चौसठ कलाओं की शिक्षा दी । ब्राह्मी, सुन्दरी और भरत आदि ने इस अवसर्पिणी काल के आद्य गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों में बैठ कर आद्य शिक्षार्थियों के रूप में बड़ी ही निष्ठा के साथ लेखन, गणित, परिवाररक्षण, व्याकरण, छन्द, अलंकार, अर्थशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, शिल्प शास्त्र, स्थापत्य कला, चित्र कला, संगीत आदि सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का अध्ययन कर निष्णातता प्राप्त की ।

प्रभु ऋषभ का राज्याभिषेक

चौदहवें कुलकर अपने पिता नाभि के सहयोगी कुलकर के रूप में तत्कालीन मानव समाज के समक्ष समय-समय पर उपस्थित हुई समस्याओं का

---

[1] लेहं लिविविहाणं जिणेण बंभीए दाहिण करेण ।

[2] गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं ।।२१२।। आव० नि०

[3-4] भरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खणमहोइयं बलिणो ।
माणुम्माणवमाणं, पमाणगणिमा य वत्थूणं ।।

[आवश्यक निर्युक्ति]

८२. अरिजय
८३. कुञ्जरबल
८४. जयदेव
८५. नागदत्त
८६. काश्यप
८७. बल
८८ वीर
८९. शुभमति
९०. सुमति
९१. पद्मनाभ
९२. सिंह
९३ सुजाति
९४. सञ्जय
९५ सुनाम
९६ नरदेव
९७. चित्तहर
९८ सुखर
९९ दृढरथ
१००. प्रभजन[1]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने हैं। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियो के नाम – १ ब्राह्मी २. सुन्दरी।

संतति को प्रशिक्षण

भ० ऋषभदेव के १०० पुत्र एव दो पुत्रिया – ये सभी सर्वांग सुन्दर, शुभ लक्षणों एव उत्तम गुणो से सम्पन्न थे। वे अपने पितामह नाभिराज, पितामही मरुदेवी, माता-पिता और परिजनो का अपनी बाल-लीलाओ से मनोविनोद करते हुए अनुक्रमशः वृद्धिगत होने लगे। वे सभी वज्रऋषभ, नाराच संहनन और समचतुरस्र सस्थान के धनी एव उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी थे। अनुक्रमशः बालवय को पार कर प्रभु की सतानो ने किशोर वय में प्रवेश किया।

अपने कुलकर काल मे यौगलिको के समक्ष समय-समय पर उपस्थित होने वाली भाति-भाति की समस्याओ का समाधान कर उनका मार्गदर्शन करने वाले तीन ज्ञान के धनी ऋषभदेव ने सोचा कि भरतक्षेत्र मे अब यह भोग-युग के अवसान का अन्तिम चरण है। भोग-युग की समाप्ति के साथ ही भोगभूमि की सब प्रकार की सुख सुविधाएँ—कल्पवृक्षादि की भी परिसमाप्ति सुनिश्चित है। भोगयुग के पश्चात् जो कर्मयुग आने वाला है, उसमे मानव-समाज को अपने परिश्रम से जीवननिर्वाह करना है। यह भोगभूमि अब कर्मभूमि के रूप मे परिवर्तित हो जायेगी। इन दोनों युगो का सधिकाल मानव-समाज के लिये वस्तुत एक प्रकार का सकटकाल है। भोगभूमि की सुख-सुविधाओ के अभ्यस्त मानव को, कर्मभूमि के कठोर श्रमसाध्य कर्मयुग के अनुरूप अपना जीवन ढालने मे अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़ेगा। जब तक भोगयुग की अवधि पूर्णत समाप्त नही हो जाती तब तक इन लोगो के जीवन को कर्मभूमि के अनुरूप ढालने का प्रयास पूर्ण सफल नही होगा। क्योंकि इस भोगभूमि का प्राकृतिक वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यों के लिये पूर्णत प्रतिकूल है। कर्मभूमि

[1] (क) कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–५२
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान ७, पृ० ४९८

[2] महापुराण पर्व १६, पृ० ३४६

के प्रारम्भ होने पर ही धरती का धरातल और वातावरण कर्मभूमि के कृषि आदि कार्यों के लिये अनुकूल बनेगा।

इस प्रकार की स्थिति में इन सर्वगुण सम्पन्न एवं कुशाग्रबुद्धि भरत आदि सौ कुमारों और ब्राह्मी एवं सुन्दरी को कर्मभूमि के लिये परमावश्यक सभी प्रकार के कार्यों, कलाओं और विद्याओं आदि का पूर्णरूपेण प्रशिक्षण दे दिया जाय तो वह समय आने पर मानवता के लिये परम कल्याणकारी होगा। भोगभूमि के अवसान पर कर्मभूमि का शुभारम्भ होते ही कर्मभूमि के उन कार्यों, कलाओं और विद्याओं में पारंगत ये भरत आदि सौ कुमार सुदूरस्थ प्रदेशों के लोगों को भी तत्काल उन सब आवश्यक कार्यकलापों का प्रशिक्षण देकर मानवों को कष्ट से बचाने में बड़े सहायक सिद्ध होंगे। वस्तुतः प्रभु का यह अलौकिक दूरदर्शिता-पूर्ण विचार प्रभु के त्रिलोकवंद्य अलौकिक व्यक्तित्व के अनुरूप ही था। प्यास लगने पर कुआ खोदने जैसी प्रक्रिया की तो साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति से भी अपेक्षा नहीं की जाती। आखिर चौदह लाख पूर्व जैसी सुदीर्घावधि तक वे अपनी सन्तानों को अशिक्षित क्यों रखते ?

इस प्रकार का दूरदर्शितापूर्ण निश्चय करने के पश्चात् एक दिन प्रभु ऋषभदेव ने अपनी सन्तानों को प्रारम्भिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया[1] और सुन्दरी को वाम हस्त से गणित ज्ञान की शिक्षा दी।[2]

तदनन्तर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषों की ७२ कलाओं[3] और बाहुबली को प्राणिलक्षण का ज्ञान कराया। प्रभु ने अपनी दोनों पुत्रियों को महिलाओं की चौसठ कलाओं की शिक्षा दी। ब्राह्मी, सुन्दरी और भरत आदि ने इस अवसर्पिणी काल के आद्य गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणों में बैठ कर आद्य शिक्षार्थियों के रूप में बड़ी ही निष्ठा के साथ लेखन, गणित, परिवाररक्षण, व्याकरण, छन्द, अलंकार, अर्थशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, शिल्प शास्त्र, स्थापत्य कला, चित्र कला, संगीत आदि सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का अध्ययन कर निष्णातता प्राप्त की।

प्रभु ऋषभ का राज्याभिषेक

चौदहवें कुलकर अपने पिता नाभि के सहयोगी कुलकर के रूप में तत्कालीन मानव समाज के समक्ष समय-समय पर उपस्थित हुई समस्याओं का

---

[1] लेहं लिविविहाणं जिणेण बंभीए दाहिण करेणं।

[2] गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं ॥२१२॥ आव० नि०

[3-4] भरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खणमहोइयं बलिणो।
माणुम्माणुवमाणं, पमाणगणिमाइ वत्थूणं ॥

[आवश्यक निर्युक्ति]

समुचित समाधानपूर्वक प्रभु ऋषभदेव यौगलिकों को उस समय की बड़ी तीव्र गति से बदली हुई परिस्थितियों में मार्गदर्शन करते हुए सुदीर्घावधि तक ऐहिक सुखों का अनासक्त भाव से सुखोपभोग करते रहे।

प्रकृति का स्वरूप बड़ी द्रुत गति से परिवर्तित होने लगा। अगड़ाईयां लेते आ रहे काल ने करवट बदली। भोगभूमि का काल, प्रकृतिपुत्रों (यौगलिकों) को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कल्पवृक्ष आदि सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं की सामग्री को समेट भरतक्षेत्र से विदा हो तिरोहित हो गया। कर्मभूमि का काल भरतक्षेत्र की धरा के कर्मक्षेत्र मे कटिबद्ध हो आ धमका। चारों ओर कल्पवृक्ष क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होते-होते उस समय तक लुप्तप्राय: हो गये। बचे-खुचे कुछ अवशिष्ट भी रहे तो वे विरस, रसविहीन, फलविहीन हो गये। प्रकृति-जन्य कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र, वन्य धान्य – शाली, व्रीही आदि का प्राचुर्य भी प्रकृति के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो स्वल्प रह गया। लोकजीवन के निर्वाह के लिये उन प्रकृतिजन्य पदार्थों को अपर्याप्त माना जाने लगा। सभी प्रकार की महौषधियों, दीप्तौषधियों, वनस्पतियो आदि की अद्भुत शक्तिया प्रभावविहीन हो गईं।

इस प्रकार मानव के जीवन-निर्वाह की सामग्री के अपर्याप्त मात्रा में अवशिष्ट रह जाने के कारण अभाव की स्थिति उत्पन्न हुई। अभाव के परिणाम-स्वरूप अभियोगो की अभिवृद्धि हुई। अभाव-अभियोग की स्थिति मे मानव-मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की नसें तनने लगी। हृत्तन्त्रिया अनायास ही एक साथ झन्झना कर झनक उठी। अभावग्रस्त भूखे मानव के मस्तिष्क मे अपराध करने की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा। छीना-झपटी होने लगी। स्वतः निष्पन्न कन्द, मूल, फल, धान्यादि के प्रश्न को लेकर मानव समाज में परस्पर कलह बढ़ने लगे। उधर प्रकृति के परिवर्तन के साथ ही वायु, वर्षा, शीत, आतप और हिंस्र जन्तुओं मे भी, सदा सुख से रहते आये मानव के लिये दुस्सह्य और प्रतिकूल परिवर्तन आया।

इन सब प्रतिकूल प्राकृतिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप, लगभग ६ कोटि सागरोपम जैसी सुदीर्घावधि से शान्ति के साथ रहती चली आ रही मानवता के सौम्य स्वभाव मे भी प्रतिकूल परिवर्तन का आना सहज संभव ही था। जिस प्रकार पूर्व कुलकरों के काल मे प्रचलित 'ह' कार और 'म' कार दण्ड नीतियां अन्ततोगत्वा निष्प्रभाव हुई, उसी प्रकार अन्तिम कुलकरो के समय में प्रचलित अपराध निरोध की "धिक्" कार दण्डनीति भी परिवर्तित परिस्थितियो मे नितान्त निष्क्रिय, निष्फल और निष्प्रभाव सिद्ध होने लगी।

इस प्रकार की सक्रान्तिकालीन सकटपूर्ण स्थिति से घबरा कर यौगलिक लोग एकत्रित हो अपने परमोपकारी पथप्रदर्शक प्रभु ऋषभदेव के पास पहुंचे और उन्हे वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए प्रार्थना करने लगे – "करुणानिधान! जिस प्रकार आपने आज तक हमारे सब सकटों को काट कर हमारे प्राणो की रक्षा की है, उसी प्रकार इस घोर सकट से भी हमारी रक्षा कीजिये। भूख की

ज्वाला को शान्त करने के लिये सब ओर कलह, लूट-खसोट, छीना-झपटी के रूप में अपराधी मनोवृत्ति फैल रही है। अपराधों को रोक कर हमारे जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था के लिये मार्गदर्शन की कृपा कीजिये।"

भोगयुग की सुखद क्रोड में पले यौगलिकों की दयनीय दशा पर प्रभु द्रवित हो उठे। उन्होंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – "देखो! अब इस भरतक्षेत्र में कर्मयुग ने पदार्पण किया है। भोगयुग यहां से प्रयाण कर चुका है। अब तुम्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिये कठोर श्रम करना होगा।"

यौगलिकों को अपने अन्धकारपूर्ण भविष्य में एक आशा की किरण दृष्टिगोचर हुई। उनकी निराशा दूर हुई और उन्होंने दृढ़ संकल्पसूचक स्वर में कहा – "प्रभो! हम आपके इंगित् मात्र पर कठोर से कठोर श्रम करने के लिये कटिबद्ध हैं।"

प्रभु ने कहा – "मुझे विश्वास है, तुम कर्मक्षेत्र में कटिबद्ध हो कर उतरोगे तो अपना ऐहिक जीवन सुख-समृद्धिपूर्ण बनाने में सफल होवोगे।"

"अब रहा प्रश्न अपराध-निरोध का, तो अपराध-निरोध के लिये लोगों में अपराधी मनोवृत्ति नहीं पनपे और सभी लोगों द्वारा मर्यादा का पूर्णरूपेण पालन हो, इसके लिये दण्डनीति की, दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता रहती है। दण्ड-नीति का संचालन राजा द्वारा किया जाता है। राजा ही उस दण्डनीति में परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन, संवर्द्धन आदि किया करता है। राजा का राज्य-पद पर वृद्धजनों, प्रजाजनों आदि द्वारा अभिषेक किया जाता है।"

यह सुनते ही यौगलिकों ने हर्षविभोर हो हाथ जोड़ कर ऋषभकुमार से निवेदन किया – "आप ही हमारे राजा हों। हम अभी आपका राज्याभिषेक करते हैं।"

इस पर कुमार ऋषभ ने कहा – "महाराज नाभि तुम सब के लिये पूज्य हैं। तुम सब लोग महाराज नाभि की सेवा में उपस्थित होकर उनसे निवेदन करो।"

यौगलिकों ने नाभि कुलकर की सेवा में उपस्थित हो, उनके समक्ष सम्पूर्ण स्थिति रखी। उन यौगलिकों की विनम्र प्रार्थना सुन कर नाभि कुलकर ने कहा – "मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ, अतः तुम ऋषभदेव को राज्यपद पर अभिषिक्त कर उन्हें अपना राजा बना लो। वस्तुतः वे ही इस संकटपूर्ण स्थिति से तुम्हारा उद्धार करने में सर्वथा सक्षम और सभी दृष्टियों से राज्यपद के लिये सुयोग्य हैं।"

नाभि कुलकर की आज्ञा प्राप्त होते ही यौगलिक लोग बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर नाभिराज से कहा – "महाराज! हम लोग अभी कुमार ऋषभदेव को राज्पद पर बैठा कर उनका राज्याभिषेक करते हैं।"

नाभि कुलकर से इस प्रकार का निवेदन कर वे लोग तत्काल ऋषभदेव के पास आये। हर्षातिरेक से उनके नयन विस्फारित हो गये थे। अपने मनचिंतित मनोरथ की सिद्धि के कारण वे पुलकित हो उठे। ऋषभदेव से उन्होंने हर्षविरुद्ध

कण्ठस्वर में कहा –"महाराज नाभि ने आपको ही राजपद पर अभिषिक्त करने की आज्ञा प्रदान की है। हम लोग अभी जल लाकर आपका राज्याभिषेक करते हैं।"

यह कह कर यौगलिक लोग हर्ष मे उछलते हुए तत्काल त्वरित गति से पद्मसरोवर की ओर प्रस्थित हुए।

उसी समय देवराज शक्र का सिंहासन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान के उपयोग से प्रभु ऋषभदेव का महाराज्याभिषेक काल समीप जान कर वे अपने देव-देवी परिवार के साथ उत्कृष्ट देव-वैमानिक गति से प्रभु की सेवा मे पहुँचे। प्रभु को वन्दन-नमन करने के पश्चात् देवराज ने उन्हे स्नान कराया। दिव्य वस्त्राभूषणो से प्रभु को अलकृत कर इन्द्र ने उन्हे एक दिव्य राजसिंहासन पर आसीन किया और बड़े हर्षोल्लास से प्रभु का महाराज्याभिषेक किया। आकाश से देवो ने पुष्पवर्षा की। दिव्य वाद्य यन्त्रो की सुमधुर ध्वनियो से समस्त वातावरण मुखरित हो उठा। शक्र के पश्चात् महाराज नाभि ने भी अपने पुत्र का महाराज्याभिषेक किया। देवागनाओ ने मगल गीत गाये। उसी समय यौगलिकों का विशाल समूह पद्मपत्रो मे सरोवर का जल लेकर प्रभु के राज्याभिषेक के लिए वहां उपस्थित हुआ। प्रभु को राज्यसिंहासन पर आसीन देख, उन लोगो के हर्ष का पारावार नही रहा। वे लोग प्रभु के अभिषेक के लिये प्रभु के समीप आये किंतु दिव्य वस्त्राभरणो से अलकृत अतीव कमनीय नयनाभिराम वेष में सुसज्जित, ऋषभदेव को देख कर उनके मन मे विचार आया – "इस प्रकार की सुन्दर वेषभूषा से विभूषित प्रभु के शरीर पर पानी कैसे डाला जाय?" एक क्षण के इस विचार के अनन्तर दूसरे ही क्षण मे उन्होने ऋषभदेव के चरणों पर कमलपत्र के पुटको से पानी डालकर प्रभु का राज्याभिषेक किया और "महाराजाधिराज ऋषभदेव की जय हो, विजय हो" आदि जयघोषो से वायुमण्डल को गुंजरित करते हुए प्रभु को अपना एकछत्र अधिपति महाराजाधिराज स्वीकार किया।

यौगलिकों के इस विनीत स्वभाव को देखकर देवेन्द्र शक्र ने इक्ष्वाकु भूमि के उस प्रदेश पर कुबेर को आज्ञा देकर एक विशाल नगरी का निर्माण करवाया और यह कहते हुए कि यहाँ के लोग बड़े ही विनीत हैं, उस नगरी का नाम विनीता रखा। उस नगरी के चारों ओर अति विशाल गहरी परिखा, दुर्भेद्य प्राकार, गगनचुम्बी सुदृढ मुख्य नगरद्वार और द्वारो के वज्र कपाटों के निर्माण के कारण वह नगरी कालान्तर मे युद्ध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी अभेद्य, अजेय और अयोध्य थी, इस कारण विनीता नगरी अयोध्या के दूसरे नाम से भी लोक मे विख्यात हुई।

यौगलिकों ने बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् ऋषभदेव का अपने ढंग से राज्याभिषेक महोत्सव मनाया।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव इस अवर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा घोषित हुए। उन्होने पहले से चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त

कर नवीन राज्य-व्यवस्था स्थापित की। प्रभु के राज्यसिंहासन पर आसीन होने पर कर्मयुग का शुभारम्भ हुआ और इस भरतक्षेत्र में भोगभूमि के अवसान के साथ ही कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ।

राजसिंहासन पर आसीन होते ही महाराजाधिराज ऋषभदेव ने अपनी प्रजा का कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए आह्वान किया। अपने हृदयसम्राट् महाराजाधिराज ऋषभदेव के आह्वान पर सुनहरी अभिनव आशाओं से ओतप्रोत मानवसमाज कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए कटिबद्ध हो गया। प्रभु ने उसी दिन कर्मभूमि के अभिनव निर्माण का महान् कार्य अपने हाथ में लिया।

जिस समय भ० ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया गया उस समय उनकी आयु २० लाख पूर्व की थी।

सशक्त राष्ट्र का निर्माण

राज्याभिषेक के पश्चात् महाराजा ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था के लिये सर्वप्रथम आरक्षक विभाग की स्थापना कर आरक्षक दल सुगठित किया। उसके अधिकारी 'उग्र' नाम से अभिहित किये गये। तदनन्तर उन्होंने राजकीय व्यवस्था के कार्य मे परामर्श के लिए एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया और उन मन्त्रियों को पृथक्-पृथक् विभागों का उत्तरदायित्व सौंपा। उन विभागों के उच्चाधिकारी मन्त्रियों को 'भोग' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

तत्पश्चात् महाराजा ऋषभदेव ने सम्पूर्ण राष्ट्र को पृथक्-पृथक् ५२ जनपदों में विभक्त कर उनका शासन चलाने के लिए महामाण्डलिक राजाओं के रूप में सुयोग्य व्यक्तियों का राज्याभिषेक किया। महामाण्डलिक राजाओं के अधीन अनेक छोटे-छोटे राज्यों को गठित कर उनका सुचारु रूप से शासन चलाने के लिए राजाओं को उन राज्यो के सिंहासन पर अधिष्ठित किया गया। उन बड़े और छोटे सभी शासकों को उनका उत्तरदायित्व समझाते हुए उन्होंने कहा — "जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियो द्वारा जलाशयों, वनस्पतियों और धरातल से उन्हें बिना किसी प्रकार की प्रत्यक्ष बड़ी हानि पहुंचाये थोड़ा-थोड़ा जल वाष्प के रूप में खींचता है, उसी प्रकार राज्य के संचालन के लिये, राष्ट्र की शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लिया जाय और जिस प्रकार सूर्य द्वारा वाष्प के रूप में ग्रहण किये हुए जल को वर्षा ऋतु में बादल समान रूप से सर्वत्र बरसा देते है, उसी प्रकार प्रजा से कर रूप में ग्रहण किये हुए उस धन को प्रजा के हित के कार्यों में खर्च किया जाय। प्रजा को बिना किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाये तुम्हें सूर्य की किरणों के समान प्रजा से कर के रूप में धन एकत्रित करना है और बादलों की तरह समष्टि के हित के लिये ही उस एकत्रित धन राशि का व्यय करना है।"

इस प्रकार राज्यों का गठन करने के पश्चात् महाराज ऋषभ ने उन राजाओं के एक परामर्श मण्डल की स्थापना की जो महाराजाधिराज ऋषभदेव

मे शासन सचालन सम्बन्धी परामर्शों का विचारो का आदान-प्रदान कर सके। प्रभु ने उन राजाओ को महामाण्डलिक, माण्डलिक और राजन्य, क्षत्रिय आदि उपाधियो से विभूषित किया।[1]

राष्ट्र की रक्षा के लिये महाराजाधिराज ऋषभ ने चार प्रकार की सेना गठित कर उनके उच्च अधिकारो के रूप में चार सेनापतियो की नियुक्ति की।

अपराध निरोध के लिये कड़े नियमों के साथ महाराज ऋषभदेव ने चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था प्रचलित की, जो इस प्रकार थी :-

(१) परिभाषण – अपराधी को साधारण अपराध के लिये आक्रोशपूर्ण शब्दो से दण्डित करना।

(२) मण्डलीबन्ध – अपराधी को नियत समय के लिये सीमित क्षेत्र – मण्डल में रोके रखना।

(३) चारकबन्ध – बन्दीगृह में अपराधी को बन्द रखना।

(४) छविच्छेद – मानवताद्रोही, राष्ट्रद्रोही अथवा पुन. पुन· घृणित अपराध करने वाले अपराधी के शरीर के हाथ, पैर आदि किसी अंग-उपांग का छेदन करना।

इन चार प्रकार की दण्ड-नीतियों के सम्बन्ध मे कतिपय आचार्यों का अभिमत है कि अन्तिम दो नीतियां भरत चक्रवर्ती के शासनकाल में प्रचलित हुई थी, परन्तु निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु के मन्तव्यानुसार बन्ध और घात नीति भी भ० ऋषभदेव के शासनकाल में ही प्रचलित हो गई थी।[2]

अपराधियो को खोज निकालने और दण्ड दिलाने के लिये प्रभु ने दंडनायक आदि अनेक पदाधिकारियों की नियुक्तियां भी की।

प्रजा को प्रशिक्षण

शासन, सुरक्षा और अपराध-निरोध की व्यवस्था करने के पश्चात् महाराज ऋषभदेव ने कर्मभूमि के कार्य-कलापों से नितान्त अनभिज्ञ अपनी प्रजा को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वयं सरलता से अल्पारम्भपूर्वक बिता सकें ऐसी शिक्षा देने के विचार से उन्होंने १०० शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों का प्रजा के हितार्थ उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए आपने सर्वप्रथम कुम्भकार का कर्म सिखाया। उसके पश्चात् वस्त्र-वृक्षों के क्षीण होने पर पटकार कर्म और गेहागार वृक्षों के अभाव में वर्धकी कर्म सिखाया। तदनन्तर चित्रकार कर्म और रोम-नखो के बढ़ने पर काश्यप अर्थात् नापित कर्म सिखाया। इन पांच मूल शिल्पों के बीस-बीस भेदों से

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १९८

[2] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा २ से १४

१०० (सौ) प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए।[1] लेन-देन के व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने मान, उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी अपनी प्रजा को ज्ञान कराया।[2]

इन सब शिल्पों एवं कृषि आदि कार्यों का प्रभु ने अपने पुत्रों को पहले ही प्रशिक्षण दे रखा था। अतः जन-साधारण के शिक्षण में उनसे बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण राष्ट्र में सशक्त मानव कृषि योग्य विशाल मैदानों में जूझने लगे। अपने जीवन में पहली बार उन लोगों ने कठोर परिश्रम प्रारम्भ किया। वे सभी विशालकाय और सशक्त थे। उन्होंने धरती को साफ किया, हल चला कर उसमे बीज डाला। समय-समय पर वर्षा होती रही। वसुन्धरा सस्य श्यामला हो गई। हरे-भरे खेत लहलहाने लगे। बालियां पकने लगी। दृष्टि जिस किसी ओर दौड़ाई जाती, उसी ओर धान्य की खेती से लहलहाते विशाल खेत दृष्टिगोचर होते। केवल प्रकृति पर निर्भर रहता आया मानव अपने पसीने की कमाई से लहलहाते खेतों को देखकर खुशी से झूम उठा। चारों ओर सुनहली प्यारी-प्यारी बालियों को देख कर प्रत्येक मानव के मुख से सहसा यही शब्द निकलते – "जुग-जुग जीओ ऋषभ महाराज, धरती सोना उगल रही है।"

अब लोग सोचने लगे – "ढेरों अनाज आयगा, चारो ओर अनाज के अम्बार लग जायेंगे, इतना रखेंगे कहां?" जन-जन के मुख से यही प्रश्न गूजने लगा।

पर महाराज ऋषभदेव ने एक सुन्दर, सशक्त और सुसमृद्ध महान् राष्ट्र के निर्माण की पूरी तैयारी कर ली थी। प्रभु से और भरत आदि-कुमारो से प्रशिक्षण प्राप्त लाखों शिल्पी स्वर्गोपम सुन्दर राष्ट्र के निर्माण कार्य के लिये कटिबद्ध हो चुके थे।

ग्रामों, नगरों आदि का निर्माण

महाराज ऋषभदेव के एक ही इंगित पर उनसे प्रशिक्षण पाये हुए शिल्पी अपने समस्त उपकरणो और औजारो के साथ भारत के हृदय सम्राट महाराज ऋषभ का आज्ञापत्र लिये पहले सुकोशल, अवन्ती, केकय आदि जनपदो मे महाराजाओ तथा राजाओ के पास और तत्पश्चात् वहां से राज्याधिकारियों के दलों के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र के कोने-कोने मे निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच गये। वहां उन्होने स्थानीय निवासियो के श्रम का सहयोग ले ग्रामों, नगरों, पत्तनो, मडम्बो, सवाहो, द्रोणमुखो, खेटों तथा कर्बटो का निर्माण प्रारम्भ किया।

---

[1] एव ता पढमं कुमकारा उप्पन्ना ... इमाणि सिप्पाणि उप्पाएयव्वाणि, तत्थ पच्छा वत्थरुक्खा परिहीणा, ताएऽणंतिक्का उप्पाइया, पच्छा गेहागारा परिहीणा ताए वड्ढती उप्पाइता, पच्छा रोमनखाणि वड्ढंति ताहे कम्मकरा उप्पाइता ण्हाविया य ... एव सिप्पसय एव सिप्पाणं उप्पत्ति ॥ – आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पृ० १५६

[2] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा २१३-१४

महाराज ऋषभदेव और भरतादि कुमारों द्वारा प्रशिक्षित कुशल शिल्पियों के कलात्मक कौशल और तत्कालीन उत्तम संहनन के धनी विशालकाय सशक्त मानवों के कठोर श्रम के परिणामस्वरूप देखते ही देखते सम्पूर्ण राष्ट्र गगनचुम्बी दुग्धधवला अट्टालिकाओं वाले भवनो से मण्डित ग्रामों, नगरो, खेटों, कर्बटों, मडम्बों, पत्तनो और द्रोणमुखों आदि से सुसम्पन्न हो इस धरा पर साकार स्वर्ग तुल्य सुशोभित होने लगा।

लोकस्थिति, कलाज्ञान एवं लोककल्याण

इस प्रकार लोकनायक और राष्ट्रस्थविर के रूप मे महाराज ऋषभदेव ने विविध व्यवहारोपयोगी विधियों से तत्कालीन जन-समाज को परिचित कराया। उस समय तक ऋषभदेव गृहस्थ पर्याय मे थे। आरम्भ, परिग्रह की हेयता को समझते हुए भी उसके त्यागी नही थे। अतः जनहित और उदयकर्म के फल भोगार्थ आरम्भयुक्त कार्य भी करते-करवाते रहे। पर इसका अर्थ यह नही कि वे इन कर्मों को निष्पाप अथवा धर्म समझ रहे थे। उन्होंने मानव जाति को अभक्ष्य-भक्षण जैसे महारम्भी जीवन से बचा कर अल्पारम्भी जीवन जीने के लिये असि, मसि, कृषि-रूप कर्म की शिक्षा दी और समझाया कि आवश्यकता से कभी सदोष प्रवृत्ति भी करनी पड़े तो पाप को पाप समझ कर निष्पाप जीवन की ओर लक्ष्य रखते हुए चलना चाहिये। यही सम्यग्दर्शीपन है।

प्रभु ऋषभदेव ने कर्मयुग के आगमन के समय कर्मभूमि के कार्यकलापों से नितान्त अनभिज्ञ उन भोगभूमि के भोले लोगों को कर्मभूमि के समय में सुखपूर्वक जीवनयापन की कला सिखाकर मानवता को भटकने से बचा लिया। यह प्रभु का मानवता पर महान् उपकार है।

प्रभु ऋषभदेव ने मानवता के कल्याण के लिये अपने भरत आदि पुत्रों के माध्यम से उस समय के लोगो को पुरुषों की जिन बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण दिया, वे इस प्रकार हैं :—

बहत्तर कलाएं[1]

(१) लेहं : लेखनकला।[2]

(२) गणियं : गणित-कला।

---

[1] सम० सूत्र समवाम ७२। कल्पसूत्र सु० टीका

[2] विशेषावश्यक, भाष्य ४६४ की टीका मे लिपियो के नाम (१) ब्राह्मी, (२) हंस, (३) भूत, (४) यक्षी, (५) राक्षसी, (६) उड्डी, (७) यवनी, (८) तुरुष्की, (९) कीरी, (१०) द्राविड़ी, (११) सिंघविय, (१२) मालविनी, (१३) नागरी, (१४) लाटी, (१५) पारसी, (१६) अनिमित्ती, (१७) चाणक्यी और (१८) मूलदेवी।

(३) रूवं : रूप-कला।
(४) नट्टं : नाट्य-कला।
(५) गीयं : सगीत-कला।
(६) वाइयं : वाद्य बजाने की कला।
(७) सरगयं : स्वर जानने की कला।
(८) पुक्खरगय : ढोल आदि वाद्य बजाने की कला।
(९) समताल : ताल देने की कला।
(१०) जूय : द्यूत अर्थात् जूआ खेलने की कला।
(११) जणवाय : वार्तालाप करने की कला।
(१२) पारेकिच्चं[1] : नगर के सरक्षण की कला।
(१३) अट्ठावयं : पासा खेलने की कला।
(१४) दगमट्टियं : पानी और मिट्टी के योग से वस्तु बनाने की कला।
(१५) अन्नविहि : अन्नोत्पादन की कला।
(१६) पाणविहि : पानी को शुद्ध करने की कला।
(१७) वत्थविहि . वस्त्र बनाने आदि की कला।
(१८) सयणविहि . शय्या-निर्माण की कला।
(१९) अज्ज : सस्कृत (आर्य) भाषा मे कविता-निर्माण की कला
(२०) पहेलिय : प्रहेलिका-निर्माण की कला।
(२१) मागहिय : छन्द बनाने की कला।
(२२) गाह . प्राकृत भाषा मे गाथा-निर्माण की कला।
(२३) सिलोग : श्लोक बनाने की कला।
(२४) गधजुत्ति . सुगन्धित पदार्थ बनाने की कला।
(२५) मधुसित्थं . मधुरादि षट् रस बनाने की कला।
(२६) आभरणविहि : अलकार-निर्माण तथा धारण करने की कला।
(२७) तरुणी पडिकम्म . स्त्री को शिक्षा देने की कला।
(२८) इत्थी लक्खण · स्त्री के लक्षण जानने की कला।
(२९) पुरिस लक्खण : पुरुष के लक्षण जानने की कला।
(३०) हय लक्खण : घोड़े के लक्षण जानने की कला।
(३१) गय लक्खण · हाथी (गज) के लक्षण जानने की कला।
(३२) गोलक्खण . गाय एव वृषभ के लक्षण जानने की कला।
(३३) कुक्कुड लक्खण कुक्कुट के लक्षण जानने की कला।
(३४) मिढय लक्खण मेढे के लक्षण जानने की कला।
(३५) चक्क लक्खण · चक्र-लक्षण जानने की कला।
(३६) छत्त लक्खण . छत्र-लक्षण जानने की कला।
(३७) दड लक्खण दण्ड-लक्षण जानने की कला।

---

[1] 'पोरेकच्च' – उववाई दृढ प्रतिज्ञाधिकार।

(३८)	असिलक्खणं	:	तलवार के लक्षण जानने की कला।
(३९)	मणिलक्खण	:	मणि-लक्षण जानने की कला।
(४०)	कागणि लक्खणं	:	काकिणी (चक्रवर्ती के रत्न विशेष) के लक्षण जानने की कला।
(४१)	चम्मलक्खणं	:	चर्म-लक्षण जानने की कला।
(४२)	चन्द लक्खणं	:	चन्द्र-लक्षण जानने की कला।
(४३)	सूर चरियं	:	सूर्य आदि की गति जानने की कला।
(४४)	राहु चरियं	:	राहु की गति जानने की कला।
(४५)	गहु चरियं	:	ग्रहों की गति जानने की कला।
(४६)	सोभागकरं	:	सौभाग्य का ज्ञान।
(४७)	दोभागकरं	:	दुर्भाग्य का ज्ञान।
(४८)	विज्जागयं	:	रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान।
(४९)	मंतगयं	:	मन्त्र-साधना आदि का ज्ञान।
(५०)	रहस्सगयं	:	गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान।
(५१)	समासं	:	प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान।
(५२)	चारं	:	सैन्य का प्रमाण आदि जानना।
(५३)	पडिवूहं	:	प्रतिव्यूह रचने की कला।
(५४)	पडिचारं	:	सेना को रणक्षेत्र मे उतारने की कला।
(५५)	वूहं	:	व्यूह रचने की कला।
(५६)	खंधावारमाणं	:	सेना के पड़ाव का जमाव जानना।
(५७)	नगरमाणं	:	नगर का प्रमाण जानने की कला।
(५८)	वत्थुमाणं	:	वस्तु का परिमाण जानने की कला।
(५९)	खंधावार निवेसं	:	सेना का पड़ाव आदि कहां डालना इत्यादि का परिज्ञान।
(६०)	वत्थु निवेसं	:	प्रत्येक वस्तु के स्थापन करने की कला।
(६१)	नगर निवेसं	:	नगर-निर्माण का ज्ञान।
(६२)	ईसत्थं	:	थोड़े को बहुत करने की कला।
(६३)	छरूप्पवायं	:	तलवार आदि की मूठ बनाने की कला।
(६४)	आससिक्खं	:	अश्व-शिक्षा।
(६५)	हत्थिसिक्खं	:	हस्ति-शिक्षा।
(६६)	धणु वेयं	:	धनुर्वेद।
(६७)	हिरण्णपागं सुवण्णपागं मणिपागं, धातुपागं	:	हिरण्यपाक, सुवर्णपाक मणिपाक और धातुपाक बनाने की कला।
(६८)	बाहुजुद्धं, दंडजुद्ध, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्ध, निजुद्ध, जुद्धाईजुद्ध	:	बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला।

(६९) सुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टखेडं, चम्मखेडं : सूत बनाने की, नली बनाने की, गेंद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की और चमड़ा बनाने आदि की कलाएं।

(७०) पत्तच्छेज्जं-कडगच्छेज्जं : पत्र छेदन एवं कड़ग-वृक्षांग विशेष छेदने की कला।

(७१) संजीवं, निज्जीवं : संजीवन, निर्जीवन-कला।

(७२) सउणरूयं : पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला।

पुरुषों के लिये कला-विज्ञान की शिक्षा देकर प्रभु ने महिलाओं के जीवन को उपयोगी व शिक्षासम्पन्न करना भी आवश्यक समझा।

अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से उन्होंने लिपि-ज्ञान तो दिया ही, इसके साथ ही साथ महिला-गुणों के रूप में उनको ६४ कलाएं भी सिखलाई। वे ६४ कलाएं इस प्रकार हैं :-

१. नृत्य-कला
२. औचित्य
३. चित्र-कला
४. वादित्र-कला
५. मंत्र
६. तन्त्र
७. ज्ञान
८. विज्ञान
९. दम्भ
१०. जलस्तम्भ
११. गीतमान
१२. तालमान
१३. मेघवृष्टि
१४. फलाकृष्टि
१५. आराम रोपण
१६. आकार गोपन
१७. धर्म विचार
१८. शकुनसार
१९. क्रियाकल्प
२०. संस्कृत जल्प
२१ प्रसाद नीति
२२. धर्म रीति
२३. वर्णिकावृद्धि
२४. सुवर्ण सिद्धि
२५. सुरभितैलकरण
२६. लीलासंचरण
२७. हय-गजपरीक्षण
२८. पुरुष-स्त्रीलक्षण
२९. हेमरत्न भेद
३०. अष्टादश लिपि-परिच्छेद
३१. तत्काल बुद्धि
३२. वस्तु सिद्धि
३३. काम विक्रिया
३४. वैद्यक क्रिया
३५. कुम्भभ्रम
३६. सारिश्रम
३७ अंजनयोग
३८. चूर्णयोग
३९. हस्तलाघव
४०. वचन-पाटव
४१. भोज्य विधि
४२. वाणिज्य विधि
४३. मुखमण्डन
४४. शालि खण्डन
४५. कथाकथन
४६. पुष्प ग्रथन
४७. वक्रोक्ति
४८. काव्यशक्ति
४९. स्फारविधिवेष
५०. सर्वभाषा विशेष
५१. अभिधान ज्ञान
५२. भूषण-परिधान
५३. भृत्योपचार
५४. गृहाचार
५५. व्याकरण
५६. परनिराकरण
५७. रन्धन
५८ केश बन्धन
५९. वीणानाद
६०. वितण्डावाद
६१. अङ्क विचार
६२. लोक व्यवहार
६३. अन्त्याक्षरिका
६४ प्रश्न प्रहेलिका[1]

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, टीका पत्र १३९-२, १४०-१। कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

भगवान् ऋषभदेव द्वारा वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ

भगवान् आदिनाथ से पूर्व भारतवर्ष में कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नही थी, सब लोगों की एक ही – मानव जाति थी। उनमें ऊच-नीच का भेद नहीं था। सब लोग बल, बुद्धि और वैभव मे प्रायः समान थे। कोई किसी के अधीन नही था। प्राप्त सामग्री से सब को संतोष था, अतः उनमें कोई जाति-भेद की आवश्यकता ही नही हुई। जब लोगों मे विषमता बढ़ी और जनमन में लोभ-मोह का संचार हुआ तो भगवान् आदिनाथ ने वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

भोग-युग से कृत-युग (कर्म-युग) का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने ग्राम, कस्बे, नगर, पत्तन आदि के निर्माण की, शिल्प एवं दान आदि की, उस समय के जन-समुदाय को शिक्षा दी।

चिर-काल से भोग-युग के अभ्यस्त उन लोगों के लिए कर्मक्षेत्र में उतर कर अथक एवं अनवरत परिश्रम करने की यह सर्वथा नवीन शिक्षा थी। इस कार्य में भगवान् को कितना अनथक प्रयास करना पड़ा होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस सब अभिनव-प्रयास के साथ ही ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन से नितान्त अनभिज्ञ उस समय के मानव का सुन्दर, शान्त और सुखमय जीवन बनाने के लिए सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाते हुए सब प्रकार से समीचीन समाज-व्यवस्था की आधारशिला रखी।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न थे, उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य मे नियुक्त कर पहिचान के लिए उस वर्ग को क्षत्रिय वर्ण की संज्ञा दी गई।

जो लोग कृषि, पशुपालन एवं वस्तुओं के क्रय-विक्रय-वितरण अर्थात् वाणिज्य में निपुण सिद्ध हुए, उन लोगों के वर्ग को वैश्य वर्ण की संज्ञा दी गई।

जिन कार्यों को करने मे क्षत्रिय और वैश्य लोग प्रायः अनिच्छा एवं अरुचि अभिव्यक्त करते, उन कार्यों को करने मे भी जिन लोगो ने तत्पर हो जन-समुदाय की सेवा में विशेष अभिरुचि प्रकट की, उस वर्ग के लोगों को शूद्र वर्ण की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार ऋषभदेव के समय में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई।[१]

भगवान् ऋषभदेव ने मानव को सर्वप्रथम सह-अस्तित्व, सहयोग, सहृदयता, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एव बन्धुभाव का पाठ पढाकर मानव के हृदय मे मानव के प्रति भ्रातृभाव को जन्म दिया। उन्होने गुण-कर्म के अनुसार वर्ण-विभाग किये, जन्म को प्रधानता नही दी और लोगो को समझाया कि सब अपना-अपना काम करते हुए एक-दूसरे के साथ प्रेम पूर्ण व्यवहार करें, किसी को तिरस्कार की भावना से न देखें।

---

[१] आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक २४३ से २४६

आदि राजा आदिनाथ का अनुपम राज्य

भरतक्षेत्र के आदि राजा ऋषभदेव का राज्य नितान्त लोक कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत ऐसा अनुपम राज्य था, जिसका यथावत् सांगोपांग चित्रण न तो वाणी द्वारा सम्भव है और न लेखिनी द्वारा ही। महाराज ऋषभदेव में पदलिप्सा लवलेश मात्र भी नहीं थी। अन्य राजाओं, प्रतिवासुदेवों, वासुदेवों एवं चक्रवर्तियों की तरह न तो उन्होंने कभी कोई दिग्विजय ही की और न राज्यसुख भोगने की कोई कामना ही। उन्हें तो प्रजा ने स्वतः अपने अन्तर्मन की प्रेरणा से राजा बनाया। जीवन निर्वाह की विधि से नितान्त अनभिज्ञ तत्कालीन मानव समाज की अभाव-अभियोग और पारस्परिक क्लेशों के कारण उत्पन्न हुई अशान्त, विक्षुब्ध, सन्त्रस्त एवं निराशापूर्ण दयनीय दशा पर द्रवित हो संकटग्रस्त मानवता की करुण पुकार और प्रार्थना सुन कर एक मात्र जनहिताय-लोक कल्याण की भावना से ही प्रभु ने अनुशासनप्रिय, स्वावलम्बी, सुसभ्य समाज की सरचना का कार्यभार सम्हाला। उन्होंने केवल मानवता के कल्याण के लिये राजा के रूप में जिस दुष्कर दायित्व को अपने ऊपर लिया, उसका अपने राज्य-काल में पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वहन किया। केवल प्रकृति पर निर्भर रहने वाले उन प्रकृति पुत्रों के शिर पर से जब कल्पवृक्ष की सुखद छाया उठ गई तब प्रभु ऋषभदेव ने अपना वरदहस्त उनके शिर पर रखा। प्रभु ने उन लोगों को स्वावलम्बी सुखी जीवन जीने के लिए १०० शिल्प, असि, मसि और कृषि – इन तीन कर्मों के अन्तर्गत आने वाले सभी प्रकार के कर्म (कार्य) और सब प्रकार की कलाओं का उन लोगों को स्वयं तथा अपनी संतति के माध्यम से उपदेश अथवा प्रशिक्षण दिया। भरत आदि के निर्देशन, देवों के साहाय्य और अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अनुभव के आधार पर मानव तीव्र गति से कर्मक्षेत्र में निरन्तर आगे की ओर बढ़ता ही गया।

और उस सब का सुखद परिणाम यह हुआ कि भारत का भूमण्डल हरे-भरे खेतों, बड़े-बड़े बगीचों, यातायात के लिये निर्मित देश के इस कोने से उस कोने तक लम्बे प्रशस्त पथों, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं वाले भवनों, ग्रामों, नगरों, पत्तनों आदि से मण्डित हो स्वर्ग तुल्य सुशोभित होने लग गया। देश के कोने-कोने में आपणिकाओं, पण्यशालाओं और घर-घर के कोष्ठागारों में अन्न, धन आदि सभी प्रकार की उपभोग्य सामग्रियों के भण्डार लग गये। अभाव-अभियोग का इस आर्य धरा से नाम तक उठ गया।

ऋषभकालीन भारत और भारतवासियों की गरिमा

प्रभु ऋषभदेव के राज्यकाल में भारत और भारतवासी सर्वतोमुखी अभ्युन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में तीर्थंकर काल का जो समुच्चय रूप से उल्लेख है, उसके आधार पर आद्य नरेश्वर ऋषभ-देव के राज्यकाल का विवरण इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

"भगवान् ऋषभदेव के समय में भरतक्षेत्र सुन्दर, समृद्ध बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण था। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता था। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख सामग्री से समृद्ध थे। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी था।"

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि आद्य राजा ऋषभदेव के समय में भारत वस्तुतः भू-स्वर्ग था। वनों में वृक्षों के नीचे जीवन यापन करने वाली मानवता को महलों में बैठाने वाला वह शिल्पी कितना महान् होगा, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि संसार में कहीं कोई उसकी उपमा ही नहीं है।

ऋषभकालीन विशाल भारत

भगवान् ऋषभदेव के राज्यकाल में भारत की सीमाएं कहां से कहां तक थीं, इस सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से सीमांकन नहीं किया जा सकता। इसका एक बहुत बड़ा कारण है भौगोलिक परिवर्तन। परिवर्तनशीला प्रकृति ने इतनी लम्बी अति दीर्घकालावधि पार कर ली कि उस समय के बहुत से ऐसे भूखण्ड जो घनी और समृद्ध मानव-बस्तियों से संकुल थे, संभव है, उन भूखण्डों पर प्रकृति की एक करवट से ही अथाह सागर हिलोरें लेने लग गया हो। यह भी संभव है कि किसी समय जहाँ समुद्र लहरें ले रहा था, वहाँ किसी काल में प्राकृतिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप समुद्र के किसी ओर दिशा में सरकते ही भूखण्ड ऊपर उभर आये हों और उन पर मानव-बस्तियां बस गई हों। यह कोई केवल कल्पना की बात नहीं। आज के युग के भू-ज्ञान विशारद वैज्ञानिक और पुरातत्ववेत्ता भी इस तथ्य को स्वीकार करते है कि आज कतिपय भूखण्ड ऐसे हैं, जो सुदीर्घातीत के किसी समय में समुद्र की अथाह जलराशि में डूबे हुए थे। वैष्णव परम्परा के पुराणों मे भी किसी मनु के समय में हुए अति भयावह जलविप्लव का उल्लेख उपलब्ध होता है। भूस्खलन, भूकम्प समुद्री तूफान, ज्वालामुखी-विस्फोट, अतिवृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों और सत्ता के लिये मानव द्वारा लड़े जाने वाले विनाशकारी युद्धो के परिणामस्वरूप होने वाले विप्लवों और परिवर्तनों का तो विश्व का इतिहास साक्षी है।

ऐसी स्थिति में महाराजाधिराज ऋषभदेव के राज्य की सीमाओ के सम्बन्ध मे साधिकारिक रूप से कहने की स्थिति मे तो संभवतः आज कोई सक्षम नहीं है। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भरतक्षेत्र के जिन खण्डो पर केवल प्रतिवासुदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती ही आधिपत्य स्थापित कर सकते हैं, उन खण्डों को छोड़ शेष सम्पूर्ण भारत की प्रजा ने स्वेच्छा से ऋषभदेव को अपना राजा मान रखा था।

प्रव्रज्या का संकल्प और वर्षीदान

आदि नरेन्द्र ऋषभदेव ने दीर्घकाल पर्यन्त लोकनायक के रूप में राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक ६३ लाख पूर्व तक प्रजा का पालन किया। उन्होंने लोक-जीवन में व्याप्त अव्यवस्था को दूर कर न्याय, नीति एवं व्यवस्था का संचार किया। तदनन्तर स्थायी शान्ति प्राप्त करने एवं निष्पाप जीवन जीने के लिये भोग-मार्ग से योग-मार्ग अपनाना आवश्यक समझा। उनका विश्वास था कि अध्यात्म-साधन के बिना मानव की शान्ति स्थायी नहीं हो सकती। यही सोचकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और शेष निन्यानवे पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर गृहस्थ जीवन के दायित्व से स्वयं छुटकारा पाया और आत्म-साधना के मार्ग पर बढ़ने का संकल्प किया।

प्रभु के इस मानसिक निश्चय को जानकर नव लोकान्तिक देवों ने अपना कर्त्तव्य पालन करने हेतु प्रभु के चरणों में प्रार्थना की – "भगवन्! सम्पूर्ण जगत् के कल्याणार्थ धर्म-तीर्थ को प्रकट कीजिये।" लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुनकर प्रभु ने वर्षी-दान प्रारम्भ किया, संसार-त्याग की भावना से उन्होंने प्रतिदिन[1] प्रभात की पुण्य वेला में एक करोड़ और आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान देना प्रारम्भ किया। प्रभु ने निरन्तर एक वर्ष तक दान किया। इस प्रकार ऋषभदेव द्वारा एक वर्ष में कुल मिला कर तीन अरब अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख सुवर्ण-मुद्राओं का दान दिया गया। दान के द्वारा उन्होंने जन-मानस में यह भावना भर दी कि द्रव्य के भोग का महत्त्व नहीं, अपितु उसके त्याग का ही महत्त्व है।

अभिनिष्क्रमण-श्रमणदीक्षा

इस प्रकार ८३ लाख पूर्व गृहस्थ-पर्याय में बिता कर चैत्र कृष्णा नवमी[2] के दिन उत्तराषाढा नक्षत्र में ऋषभदेव ने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। उन्होंने विशाल राज्य-वैभव और परिवार को छोड़कर भव्य भोग-सामग्री को तिलांजलि दी और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये देव-मानवों के विशाल समुदाय के साथ विनीता नगरी से निकल कर षष्ठभक्त के निर्जल तप से अशोक वृक्ष के नीचे अपने सम्पूर्ण पापों को त्याग कर मुनि-दीक्षा स्वीकार की और सिद्ध की साक्षी से यह प्रतिज्ञा की – "सव्वं अकरणिज्जं पाव-कम्मं पच्चक्खामि-अर्थात् हिंसा आदि सब पापकर्म अकरणीय हैं, अतः मैं उनका सर्वथा त्याग करता हूं।" शिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुंचन कर प्रभु ने बतलाया कि शिर के बालों की

---

[1] आव० नि० गाथा २३६ व २४२

[2] (अ) कल्पसूत्र, सू० १९५, पृ० ५७, पुण्य विजयजी

(आ) जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति मे चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।

(इ) हरिवंश पुराण मे चैत्र कृ० ६ का उल्लेख है।

तरह हमें पापों को भी जड़मूल से उखाड़ फेंकना है। इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् ने एक मुष्टि के बाल रहने दिये। प्रभु के इस अपूर्व त्याग-तप को देखकर देवों, दानवों और मानवों की विशाल परिषद् चित्र-लिखित सी हो गई।

इस प्रकार संयम जीवन की निर्मल साधना से ऋषभदेव सर्वप्रथम मुनि, साधु एवं परिव्राजक रूप से प्रसिद्ध हुए। इनके त्याग से प्रभावित होकर उग्रवंश, भोगवंश, राजन्य और क्षत्रिय वंश के चार हजार राजकुमारों ने उनके साथ संयम ग्रहण किया।[1] यद्यपि भगवान् ने उन्हें प्रव्रज्या नहीं दी, तथापि उन्होंने स्वयं ही प्रभु का अनुसरण कर लुंचन आदि क्रियाएं की और साधु बन कर उनके साथ विचरना प्रारम्भ किया। प्रभु के दीक्षा-ग्रहण का वह दिन असंख्य काल बीत जाने पर भी आज कल्याणक दिवस के रूप में महिमा पा रहा है।

विद्याधरों की उत्पत्ति

भगवान् ऋषभदेव जब सावद्य-त्याग रूप अभिग्रह लेकर निर्मोह भाव से विचरने लगे, तब नमि और विनमि दो राजकुमार, जो कच्छ एवं महाकच्छ के पुत्र थे, भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे— "प्रभो! आपने सबको भोग्य सामग्री दी है, हमें भी दीजिये।" इस प्रकार तीनों संध्या वे भगवान् के साथ लगे रहे। एक समय भगवान् को वन्दन करने के लिए धरणेन्द्र आया, उस समय भी नमि एवं विनमि ने भगवान् से इसी प्रकार की विनती की। यह देख कर धरणेन्द्र ने उनसे कहा— "मित्रो! सुनो, भगवान् संगरहित हैं, इनको राग-रोष भी नहीं है, यहां तक कि अपने शरीर पर भी इनका स्नेह नहीं है। अतः इनसे याचना करना ठीक नहीं। मैं भगवान् की भक्ति के लिए तुम्हे, तुम्हारी सेवा निष्फल न हो इसलिए पठन-मात्र से सिद्ध होने वाली ४८००० विद्याएं देता हूं। इनमें गौरी, गंधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति ये चार महाविद्याएं हैं। इनको लेकर जाओ और विद्याधर की ऋद्धि से देश एवं नगर बसा कर सुख से विचरो।" धरणेन्द्र से विद्याएं ग्रहण कर उन्होंने वैसा ही किया। नमि ने वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे रथनेउर आदि ५० नगर बसाये। उसी तरह विनमि ने भी उत्तर की ओर ६० नगर बसाये। नमि और विनमि ने विभिन्न देशो एवं प्रान्तो से सुसभ्य परिवारों को लाकर अपने नगर में बसाया। जो मनुष्य जिस देश से लाये गये थे, उसी नाम से वैताढ्य पर उनके जनपद स्थापित किये गये।

इस प्रकार नमि एवं विनमि ने आठ-आठ निकाय विभक्त किये और विद्या-बल से देवो के समान मनुष्य-देव सम्बन्धी भोगो का उपभोग करते हुए विचरने लगे। मनुष्य होकर भी विद्या-बल की प्रधानता से ये लोग विद्याधर कहाने लगे। और यहीं से विद्याधरों की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।[2]

---

[1] आ० नि० गाथा २४७

[2] आव० चू० प्र० भा० पृ०१६१–६२

विहारचर्या

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव दीर्घकाल तक अखंड मौनव्रती होकर तपस्या के साथ एकान्त में निर्मोह भाव से ध्यान करते हुए विचरते रहे। दिगम्बर परम्परा के 'तिलोयपण्णत्ति' नामक ग्रन्थ में दीक्षा ग्रहण करते समय ऋषभदेव द्वारा ६ उपवास का तप अंगीकार किये जाने का उल्लेख है। आचार्य जिनसेन के अनुसार प्रभु ऋषभदेव ने दीक्षा ग्रहण करते समय छह मास का[1] अनशन तप धारण कर रखा था। पर श्वेताम्बर साहित्य में छट्ठ तप से आगे उल्लेख नही मिलता, वहाँ बेले की तपस्या के पश्चात् प्रभु के भिक्षार्थ भ्रमण का विवरण मिलता है। श्वेताम्बर परम्परानुसार तपस्या बेले की ही की गई।

प्रभु घोर अभिग्रहों को धारण कर अनासक्त भाव से ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिये भ्रमण करते, पर भिक्षा एवं उसकी विधि का जन-साधारण को ज्ञान नहीं होने से, उन्हे भिक्षा प्राप्त नही होती। साथ के चार हजार श्रमण इस प्रतीक्षा में थे कि भगवान् उनकी सुधबुध लेंगे और व्यवस्था करेंगे, पर दीर्घकाल के बाद भी जब भगवान् कुछ नहीं बोले तो वे सब अनुगामी श्रमण भूख-प्यास आदि परीषहों से संत्रस्त होकर वल्कलधारी तापस हो गये।[2] कुलाभिमान व भरत के भय से वे पुनः घर में तो नहीं गये पर कष्टसहिष्णुता और विवेक के अभाव में सम्यक् साधना से पथच्युत होकर परिव्राजक बन गये और वन में आकर वन्य फल-फूलादि खाते हुए अपना जीवन-यापन करने लगे।

भगवान् आदिनाथ जो वीतराग थे, लाभालाभ में समचित्त होकर अग्लान भाव से ग्राम, नगर आदि मे विचरते रहे। भावुक भक्तजन आदिनाथ प्रभु को अपने यहाँ आये देखकर प्रसन्न होते। कोई अपनी सुन्दर कन्या, कोई उत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषण, कोई हस्ती, अश्व, रथ, वाहन, छत्र, सिंहासनादि और कोई फलफूल आदि प्रस्तुत कर उन्हें ग्रहण करने की प्रार्थना करता, किन्तु विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नही आता। भगवान् ऋषभदेव इन सारे उपहारो को अकल्पनीय मानकर बिना ग्रहण किये ही उलटे पैरों खाली हाथ लौट जाते।

भगवान् का प्रथम पारणा

इस प्रकार भिक्षा के लिये विचरण करते हुए ऋषभदेव को लगभग एक वर्ष से अधिक समय हो गया, फिर भी उनके मन में कोई ग्लानि पैदा नही हुई। एक दिन भ्रमण करते हुए प्रभु कुरु जनपद मे हस्तिनापुर पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे। उन्होने रात्रि में स्वप्न देखा – "सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का (कान्तिहीन) होगया है, उसको मैंने अमृत

---

[1] षण्मासानशनं धीरः, प्रतिज्ञाय महाधृतिः।
योगैकाग्र्यनिरुद्धान्त – बहिष्करण विक्रियः। महा. पु. १८ (१

[2] ते ते चत्तारि सहस्सा ते भिक्खं अलभंता तेण माणेण घरं ण जंति भरहस्स य भयेणं, पच्छा वणमतिगता तावसा जाता ·····। आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १६२

से सिंचित कर पुनः चमकाया है।"[1] दूसरी ओर सुबुद्धि श्रेष्ठि को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणें जो अपने स्थान से चलित हो रही थीं, श्रेयांस ने उनको पुनः सूर्य मे स्थापित कर दिया; इससे वह अधिक चमकने लगा।[2] महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न देखा कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए किसी बड़े सामन्त को श्रेयांस ने सहायता प्रदान की। और श्रेयांस की सहायता से उसने शत्रु-सैन्य को हटा दिया।[3] प्रातःकाल तीनों मिलकर अपने-अपने स्वप्न पर चिंतन करने लगे, और सब एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे कि श्रेयांस कुमार को अवश्य ही कोई विशिष्ट लाभ प्राप्त होने वाला है।[4]

उसी दिन पुण्योदय से भगवान् ऋषभदेव विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे। बहुत काल के पश्चात् भगवान् के दर्शन पाकर नगरजन अत्यन्त प्रसन्न हुए। जब श्रेयांसकुमार ने राजमार्ग पर भ्रमण करते हुए भगवान् ऋषभदेव को देखा तो उनके दर्शन करते ही श्रेयांस के मन में जिज्ञासा हुई और ऊहापोह करते हुए, चिन्तन करते हुए उन्हे ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वभव की स्मृति से उन्होंने जाना कि ये प्रथम तीर्थंकर हैं। आरम्भ परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी हैं। इन्हें निर्दोष आहार देना चाहिये। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि भवन में सेवक पुरुषों द्वारा इक्षु-रस के घड़े लाये गये। परम प्रसन्न होकर श्रेयांसकुमार सात-आठ कदम भगवान् के सामने गये और प्रदक्षिणापूर्वक भगवान् को वन्दन कर स्वयं इक्षु-रस का घड़ा लेकर आये तथा त्रिकरण शुद्धि से प्रतिलाभ देने की भावना से भगवान् के पास आये और बोले – "प्रभो! क्या, कल्प है?" भगवान् ने अञ्जलिपुट आगे बढ़ाया तो श्रेयांस ने प्रभु की अंजलि में सारा रस उंडेल दिया। भगवान् अछिद्रपाणि थे अतः रस की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरने पाई। भगवान् ने वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया। श्रेयांस को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय देवों ने पंच-दिव्य की वर्षा की और 'अहो दानं, अहो दानं' की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। श्रेयांस ने प्रभु को वर्षी-तप का पारणा करवा कर महान् पुण्य का सचय किया और अशुभ कर्मों की निर्जरा की। उस युग के वे प्रथम भिक्षा दाता हुए। आदिनाथ ने जगत् को सबसे पहले तप का पाठ पढाया तो श्रेयांसकुमार ने भिक्षा-दान की विधि से अनजान मानव-समाज को सर्वप्रथम भिक्षा-दान की विधि बतलाई। प्रभु के पारणे का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण लोक में आखा-तीज या अक्षय-तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज भी सर्वजन-विश्रुत पर्व माना जाता है।

---

[1] आ० चू० पृ० १६२-६३

[2] आ० चू० पृ० १६२-६३

[3] आ० म० २१७-१८

[4] आ० म० गिरि टीका पत्र २१८

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन षष्ठ भक्त अर्थात् बेले की तपस्या के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की और यदि दूसरे वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयांश कुमार के यहां प्रथम पारणा किया तो यह उनकी पूरे एक वर्ष की ही तपस्या न होकर चैत्र कृष्णा अष्टमी से वैशाख शुक्ला तृतीया तक तेरह मास और दश दिन की तपस्या हो गई। ऐसी स्थिति में – "संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" समवायांग सूत्र के इस उल्लेख के अनुसार प्रभु आदिनाथ के प्रथम तप को संवत्सर तप कहा है, उसके साथ संगति किस प्रकार बैठती है ? क्योंकि अक्षय तृतीया के दिन प्रभु का प्रथम पारणक मानने की दशा में भगवान् का प्रथम तप १३ मास और १० दिन का हो जाता है और शास्त्र में प्रभु का प्रथम तप एक सवत्सर का तप माना गया है।

वस्तुतः यह कोई आज का नवीन प्रश्न नहीं। यह एक बहुचर्चित प्रश्न है। अनेक विचारकों की ओर से इस सम्बन्ध में शास्त्रीय पाठों के उद्धरण आदि के साथ साथ कतिपय युक्तियां-प्रयुक्तियां समय-समय पर प्रस्तुत की जाती रही हैं। किन्तु वस्तुत. अद्यावधि इस प्रश्न का कोई सर्वसम्मत समुचित हल नहीं निकल पाया है। एक मात्र इस लक्ष्य से कि तथ्य क्या है, इस प्रश्न पर और भी गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

इस प्रश्न का समुचित समाधान प्राप्त करने का प्रयास करते समय सर्व प्रथम इस तथ्य को ध्यान मे रखना होगा कि सूत्रों में अनेक स्थलो पर सूत्र के मूल लक्षण वाली सक्षेपात्मक शैली को अपनाकर काल-गणना करते समय बड़े काल के साथ जहां छोटा काल भी सम्मिलित है, वहां प्राय. छोटे काल को छोड़ कर केवल बड़े काल का ही उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के रूप मे देखा जाय तो स्थानांग सूत्र के नवम स्थान में जहां भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना के समय पर प्रकाश डाला गया है, वहां सूत्र के मूल लक्षण के अनुरूप सक्षेप शैली को अपना कर निम्नलिखित उल्लेख किया गया है :–

"उसभेणं अरहया कोसलिएणं इमीसे ओसप्पिणीए णवहिं सागरोवम कोडाकोडीहिं विइक्कतेहिं तित्थे पवत्तिए।"

इस सूत्र का सीधा शब्दार्थ किया जाय तो यही होगा कि कौशलिक अर्हत् भगवान् ऋषभदेव ने इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम काल के व्यतीत हो जाने पर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया।

क्या कोई, शास्त्रो का साधारण से साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इस सीधे से अर्थ को अक्षरश मानने के लिये तैयार है ? कदापि नहीं। लाख बार समझाने पर भी इस सूत्र का यह अक्षरश शब्दार्थ किसी के गले नहीं उतरेगा। क्योंकि यह निर्विवाद तथ्य है कि इस सूत्र मे जो समय बताया गया है, उस समय से तीन वर्ष और साढ़े आठ मास पूर्व ही भगवान् ऋषभदेव का

निर्वाण हो चुका था, साधु-साध्वियों को मिला कर प्रभु के ६०,००० अन्तेवासी भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके थे। इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत हो जाने पर तो प्रभु अनन्त-अव्यय-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवधाम में विराजमान थे। आदि प्रभु तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने वस्तुतः धर्मतीर्थ का प्रवर्तन उस समय किया जब कि इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीय होने में एक हजार तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन कम एक लाख पूर्व का सुदीर्घ समय अवशिष्ट था – बाकी था – शेष था।

इस प्रकार की स्थिति मे "लकीर के फकीर" की कहावत को चरितार्थ करते हुए यदि कोई व्यक्ति हठधर्मिता का आश्रय लेकर उपर्युक्त सूत्र का यथावत् अक्षरश शब्दार्थ किसी विज्ञ से मनवाने का प्रयास करे तो उसका शास्त्रीयता के नाम पर किया गया वह प्रयास शास्त्र की भावना से पूर्णतः प्रतिकूल ही होगा।

इसमें कभी कोई दो राय नही हो सकती कि इस सूत्र में संक्षेप शैली को अपना कर एक हजार तीन वर्ष और साढे आठ मास कम एक लाख पूर्व की अवधि का उल्लेख न करते हुए मोटे रूप से ९ कोटाकोटि सागरोपम की अवधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भगवान् महावीर के जीवनकाल का भी है। शास्त्रो मे उल्लेख है कि भगवान् महावीर ३० वर्ष गृहस्थावस्था मे और ४२ वर्ष तक (छद्मस्थ काल और केवली-काल मिला कर) साधक जीवन मे रह कर ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए। स्थानांग सूत्र मे भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे बारह वर्ष और तेरह पक्ष अर्थात् साढे बारह वर्ष और १५ दिन तक छद्मस्थावस्था में रहे।[1] आचाराग सूत्र मे प्रभु के छद्मस्थ काल को सक्षेप शैली मे उल्लेख करते हुए बारह वर्ष का ही बताया गया है।[2] इसी प्रकार प्रभु महावीर का केवली-पर्याय ३० वर्ष का माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के सयमित जीवन में से साढे बारह वर्ष और १५ दिन का छद्मस्थ काल का समय निकाल देने पर वस्तुतः उनके केवल ज्ञान का काल २९ वर्ष, ५ मास और १५ दिन का ही होता है।

ठीक इसी प्रकार दीक्षा के समय भगवान् ऋषभदेव द्वारा ग्रहण किया गया वेले का तप भिक्षा न मिलने के कारण १२ मास से भी अधिक समय तक चलता रहा और जब श्रेयांशकुमार से प्रभु को भिक्षा मिली तो शास्त्र मे उसी

---

[1] दुवालस सवच्छराइ तेरस पक्ख छउमत्थ.......

(स्थानांग सूत्र, स्था० ९, उ० ३, सूत्र ६९३, अमोलकऋषि जी म० सा० द्वारा अनूदित, पृ० ८१६)

[2] ...बारस वासाई वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति....ते सव्वे उवसग्गे, समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥

(आचाराग सूत्र, श्रु० २, अ० २३)

सूत्र-लक्षणानुसारिणी संक्षेप-शैली मे उस घटना का उल्लेख – "संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" – इस रूप मे किया। तो "सवच्छरेण भिक्खा लद्धा" – यह वस्तुत व्यवहार-वचन है। व्यवहार-वचन मे एक वर्ष से ऊपर के दिन अल्प होने के कारण, गणना मे उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर सवत्सर तप कह दिया गया है। जैसा कि ऊपर दो शास्त्रीय उद्धरणो के साथ बताया गया है कि शास्त्र मे इस प्रकार के कतिपय उल्लेख मिलते हैं, जिनमे काल की न्यूनाधिकता होने पर भी व्यवहार दृष्टि से बाधा नही मानी जाती। दीक्षाकाल से भिक्षाकाल पर्यन्त १३ मास और १० दिन तक प्रभु निर्जल और निराहार रहे, उस समय को शास्त्र मे व्यवहार भाषा मे 'सवच्छर' कहा गया है। कालान्तर मे इसे व्यवहार भाषा मे सभव है वर्षी-तप के नाम से अभिहित किया जाने लगा हो।

शास्त्र मे तो "सवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" – इस उल्लेख के अतिरिक्त किसी मास अथवा तिथि का उल्लेख नही मिलता। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे भगवान् ऋषभदेव का सार रूप मे जीवन-वृत्त दिया हुआ है, पर वहाँ दीक्षा के समय प्रभु के बेले के तप के अतिरिक्त कितने समय तक भिक्षा नही मिली, अन्त मे किस दिन, किस मास मे भिक्षा मिली एतद्विषयक कोई उल्लेख नही है।

हा, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे भगवान् ऋषभदेव को प्रथम भिक्षा मिलने के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है, उनसे यह स्पष्टत: प्रकट होता है कि भगवान् ऋषभदेव को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से भी अधिक समय बीत जाने पर प्रथम भिक्षा मिली।

जिन ग्रन्थो मे भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक के सम्बन्ध में उल्लेख उपलब्ध होते है, उनमे से कतिपय मे प्रभु के पारणक की तिथि का कोई उल्लेख नही है किन्तु तीन ग्रन्थो मे स्पष्ट उल्लेख है कि प्रभु आदिनाथ का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ। जिन ग्रन्थो मे पारणक की तिथि का उल्लेख नहीं है, वे हैं – वसुदेवहिण्डी तथा हरिवशपुराण और जिन ग्रन्थो मे अक्षय तृतीया के दिन प्रभु का प्रथम पारणक होने का उल्लेख है, वे है – खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और अपभ्रश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण।

विक्रम की सातवी शताब्दी के जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के समकालीन संघदासगणि ने वसुदेव हिण्डी मे भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक का उल्लेख निम्नलिखित रूप मे किया है –

"भयव पियामहो निराहारो परमधिति बल सायरो सयंभुसागरो इव थिमियो पसाउलो संवच्छर विहरइ, पत्तो य हत्थिणाउरं। तत्थ य बाहुबलिस्स सुओ सोमप्पहो, तस्स य पुत्तो सेज्जसो।..."

निर्वाण हो चुका था, साधु-साध्वियों को मिला कर प्रभु के ६०,००० अन्तेवासी भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके थे। इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत हो जाने पर तो प्रभु अनन्त-अव्यय-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवधाम में विराजमान थे। आदि प्रभु तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने वस्तुतः धर्मतीर्थ का प्रवर्तन उस समय किया जब कि इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत होने में एक हजार तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन कम एक लाख पूर्व का सुदीर्घ समय अवशिष्ट था – बाकी था – शेष था।

इस प्रकार की स्थिति में "लकीर के फकीर" की कहावत को चरितार्थ करते हुए यदि कोई व्यक्ति हठधर्मिता का आश्रय लेकर उपर्युक्त सूत्र का यथावत् अक्षरशः शब्दार्थ किसी विज्ञ से मनवाने का प्रयास करे तो उसका शास्त्रीयता के नाम पर किया गया वह प्रयास शास्त्र की भावना से पूर्णतः प्रतिकूल ही होगा।

इसमें कभी कोई दो राय नहीं हो सकती कि इस सूत्र में संक्षेप शैली को अपना कर एक हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम एक लाख पूर्व की अवधि का उल्लेख न करते हुए मोटे रूप से ९ कोटाकोटि सागरोपम की अवधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भगवान् महावीर के जीवनकाल का भी है। शास्त्रों में उल्लेख है कि भगवान् महावीर ३० वर्ष गृहस्थावस्था में और ४२ वर्ष तक (छद्मस्थ काल और केवली-काल मिला कर) साधक जीवन में रह कर ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए। स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे बारह वर्ष और तेरह पक्ष अर्थात् साढ़े बारह वर्ष और १५ दिन तक छद्मस्थावस्था में रहे।[1] आचारांग सूत्र में प्रभु के छद्मस्थ काल को संक्षेप शैली में उल्लेख करते हुए बारह वर्ष का ही बताया गया है।[2] इसी प्रकार प्रभु महावीर का केवली-पर्याय ३० वर्ष का माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के संयमित जीवन में से साढ़े बारह वर्ष और १५ दिन का छद्मस्थ काल का समय निकाल देने पर वस्तुतः उनके केवल ज्ञान का काल २९ वर्ष, ५ मास और १५ दिन का ही होता है।

ठीक इसी प्रकार दीक्षा के समय भगवान् ऋषभदेव द्वारा ग्रहण किया गया बेले का तप भिक्षा न मिलने के कारण १२ मास से भी अधिक समय तक चलता रहा और जब श्रेयांशकुमार से प्रभु को भिक्षा मिली तो शास्त्र में उसी

---

[1] दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ.......

(स्थानांग सूत्र, स्था० ९, उ० ३, सूत्र ६९३, अमोलकऋषि जी म० सा० द्वारा अनूदित, पृ० ८१६)

[2] ....बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति....ते सव्वे उवसग्गे, समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥

(आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० २३)

सूत्र-लक्षणानुसारिणी संक्षेप-शैली मे उस घटना का उल्लेख – "संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" – इस रूप मे किया। तो "सवच्छरेण भिक्खा लद्धा" – यह वस्तुत व्यवहार-वचन है। व्यवहार-वचन मे एक वर्ष से ऊपर के दिन अल्प होने के कारण, गणना मे उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर सवत्सर तप कह दिया गया है। जैसा कि ऊपर दो शास्त्रीय उद्धरणो के साथ बताया गया है कि शास्त्र मे इस प्रकार के कतिपय उल्लेख मिलते हैं, जिनमे काल की न्यूनाधिकता होने पर भी व्यवहार दृष्टि से बाधा नही मानी जाती। दीक्षाकाल से भिक्षाकाल पर्यन्त १३ मास और १० दिन तक प्रभु निर्जल और निराहार रहे, उस समय को शास्त्र मे व्यवहार भाषा मे 'सवच्छर' कहा गया है। कालान्तर मे इसे व्यवहार भाषा मे सभव है वर्षी-तप के नाम से अभिहित किया जाने लगा हो।

शास्त्र मे तो "सवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण" – इस उल्लेख के अतिरिक्त किसी मास अथवा तिथि का उल्लेख नही मिलता। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे भगवान् ऋषभदेव का सार रूप मे जीवन-वृत्त दिया हुआ है, पर वहां दीक्षा के समय प्रभु के बेले के तप के अतिरिक्त कितने समय तक भिक्षा नही मिली, अन्त मे किस दिन, किस मास मे भिक्षा मिली एतद्विषयक कोई उल्लेख नही है।

हा, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के साहित्य मे भगवान् ऋषभदेव को प्रथम भिक्षा मिलने के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है, उनसे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि भगवान् ऋषभदेव को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से भी अधिक समय बीत जाने पर प्रथम भिक्षा मिली।

जिन ग्रन्थो मे भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक के सम्बन्ध में उल्लेख उपलब्ध होते है, उनमे से कतिपय मे प्रभु के पारणक की तिथि का कोई उल्लेख नही है किन्तु तीन ग्रन्थों मे स्पष्ट उल्लेख है कि प्रभु आदिनाथ का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ। जिन ग्रन्थो मे पारणक की तिथि का उल्लेख नहीं है, वे है – वसुदेवहिण्डी तथा हरिवशपुराण और जिन ग्रन्थो मे अक्षय तृतीया के दिन प्रभु का प्रथम पारणक होने का उल्लेख है, वे है – खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और अपभ्रश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण।

विक्रम की सातवी शताब्दी के जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के समकालीन सघदासगणि ने वसुदेव हिण्डी मे भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक का उल्लेख निम्नलिखित रूप मे किया है –

"भयवं पियामहो निराहारो परमधिति बल सायरो सयंभुसागरो इव थिमियो अणाउलो संवच्छरं विहरइ, पत्तो य हत्थिणाउरं। तस्य य बाहुबलिस्स सुओ सोमप्पहो, तस्स य पुत्तो सेज्जंसो।..."

निर्वाण हो चुका था, साधु-साध्वियों को मिला कर प्रभु के ६०,००० अन्तेवासी भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके थे। इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत हो जाने पर तो प्रभु अनन्त-अव्यय-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवधाम में विराजमान थे। आदि प्रभु तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने वस्तुत. धर्मतीर्थ का प्रवर्तन उस समय किया जब कि इस अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीय होने में एक हजार तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन कम एक लाख पूर्व का सुदीर्घ समय अवशिष्ट था – बाकी था – शेष था।

इस प्रकार की स्थिति मे "लकीर के फकीर" की कहावत को चरितार्थ करते हुए यदि कोई व्यक्ति हठधर्मिता का आश्रय लेकर उपर्युक्त सूत्र का यथावत् अक्षरश. शब्दार्थ किसी विज्ञ से मनवाने का प्रयास करे तो उसका शास्त्रीयता के नाम पर किया गया वह प्रयास शास्त्र की भावना से पूर्णत. प्रतिकूल ही होगा।

इसमे कभी कोई दो राय नही हो सकती कि इस सूत्र में सक्षेप शैली को अपना कर एक हजार तीन वर्ष और साढ़े आठ मास कम एक लाख पूर्व की अवधि का उल्लेख न करते हुए मोटे रूप से ९ कोटाकोटि सागरोपम की अवधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भगवान् महावीर के जीवनकाल का भी है। शास्त्रो मे उल्लेख है कि भगवान् महावीर ३० वर्ष गृहस्थावस्था मे और ४२ वर्ष तक (छद्मस्थ काल और केवली-काल मिला कर) साधक जीवन मे रह कर ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए। स्थानांग सूत्र मे भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे बारह वर्ष और तेरह पक्ष अर्थात् साढे बारह वर्ष और १५ दिन तक छद्मस्थावस्था में रहे।[1] आचाराग सूत्र मे प्रभु के छद्मस्थ काल को सक्षेप शैली मे उल्लेख करते हुए बारह वर्ष का ही बताया गया है।[2] इसी प्रकार प्रभु महावीर का केवली-पर्याय ३० वर्ष का माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के सयमित जीवन में से साढे बारह वर्ष और १५ दिन का छद्मस्थ काल का समय निकाल देने पर वस्तुत उनके केवल ज्ञान का काल २९ वर्ष, ५ मास और १५ दिन का ही होता है।

ठीक इसी प्रकार दीक्षा के समय भगवान् ऋषभदेव द्वारा ग्रहण किया गया बेले का तप भिक्षा न मिलने के कारण १२ मास से भी अधिक समय तक चलता रहा और जब श्रेयांसकुमार से प्रभु को भिक्षा मिली तो शास्त्र में उसी

---

[1] दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ..........

(स्थानाग सूत्र, स्था० ९, उ० ३, सूत्र ६९३, अमोलकऋषि जी म० सा० द्वारा अनूदित, पृ० ८१६)

[2] ....बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति....ते सव्वे उवसग्गे, समुप्पण्णे समाणे सम्म सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥

(आचाराग सूत्र, श्रु० २, अ० २३)

....

दित्सुरिक्षुरसापूर्णं कुम्भमुधृत्य सोऽब्रवीत् ॥१८६॥

....

मुक्तं दायकदोषैश्च, गृहाण प्रासुकं रसम् ॥१८८॥
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम् ।
समपादस्थितश्चक्रे, दर्शयन् क्रियया विधिम् ॥१८६॥
अहो दानमहो दानमहो पात्रमहो क्रम.।
साधु साध्विति खे नाद., प्रादुरासीद्दिवौकसाम् ॥१६१॥[1]

सारांशतः – छः मास का तप पूर्ण होने पर ध्यान का उपसंहार कर भ० ऋषभदेव भिक्षा हेतु भ्रमण करने के लिये प्रस्थित हुए। अपने घर आये हुए प्रभु को देख कर लोग निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह जाते, उनके हर्ष का पारावार नही रहता। किन्तु उस समय के लोग भिक्षादान की विधि से नितान्त अनभिज्ञ थे, अतः प्रभु को समय पर भिक्षार्थ भ्रमण करते रहने पर भी कहीं विशुद्ध आहार-पानीय नही मिला। इस प्रकार ६ मास तक भ० ऋषभदेव निराहार ही विभिन्न ग्राम नगरादि में भ्रमण करते रहे। तदनन्तर वे हस्तिनापुर पधारे। श्रेयांसकुमार ने उन्हें देखा। श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वभव की स्मृति से दान देने की विधि को जान कर उसने प्रभु को इक्षुरस से पारण करवाया। अहो दान! अहो दाता! अहो पात्र! के निर्घोषों, देवदुदुभियों के निनाद और साधु-साधु! के साधुवादो से नभोमण्डल आपूरित हो गया। देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की।

इन श्लोकों मे "षण्मासानविषण्णधी.··· विजहार महिं क्रमाद्" के पश्चात् 'सम्प्राप्तोऽथ·····इभपुरिं विभुः।" यह पदविन्यास मननीय है। ६ मास के तप के पूर्ण होने पर ६ मास तक निराहार विचरण करते रहे। इस वाक्य के पश्चात् "अथ" शब्द के प्रयोग से यही अर्थ प्रकट होता है कि ६ मास तक निराहार विचरण करने के पश्चात् विहार क्रम से भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे। पर कितने दिन पश्चात् पधारे, यह इससे स्पष्ट नहीं होता। पारणक की तिथि का उल्लेख न कर एक प्रकार से हरिवंशपुराणकार ने भी इस प्रश्न को पहेली के रूप में ही रख दिया है।

जिन तीन प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भ० ऋषभदेव का पारणा वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन अर्थात् अक्षय तृतीया को हुआ, उनमें से पहला उल्लेख है खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली का। उसमें लगभग ७०० वर्ष पूर्व की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा गया है :– श्री पूज्याः श्री जावालिपुरे समायाताः। तत्र च श्री जिनप्रबोध सूरिभिः······ प्रवरगभीरिमाधरीकृतवार्धयः श्री जिन-चन्द्रसूरयः सं० १३४१ श्री युगादिदेव-

[1] हरिवंशपुराण, सर्ग ६

"...तो सो पासायग्गे आगच्छमाणं पियामहं पस्समाणो चितेइ-कत्थ मण्णे मए एरिसी आगिई दिट्ठपुव्व ? त्ति, मग्गणं करेमाणस्स तदावरण खओवसमेण जाइसरण जायं।... ततो परमहरिसियो पडिलाहेइ सामि खोयरसेणं। भयवं अच्छिद्दपाणी पडिगाहेइ। ततो देवेहिं मुक्का पुप्फवुट्ठी, निवडिया वसुधारा, दुदुहिओ समाहयाओ, चेलुक्खेवो कओ, अहो दाण त्ति आगासे सद्दो कओ।"

इस गद्य का सार यह है कि प्रभु सवत्सर तक निराहार विचरण करते रहे और हस्तिनापुर आये। वहां उन्हे देखते ही श्रेयासकुमार को ईहापोह करने पर जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने भ० ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया। इस गद्य में सघदास गरिण ने पारणक की तिथि का उल्लेख नही किया है। "संवच्छर विहरइ" वर्ष भर तक विचरण करते रहे। "पत्तो य हत्थिणाउरं" दूसरे दिन ही आ गये या कुछ दिनों पश्चात् ? इस शंका के लिये यहाँ अवकाश रख दिया है। एक सवत्सर का तप पूर्ण होते ही भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर में पहुँचते तो निश्चित रूप से सघदास गरिण "पत्तो य बिइये दिवसे हत्थिणाउरं" इस प्रकार स्पष्ट लिखते, पर ऐसा नही लिखने से शका के लिये थोड़ा अवकाश रह ही गया है। यदि कतिपय दिवसानन्तर पहुँचे होते तो उस दशा मे "पत्तो य कइवय दिवसाणतर हत्थिणाउर" – इस प्रकार का भी उल्लेख कर सकते थे।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवश पुराण का एतद्विषयक उल्लेख इस प्रकार है –

षण्मासानशनस्यान्ते, सहृतप्रतिमास्थितिः।
प्रतस्थे पदविन्यासैः, क्षिति पल्लवयन्निव ।।१४२।।

तथा यथागम नाथः, षण्मासानविषण्णधी.।
प्रजाभि पूज्यमान. सन्, विजहार महिं क्रमात् ।।१५६।।

सम्प्राप्तोऽथ सदादानैरिभैरिभपुर विभु ।
दानप्रवृत्तिरत्रेति, सूचयद्भिरिवाञ्चितम् ।।१५७।।

स श्रेयानीक्षमाणस्त, निमेषरहितेक्षण ।
रूपमीदृक्षमद्राक्षं, क्वचित् प्रागित्यधान्मन ।।१८०।।

दीप्रेणाप्युपशान्तेन, स तद्रूपेण बोधित ।
दशात्मेशभवान् बुद्धवा, पादावाश्रित्य मूर्च्छित ।।१८१।।

श्रीमतीवज्रजघाभ्या. दत्त दान पुरा यथा।
चारणाभ्या स्वपुत्राभ्या, मस्मृत्य जिनदर्शनात् ।।१८३।।

भगवन् तिष्ठ तिष्ठेति, चोक्त्वा नीतो गृहान्तरे।
उच्चै स आसने स्थाप्य, धौततद्पादपकज ।।१८४।।

"....तो सो पासायग्गे आगच्छमाणं पियामहं पस्समाणो चिंतेइ-कत्थ मण्णे मए एरिसी आगिई दिट्ठपुव्व ? त्ति, मग्गणं करेमाणस्स तदावरण खग्रोवसमेण जाइसरणं जाय।....ततो परमहरिसियो पडिलाहेइ सामिं खोयरसेणं। भयवं अच्छिद्दपाणी पडिगाहेइ। ततो देवेहिं मुक्का पुप्फवुट्ठी, निवडिया वसुधारा, दुदुहिश्रो समाहयाओ, चेलुक्खेवो कओ, अहो दाण त्ति आगासे सद्दो कओ।"

इस गद्य का सार यह है कि प्रभु सवत्सर तक निराहार विचरण करते रहे और हस्तिनापुर आये। वहा उन्हे देखते ही श्रेयासकुमार को ईहापोह करने पर जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने भ० ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया। इस गद्य मे सघदास गणि ने पारणक की तिथि का उल्लेख नहीं किया है। "संवच्छर विहरइ" वर्ष भर तक विचरण करते रहे। "पत्तो य हत्थिणाउर" दूसरे दिन ही आ गये या कुछ दिनो पश्चात् ? इस शंका के लिये यहाँ अवकाश रख दिया है। एक सवत्सर का तप पूर्ण होते ही भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर में पहुँचते तो निश्चित रूप से सघदास गणि "पत्तो य बिइये दिवसे हत्थिणाउरं" इस प्रकार स्पष्ट लिखते, पर ऐसा नही लिखने से शका के लिये थोड़ा अवकाश रह ही गया है। यदि कतिपय दिवसानन्तर पहुँचे होते तो उस दशा मे "पत्तो य कइवय दिवसाणतर हत्थिणाउर" – इस प्रकार का भी उल्लेख कर सकते थे।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवंश पुराण का एतद्विषयक उल्लेख इस प्रकार है :-

षण्मासानशनस्यान्ते, सहृतप्रतिमास्थिति ।
प्रतस्थे पदविन्यासै., क्षितिं पल्लवयन्निव ।।१४२।।

तथा यथागम नाथ:, षण्मासानविषण्णधी ।
प्रजाभि पूज्यमान. सन्, विजहार महीं क्रमात् ।।१५६।।

सम्प्राप्तोऽथ सदादानैरिभैरिभपुर विभु ।
दानप्रवृत्तिरत्रेति, सूचयद्भिरिवाचितम् ।।१५७।।

स श्रेयानीक्षमाणस्त, निमेषरहितेक्षण ।
रूपमीदृक्षमद्राक्ष, क्वचित् प्रागित्यधान्मन ।।१८०।।

दीप्रेणाप्युपशान्तेन, स तद्रूपेण बोधित ।
दशास्मेशभवान् बुद्ध्वा, पादावाश्रित्य मूर्च्छित ।।१८१।।

श्रीमतीवज्रजघाभ्या दत्त दान पुरा यथा।
चारणाभ्या स्वपुत्राभ्या, सस्मृत्य जिनदर्शनात् ।।१८३।।

भगवन् तिष्ठ तिष्ठेति, चोक्त्वा नीतो गृहान्तरे ।
उच्चै स आसने स्थाप्य, धौततत्पादपंकज: ।।१८४।।

....

दित्सुरिक्षुरसापूर्णं कुम्भमुवृत्य सोऽब्रवीत् ।।१८६।।

....

मुक्तं दायकदोषैश्च, गृहाण प्रासुकं रसम् ।।१८८।।
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम् ।
समपादस्थितश्चक्रे, दर्शयन् क्रियया विधिम् ।।१८९।।
अहो दानमहो दानमहो पात्रमहो क्रमः ।
साधु साध्विति खे नादः, प्रादुरासीद्दिवौकसाम् ।।१९१।।[1]

सारांशतः—छः मास का तप पूर्ण होने पर ध्यान का उपसहार कर भ० ऋषभदेव भिक्षा हेतु भ्रमण करने के लिये प्रस्थित हुए। अपने घर आये हुए प्रभु को देख कर लोग निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह जाते, उनके हर्ष का पारावार नही रहता। किन्तु उस समय के लोग भिक्षादान की विधि से नितान्त अनभिज्ञ थे, अतः प्रभु को समय पर भिक्षार्थ भ्रमण करते रहने पर भी कहीं विशुद्ध आहार-पानीय नहीं मिला। इस प्रकार ६ मास तक भ० ऋषभदेव निराहार ही विभिन्न ग्राम नगरादि में भ्रमण करते रहे। तदनन्तर वे हस्तिनापुर पधारे। श्रेयांसकुमार ने उन्हें देखा। श्रेयासकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वभव की स्मृति से दान देने की विधि को जान कर उसने प्रभु को इक्षुरस से पारण करवाया। अहो दान ! अहो दाता ! अहो पात्र ! के निर्घोषों, देवदुंदुभियों के निनाद और साधु-साधु ! के साधुवादों से नभोमण्डल आपूरित हो गया। देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की।

इन श्लोको मे "षण्मासानविषण्णधी.···· विजहार महि क्रमात्" के पश्चात् 'सम्प्राप्तोऽथ····इभपुरिं विभुः।" यह पदविन्यास मननीय है। ६ मास के तप के पूर्ण होने पर ६ मास तक निराहार विचरण करते रहे। इस वाक्य के पश्चात् "अथ" शब्द के प्रयोग से यही अर्थ प्रकट होता है कि ६ मास तक निराहार विचरण करने के पश्चात् विहार क्रम से भ० ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे। पर कितने दिन पश्चात् पधारे, यह इससे स्पष्ट नही होता। पारणक की तिथि का उल्लेख न कर एक प्रकार से हरिवंशपुराणकार ने भी इस प्रश्न को पहेली के रूप में ही रख दिया है।

जिन तीन प्राचीन ग्रन्थों मे इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भ० ऋषभदेव का पारणा वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन अर्थात् अक्षय तृतीया को हुआ, उनमें से पहला उल्लेख है खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली का। उसमें लगभग ७०० वर्ष पूर्व की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा गया है :—
श्री पूज्या. श्री जाबालिपुरे समायाताः। तत्र च श्री जिनप्रबोध सूरिभिः········ प्रवरगभीरिमाधरीकृतवार्धयः श्री जिन-चन्द्रसूरयः सं० १३४१ श्री युगादिदेव-

[1] हरिवंशपुराण, सर्ग ६

पारणक-पवित्रितायां वैशाखशुक्लाक्षय-तृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः ।[1]

इस उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व जैनसंघ मे यह मान्यता न केवल प्रचलित ही थी अपितु लोकप्रिय और लोकप्रसिद्ध भी थी कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन हुआ था ।

"भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ" – इस प्रकार का पूर्णत. स्पष्ट दूसरा उल्लेख है आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" का जो खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली के एतद्विषयक उपर्युक्त उल्लेख से लगभग १२० वर्ष और आज से ८१२ वर्ष पूर्व का है । वह उल्लेख इस प्रकार है .–

आर्यानार्येषु मौनेन, विहरन् भगवानपि ।
संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम् ।।२३८।।
प्रदीपा इव तैलेन, पादपा इव वारिणा ।
आहारेणैव वर्तन्ते, शरीराणि शरीरिणाम् ।।२३९।।
स्वामी मनसि कृत्यैव, भिक्षार्थं चलितस्तत. ।
पुरं गजपुरं प्राप, पुरमण्डलमण्डनम् ।।२४३।।
दृष्ट्वा स्वामिनमायान्त, युवराजोऽपि तत्क्षणम् ।
अधावत् पादचारेण, पत्तीनप्यतिलंघयन् ।।२७७।।
गृहांगणजुषो भर्तुर्लुठित्वा पादपकजे ।
श्रेयांसोऽमार्जयत् केशैर्भ्रमरभ्रमकारिभि: ।।२८०।।
ईदृग् क्व मया दृष्ट, लिगमित्यभिचिन्तयन् ।
विवेकशाखिनो बीज, जातिस्मरणमाप स: ।।२८३।।
ततोविज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधि. स तु ।
गृह्यता कल्पनीयोऽय, रस इत्यवदद् विभुम् ।।२९१।।
प्रभुरप्यजलीकृत्य, पाणिपात्रमधारयत् ।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भानलोठयत् ।।
राधशुक्ल तृतीयाया, दानमासीत्तदक्षयम् ।
पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते ।।३०१।।[2]

वसुदेवहिण्डी और हरिवंशपुराण के रचनाकारो ने प्रभु ऋषभदेव के प्रथम पारणक की तिथि के सम्बन्ध मे ईहापोह का अवकाश रख कर, उसे एक अनबूझ पहेली बना कर छोड दिया था, उस पर आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण रूपेण स्पष्ट प्रकाश डाल कर उस अनबूझ पहेली का समाधान कर दिया है ।

---

[1] खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली. (सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई)
[2] त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्रम्, पर्व १, सर्ग ३

उपर्युद्धृत श्लोकों में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः लिखा है कि संवत्सर पर्यन्त भ० ऋषभदेव मौन धारण किये हुए निराहार ही विभिन्न आर्य तथा अनार्य क्षेत्रों में विचरण करते रहे। तदनन्तर उन्होंने विचार किया कि जिस प्रकार दीपकों का अस्तित्व तेल पर और वृक्षों का अस्तित्व पानी पर निर्भर करता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आहार पर ही निर्भर करते हैं। यह विचार कर वे पुनः भिक्षार्थ प्रस्थित हुए और विभिन्न स्थलों में विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में भी वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण करने लगे। अपने नगर में प्रभु का आगमन सुनते ही पुरवासी अपने सभी कार्यों को छोड़ प्रभु दर्शन के लिये उमड़ पड़े। हर्षविभोर हस्तिनापुरनिवासी प्रभुचरणों पर लोटपोट हो उन्हें अपने-अपने घर को पवित्र करने के लिये प्रार्थना करने लगे। भ० ऋषभदेव भिक्षार्थ जिस-जिस घर में प्रवेश करते, वहीं कोई गृहस्वामी उन्हें स्नान-मज्जन-विलेपन कर सिंहासन पर विराजमान होने की प्रार्थना करता, कोई उनके समक्ष रत्नाभरणालंकार प्रस्तुत करता, कोई गज, रथ, अश्व आदि प्रस्तुत कर, उन पर बैठने की अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना करता। सभी गृहस्वामियों ने अपने-अपने घर की अनमोल से अनमोल महार्घ्य वस्तुएँ तो प्रभु के समक्ष प्रस्तुत कीं किन्तु आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ उन लोगों में से किसी ने भी प्रभु के समक्ष विशुद्ध आहार प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार अनुक्रमशः प्रत्येक घर से विशुद्ध आहार न मिलने के कारण प्रभु निराहार ही लौटते रहे।

अपने प्राणाधिकवल्लभ आराध्य हृदयसम्राट् आदिनाथ को अपने घरों से बिना कुछ लिये लौटते देख नगरनिवासी आग्रहपूर्ण करुण स्वर में प्रभु से प्रार्थना करने लगे – "इस प्रकार निराश न करो नाथ, कुछ न कुछ तो हमारी भेंट स्वीकार करो नाथ ! मुख से तो बोलो हमारे प्राणदाता बाबा आदिनाथ !"

इस प्रकार करुण प्रार्थना करता हुआ जनसमुद्र प्रभु के चारों ओर उत्तरोत्तर उमड़ता ही जा रहा था और मौन धारण किये हुए शान्त, दान्त भ० ऋषभदेव एक के पश्चात् दूसरे घर में प्रवेश करते एवं पुनः लौटते हुए आगे की ओर बढ़ रहे थे। राजप्रासाद के पास सुविशाल जनसमूह का कलकल जनरव सुन कर हस्तिनापुराधीश ने दौवारिक से कारण ज्ञात करने को कहा। प्रभु का आगमन सुन महाराज सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार हर्षविभोर हो त्वरित गति से तत्काल प्रभु के सम्मुख पहुँचे। आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन और चरणों में लुण्ठन के पश्चात् हाथ जोड़े वे दोनों पिता पुत्र आदिनाथ की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रह गये। गहन अन्तस्तल में छुपी स्मृति से श्रेयांसकुमार को आभास हुआ कि उन्होंने प्रभु जैसा ही वेष पहले कभी कहीं न कहीं देखा है। उत्कट चिन्तन और कर्मों के क्षयोपशम से श्रेयांसकुमार को तत्काल जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान के प्रभाव से उन्हें प्रभु के वज्रनाभादि भवों के साथ अपने पूर्वभवों का और मुनि को निर्दोष आहार प्रदान करने की विधि का स्मरण हो आया। श्रेयांस ने तत्काल निर्दोष-विशुद्ध इक्षुरस का घड़ा उठाया

और प्रभु से निवेदन किया, "हे आदि प्रभो ! आदि तीर्थेश्वर ! जन्म-जन्म के आपके इस दास के हाथ से यह निर्दोष कल्पनीय इक्षुरस ग्रहण कर इसे कृतकृत्य कीजिये।"

प्रभु ने करद्वयपुटकमयी अंजलि आगे की। श्रेयांस ने उत्कट श्रद्धा-भक्ति एवं भावनापूर्वक इक्षुरस प्रभु की अंजलि में उडेला। इस प्रकार भ० ऋषभदेव ने बाहुबली के पौत्र इक्ष्वाकु कुल प्रदीप श्रेयांसकुमार के हाथों अपने प्रथम तप का पारणा किया। देवों ने गगनमण्डल से पंच दिव्यों की वृष्टि की। अहो दानम्, अहो दानम् ! के निर्घोषों, जयघोषों और दिव्य दुन्दुभि-निनादों से गगन गूंज उठा। दशों दिशाओं में हर्ष की लहरें सी व्याप्त हो गईं। राध-शुक्ला अर्थात् वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युवराज श्रेयांस ने भगवान ऋषभदेव को प्रथम पारणक में इक्षुरस का यह अक्षय दान दिया। इसी कारण वैशाख शुक्ला तृतीया लोक में उसी दिन से अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुई और वह अक्षय तृतीया का पर्व आज भी लोक में प्रचलित है।

- यह है आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र का उल्लेख जो पिछली आठ शताब्दियों से भी अधिक समय से लोकप्रिय रहा है।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के समय के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने-लिखने की आवश्यकता नहीं, इतिहास प्रसिद्ध ये श्लोक ही पर्याप्त होंगे :-

शर-वेदेश्वरे (११४५) वर्षे, कार्तिके पूर्णिमानिशि।
जन्माभवत् प्रभो-र्व्योम-बाण-शम्भौ (११५०) व्रतं तथा ॥८५०॥
रस-षट्केश्वरे (११६६) सूरि-प्रतिष्ठा समजायत।
नन्द-द्वय-रवौ (१२२९) वर्षेऽवसानमभवत् प्रभोः ॥८५१॥[1]

"आचार्य हेमचन्द्रसूरिने महान् ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र की रचना अपनी आयु के अन्तिम वर्षों में की होगी" - डा० हर्मन जेकोबी के इस अभिमत के अनुसार मोटे तौर पर अनुमान किया जा सकता है कि इस बृहदाकार ग्रन्थ के प्रथम पर्व की रचना उन्होंने वि० स० १२१० के आसपास किसी समय में की होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आज से लगभग सवा आठ सौ वर्ष पूर्व जैनसंघ में इस प्रकार की मान्यता रूढ और लोकप्रिय थी कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ था।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य हेमचन्द्र ने भ० ऋषभदेव की दीक्षा तिथि का उल्लेख करते हुए स्पष्टतः लिखा है कि भ० ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन चन्द्र का उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने पर अपराह्न काल में श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण की। यथा -

तदा च चैत्रबहुलाष्टम्या चन्द्रमसि श्रिते।
नक्षत्रमुत्तराषाढामह्नो भागेऽथ पश्चिमे ॥६५॥[2]

---

[1] प्रभावकचरित्र
[2] वही

एतद्विषयक तीसरा उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के उल्लेख से लगभग २०० वर्ष और आज से १०२० वर्ष पूर्व का है। वह उल्लेख है अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त द्वारा प्रणीत दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ महापुराण का, जो इस प्रकार है :–

हेला : ता दुदुहि रवेण भरियं दिसावसाणं।
भणिया सुरवरेंहिं भो साहु साहु दाण ।।१।।
पंचवण्णमाणिक्कमिसिट्ठी, घरप्रगणि वसुहार वरिट्ठी।
णं दीसइ ससिरविबिंबच्छिहि, कंठभट्ठ कंठिय णहलच्छिहि।
मोहबद्धणवपेम्महिरी विव, सग्ग सरोयहु णालसिरी विव।
रयणसमुज्जलवरगयपंति व, दाणमहातरुहलसपत्ति व।
सेयंसहु घणएण णिउंजिय, उक्कहि उडमाला इव पजिय।
पूरियसवच्छरउववासे[४], अक्खयदाणु भणिउं परमेसें।
तहु दिवसहु अत्थेण समायउ, अक्खयतइय णाउं सजायउ।
घरु जायवि भरहे अहिणंदिउ, पढमु दाणतित्थंकरु वंदिउ।

[४] एम. एड्स आफटर दिस लाइन M adds after this line :– (अर्थात् एम. नाम की प्रति में इस पंक्ति के आगे यह गाथा और लिखी हुई है :—

अहियं पक्ख तिण्ण सविसेसे, किंचूणे दिण कहिय जिणेसे।
भोयणवित्ती लहीय तमणासे, दाणतित्थु घोसिउ देवीसे।[१]

महाकवि पुष्पदन्त ने स्पष्ट शब्दों मे लिखा है कि ज्यों ही श्रेयासकुमार ने अपने राजप्रासाद में भगवान ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया त्यों ही दुन्दुभियों के घोष से दशो दिशाएं पूरित हो गईं। देवो ने अहो दानम्, अहो दानम् एवं साधु-साधु के निर्घोष पुनः पुन. किये। श्रेयास के प्रासाद के प्रागण मे दिव्य वसुधारा की ऐसी प्रबल वृष्टि हुई कि चारों ओर रत्नो की विशाल राशि दृष्टिगोचर होने लगी। प्रभु का संवत्सर तप पूर्ण हुआ और कुछ दिन कम साढा तेरह मास के पश्चात् भोजनवृत्ति प्राप्त होने पर भगवान् ने प्रथम तप का पारण किया। इस दान को अक्षयदान की सज्ञा दी गई। उसी दिन से प्रभु के पारणक के उस दिन का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हुआ। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयासकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एव सम्मान करते हुए कहा, "वत्स! तुम इस अवसर्पिणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम सस्थापक हो, अतः तुम्हे प्रणाम है।"

पुष्पदन्तप्रणीत महापुराण के इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि जैनसंघ मे यह मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ। जहां तक महापुराण के रचना-

[१] पुष्पदन्तप्रणीत "महापुराण के आदि पुराण की रिसहकेवलणाणुत्पत्ती नामक नवम सधि, पृ० १४८-१४६

काल का प्रश्न है, यह उस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ही प्रकट है कि महाकवि पुष्पदन्त ने सिद्धार्थ नामक शक संवत् ८८१, तदनुसार विक्रम स० १०१६ मे महापुराण की रचना प्रारम्भ की और क्रोधन शक सवत् ८८७ तदनुसार विक्रम स० १०२२ मे इस रचना को पूर्ण किया। महाकवि पुष्पदन्त मान्यखेट के राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज तृतीय के मन्त्री भरत के आश्रित कवि थे।

इतिहास में कृष्णराज तृतीय का राज्यकाल वि० सं० ९९६ से १०२५ तक माना गया है। कृष्णराज तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई खोट्टिगदेव मान्यखेट के राजसिंहासन पर बैठा। वि० स० १०२९ मे मालवराज धाराधिपति हर्षदेव ने मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे लूटा, नष्ट किया और इस प्रकार मान्यखेट का राज्य राष्ट्रकूटवशीय राजाओ के हाथ से निकल गया। इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख स्वयं महाकवि पुष्पदन्त[1] ने महापुराण में स्थान-स्थान पर दिये प्रशस्ति के कतिपय स्फुट श्लोकों में से एक श्लोक मे तथा उनके समकालीन विद्वान् धनपाल ने अपनी "पाइयलच्छीनाममाला"[2] मे किया है।

परस्पर पूर्णतः परिपुष्ट इन ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आज से १०२० वर्ष पहले, जिस समय महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की, उस समय जैनसघ मे यह मान्यता व्यापक रूप से लोकप्रिय, रूढ एवं प्रचलित थी कि भ० ऋषभदेव का प्रथम पारणक वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हुआ था और युगादि के वर्गविहीन सम्पूर्ण मानव समाज ने अपने सार्वभौम लोकनायक, मानव सस्कृति के सस्थापक एव अपने अनन्य उपकारी आदि देव के पारणक के दिन को अक्षय तृतीया के पावन पर्व के रूप में मनाना युगादि में ही प्रारम्भ कर दिया था।

---

[1] दीनानाथधन वहुजन प्रोत्फुल्लवल्लीवन,
मान्याखेटपुर पुरदरपुरीलीलाहर सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्ध विदग्धप्रिय,
क्वेदानी वसति करिष्यति पुन श्रीपुष्पदन्तः कविः।।

पूना और करजा की प्रतियो मे ५०वी सधि और जयपुर की हस्तलिखित प्रति की ५२वी सधि मे उल्लिखित – देखिये · – महापुराण का इन्ट्रोडक्शन, पी० एल० वैद्य द्वारा प्रस्तुत, पृ० २५

[2] विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि (वि० स० १०२९)
मालवनरिंदधाडीए, लूडिये मन्नखेडम्मि।
धारा नयरीए परिठिएण मग्गे ठियाए अणवज्जे,
कज्जे कणिट्ठ वहिणीए, सुदरी नामधिज्जाए।
कइणो अध जण किवा कुसल त्ति पयाणमतिया वण्णा, (धणवाल–धनपाल)
नामम्मि जम्म कमसो, तेणेसा विरइया देसी।।
–पाइयलच्छीनाममाला–

भ० ऋषभदेव के प्रथम तप के सम्बन्ध में यह तथ्य सदा ध्यान मे रखने योग्य है कि प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करते समय जो तप अंगीकार किया था, वह श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार बेले का और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार ६ मास का तप था, न कि संवत्सर तप अर्थात् एक वर्ष अथवा उससे अधिक का। उस समय के लोग साधुओं को आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ थे अतः प्रभु का वह स्वतः आचीर्ण तप उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और एक वर्ष से भी अधिक अवधि व्यतीत हो जाने के पश्चात् प्रथम तप का पारणा हुआ। अधिकतम तप के सम्बन्ध में, दोनों परम्पराओं की क्रमशः बारह मास और ६ मास के उत्कृष्ट तप की जो सीमाएं थी, उन सीमाओं को प्रभु ऋषभदेव का प्रथम तप परिस्थितिवशात् लांघ गया था। जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा में तप की सीमा ६ मास की ही मानी गई है पर प्रभु आदिनाथ का प्रथम तप तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उस सीमा का अतिक्रमण कर गया, उसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में तप की जो उत्कृष्टतम सीमा १२ मास मानी गई है, उस सीमा को उस समय की परिस्थितियो के कारण आदि प्रभु का प्रथम तप लांघ गया।

वस्तुतः देखा जाय तो मानवता पर भगवान् ऋषभदेव के असीम महान् उपकार हैं। प्रकृति की सुखद गोद मे पले और अपने जीवन की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिये केवल प्रकृति पर निर्भर करने वाले प्रकृतिपुत्र यौगलिक-मानव-समाज के सिर पर से जब प्रकृति ने अपना हाथ उठा लिया, उस समय आदि लोकनायक ऋषभदेव ने उन प्रकृतिपुत्रों पर अपना वरद हस्त रखा। जीवनयापन की कला से नितान्त अनभिज्ञ उन लोगों को सुखी और सम्पन्न सांसारिक जीवनयापन के लिये परमावश्यक असि, मसि एवं कृषि कर्मों और सभी प्रकार की कलाओं का ज्ञान देकर उन्होंने प्रकृतिपुत्रों को स्वावलम्बी आत्मनिर्भर पौरुषपुत्र बनाया। परावलम्बिनी मानवता को भौतिक क्षेत्र मे स्वावलम्बिनी बनाने के पश्चात् उन्होने जन्म-जरा-मृत्यु के दुःखो से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा दिलाने वाले सत्पथ को प्रकट करने हेतु उत्कट साधना की। साधना द्वारा कैवल्योपलब्धि के अनन्तर उन्होंने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये भवार्णव से पार उतारने वाले मुक्तिसेतु धर्मतीर्थ की प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल मे सर्वप्रथम स्थापना की। भ० ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मतीर्थ की शरण ग्रहण कर अनादिकाल से जन्म-मरण की विकराल चक्की मे पिसते आ रहे अनेकानेक भव्य प्राणियों ने जन्म-मरण के बीजभूत आठों कर्मों को क्षय कर शाश्वत सुखधाम अजरामर पद प्राप्त किया। भ० ऋषभदेव ने एक ऐसी सुखद-सुन्दर मानव संस्कृति का सूत्रपात किया, जो सहअस्तित्व, विश्वबन्धुत्व आदि उच्चकोटि के उत्तमोत्तम मानवीय गुणो से ओतप्रोत और प्राणीमात्र के लिये, इह लोक एवं पर लोक, दोनो ही लोकों में कल्याणकारिणी थी। मानव समाज अपने हृदयसम्राट महाराजा अथवा लोकनायक ऋषभदेव द्वारा जो

गये कर्मक्षेत्र के पथ पर आरूढ हो जिस प्रकार सुख-समृद्धि-प्रतिष्ठा और वैभव के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुआ, उसी प्रकार कैवल्योपलब्धि के अनन्तर भावतीर्थंकर बने अपने धर्मनायक भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मपथ पर आरूढ हो आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी उन्नति के उच्चतम आसन पर अधिष्ठित हुआ।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा मानवता के प्रति किये गये इन असीम अनुपम उपकारो से उपकृत उस समय की वर्गविहीन मानवता के मानवमात्र ने भगवान् ऋषभदेव को अपना सार्वभौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक, त्राता, धाता, भाग्यविधाता और भगवान् माना। सभी धर्मो के प्राचीन धर्मग्रन्थों मे भगवान् ऋषभदेव का वही सार्वभौम स्थान है, जो जैन धर्मग्रन्थो मे है। ऋग्वेद, एवं-अथर्ववेद मे ऋषभ का गुणगान है। श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि वैष्णव परम्परा के पुराण नाभिनन्दन ऋषभदेव की यशोगाथाओ से भरे हैं। पुराणो मे उन्हें भगवान् का आठवां अवतार माना गया है। मनुस्मृति मे उनका यशोगान है। बौद्ध ग्रन्थ "आर्य मजुश्री" मे उनकी यशोगाथा है। महाकवि सूरदास ने अपने भक्तिरस से ओतप्रोत ग्रन्थ सूरसागर में ऋषभ की स्तुति की है। इससे प्रकट है कि भ० ऋषभदेव मानवमात्र के आराध्य थे। कोटि-कोटि मानव आज बडी श्रद्धा के साथ बाबा आदम के नाम से जिन्हे याद करते हैं, वह भी देखा जाय तो भ० ऋषभ की अस्फुट स्मृति का ही प्रतीक है। विश्वास किया जाता है कि युगादि मे मानव समाज ने अपने परमोपकारी महाप्रभु ऋषभदेव की स्मृति मे उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ को लेकर पर्व प्रचलित किये। उनमे से कतिपय तो काल की पर्त मे तिरोहित हो गये और कतिपय आज भी प्रचलित है। अक्षय तृतीया का पर्व प्रभु के प्रथम पारणक के समय श्रेयामकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है, इस प्रकार का आभास वाचस्पत्यभिधान के निम्नलिखित श्लोको से होता है —

> वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
> अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता॥
> तस्या दानादिक सर्वमक्षय समुदाहृतम्।..

श्रेयासकुमार के द्वारा दिये गये अक्षय और महान् सुपात्रदान के अतिरिक्त और कोई इस प्रकार का दान दिये जाने का भारतीय धर्म ग्रन्थो मे उल्लेख नही मिलता।

इन सब प्राचीन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भगवान् का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ।

केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए तपश्चरण द्वारा आत्मस्वरूप को प्रकाशित करते रहे। अन्त में प्रभु

पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख नामक उद्यान में पधारे। वहां फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन[1] अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में प्रभु ध्यानारूढ़ हुए और क्षपक श्रेणी से चार घातिक कर्मों को नष्ट कर आपने केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। देव एवं देवपतियों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। केवलज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अतः आज भी वटवृक्ष देश में आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा एवं प्रभु आदिनाथ का चैत्यवृक्ष माना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहन्त होगये। अरिहंत होने पर आपमें बारह गुण प्रकट हुए, जो इस प्रकार हैं :–

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र यानी वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्प-वृष्टि, (७) दिव्य-ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक-सिंहासन, (१०) छत्र-त्रय, (११) आकाश में देव-दुन्दुभि और (१२) भामण्डल।

पांच से बारह तक के आठ गुणों को प्रातिहार्य[2] कहा गया है। भक्तिवश देवों द्वारा यह महिमा की जाती है।

तीर्थंकरों की विशेषता

सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहत तीर्थंकर मे खास विशेषताएं होती हैं। आचार्यों ने मूलभूत चार अतिशय[3] बतलाये है। यद्यपि वीतरागता और सर्वज्ञता, तीर्थंकर और सामान्य केवली में समान होती हैं पर तीर्थंकर की प्रभावोत्पादक अन्य भी विशेषताए अतिशय रूप मे होती हैं, जिनके लिए समवायाग सूत्र मे "चोतीस बुद्धाइसेसा" और "पणतीस सच्चवयणाइसेसा पण्णता" कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा मे शास्त्रोक्त चौतीस अतिशय इस प्रकार है –

तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय

(१) अवट्ठिए केसमसुरोमनहे	केश रोम और स्मश्रु का अवस्थित रहना।
(२) निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी	शरीर का रोगरहित एवं निर्लेप होना।
(३) गोक्खीरपंडुरे मससोणिए	गौ-दुग्ध की तरह रक्त-मास का श्वेत होना।
(४) पउमुप्पलगंधिए उस्सास-निस्सासे	श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल की तरह सुगन्धित होना।
(५) पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा	आहार नीहार प्रच्छन्न-अर्थात् चर्मचक्षु मे अदृश्य होना।

[1] कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ तथा आवश्यक नि० गाथा २६३।

[2] अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

[3] अपायापगमातिशयो-ज्ञानातिशय पूजातिशयो वागतिशयश्च।

–अभिधान राजेन्द्र, १, पृ० ११।

गये कर्मक्षेत्र के पथ पर आरूढ हो जिस प्रकार सुख-समृद्धि-प्रतिष्ठा और वैभव के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुआ, उसी प्रकार कैवल्योपलब्धि के अनन्तर भावतीर्थंकर बने अपने धर्मनायक भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मपथ पर आरूढ हो आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी उन्नति के उच्चतम आसन पर अधिष्ठित हुआ।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा मानवता के प्रति किये गये इन असीम अनुपम उपकारो से उपकृत उस समय की वर्गविहीन मानवता के मानवमात्र ने भगवान् ऋषभदेव को अपना सार्वभौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक, त्राता, धाता, भाग्यविधाता और भगवान् माना। सभी धर्मो के प्राचीन धर्मग्रन्थो मे भगवान् ऋषभदेव का वही सार्वभौम स्थान है, जो जैन धर्मग्रन्थो मे है। ऋग्वेद, एवं अथर्ववेद मे ऋषभ का गुणगान है। श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि वैष्णव परम्परा के पुराण नाभिनन्दन ऋषभदेव की यशोगाथाओ से भरे हैं। पुराणो मे उन्हें भगवान् का आठवा अवतार माना गया है। मनुस्मृति मे उनका यशोगान है। बौद्ध ग्रन्थ "आर्य मजुश्री" मे उनकी यशोगाथा है। महाकवि सूरदास ने अपने भक्तिरस से ओतप्रोत ग्रन्थ सूरसागर में ऋषभ की स्तुति की है। इससे प्रकट है कि भ० ऋषभदेव मानवमात्र के आराध्य थे। कोटि-कोटि मानव आज बडी श्रद्धा के साथ बाबा आदम के नाम से जिन्हे याद करते हैं, वह भी देखा जाय तो भ० ऋषभ की अस्फुट स्मृति का ही प्रतीक है। विश्वास किया जाता है कि युगादि मे मानव समाज ने अपने परमोपकारी महाप्रभु ऋषभदेव की स्मृति मे उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ को लेकर पर्व प्रचलित किये। उनमे से कतिपय तो काल की पर्त मे तिरोहित हो गये और कतिपय आज भी प्रचलित है। अक्षय तृतीया का पर्व प्रभु के प्रथम पारणक के समय श्रेयासकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है, इस प्रकार का आभास वाचस्पत्यभिधान के निम्नलिखित श्लोको से होता है –

> वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
> अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता।।
> तस्या दानादिक सर्वमक्षय समुदाहृतम्।...

श्रेयासकुमार के द्वारा दिये गये अक्षय और महान् सुपात्रदान के अतिरिक्त और कोई इस प्रकार का दान दिये जाने का भारतीय धर्म ग्रन्थो मे उल्लेख नही मिलता।

इन सब प्राचीन प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि भगवान् का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ।

केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए, तपश्चरण द्वारा आत्मस्वरूप को प्रकाशित करते रहे। अन्त मे प्रभु

पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख नामक उद्यान में पधारे। वहां फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन[1] अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में प्रभु ध्यानारूढ हुए और क्षपक श्रेणी से चार घातिक कर्मों को नष्ट कर आपने केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। देव एवं देवियों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। केवलज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अतः आज भी वटवृक्ष देश मे आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा एवं प्रभु आदिनाथ का चैत्यवृक्ष माना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहन्त होगये। अरिहंत होने पर आपमें बारह गुण प्रकट हुए, जो इस प्रकार हैं :—

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र यानी वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्प-वृष्टि, (७) दिव्य-ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक-सिंहासन, (१०) छत्र-त्रय, (११) आकाश मे देव-दुन्दुभि और (१२) भामण्डल।

पांच से बारह तक के आठ गुणों को प्रातिहार्य[2] कहा गया है। भक्तिवश देवों द्वारा यह महिमा की जाती है।

तीर्थंकरों की विशेषता

सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहंत तीर्थंकर मे खास विशेषताएं होती हैं। आचार्यों ने मूलभूत चार अतिशय[3] बतलाये हैं। यद्यपि वीतरागता और सर्वज्ञता, तीर्थंकर और सामान्य केवली मे समान होती हैं पर तीर्थंकर की प्रभावोत्पादक अन्य भी विशेषताएं अतिशय रूप में होती है, जिनके लिए समवायाग सूत्र मे "चोतीस बुद्धाइसेसा" और "पणतीस सच्चवयणाइसेसा पण्णता" कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा मे शास्त्रोक्त चौतीस अतिशय इस प्रकार है :—

तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय

(१) अवट्ठिए केसमसुरोमनहे	केश रोम और श्मश्रु का अवस्थित रहना।
(२) निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी	शरीर का रोगरहित एवं निर्लेप होना।
(३) गोक्खीरपंडुरे मससोणिए	गौ-दुग्ध की तरह रक्त-मास का श्वेत होना।
(४) पउमुप्पलगंधिए उस्सास-निस्सासे	श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल की तरह सुगन्धित होना।
(५) पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा	आहार नीहार प्रच्छन्न-अर्थात् चर्मचक्षु से अदृश्य होना।

[1] कल्पसूत्र १९९, पृ० ५८ तथा आवश्यक नि० गाथा २६३।

[2] अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

[3] अपायापगमातिशयो–ज्ञानातिशय पूजातिशयो वागतिशयश्च।
—अभिधान राजेन्द्र, १, पृ० ३१।

गये कर्मक्षेत्र के पथ पर आरूढ हो जिस प्रकार सुख-समृद्धि-प्रतिष्ठा और वैभव के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन हुआ, उसी प्रकार कैवल्योपलब्धि के अनन्तर भावतीर्थंकर बने अपने धर्मनायक भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्मपथ पर आरूढ हो आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी उन्नति के उच्चतम आसन पर अधिष्ठित हुआ।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा मानवता के प्रति किये गये इन असीम अनुपम उपकारो से उपकृत उस समय की वर्गविहीन मानवता के मानवमात्र ने भगवान् ऋषभदेव को अपना सार्वभौम लोकनायक, सार्वभौम धर्मनायक, त्राता, धाता, भाग्यविधाता और भगवान् माना। सभी धर्मों के प्राचीन धर्मग्रन्थो मे भगवान् ऋषभदेव का वही सार्वभौम स्थान है, जो जैन धर्मग्रन्थो मे है। ऋग्वेद, एवं अथर्ववेद मे ऋषभ का गुणगान है। श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि वैष्णव परम्परा के पुराण नाभिनन्दन ऋषभदेव की यशोगाथाओ से भरे हैं। पुराणो मे उन्हे भगवान् का आठवां अवतार माना गया है। मनुस्मृति में उनका यशोगान है। बौद्ध ग्रन्थ "आर्य मजुश्री" मे उनकी यशोगाथा है। महाकवि सूरदास ने अपने भक्तिरस से ओतप्रोत ग्रन्थ सूरसागर मे ऋषभ की स्तुति की है। इससे प्रकट है कि भ० ऋषभदेव मानवमात्र के आराध्य थे। कोटि-कोटि मानव आज बडी श्रद्धा के साथ बाबा आदम के नाम से जिन्हे याद करते हैं, वह भी देखा जाय तो भ० ऋषभ की अस्फुट स्मृति का ही प्रतीक है। विश्वास किया जाता है कि युगादि मे मानव समाज ने अपने परमोपकारी महाप्रभु ऋषभदेव की स्मृति मे उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ को लेकर पर्व प्रचलित किये। उनमे से कतिपय तो काल की पर्त मे तिरोहित हो गये और कतिपय आज भी प्रचलित हैं। अक्षय तृतीया का पर्व प्रभु के प्रथम पारणक के समय श्रेयासकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है, इस प्रकार का आभास वाचस्पत्यभिधान के निम्नलिखित श्लोको से होता है :—

> वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
> अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता॥
> तस्या दानादिक सर्वमक्षय समुदाहृतम्।..

श्रेयासकुमार के द्वारा दिये गये अक्षय और महान् सुपात्रदान के अतिरिक्त और कोई इस प्रकार का दान दिये जाने का भारतीय धर्म ग्रन्थो मे उल्लेख नही मिलता।

इन सब प्राचीन प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि भगवान् का प्रथम पारणक अक्षय तृतीया के दिन हुआ।

केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए तपश्चरण द्वारा आत्मस्वरूप को प्रकाशित करते रहे। अन्त मे प्रभु

(२०)	मणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूव-गंधाणं पाउब्भाओ भवइ	शुभ वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि का प्रकट होना।
(२१)	पच्चाहरओ वि य णं हियय-गमणीओ जोयणनीहारी सरो	बोलते समय भगवान् के गंभीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना।
(२२)	भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ	अर्द्धमागधी भाषा मे भगवान् का धर्म प्रवचन फरमाना।
(२३)	सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण दुप्पय-चउप्पअमियपसुपक्खिसरी-सिवाण अप्पणो हियसिव सुहयभासत्ताए परिणमइ	अर्द्धमागधी भाषा का आर्य, अनार्य, मनुष्य और पशुओ की अपनी-अपनी भाषा के रूप मे परिणत होना।
(२४)	पुव्वबद्धवेरा वि य ण देवासुर-नागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नर-किंपुरिसगरुलगन्धव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्त-माणसा धम्म निसामंति	भगवान् के चरणो में पूर्व के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना।
(२५)	अण्णउत्थियपावयणिया वि य णमागया वदंति	अन्य तीर्थ के वादियो का भी भगवान् के चरणों में आकर वन्दन करना।
(२६)	आगया समाणा अरहओ पाय-मूले निप्पलिवयणा हवंति	वाद के लिए आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर हो जाना।
(२७)	जओ जओ वि य ण अरहतो भगवन्तो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाए णं ईति न भवई	जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहा से २५ (पच्चीस) योजन तक ईति नही होती।
(२८)	मारी न भवइ	जहां जहा भगवान् विचरण करे, वहा-वहा से २५ योजन तक मारी नही होती।
(२९)	सचक्क न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां स्वचक्र का भय नहीं होता।
(३०)	परचक्कं न भवइ	जहां जहा भगवान् विचरण करें, वहां-वहां पर-चक्र का भय नहीं होता।
(३१)	अइवुट्ठी न भवइ	जहा जहां भगवान् विचरण करे, वहा-वहा अतिवृष्टि नही होती।

(६)	आगासगयंचक्कं	आकाशगत चक्र होना।
(७)	आगासगयं छत्त	आकाशगत छत्र होना।
(८)	आगासगयाओ सेयवर चामराओ	आकाशगत श्वेत चामर होना।
(९)	आगासफालिआमयं सपायपीढं सीहासरण	आकाशस्थ सपादपीठ स्फटिक सिंहासन।
(१०)	आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामो इन्दज्झओ पुरओ गच्छइ	हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश मे आगे चलना।
(११)	जत्थ जत्थ वि य णं अरहतो भगवन्तो चिट्ठति वा निसीयति वा तत्थ तत्थ वियरण तक्खरणादेव सछन्नपत्तेपुप्फपल्लव समाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघटो सपडागो असोगवरपायवो अभिसजायई	अर्हन्त भगवान् जहां जहां ठहरें, वहां वहा तत्काल फूल-फल युक्त अशोक वृक्ष का होना।
(१२)	ईसिं पिट्ठओ मउडठाणमि तेयमडल अभिसजायइ अधयारे वि य ण दस दिसाओ पभासेइ	भगवान् के थोडा पीछे की ओर मुकुट के स्थान पर तेजोमडल होना जो दशो दिशाओ को प्रकाशित करता है।
(१३)	बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे	भूमि-भाग का रमणीक होना।
(१४)	अहोसिरा कटया जायति	काँटो का अधोमुख होना।
(१५)	उऊ विवरीया सुहफासा भवति	ऋतुओ का सब प्रकार से सुखदायी होना।
(१६)	सीयलेण सुहफासेण सुरभिणा मारुएण जोयणपरिमडल सव्वओ समता सपमज्जिज्जइ	शीतल-सुखद-सुगन्धित वायु द्वारा चारो ओर चार-चार कोस तक भूमि का स्वच्छ होना।
(१७)	जुत्तफुसिएण मेहेण य निहयरयरेणुय किज्जइ	जल-बिन्दुओ से भूमि की धूलि का शमन होना।
(१८)	जलथलयभासुरपभूतेण विटट्ठाइणा दसद्धवण्णेण कुसुमेण जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते (अचित्ते)पुप्फोवयारे किज्जइ	पाच प्रकार के अचित्त फूलो का जानु प्रमाण ढेर लगना।
(१९)	अमणुण्णाण सद्दफरिसरसरूवगधाण अवकरिसो भवइ	अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का अपकर्ष होना।

(२०)	मणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूव-गंधाणं पाउब्भाओ भवइ	शुभ वर्ण, गन्ध, रस एव स्पर्श आदि का प्रकट होना।
(२१)	पच्चाहरओ वि य णं हिययगमणीओ जोयणनीहारी सरो	बोलते समय भगवान् के गंभीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना।
(२२)	भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ	अर्द्धमागधी भाषा में भगवान् का धर्म प्रवचन फरमाना।
(२३)	सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पयचउप्पअमियपसुपक्खिसरीसिवाण अप्पणो हियसिव सुहयभासत्ताए परिणमइ	अर्द्धमागधी भाषा का आर्य, अनार्य, मनुष्य और पशुओ की अपनी-अपनी भाषा के रूप मे परिणत होना।
(२४)	पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-नागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नर-किंपुरिसगरुलगन्धव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्त-माणसा धम्मं निसामंति	भगवान् के चरणों में पूर्व के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना।
(२५)	अण्णउत्थियपावयणिया वि य णमागया वदंति	अन्य तीर्थ के वादियों का भी भगवान् के चरणों मे आकर वन्दन करना।
(२६)	आगया समाणा अरहओ पाय-मूले निप्पलिवयणा हवंति	वाद के लिए आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर हो जाना।
(२७)	जओ जओ वि य ण अरहंतो भगवन्तो विहरंति तओ तओ वि य ण जोयणपणवीसाए ण ईति न भवई	जहा जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहा से २५ (पच्चीस) योजन तक ईति नही होती।
(२८)	मारी न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करे, वहां-वहा से २५ योजन तक मारी नही होती।
(२९)	सचक्कं न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहा स्वचक्र का भय नहीं होता।
(३०)	परचक्कं न भवइ	जहा जहा भगवान् विचरण करे, वहां-वहां पर-चक्र का भय नहीं होता।
(३१)	अइवुट्ठी न भवइ	जहा जहां भगवान् विचरण करें, वहा-वहा अतिवृष्टि नहीं होती।

(३२) अणावुट्ठी न भवइ	जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां अनावृष्टि नही होती।
(३३) दुब्भिक्खं न भवइ	जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां दुर्भिक्ष नही होता।
(३४) पुव्वुप्पण्णा वि य णं उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमंति।[1]	जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां पूर्वोत्पन्न उत्पात भी शीघ्र शान्त हो जाते हैं।[2]

दिगम्बर परम्परा में ३४ अतिशयों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :–

जन्म के १० अतिशय[3] :–

(१) स्वेदरहित तन	(६) प्रथम उत्तम संहनन
(२) निर्मल शरीर	(७) प्रथम उत्तम संस्थान
(३) दूध की तरह रुधिर का श्वेत होना	(८) एक हजार आठ (१००८) लक्षण
(४) अतिशय रूपवान् शरीर	(९) अमित बल
(५) सुगन्धित तन	(१०) हित-प्रिय वचन।

केवलज्ञान के १० अतिशय[4]:–

(१) भगवान् विचरें वहां-वहा सौ-सौ कोस तक सुभिक्ष होना (ईति नही होना)	(२) आकाश में गमन
	(३) भगवान् के चरणों में प्राणियों का निर्भय होना

---

[1] सुत्तागम पृ० ३४५-४६ [समवायांग, समवाय ३४]

[2] पाठान्तर मे काला, अगरु आदि से गमगमायमान रमणीय भू-भाग को उन्नीसवां और तीर्थंकर के दोनो ओर दो यक्षो द्वारा चंवर डुलाने को बीसवा अतिशय माना है किन्तु वृहद्वाचना मे नही होने से इन्हे यहा स्वीकार नही किया है।

दूसरे से पाँचवें तक चार अतिशय जन्म के, १९ (उन्नीस) देवकृत और ग्यारह केवलज्ञानभावी माने हैं। [समवायाग वृत्ति]

[3] नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वं च।
स्वाद्याकृति संहनने, सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रियहित-वादित्वमन्यदमित गुणस्य।
प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवोर्देहस्य ॥२॥

[4] गव्यूतिशत चतुष्टय-सुभिक्षता-गगन-गमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पन्दश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वम्।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवंति तेऽपि दशैव ॥४॥

[नन्दीश्वर भक्ति]

(४) कवलाहार (स्थूल आहार) का नहीं होना[1]
(५) भगवान् पर कोई उपसर्ग नहीं होना,
(६) समवसरण में चतुर्मुख दिखना,
(७) अनन्त ज्ञान के कारण सर्व विद्याओं का ईश्वर होना,
(८) शरीर का निर्मल और छाया रहित होना,
(९) नेत्रों के पलकों का नहीं गिरना,
(१०) नख-केशों का सम होना।

देव-कृत १४ अतिशय[2] :—

(१) चहुँ दिशाओं का निर्मल होना।
(२) आकाश का मेघरहित व स्वच्छ होना।
(३) पृथ्वी का धन-धान्य आदि से भरा पूरा होना।
(४) सुगन्धित वायु का चलना।
(५) देवताओं द्वारा सुगन्धित जलवृष्टि होना।
(६) योजनपर्यन्त पृथ्वी का दर्पण सम उज्ज्वल होना।
(७) विहार के समय चरणों के नीचे कमल की रचना होना।
(८) आकाश में जय-जयकार होना।
(९) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द का प्राप्त होना।
(१०) पृथ्वी का कण्टक पाषाणादि से रहित होना।
(११) सहस्रार वाले धर्मचक्र का आगे चलना।
(१२) विरोधी जीवों में परस्पर मैत्री होना।
(१३) ध्वजासहित अष्टमंगल का विहार के समय आगे चलना।
(१४) अर्धमागधी वाणी द्वारा भव्य जीवों को तृप्त करना।

श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अतिशयों में संख्या समान होने पर भी निम्नलिखित अन्तर है :—

---

[1] केवली भगवान् के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका होता है कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो जाता है। उनके शरीर-रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आवागमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

[2] देवकृत चौदह अतिशय :—
देव रचित है चारदश, अर्धमागधी भाष। आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी कांच समान।
चरण कमल तल कमल है, नभ तैं जय जय बान ॥
मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि। भूमि विषै कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥
धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार। अतिशय श्री अरहंत के..................॥

(३२)	अणावुट्ठी न भवइ	जहा-जहा भगवान् विचरण करें, वहां-वहां अनावृष्टि नहीं होती।
(३३)	दुब्भिक्खं न भवइ	जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहां दुर्भिक्ष नही होता।
(३४)	पुव्वुप्पण्णा वि य णं उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमति।[1]	जहां-जहां भगवान् विचरण करें, वहां-वहा पूर्वोत्पन्न उत्पात भी शीघ्र शान्त हो जाते हैं।[2]

दिगम्बर परम्परा में ३४ अतिशयों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :–

जन्म के १० अतिशय [3] :–

(१) स्वेदरहित तन
(२) निर्मल शरीर
(३) दूध की तरह रुधिर का श्वेत होना
(४) अतिशय रूपवान् शरीर
(५) सुगन्धित तन
(६) प्रथम उत्तम संहनन
(७) प्रथम उत्तम संस्थान
(८) एक हजार आठ (१००८) लक्षण
(९) अमित बल
(१०) हित-प्रिय वचन।

केवलज्ञान के १० अतिशय [4]:–

(१) भगवान् विचरे वहा-वहा सौ-सौ कोस तक सुभिक्ष होना (ईति नही होना)
(२) आकाश मे गमन
(३) भगवान् के चरणों में प्राणियो का निर्भय होना

---

[1] सुत्तागम पृ० ३४५-४६ [समवायांग, समवाय १११]

[2] पाठान्तर मे काला, अगरु आदि से गधमघायमान रमणीय भू-भाग को उन्नीसवा और तीर्थंकर के दोनो ओर दो यक्षो द्वारा चँवर डुलाने को बीसवा अतिशय माना है किन्तु वृहद्वाचना मे नही होने से इन्हे यहां स्वीकार नही किया है।

दूसरे से पाँचवें तक चार अतिशय जन्म के, १९ (उन्नीस) देवकृत और ग्यारह केवलज्ञानभावी माने हैं। [समवायाग वृत्ति]

[3] नित्यं नि स्वेदत्व, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्व च।
स्वाद्याकृति संहनने, सौरूप्य सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रियहित-वादित्वमन्यदमित गुणस्य।
प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयम्भुवोर्देहस्य ॥२॥

[4] गव्यूतिशत चतुष्टय-सुभिक्षता-गगन-गमनमप्राणिवध.।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्व च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पन्दश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वम्।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा. भवंति तेऽपि दशैव ॥४॥

[नन्दीश्वर भक्ति]

(४) कवलाहार (स्थूल आहार) का नहीं होना[1]
(५) भगवान् पर कोई उपसर्ग नही होना,
(६) समवसरण में चतुर्मुख दिखना,
(७) अनन्त ज्ञान के कारण सर्व विद्याओं का ईश्वर होना,
(८) शरीर का निर्मल और छाया रहित होना,
(९) नेत्रों के पलको का नही गिरना,
(१०) नख-केशों का सम होना।

देव-कृत १४ अतिशय[2] :—

(१) चहुँ दिशाओं का निर्मल होना।
(२) आकाश का मेघरहित व स्वच्छ होना।
(३) पृथ्वी का धन-धान्य आदि से भरा पूरा होना।
(४) सुगन्धित वायु का चलना।
(५) देवताओं द्वारा सुगन्धित जलवृष्टि होना।
(६) योजनपर्यन्त पृथ्वी का दर्पण सम उज्ज्वल होना।
(७) विहार के समय चरणों के नीचे कमल की रचना होना।
(८) आकाश मे जय-जयकार होना।
(९) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द का प्राप्त होना।
(१०) पृथ्वी का कण्टक पाषाणादि से रहित होना।
(११) सहस्रार वाले धर्मचक्र का आगे चलना।
(१२) विरोधी जीवों में परस्पर मैत्री होना।
(१३) ध्वजासहित अष्टमंगल का विहार के समय आगे चलना।
(१४) अर्धमागधी वाणी द्वारा भव्य जीवों को तृप्त करना।

श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अतिशयों में संख्या समान होने पर भी निम्नलिखित अन्तर है :—

---

[1] केवली भगवान् के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका होता है कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो जाता है। उनके शरीर-रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओं का आवागमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

[2] देवकृत चौदह अतिशय :—
देव रचित है चारदश, अर्धमागधी भाष। आपस माही मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी काच समान।
चरण कमल तल कमल है, नभ तैं जय जय बान॥
मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि। भूमि विषै कण्टक नही, हर्षमयी सब सृष्टि॥
धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार। अतिशय श्री अरहंत के.....................॥

श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग मे तीर्थंकरो के आहार-नीहार को चर्मचक्षु द्वारा अदृश्य-प्रच्छन्न माना है, इसके स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे स्थूल आहार का अभाव और नीहार नही होना, इस तरह दोनो अलग अतिशय मान्य किये हैं।

समवायाग के छठे अतिशय से ग्यारहवें तक अर्थात् आकाशगल चक्र से अशोक वृक्ष तक के नाम दिगम्बर परम्परा में नही है। इनके स्थान पर निर्मल दिशा, स्वच्छ आकाश, चरण के नीचे स्वर्ण-कमल, आकाश में जयजयकार, जीवों के लिए आनन्ददायक, आकाश मे धर्मचक्र का चलना व अष्ट मगल, ये ७ अतिशय माने गये है।

शरीर के सात अतिशय :—

(१) स्वेद रहित शरीर,
(२) अतिशय रूप,
(३) प्रथम सहनन,
(४) प्रथम संस्थान,
(५) १००८ लक्षण,
(६) अनन्त बल और
(७) हित-प्रिय वचन—जो दिगम्बर परम्परा में मान्य है, पर समवायाग में नही है।

समवायाग के तेजो भामण्डल के स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे केवली अवस्था का चतुर्मुख अतिशय माना है और समवायाग के बहुसमरमणीय भूमिभाग के स्थान पर पृथ्वी की उज्ज्वलता और शस्य-श्यामलता—ये दो अतिशय माने गये हैं।

केवलज्ञान के अतिशयों मे समवायाग द्वारा वर्णित, अन्य तीर्थ के वादियो का आकर वन्दन करना और बाद मे निरुत्तर होना, इन दो अतिशयो के स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे एक ही अतिशय, सर्व विद्येश्वरता माना है।

फिर पच्चीस योजन तक ईति आदि नही होना, इस प्रसग के सात अतिशयो के स्थान पर दिगम्बर परम्परा मे सुभिक्ष होना, यह केवल एक ही अतिशय माना गया है।

उपसर्ग का अभाव और समवसरण मे प्राणियो की निर्वैर वृत्ति ये दोनो अतिशय दोनो परम्पराओ में समान रूप से मान्य हैं।

छाया-रहित शरीर, आकाशगमन और निर्निमेष चक्षु ये तीन अतिशय जो दिगम्बर परम्परा मे मान्य हैं, श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायाग मे नही है।

इस तरह सकोच, विस्तार एव सामान्य दृष्टिभेद को छोडकर दोनो परम्पराओ मे ३४ अतिशय माने गये है। प्रत्येक तीर्थंकर इन चौतीस अतिशयो से सम्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर की वाणी के ३५ गुण

समवसरण मे तीर्थंकर भगवान् की मेघ सी वाणी पैंतीस अतिशयों के साथ अविरलरूप से प्रवाहित होती है। वे पैंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :—

(१) लक्षणयुक्त हो,
(२) उच्च स्वभावयुक्त हो,
(३) ग्रामीणता यानी हल्के शब्दादि से रहित हो,
(४) मेघ जैसी गम्भीर हो,
(५) अनुनाद अर्थात् प्रतिध्वनियुक्त हो,
(६) वक्रता-दोष-रहित सरल हो,
(७) मालकोशादि राग-सहित हो,
(८) अर्थ-गम्भीर हो,
(९) पूर्वापर विरोधरहित हो,
(१०) शिष्टतासूचक हो,
(११) सन्देहरहित हो,
(१२) पर-दोषों को प्रकट न करने वाली हो,
(१३) श्रोताओं के हृदय को आनन्द देने वाली हो,
(१४) बड़ी विचक्षणता से देश काल के अनुसार हो,
(१५) विवक्षित विषयानुसारी हो,
(१६) असम्बद्ध व अतिविस्तार रहित हो,
(१७) परस्पर पद एवं वाक्यानुसारिणी हो,
(१८) प्रतिपाद्य विषय का उल्लंघन करने वाली न हो,
(१९) अमृत से भी अधिक मधुर हो,
(२०) मर्मवेधी न हो,
(२१) धर्मार्थरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली हो,
(२२) अभिधेय अर्थ की गम्भीरता वाली हो,
(२३) आत्म-प्रशंसा व पर-निन्दा रहित हो,
(२४) श्लाघनीय हो,
(२५) कारक, काल, वचन और लिंग आदि के दोषों से रहित हो,
(२६) श्रोताओं के मन में आश्चर्य पैदा करने वाली हो,
(२७) अद्भुत अर्थ-रचना वाली हो,
(२८) विलम्बरहित हो,
(२९) विभ्रमादि दोषरहित हो,
(३०) विचित्र अर्थ वाली हो,
(३१) अन्य वचनों से विशेषता वाली हो,
(३२) वस्तुस्वरूप को साकार रूप में प्रस्तुत करने वाली हो,
(३३) सत्त्वप्रधान व साहसयुक्त हो,
(३४) स्व-पर के लिए खेदरहित हो, और
(३५) विवक्षित अर्थ की सम्यक्सिद्धि तक अविच्छिन्न अर्थ वाली हो।

भरत का विवेक

जिस समय भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उस समय सम्पूर्ण लोक में ज्ञान का उद्योत हो गया। नरेन्द्र और देवेन्द्र भी केवल-कल्याणक का उत्सव मनाने के लिये प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए।

सम्राट् भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आकर आयुधशाला में चक्र-रत्न उत्पन्न होने की शुभ सूचना भी दी।[1]

आचार्य जिनसेन के अनुसार उसी समय उन्हें पुत्र-रत्न-लाभ की तीसरी शुभ सूचना भी प्राप्त हुई।

---

१ (क) कल्पसूत्र १६६, पृ० ५८ (ख) आवश्यक नि० गाथा २६३।

एक साथ तीनों शुभ सूचनाएं पाकर महाराजा भरत क्षण भर के लिये विचार में पड गये कि प्रथम चक्र-रत्न की पूजा की जाय या पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया जाय अथवा प्रभु के केवलज्ञान की महिमा का उत्सव मनाया जाय ?

क्षण भर मे ही विवेक के आलोक मे उन्होने निर्णय किया—"चक्र-रत्न और पुत्र-रत्न की प्राप्ति तो अर्थ एवं काम का फल है, पर प्रभु का केवलज्ञान् धर्म का फल है। प्रारम्भ की दोनों वस्तुएं नश्वर हैं, जबकि तीसरी अनश्वर। अतः चक्र-रत्न या पुत्र-रत्न का महोत्सव मनाने के पहले मुझे प्रथम प्रभुचरणो की वन्दना और उपासना करनी चाहिये, क्योकि वही सब कल्याणों का मूल और महालाभ का कारण है। पहले के दोनो लाभ भौतिक होने के कारण क्षण-विध्वंसी हैं, जब कि भगवच्चरणवंदन आध्यात्मिक होने से आत्मा के लिये सदा श्रेयस्कर है।"[1] यह सोचकर चक्रवर्ती भरत प्रभु के चरण-वदन को चल पड़े।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र मे उपरिवर्णित तीन शुभ सूचनाओं मे से केवल चक्ररत्न के प्रकट होने की बधाई आयुधशाला के रक्षक द्वारा भरत को दिये जाने का ही उल्लेख है। भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति तथा भरत-चक्रवर्ती के पुत्ररत्न के जन्म की बधाई दिये जाने का जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में उल्लेख नही है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के विवरण को पढ़ने से स्पष्टत. प्रकट होता है कि उसमें भरत के जीवनचरित्र का अति संक्षेप में और उनके द्वारा षट्खण्ड साधना का मुख्य रूप से विस्तारपूर्वक विवरण दिया गया है। सभव है, इसी कारण इन दो घटनाओ का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में नहीं किया गया हो।

आदि प्रभु का समवसरण

केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति पा लेने के पश्चात् भगवान् ने जहाँ प्रथम देशना दी, उस स्थान और उपदेश-श्रवणार्थ उपस्थित जन समुदाय देव-देवी, नर-नारी, तिर्यंच समुदाय को समवसरण कहते हैं।

'समवसरण' पद की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—"सम्यग् एकीभावेन अवसरणमेकत्र गमनं-मेलापक. समवसरणम्।"[2] अर्थात्—अच्छी तरह एक स्थान पर मिलना अथवा साधु-साध्वी आदि संघ का एकत्र मिलना एवं व्याख्यान—सभा समवसरण कहाते हैं।

'भगवती सूत्र' मे क्रियावादी, अक्रियावादी अज्ञानवादी, विनयवादी, रूप वादियो के समुदाय को भी समवसरण कहा है। यहा पर तीर्थंकर के प्रवचन-सभा रूप समवसरण का ही विचार इष्ट है।

तीर्थंकर की प्रवचनसभा के लिये आचार्यों की मान्यता है कि भगवान्

---

१ (क) आवश्यक चू० पृ० १८१ (ख) तत्र धर्मफलं तीर्थं, पुत्रः स्यात् कामजं फलम्। अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फल चक्र प्रभास्वरम्। महापुराण २४।६।५७३।

२ अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, पृ० ४६०

गणधर समवसरण में पूर्व द्वार से प्रविष्ट हो, तीर्थंकर को वन्दन कर उनके दक्षिण की ओर बैठते हैं। इसी प्रकार अतिशय ज्ञानी, केवली और सामान्य साधु भी समवसरण मे पूर्व द्वार से प्रविष्ट होते हैं।

वैमानिक देविया पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर सामान्य साधुओं के पीछे की ओर खड़ी रहती है। फिर साध्विया पूर्व द्वार से समवसरण मे आकर वैमानिक देवियो के पीछे खडी रहती हैं।

भवनपति आदि की देवियां, समवसरण में दक्षिण द्वार से आकर क्रमशः आगे भवनपति देविया, उनके पीछे ज्योतिष्की देविया और उनके पीछे व्यन्तर देवियां ठहरती हैं। भवनपति आदि तीनो प्रकार के देव पश्चिमी द्वार से प्रवेश करते हैं।

वैमानिक देव और नरेन्द्र आदि मानव तथा मनुष्य स्त्रिया उत्तर द्वार से समवसरण मे आकर क्रमश. एक दूसरे के पीछे बैठते एव बैठती है। यहा दूसरी परम्परा यो बतलाई गई है :—

'देव्य सर्वा एव न निषीदन्ति, देवा, मनुष्या', मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति।' अर्थात्–सभी देविया नही बैठती. देव, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

देव और मनुष्यो की परिषद् का पहले प्राकार मे अवस्थान माना गया है।

दूसरे प्राकार मे पशु. पक्षी आदि तिर्यंच और तीसरे प्राकार मे यान-वाहन की अवस्थिति मानी गई है।

मूल आगमो में समवसरण की विशिष्ट रचना, व्यवस्था और प्रवेश-विधि का कोई उल्लेख नही है। संभव है उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने भावी समाज के लिये सघ-व्यवस्था का आदर्श बताने हेतु ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की हो।

श्वेताम्बर परम्परा के 'उववाइय सूत्र' मे भगवान् महावीर के समवसरण का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के चम्पा नगरी पधारने पर वनपालक द्वारा की गई बधाई से लेकर महावीर स्वामी की शरीर सम्पदा. आन्तरिक गुण, अनेक प्रकार के साधनाशील साधुओ का वर्णन, देव-परिषद्, मनुज-परिषद् और राजा-रानी आदि के आने-बैठने आदि की झाकी कराते हुए भगवान् का अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर विराजना बताया गया है।

'उववाइय सूत्र' सूत्र मे यह भी उल्लेख है कि श्रमणगण से परिवृत्त, ३४ अतिशय और ३५ विशिष्ट वाणी-गुणो से सम्पन्न प्रभु आकाशगत चक्र,

छत्र, चामर और स्फटिकमय सपादपीठ सिंहासन के आगे चलते हुए धर्मध्वज के साथ चौदह हजार श्रमण एवं छत्तीस हजार श्रमणियों के परिवार से युक्त पधारे। वहां पर ऋषि-परिषद्, मुनि-परिषद् आदि विशाल परिषदों में योजनगामिनी सर्वभाषानुयायिनी अर्द्धमागधी भाषा में तीर्थंकर महावीर की देशना का तो वर्णन है किन्तु इस प्रकार देवकृत समवसरण की विभूति का अथवा देव, देवी और साधुवृन्द कौन किधर से आये तथा कहां-कहा कैसे बैठे, इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

महिलाओं के समवसरण मे आगमन और अवस्थान का जहाँ तक प्रश्न है, सुभद्रा आदि रानियां कूरिणक को आगे कर खड़ी-खड़ी सेवा करती हैं, इस प्रकार का वर्णन है।[1] भगवती सूत्र में मृगावती एवं देवानन्दा के लिये भी ऐसा ही पाठ है। इस पाठ की व्याख्या में पूर्वकालीन और मध्ययुगीन व्याख्याकार आचार्यों का मतभेद स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है। पर अन्तर्मन यही कहता है कि दीर्घकाल में संयम की विशुद्ध आराधना के लिये स्त्रीसंसर्ग अधिक नहीं बढ़े, इस भावना से श्रमणों के समवसरण में महिलाओं के बैठने पर प्रतिबन्ध रखा हो, यह संभव है। वर्तमान की बदली परिस्थिति में आज ऐसा आराधन संभव नहीं रहा, अत सर्वत्र साध्वी एवं मातृमण्डल का व्याख्यान आदि में बैठना निर्दोष एवं आचीर्ण माना जाता है।

भगवद् दर्शन से मरुदेवी को मुक्ति

इधर माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तड़प रही थी। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह अपने प्रिय पुत्र ऋषभ को एक बार भी नहीं देख पाई थीं। फलतः अपने प्रिय पुत्र की स्मृति में उसके नयनों से प्रतिपल अहर्निश अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती थी।

भरत की विपुल राज्यवृद्धि को देखकर मरुदेवी उन्हें उलाहना देते हुए प्रायः कहा करती थीं—'वत्स भरत ! तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो, किन्तु मेरा लाडला लाल ऋषभ भूखा-प्यासा न मालूम कहाँ-कहाँ भटक रहा होगा ? तुम लोग उसकी कोई सार-सम्हाल नहीं लेते।'

भ० ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ सन्देश जब भरत ने सुना तो वे तत्काल माता मरुदेवी की सेवा में पहुँचे और उन्हें प्रभु के पुरिमताल नगर

---

१. कूरिणयं रायं पुरतो तिकट्टु ठितियाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति।
उववाई, सूत्र १२६, पृ ११६ (अमोलक ऋषिजी म.)

गणधर समवसरण मे पूर्व द्वार से प्रविष्ट हो, तीर्थंकर को वन्दन कर उनके दक्षिण की ओर बैठते हैं। इसी प्रकार अतिशय ज्ञानी, केवली और सामान्य साधु भी समवसरण मे पूर्व द्वार से प्रविष्ट होते हैं।

वैमानिक देवियां पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर सामान्य साधुओं के पीछे की ओर खड़ी रहती हैं। फिर साध्वियां पूर्व द्वार से समवसरण में आकर वैमानिक देवियों के पीछे खड़ी रहती है।

भवनपति आदि की देविया, समवसरण मे दक्षिण द्वार से आकर क्रमशः आगे भवनपति देविया, उनके पीछे ज्योतिष्की देविया और उनके पीछे व्यन्तर देवियां ठहरती हैं। भवनपति आदि तीनो प्रकार के देव पश्चिमी द्वार से प्रवेश करते हैं।

वैमानिक देव और नरेन्द्र आदि मानव तथा मनुष्य स्त्रियां उत्तर द्वार से समवसरण मे आकर क्रमश. एक दूसरे के पीछे बैठते एवं बैठती है। यहा दूसरी परम्परा यों बतलाई गई है :—

'देव्य सर्वा एव न निषीदन्ति, देवा, मनुष्या, मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति।' अर्थात्–सभी देविया नही बैठती. देव, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

देव और मनुष्यो की परिषद् का पहले प्राकार मे अवस्थान माना गया है।

दूसरे प्राकार मे पशु. पक्षी आदि तिर्यंच और तीसरे प्राकार मे यान-वाहन की अवस्थिति मानी गई है।

मूल आगमों में समवसरण की विशिष्ट रचना, व्यवस्था और प्रवेश-विधि का कोई उल्लेख नही है। संभव है उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने भावी समाज के लिये संघ-व्यवस्था का आदर्श बताने हेतु ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की हो।

श्वेताम्बर परम्परा के 'उववाइय सूत्र' मे भगवान् महावीर के समवसरण का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के चम्पा नगरी पधारने पर वनपालक द्वारा की गई बधाई से लेकर महावीर स्वामी की शरीर सम्पदा, आन्तरिक गुण, अनेक प्रकार के साधनाशील साधुओं का वर्णन, देव-परिषद्, मनुज-परिषद् और राजा-रानी आदि के आने-बैठने आदि की झांकी कराते हुए भगवान् का अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर विराजना बताया गया है।

'उववाइय सूत्र' सूत्र मे यह भी उल्लेख है कि श्रमणगण से परिवृत्त, ३४ अतिशय और ३५ विशिष्ट वाणी-गुणो से सम्पन्न प्रभु आकाशगत चक्र,

छत्र, चामर और स्फटिकमय सपादपीठ सिंहासन के आगे चलते हुए धर्मध्वज के साथ चौदह हजार श्रमण एवं छत्तीस हजार श्रमणियों के परिवार से युक्त पधारे। वहां पर ऋषि-परिषद्, मुनि-परिषद् आदि विशाल परिषदों में योजनगामिनी सर्वभाषानुयायिनी अर्द्ध मागधी भाषा में तीर्थंकर महावीर की देशना का तो वर्णन है किन्तु इस प्रकार देवकृत समवसरण की विभूति का अथवा देव, देवी और साधुवृन्द कौन किधर से आये तथा कहां-कहां कैसे बैठे, इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

महिलाओं के समवसरण में आगमन और अवस्थान का जहां तक प्रश्न है, सुभद्रा आदि रानियां कूणिक को आगे कर खड़ी-खड़ी सेवा करती हैं, इस प्रकार का वर्णन है।[1] भगवती सूत्र में मृगावती एवं देवानन्दा के लिये भी ऐसा ही पाठ है। इस पाठ की व्याख्या में पूर्वकालीन और मध्ययुगीन व्याख्याकार आचार्यों का मतभेद स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है। पर अन्तर्मन यही कहता है कि तीर्थंकाल में संयम की विशुद्ध आराधना के लिये स्त्रीसंसर्ग अधिक नहीं बढ़े, इस भावना से श्रमणों के समवसरण में महिलाओं के बैठने पर प्रतिबन्ध रखा हो, यह संभव है। वर्तमान की बदली परिस्थिति में आज ऐसा आराधन संभव नहीं रहा, अतः सर्वत्र साध्वी एवं मातृमण्डल का व्याख्यान आदि में बैठना निर्दोष एवं आचीर्ण माना जाता है।

भगवद् दर्शन से मरुदेवी को मुक्ति

इधर माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तड़प रही थी। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह अपने प्रिय पुत्र ऋषभ को एक बार भी नहीं देख पाई थीं। फलतः अपने प्रिय पुत्र की स्मृति में उसके नयनों से प्रतिपल अहर्निश अश्रु धारा प्रवाहित होती रहती थी।

भरत की विपुल राज्यवृद्धि को देखकर मरुदेवी उन्हें उलाहना देते हुए प्रायः कहा करती थी—'वत्स भरत ! तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो, किन्तु मेरा लाडला लाल ऋषभ भूखा-प्यासा न मालूम कहां-कहां भटक रहा होगा ? तुम लोग उसकी कोई सार-सम्हाल नहीं लेते।'

भ० ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ सन्देश जब भरत ने सुना तो वे तत्काल माता मरुदेवी की सेवा में पहुंचे और उन्हें प्रभु के पुरिमताल नगर

---

१ कूणियं रायं पुरतो तिकट्टु ठितियाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति।
उववाई, सूत्र १२६, पृ ११६ (अमोलक ऋषिजी म.)

के बहिस्थ शटकमुख उद्यान में पधारने और उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि का सुखद संदेश सुनाया। अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के आगमन का शुभ संवाद सुन कर माता मरुदेवी हर्षातिरेक से पुलकित हो उठी और तत्काल भरत के साथ ही गजारूढ हो प्रभु के दर्शनार्थ प्रस्थित हुई।

समवसरण के निकट पहुँच कर माता मरुदेवी ने त्रिलोकवन्द्य भ. ऋषभदेव की देवदेवेन्द्रकृत महिमा-अर्चा देखी तो वे सोचने लगीं—"अहो ! मैं तो समझती थी कि मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ कष्टों में होगा, किन्तु यह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में झूल रहा है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्त ध्यान से शुक्लध्यान मे आरूढ़ हुई और कुछ ही क्षणों मे ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के सघन आवरणों को दूर कर वे केवलज्ञान एव केवलदर्शन की धारक बन गई।[1]

चूर्णिकार के अनुसार छत्र, भामण्डलादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय मे शेष चार अघाति कर्मों को भी समूल नष्ट कर, गजारूढ स्थिति में ही वे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गई।[2] कुछ आचार्यों की मान्यता है कि माता मरुदेवी भगवान् ऋषभदेव की धर्मदेशना को सुनती हुई ही आयु पूर्ण होने से सिद्ध हो गई।

प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में, सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। तीर्थ-स्थापना के पूर्व सिद्ध होने से उन्हे अतीर्थ-सिद्ध स्त्रीलिंग सिद्ध भी कहा है।

देशना और तीर्थ स्थापना

केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् ऋषभदेव पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते, फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कई कारण बताये गये हैं। प्रथम तो यह कि जब तक देशना दे कर धर्मतीर्थ की स्थापना नही की जाती, तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नही होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है, समस्त

---

१ दिगम्बर परम्परा मे इसका उल्लेख नही है।

२ (क) करिस्कन्धाधिरूढैव, स्वामिनि मरुदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम् ॥
—त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, १।३।५३०

(ख) भगवतो य छत्तातिच्छत्तं पेच्छतीए चेव केवलनाणं उप्पन्नं, तं समयं च णं आयुं खुट्टं सिद्धा देवेहि य से पूया कता............।
—आवश्यक चूर्णि (जिनदास), पृ. १८१

जगजीवों की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया।[1] अतः भगवान ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है। वैदिक पुराणों में भी उन्हें दशविध धर्म का प्रवर्तक माना गया है।[2]

जिस दिन भगवान् ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था। उस दिन भगवान् ने श्रुत एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया।[3]

प्रभु ने समझाया कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, राग नहीं विराग है, वासना नहीं साधना है, वृत्तियों का हठात् दमन नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है।

भगवान् की पीयूषवर्षिणी वाणी से निकले हुए इन त्याग-विराग पूर्ण उद्गारों को सुन कर सम्राट् भरत के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्रों एवं सात सौ पौत्रों ने साधु-संघ में और ब्राह्मी आदि पाँच सौ सन्नारियों ने साध्वी-संघ में दीक्षा ग्रहण की।

महाराज भरत सम्यग्दर्शनी श्रावक हुए।

इसी प्रकार श्रेयांशकुमार आदि सहस्रों नर-पुंगवों और सुभद्रा आदि सन्नारियों ने सम्यग्दर्शन और श्रावक-व्रत ग्रहण किया।

इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप यह चार प्रकार का संघ स्थापित हुआ। धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् सर्वप्रथम तीर्थंकर कहलाये।

ऋषभसेन ने भगवान् की वाणी सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओं से उन्होंने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।[4]

---

१. प्रश्न प्र. संवर।

२. ब्रह्माण्ड पुराण........

३. (क) फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पन्नंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए॥
—आवश्यक निर्युक्ति गाथा-३४०

(ख) सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
—प्रश्न व्याकरण-२।१।

४. तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइओ तेण तिहिं पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताइं उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया।
—आ. चूर्णि पृ १८२

के बहिस्थ शटकमुख उद्यान में पधारने और उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि का सुखद संदेश सुनाया। अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के आगमन का शुभ संवाद सुन कर माता मरुदेवी हर्षातिरेक से पुलकित हो उठीं और तत्काल भरत के साथ ही गजारूढ हो प्रभु के दर्शनार्थ प्रस्थित हुई।

समवसरण के निकट पहुँच कर माता मरुदेवी ने त्रिलोकवन्द्य भ. ऋषभदेव की देवदेवेन्द्रकृत महिमा–अर्चा देखी तो वे सोचने लगीं—"अहो ! मैं तो समझती थी कि मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ कष्टों मे होगा, किन्तु यह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में झूल रहा है। इस प्रकार विचार करते-करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्त ध्यान से शुक्लध्यान में आरूढ हुई और कुछ ही क्षणो मे ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के सघन आवरणों को दूर कर वे केवलज्ञान एव केवलदर्शन की धारक बन गई।[1]

चूर्णिकार के अनुसार छत्र, भामण्डलादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय मे शेष चार अघाति कर्मों को भी समूल नष्ट कर, गजारूढ स्थिति में ही वे सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो गई।[2] कुछ आचार्यों की मान्यता है कि माता मरुदेवी भगवान् ऋषभदेव की धर्मदेशना को सुनती हुई ही आयु पूर्ण होने से सिद्ध हो गई।

प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में, सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। तीर्थ-स्थापना के पूर्व सिद्ध होने से उन्हें अतीर्थ-सिद्ध स्त्रीलिंग सिद्ध भी कहा है।

देशना और तीर्थ स्थापना

केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् ऋषभदेव पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते, फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कई कारण बताये गये हैं। प्रथम तो यह कि जब तक देशना दे कर धर्मतीर्थ की स्थापना नहीं की जाती, तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नहीं होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है, समस्त

---

१ दिगम्बर परम्परा में इसका उल्लेख नहीं है।

२ (क) करिस्कन्धाधिरूढैव, स्वामिनि मरुदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम् ॥

—त्रिषष्टि श पु चारित्र, १।३।५३०

(ख) भगवतो य छत्तातिछत्तं पेच्छतीए चेव केवलणाणं उप्पन्नं, त समयं च ण आयुं खुट्टं सिद्धा देवेहिं य से पूया कता............।

—आवश्यक चूर्णि (जिनदास), पृ १८१

जगजीवों की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया।[1] अतः भगवान ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है। वैदिक पुराणों में भी उन्हें दशविध धर्म का प्रवर्तक माना गया है।[2]

जिस दिन भगवान् ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था। उस दिन भगवान् ने श्रुत एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया।[3]

प्रभु ने समझाया कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, राग नहीं विराग है, वासना नहीं साधना है, वृत्तियों का हठात् दमन नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है।

भगवान् की पीयूषवर्षिणी वाणी से निकले हुए इन त्याग-विराग पूर्ण उद्गारों को सुन कर सम्राट् भरत के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्रों एवं सात सौ पौत्रों ने साधु-संघ में और ब्राह्मी आदि पाँच सौ सन्नारियों ने साध्वी-संघ में दीक्षा ग्रहण की।

महाराज भरत सम्यग्दर्शनी श्रावक हुए।

इसी प्रकार श्रेयांसकुमार आदि सहस्रों नर-पुंगवों और सुभद्रा आदि सन्नारियों ने सम्यग्दर्शन और श्रावक-व्रत ग्रहण किया।

इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप यह चार प्रकार का संघ स्थापित हुआ। धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् सर्वप्रथम तीर्थंकर कहलाये।

ऋषभसेन ने भगवान् की वाणी सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओं से उन्होंने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।[4]

---

१. प्रश्न प्र. संवर।

२. ब्रह्माण्ड पुराण........

३. (क) फग्गुणबहुले इक्कारसीई मह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पन्नंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए॥

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा-३४०

(ख) सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्न व्याकरण-२।१।

४. तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताइं उप्पन्ने विगते धुवे, तत्थ बम्भीवि पव्वइया।

—आ. चूर्णि पृ १८२

भगवान् के चौरासी गणधरों में प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। कहीं-कहीं पुंडरीक नाम का भी उल्लेख मिलता है परन्तु समवायाग सूत्र आदि के आधार से पुंडरीक नहीं, ऋषभसेन नाम ही संगत प्रतीत होता है।

ऋषभदेव के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले जिन चार हजार व्यक्तियों के लिये पहले क्षुधा, पिपासादि कष्टों से घबरा कर तापस होने की बात कही गई थी, उन लोगों ने भी जब भगवान् की केवल-ज्ञानोत्पत्ति और तीर्थ-प्रवर्तन की बात सुनी तो कच्छ, महा कच्छ को छोड़कर शेष सभी भगवान् की सेवा में आये और आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण कर सा सघ में सम्मिलित हो गये।[1]

आचार्य जिनसेन[2] के मतानुसार ऋषभदेव के ८४ गणधरों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. वृषभसेन
२. कुम्भ
३, दृढ़रथ
४. शत्रुदमन
५. देवशर्मा
६. धनदेव
७. नन्दन
८. सोमदत्त
९. सुरदत्त
१०. वायशर्मा
११. सुबाहु
१२. देवाग्नि
१३. अग्निदेव
१४. अग्निभूति
१५. तेजस्वी
१६ अग्निमित्र
१७. हलधर
१८ महीधर
१९. माहेन्द्र
२० वसुदेव
२१. वसुन्धर
२२. अचल
२३. मेरु
२४ भूति
२५ सर्वसह
२६. यज्ञ
२७. सर्वगुप्त
२८ सर्वप्रिय
२९ सर्वदेव
३०. विजय
३१. विजयगुप्त
३२. विजयमित्र
३३ विजयश्री
३४ परारूय
३५ अपराजित
३६ वसुमित्र
३७. वसुसेन
३८ साधुसेन
३९ सत्यदेव
४०. सत्यवेद
४१ सर्वगुप्त
४२. मित्र
४३. सत्यवान्
४४. विनीत
४५. संवर
४६ ऋषिगुप्त
४७. ऋषिदत्त
४८ यज्ञदेव
४९ यज्ञगुप्त
५० यज्ञमित्र
५१. यज्ञदत्त
५२ स्वायंभुव
५३. भागदत्त
५४ भागफल्गु
५५ गुप्त
५६ गुप्त फल्गु
५७. मित्र फल्गु
५८ प्रजापति
५९ सत्य यश
६० वरुण

---

१. भमवमो सगासे पव्वइता।"

—आ नि म पृ २३० (ब) त्रि १।३।६५८

२. हरिवंश पुराण, सर्ग १२, श्लोक ५४-७०

६१. धन वाहिक
६२ महेन्द्रदत्त
६३. तेजोराशि
६४. महारथ
६५ विजयश्रुति
६६. महाबल
६७. सुविशाल
६८. वज्र
६९. वैर
७०. चन्द्रचूड़
७१. मेघेश्वर
७२. कच्छ
७३. महाकच्छ
७४. सुकच्छ
७५. अतिबल
७६. भद्रावलि
७७ नमि
७८. विनमि
७९. भद्रबल
८०. नन्दी
८१. महानुभाव
८२. नन्दीमित्र
८३. कामदेव और
८४. अनुपम

□ □ □

प्रथम चक्रवर्ती भरत

प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के छः खण्डों के प्रथम सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् भरत हुए। वे भरतक्षेत्र के प्रथम राजा और प्रथम तीर्थंकर भ० ऋषभदेव के सौ पुत्रों मे सबसे बडे थे। पहले बताया जा चुका है कि उनकी माता का नाम सुमंगला था और जिस समय भ० ऋषभदेव की अवस्था ६ लाख पूर्व की हुई, उस समय उनकी बड़ी पत्नी सुमगला की कुक्षि से भरत और ब्राह्मी का युगल रूप में जन्म हुआ। जब भरत गर्भ मे आये, उस समय देवी सुमंगला ने भी तीर्थंकरों की माताओं के समान चौदह महास्वप्न देखे। उस समय तीन ज्ञान के धारक ऋषभकुमार ने सुमंगला की स्वप्नफल जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा था—"देवि! तुम्हारे गर्भ में एक ऐसा महाभाग्यशाली चरमशरीरी प्राणी आया है, जो इस भरतक्षेत्र के छै खण्डों का अधिपति प्रथम चक्रवर्ती होगा और अन्त में जन्म, जरा, मृत्यु आदि सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों के बीजभूत आठों कर्मों को मूलतः नष्ट कर शाश्वत शिवपद का अधिकारी होगा।" तदनुसार समय पर चक्रवर्ती पुत्ररत्न और सर्वांग-सुन्दरी पुत्री को प्राप्त कर सुमंगला के हर्ष का पारावार नही रहा। कुछ ही समय पश्चात् राजकुमार ऋषभ की द्वितीया धर्मपत्नी सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप में तथा कालान्तर में देवी सुमगला ने अनुक्रमशः ४९ पुत्रयुगलों के रूप में ९८ और पुत्ररत्नो को ४९ बार मे जन्म दिया।

संवर्द्धन और शिक्षा

सन्तानोत्पत्ति के उपलक्ष्य में सर्वत्र हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। नगर के नर-नारी असीम आनन्द का अनुभव करते हुए झूम उठे। सभी शिशुओं का बडे लाड-प्यार एव दुलार के साथ लालन-पालन किया जाने लगा। अनुक्रमश. वृद्धिगत होते हुए भरत आदि जब शिक्षा योग्य वय मे प्रविष्ट हुए तो स्वयं राजकुमार ऋषभदेव ने अपने पुत्रो एव पुत्रियों को विद्याओ एव कलाओ की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। जगद्गुरु भ० ऋषभदेव को शिक्षागुरु के रूप मे पा भरत आदि उन १०२ चरमशरीरियों ने अपने आपको धन्य समझा। उन्होने अपने पिता तथा गुरु भगवान् ऋषभदेव के चरणो मे बैठकर बडी निष्ठा और परिश्रम के साथ अध्ययन किया।

वे सभी कुशाग्रबुद्धि कुमार समस्त विद्याओ एवं पुरुषोचित बहत्तर (७२) कलाओ मे पारगत हुए। ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी लिपियो के ज्ञान और गणित आदि अनेक विषयो के साथ-साथ महिलाओ की ६४ कलाओ पर पूर्णरूपेण आधिपत्य प्राप्त किया।

इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम विद्याओं एवं कला के प्रशिक्षण का आदान-प्रदान भरत क्षेत्र में प्रारम्भ हुआ। इस अवसर्पिणी काल के प्रथम शिक्षक जगद्गुरु भ० ऋषभदेव और प्रथम शिक्षार्थी भरत आदि हुए।

जिस समय भरत की आयु चौदह लाख पूर्व की हुई, उस समय उनके पिता भगवान् ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ। त्रेसठ लाख पूर्व जैसी सुदीर्घावधि तक अपनी प्रजा की न्याय एवं नीतिपूर्वक परिपालना करते हुए राजोपभोग्य विविध भोगोपभोगों का अपने भोगावलि कर्म के अनुसार अनासक्त भाव से उपभोग करने के पश्चात् भ० ऋषभदेव अपने पुत्र भरत को विनीता के और बाहुबलि आदि ९९ पुत्रों को अन्यान्य राज्यों के राजसिंहासनों पर अभिषिक्त कर प्रव्रजित हो सकल सावद्य के त्यागी बन गये।

जिस समय विनीता के राजसिंहासन पर भरत का राज्याभिषेक किया गया, उस समय उनकी आयु सतहत्तर लाख पूर्व की हो चुकी थी। वे न्याय और नीति-पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभनाराच संहनन के धनी भरत इन्द्र के समान तेजस्वी, प्रियदर्शी, मृदुभाषी, महान् पराक्रमी और साहसी थे। वे शंख, चक्र, गदा, पद्म, छत्र, चामर, इन्द्रध्वज, नन्द्यावर्त, मत्स्य, कच्छप, स्वस्तिक, शशि, सूर्य आदि १००८ उत्तमोत्तम लक्षणों से सम्पन्न थे। वे बड़े ही उदार, दयालु, प्रजावत्सल एवं अजेय थे। अनुपम उत्तम गुणों के धारक महाराजा भरत की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में फहराने लगी।

इस प्रकार माण्डलिक राजा के रूप में विपुल वैभव तथा ऐश्वर्य का सुखोपभोग तथा प्रजा का पालन करते हुए महाराजा भरत का जीवन आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। महाराज भरत के, विनीता के राजसिंहासन पर आसीन होने के १००० वर्ष पश्चात् एक दिन उनके प्रबल पुण्योदय से उनकी आयुधशाला में दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। महान् प्रभावशाली, तेजपुंज चक्ररत्न को देखते ही आयुधशाला का रक्षक हर्षविभोर हो गया। हर्षातिरेक से उसका अंग-प्रत्यंग एवं रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसका मन परम प्रमुदित हो भुवन-भास्कर-भानु के करस्पर्श से खिले सोलह पंखुड़ियों वाले कमल के समान प्रफुल्लित हो गया। अभूतपूर्व उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव करता हुआ, हृष्ट-पुष्ट वह आयुधशाला का रक्षक चक्ररत्न के समीप गया। उसने चक्ररत्न की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा कर सांजलि शीर्ष झुका उसे सादर प्रणाम किया। तदनन्तर वह त्वरित गति से उपस्थान-शाला में महाराज भरत की सेवा में उपस्थित हुआ। "राजराजेश्वर आपकी सदा जय हो, विजय हो"—इन जयघोषों के गम्भीर घोष के साथ महाराज भरत को वर्द्धापित करते हुए आयुधशाला के रक्षक ने अपने भाल पर करबद्ध अंजलिपुट रखते हुए उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और

बोला—"हे देवानुप्रिय बधाई है, बधाई है, अभूतपूर्व बहुत बडी बधाई है। देव! आपकी आयुधशाला मे दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। हे देवानुप्रिय! आपके हृदय मन, मस्तिष्क और कर्णयुगल को परम प्रमोद प्रदान करने वाले इस परमप्रीतिकर शुभ संवाद को सुनाने के लिये ही मैं आपकी सेवा मे तत्काल समुपस्थित हुआ हूं। यह शुभ समाचार आपके लिये परम प्रियंकर हो।'

आयुधागार के संरक्षक के मुख से इस प्रकार का सुखद समाचार सुनकर महाराजा भरत को इतना हर्ष और संतोष हुआ कि उनके फुल्लारविन्द द्वय तुल्य आयत नेत्र-युगल विस्फारित हो उठे, मुख कमल खिल गया। वे सहसा अपने राजसिंहासन से घनघटा में चपला की चमक के समान शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार उठे कि उनके करकंकण, केयूर, कुण्डल, मुकुट, शैलेन्द्र की शिला के समान विशाल वक्षस्थल को सुशोभित करने वाले प्रलम्ब हार दोलायमान हो झूम उठे। महाराज भरत सिंहासन से उठ कर पादपीठ से नीचे उतरे। उन्होंने चरणपादुकाओं को उतार कर दुपट्टे का उत्तरासंग किया। वे करबद्ध हो अंजलि को अपने भाल से लगा चक्ररत्न को ओर मुख किये सात-आठ डग आगे की ओर चले। तदनन्तर उन्होने अपने वाम घुटने को खड़ा रखते हुए और दक्षिण जानु को झुका धरती पर रखते हुए दोनों हाथ जोड़ कर चक्ररत्न को प्रणाम किया। प्रणामानन्तर उन्होंने मुकुट के अतिरिक्त अपने शेष आभूषण आयुधशाला के रक्षक को प्रीतिदान अर्थात् पारितोषिक के रूप में प्रदान कर दिये। इस पारितोषिक के अतिरिक्त उन्होने उसे और भी विपुल और स्थायी आजीविका प्रदान की। इस प्रकार महाराज भरत ने आयुधागार के अधिकारी को पूर्णरूपेण संतुष्ट कर उसे विदा किया और पुन: वे अपने राजसिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ गये। तदनन्तर उन्होने अपने आज्ञाकारी अधिकारियो को आदेश दिया कि वे विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर समस्त मार्गों को झाड-बुहार-स्वच्छ बना सर्वत्र गन्धोदक का छिड़काव करे। राजमार्ग, वीथियो, चौराहो आदि मे विशाल एवं नयनाभिराम मचो का निर्माण करवा उन पर गगन मे फहराती हुई पताकाएं लगायें। उन अधिकारियों ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर तत्काल नगर के सभी भागो को स्वच्छ, सुन्दर, सुशोभित एव सुसज्जित बनाने का कार्य द्रुतगति से प्रारम्भ कर दिया।

अभ्यग मर्दन, स्नान, मज्जन, विलेपन के अनन्तर महार्घ्य वस्त्राभूषणो से अलंकृत हो राज्य के सभी उच्चाधिकारियो, गणनायको, दण्डनायकों, परिजनो, एवं मंगलकलश ली हुई विभिन्न देशो की दासियों से घिरे हुए महाराज भरत आयुधशाला की ओर प्रस्थित हुए। अति कमनीय विशाल छत्र से सुशोभित महाराज भरत के चारों ओर चामरवीजे जा रहे थे। हजारों कण्ठो से उद्घोषित जय-विजय के घोषों से गगनमण्डल गुंजरित हो रहा था। उनके अनेक अधिकारी भांति-भांति के सुगन्धित एव सुमनोहर पुष्प हाथो मे लिये चल रहे थे। उनके

आगे तुरी, शंख, पटह, पणव, भेरी, झल्लरी, मुरज, मृदंग, दुदुभी आदि वाद्य-वृन्दों के कुशल वादक अपने अपने वाद्ययन्त्रों की सधी हुई सुमधुर ध्वनि से जन-जन के मन को मुग्ध करते हुए चल रहे थे। विभिन्न देशों की दासियों के हाथों में चन्दनकलश, पुष्पकरडक, रत्नकरडक, विविध वस्त्राभूषणों की चंगेरियां, पंखे, गंधपिटकों एवं चूर्णों आदि की चंगेरियां थीं। इस प्रकार की अतुल ऋद्धि एवं बल-बल के साथ पग-पग पर सम्मानित एवं वर्द्धापित होते हुए महाराज भरत आयुधशाला मे पहुंचे। उन्होने चक्ररत्न को देखते ही प्रणाम किया। तदनन्तर चक्ररत्न के पास जाकर उन्होने उसे सर्वप्रथम मयूरपिच्छ से प्रमार्जित किया। तत्पश्चात् दिव्य जल की धारा से चक्ररत्न को सिंचित कर उस पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और कालागरु, गन्ध, माल्यादि से उसका अर्चन कर उस पर उन्होंने पुष्प, गन्ध, वर्ण, चूर्ण, वस्त्र एव आभरण आरोपित किये। तदनन्तर चक्ररत्न के समक्ष रजतमय श्वेत, सुकोमल एवं शुभ लक्षण वाले समुज्ज्वल चाँवलों से स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, मत्स्य, कलश और दर्पण—इन आठ मंगलों की रचना की। तदनन्तर महाराज भरत ने पांच वर्ण के सुमनोहर पुष्पों से अपनी अंजलि भर उन्हे अष्टमंगल पर विकीर्ण किया। इसके पश्चात् भरत ने चन्द्रकान्त, हीरे और वैडूर्य रत्न से निर्मित दण्ड वाले स्वर्ण मणि, रत्नादि से मण्डित वैडूर्य रत्न के धूप कड़कुल से सुगन्धित धूम्र के गोट निकालने वाले कृष्णागरु, कुंदरुक्क और तुरुष्क का धूप दिया। तदनन्तर सात-आठ कदम पीछे की ओर सरक कर अपनी देहयष्टि को झुका दक्षिण जानु को खड़े रखकर और वाम जानु को पृथ्वी से लगाकर चक्ररत्न को प्रणाम किया।

इस प्रकार चक्ररत्न को स्वागतपूर्वक बधाने के पश्चात् भरत अपनी उपस्थानशाला में लौटे और राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों के लोगों को बुलाकर उन्हे कर, शुल्क, दण्ड आदि से मुक्त एवं अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर आठ दिन तक चक्ररत्न का महामहिमा-महोत्सव मनाने का आदेश दिया। नागरिको ने विनीता नगरी को भलीभांति सजाया, स्थान-स्थान पर नृत्य, सगीत, नाटको आदि का आयोजन किया। नगर में सर्वत्र आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास का वातावरण व्याप्त हो गया। रंग-बिरंगे परिधान और बहुमूल्य आभूषणों से सुशोभित नर-नारीवृन्द आनन्द के सागर में कल्लोल करता हुआ झूम उठा। विनीता नगरी इन्द्रपुरी अलका सी सुशोभित होने लगी। आठ दिन तक विनीता नगरी मे आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास का साम्राज्य छाया रहा।

महामहिमा महोत्सव की अष्टाह्निका अवधि के समापन के साथ ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकला। एक हजार देवों से सुसेवित वह चक्ररत्न दिव्य

वाद्यों के गुरु-गंभीर-मृदु घोष के साथ आकाश में चलकर विनीता नगरी के मध्य भाग से होता हुआ गंगानदी के दक्षिणी तट से पूर्व दिशा में अवस्थित मागध तीर्थ की ओर प्रस्थित हुआ।

चक्ररत्न को मागध तीर्थ की ओर आकाश में जाते हुए देख महाराज भरत का हृदय-कमल परम प्रफुल्लित हो उठा। वे सब प्रकार के श्रेष्ठ आयुधों-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित चतुरंगिणी विशाल सेना को ले, अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हो चक्ररत्न का अनुगमन करने लगे। इस प्रकार हस्तिश्रेष्ठ पर आरूढ़ छत्र, चामरादि से सुशोभित भरत गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर बसे ग्राम, आगार, नगर, खेड़, कर्बट, मडम्ब द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह आदि जनावासों से मण्डित वसुन्धरा पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर दिग्विजय करते हुए चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर अग्रसर होने लगे। आकाश में चलता हुआ चक्ररत्न एक-एक योजन की दूरी पार करने के पश्चात् रुक जाता। वहीं भरत महाराज भी अपनी सेना का स्कन्धावार लगा सेना को विश्राम देते। गगनस्थ चक्ररत्न के आगे की ओर अग्रसर होते ही वे भी सेना सहित कूच करते। वे विजित प्रदेशों के अधिपतियों द्वारा सादर समुपस्थित की गई भेंट स्वीकार करते हुए बढ़ने लगे।

इस प्रकार प्रत्येक योजन के अन्तर पर पड़ाव डालते हुए महाराजा भरत मागध तीर्थ के समीप आये। वहां बारह योजन लम्बे और ९ योजन चौड़े स्थल पर उन्होंने अपनी सेना का पड़ाव डाला। तदनन्तर अपने वार्द्धिक रत्न को बुला कर उसे उन्होंने अपने लिये एक आवास और पौषध शाला का निर्माण करने का आदेश दिया। वार्द्धिकरत्न ने भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने स्वामी के योग्य एक आवास और पौषधशाला का निर्माण कर उन्हें सूचित किया। गजराज के स्कन्ध से उतर कर भरत ने पौषधशाला में प्रवेश किया। वहां के स्थान को प्रमार्जित कर उन्होंने दर्भासन बिछाया। मैथुन, आभरणालंकार, माला, पुष्प, विलेपन एवं सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रो का त्याग करने के पश्चात् दर्भासन पर बैठकर भरत ने मागध तीर्थ के अधिष्ठायक देव की साधना के लिये पौषध सहित अष्टम भक्त (तीन दिन के उपवास अथवा तेले) की तपस्या का प्रत्याख्यान किया। अष्टम भक्त की तपश्चर्या के पूर्ण होने पर महाराज भरत ने अपने आज्ञाकारी अधिकारियो को बुला सेना को प्रयाण के लिये सुसज्जित करने एवं अपने लिये चार घण्टों वाले अश्वरथ को तैयार करने का आदेश दिया। तदनन्तर स्नान-विलेपन के अनन्तर वस्त्रालंकारादि से अलंकृत एवं आयुधों से सुसज्जित हो चतुरंगिणी विशाल वाहिनी के जयघोषों के बीच वे अश्वरथ पर आरूढ़ हुए। चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर उन्होंने अपना रथ अग्रसर किया। उद्वेलित उदधि की क्षुब्ध लोल लहरों के समान सिंहनाद करती हुई अपनी विशाल सेना से विस्तीर्ण भूखण्डों को आच्छादित करते हुए भरत ने पूर्व दिशा

में मागध तीर्थ के तट से लवण समुद्र में प्रवेश किया। लवण समुद्र में जब उनके रथ की पीजनी भीगने लगी उस समय उन्होंने अपने रथ को रोका। रथ को रोककर उन्होंने मदोन्मत्त महिष के वर्तुलाकार मुड़े हुए शृङ्गों के समान, क्रुद्ध महाकाल की भृकुटि तुल्य शत्रुसंहारकारी रत्नमंडित अपने दिव्य धनुष की प्रत्यंचा पर स्व नामांकित वज्रसारोपम शर का संधान किया। तदनन्तर उन्होंने लक्ष्यवेध की वैशाखासन मुद्रा (ईषत् झुके बाँए चरण को आगे और दक्षिण चरण को एक हाथ पीछे की ओर जमाकर लक्ष्यवेध करने की मुद्रा) में अवस्थित हो आकर्णान्त प्रत्यंचा को खींचते हुए अतीव उदार, गुरु-गम्भीर, मृदु स्वर में निम्नलिखित उद्घोष किया :—

"आप सब सावधान होकर सुन लें—मेरे इस बाण के प्रभाव के बाहर जो देव, नाग, असुर और सुपर्ण हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूं और जो देव, नाग, असुर और सुपर्ण मेरे इस बाण की परिधि अथवा प्रभाव के आभ्यन्तर में आते हैं, वे भी सावधान होकर सुनलें कि वे सब मेरे आज्ञाकारी होवें।"

इन मृदु-मंजुल एवं गुरुगंभीर वचनों के उद्घोष के साथ भरत ने बाण को छोड़ा। भरत द्वारा छोड़ा गया वह नामांकित बाण मनोवेग से तत्काल ही बारह योजन की दूरी को लाँघकर मागध तीर्थाधिपति के भवन में गिरा। अपने भवन में गिरे उस बाण को देखते ही मागध तीर्थाधिपति देव बड़ा ही रुष्ट और कुपित हुआ। प्रचण्ड क्रोध के कारण उसके दोनों लोचन लाल हो गये, वह किट-किटा कर दाँत पीसने लगा। उसकी भृकुटि तन कर तिरछी हो गई और वह आक्रोश-पूर्ण रौद्र स्वर में बड़बड़ाने लगा—"सकल चराचर जगत में कोई भी प्राणी अपनी मृत्यु के लिये कभी प्रार्थना नहीं करता, पर इस प्रकार की सदा से अप्रार्थित मृत्यु की कामना-प्रार्थना करने वाला समस्त दुष्ट लक्षणों का निधान पुण्यहीन, चतुर्दशी अथवा अमावस्या का जन्मा हुआ, निर्लज्ज और निष्प्रभ यह ऐसा कौन है, जिसने मेरे समान महर्द्धिक देव के भवन पर बाण फेंका है। इस प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचन बोलता हुआ मागधदेव अपने सिंहासन से उठा और उस बाण के पास पहुंचा। उस बाण को उठाकर वह उसे देखने लगा। ज्योंही उसकी दृष्टि उस बाण पर अंकित नाम पर पड़ी त्योंही उसका क्रोध तत्काल शान्त हो गया। उसके मन में इस प्रकार के विचार, विनम्र अध्यवसाय और संकल्प उत्पन्न हुए कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में भरत नामक जो चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं, वे षट्खण्ड की साधना के लिये आये हैं। विगत, वर्तमान और भावी मागध तीर्थाधिप देवों का यह जीताचार है कि चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित हो उन्हें भेंट प्रस्तुत करें। अतः मेरा भी कर्त्तव्य है कि मैं भी भेंट लेकर चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित होऊं। इस प्रकार विचार कर मागध तीर्थाधिपति देव ने भरत को भेंट करने के लिये हार, मुकुट, कुंडल, कंकण, भुजबन्ध, वस्त्र, आभरण, भरत का नामांकित बाण और मागध तीर्थ का जल लिया और इन्हें लेकर

उत्कृष्ट त्वरित देवगति से चलकर जहाँ भरत चक्रवर्ती अवस्थित थे, वहां आकाश मे रुका। पांचों वर्णों के अति मनोहर दिव्य वस्त्रधारी मागधदेव के घुघरुओं की सम्मोहक मधुर ध्वनि ने सबका ध्यान आकाश की ओर आकर्षित किया। मागध देव ने जय विजय के घोष से भरत को वर्द्धापित करते हुए दोनों हाथ जोड़कर उनके सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया—"हे देवानुप्रिय ! आपने पूर्व में मागध तीर्थ की सीमापर्यन्त सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। अतः मैं आपके देश मे रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं। मैं आपके राज्य को पूर्व दिशा की अन्तिम सीमा का पालक (सरक्षक) हूं, यह विचार कर आप मेरी ओर से भेंट किये जा रहे प्रीतिदान को स्वीकार करें।" यह कहते हुए उसने अपने साथ भेंट हेतु लाई हुई उपर्युल्लिखित हार आदि सभी वस्तुएँ भरत को भेंट की। महाराज भरत ने मागध तीर्थाधिपति देव की भेंट को स्वीकार कर उसका सत्कार सम्मान किया और तदनन्तर उसे मधुर वचनो से विसर्जित किया।

मागधतीर्थ कुमार देव को विदा करने के पश्चात् महाराज भरत ने अपना रथ पीछे की ओर घुमाया और सेना सहित वे स्कन्धावार मे लौट आये। उपस्थानशाला के पास वे अपने रथ से उतरे। स्नान, मज्जन, विलेपन, आभरणालंकार विभूषण धारण आदि के अनन्तर उन्होने भोजनमण्डप मे उपस्थित हो अष्टमभक्त तप का पारण किया। भोजनोपरान्त उपस्थानशाला मे राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने अपने समस्त परिजनो एवं प्रजाजनो को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर उन्हे मागधतीर्थ कुमार देव का आठ दिन तक महिमा महोत्सव मनाने का आदेश दिया। अष्टाह्निक महोत्सव के सम्पन्न होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला। उस वज्ररत्न की नाभि वज्ररत्नमयी, आरा लोहिताक्ष रत्नमय और धुरा जम्बुरत्नमय था। उसकी आभ्यन्तर परिधि मे अनेक प्रकार के मणिमय क्षुरप्रवाल थे। यह मणियों और दिव्य मोतियो की जालियो से विभूषित था। उसकी घुघरियो से अहर्निश निरन्तर भेरी, मृदंग आदि बारह प्रकार के दिव्य वाद्ययन्त्रो की कर्णप्रिय अतीव सम्मोहक ध्वनि समस्त वातावरण को मुखरित-गुंजरित करती रहती थी। वह उदीयमान सूर्य की अरुणिम आभा के समान तेजस्वी एव भास्वर था। वह अनेक प्रकार की मणिमयी एवं रत्नमयी घंटिकाओ की रुचिर पंक्तियो से सुशोभित था। उसके चारों ओर सभी ऋतुओ के चित्र-विचित्र वर्णो वाले सुगन्धित एवं सुमनोहर पुष्पो की मालाएं लटक रही थी। वह आकाश मे चलता था। एक हजार देवता सदा संरक्षक के रूप में उसकी सेवा सन्निधि मे रहते थे। वह दिव्य वाद्य यन्त्रो के निनाद से अन्तरिक्ष और धरातल को आपूरित करता रहता था। उसका नाम सुदर्शन था जो कि चक्रवर्ती का पहला रत्न माना गया है।

आठ दिन के मागध देव के महामहोत्सव के सम्पन्न होने पर महाराज भरत ने देखा कि चक्ररत्न दक्षिण-पश्चिम के बीच की नैऋत्य कोण में वरदाम तीर्थ की ओर प्रस्थित हुआ है। महाराज भरत भी अभिषेक हस्ति पर आरूढ हो अपनी सेना को साथ ले चक्र के पीछे-पीछे चलने लगे। वे चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर आगे बढते हुए सर्वत्र अपनी जय पताका फहराते, विजितों से बहुमूल्य भेंट स्वीकार करते और एक एक योजन के अन्तर से सेना का पड़ाव डालते हुए वरदाम तीर्थ के पास आये। वहां अपनी सेना को पड़ाव डालने का आदेश दे भरत ने अपने वार्द्धिक रत्न से अपने लिये आवास और पौषधशाला का निर्माण करवाया।

तदनन्तर भरत ने पौषधशाला में प्रविष्ट हो अपने सब अलंकारों और आयुधों को उतार कर पूर्वोक्त विधि से वरदाम तीर्थाधिपति देव की साधना के लिये पौषधपूर्वक अष्टम भक्त किया। अष्टम भक्त के पूर्ण होने पर उन्होंने रथारूढ हो अपनी सेना के साथ वरदाम तीर्थ की ओर प्रयाण किया। लवण समुद्र के पास पहुंच कर भरत ने अपने रथ को लवण समुद्र में हांका। लवण समुद्र का पानी जब रथ की पीजली तक आ गया तब उन्होंने रथ को रोककर अपने धनुष पर पूर्वोक्त विधि से स्व नामांकित सर का संधान कर प्रत्यंचा को कान तक खींचते हुए उसे छोड़ा। मागध तीर्थाधिपति देव के समान ही वरदामतीर्थाधिपति भी भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने भरत की अधीनता स्वीकार करते हुए उन्हें मुकुट, वक्षस्थल का दिव्य आभरण, कंठ का आभरण, कटि-मेखला, कड़े और बाहुओं के आभरण भेंट किये। उसने हाथ जोड़कर भरत से कहा—"देवानुप्रिय! मैं आपका वशवर्ती किंकर और आपके राज्य की दक्षिण दिशा की सीमा का अंतपाल हूं।"

महाराज भरत ने वरदाम तीर्थकुमार देव की भेंट को स्वीकार किया। उसका सत्कार-सन्मान करने के पश्चात् उसे विसर्जित किया। तदनन्तर सेना सहित स्कन्धावार में लौट कर भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो द्वितीय अष्टभक्त तप का पारणा किया और उपस्थानशाला में सिंहासन पर आसीन हो अपनी प्रजा की अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों को करमुक्त कर आठ दिन तक वरदाम तीर्थाधिपति देव का महामहोत्सव मनाने का सबको आदेश दिया।

वरदाम तीर्थ कुमार देव का अष्ट दिवसीय महा महोत्सव सम्पन्न होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर अन्तरिक्ष में उत्तर पश्चिम दिशा के बीच की वायव्य कोण में प्रभास तीर्थ की ओर बढा। तत्काल महाराज भरत ने भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुगमन प्रारम्भ किया। एक एक योजन के अन्तर से सेना का पड़ाव डालते हुए और वायव्य दिशा के समस्त भूमण्डल को अपने अधीन करते हुए वे प्रभास तीर्थ के पास आये। वहां

सेना ने स्कन्धावार मे पड़ाव डाला। महाराज भरत ने अपने वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित पौषधशाला में प्रभास तीर्थाधिपति देव की साधना के लिये पूर्वोक्त विधि से पौषध सहित अष्टम भक्त किया। अष्टमभक्त तप के सम्पन्न होने के पश्चात् उन्होने रथारूढ हो अपनी सेना के साथ प्रभास तीर्थ की ओर प्रयाण किया। उन्होने लवण समुद्र में रथ की पीजनी पर्यन्त पानी आने तक रथ को हांका और पूर्ववत् ही अपने धनुष से प्रभास तीर्थाधिपति देव के भवन की ओर तीर छोड़ा। प्रभास तीर्थ का अधिष्ठाता देव भी रत्नों की माला, मुकुट, मौलिक-जाल, स्वर्णजाल, कड़े, बाहुओं के आभरण प्रभास तीर्थ का पानी, नामांकित बाण आदि अनमोल भेंट सामग्री लेकर भरत की सेवा मे पहुंचा। उसने वे सब वस्तुएं भरत को भेंट करते हुए करबद्ध हो निवेदन किया—"देवानुप्रिय ! मैं वायव्य दिशा का अन्तपाल, आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं।" भरत ने उसकी भेंट स्वीकार कर उसे सम्मानित कर विदा किया। सम्पूर्ण वायव्य दिशा को जीत कर अपने राज्य में मिलाने के पश्चात् भरत अपनी सेना सहित अपने सैन्य शिविर में लौट आये। स्नानादि से निवृत्त हो तृतीय अष्टम भक्त तप का पारणा करने के पश्चात् उन्होने अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुला कर उन्हें करमुक्त, शुल्क मुक्त एवं दंडमुक्त करते हुए प्रभास तीर्थाधिपति देव का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने की आज्ञा दी। सब लोगो ने आठ दिन तक महा महोत्सव मनाया।

तत्पश्चात् चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर दिव्य वाद्य यन्त्रों की सुमधुर ध्वनि से नभमण्डल को आपूरित करता हुआ अन्तरिक्ष मे सिन्धु महा नदी के दक्षिणी तट से पूर्व दिशा मे अवस्थित सिन्धु देवी के भवन की ओर अग्रसर हुआ। यह देख महाराज भरत बड़े हृष्ट एव तुष्ट हुए। अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हो सेना सहित वे भी चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए सिन्धु देवी के भवन के पास आये। वहा बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा स्कन्धावार बनवा सेना का पड़ाव डाला और अपने वार्द्धिक रत्न से अपने लिये आवास और पौषधशाला बनवा कर पौषधशाला में सिन्धु देवी की साधना के लिये भरत ने पौषध सहित चौथा अष्टम भक्त तप किया। अष्टम भक्त के पौषध मे वे पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के साथ दर्भ के आसन पर बैठ सिन्धु देवी का चिन्तन करते रहे। अष्टम भक्त तप के पूर्ण होते होते सिन्धु देवी का आसन प्रकम्पित हुआ। सिन्धु देवी ने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा कि भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड के साधनार्थ उसके भवन के पास आये हैं। यह त्रिकालवर्ती सिन्धु देवियो का जीताचार है कि वे चक्रवर्ती को भेंट समर्पित करें। अतः मुझे भी चक्रवर्ती भरत को उनके समक्ष जाकर भेंट प्रस्तुत करनी चाहिये। इस प्रकार विचार कर सिन्धु देवी रत्नजटित १००८ कुम्भकलश, भांति भांति के दुर्लभ मणिरत्नों से जटित दो

स्वर्णमय भद्रासन, भुजबन्ध आदि अनेक आभरण लेकर उत्कृष्ट देवगति से भरत महाराज के पास उपस्थित हुई और हाथ जोड़कर उन्हें निवेदन करने लगी :—"हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके अधिकारक्षेत्र में रहने वाली आपकी आज्ञाकारिणी किंकरी हूं अतः आप भेंट स्वरूप मेरा यह प्रीतिदान स्वीकार करें।"

इस प्रकार निवेदन कर सिन्धुदेवी ने भरत को अपने साथ लाई हुई उपरिलिखित सभी वस्तुएं भेंट स्वरूप समर्पित की। महाराज भरत ने सिन्धु देवी द्वारा भेंट की गई वस्तुओं को स्वीकार किया। तदनन्तर भरत ने सिन्धु-देवी का सत्कार सम्मान कर उसे आदरपूर्वक विदा किया।

सिन्धुदेवी को विदा करने के पश्चात् महाराजा भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो चतुर्थ अष्टमभक्त तप का पारणा किया। तदनन्तर उपस्थान शाला में सिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन हो अपनी प्रजा को कर, शुल्क, दण्ड आदि से मुक्त कर उसे सिन्धुदेवी का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। भरत महाराज की आज्ञानुसार आठ दिन तक सिन्धुदेवी का महामहोत्सव मनाया गया।

सिन्धुदेवी के अष्टाह्निक महोत्सव के अवसान पर वह सुदर्शन नामक चक्ररत्न भरत की आयुधशाला से निकल आकाशमार्ग से ईशान कोण मे वैताढ्य पर्वत की ओर बढ़ा। हस्तिस्कन्धाधिरूढ़ भरत अपनी विशाल वाहिनी के साथ चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर सभी प्रदेशों पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराते एवं विजित अधिपतियों से भेंट ग्रहण करते हुए एक एक योजन के अन्तर पर अपनी सेना का पड़ाव डाल पुनः कूच करते हुए वैताढ्य पर्वत की दक्षिणी तलहटी में आये। वहां सेना का पड़ाव डालने के पश्चात् वैताढ्य गिरिकुमार देव की साधना के लिये पौषधशाला में अष्टमभक्त और पौषधव्रत ग्रहण कर दर्भासन पर बैठ एकाग्रचित्त हो उसका चिन्तन करने लगे। अष्टम-भक्त तप के पूर्ण होते ही वैताढ्य गिरिकुमार देव का आसन डोलायमान हुआ। अवधिज्ञान द्वारा भरत चक्रवर्ती के आगमन तथा विगत, वर्तमान एवं भावी वैताढ्य गिरि कुमार देवो के जीताचार से अवगत हो भरत को भेंट करने के लिये अभिषेक योग्य अलंकार, कंकण, भुजबन्ध, वस्त्र आदि ले दिव्य देवगति से भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन किया :— "हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है, मैं भी आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं, अतः यह भेंट आपकी सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूं। आप इसे कृपा कर स्वीकार करें।"

महाराज भरत ने भेंट स्वीकार कर वैताढ्य गिरिकुमार देव का सत्कार-सम्मान किया और तदनन्तर उसे विदा किया। तत्पश्चात् महाराज भरत

सेना ने स्कन्धावार में पड़ाव डाला। महाराज भरत ने अपने वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित पौषधशाला में प्रभास तीर्थाधिपति देव की साधना के लिये पूर्वोक्त विधि से पौषध सहित अष्टम भक्त किया। अष्टमभक्त तप के सम्पन्न होने के पश्चात् उन्होंने रथारूढ़ हो अपनी सेना के साथ प्रभास तीर्थ की ओर प्रयाण किया। उन्होंने लवण समुद्र में रथ की पीजनी पर्यन्त पानी आने तक रथ को हांका और पूर्ववत् ही अपने धनुष से प्रभास तीर्थाधिपति देव के भवन की ओर तीर छोड़ा। प्रभास तीर्थ का अधिष्ठाता देव भी रत्नों की माला, मुकुट, मौलिक-जाल, स्वर्णजाल, कड़े, बाहुओं के आभरण प्रभास तीर्थ का पानी, नामांकित बाण आदि अनमोल भेंट सामग्री लेकर भरत की सेवा में पहुंचा। उसने वे सब वस्तुएं भरत को भेंट करते हुए करबद्ध हो निवेदन किया—"देवानुप्रिय ! मैं वायव्य दिशा का अन्तपाल, आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं।" भरत ने उसकी भेंट स्वीकार कर उसे सम्मानित कर विदा किया। सम्पूर्ण वायव्य दिशा को जीत कर अपने राज्य में मिलाने के पश्चात् भरत अपनी सेना सहित अपने सैन्य शिविर में लौट आये। स्नानादि से निवृत्त हो तृतीय अष्टम भक्त तप का पारणा करने के पश्चात् उन्होने अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुला कर उन्हें करमुक्त, शुल्क मुक्त एवं दंडमुक्त करते हुए प्रभास तीर्थाधिपति देव का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने की आज्ञा दी। सब लोगो ने आठ दिन तक महा महोत्सव मनाया।

तत्पश्चात् चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर दिव्य वाद्य यन्त्रों की सुमधुर ध्वनि से नभमण्डल को आपूरित करता हुआ अन्तरिक्ष मे सिन्धु महा नदी के दक्षिणी तट से पूर्व दिशा मे अवस्थित सिन्धु देवी के भवन की ओर अग्रसर हुआ। यह देख महाराज भरत बड़े हृष्ट एवं तुष्ट हुए। अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हो सेना सहित वे भी चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए सिन्धु देवी के भवन के पास आये। वहां बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा स्कन्धावार बनवा सेना का पड़ाव डाला और अपने वार्द्धिक रत्न से अपने लिये आवास और पौषधशाला बनवा कर पौषधशाला मे सिन्धु देवी की साधना के लिये भरत ने पौषध सहित चौथा अष्टम भक्त तप किया। अष्टम भक्त के पौषध मे वे पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के साथ दर्भ के आसन पर बैठ सिन्धु देवी का चिन्तन करते रहे। अष्टम भक्त तप के पूर्ण होते होते सिन्धु देवी का आसन प्रकम्पित हुआ। सिन्धु देवी ने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा कि भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड के साधनार्थ उसके भवन के पास आये हैं। यह त्रिकालवर्ती सिन्धु देवियो का जीताचार है कि वे चक्रवर्ती को भेंट समर्पित करें। अतः मुझे भी चक्रवर्ती भरत को उनके समक्ष जाकर भेंट प्रस्तुत करनी चाहिये। इस प्रकार विचार कर सिन्धु देवी रत्नजटित १००८ कुम्भकलश, भांति भांति के दुर्लभ मणिरत्नों से जटित दो

स्वर्णमय भद्रासन, भुजबन्ध आदि अनेक आभरण लेकर उत्कृष्ट देवगति से भरत महाराज के पास उपस्थित हुई और हाथ जोड़कर उन्हें निवेदन करने लगी :—"हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके अधिकारक्षेत्र में रहने वाली आपकी आज्ञाकारिणी किंकरी हूं अतः आप भेंट स्वरूप मेरा यह प्रीतिदान स्वीकार करें।"

इस प्रकार निवेदन कर सिन्धुदेवी ने भरत को अपने साथ लाई हुई उपरिलिखित सभी वस्तुएं भेंट स्वरूप समर्पित की। महाराज भरत ने सिन्धु देवी द्वारा भेंट की गई वस्तुओं को स्वीकार किया। तदनन्तर भरत ने सिन्धु-देवी का सत्कार सम्मान कर उसे आदरपूर्वक विदा किया।

सिन्धुदेवी को विदा करने के पश्चात् महाराजा भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो चतुर्थ अष्टमभक्त तप का पारणा किया। तदनन्तर उपस्थान शाला में सिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन हो अपनी प्रजा को कर, शुल्क, दण्ड आदि से मुक्त कर उसे सिन्धुदेवी का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। भरत महाराज की आज्ञानुसार आठ दिन तक सिन्धुदेवी का महामहोत्सव मनाया गया।

सिन्धुदेवी के अष्टाह्निक महोत्सव के अवसान पर वह सुदर्शन नामक चक्ररत्न भरत की आयुधशाला से निकल आकाशमार्ग से ईशान कोण में वैताढ्य पर्वत की ओर बढ़ा। हस्तिस्कन्धाधिरूढ़ भरत अपनी विशाल वाहिनी के साथ चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर सभी प्रदेशों पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराते एवं विजित अधिपतियों से भेंट ग्रहण करते हुए एक एक योजन के अन्तर पर अपनी सेना का पड़ाव डाल पुनः कूच करते हुए वैताढ्य पर्वत की दक्षिणी तलहटी में आये। वहां सेना का पड़ाव डालने के पश्चात् वैताढ्य गिरिकुमार देव की साधना के लिये पौषधशाला में अष्टमभक्त और पौषधव्रत ग्रहण कर दर्भासन पर बैठ एकाग्रचित्त हो उसका चिन्तन करने लगे। अष्टम-भक्त तप के पूर्ण होते ही वैताढ्य गिरिकुमार देव का आसन दोलायमान हुआ। अवधिज्ञान द्वारा भरत चक्रवर्ती के आगमन तथा विगत, वर्तमान एवं भावी वैताढ्य गिरि कुमार देवों के जीताचार से अवगत हो भरत को भेंट करने के लिये अभिषेक योग्य अलंकार, कंकण, भुजबन्ध, वस्त्र आदि ले दिव्य देवगति से भरत के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन किया :— "हे देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है, मैं भी आपके राज्य में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं, अतः यह भेंट आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं। आप इसे कृपा कर स्वीकार करें।"

महाराज भरत ने भेंट स्वीकार कर वैताढ्य गिरिकुमार देव का सत्कार-सम्मान किया और तदनन्तर उसे विदा किया। तत्पश्चात् महाराज भरत

ने स्नानादि से निवृत्त हो पाँचवे अष्टमभक्त तप का पारणा किया और अपने प्रजाजनों को करमुक्त कर पूर्ववत् वैताढ्य गिरि कुमार देव का भी अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। बड़े हर्षोल्लास से सबने अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाया।

इस पाँचवे अष्टाह्निक महोत्सव के समाप्त होते ही वह सुदर्शन चक्ररत्न पुन आयुधशाला से निकला और अन्तरिक्ष को दिव्य वाद्ययन्त्रो के निनाद से गुंजाता हुआ वैताढ्य की दक्षिणी तलहटी से पश्चिम दिशा मे तिमिस्र गुफा की ओर अग्रसर हुआ। यह देख भरत बड़े हृष्ट-तुष्ट एव प्रमुदित हुए। उन्होने अभिषेक हस्ति पर आरूढ हो अपनी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुसरण किया। एक एक योजन के प्रयाण के पश्चात् पडाव और पुनः प्रयाण के क्रम से वे तिमिस्र गुहा के समीप पहुचे। वहा बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े क्षेत्र मे अपनी सेना का पडाव डालकर महाराज भरत ने कृतमाल देव की आराधना के लिये पौषधशाला मे दर्भासन पर बैठ पौषध सहित अष्टमभक्त तप किया। इस छठे अष्टमभक्त तप के पूर्ण होते होते कृतमाल देव का आसन चलित हुआ और अवधिज्ञान के उपयोग से वस्तुस्थिति को यथावत् जानकर वह महाराज भरत को भेट करने हेतु उनके भावी स्त्रीरत्न के लिये तिलक आदि चौदह प्रकार के आभरण तथा अनेक प्रकार के वस्त्रालंकार एव आभरण आदि लेकर भरत की सेवा मे उपस्थित हुआ। उसने हाथ जोडकर भरत से निवेदन किया—"देवानुप्रिय! मैं आपके राज्य का निवासी आपका आज्ञाकारी किंकर हू। इसीलिये आपको प्रीतिदान के स्वरूप मे यह भेट समर्पित कर रहा हू। कृपा कर इसे ग्रहण करे।" इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् कृतमाल देव ने उपरिवर्णित सभी वस्तुए महाराज भरत को भेट की। भरत ने भेट स्वीकार कर कृतमाल देव का सत्कार-सम्मान किया और तदनन्तर उसे विसर्जित अर्थात् विदा किया।

कृतमाल देव को विदा करने के पश्चात् महाराज भरत ने आवश्यक कृत्यो से निवृत्त हो छठे तेले के तप का पारण किया। भोजनोपरान्त वे उपस्थानशाला मे सिहासन पर पूर्वाभिमुख हो आसीन हुए। उसी समय उन्होने प्रजाजनो को कर आदि से मुक्त कर कृतमाल देव का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया। आठ दिन तक बडी धूमधाम से कृतमाल देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाया गया।

उस छठे महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज भरत ने अपने सेनापतिरत्न सुषेन को बुलाकर आदेश दिया—"हे देवानुप्रिय! तुम चतुरगिणी सेना लेकर सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से लवण समुद्र और वैताढ्य पर्वत तक जो छोटा खण्ड है, उसके सब देशो को, वहा की सम अथवा विषम

सब प्रकार की भूमि पर विजय प्राप्त कर वहा से उत्तम वज्ररत्न आदि महार्घ्य वस्तुए भेंट में प्राप्त कर लाओ।"

यह सुनकर भरत चक्रवर्ती का सेनापति रत्न सुखसेन बड़ा हृष्ट एवं तुष्ट हुआ। उसने हाथ जोड़कर भरत महाराज की आज्ञा को "यथाज्ञापयति देव" कहकर शिरोधार्य किया। उसने सैन्य शिविर मे अपने कक्ष मे आकर अपनी सेना को सुसज्जित होने का आदेश दिया। अपने आज्ञाकारी सेवको को बुलाकर उन्हे अपने श्रेष्ठ गजराज को युद्ध के योग्य सभी साज सज्जाओ से सुसज्जित करने की आज्ञा दे स्नान किया। तदनन्तर सुदृढ अभेद्य कवच धारण कर वस्त्राभरण एवं आयुधो से सुसज्जित हो हाथी पर आरूढ हुआ। शिर पर छत्र धारण किये हुए सुखसेन सेनापति ने एक विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ जयघोषो के बीच सिन्धु नदी की ओर प्रयाण किया। सुखसेन सेनापति महा पराक्रमी, ओजस्वी, तेजस्वी, युद्ध में सर्वत्र अजेय, म्लेच्छो की सब प्रकार की भाषाओं का विशेषज्ञ, बड़ा ही मृदुभाषी, भरतक्षेत्र के सम, विषम, दुर्गम और गुप्त सभी प्रकार के स्थानो को जानने वाला, शस्त्र एवं शास्त्र दोनो प्रकार की विद्याओं मे निष्णात, अर्थशास्त्र एव नीतिशास्त्र मे पारगत और सम्पूर्ण भरतक्षेत्र मे अपने अजेय शौर्य के लिये विख्यात था। सिन्धु नदी के पास आकर सेनापति ने भरत चक्रवर्ती का चर्मरत्न उठाया, जिसे कि चक्रवर्ती घोर वृष्टि के समय उपयोग मे लिया करते है। उस चर्मरत्न का आकार श्रीवत्स के समान था, वह अचल, अकम्प एव उत्तमोत्तम कवच के समान अभेद्य था। वह चक्रवर्ती की सुविशाल समस्त चतुरंगिणी सेना को एक ही बार मे महानदियो और समुद्रों को उत्तीर्ण कराने मे पूर्णतः समर्थ था। वह चर्मरत्न शालि, यव, व्रीही, गेहूं, चने, चावल आदि सत्रह प्रकार के धान्य, सात प्रकार के रस, मसाले आदि सभी प्रकार की खाद्य सामग्री का उत्पत्ति स्थान था। धान्यादि जो भी वस्तु उसमें प्रात:काल बोई जाती तो वह उसी दिन संध्या समय तक पक कर तैयार हो जाती थी। वह चर्मरत्न बारह योजन से भी कुछ अधिक विस्तार मे फैल जाता था।

सुखसेन सेनापति ने इस प्रकार के अनेक अलौकिक गुणों से सम्पन्न चर्मरत्न को ग्रहण किया। वह तत्काल एक अति विशाल नाव के रूप मे परिवर्तित हो गया। उस नाव में अपने समग्र बल-वाहन एवं चतुरंगिणी के साथ सेनापति आरूढ हुए। महा वेगवती कल्लोलशालिनी उस सिन्धु महानदी को चर्मरत्न से सेना सहित पार कर सेनापति ने सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशो पर चक्रवर्ती भरत की विजय वैजयन्ती फहराने का अभियान प्रारम्भ किया। सेनापति ने क्रमशः सिंहल, बर्बर, अतिरमणीय अंगलोक, यवनद्वीप, श्रेष्ठ मणिरत्नों और स्वर्ण के भण्डारों से परिपूर्ण अरब देश, रोम, अरखंड, पंखुर, कालमुख, यवनक देश और उत्तर दिशा में वैताढ्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों, नैऋत्य कोण

के देशो और सिन्धु नदी से समुद्र पर्यन्त कच्छ देश पर विजय प्राप्त की। उन सभी विजित देशो के अधिपतियो से सुखसेन सेनापति को चक्रवर्ती भरत के लिये भेंट स्वरूप मणि-रत्न स्वर्णाभरणादि के विपुल भण्डार प्राप्त हुए। उन सब देशों के पत्तनों, महापत्तनों एवं मण्डलों आदि के स्वामियो ने सेनापतिरत्न को अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट प्रस्तुत करते समय हाथ जोड़कर उन्हें निवेदन किया—"चक्रवर्ती भरतेश्वर के सेनापति ! महाराज भरत हमारे स्वामी हैं। हम आपकी शरण मे आये है। हम आपके देश में रहने वाले आपके आज्ञाकारी सेवक है।"

सेनापति ने उन सबका सत्कार-सम्मान किया और प्रशासन सम्बन्धी बातचीत कर उन्हे विदा किया। उपर्युक्त, सिन्धु नदी के पश्चिम तट से लवण समुद्र और वैताढ्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों मे महाराज भरत की अखण्डित आज्ञा प्रसारित कर सुखसेन सेनापति सिन्धु महानदी को पार कर अपनी सेना के साथ भरत महाराज की सेवा में लौटा। सिन्धु नदी के पश्चिमी तट से लवण समुद्र और वैताढ्य पर्वत पर्यन्त सभी देशों पर अपने विजय अभियान का सारभूत वृतान्त भरत महाराज को सुनाने के पश्चात् सेनापति ने उन देशों से प्राप्त समस्त सामग्री उन्हे समर्पित की। महाराज भरत ने सेनापति का सत्कार सम्मान कर विसर्जित किया।

कतिपय दिनों तक महाराज भरत ने वहीं पर वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित अपने प्रासाद में और सेनापति तथा सैनिकों ने स्कन्धावार मे अनेक प्रकार के नाटक देखते एवं विविध भोगोपभोगों का उपभोग करते हुए विश्राम किया।

एक दिन महाराज भरत ने अपने सेनापतिरत्न सुखसेन को बुलाकर तिमिस्र गुफा के दक्षिण द्वार के कपाट खोलने का आदेश दिया। सेनापति ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर पौषधशाला मे पौषध सहित अष्टम-भक्त तप के द्वारा कृतमाल देव की आराधना की। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर स्नानान्तर वस्त्रालंकारो से सुसज्जित हो धूप, पुष्प, माला आदि हाथ में ले तिमिस्र गुफा के दक्षिणी द्वार के पास गया। सेनापति का अनुगमन करते हुए अनेक ईसर, तलवार, मांडविक, सार्थवाह आदि अपने हाथो में पुष्प आदि और अनेक देश-विदेशों की दासियों के समूह मंगल कलश आदि लिये तिमिस्र गुफा के द्वार पर पहुंचे।

सेनापति ने मयूर पिच्छ से कपाटो का प्रमार्जन और पानी की धारा से प्रक्षालन करने के पश्चात् उन कपाटो पर गोशीर्ष चन्दन के लेप से पांचों अंगुलियों सहित हथेली के छापे लगाये। गंध, माला आदि से कपाटों की अर्चना की। कपाटों के सम्मुख जानु प्रमाण पुष्पों का ढेर लगाया। कपाटों पर वस्त्र का आरोपण किया। तत्पश्चात् सेनापति ने स्वच्छ एवं श्वेत रजतमय सुकोमल

चावलों से कपाटों के समक्ष अष्ट मांगलिकों का आलेखन किया। वहां पुनः जानुप्रमाण पुष्पों का ढेर कर उसने चक्रवर्ती के दण्डरत्न को धूप दिया। हाथ जोड़कर कपाटों को प्रणाम किया। तदनन्तर रत्नमय मूठ वाले वज्रनिर्मित, शत्रुओं का विनाश करने मे समर्थ, चक्रवर्ती की सेना के मार्ग में खड्डों, गुफाओं एवं विषम स्थानों आदि को समतल बनाने मे सक्षम, उपद्रवों को नष्ट कर शान्ति के संस्थापक, सुखकर, हितकर और चक्रवर्ती के ईप्सित मनोरथ को तत्काल पूर्ण करने वाले दिव्य एवं अप्रतिहत चक्रवर्ती के दण्डरत्न को हाथ में लेकर सेनापति ने सात-आठ पांव पीछे की ओर सरक कर और पुनः बड़ी त्वरित गति से कपाटों की ओर बढ़कर उस दण्ड रत्न से तिमिस्र गुफा के दक्षिणी द्वार के कपाट पर पूरे वेग के साथ प्रहार किया। इसी प्रकार दूसरी बार और तीसरी बार भी प्रहार किया। सेनापति द्वारा तीसरे प्रहार के किये जाते ही तिमिस्र-प्रभा गुफा के कपाट घोर रव करते हुए पीछे की ओर सरके और पूरी तरह खुल गये। तिमिस्र प्रभा गुफा के द्वारखोलने केपश्चात् सेनापति महाराज भरत की सेवा में लौटा। तिमिस्रप्रभा के दक्षिणी द्वार के कपाटों के खुलने का सुसंवाद सुनकर भरत को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होने सेनापति को सम्मानित किया। उसी समय चक्ररत्न आयुधशाला से निकला और तिमिस्रप्रभा के दक्षिणी द्वार की ओर अग्रसर हुआ। यह देखकर भरत ने सेनापति को तत्क्षण प्रयाण के लिये सेना को सन्नद्ध करने एवं अपने लिये हस्तिरत्न को सुसज्जित करवाने का आदेश दिया।

सैनिक प्रयाण की पूरी तैयारी हो जाने के पश्चात् भरत महाराज श्रेष्ठ गजराज पर आरूढ हुए। उन्होने मणियों मे सर्वश्रेष्ठ चार अंगुल लम्बे और दो अंगुल चौड़े अनुपम कान्तिशाली मणिरत्न को अपने गजराज के दक्षिण कपोल पर धारण करवाया। इस मणिरत्न की एक हजार देवता अहर्निश सेवा करते थे। इस मणिरत्न की अगणित विशेषताओं में मुख्य-मुख्य विशेषताएं मे थी कि उस मणिरत्न को शिर पर धारण करने वाला सदा यौवन सम्पन्न, सुखी, स्वस्थ और परम प्रसन्न रहता। उस पर किसी भी प्रकार के शस्त्र का प्रहार नही होता। देव, मनुष्य और तिर्यंच किसी भी प्रकार के उपसर्ग उसका कभी पराभव नही कर सकते। वह सदा पूर्णतया निर्भय रहता है।

उस मणिरत्न को हस्तिरत्न के दक्षिण कपोल पर धारण करवाने के पश्चात् महाराज भरत ने आकाश को प्रकम्पित कर देने वाले जयघोषों के बीच अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ तिमिस्रप्रभा गुफा की ओर प्रयाण किया। उस गुफा के दक्षिण द्वार के पास आकर उन्होने उसमे प्रवेश किया। गुफा मे प्रवेश करते समय वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों चन्द्रमा सघन काली मेघ घटा मे प्रवेश कर रहा हो। उस काली घोर अन्धकारपूर्ण तिमिस्रप्रभा गुफा मे प्रवेश करते

ही भरत ने स्वर्णकार की अधिकरणी (एरण) के आकार के समान आकार वाले, छः तलों, बारह अंशो, और आठ कोनों वाले काकिणीरत्न को हाथ में लिया। वह काकिणी रत्न चार अगुल ऊचा तथा चार-चार अगुल लम्बा और चौड़ा तथा तौल मे आठ स्वर्ण पदिकाओ के बराबर था। जिस तिमिस्रप्रभा गुफा मे सूर्य, चाद और तारे प्रकाश नही कर पाते, वहा चक्रवर्ती द्वारा काकिणी रत्न को हाथ मे लेते ही, उसके प्रभाव से उस घोर अन्धकारपूर्ण तिमिस्रप्रभा गुफा मे बारह योजन तक प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। उस काकिणी रत्न मे अनेक अति विशिष्ट-गुण थे। उस काकिणी रत्न को धारण करने वाले पर स्थावर अथवा जगम किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नही होता। संसार मे जितने भी मान-उन्मान है, उन सब का सही ज्ञान काकिणी रत्न मे हो जाता। उसके प्रभाव से रात्रि मे भी दिन के समान प्रकाश रहता।

उस काकिणी रत्न के प्रभाव से भरत ने द्वितीय अर्द्ध भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त करने के लिये उस काली अधियारी गुफा मे प्रवेश किया। गुफा में प्रवेश करने के पश्चात् महाराज भरत ने उस गुफा की पूर्व और पश्चिम दोनों भित्तियों पर काकिणी रत्न से चन्द्र मडल के समान आकार वाले मण्डलो का एक-एक योजन के अन्तर पर आलेखन करना प्रारम्भ किया। इस तिमिस्रप्रभा गुफा को पार करने तक भरत ने एक-एक योजन के अन्तर से इस प्रकार के कुल मिलाकर ४६ मडल उस काकिणी रत्न से बनाये। उन मंडलो के प्रभाव से संपूर्ण गुफा मे चारो ओर दिन के समान प्रकाश ही प्रकाश हो गया। उस तिमिस्र प्रभा गुंफा के बीच मे उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो बडी भयावनी महा नदिया बहती हैं। उन्मग्नजला महानदी मे जो कोई भी तृण, पत्र, काष्ठ, कंकर, पत्थर, हाथी, घोडा, रथ, योद्धा अथवा कोई भी मनुष्य गिरता है, उसे वह तीन बार घुमाकर स्थल पर फेंक देती है। इसके विपरीत निमग्नजला महानदी अपने अन्दर गिरी हुई प्रत्येक वस्तु को, अपने अन्दर गिरे हुए किसी भी मनुष्य अथवा पशी को तीन बार घुमा कर अपने गहन तल में डुबो देती है। ये दोनो महानदियां उस गुफा की पूर्व दिशा की भित्ति से निकलकर पश्चिम दिशा की सिन्धु महानदी मे मिल गई है।

उस तिमिस्रप्रभा गुफा में चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुए महाराज भरत अपनी सेना के साथ सिन्धु नदी के पूर्व दिशा के किनारे पर उन्मग्नजला महानदी के पास आये। वहा उन्होंने अपने वार्द्धिक रत्न को उन दोनों नदियों पर अनेक शत स्तम्भो के अवलम्बन से युक्त अचल, अकम्प, अभेद्य, दोनो ओर अवलम्बन युक्त, सर्व रत्नमय ऐसा सुदृढ पुल बनाने का आदेश दिया जिस पर उनकी समग्र हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना और पदाति-सेना पूर्ण सुख-सुविधा के साथ आवागन कर सके। वार्द्धिक रत्न महाराज भरत का आदेश सुनकर अत्यधिक हृष्ट एवं तुष्ट हुआ। उसने अपने स्वामी की आज्ञा को

शिरोधार्य किया और देखते ही देखते उन दोनों महानदियों पर सैकड़ों स्तम्भों के आधार से संयुक्त एक अति विशाल एवं अतीव सुदृढ़ सेतु निर्मित कर दिया। सुदृढ़ सेतु का निर्माण करने के पश्चात् वार्द्धिक रत्न ने भरत की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—"देव ! आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिया गया है। देवानुप्रिय सुदृढ़ सेतु तैयार है।

तदनन्तर भरत ने उस सेतु पर होते हुए अपनी सेना के साथ उन दोनो महानदियों को पार कर तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार की ओर प्रस्थान किया। भरत के वहां पहुंचते ही उस गुफा के उत्तरी द्वार के कपाट कड़-कड़ निनाद के साथ स्वतः खुल गये। सेना सहित गुफा से पार हो महाराज भरत ने आगे की ओर प्रयाण किया।

उस समय भरतक्षेत्र के उस उत्तरार्द्ध विभाग मे आपात नामक चिलात अर्थात् म्लेच्छ जाति के लोग रहते थे। वे आपात लोग बड़े ही समृद्ध एवं तेजस्वी थे। वे विशाल एवं विस्तीर्ण भवनो मे रहते थे। उनके पास गृह, शैया, सिंहासन, रथ, घोड़े, पालकी आदि का प्राचुर्य था। उनके भण्डार स्वर्ण-रत्न आदि से परिपूर्ण थे। उनके वहा अन्न का उत्पादन बहुत अधिक होता था। अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि सामग्रियो से उनके कोष्ठागार भरे पड़े थे। उनके पास बहुत बड़ी संख्या में दास, दासी, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि थे। वे सब बड़े वेगवशाली, बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट, शूरवीर, मनुष्यो मे अपराभूत, अजेय, योद्धा और संग्राम में अमोघ लक्ष्य वाले थे। उनके पास बल और वाहनों का बाहुल्य था। जिन दिनों महाराज भरत ने अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ षट्खण्ड की साधना के लिये दिग्विजय का अभियान प्रारम्भ किया उन दिनो आपात चिलात नामक म्लेच्छ राजाओ के उस देश में, अकाल में गर्जन, अकाल मे तड़ित् की कड़क, अकाल मे ही वृक्षो पर पुष्प-फल आदि का उत्पन्न हो जाना और आकाश मे प्रेत जाति के देवो का नृत्य आदि अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। इन उपद्रवो को देख वे लोग बड़े चिन्तित हुए। जहा कहीं वे लोग एकत्रित होते, परस्पर यही बात करते कि हमारे देश मे न मालूम कैसा उपद्रव होने वाला है। इन उत्पातो को देखकर तो यही अनुमान होता है कि हमारे देश मे कोई न कोई भीषण उत्पात होने वाला है। अनिष्ट की आशंका से वे लोग शोक सागर मे निमग्न रहने लगे। अपनी हथेली पर कपोल रखकर वे लोग आर्त ध्यान करने लगे। उनमे से अधिकाश लोग किंकर्तव्यविमूढ बने भूमि पर दृष्टि गड़ाये ही बैठे रह जाते।

जिस समय महाराज भरत तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार से बाहर निकल कर उन आपात चिलातो के देश मे आगे बढ रहे थे उस समय उन आपात चिलात म्लेच्छो ने महाराज की सेना के अग्रिम कटक को अपने देश मे

ही भरत ने स्वर्णकार की अधिकरणी (एरण) के आकार के समान आकार वाले, छः तलों, बारह अंशों, और आठ कोनो वाले काकिणीरत्न को हाथ में लिया। वह काकिणी रत्न चार अगुल ऊचा तथा चार-चार अगुल लम्बा और चौड़ा तथा तौल मे आठ स्वर्ण पदिकाओ के बराबर था। जिस तिमिस्रप्रभा गुफा मे सूर्य, चाद और तारे प्रकाश नही कर पाते, वहा चक्रवर्ती द्वारा काकिणी रत्न को हाथ मे लेते ही, उसके प्रभाव से उस घोर अन्धकारपूर्ण तिमिस्रप्रभा गुफा मे बारह योजन तक प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। उस काकिणी रत्न मे अनेक अति विशिष्ट-गुण थे। उस काकिणी रत्न को धारण करने वाले पर स्थावर अथवा जगम किसी भी प्रकार के विष का प्रभाव नही होता। ससार मे जितने भी मान-उन्मान है, उन सब का सही ज्ञान काकिणी रत्न मे हो जाता। उसके प्रभाव से रात्रि मे भी दिन के समान प्रकाश रहता।

उस काकिणी रत्न के प्रभाव से भरत ने द्वितीय अर्द्ध भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त करने के लिये उस काली अधियारी गुफा मे प्रवेश किया। गुफा में प्रवेश करने के पश्चात् महाराज भरत ने उस गुफा की पूर्व और पश्चिम दोनो भित्तियों पर काकिणी रत्न से चन्द्र मडल के समान आकार वाले मण्डलो का एक-एक योजन के अन्तर पर आलेखन करना प्रारम्भ किया। इस तिमिस्रप्रभा गुफा को पार करने तक भरत ने एक-एक योजन के अन्तर से इस प्रकार के कुल मिलाकर ४६ मडल उस काकिणी रत्न से बनाये। उन मडलों के प्रभाव से संपूर्ण गुफा मे चारों ओर दिन के समान प्रकाश ही प्रकाश हो गया। उस तिमिस्र प्रभा गुफा के बीच मे उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो बडी भयावनी महा नदिया बहती हैं। उन्मग्नजला महानदी मे जो कोई भी तृण, पत्र, काष्ठ, ककर, पत्थर, हाथी, घोड़ा, रथ, योद्धा अथवा कोई भी मनुष्य गिरता है, उसे वह तीन बार घुमाकर स्थल पर फेंक देती है। इसके विपरीत निमग्नजला महानदी अपने अन्दर गिरी हुई प्रत्येक वस्तु को, अपने अन्दर गिरे हुए किसी भी मनुष्य अथवा पक्षी को तीन बार घुमा कर अपने गहन तल में डुबो देती है। ये दोनो महानदियां उस गुफा की पूर्व दिशा की भित्ति से निकलकर पश्चिम दिशा की सिन्धु महानदी में मिल गई है।

उस तिमिस्रप्रभा गुफा में चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुए महाराज भरत अपनी सेना के साथ सिन्धु नदी के पूर्व दिशा के किनारे पर उन्मग्नजला महानदी के पास आये। वहा उन्होने अपने वार्द्धिक रत्न को उन दोनों नदियो पर अनेक शत स्तम्भों के अवलम्बन से युक्त अचल, अकम्प, अभेद्य, दोनों ओर अवलम्बन युक्त, सर्व रत्नमय ऐसा सुदृढ पुल बनाने का आदेश दिया जिस पर उनकी समग्र हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना और पदाति-सेना पूर्ण सुख-सुविधा के साथ आवागन कर सके। वार्द्धिक रत्न महाराज भरत का आदेश सुनकर अत्यधिक हृष्ट एव तुष्ट हुआ। उसने अपने स्वामी की आज्ञा को

शिरोधार्य किया और देखते ही देखते उन दोनों महानदियो पर सेकड़ों स्तम्भों के आधार से संयुक्त एक अति विशाल एवं अतीव सुदृढ़ सेतु निर्मित कर दिया। सुदृढ सेतु का निर्माण करने के पश्चात् वार्द्धिक रत्न ने भरत की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—"देव ! आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिया गया है। देवानुप्रिय सुदृढ़ सेतु तैयार है।

तदनन्तर भरत ने उस सेतु पर होते हुए अपनी सेना के साथ उन दोनों महानदियों को पार कर तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार की ओर प्रस्थान किया। भरत के वहां पहुंचते ही उस गुफा के उत्तरी द्वार के कपाट कड़-कड़ निनाद के साथ स्वतः खुल गये। सेना सहित गुफा से पार हो महाराज भरत ने आगे की ओर प्रयाण किया।

उस समय भरतक्षेत्र के उस उत्तरार्द्ध विभाग मे आपात नामक चिलात अर्थात् म्लेच्छ जाति के लोग रहते थे। वे आपात लोग बड़े ही समृद्ध एवं तेजस्वी थे। वे विशाल एव विस्तीर्ण भवनो में रहते थे। उनके पास गृह, शैया, सिंहासन, रथ, घोड़े, पालकी आदि का प्राचुर्य था। उनके भण्डार स्वर्ण-रत्न आदि से परिपूर्ण थे। उनके वहा अन्न का उत्पादन बहुत अधिक होता था। अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि सामग्रियो से उनके कोष्ठागार भरे पड़े थे। उनके पास बहुत बड़ी सख्या में दास, दासी, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि थे। वे सब बड़े वेगवशाली, बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट, शूरवीर, मनुष्यो मे अपराभूत, अजेय, योद्धा और सग्राम मे अमोघ लक्ष्य वाले थे। उनके पास बल और वाहनो का बाहुल्य था। जिन दिनों महाराज भरत ने अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ षट्खण्ड की साधना के लिये दिग्विजय का अभियान प्रारम्भ किया उन दिनो आपात चिलात नामक म्लेच्छ राजाओ के उस देश में, अकाल में गर्जन, अकाल मे तडित् की कड़क, अकाल मे ही वृक्षों पर पुष्प-फल आदि का उत्पन्न हो जाना और आकाश मे प्रेत जाति के देवों का नृत्य आदि अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। इन उपद्रवो को देख वे लोग बड़े चिन्तित हुए। जहां कहीं वे लोग एकत्रित होते, परस्पर यही बात करते कि हमारे देश मे न मालूम कैसा उपद्रव होने वाला है। इन उत्पातो को देखकर तो यही अनुमान होता है कि हमारे देश मे कोई न कोई भीषण उत्पात होने वाला है। अनिष्ट की आशका से वे लोग शोक सागर में निमग्न रहने लगे। अपनी हथेली पर कपोल रखकर वे लोग आर्त ध्यान करने लगे। उनमे से अधिकाश लोग किंकर्तव्यविमूढ बने भूमि पर दृष्टि गड़ाये ही बैठे रह जाते।

जिस समय महाराज भरत तिमिस्रप्रभा गुफा के उत्तरी द्वार से बाहर निकल कर उन आपात चिलातो के देश मे आगे बढ़ रहे थे उस समय उन आपात चिलात म्लेच्छो ने महाराज की सेना के अग्रिम कटक को अपने देश मे

आगे की ओर बढ़ते देखा। उस अग्रिम सैनिक टुकड़ी को देखते ही वे बड़े क्रुद्ध हुए, उनका खून खोलने लगा और उसके परिणामस्वरूप उनकी आंखें लाल हो गईं। वे एक दूसरे को सावधान कर एकत्रित हुए और विचार विनिमय करते हुए कहने लगे कि यह अपनी अकाल मृत्यु की कामना करने वाला दुष्ट, पुण्यहीन चतुर्दशी और अमावस्या का जन्मा हुआ निर्लज्ज और निस्तेज कौन है, जो हमारे देश पर सेना लेकर चढ़ आया है। अहो देवानुप्रियो ! इसको पकड़ो, जिससे कि यह फिर कभी हमारे देश पर सेना लेकर आने का साहस न कर सके।

इस प्रकार परस्पर विचार कर वे लोग कवच सहित पट्ट आदि धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध हो महाराज भरत की सेना की अग्रिम टुकडी पर टूट पड़े। उन आपात जाति के चिलात योद्धाओं ने विशाल बल-वाहन के साथ भरत महाराज की सेना की उस अग्रिम टुकड़ी पर शस्त्रास्त्रो के एक साथ अनेक प्रहार किये। उन्होने उस अग्रिम टुकड़ी के पदातियो के मुकुट, ध्वजा, पताका आदि चिह्नो को गिरा दिया, उनमें से अनेकों को मारा, अनेकों को घायल किया। शेष उन युद्ध-शौण्डीर आपात-चिलातों से पूर्णतः पराजित हो दशों दिशाओं मे पलायन कर गये।

जब भरत महाराज के सेनापतिरत्न ने देखा कि उसकी सेना की अग्रिम टुकड़ी को चिलातों ने पूर्णतः पराजित कर दिया है, दशो दिशाओं में भगा दिया है, तो वे क्रोधातिरेक से दाँत पीसने लगे, उनके विशाल लोचन लाल हो गये। वे इन्द्र के अश्वरत्न उच्चैश्रवा से भी स्पर्धा करने वाले अपने कमलमेल नामक अश्व पर आरूढ़ हो, एक हजार देवताओं द्वारा अहर्निश सेवित खड्गरत्न महाराज भरत से लेकर उन आपात चिलातों पर गरुड वेग से झपटे। सेनापति द्वारा किये गये खड्ग-प्रहारो से उन आपात जाति के किरातो के बड़े-बड़े योद्धा धराशायी होने लगे। सुषेण सेनापति ने विद्युत्वेग से खड्ग चलाते हुए भीषण प्रहारों से कुछ ही क्षणों में आपात किरातों की सेना को हत, आहत एवं क्षत-विक्षत कर पलायन के लिये बाध्य कर दिया। आपात किरातों की सेना का कोई भी सुभट सुषेण सेनापति के सम्मुख क्षण भर भी नहीं टिक सका। कुछ ही क्षणों में आपात किरातों की सेना में भगदड़ मच गई, वे सब दशों दिशाओं में भाग खड़े हुए। सुषेण सेनापति के खड्गप्रहारों से वे इतने हतप्रभ, उद्विग्न और किंकर्तव्य विमूढ हुए कि वे सब रणांगण छोड़ वहां से अनेकों योजन दूर पीछे की ओर पलायन कर गये। वहां वे सब एकत्रित हो और कोई उपाय न देख सिन्धु नदी के तट के समीप गये। वहां उन्होंने नदी की बालू रेती का सस्तारक अर्थात् बिछौना बनाया। तदनन्तर सबने अष्टमभक्त तप ग्रहण किया। वे सब कपड़ो को उतार, पूर्णरूपेण नग्न हो अपने उन मिट्टी के संस्तारकों पर ऊपर की ओर मुख किये लेट गये। अष्टमभक्त तप में स्व

प्रकार उर्ध्वमुख लेटे लेटे उन्होंने अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमार की आराधना करना प्रारम्भ किया। जब उन आपात किरातो का सामूहिक अष्टम-भक्त तप पूर्ण हुआ तो मेघमुख नामक नागकुमार देवों का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान के उपयोग से उन नागकुमारों ने अपने आराधक आपात किरातों को उस दशा मे देखा। उन्होने अपने सब देवो को बुलाकर कहा—"हे देवानुप्रिय! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे आपात जाति के किरात सिन्धु नदी की रेती मे रेती का संस्तारक बना, बिल्कुल नग्न हो उर्ध्वमुख पड़े हुए अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमारों का स्मरण कर रहे हैं। अतः हमे उन लोगों के पास जाना चाहिये।"

इस प्रकार परस्पर मंत्रणा कर वे मेघमुख नामक नागकुमार देव उत्कृष्ट देवगति से उन आपात किरातो के पास आये। उन्होंने आकाश में ही खडे रहकर आपात किरातो को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रिय! तुम लोग इस दशा में जिनका स्मरण कर रहे हो, हम वे ही मेघमुख नामक नागकुमार और तुम्हारे कुल-देवता है। बोलो, हम तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करें?"

अपने कुलदेव को प्रत्यक्ष देख एव उनकी बात सुन आपात चिलात हृष्ट एवं तुष्ट हुए। अपने-अपने स्थान से उठकर सब उन मेघमुख नागकुमारो के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हुए और उनकी जय-विजय के घोष के साथ कहने लगे—"हे देवानुप्रिय! मृत्यु की कामना करने वाला कोई निर्लज्ज, दुष्ट हमारे देश पर आक्रमण कर हमारी स्वतन्त्रता छीनने आया है। इसलिये आप उस आततायी को मारो, उसकी सैन्य-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दशो दिशाओं मे भगा दो, जिससे कि वह फिर कभी हमारे देश पर आक्रमण करने का साहस न कर सके।"

उन आपात किरातो की बात सुनकर मेघमुख नागकुमार ने कहा—"हे देवानुप्रियो! वास्तविकता यह है कि यह भरत राजा चक्रवर्ती सम्राट् है, कोई भी देव, दानव, किन्नर, किंपुरुष, महोरग अथवा गन्धर्व शस्त्र प्रयोग अग्नि-प्रयोग अथवा मन्त्रप्रयोग से उनको न तो पीडित करने में समर्थ है और न उनका पराभव करने में ही। तथापि तुम लोगों की प्रीति के कारण हम भरत राजा को उपसर्ग उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं।"

आपात किरातों को इस प्रकार का आश्वासन देकर मेघमुख नागकुमारों ने वैक्रिय समुद्घात से मेघ का वैक्रिय किया और भरतराजा के सैन्य शिविर पर घनघोर मेघ घटा से घोर गर्जन एवं भीषण कड़क सहित मूसलद्वय अथवा मुष्टिद्वय प्रमाण जल धाराओं से निरन्तर सात दिन तक उत्कृष्ट गति से वर्षा-

आते की ओर बढ़ते देखा। उस अग्रिम सैनिक टुकड़ी को देखते ही वे बड़े क्रुद्ध हुए, उनका खून खोलने लगा और उसके परिणामस्वरूप उनकी आंखें लाल हो गईं। वे एक दूसरे को सावधान कर एकत्रित हुए और विचार विनिमय करते हुए कहने लगे कि यह अपनी अकाल मृत्यु की कामना करने वाला दुष्ट, पुण्यहीन चतुर्दशी और अमावस्या का जन्मा हुआ निर्लज्ज और निस्तेज कौन है, जो हमारे देश पर सेना लेकर चढ़ आया है। अहो देवानुप्रियो ! इसको पकड़ो, जिससे कि यह फिर कभी हमारे देश पर सेना लेकर आने का साहस न कर सके।

इस प्रकार परस्पर विचार कर वे लोग कवच सहित पट्ट आदि धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रो से सन्नद्ध हो महाराज भरत की सेना की अग्रिम टुकड़ी पर टूट पड़े। उन आपात जाति के चिलात योद्धाओं ने विशाल बल-वाहन के साथ भरत महाराज की सेना की उस अग्रिम टुकड़ी पर शस्त्रास्त्रों के एक साथ अनेक प्रहार किये। उन्होंने उस अग्रिम टुकड़ी के पदातियो के मुकुट, ध्वजा, पताका आदि चिह्नो को गिरा दिया, उनमें से अनेकों को मारा, अनेकों को घायल किया। शेष उन युद्ध-शौण्डीर आपात-चिलातों से पूर्णतः पराजित हो दशों दिशाओं मे पलायन कर गये।

जब भरत महाराज के सेनापतिरत्न ने देखा कि उसकी सेना की अग्रिम टुकड़ी को चिलातों ने पूर्णतः पराजित कर दिया है, दशो दिशाओं में भगा दिया है, तो वे क्रोधातिरेक से दाँत पीसने लगे, उनके विशाल लोचन लाल हो गये। वे इन्द्र के अश्वरत्न उच्चैश्रवा से भी स्पर्धा करने वाले अपने कमलमेल नामक अश्व पर आरूढ़ हो, एक हजार देवताओ द्वारा अहर्निश सेवित खड्गरत्न महाराज भरत से लेकर उन आपात चिलातों पर गरुड़ वेग से झपटे। सेनापति द्वारा किये गये खड्ग-प्रहारो से उन आपात जाति के किरातों के बड़े-बड़े योद्धा धराशायी होने लगे। सुषेण सेनापति ने विद्युत्वेग से खड्ग चलाते हुए भीषण प्रहारो से कुछ ही क्षणो में आपात किरातों की सेना को हत, आहत एवं क्षत-विक्षत कर पलायन के लिये बाध्य कर दिया। आपात किरातों की सेना का कोई भी सुभट सुषेण सेनापति के सम्मुख क्षण भर भी नहीं टिक सका। कुछ ही क्षणो में आपात किरातो की सेना में भगदड़ मच गई, वे सब दशों दिशाओं में भाग खड़े हुए। सुषेण सेनापति के खड्गप्रहारों से वे इतने हतप्रभ, उद्विग्न और किंकर्तव्य विमूढ़ हुए कि वे सब रणांगण छोड़ वहां से अनेकों योजन दूर पीछे की ओर पलायन कर गये। वहां वे सब एकत्रित हो और कोई उपाय न देख सिन्धु नदी के तट के समीप गये। वहां उन्होंने नदी की बालू रेती का सस्तारक अर्थात् बिछौना बनाया। तदनन्तर सबने अष्टमभक्त तप ग्रहण किया। वे सब कपड़ों को उतार, पूर्णरूपेण नग्न हो अपने उन मिट्टी के संस्तारको पर ऊपर की ओर मुख किये लेट गये। अष्टमभक्त तप में इस

प्रकार उर्ध्वमुख लेटे लेटे उन्होंने अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमार की आराधना करना प्रारम्भ किया। जब उन आपात किरातों का सामूहिक अष्टम-भक्त तप पूर्ण हुआ तो मेघमुख नामक नागकुमार देवों का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान के उपयोग से उन नागकुमारों ने अपने आराधक आपात किरातों को उस दशा में देखा। उन्होंने अपने सब देवों को बुलाकर कहा—"हे देवानुप्रिय! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आपात जाति के किरात सिन्धु नदी की रेती में रेती का संस्तारक बना, बिल्कुल नग्न हो उर्ध्वमुख पड़े हुए अपने कुल देवता मेघमुख नामक नागकुमारों का स्मरण कर रहे हैं। अतः हमें उन लोगों के पास जाना चाहिये।"

इस प्रकार परस्पर मंत्रणा कर वे मेघमुख नामक नागकुमार देव उत्कृष्ट देवगति से उन आपात किरातों के पास आये। उन्होंने आकाश में ही खड़े रहकर आपात किरातों को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रिय! तुम लोग इस दशा में जिनका स्मरण कर रहे हो, हम वे ही मेघमुख नामक नागकुमार और तुम्हारे कुल-देवता हैं। बोलो, हम तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करें?"

अपने कुलदेव को प्रत्यक्ष देख एवं उनकी बात सुन आपात किरात हृष्ट एवं तुष्ट हुए। अपने-अपने स्थान से उठकर सब उन मेघमुख नागकुमारों के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हुए और उनकी जय-विजय के घोष के साथ कहने लगे—"हे देवानुप्रिय! मृत्यु की कामना करने वाला कोई निर्लज्ज, दुष्ट हमारे देश पर आक्रमण कर हमारी स्वतन्त्रता छीनने आया है। इसलिये आप उस आततायी को मारो, उसकी सैन्य-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दशों दिशाओं में भगा दो, जिससे कि वह फिर कभी हमारे देश पर आक्रमण करने का साहस न कर सके।"

उन आपात किरातों की बात सुनकर मेघमुख नागकुमार ने कहा—"हे देवानुप्रियो! वास्तविकता यह है कि यह भरत राजा चक्रवर्ती सम्राट् है, कोई भी देव, दानव, किन्नर, किंपुरुष, महोरग अथवा गन्धर्व शस्त्र प्रयोग अग्नि-प्रयोग अथवा मन्त्रप्रयोग से उनको न तो पीड़ित करने में समर्थ है और न उनका पराभव करने में ही। तथापि तुम लोगों की प्रीति के कारण हम भरत राजा को उपसर्ग उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं।"

आपात किरातों को इस प्रकार का आश्वासन देकर मेघमुख नागकुमारों ने वैक्रिय समुद्घात से मेघ का वैक्रिय किया और भरतराजा के सैन्य शिविर पर घनघोर मेघ घटा से घोर गर्जन एवं भीषण कड़क सहित मूसलद्वय अथवा मुष्टिद्वय प्रमाण जल धाराओं से निरन्तर सात दिन तक उत्कृष्ट गति से वर्षा-

करने को प्रवृत्त हुए । विजयिनी सेना पर इस प्रकार की युग मूसल एव मुष्टिद्वय प्रमाण जल धाराओ से बरसती हुई घोर वृष्टि को देखकर महाराजा भरत ने चर्मरत्न को हाथ मे लिया । वह चर्मरत्न तत्काल बारह योजन विस्तार वाला बन गया । महाराज भरत तत्काल अपनी सेना के साथ उस चर्मरत्न पर आरूढ हो गये । तदनन्तर महाराज भरत ने दिव्य छत्ररत्न ग्रहण किया । वह छत्ररत्न तत्काल निन्यानवे हजार नव सौ स्वर्णमय ताडियो वाला निश्छिद्र, वर्तुलाकार, कमल की कर्णिका के समान आकार वाला अर्जुन नामक श्वेत स्वर्ण के वस्त्र से ढका हुआ, स्वर्णमय सुपुष्ट दण्ड वाला अत्यन्त सुन्दर मणियो एव रत्नो से मडित, ऋतु से विपरीत छाया वाला, एक सहस्र देवताओं द्वारा सेवित, साधिक बारह योजन विस्तार वाला छत्र बन गया । वह छत्ररत्न भरत चक्री द्वारा समस्त सेना पर छा दिया गया । तदनन्तर महाराज भरत ने अपने मणिरत्न को छत्र के मध्य मे रख दिया । उस मणिरत्न के प्रभाव से बारह योजन की परिधि मे दिन के समान प्रकाश हो गया । गाथापति रत्न उस चर्मरत्न पर सभी प्रकार के धान्य, वृक्ष, सभी प्रकार के मसाले, भाजियां, वनस्पति, आदि सभी आवश्यक वस्तुए प्रतिदिन निष्पन्न करने लगा । इस प्रकार महाराज भरत सात रात्रि तक चर्मरत्न पर सुखपूर्वक रहे, उन्हे और उनकी सेना को किसी भी प्रकार की किंचिन्मात्र भी असुविधा नही हुई । इस प्रकार सात अहोरात्र पूर्ण होने पर महाराज भरत के मन में इस प्रकार का सकल्प विकल्प उत्पन्न हुआ कि अनिष्ट मृत्यु की कामना करने वाला दुष्ट लक्षणो का निधान, निष्पुण्य, निर्लज्ज, निश्श्रीक कौन है जो पुण्य के प्रताप से समर्थ बने हुए एव यहा पर आये हुए मेरे विजयी चतुरंग सैन्य एव मुझ पर युगमूसल युगमुष्टि प्रमाण वर्षा सात अहोरात्र से निरन्तर बरसा रहा है ? महाराज भरत के इस प्रकार के मनोगत अध्यवसायो को जानकर उनके सान्निध्य मे रहने वाले सोलह हजार (१४ रत्नों के अधिष्ठायक १४ हजार और भरत की दोनों भुजाओं के अधिष्ठायक २ हजार) देव कवच, आयुध आदि से सुसज्जित हो मेघमुख नामक नागकुमारो के पास पहुँचे और उन्हें लल-कारते हुए कहने लगे :—"अरे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले यावत् ह्री-श्री परिवर्जित मेघमुख नामक नागकुमार देव ! तुम सात अहोरात्र से यह अविवेक-पूर्ण अनर्थ कर रहे हो । अब यहां से इसी क्षण भाग जाओ अन्यथा हम तुम्हें मारेंगे ।"

यह सुनते ही वे मेघमुख नामक नागकुमार देव बड़े भयभीत एव त्रस्त हुए । उन्होंने तत्काल मेघो का साहरण किया और वहां से तत्काल चले गये । उन्होने आपात किरातो के पास जाकर कहा :—"हे देवानुप्रियो ! यह चक्रवर्ती सम्राट् भरत महान् ऋद्धिशाली हैं । कोई भी देव, दानव अथवा मानव इनका पराभव करने में अथवा पीड़ा पहुंचाने मे समर्थ नही हैं । ये सर्वथा अजेय हैं ।

इसके उपरान्त भी तुम लोगों की प्रीति के कारण हमने उनके समक्ष उपसर्ग प्रस्तुत किया। उस घोर उपसर्ग से उनका किसी प्रकार का किंचिन्मात्र भी अप्रिय नहीं हुआ। अत: अब तुम लोग स्नानादि से निवृत्त हो भीगे हुए वस्त्र धारण किये हुए बालों को खुले रखकर अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नाभरणादि की विपुल भेंट लेकर उनकी शरण में जाओ। उन्हे हाथ जोड़कर प्रणाम करो और शीघ्रातिशीघ्र उनका आधिपत्य स्वीकार करो। वे महामना महान् उदार और शरणागतवत्सल है, उनकी शरण ग्रहण करने पर तुम्हे उनसे अथवा अन्य किसी से किसी भी प्रकार का भय नहीं होगा।" यह कहकर वे मेघमुख नामक नागकुमार देव अपने स्थान को लौट गये।

अपने कुलदेवता के चले जाने के पश्चात् उन आपात किरातों ने उनके परामर्शानुसार स्नान किया, तलि मसादिक किये। भीगे वस्त्र धारण कर अपनी केशराशि को खुली रखकर विपुल वज्र, मणि, रत्नाभरणादि साथ लेकर भरत की शरण मे गये। उन्होने हाथ जोड़कर भरत महाराज को प्रणाम किया, उन्हे भेंट करने के लिये अपने साथ लाई हुई बहुमूल्य रत्नाभरणादि सामग्री को उनके समक्ष रख उन्होने हाथ जोड़कर भरत से निवेदन करना प्रारम्भ किया—"हे हजार लक्षणो के धारक विजयी नरेन्द्र! हम सब आपकी शरण मे है। आपकी सदा जय हो, विजय हो। चिरकाल तक आप हमारे स्वामी रहे। आप चिरायु हों। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओ मे लवण समुद्र पर्यन्त, उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवन्त पर्यन्त आपका एकछत्र राज्य है। उत्तरार्द्ध भरत और दक्षिणार्द्ध भरत—इन दोनो को मिलाकर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर आपकी विजय वैजयन्ती फहराये, आपका एकच्छत्र शासन हो, आपकी अखण्ड आज्ञा प्रवर्तित रहे। हम लोग आपके देश मे आपकी आज्ञा मे रहने वाले आपके आज्ञाकारी सेवक है। आप हमारे स्वामी है। हे क्षमाशील स्वामिन्! आप हमारे अपराध को क्षमा करे। भविष्य मे हम लोग इस प्रकार का अपराध कभी नहीं करेंगे।"

भरत की सेवा मे इस प्रकार निवेदन करते हुए वे आपात चिलात हाथ जोड़कर भरत के चरणों में गिरे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार की और अपनी ओर से लाई हुई भेंट स्वीकार करने की उनसे प्रार्थना की। उन लोगो द्वारा समर्पित भेंट को स्वीकार करते हुए महामना भरत ने उनका सत्कार-सम्मान कर यह कहते हुए उन्हे विदा किया—"अब तुम लोग अपने घर जाओ और मेरे आश्रय मे सदा निर्भय हो सुखपूर्वक रहो।"

आपात किरातो को अपना आज्ञावर्ती बना, उन्हे विदा करने के पश्चात् महाराजा भरत ने अपने सेनापतिरत्न को बुलाकर पूर्व मे सिन्धु, दक्षिण में वैताढ्य पर्वत, पश्चिम मे लवण समुद्र और उत्तर में चुल्लहिमवंत पर्वत

पर्यन्त सिन्धु नदी के दूसरे खण्ड के सम अथवा विषम आदि सभी क्षेत्रो को जीत कर उनमें चक्रवर्ती की अखण्ड आज्ञा पालन करने का तथा उन क्षेत्रो के शासको से भेंट प्राप्त करने का आदेश दिया। महाराज भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर सेनापति ने चक्रवर्ती की चतुरंगिणी सेना को ले विजय अभियान प्रारम्भ किया। कुछ ही समय पश्चात् उन सभी क्षेत्रों को चक्रवर्ती भरत के विशाल राज्य में मिला, उन क्षेत्रों पर भरत की विजय पताका फहरा दी। उन क्षेत्रों के सभी शासकों से भरत के लिये भेंट प्राप्त कर सेनापति रत्न अपनी सेना के साथ भरत महाराज की सेवा मे लौटा और उनके समक्ष भेंट में प्राप्त विपुल बहुमूल्य रत्नाभरणादि सामग्री प्रस्तुत कर साजलि शीश झुका निवेदन किया—"देव! आपके प्रताप से सिन्धु नदी के दूसरे लघु खंड के सम्पूर्ण भूभाग के समस्त शासकों ने आपकी अधीनता स्वीकार करते हुए आपको अपना स्वामी और स्वयं को आपके आज्ञापालक सेवक मानते हुए आपके लिये भेट स्वरूप यह विपुल बहुमूल्य सामग्री भेजी है।"

महाराज भरत सेनापतिरत्न की बात सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुए। उन्होने सेनापति को सम्मानित किया। कतिपय दिनो तक महाराज भरत अनेक प्रकार के सुखोपभोगो का उपभुजन करते हुए सेना के साथ वही रहे।

एक दिन वह चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला और आकाश मार्ग से ईशान कोण में चुल्लहिमवत पर्वत की ओर अग्रसर हुआ। चतुरंगिणी सेना के साथ भरत भी चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए चुल्लहिमवन्त पर्वत के पास पहुंचे। वहा वार्द्धिक रत्न ने सेना के लिये १२ योजन लम्बा और ६ योजन चौड़ा स्कन्धावार एव महाराज भरत के लिये विशाल प्रासाद एवं पौषधशाला का निर्माण किया। सेना ने स्कन्धावार में विश्राम किया और महाराज भरत ने पौषधशाला मे दर्भासन पर बैठ चुल्लहिमवन्त कुमार देव की साधना के लिये पौषधसहित अष्टमभक्त तप किया। षट्खण्ड की साधना हेतु भरत का यह सातवा अष्टमभक्त तप था।

अष्टमभक्त की तपस्या के सम्पन्न होने पर भरत अश्वरथ पर आरूढ़ हो सेना सहित चुल्लहिमवन्त पर्वत के पास आये। उन्होने वहां अपने रथ से चुल्लहिमवन्त पर्वत का तीन बार स्पर्श किया। तदनन्तर रथ को रोका। अपने धनुष पर शर का सधान किया और मागध तीर्थ के अधिपति देव की साधना के समय जिस प्रकार के वाक्य कहे थे उसी प्रकार के वाक्यो का उच्चारण करने के पश्चात् अपना बाण छोड़ा। वह बाण बहत्तर योजन ऊपर जाकर चुल्लहिमवन्तगिरि कुमार देव के भवन मे गिरा। अपनी सीमा मे गिरे बाण को देखकर पहले तो बड़ा क्रुद्ध हुआ किन्तु बाण पर भरत का नाम देख अवधिज्ञान द्वारा वस्तुस्थिति से अवगत होने के अनन्तर भरत को भेंट करने के लिये सभी

प्रकार की अद्भुत औषधियां, राज्याभिषेक योग्य पुष्पमाला, गोशीर्ष चन्दन, अनेक प्रकार के रत्न, आभरण, अलंकार एवं पद्मद्रह का पानी, आदि लेकर उत्कृष्ट देवगति से तत्काल भरत की सेवा में उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—"देवानुप्रिय ! आपने चुल्लहिमवन्त वर्षधर पर्यन्त उत्तर दिशा पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके देश में रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर एवं आपके राज्य की उत्तर दिशा का अंतपाल देव हूं। आपको प्रीतिदान स्वरूप भेंट करने के लिये यह सामग्री लाया हूं, इसे आप स्वीकार करें।"

भरत ने चुल्लहिमवन्तगिरि कुमार देव द्वारा की गई भेंट को स्वीकार कर देव का सत्कार सम्मान किया और तदनन्तर उसे विदा किया।

उसी समय भरत ने अपने रथ को पीछे की ओर घुमाया और वे ऋषभ-कूट पर्वत के पास आये। उन्होंने अपने रथ से ऋषभकूट पर्वत का तीन बार स्पर्श किया। तत्पश्चात् रथ को रोककर उन्होंने अपने काकिणी रत्न से ऋषभ-कूट पर्वत के पूर्व दिशा की ओर के कटक अर्थात् पार्श्व के गगनचुम्बी शिलापट्ट पर निम्नलिखित अभिलेख लिखा :—

"इस अवसर्पिणी के तीसरे आरे के पश्चिम विभाग में भरत नाम का चक्रवर्ती हूं। मैं भरतक्षेत्र का अधिपति प्रथम राजा एवं नरवरेन्द्र हूं। मेरा कोई प्रतिशत्रु नहीं है। मैंने इस भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है।"

इस अभिलेख के आलेखन के पश्चात् भरत अपने विजयी सैन्य के स्कन्धावार में अपनी उपस्थान शाला में आये। स्नानादि के पश्चात् भरत ने अपने सातवें अष्टमभक्त तप का पारण किया और भोजनशाला से उपस्थान शाला में आ राजसिंहासन पर बैठ अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियों के लोगों को बुलाया। अपनी प्रजा को कर आदि से मुक्त कर चुल्लहिमवन्त गिरि कुमार देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया।

अष्टाह्निक महोत्सव के अवसान पर चक्ररत्न आकाशमार्ग से दक्षिण दिशा में वैताढ्य पर्वत की ओर प्रस्थित हुआ। चक्ररत्न का अनुसरण करते हुए भरत अपनी सेना के साथ वैताढ्य पर्वत के उत्तरी नितम्ब में पहुंचे। वहां बारह योजन लम्बे व नव योजन चौड़े स्कन्धावार में सेना ने पड़ाव डाला। वार्धिक रत्न द्वारा निर्मित पौषधशाला में प्रवेश करने से पूर्व भरत ने पुष्पादि सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं, आभरणों, अलंकारों एवं आयुधों आदि का परित्याग किया। तदनन्तर पौषधशाला में एक स्थान को प्रमार्जित कर वहां दर्भ का आसन बिछाया। उस दर्भासन पर बैठकर महाराज भरत ने नमी एवं विनमी नामक विद्याधर राजाओं को साधने के लिये अष्टम भक्त तप और

पौषधव्रत अंगीकार किया । ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भरत ने नमी और विनेमी नामक विद्याधर राज का मन मे ध्यान किया । इस प्रकार नमी विनमी का ध्यान करते हुए जब भरत का अष्टमभक्त तप पूर्ण होने आया, उस समय उन दोनों विद्याधर राजों को उनकी दिव्य मति से प्रेरणा मिली । वे दोनो परस्पर मिले और एक दूसरे को कहने लगे—"जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भरत नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हुए हैं । भूत, भविष्यत और वर्तमान काल के विद्याधर राजाओ के परम्परागत जीताचार के अनुसार हमें भी चक्रवर्ती के योग्य भेट लेकर उनकी सेवा मे उपस्थित होना चाहिये ।"

इस प्रकार का निश्चय कर विद्याधरों की दक्षिण श्रेणी के राजा नमी ने उत्तम वस्त्राभूषणादि और उत्तर श्रेणी के विद्याधर राज विनमी ने दिव्य मति की प्रेरणा से रूप, लावण्य और स्त्रियोचित सभी उत्तमोत्तम शुभ गुणों में अनिन्द्य सुन्दरी देवांगनाओं को भी तिरस्कृत करने वाला 'सुभद्रा' नामक स्त्रीरत्न भरत को भेंट करने के लिये अपने साथ लिया और वे दोनो उत्कृष्ट विद्याधर गति से भरत के पास आये । उन दोनों ने जय-विजय घोषों से भरत को वद्धापित करते हुए निवेदन किया—"अहो देवानुप्रिय ! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है । हम आप द्वारा शासित देश में रहने वाले आपके आज्ञाकारी किंकर हैं । कृपा कर आप हमारी ओर से यह प्रीतिदान ग्रहण करें ।"

भरत के समक्ष इस प्रकार निवेदन कर विनमी ने सुभद्रा नामक स्त्रीरत्न और नमी ने अत्युत्तम वस्त्र, आभूषण अलंकारादि भरत को भेंट किये। भरत ने उन दोनों विद्याधर राजों द्वारा समर्पित की गई भेंट स्वीकार की, उन दोनो का आदर-सत्कार किया और तदनन्तर उन्हे सम्मानपूर्वक विदा किया ।

नमी और विनमी विद्याधरो को विसर्जित करने के उपरान्त भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने आठवे अष्टमभक्त तप का पारण किया । तदनन्तर भरत ने उपस्थान शाला मे सिंहासन पर आसीन हो अपनी प्रजा को कर, शुल्क आदि से विमुक्त कर विद्याधरराज का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया । आठ दिन तक उत्तम अशन-पान, नृत्य, संगीत, नाटक आदि विविध सुखोपभोगों का उपभोग करते हुए सब ने बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाया ।

अष्टाह्निक महोत्सव के समाप्त होते ही चक्ररत्न आयुधशाला से निकल कर गगन पथ से ईशान कोण मे गंगादेवी के भवन की ओर अग्रसर हुआ । अपनी सेना के साथ चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए भरत गंगानदी के भवन के पास आये । सेना का पड़ाव डाल भरत ने पौषधशाला में गंगादेवी की आराधना के लिये पौषध सहित अष्टम भक्त तप किया । यह भरत चक्रवर्ती का ९ वां

अष्टम भक्त तप था। अष्टम भक्त की तपस्या के पूर्ण होते ही गंगादेवी भरत के समक्ष भेंट लेकर उपस्थित हुई। गंगादेवी ने हाथ जोड़कर भरत से कहा— "देवानुप्रिय! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके राज्य में रहने वाली आपकी आज्ञाकारिणी किंकरी हूं। अतः मैं प्रीतिदान के रूप मे आपको यह भेंट समर्पित कर रही हूं, आप इसे स्वीकार करें। यह कहते हुए गंगादेवी ने रत्नों से भरे एवं भांति-भांति के परम मनोहर अद्भुत चित्रो से चित्रित १००८ कुंभ-कलश और दिव्य मणि, रत्नादि से जटित दो सोने के सिंहासन भरत को भेंट किये। भरत ने गंगादेवी द्वारा समर्पित भेंट को स्वीकार करते हुए उसका सत्कार-सम्मान करने के पश्चात् उसे विदा किया।

गंगादेवी के चले जाने के पश्चात् भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने नौवें तेले के तप का पारण किया। तत्पश्चात् उपस्थानशाला में आ भरत पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर आसीन हुए। उन्होंने अठारह श्रेणि-प्रश्रेणियो के लोगो को बुला उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हुए गंगादेवी का अष्टाह्निक महा महोत्सव मनाने का आदेश दिया। आठ दिन तक भांति-भांति की प्रतियोगिताओं, दंगलों, नाटकों, हास्य, विनोद, नृत्य, संगीत, उत्तमोत्तम षड्रस अशन-पानादि का आनन्दोपभोग करते हुए सबने गंगादेवी का महा महोत्सव मनाया।

गंगादेवी के महोत्सव के सम्पन्न होने के पश्चात् चक्ररत्न आयुधशाला से निकलकर नभ भाग मार्ग से गंगा नदी के पश्चिमी तट से दक्षिण दिशा की खंडप्रपात गुफा की ओर बढ़ा। खंड प्रपात गुफा के पास सेना ने पड़ाव डाला। महाराज भरत ने खण्डप्रपात गुफा के अधिष्ठायक देव नृत्यमाल की आराधना के लिये पौषधशाला में प्रवेश कर डाभ के आसन पर बैठ अष्टम भक्त तप और पौषधव्रत किया। यह महाराज भरत का दसवां तेले का तप था। उन्होंने पौषध सहित अष्टमभक्त तप में नृत्यमाल देव का चिंतन किया। तपस्या के सम्पन्न होते होते नृत्यमाल देव भरत की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने भी हाथ जोड़कर भरत से कृतमाल देव के समान ही निवेदन करते हुए कहा—"हे देवानुप्रिय! आपने भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। मैं आपके राज्य मे रहने वाला आपका आज्ञाकारी किंकर हूं। कृपा कर आप मेरी यह भेंट प्रीतिदान के रूप में ग्रहण कीजिये।" यह कह कर उसने अलंकार करने योग्य कंकण आदि रत्नजटित आभूषणों आदि से परिपूर्ण अनेक भाड करण्ड आदि महाराज भरत को भेंट किये। उस भेंट को स्वीकार करते हुए भरत ने नृत्यमाल देव का सत्कार सम्मान किया और कुछ ही क्षणों पश्चात् उसे आदर सहित विदा किया।

नृत्यमाल देव को विसर्जित करने के पश्चात् महाराज भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो भोजनशाला में प्रवेश कर अपने दसवें तेले के तप का पारण

किया । तदनन्तर उपस्थान शाला में आ राजसिंहासन पर आसीन हो उन्होंने कृतमाल देव के समान नृत्यमाल देव का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने का आदेश दिया । पहले के अष्टाह्निक महोत्सव के समान ही यह महोत्सव भी मनाया गया ।

उस महोत्सव के पूर्ण होने पर महाराज भरत ने सुषेण सेनापतिरत्न को गंगा नदी, पूर्व मे अवस्थित लघु खण्ड पर विजय प्राप्त करने की आज्ञा देते हुए कहा—"जिसकी सीमा पश्चिम मे गंगानदी के पूर्व में लवण समुद्र, दक्षिण मे वैताढ्य पर्वत और उत्तर मे चुल्लहिमवन्त पर्वत है, उस समस्त लघु खण्ड के सम, विषम आदि सभी भूभागो पर अधिकार कर वहा के शासको से श्रेष्ठ रत्नादि की भेंट लेकर शीघ्र आओ ।"

महाराज भरत की आज्ञा पा सेनापति ने तत्काल गंगानदी के पूर्व मे स्थित लघु खण्ड पर विजय प्राप्त करने के लिये सेना के साथ प्रयाण किया । चर्मरत्न की सहायता से सेना सहित गंगा महानदी को पार कर सेनापति ने गंगानदी से पूर्व मे लवण समुद्र तक, दक्षिण में वैताढ्य पर्वत तक और उत्तर मे चुल्लहिमवन्त पर्यन्त सम-विषम सभी प्रकार के भूभाग पर विजय अभियान करते हुए उस सम्पूर्ण लघु खण्ड पर अधिकार किया । वहां के छोटे-बड़े सभी शासको को महाराज भरत के अधीन बना, उनसे बहुमूल्य और विपुल भेंट लेकर सेनापति सुषेण सेना सहित गंगानदी को पार कर महाराज भरत की सेवा मे लौटा । उसने हाथ जोडकर भरत से निवेदन किया—"देव ! आपकी आज्ञा का अक्षरश. पालन कर लिया गया है । वहा के शासको की ओर से प्राप्त हुई यह भेंट स्वीकार करे ।"

कतिपय दिनो के विश्राम के पश्चात् सुषेण सेनापति को बुलाकर महाराज भरत ने उन्हें खण्डप्रपात गुफा के उत्तर दिशा के द्वार खोलने की आज्ञा दी । सेनापति ने अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर तिमिस्रप्रभा के कपाटो के समान खण्डप्रपात गुफा के द्वारो को खोलकर महाराज भरत को उनकी आज्ञा की अनुपालना से अवगत किया । तत्पश्चात् महाराज भरत ने तिमिस्रप्रभा की ही तरह खण्डप्रपात गुफा मे प्रवेश कर काकिणी रत्न से उस गुफा की दोनो भित्तियों पर एक-एक योजन के अन्तर से कुल मिलाकर ४६ मण्डलों का आलेखन कर उसमे दिन के समान प्रकाश किया और वार्द्धिक रत्न द्वारा निर्मित सेतु से खण्डप्रपात गुफा की उन्मग्नजला और निमग्नजला महानदियों को उत्तीर्ण कर उस गुफा के स्वत: ही खुले दक्षिणी द्वार से खण्डप्रपात गुफा को पार किया ।

खण्डप्रपात गुफा से बाहर निकलकर महाराज भरत ने वार्ध्दि
सेना के लिये पूर्ववत् विशाल स्कन्धावार और अपने लिये प्रासाद "

शाला का निर्माण करवाया। पौषधशाला में जाकर महाराज भरत ने नव निधिरत्नो की आराधना हेतु पूर्वोक्त विधि के अनुसार पौषध सहित अष्टमभक्त तप किया। यह भरत का ११वा अष्टमभक्त तप था। उस तप मे डाभ के आसन पर बैठे हुए वे एकाग्रचित्त से निधि रत्नों का चिंतन करते रहे। नव-निधि के अपरिमित रक्त रत्न शाश्वत, अक्षय एवं अव्यय हैं। उनके अधि-ष्ठाता देव है। वे नव निधिरत्न लोक की पुष्टि करने वाले एवं विश्व-विख्यात है।

अष्टम तप का समापन होते-होते वे नव निधिरत्न महाराज भरत के पास ही रहने के लिये आ उपस्थित हुए। उन नव निधिरत्नो के नाम इस प्रकार है :—

१. नैसर्प, २. पाण्डुक, ३. पिंगल, ४. सर्वरत्न, ५. महापद्म, ६ काल, ७. महाकाल, ८. माणवक और ९. महानिधान शंख।

ये नव निधान सन्दूक के समान होते है। इनमे से प्रत्येक के आठ-आठ चक्र (पहिये) होते है। ये आठ-आठ योजन की ऊँचाई वाले, नव-नव योजन चौडे और बारह-बारह योजन लम्बे सदूक के संस्थान वाले होते हैं। महानदी गंगा जिस स्थान पर समुद्र में मिलती है, वहां ये नवों ही निधान रहते है। इनके वैडूर्य रत्नो के कपाट होते हैं। इनकी स्वर्णमयी मंजूषाएं अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण रहती है। इन सबके द्वार चन्द्र, सूर्य और चक्र के चित्रो से चित्रित रहते है। इनमे से प्रत्येक के अधिष्ठाता जो देव है, उनका एक-एक पल्योपम का आयुष्य होता है। जिस-जिस निधान के जो-जो देव है, उनका नाम भी उस-उस निधान के नाम जैसा ही होता है। उन देवताओ के आवास (निवास) वे निधान ही हैं। वे नव निधिरत्न अपार धन, रत्न आदि के संचय से समृद्ध होते है, जो भरत आदि चक्रवर्तियो के पास चले आते हैं अर्थात् जहां-जहा चक्रवर्ती जाता है, वहा-वहा उसके पांवो के नीचे धरती मे ये नव निधान चलते हैं।

नव निधानों को अपना वशवर्ती बनाकर महाराज भरत ने स्नानादि से निवृत्त हो अपने ग्यारहवे अष्टमभक्त तप का पारण किया। तप के पारण के पश्चात् भोजनशाला से निकलकर वे उपस्थानशाला मे राजसिंहासन पर आसीन हुए। उन्होंने अठारह श्रेणी प्रश्रेणियों को बुलाकर नव निधिरत्नों का अष्टाह्निक महामहोत्सव मनाने का आदेश दिया।

नव निधियो के अष्टाह्निक महामहोत्सव के पूर्ण होने पर उन्होंने अपने सेनापति को आदेश दिया—"देवानुप्रिय! पश्चिम में जिसकी गंगा महानदी सीमा है, पूर्व तथा दक्षिण में लवण समुद्र जिसकी सीमा है और उत्तर मे जिसकी सीमा वैताढ्य पर्वत तक है, उस गंगा महानदी के पूर्ववर्ती लघु खण्ड

पर विजय प्राप्त करो, उसके सम अथवा विषम सभी स्थानो पर अधिकार कर वहां के शासको से भेट ग्रहण कर शीघ्र ही मेरे पास लौट कर आओ ।"

सेनापतिरत्न ने सदल-बल विजय अभियान कर गंगा महानदी के पूर्ववर्ती लघु खण्ड को जीत वहां के शासकों से भेंट ग्रहण कर भरत की सेवा में लौटकर उन्हे सूचित किया कि उनकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन कर दिया गया है।

कुछ समय पश्चात् एक दिन चक्ररत्न आयुधशाला से बाहर निकला और आकाश मार्ग से भरत चक्रवर्ती की विशाल सेना के मध्य भाग मे होता हुआ विनीता नगरी की ओर अग्रसर हुआ।

यह देखकर भरत महाराज बड़े हृष्ट व तुष्ट हुए। उन्होने सेना को विनीता की ओर प्रस्थान के लिये तैयार होने तथा अपने लिये अभिषेक हस्ति को सुसज्जित करने का आदेश दिया।

विनीता नगरी की ओर प्रस्थान करने हेतु सम्पूर्ण दल-बल और चतुरगिणी सेना को सन्नद्ध एवं समुद्यत तथा अपने अभिषेक हस्ति को सुसज्जित देख चौदह रत्नो और नव निधियो के स्वामी, परिपूर्ण कोषो से सम्बद्ध, अहर्निश आज्ञापालन मे तत्पर ३२ हजार मुकुटधारी महाराजाओं से सेवित, शत्रुमात्र पर विजय करने वाले चक्रवर्ती भरत ६० हजार वर्षों की अवधि में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के ६ खण्डो की साधना करने के अनन्तर अपनी मुख्य राजधानी विनीता नगरी की ओर लौटने के लिए हस्तिरत्न पर आरूढ हुए। कोटि-कोटि कण्ठों से उद्गत उनके जयघोषों से गिरि, गगन और धरातल प्रतिध्वनित हो उठे। उनके सम्मुख सबसे आगे स्वस्तिक, श्री वत्स आदि अष्ट मगल, उनके पीछे पूर्ण कलश, झारी, दिव्य छत्र, तदनन्तर वैडूर्य रत्नमय विमल दण्डयुत छत्रधर अनुक्रमश चलने लगे। उनके पीछे अनुक्रमश ७ एकेन्द्रिय रत्न, १. चक्र रत्न, २. छत्र रत्न, ३ चर्म रत्न, ४ दण्ड रत्न, ५ खड्ग रत्न, ६. मणिरत्न और ७ काकिणी रत्न चलने लगे। चक्रवर्ती के उन ७ एकेन्द्रिय रत्नो के पीछे नव निधि रत्न चले। उनके पीछे अनुक्रमश. १६ हजार देव चले। देवो के पीछे क्रमश ३२ हजार महाराजा, सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वार्द्धिकरत्न और पुरोहितरत्न तथा स्त्रीरत्न चले। स्त्री रत्न के पीछे अनुक्रमश बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिका, उतनी ही जनपद कल्याणिका, बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाले बत्तीस हजार पुरुष, ३६० रसोइये, अठारह श्रेणी प्रश्रेणियां, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ और छयानवे कोटि पदातियो की सेना चली। सेना के पीछे बहुत से राजा, ईश्वर, युवराज तलवर, सार्थवाह आदि चले। उनके पीछे अनेक खड्गधर, दण्डधर, मालाओं को रखने वाले, चामर वीजने वाले, धनुर्धर, द्यूतक्रीड़क, परशुधर, पुस्तकधारी,

वीणावाहक, तेल के भाजन ले कर चलने वाले, हड़ नामक द्रव्य के भाजन को लेकर चलने वाले लोग अपने-अपने उपकरणों के अनुरूप चिह्न एवं वेशभूषा पहने हुए चलने लगे। उनके पीछे दण्डी, रुण्ड-मुण्ड, शिखाधारी, जटाधारी, मयूर आदि की पिच्छियों को धारण करने वाले, हास्य करने वाले, द्यूतक्रीडा का पटिया उठाने वाले, कुतूहल करने वाले, मीठे वचन बोलने वाले, चाटुकार कन्दप की चेष्टा करने वाले, वाक्शूर, गायक, वादक, नर्तक आदि नाचते, हँसते, खेलते, कूदते, क्रीडा करते हुए अपना तथा दूसरों का मनोरंजन-मनोविनोद करते हुए, शुभ वचन बोलते हुए एवं जयघोषों से नभमंडल को गुंजायमान करते हुए, राजराजेश्वर भरत के सम्मुख अग्रभाग में सभी प्रकार के श्रेष्ठ अश्वालंकारों से सुचारु रूपेण शृंगारित श्रेष्ठ जाति के लम्बे चौड़े अश्व (सिणगारू घोड़े), उन अश्वो की बाग पकड़ कर चलने वाले, चल रहे थे। भरत के वाम और दक्षिण दोनों पार्श्वों में अंकुशधरों (महावतों) सहित मदोन्मत्त गजराज और महाराज भरत के पृष्ठ भाग में सारथियों द्वारा कुशलतापूर्वक संचालित अश्वरथो की श्रेणिया चल रही थी।

इस प्रकार शैलेन्द्र की शिला के समान विशाल वक्षस्थल पर झूमती हुई हारावलियो से सुरेन्द्र के समान शोभायमान, दिग्दिगन्त मे लब्धप्रतिष्ठ, सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के एकच्छत्र सम्राट् नरेश्वर भरत चक्ररत्न द्वारा प्रदर्शित पथ पर कल्लोलित सागर की लोल लहरो के समान कल-कल निनाद करती हुई सेना तथा जनसमूह के साथ ग्राम, नगर आदि को उलांघते एवं एक-एक योजन के अन्तर पर पड़ाव डालते हुए एक दिन विनीता नगरी के पास आ पहुँचे। नगरी के बाहर बारह योजन लम्बे, नव योजन चौड़े स्कन्धावार और महाराज भरत के लिए आवास एव पौषधशाला का निर्माण वार्द्धिक रत्न ने मुहूर्त मात्र मे ही सम्पन्न कर दिया।

पौषध शाला में प्रवेश कर महाराज भरत ने विनीता राजधानी के देव की आराधना के लिए अष्टमभक्त तप किया। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर पौषध शाला से बाहर आ वे सुसज्जित अभिषेक हस्ति पर आरूढ़ हुए। उनके सम्मुख, दोनों पार्श्वों और पीछे की ओर पूर्व वर्णित अनुक्रम से अष्ट-मंगल, १४ रत्न, सोलह हजार देव, ३२ हजार मुकुटधारी महाराजा और विशाल जनसमूह जयघोषों से धरती और आकाश को गुंजाता हुआ चलने लगा। ९ महानिधिया और चतुरंगिणी सेना ने नगर मे प्रवेश नहीं किया।

इस प्रकार की अमरेन्द्र तुल्य ऋद्धि के साथ भरत ने विनीता नगरी मे प्रवेश किया। विनीता नगरी उस समय नववधू के समान सजी हुई थी। उसके चप्पे-चप्पे को प्रमार्जित एवं स्वच्छ करने के पश्चात् उसके बाह्याभ्यन्तर सभी भागो पर गन्धोदक का छिटकाव किया गया था। चमकते हुए रगो से प्रत्येक

घर को रंजित किया गया था। नगरी के मुख्य द्वारों, राजपथ, वीथियों, चतुष्पथों आदि को ध्वजाओं, पताकाओं, तोरणों आदि अद्‌भुत कलाकारी द्वारा सजाया गया था। स्थान-स्थान पर रखे हुए धूपपात्रों में मन्द-मन्द धुकधुकाती धूप एवं सुगन्धित धूप गुटिकाओं से निकल कर वायुमण्डल में व्याप्त हो रहे सुगन्धित धूम्र से नगरी का समग्र वातावरण गमक उठा था।

महाराज भरत अपनी उस अनुपम ऋद्धि के साथ नगरी के मध्यवर्ती राजपथ पर अग्रसर होते हुए जिस समय राजप्रासाद की ओर बढ़ रहे थे उस समय पग-पग पर नागरिकों द्वारा उनका अभिवादन किया गया, स्थान-स्थान पर उनका स्वागत किया गया, उन पर रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की गई। देवों ने राजपथ पर, वीथियों में और स्थान-स्थान पर सोने, चांदी, रत्नों, आभरणों, अलंकारों एवं वस्त्रों की वर्षा की।

स्तुति पाठकों के सुमधुर कण्ठों से उद्‌गत अद्‌भुत शब्द सौष्ठवपूर्ण सस्वर स्तुति गानों से श्रोता सम्मोहित हो उठे। बन्दीजनों द्वारा गाये गये भरत के महिमागान को सुन विनीता के नागरिकों का भाल गर्व से उन्नत और हृदय-कमल हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा। विनीता का वातावरण आनन्द और उल्लास से ओतप्रोत हो हर्ष की हिलोरों पर झूम उठा।

इस प्रकार अगाध आनन्दोदधि की उत्ताल तरंगों पर जन-मन और स्वयं को झुलाते हुए निखिल भरत क्षेत्र के एकछत्र अधिपति भरत चक्रवर्ती अपने भव्य राजभवन के अतीव सुन्दर अवतंसक द्वार पर आये। हाथी के होदे से नीचे उतर कर भरत ने क्रमशः सोलह हजार देवों, बत्तीस हजार मुकुटधारी राजाओं, सेनापति रत्न, गाथापति रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न, ३६० रसोइयों, अठारह श्रेणियों, अठारह ही प्रश्रेणियों, सब राजकीय विभागाध्यक्षों एवं सार्थवाह प्रमुखों का सत्कार सम्मान किया और उन्हें अच्छी तरह सम्मानित कर विसर्जित किया। उन सब को विसर्जित करने के पश्चात् महाराज भरत ने अपने स्त्री रत्न, बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाओं, बत्तीस हजार जनपद कल्याणिकाओं और बत्तीस हजार नाटक सूत्रधारिकाओं के परिवार के साथ अपने गगनचुम्बी विशाल राजप्रासाद में प्रवेश किया। राजप्रासाद में प्रवेश कर भरत ने अपने आत्मीयों, मित्रों, जाति बन्धुओं, स्वजनों, सम्बन्धियों एवं परिजनों से मिल कर उनसे उनके कुशलक्षेम के सम्बन्ध में पूछा। तदनन्तर स्नानादि से निवृत्त हो भोजनशाला में प्रवेश कर अपने १२वें अष्टमभक्त तप का पारण किया। तदनन्तर महाराज भरत ने अपने राजप्रासाद के निजी कक्ष में प्रवेश किया और वहां वे वाद्य यन्त्रों की धुनों, तालों और स्वरलहरियों के साथ पूर्णतः तालमेल रखने वाले नृत्य, संगीत और बत्तीस प्रकार के नाटकों का आनन्द लूटते हुए अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम सुखोपभोगों का उपभुंजन करते हुए रहने लगे।

इस प्रकार प्रबल पुण्योदय से प्राप्त होने वाले उत्तमोत्तम भोगोपभोगों का भुंजन करते हुए महाराजा भरत मन में इस प्रकार विचारने लगे—"मैंने अपने बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम के द्वारा चुल्लहिमवंत पर्वत से लवण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर विजय प्राप्त की है। अतः अब अपना महाभिषेक करवाना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। मन मे इस प्रकार का विचार आने पर प्रातःकालीन आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो महाराज भरत ने उपस्थानशाला मे राजसिंहासन पर पूर्वाभिमुख आसीन हो सोलह हजार देवो, बत्तीस हजार राजाओं, सेनापति रत्न, गाथापति रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न, तीन सौ साठ रसोइयो, अठारह-अठारह श्रेणी प्रश्रेणियो, अन्य राजाओ, ईश्वरों, तलवरों, सार्थवाहों आदि को बुला कर कहा—"अहो देवानुप्रियो! मैंने अपने बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम से सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की है, अतः आप लोग अब मेरा राज्याभिषेक करो।"

महाराज भरत की बात सुन कर वे सोलह हजार देव और सभी उपस्थित जन बड़े हृष्ट एव तुष्ट हुए। सब ने हाथ जोड़ विनयपूर्वक शीश झुका अपनी आन्तरिक सहमति प्रकट की।

तत्पश्चात् महाराजा भरत ने पौषधशाला में जा कर पूर्वोक्त विधि से अष्टमभक्त तप अंगीकार किया और तप मे ध्यान करते रहे। अष्टमभक्त तप के पूर्ण होने पर उन्होने आभियोगिक देवो को बुला कर उन्हे विनीता नगरी के ईशान कोण मे एक बड़ा अभिषेक मण्डप तैयार करने की आज्ञा दी।

आभियोगिक देवो ने महाराज भरत की आज्ञानुसार राजधानी विनीता नगरी के ईशान कोण में वैक्रिय शक्ति द्वारा एक अति भव्य एवं विशाल अभिषेक मण्डप का निर्माण किया। उन्होने उस अभिषेक मण्डप के मध्य भाग मे एक विशाल अभिषेक-पीठ (चबूतरे) की रचना की। उस अभिषेक पीठ के पूर्व, दक्षिण और उत्तर मे तीन त्रिसोपानो (पगोतियो) की रचना की। तदनन्तर उन आभियोगिक देवो ने अति रमणीय उस अभिषेक पीठिका पर एक बड़े ही नयनाभिराम एव विशाल सिंहासन की रचना की।

इस प्रकार एक परम सुन्दर और अति विशाल अभिषेक मण्डप की रचना करने के पश्चात् महाराज भरत के सम्मुख उपस्थित हो हाथ जोड़ कर निवेदन किया—"हे देवानुप्रिय! आपकी आज्ञानुसार एक विशाल अभिषेक मण्डप का निर्माण कर दिया गया है।"

आभिनियोगिक देवो की बात सुन कर महाराज भरत बड़े प्रसन्न हुए। उन्होने पौषधशाला मे बाहर आ कौटुम्बिक पुरुषो को आदेश दिया कि वे शीघ्रता पूर्वक हस्तिरत्न को अभिषेक के योग्य अलकारो से सुसज्जित करे।

तदनन्तर स्नान आदि से निवृत्त हो भरत महाराज दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो हस्तिरत्न पर आरूढ हुए। उनके आगे अनुक्रमशः अष्ट मंगल, पूर्ण कलश, झारी, दिव्य छत्र, छत्रधर, ७ एकेन्द्रिय रत्न, १६ हजार देव, बत्तीस हजार महाराजा, सेनापति आदि ४ मनुष्य रत्न, स्त्री रत्न, बत्तीस-बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं–जनपदकल्याणिकाए, बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाले, ३६० रसोइये, अठारह श्रेणी प्रश्रेणियां, राजा, ईश्वर, तलवर, सार्थवाह एवं गायक, वादक आदि अपार जनसमुद्र चल रहा था।

महाराज भरत के सम्मुख उत्कृष्ट अश्वाभरणों से सजाये हुए श्रेष्ठ जाति के घोड़े, दोनो पार्श्वों मे मदोन्मत्त गजराज और पृष्ठ भाग मे अश्वरथ चल रहे थे।

षट्खण्ड की साधना के पश्चात् विनीता नगरी में महाराज भरत ने जिस कुबेरोपम ऋद्धि के साथ नगर मे प्रवेश किया था उसी प्रकार की अनुपम ऋद्धि के साथ महाराज भरत अपने राजप्रासाद से प्रस्थान कर विनीता नगरी के मध्य मे होते हुए राजधानी के ईशानकोण मे निर्मित अतिविशाल एवं परम रम्य अभिषेक मण्डप के पास आये। वहा अभिषेक हस्तिरत्न के होदे से नीचे उतर कर स्त्री रत्न और चौसठ हजार कल्याणिका स्त्रियों एवं बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाली रमणियो के साथ उन्होने अभिषेक मण्डप मे प्रवेश किया और वे अभिषेक-पीठिका के पास आये। अभिषेक पीठिका को प्रदक्षिणावर्त करते हुए वे पूर्व दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े और उस पीठिका के मध्य भाग मे अवस्थित सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो बैठ गये। भरत महाराज के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ३२ हजार राजाओं ने मण्डप मे प्रवेश कर अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की और उत्तर दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर वे महाराज भरत के पास आये। उन्होंने सांजलि शीश झुका जय-विजय के घोषों से भरत महाराज का अभिवादन एवं वर्द्धापन किया। तदनन्तर वे थोड़ी ही दूरी पर भरत महाराज के पास बैठ गये और उनकी सेवा सुश्रूषा एवं पर्युपासना करने लगे।

तत्पश्चात् भरत महाराज के सेनापति रत्न, सार्थवाहरत्न, वार्द्धिक रत्न और पुरोहित रत्न ने अभिषेक मण्डप में प्रवेश और अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की। वे चारों दक्षिण दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े। उन्होने भी साजलि शीश झुका जय-विजय के घोषो के साथ भरत महाराज का आभिवादन अभिवर्द्धापन किया और उनसे थोड़ी दूरी पर पास मे बैठ कर वे भरत महाराज की पर्युपासना करने लगे।

तदनन्तर महाराज भरत ने आभियोगिक देवों को बुला कर कहा—

"अहो देवानुप्रियो ! मेरा महा अर्थ वाला, महती ऋद्धि के साथ महा मूल्यवान् महा अभिषेक करो।"

आभियोगिक देवो ने महाराज भरत की आज्ञा को शिरोधार्य कर हृष्ट-तुष्ट हो ईशान कोण मे आ कर वैक्रिय समुद्घात किया।

आभिनियोगिक देवों द्वारा महाराज भरत का महा अर्थपूर्ण महा ऋद्धि-सम्पन्न एव महामूल्यवान महाअभिषेक किये जाने के अनन्तर बत्तीस हजार राजाओं ने शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एव शुभ मुहूर्त मे, उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र के योग में, विजय नामक आठवें मुहूर्त मे स्वाभाविक एवं वैक्रिय से निष्पन्न श्रेष्ठ कमलाकार कलशों में भरे स्वच्छ सुगन्धित एवं श्रेष्ठ पानी से महाराज भरत का क्रमश· अभिषेक किया। प्रत्येक राजा ने हाथ जोड़ कर जय-विजय के निर्घोष के साथ महाराज भरत का अभिवादन, अभिवर्द्धन करते हुए कहा—"त्रिखण्डाधिपते ! आप करोड़ पूर्व तक राज्य करो—सुख पूर्वक विचरण करो।"

३२ हजार राजाओं के पश्चात् क्रमशः सेनापति रत्न, सार्थवाह रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न ने, तीन सौ साठ रसोइयो ने अठारह श्रेणियों और प्रश्रेणियो ने और सार्थवाह प्रमुख अन्य अनेकों ने राजाओं की ही तरह कलशों से महाराज भरत का महाभिषेक किया, जय-विजय के घोषो के साथ "करोड़ पूर्व तक राज्य करो, सुख पूर्वक विचरण करो" इस प्रकार के प्रीतिकारक वचनो से उनका वर्द्धापन, अभिवादन किया, उनकी स्तुति की।

तदनन्तर सोलह हजार देवो ने स्वच्छ, सुन्दर सुकोमल वस्त्र से महाराज भरत के शरीर को स्वच्छ किया। उन्हे दिव्य वस्त्र, आभरण अलकार पहनाये, उनके सिर पर दिव्य मुकुट रखा। श्रेष्ठ चन्दन एवं सुगन्धित गन्ध द्रव्यो का कपोल आदि पर मर्दन किया। रंगबिरंगे सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पो की मालाएं पहनाईं और दिव्य पुष्पस्तवको से उन्हे विभूषित किया।

महान् अर्थ वाले, महर्द्धिक, महा मूल्यवान् महाराज्याभिषेक से अभिषिक्त होने के पश्चात् महाराज भरत ने अपने कौटुम्बिक पुरुषो को बुला कर कहा—"हे देवानुप्रिय ! हाथी के होदे पर बैठ कर शीघ्रातिशीघ्र विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी भागो में, शृंगाटकों त्रिकों, चतुष्कों, चच्चरो एवं महापथों मे डिंडिम घोष के साथ स्पष्ट और उच्च स्वरों मे उद्घोषणा करो कि सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के छहों खण्डो के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के महाराज्याभिषेक के उपलक्ष्य में सभी प्रकार के करों से, शुल्को से, सभी प्रकार के देयो से मुक्त किया जाता है। आज से बारह वर्ष पर्यन्त कोई भी राजपुरुष किसी भी प्रजाजन के घर में प्रवेश न करे, किसी से किसी भी प्रकार का दण्ड

तदनन्तर स्नान आदि से निवृत्त हो भरत महाराज दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो हस्तिरत्न पर आरूढ हुए। उनके आगे अनुक्रमश. अष्ट मंगल, पूर्ण कलश, भारी, दिव्य छत्र, छत्रधर, ७ एकेन्द्रिय रत्न, १६ हजार देव, बत्तीस हजार महाराजा, सेनापति आदि ४ मनुष्य रत्न, स्त्री रत्न, बत्तीस-बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं--जनपदकल्याणिकाए, बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाले, ३६० रसोइये, अठारह श्रेणी प्रश्रेणियां, राजा, ईश्वर, तलवर, सार्थवाह एव गायक, वादक आदि अपार जनसमुद्र चल रहा था।

महाराज भरत के सम्मुख उत्कृष्ट अश्वाभरणों से सजाये हुए श्रेष्ठ जाति के घोडे, दोनो पार्श्वों मे मदोन्मत्त गजराज और पृष्ठ भाग मे अश्वरथ चल रहे थे।

षट्खण्ड की साधना के पश्चात् विनीता नगरी में महाराज भरत ने जिस कुबेरोपम ऋद्धि के साथ नगर मे प्रवेश किया था उसी प्रकार की अनुपम ऋद्धि के साथ महाराज भरत अपने राजप्रासाद से प्रस्थान कर विनीता नगरी के मध्य मे होते हुए राजधानी के ईशानकोण मे निर्मित अतिविशाल एवं परम रम्य अभिषेक मण्डप के पास आये। वहा अभिषेक हस्तिरत्न के होदे से नीचे उतर कर स्त्री रत्न और चौसठ हजार कल्याणिका स्त्रियों एवं बत्तीस हजार बत्तीस प्रकार के नाटक करने वाली रमणियो के साथ उन्होने अभिषेक मण्डप मे प्रवेश किया और वे अभिषेक-पीठिका के पास आयें। अभिषेक पीठिका को प्रदक्षिणावर्त करते हुए वे पूर्व दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े और उस पीठिका के मध्य भाग मे अवस्थित सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो बैठ गये। भरत महाराज के सिंहासनारूढ होने के पश्चात् ३२ हजार राजाओं ने मण्डप मे प्रवेश कर अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की और उत्तर दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर वे महाराज भरत के पास आये। उन्होंने साजलि शीश झुका जय-विजय के घोषो से भरत महाराज का अभिवादन एवं वर्द्धापन किया। तदनन्तर वे थोडी ही दूरी पर भरत महाराज के पास बैठ गये और उनकी सेवा सुश्रूषा एवं पर्युपासना करने लगे।

तत्पश्चात् भरत महाराज के सेनापति रत्न, सार्थवाहरत्न, वार्द्धिक रत्न और पुरोहित रत्न ने अभिषेक मण्डप में प्रवेश और अभिषेक पीठिका की प्रदक्षिणा की। वे चारों दक्षिण दिशा के सोपान से अभिषेक पीठिका पर चढ़े। उन्होने भी साजलि शीश झुका जय-विजय के घोषो के साथ भरत महाराज का आभिवादन अभिवर्द्धापन किया और उनसे थोडी दूरी पर पास मे बैठ कर वे भरत महाराज की पर्युपासना करने लगे।

तदनन्तर महाराज भरत ने आभियोगिक देवो को बुला कर कहा—

"ग्रहो देवानुप्रियो ! मेरा महा ग्रर्थ वाला, महती ऋद्धि के साथ महा मूल्यवान् महा ग्रभिषेक करो ।"

ग्राभियोगिक देवो ने महाराज भरत की ग्राज्ञा को शिरोधार्य कर हृष्ट-तुष्ट हो ईशान कोण में आ कर वैक्रिय समुद्घात किया ।

ग्राभिनियोगिक देवों द्वारा महाराज भरत का महा ग्रर्थपूर्ण महा ऋद्धि-सम्पन्न एवं महामूल्यवान महाभिषेक किये जाने के ग्रनन्तर बत्तीस हजार राजाग्रों ने शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त मे, उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र के योग मे, विजय नामक ग्राठवें मुहूर्त मे स्वाभाविक एवं वैक्रिय से निष्पन्न श्रेष्ठ कमलाकार कलशों में भरे स्वच्छ सुगन्धित एवं श्रेष्ठ पानी से महाराज भरत का क्रमशः ग्रभिषेक किया । प्रत्येक राजा ने हाथ जोड़ कर जय-विजय के निर्घोष के साथ महाराज भरत का ग्रभिवादन, ग्रभिवर्द्धन करते हुए कहा—"त्रिखण्डाधिपते ! ग्राप करोड़ पूर्व तक राज्य करो—सुख पूर्वक विचरण करो ।"

३२ हजार राजाग्रो के पश्चात् क्रमशः सेनापति रत्न, सार्थवाह रत्न, वार्द्धिक रत्न, पुरोहित रत्न ने, तीन सौ साठ रसोइयो ने ग्रठारह श्रेणियो ग्रौर प्रश्रेणियो ने ग्रौर सार्थवाह प्रमुख ग्रन्य ग्रनेको ने राजाग्रों की ही तरह कलशो से महाराज भरत का महाभिषेक किया, जय-विजय के घोषो के साथ "करोड़ पूर्व तक राज्य करो, सुख पूर्वक विचरण करो" इस प्रकार के प्रीतिकारक वचनो से उनका वर्द्धापन, ग्रभिवादन किया, उनकी स्तुति की ।

तदनन्तर सोलह हजार देवों ने स्वच्छ, सुन्दर सुकोमल वस्त्र से महाराज भरत के शरीर को स्वच्छ किया । उन्हे दिव्य वस्त्र, ग्राभरण ग्रलंकार पहनाये, उनके सिर पर दिव्य मुकुट रखा । श्रेष्ठ चन्दन एवं सुगन्धित गन्ध द्रव्यो का कपोल ग्रादि पर मर्दन किया । रंगबिरंगे सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पो की मालाएं पहनाई ग्रौर दिव्य पुष्पस्तवकों से उन्हे विभूषित किया ।

महान् ग्रर्थ वाले, महर्द्धिक, महा मूल्यवान् महाराज्याभिषेक से ग्रभिषिक्त होने के पश्चात् महाराज भरत ने ग्रपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा—"हे देवानुप्रिय ! हाथी के होदे पर बैठ कर शीघ्रातिशीघ्र विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी भागों मे, शृंगाटकों त्रिकों, चतुष्कों, चच्चरो एवं महापथों मे डिंडिम घोष के साथ स्पष्ट ग्रौर उच्च स्वरों मे उद्घोषणा करो कि सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के छहों खण्डो के इस ग्रवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के महाराज्याभिषेक के उपलक्ष्य में सभी प्रकार के करो से, शुल्को से, सभी प्रकार के देयों से मुक्त किया जाता है । ग्राज से बारह वर्ष पर्यन्त कोई भी राजपुरुष किसी भी प्रजाजन के घर मे प्रवेश न करे, किसी से किसी भी प्रकार का दण्ड

न ले। नगर के निवासी, जनपदो के निवासी, समस्त देश के निवासी बारह वर्ष पर्यन्त प्रमोद करो, आनन्दोत्सव करो।"

भरत चक्रवर्ती के इस आदेश को सुन कर उनके कौटुम्बिक पुरुष बडे हर्षित हुए, हर्षातिरेक से उनके हृदय कमल प्रफुल्लित हो गये। उन्होने चक्रवर्ती की आज्ञा को शिरोधार्य किया और तत्काल हाथी की पीठ पर बैठ कर उन्होने भरत चक्रवर्ती की आज्ञा की घोषणा विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी स्थानो मे कर दी।

महाराज्याभिषेक सम्पन्न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भरत अभिषेक सिंहासन से उठे और स्त्री-रत्न आदि समस्त अन्त पुर के परिवार राजाओं, सेनापति रत्न आदि रत्नो एवं पूर्व वर्णित ऋद्धि के साथ विनीता नगरी के मध्यवर्ती राजपथ से नागरिको द्वारा स्थान-स्थान पर अभिनन्दित एवं वर्द्धापित होते हुए उसी क्रम से राजप्रासाद मे लौटे जिस प्रकार कि अभिषेक मण्डप मे गय थे।

स्नानादि से निवृत्त हो उन्होने अष्टमभक्त तप का पारण किया और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर सुचारु रूप से शासन करते हुए चक्रवर्ती की सम्पूर्ण ऋद्धि का सुखोपभोग करते हुए वे सुखपूर्वक रहने लगे। बारह वर्ष तक उनके षट्खण्ड राज्य की प्रजा ने उनके महाराज्याभिषेक का महा महोत्सव मनाया।

बारह वर्ष का महा महोत्सव सम्पूर्ण होने पर महाराज भरत ने देवो, राजाओं आदि को सत्कार-सम्मानपूर्वक विसर्जित किया। प्रजाजनो को अनेक प्रकार की सुविधाए प्रदान की। उनके राज्य की समस्त प्रजा पूर्ण रूप से सुखी और समृद्ध थी। सब प्रजाजन अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए निर्भय होकर सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। चक्रवर्ती भरत ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के कल्याण के लिए अनेक स्थायी कार्य किये। उनके राज्यकाल मे राज्य और प्रजा दोनो की ही समृद्धि मे विपुल अभिवृद्धि हुई।

चक्रवर्ती भरत की ऋद्धि-समृद्धि अतुल, अद्भुत और अलौकिक थी। उनके पास चौदह रत्न थे। उन चौदह रत्नो मे से चक्र रत्न, दण्ड रत्न, खड्ग रत्न, छत्र रत्न—ये चार एकेन्द्रिय रत्न महाराजा भरत की आयुध शाला मे उत्पन्न हुए। चर्मरत्न, मणिरत्न और काकिणीरत्न—ये तीन एकेन्द्रियरत्न उनके भण्डार मे उत्पन्न हुए। उनके सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वार्द्धिक-रत्न और पुरोहितरत्न—ये चार मनुष्यरत्न महाराज भरत की राजधानी विनीता नगरी मे उत्पन्न हुए। अश्वरत्न एवं हस्तिरत्न—ये दोनो तिर्यंच पचेन्द्रियरत्न वैताढ्य पर्वत की तलहटी मे उत्पन्न हुए। चक्रवर्ती भरत की भद्रा नाम की स्त्रीरत्न विद्याधरो की उत्तर दिशा की श्रेणि मे उत्पन्न हुई।

अद्भुत् शक्ति एवं गुणो से सम्पन्न उन चौदह रत्नों के अतिरिक्त उनके पास नवनिधियां थीं, जो धन, समृद्धि आदि सभी जीवनोपयोगी उत्तमोत्तम सुखोपभोग की सामग्रियो की अक्षय भण्डार थी। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधारी महाराजा सदा भरत चक्रवर्ती की सेवा मे रहते थे। बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं, बत्तीस हजार जनपद कल्याणिकाएं उनकी सेवा के लिए अहर्निश तत्पर रहती थीं। बत्तीस हजार नाट्य निष्णात सूत्रधार बत्तीस प्रकार के नाटको से भरत चक्रवर्ती का सदा मनोरंजन करते थे। उनकी सेवा में तीन सौ साठ पाकविद्या मे निष्णात पाकशालाओं के अधिकारी थे। अठारह श्रेणियां और अठारह प्रश्रेणियां उनके इंगित मात्र पर उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहती थी।

चक्रवर्ती भरत की सैन्य शक्ति अजेय, अभेद्य, अनुपम और सदा सर्वत्र विजयिनी थी। उनकी चतुरंगिणी विशाल सेना मे चौरासी लाख अश्व (अश्वारोही), चौरासी लाख हस्ती (गजारोही), चौरासी लाख रथ (रथी सैनिक) और छयानवे करोड पदातियों की सेना थी।

उनका सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य था। उनके राज्य मे बहत्तर हजार राजधानियो के बड़े नगर, बत्तीस हजार देश, छयानवे करोड़ ग्राम, नन्यानवे हजार द्रोणमुख, अडतालीस हजार पत्तन, चौबीस हजार कर्बट चौबीस हजार मंडप, बीस हजार आगर, सोलह हजार खेड़े, चौदह हजार संबाह, छप्पन हजार अन्तरोदक अर्थात् अन्तरद्वीप, उनंचास भिल्ल आदि के कुराज्य थे।

वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्डो की राजधानी विनीता नगरी मे रहते हुए चुल्लहिमवन्त पर्वत से लेकर लवण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर, सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के सभी राजेश्वरों, राजाओ और सम्पूर्ण प्रजा पर न्याय नीति पूर्वक सुचारु रूप से शासन करते थे। भरत चक्रवर्ती ने अपने राज्य के सभी शत्रुओ को कांटे की तरह निकाल कुचल कर निर्मूल कर दिया था। इस प्रकार उन्होने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के स्वामी, मनुष्यो मे इन्द्र के समान दिव्य, हार, मुकुट, वस्त्र, आभूषण और षड्ऋतुओ के सुमनोहर सुगन्धित सुमनो की माला धारण करने वाले, उत्कृष्ट, नाटको एव नृत्यो का आनन्द लेते हुए ६४ हजार स्त्रियो के समूह से परिवृत, सब प्रकार की औषधियो, सब प्रकार के रत्नो से परिपूर्ण मनोरथ, शत्रु-मद भंजक, पूर्वकृत तप के प्रभाव से पुण्य का फल भोगने वाले, इस प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी सुखप्रद कामभोगो का उपभोग करने वाले वे भरत नामक चक्रवर्ती थे। चक्रवर्ती भरत एक हजार वर्ष कम छः लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए प्रजा का पालन और इस के सुखोपभोगों का उपभुंजन करते रहे।

न ले । नगर के निवासी, जनपदो के निवासी, समस्त देश के निवासी बारह वर्ष पर्यन्त प्रमोद करो, मानन्दोत्सव करो ।"

भरत चक्रवर्ती के इस आदेश को सुन कर उनके कौटुम्बिक पुरुष बड़े हर्षित हुए, हर्षातिरेक से उनके हृदय कमल प्रफुल्लित हो गये । उन्होने चक्रवर्ती की आज्ञा को शिरोधार्य किया और तत्काल हाथी की पीठ पर बैठ कर उन्होने भरत चक्रवर्ती की आज्ञा की घोषणा विनीता नगरी के बाह्याभ्यन्तर सभी स्थानो मे कर दी ।

महाराज्याभिषेक सम्पन्न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भरत अभिषेक सिंहासन से उठे और स्त्री-रत्न आदि समस्त अन्त पुर के परिवार राजाओ, सेनापति रत्न आदि रत्नो एव पूर्व वर्णित ऋद्धि के साथ विनीता नगरी के मध्यवर्ती राजपथ से नागरिको द्वारा स्थान-स्थान पर अभिनन्दित एव वर्द्धापित होते हुए उसी क्रम से राजप्रासाद मे लौटे जिस प्रकार कि अभिषेक मण्डप मे गय थे ।

स्नानादि से निवृत्त हो उन्होने अष्टमभक्त तप का पारण किया और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर सुचारु रूप से शासन करते हुए चक्रवर्ती की सम्पूर्ण ऋद्धि का सुखोपभोग करते हुए वे सुखपूर्वक रहने लगे । बारह वर्ष तक उनके षट्खण्ड राज्य की प्रजा ने उनके महाराज्याभिषेक का महा महोत्सव मनाया ।

बारह वर्ष का महा महोत्सव सम्पूर्ण होने पर महाराज भरत ने देवो, राजाओं आदि को सत्कार-सम्मानपूर्वक विसर्जित किया । प्रजाजनो को अनेक प्रकार की सुविधाए प्रदान की । उनके राज्य की समस्त प्रजा पूर्ण रूप से सुखी और समृद्ध थी । सब प्रजाजन अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए निर्भय होकर सुखमय जीवन व्यतीत करते थे । चक्रवर्ती भरत ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के कल्याण के लिए अनेक स्थायी कार्य किये । उनके राज्यकाल मे राज्य और प्रजा दोनो की ही समृद्धि मे विपुल अभिवृद्धि हुई ।

चक्रवर्ती भरत की ऋद्धि-समृद्धि अतुल, अद्भुत और अलौकिक थी । उनके पास चौदह रत्न थे । उन चौदह रत्नो मे से चक्र रत्न, दण्ड रत्न, खड्ग रत्न, छत्र रत्न—ये चार एकेन्द्रिय रत्न महाराजा भरत की आयुध शाला मे उत्पन्न हुए । चर्मरत्न, मणिरत्न और काकिणीरत्न—ये तीन एकेन्द्रियरत्न उनके भण्डार मे उत्पन्न हुए । उनके सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वार्द्धिक-रत्न और पुरोहितरत्न—ये चार मनुष्यरत्न महाराज भरत की राजधानी विनीता नगरी मे उत्पन्न हुए । अश्वरत्न एव हस्तिरत्न—ये दोनो तिर्यंच पचेन्द्रियरत्न वैताढ्य पर्वत की तलहटी मे उत्पन्न हुए । चक्रवर्ती भरत की भद्रा नाम की स्त्रीरत्न विद्याधरो की उत्तर दिशा की श्रेणि मे उत्पन्न हुई ।

अद्भुत शक्ति एवं गुणों से सम्पन्न उन चौदह रत्नों के अतिरिक्त उनके पास नवनिधियां थीं, जो धन, समृद्धि आदि सभी जीवनोपयोगी उत्तमोत्तम सुखोपभोग की सामग्रियों की अक्षय भण्डार थीं। सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधारी महाराजा सदा भरत चक्रवर्ती की सेवा में रहते थे। बत्तीस हजार ऋतु कल्याणिकाएं, बत्तीस हजार जनपद कल्याणिकाएं उनकी सेवा के लिए अहर्निश तत्पर रहती थीं। बत्तीस हजार नाट्य निष्णात सूत्रधार बत्तीस प्रकार के नाटकों से भरत चक्रवर्ती का सदा मनोरंजन करते थे। उनकी सेवा में तीन सौ साठ पाकविद्या में निष्णात पाकशालाओं के अधिकारी थे। अठारह श्रेणियां और अठारह प्रश्रेणियां उनके इंगित मात्र पर उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहती थीं।

चक्रवर्ती भरत की सैन्य शक्ति अजेय, अभेद्य, अनुपम और सदा सर्वत्र विजयिनी थी। उनकी चतुरंगिणी विशाल सेना में चौरासी लाख अश्व (अश्वारोही), चौरासी लाख हस्ती (गजारोही), चौरासी लाख रथ (रथी सैनिक) और छयानवे करोड़ पदातियों की सेना थी।

उनका सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य था। उनके राज्य में बहत्तर हजार राजधानियों के बड़े नगर, बत्तीस हजार देश, छयानवे करोड़ ग्राम, नन्यानवे हजार द्रोणमुख, अड़तालीस हजार पत्तन, चौबीस हजार कर्बट चौबीस हजार मंडप, बीस हजार आगर, सोलह हजार खेड़े, चौदह हजार संबाह, छप्पन हजार अन्तरोदक अर्थात् अन्तरद्वीप, उनंचास भिल्ल आदि के कुराज्य थे।

वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्डों की राजधानी विनीता नगरी में रहते हुए चुल्लहिमवन्त पर्वत से लेकर लवण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर, सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के सभी राजेश्वरों, राजाओं और सम्पूर्ण प्रजा पर न्याय नीति पूर्वक सुचारु रूप से शासन करते थे। भरत चक्रवर्ती ने अपने राज्य के सभी शत्रुओं को कांटे की तरह निकाल कुचल कर निर्मूल कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। वे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के स्वामी, मनुष्यों में इन्द्र के समान दिव्य, हार, मुकुट, वस्त्र, आभूषण और षड्ऋतुओं के सुमनोहर सुगन्धित सुमनों की माला धारण करने वाले, उत्कृष्ट, नाटकों एवं नृत्यों का आनन्द लेते हुए ६४ हजार स्त्रियों के समूह से परिवृत, सब प्रकार की औषधियों, सब प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण मनोरथ, शत्रु-मद भंजक, पूर्वकृत तप के प्रभाव से पुण्य का फल भोगने वाले, इस प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी सुखप्रद कामभोगों का उपभोग करने वाले वे भरत नामक चक्रवर्ती थे। चक्रवर्ती भरत एक हजार वर्ष कम छः लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए प्रजा का पालन और इस के सुखोपभोगों का उपभुंजन करते रहे।

एक दिन प्रात काल चक्रवर्ती भरत स्नान, गन्धमर्दन आदि के पश्चात् दिव्य वस्त्राभूषणालंकारादि से अलंकृत हो शरद् पूर्णिमा के चन्द्र समान प्रिय-दर्शनीय बन कर स्नानागार से निकले और अपने इन्द्र भवन तुल्य शीश महल मे गये। वहां वे अपने सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख किये बैठ गये और उस आरिसा भवन मे अपना रूप निरखने लगे। उस समय अपना रूप देखते-देखते उनके अन्तर्मन में शुभ परिणाम प्रकट हुए। शुभ परिणामों, प्रशस्त अध्यवसाय एवं विशुद्ध लेश्या से आत्म-गवेषणा करते-करते वे मतिज्ञानावरण कर्म के क्षय से अपने आत्मा पर लगे कर्मरज को पृथक् करने लगे। इस प्रकार कर्मरज को पृथक् करते-करते उन्होने अपूर्वकरण मे प्रवेश किया। अपूर्वकरण में प्रवेश करते हुए उन्हें अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन उत्पन्न हुआ। वे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के सम्पूर्ण लोक के समस्त पर्यायो को जानने वाले और देखने वाले केवली बन गये। भरत केवली ने स्वयमेव समस्त आभरणों एव अलंकारो को उतारा और स्वयमेव पंच मुष्टि लु चन किया। भरत केवली आरिसा भवन में से निकले और अपने अन्त पुर के मध्यभाग मे होते हुए बाहर निकल कर दस हजार राजाओं को प्रतिबोध दे श्रमणधर्म में दीक्षित किया। उन दस हजार मुनियों के साथ वे विनीता नगरी के मध्यवर्ती पथ से विनीता नगरी से बाहर निकल कर मध्य देश मे सुख पूर्वक विचरने लगे। लगभग एक लाख पूर्व तक विभिन्न क्षेत्रो में विचरण करने के पश्चात् वे अष्टापद पर्वत के पास आये। वे अष्टापद पर्वत पर शनैः शनैः चढ़े। अष्टापद पर्वत पर उन्होने एक पृथ्वी-शिला-पट्ट की प्रतिलेखना की। उस शिला पर संलेखना-झूसना सहित भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर उन्होंने पादपोपगमन संथारा किया। काल की कामना रहित वे पादपोपगमन संथारे मे स्थिर रहे।

वे भरत केवली सतहत्तर लाख पूर्व तक कुमारावस्था मे रहे। कुमारा-वस्था के पश्चात् एक हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रहे। तदनन्तर एक हजार वर्ष न्यून छह लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहे। इस प्रकार कुल मिला कर तियासी लाख पूर्व तक गृहवास मे रहे। आरिसा भवन मे शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या से आत्म-गवेषणा में लीन होने के समय से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होने के अन्तर्मुहूर्त जैसे समय तक न वे चक्रवर्ती के पद से सम्बन्धित रहे, न श्रमण पर्याय से और न केवली पर्याय से ही। अत उस समय को छोड कर उन्होने कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय का पालन किया एवं उतने ही समय तक प्रतिपूर्ण श्रमण पर्याय का पालन किया।

इस प्रकार सब मिला कर ८४ लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर एक मास

पर्यन्त पानी रहित भक्त प्रत्याख्यान से चन्द्रमा के साथ श्रवण नक्षत्र का योग होने पर शेष वेदनीय, आयुष्य नाम व गोत्र कर्म के क्षीण अर्थात् निर्मूल होने पर वे कालधर्म को प्राप्त हो जरामरण के बन्धन से विनिर्मुक्त सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। संसार के सब कर्मों का, सब दु:खो का अन्त कर वे सब दु:खो से रहित अर्थात् अनन्त, अक्षय, अव्याघात शाश्वत शिव पद के मोक्ष में विराजे।

□ □ □

भरत चक्रवर्ती

आगमेतर साहित्य में भरत चक्रवर्ती की अनासक्ति और स्वरूप-दर्शन के सम्बन्ध में बड़े रोचक विवरण उपलब्ध होते हैं। जनमानस मे "अनासक्ति" और "अनित्य-भावना" को उत्पन्न करने के लिए जो प्रयास उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया है, उसकी सर्वथा उपेक्षा करना समुचित नही होगा। अतः उन आख्यानों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

भरत की अनासक्ति :

भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम साम्राज्य पा कर भी भरत के मन में शान्ति नही थी। अपने निन्यानवे भाइयो को खो कर राज्यभोगों मे उन्हें गौरवानुभूति नही हो रही थी, नश्वर राज्य के लिए अपने भाइयों के मन मे जो अन्तर्द्वन्द्व उन्होंने उत्पन्न किया, उसके लिए उनके मन मे खेद था। अतः सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के षट्खण्डो पर अखण्ड शासन करते हुए भी उनके मन में आसक्ति नही थी।

एक समय भगवान् ऋषभदेव अपने शिष्य समूह के साथ विनीता नगरी के उद्यान मे विराजमान थे। उस समय प्रभु की अमोघ दिव्य देशना मे अध्यात्म-सुधा की अविरल वृष्टि हो रही थी। सहस्रों-सहस्रो सदेवासुर नर-नारी दत्त-चित्त हो प्रभु के प्रवचनामृत का पान कर रहे थे।

श्रोताओ मे से किसी एक ने प्रभु से प्रश्न किया—"प्रभो ! चक्रवर्ती भरत किस गति मे जायेंगे ?"

प्रभु ने फरमाया—"मोक्ष मे।"

प्रश्नकर्त्ता मन्द स्वर मे बोल उठा—"अहो ! भगवान् के मन मे भी पुत्र के प्रति पक्षपात है।"

यह बात भरत के कानो तक पहुची। भरत ने सोचा—मेरे कारण भगवान् पर आक्षेप किया जा रहा है। इस व्यक्ति के मन मे भगवद्वाणी में जो संदेह हुआ है, उसका मुझे समुचित उपाय से निराकरण करना चाहिये।"

यह सोच कर उन्होने उस व्यक्ति को बुला कर कहा—"तेल से भरा हुआ एक कटोरा ले कर विनीता के सब बाजारो मे घूम आओ। स्मरण रहे, यदि कटोरे मे से तेल की एक बूंद भी नीचे गिरा दी तो तुम फासी के तख्ते पर

लटका दिये जाओगे। कटोरे के तेल की एक बूंद नीचे नही गिरने दोगे, तभी तुम मुक्त हो सकोगे।"

उसी समय विनीता नगरी मे अनेक प्रकार के अद्भुत नाटको और सगीत आदि के मनोरजक आयोजनो का और उस व्यक्ति को तेल से पूर्ण कटोरा ले कर विनीता नगरी में घूमने का आदेश दिया गया।

भरत के आदेश से भयभीत हुआ वह व्यक्ति आदेशानुसार सम्पूर्ण नगरी में पूरी सावधानी के साथ घूम कर पुन चक्रवर्ती भरत के पास लौटा। नगर मे सब ओर नृत्य, नाटक, सगीत आदि के आयोजन चल रहे थे, किन्तु वह व्यक्ति मृत्यु के डर से किसी भी ओर नजर तक उठा कर नही देख सका।

भरत ने पूछा—"तुम पूरी विनीता नगरी मे घूम आये हो। बताओ नगरी मे तुमने कहां-कहा क्या-क्या देखा ?"

"महाराज कटोरे के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नही देखा।" उस व्यक्ति ने विनम्र स्वर मे उत्तर दिया।

भरत ने पूछा—"अरे ! क्या तुमने नगर में हो रहे नाटक नही देखे ? सगीत मण्डलियो के मधुर सगीत भी नहीं सुने ?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—"नही महाराज ! जिसकी दृष्टि के समक्ष मृत्यु नाच रही हो, वह नाटक कैसे देख सकता है ? मृत्यु का भय कैसा होता है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है।"

"भाई ! जिस प्रकार तुम एक जीवन के मृत्यु-भय से सन्त्रस्त थे और उस मृत्यु-भय के कारण नाटक आदि नही देख सके, सगीत भी नही सुन सके, उसी प्रकार मेरे समक्ष सुदीर्घ काल की मृत्यु—परम्परा का भयकर भय है। अतः साम्राज्य-लीला का उपभोग करते हुए भी मैं उसमें आसक्त नही हो पा रहा हूं। मैं तन से संसार के भोगोपभोगो और आरम्भ-परिग्रह मे रह कर भी मन से एक प्रकार से निर्लिप्त रहता हू।" भरत ने कहा।

उस शकाशील व्यक्ति की समझ मे यह बात आ गई और भगवान् के वचन के प्रति उसके मन मे जो शका थी, वह तत्काल दूर हो गई।

भरत ने उस व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा दे सादर विदा किया। भरत के जनहितकारी शासन के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।[1]

---

[1] वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८६। श्रीमद्भागवत-११-२-१७।नारद पुराण अ० ४८, श्लोक ५

भरत का स्वरूप-दर्शन

सम्यग्दर्शन के प्रकाश से भरत का अन्तर्मन प्रकाशित था। दीर्घकाल तक साम्राज्य-लीला मे सलग्न रह कर भी वे उसमे अलिप्त और स्वरूपदर्शन के लिए लालायित थे।

भरत एक दिन वस्त्रालकारो से विभूषित होकर अपने शीशमहल (आदर्शभवन) मे गये। वहा छत, भित्तियो और आगन के शीशो मे उनका सौन्दर्य शतमुखी हो कर प्रतिबिम्बित हो रहा था। आगन मे प्रतिबिम्बित उनकी छवि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो क्षीरसागर मे राजहस विचरण कर रहा हो। महाराज भरत अपनी उस छटा को देखकर स्वय उस पर विस्मित एव मुग्ध से थे। अपनी अगुलियो की शोभा को निहारते हुए उन्होने देखा कि प्रकाशमान अगुलियो के बीच एक अगुली शोभाविहीन है, सूनी है, क्योकि उसमे पहनी हुई अगूठी कही गिर पडी है। "देखे, इन दूसरो अगूठियो को उतार देने पर ये अगुलिया कैसी लगती है।" इस प्रकार विचार करते हुए उन्होने एक-एक कर के अपने सारे आभूषण उतार दिये। आभूषणो को उतार देने के कारण शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य विलुप्त हो गया। उन्हे अपना शरीर कमल रहित सरोवर के समान शोभाविहीन प्रतीत हुआ।

भरत के चिन्तन का मोड बदला, उन्होने सोचा—"शरीर का यह सौन्दर्य मेरा अपना नही है, यह तो कृत्रिम है, वस्त्राभूषणो से ही यह सुन्दर प्रतीत होता है। क्षण भर पहले जो देह दमक रही थी, वह आभूषणो के अभाव मे श्रीहीन हो गई है।"

उन्हे पहली बार यह अनुभव हुआ—भौतिक अलकारो मे लदी हुई सुन्दरता कितनी सारहीन है, कितनी भ्रामक है। इसके व्यामोह मे फँस कर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। वास्तविक सौन्दर्य की अवस्थिति तो "स्व" मे है, "पर" मे नही। वस्तुत "स्व" की ओर अधिक ध्यान न दे कर जो मैं आज तक "पर" शरीरादि मे ही तत्परता दिखाता रहा, यह मेरी भयकर भूल थी।"

धीरे-धीरे चक्रवर्ती भरत के चिन्तन का प्रवाह सम, सवेग, और निर्वेद की भूमिका पर पहुचा और अपूर्वकरण मे प्रविष्ट हो उन्होने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय—इन चार घाति कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।[1]

वे प्रभु ऋषभदेव के चरणचिह्नो पर चल पडे और अन्त मे शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गये।

---

[1] आवश्यक नियु क्ति, गा ४३६

परिव्राजक मत का प्रारम्भ

आवश्यक निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान् की देशना सुन कर और समवसरण की अद्भुत महिमा देख कर सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि भी प्रभु के चरणो मे दीक्षित हो गया तथा तप व सयम की विधिवत् आराधना करते हुए उसने एकादश अगो का अध्ययन भी किया। पर सुकुमारता के कारण एक बार ग्रीष्मकाल के भीषण ताप और अस्नान-परीषह से पीडित हो कर वह साधना के कटकाकीर्ण मार्ग से विचलित हो गया।[1]

वह मन ही मन सोचने लगा—"मेरु गिरि के समान सयम के इस गुरुतर भार को मैं घडी भर भी वहन नही कर सकता, क्योकि संयम योग्य धृति आदि गुणो का मुझ मे अभाव है, तो मुझे क्या करना चाहिये ?"

इस प्रकार विचार करते हुए उसे बुद्धि उत्पन्न हुई कि व्रत-पर्याय मे आकर फिर घर लौट जाना तो उचित नही, सब लोग उसे कायर कहेगे और यदि साधु रूप मे रह कर विधिवत् संयम का निर्दोष पालन नही करता हू, तो आत्म-वंचना होगी। अत. अपनी स्थिति के अनुसार नवीन वेश धारण कर विचरना चाहिये। श्रमण-धर्म से उसने निम्न भेद की कल्पना की :—

"जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दण्ड से मुक्त, जितेन्द्रिय होते है। पर मै मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हू। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से अपना त्रिदण्ड रखना चाहिये।"[2]

"श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत के धारक और सर्वथा हिंसा के त्यागी होने से मु डित होते है, पर मैं पूर्ण हिंसा का त्यागी नही हू। मैं स्थूल हिंसा से निवृत्ति करूगा और शिखा सहित क्षुर मुंडन कराऊगा।"[3]

"श्रमण धन-कचन रहित एव शील की सौरभ वाले होते है किन्तु मैं परिग्रहधारी और शील की सुगन्ध से रहित हूं। अत मैं चन्दन आदि का लेप करूंगा।"[4]

"श्रमण निर्मोही होने से छत्र नही रखते, पर मैं मोह ममता सहित हूं, अत. छत्र धारण करूंगा और उपानत् एव खडाऊ भी पहनूगा।"[5]

---

[1] (क) आ० भा० गा० ३७। (ख) आव० नि० गा० ३५०।३५१
[2] आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३५३
[3] " " " ३५४
[4] " " " ३५५
[5] " " " ३५६

भरत का स्वरूप-दर्शन

सम्यग्दर्शन के प्रकाश से भरत का अन्तर्मन प्रकाशित था। दीर्घकाल तक साम्राज्य-लीला मे सलग्न रह कर भी वे उसमे अलिप्त और स्वरूपदर्शन के लिए लालायित थे।

भरत एक दिन वस्त्रालकारो से विभूषित होकर अपने शीशमहल (आदर्शभवन) मे गये। वहा छत, भित्तियो और आगन के शीशो मे उनका सौन्दर्य शतमुखी हो कर प्रतिबिम्बित हो रहा था। आगन मे प्रतिबिम्बित उनकी छवि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो क्षीरसागर मे राजहस विचरण कर रहा हो। महाराज भरत अपनी उस छटा को देखकर स्वय उस पर विस्मित एव मुग्ध से थे। अपनी अगुलियों की शोभा को निहारते हुए उन्होने देखा कि प्रकाशमान अगुलियो के बीच एक अगुली शोभाविहीन है, सूनी है, क्योंकि उसमें पहनी हुई अगूठी कही गिर पडी है। "देखे, इन दूसरो अगूठियो को उतार देने पर ये अगुलिया कैसी लगती हैं।" इस प्रकार विचार करते हुए उन्होने एक-एक कर के अपने सारे आभूषण उतार दिये। आभूषणो को उतार देने के कारण शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य विलुप्त हो गया। उन्हे अपना शरीर कमल रहित सरोवर के समान शोभाविहीन प्रतीत हुआ।

भरत के चिन्तन का मोड बदला, उन्होने सोचा—"शरीर का यह सौन्दर्य मेरा अपना नही है, यह तो कृत्रिम है, वस्त्राभूषणो से ही यह सुन्दर प्रतीत होता है। क्षण भर पहले जो देह दमक रही थी, वह आभूषणो के अभाव में श्रीहीन हो गई है।"

उन्हे पहली बार यह अनुभव हुआ—भौतिक अलकारो मे लदी हुई सुन्दरता कितनी सारहीन है, कितनी भ्रामक है। इसके व्यामोह मे फँस कर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। वास्तविक सौन्दर्य की अवस्थिति तो "स्व" मे है, "पर" मे नही। वस्तुत "स्व" की ओर अधिक ध्यान न दे कर जो मैं आज तक "पर" शरीरादि मे ही तल्लीनता दिखाता रहा, यह मेरी भयकर भूल थी।"

धीरे-धीरे चक्रवर्ती भरत के चिन्तन का प्रवाह सम, सवेग, और निर्वेद की भूमिका पर पहुचा और अपूर्वकरण मे प्रविष्ट हो उन्होने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय—इन चार घाति कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।[1]

वे प्रभु ऋषभदेव के चरणचिह्नो पर चल पड़े और अन्त मे शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गये।

---

[1] आवश्यक नियु क्ति, गा ४३६

परिव्राजक मत का प्रारम्भ

आवश्यक निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान् की देशना सुन कर और समवसरण की अद्भुत महिमा देख कर सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि भी प्रभु के चरणों मे दीक्षित हो गया तथा तप व सयम की विधिवत् आराधना करते हुए उसने एकादश अगो का अध्ययन भी किया। पर सुकुमारता के कारण एक बार ग्रीष्मकाल के भीषण ताप और अस्नान-परीषह से पीडित हो कर वह साधना के कटकाकीर्ण मार्ग से विचलित हो गया।[1]

वह मन ही मन सोचने लगा—"मेरु गिरि के समान सयम के इस गुरुतर भार को मैं घडी भर भी वहन नही कर सकता, क्योंकि संयम योग्य धृति आदि गुणो का मुझ में अभाव है, तो मुझे क्या करना चाहिये ?"

इस प्रकार विचार करते हुए उसे बुद्धि उत्पन्न हुई कि व्रत-पर्याय में आकर फिर घर लौट जाना तो उचित नहीं, सब लोग उसे कायर कहेंगे और यदि साधु रूप मे रह कर विधिवत् संयम का निर्दोष पालन नही करता हूं, तो आत्म-वंचना होगी। अतः अपनी स्थिति के अनुसार नवीन वेश धारण कर विचरना चाहिये। श्रमण-धर्म से उसने निम्न भेद की कल्पना की :—

"जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दंड से मुक्त, जितेन्द्रिय होते है। पर मै मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हूं। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से अपना त्रिदड रखना चाहिये।"[2]

"श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत के धारक और सर्वथा हिंसा के त्यागी होने से मुंडित होते है, पर मैं पूर्ण हिंसा का त्यागी नही हू। मैं स्थूल हिंसा से निवृत्ति करूगा और शिखा सहित क्षुर मुंडन कराऊंगा।"[3]

"श्रमण धन-कंचन रहित एव शील की सौरभ वाले होते हैं किन्तु मै परिग्रहधारी और शील की सुगन्ध से रहित हू। अत. मैं चन्दन आदि का लेप करूंगा।"[4]

"श्रमण निर्मोही होने से छत्र नही रखते, पर मैं मोह ममता सहित हूं, अत. छत्र धारण करूगा और उपानत् एव खडाऊ भी पहनूंगा।"[5]

---

[1] (क) आ० भा० गा० ३७। (ख) आव० नि० गा० ३५०।३५१

[2] आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३५३

[3] " " " ३५४

[4] " " " ३५५

[5] " " " ३५६

"श्रमण निरम्बर और शुक्लाम्बर होते है, जो स्थविरकल्पी है वे निर्मल मनोवृत्ति के प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण करते है, पर मैं कषाय से कलुषित हू, अत मै काषाय वस्त्र-गेरुए वस्त्र धारण करूगा।"[१]

"पाप-भीरु श्रमण जीवाकुल समझ कर सचित्त जल आदि का आरम्भ नही करता किन्तु मैं परिमित जल का स्नान-पानादि मे उपयोग करूगा।"[२]

इस प्रकार परिव्राजक वेष की कल्पना कर मरीचि भगवान् के साथ उसी वेष से ग्राम-नगर आदि मे विचरने लगा।

मरीचि के पास आकर बहुत से लोग धर्म की पृच्छा करते, वह उन सबको क्षान्ति आदि दशविध श्रमण-धर्म की शिक्षा देता और भगवान् के चरणो मे शिष्य होने को भेज देता।

किसी समय भरत महाराज ने भगवान् के समक्ष प्रश्न किया—"प्रभो! आपकी इस सभा मे कोई ऐसा भी जीव है जो भरत क्षेत्र मे, आपके समान इस चौबीसी मे तीर्थंकर होगा?"[३]

समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया—"भरत! यह स्वाध्याय-ध्यान मे रत तुम्हारा पुत्र मरीचि, जो प्रथम परिव्राजक है, आगे इसी अवसर्पिणी मे महावीर नाम का चौबीसवा तीर्थंकर होगा। तीर्थंकर होने से पहले यह प्रथम वासुदेव और मूका नगरी मे चक्रवर्ती भी होगा।"

भगवान् का निर्णय सुनकर सम्राट् भरत अत्यधिक प्रसन्न हुए और मरीचि के पास आकर उसका अभिवादन करते हुए बोले—"मरीचि! तुम तीर्थंकर बनोगे, इसलिये मै तुम्हारा अभिवादन करता हू। मरीचि! तेरी इस प्रव्रज्या को एव वर्तमान जन्म को वदन नही करता हू, किन्तु तुम जो भावी तीर्थंकर बनोगे, इसलिये मैं वदन करता हू।'

भरत की बात सुनकर मरीचि बहुत ही प्रसन्न हुआ और तीन बार आस्फोटन करके बोला "अहो मै प्रथम वासुदेव और मूका नगरी मे चक्रवर्ती बनूगा, और इसी अवसर्पिणी काल मे अन्तिम तीर्थंकर भी, कितनी बडी ऋद्धि? फिर मेरा कुल कितना ऊचा? मेरे पिता प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती, दादा

---

[१] आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३५७

[२] ,, ,, ,, ३५८

तीर्थंकर और मैं भी भावी तीर्थंकर, क्या इससे बढ़कर भी कोई उच्च कुल होगा ?"

इस प्रकार कुलमद के कारण मरीचि ने वहा नीच गोत्र का बन्ध कर लिया।[१]

एक दिन शरीर की अस्वस्थावस्था मे जब कोई उसकी सेवा करने वाला नही था तो मरीचि को विचार हुआ—"मैने किसी को शिष्य नही बनाया, अत: आज सेवा से वचित रह रहा हू। अब स्वस्थ होने पर मैं अपना शिष्य अवश्य बनाऊगा।"[२]

समय पाकर उसने कपिल राजकुमार को अपना शिष्य बनाया।"[३]

महापुराणकार ने कपिल को ही योगशास्त्र और सांख्य-दर्शन का प्रवर्तक माना है।

इस प्रकार "आदि परिव्राजक" मरीचि के शिष्य कपिल से व्यवस्थित रूप में परिव्राजक परम्परा का आरंभ हुआ।[४]

ब्राह्मी और सुन्दरी

प्रात.स्मरणीया सतियो में ब्राह्मी और सुन्दरी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ के १०० पुत्रो मे जिस प्रकार भरत और बाहुबली प्रसिद्ध है, उसी प्रकार उनकी दोनो पुत्रिया ब्राह्मी और सुन्दरी भी सर्वजन-विश्रुत है।

भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी के माध्यम से/ही जन-समाज को अठारह लिपियों का ज्ञान प्रदान किया।

आवश्यक निर्युक्ति के टीकाकार के अनुसार ब्राह्मी का बाहुबलि से और भरत का सुन्दरी से सम्बन्ध बताया गया है।

यहां यह शका होती है कि ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी. माना गया है, फिर इनका विवाह कैसे ?

सभव है कि 'उस समय की लोक-व्यवस्थानुसार पहले दोनो का सम्बन्ध घोषित किया गया हो और फिर भोग-विरति के कारण दोनो ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो।

---

[१] आ० म० ४२८, ४३१-४३२

[२] आ० म० प० २४७।१

[३] त्रिषष्टि १।६।५२

[४] महापुराण, १८।६२।४०३

आवश्यक चूर्णि और मलयगिरि वृत्ति मे भी भरत को सुन्दरी और बाहुबली को ब्राह्मी देने के उल्लेख के साथ बताया गया है कि ब्राह्मी तो भगवान् को केवलज्ञान होते ही दीक्षित हो गई, पर सुन्दरी को उस समय भरत ने दीक्षा ग्रहण करने को अनुमति प्रदान नही की। भरत द्वारा अवरोध उपस्थित किये जाने के कारण वह उस समय दीक्षित नही हो सकी। भरत का विचार था कि चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी को जीतकर सुन्दरी को स्त्री-रत्न नियुक्त किया जाय।

आचार्य जिनसेन के अनुसार सुन्दरी ने भगवान् ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोध पाकर ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[1]

पर श्वेताम्बर परम्परा के चूर्णि वृत्ति साहित्य के अनुसार भरत की आज्ञा प्राप्त न होने से, वह उस समय प्रथम श्राविका बनी। उसके अन्तर्मन मे वैराग्य की प्रबल भावना थी। तन से गृहस्थाश्रम मे रहकर भी उसका हृदय सयम में रम रहा था। भरत के स्नेहातिरेक को देख कर सुन्दरी ने रागनिवारण हेतु उपाय सोचा। उसने भरत द्वारा षट्खण्ड विजय के लिए प्रस्थान कर देने पर निरन्तर आयम्बिल (आचाम्ल) तप करना प्रारम्भ कर दिया।

साठ हजार वर्ष पश्चात् जब भरत सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए षट्खण्ड विजय कर विनीता नगरी को लौटे और बारह वर्ष के महाराज्याभिषेक-समारोह के सम्पन्न होने के पश्चात् जब वे अपने परिवार की सार-सँभाल करते हुए सुन्दरी के पास आये तो सुन्दरी के सुन्दर-सुडौल शरीर को अत्यन्त कृश और शोभाविहीन देखकर बड़े क्षुब्ध हुए। अनुचरो को उपालम्भ देते हुए उन्होने सुन्दरी के क्षीणकाय होने का कारण पूछा।

अनुचरो ने कहा—"स्वामिन्! सभी प्रकार के सुख-साधनो का बाहुल्य होते हुए भी इनके क्षीण होने का कारण यह है कि जब से आपने इन्हें संयम-ग्रहण का निषेध किया, उसी दिन से उन्होने निरन्तर आचाम्ल व्रत प्रारम्भ कर रखा है। हम लोगो द्वारा विविध विधि से पुन पुन निवेदन किये जाने के उपरान्त भी इन्होने अपना व्रत नही छोड़ा।"

सुन्दरी की यह स्थिति देखकर भरत ने पूछा—"सुन्दरी! तुम प्रव्रज्या लेना चाहती हो अथवा गृहस्थ जीवन मे रहना चाहती हो?"

सुन्दरी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा अभिव्यक्त किये जाने पर भरत ने प्रभु की सेवा मे रत ब्राह्मी के पास उसे प्रव्रजित करा दिया। इस प्रकार सुन्दरी कालान्तर मे साध्वी हो गई।

---

[1] (क) महापुराण २४।१७७ (ख) त्रिषष्टि० प० १, स० ३, श्लो० ६५०-५१

इस प्रकार उपरिलिखित रूप मे ब्राह्मी और सुन्दरी के सम्बन्ध मे आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अभिमत व्यक्त किये है।

जैन वाड्मय और धर्मसघ मे ब्राह्मी तथा सुन्दरी इन दोनो बहनो का युगादि से ही बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। युगादि में मानव संस्कृति के निर्माण मे इन दोनो का बहुत बड़ा योगदान रहा। सोलह महासतियो मे इन दोनो का विशिष्ट स्थान है। दोनों बहनें कुमारावस्था मे ही भगवान् ऋषभदेव के धर्मशासन में श्रमणीधर्म की आराधना कर सिद्ध-पद की अधिकारिणी बन गई। इनके साधना जीवन के सम्बन्ध मे जैसा कि ऊपर बताया गया कुछ आचार्यो मे विचारभेद रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा के पश्चाद्वर्ती साहित्य मे ब्राह्मी की दीक्षा तो संघ स्थापना के समय ही मान्य की गई है पर सुन्दरी की दीक्षा ब्राह्मी से ६० हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय से लौटने पर मानी गई है। जो विचारणीय है। जैनागम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे भगवान् ऋषभदेव के साध्वीसघ का परिचय देते हुए कहा गया है—"उसमस्सणं अरहओ कोसलियस्स बभी-सुंदरी पामोक्खाओ तिण्णि अज्जियासयसाहस्सीओ उक्कोसिय अज्जिया संपया होत्था।" कल्पसूत्र मे भी ऐसा ही लिखा है कि ऋषभदेव प्रभु के ब्राह्मी-सुन्दरी प्रमुख तीन लाख साध्वियो की उत्कृष्ट संपदा थी। इन दोनों ही मूल पाठो में ब्राह्मी के साथ सुन्दरी को भी ३ लाख साध्वियो मे प्रमुख बताया गया है, जो ब्राह्मी और सुन्दरी के साथ-साथ दीक्षित होने पर ही संभव हो सकता है। चक्रवर्ती भरत द्वारा सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर दिग्विजय के पश्चात् सुन्दरी की दीक्षा मानने पर हजारो लाखों साध्विया उनसे दीक्षावृद्ध हो सकती है। उस प्रकार की स्थिति मे—"बभी सुंदरीपामोक्खाओ" पाठ की सगति कैसे होगी? यह समस्या उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त ध्यानस्थ बाहुबली को प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी के साथ सुन्दरी के भेजने का भी उल्लेख है, वह भी ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण साथ मानने पर ही ठीक बैठता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन[1] भी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र के उल्लेख की भांति ही ब्राह्मी और सुन्दरी—दोनो बहनो का एक साथ ही दीक्षित होना मानते है।

इसके अतिरिक्त यदि सुन्दरी का सघ-स्थापना के समय श्राविका होना स्वीकार किया जाता है तो श्राविका-सघ मे सुन्दरी का प्रमुख नाम आना चाहिये, किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र आदि मे सुभद्रा को श्राविकाओ मे प्रमुख बतलाया गया है, न कि सुन्दरी को।

---

[1] महापुराण, २४।१७७

इन सब तथ्यो पर तटस्थता से विचार करने पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र की भावना के अनुसार ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनो का साथ-साथ दीक्षित होना ही विशेष संगत और उचित प्रतीत होता है।

पुत्रों को प्रतिबोध

पहले कहा जा चुका है कि ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रो को पृथक्-पृथक् ग्रामादि का राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

जब भरत ने षट्खण्ड के देशो पर विजय प्राप्त की, तब भ्राताओं को भी अपने आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए उसने उनके पास दूत भेजे। दूत की बात सुनकर अट्ठानवे भाइयो ने मिलकर विचार-विमर्श किया, परन्तु वे कोई निर्णय नही कर सके। तब उन सबने सोचा कि भगवान् के पास जाकर बात करेंगे और उनकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा ही करेंगे।

इस तरह सोचकर वे सब भगवान् के पास पहुंचे और उन्हें सारी स्थिति से अवगत कराते हुए बोले—"भगवन्! आपने हमको जो राज्य दिया था, वह भाई भरत हमसे छीनना चाहता है। उसके पास कोई कमी नही, फिर भी तृष्णा के अधीन हो वह कहता है कि या तो हमारी आज्ञा स्वीकार करो अन्यथा युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ। आपके दिये हुए राज्य को हम यो ही दब कर अर्पण करदे, यह कायरता होगी और भाई के साथ युद्ध करे तो विनय-भग होगा, मर्यादा का लोप हो जायगा। ऐसी स्थिति मे आप ही बताइये, हमे क्या करना चाहिये?"

भगवान् ने भौतिक राज्य की नश्वरता और अनुपादेयता बतलाते हुए उनको आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व समझाया।

भगवान् के उपदेश का सार सूयगडांग के दूसरे वैतालीय अध्ययन में बताया गया है।

भागवत में भी भगवान् के पुत्रोपदेश का वर्णन इससे मिलता-जुलता ही प्राप्त होता है।[1]

भगवान् की दिव्य वाणी मे आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व और सघर्ष-जनक भौतिक राज्य के त्याग की बात सुनकर सभी पुत्र अवाक् रह गये।

उन्होने भगवान् के उपदेश को शिरोधार्य कर इन्द्रियो और मन पर संयम रूप स्वराज्य स्वीकार किया और वे पंच महाव्रत रूप धर्म को ग्रहण कर भगवान् के शिष्य बन गये।

---

[1] श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड ५।५।४५६

सम्राट् भरत को ज्योंही यह सूचना मिली, तो वे तत्काल वहां पहुँचे और भाइयों से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे। पर अट्ठानवें भाइयो ने अब राज्य वैभव और माया से अपना मुख मोड़ लिया था, अत. भरत की स्नेह भरी बातें उनको विचलित नही कर सकी, वे अक्षय राज्य के अधिकारी हो गये।

अहिंसात्मक युद्ध

ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबली ने युद्ध में भी अहिंसाभाव रखकर यह बता दिया कि हिंसा के स्थान पर अहिंसा भाव से भी किस प्रकार-मन-परिवर्तन का आदर्श उपस्थित किया जा सकता है।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरत सम्पूर्ण देशों में अपना अखंड शासन स्थापित करने जा रहे थे। अट्ठानवे भाइयो के दीक्षित हो जाने से उनका मार्ग अधिकाशत सरल बन चुका था, फिर भी एक बाधा थी कि महाबली को कैसे जीता जाय ?

जब तक बाहुबली को आज्ञानुवर्ती नही बना लिया जाता. तब तक चक्ररत्न का नगर प्रवेश और चक्रवर्तित्व के एकछत्र राज्य की स्थापना नही हो सकती थी। अत उन्होने अपने छोटे भाई बाहुबली को यह संदेश पहुचाया कि वह भरत की अधीनता स्वीकार कर लें।

दूत के मुख से भरत का सन्देश सुनकर बाहुबली की भृकुटी तन गई। क्रोध मे तमतमाते हुए उन्होने कहा—"अट्ठानवे भाइयो का राज्य-छीन कर भी भरत की राज्य-तृष्णा शान्त नही हुई और अब वह मेरे राज्य पर भी अधिकार करना चाहता है। उसे अपनी शक्ति का गर्व है, वह सब को दबा कर रखना चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नही, दुरुपयोग है, भगवान् द्वारा स्थापित सुव्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति मे मैं भी चुप्पी नही साध सकता। मैं उसे बतला दूंगा कि आक्रमण करना कितना बुरा है।"

बाहुबली की यह बात सुनकर दूत लौट गया। उसने भरत के पास आकर सारी बात कह सुनाई। भरत के समक्ष बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई। चक्ररत्न के नगर मे प्रविष्ट न होने के कारण एक ओर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के लिये किये गये सब प्रयास निष्फल हो रहे थे तो दूसरी ओर भ्रातृ-प्रेम और लोकापवाद के कारण भाई के साथ युद्ध करने मे मन कुण्ठित हो रहा था। किन्तु चक्रवर्ती नाम कर्म के प्राबल्य के कारण उन्हे भाई पर आक्रमण करने का निश्चय करना पड़ा। उन्होने विराट् सेना लेकर युद्ध करने हेतु "बहली देश" की सीमा पर आकर सेना का पड़ाव डाल दिया।

दूसरी ओर बाहुबली भी अपनी विशाल सेना के साथ रणांगण मे आ डटे। दोनो ओर की सेनाओ के बीच युद्ध कुछ समय तक होता रहा। पर युद्ध मे होने वाले जनसहार से बचने के लिए बाहुबली ने भरत के समक्ष सुझाव रखा कि क्यो नही वे दोनो भाई-भाई ही मिलकर निर्णायक द्वन्द्व युद्ध कर लें।

दोनो के एकमत होने पर दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दड-युद्ध द्वारा परस्पर बल-परीक्षण होने लगा।

दोनो भाइयो के बीच सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध हुआ, उसमे भरत की पराजय हुई। तत्पश्चात् क्रमश वाग्युद्ध, बाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध मे भी भरत पराजित हो गये।

तब भरत सोचने लगे—"क्या बाहुबली चक्रवर्ती है, जिससे कि मैं कमजोर पड रहा हूँ?"

उनके इस प्रकार विचार करते ही देवता ने भरत के समक्ष अमोघ आयुध चक्ररत्न प्रस्तुत किया। छोटे भाई से पराजित होने पर भरत को गहरा आघात लगा, अत: आवेश मे आकर उन्होने बाहुबली के शिरश्छेदन के लिये चक्ररत्न का प्रहार किया।

बाहुबली ने भरत को प्रहार करते देखा तो वे गर्व के साथ क्रुद्ध हो उछले और उन्होने चक्र को पकड़ना चाहा। पर तत्क्षण उनके मन मे विचार आया कि तुच्छ काम-भोगो के लिये उन्हे ऐसा करना योग्य नही। भाई मर्यादा-भ्रष्ट हो गया है तो भी उन्हे धर्म छोडकर भ्रातृवध जैसा दुष्कर्म नही करना चाहिये।[1]

भरत के ही परिवार के सदस्य व चरमशरीरी होने के कारण चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके पीछे की ओर लौट गया।[2]

बाहुबली की इस विजय से गगन विजयघोषो से गूंज उठा और भरत मन ही मन बहुत लज्जित हुए। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे इस सन्दर्भ को निम्न रूप से प्रस्तुत किया गया है:—

---

[1] (क) आव० नि० मलयवृत्ति गा० ३२ से ३५ प० २३२ (ख) आव० चू० प० २१०

[2] न चक्र चक्रिण शक्तं, सामान्येऽपि सगोत्रजे।
विशेषतस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे ॥७२३॥
चक्र चक्रभृत पाणि, पुनरप्यापपात तद् ।.. .७२४॥
[त्रिषष्टि श पु चरित्र, पर्व १, सर्ग ५]

बाहुबली ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शको के दिल कांप गये और सब एक स्वर में कहने लगे "क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला बडा होता है। भूल का प्रतीकार भूल से नही होता।"

बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे–"ऋषभ की सन्तानो की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय ?"

"उन्होने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होने ऋषभदेव के चरणों में वही से भावपूर्वक नमन किया और कृत-अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।"

भरत-बाहुबली युद्ध पर शास्त्रीय दृष्टि

कथा-साहित्य मे भरत-बाहुबली के युद्ध को बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कही देवो को बीच-बचाव मे खीचा है, तो कहीं इन दोनों भाइयों के स्वयं के चिन्तन को महत्त्व दिया गया है। परन्तु जब शास्त्रीय परम्परा की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो वहां इस सम्बन्ध में स्वल्पमात्र भी युद्ध का उल्लेख नही मिलता। प्रत्युत शास्त्र मे तो स्पष्ट उल्लेख है कि चक्रवर्ती किसी राजा, महाराजा से तो क्या, देव-दानव से भी पराजित नही होते। इस प्रकार की स्थिति मे देव-दानवों द्वारा अजेय भरत चक्रवर्ती को युद्ध में उनके अपने एक भाई महाराजा से पराजित हो जाने का उल्लेख सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

संभव है उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा बाहुबली के बल की विशिष्टता बतलाने के लिये ऐसा लिखा गया हो। छद्मस्थ साहित्यकारो द्वारा चरित्र-चित्रण मे अतिशयोक्ति होना असंभव नहीं है।

बाहुबली का घोर तप और केवलज्ञान

भ० ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होने पर भी बाहुबली आगे नही बढ सके। उनके मन मे द्वन्द था–"पूर्वदीक्षित छोटे भाइयो के पास यों ही कैसे जाऊं ?"

इस बात का स्मरण आते ही वे अहंकार से अभिभूत हो गये। वे वन में ध्यानस्थ खड़े हो गये और एक वर्ष तक गिरिराज के समान अचल-अडोल निष्कम्प भाव से खड़े रहे। शरीर पर बेलें छा गई, सुकोमल कमल के समान

दूसरी ओर बाहुबली भी अपनी विशाल सेना के साथ रणागण मे आ डटे। दोनो ओर की सेनाओ के बीच युद्ध कुछ समय तक होता रहा। पर युद्ध मे होने वाले जनसहार से बचने के लिए बाहुबली ने भरत के समक्ष सुझाव रखा कि क्यो नही वे दोनो भाई-भाई ही मिलकर निर्णायक द्वन्द्व युद्ध कर ले।

दोनो के एकमत होने पर दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दण्ड-युद्ध द्वारा परस्पर बल-परीक्षण होने लगा।

दोनो भाइयो के बीच सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध हुआ, उसमे भरत की पराजय हुई। तत्पश्चात् क्रमश. वाग्युद्ध, बाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध मे भी भरत पराजित हो गये।

तब भरत सोचने लगे—"क्या बाहुबली चक्रवर्ती है, जिससे कि मैं कम-जोर पड रहा हूँ?"

उनके इस प्रकार विचार करते ही देवता ने भरत के समक्ष अमोघ आयुध चक्ररत्न प्रस्तुत किया। छोटे भाई से पराजित होने पर भरत को गहरा आघात लगा, अत· आवेश मे आकर उन्होने बाहुबली के शिरश्छेदन के लिये चक्ररत्न का प्रहार किया।

बाहुबली ने भरत को प्रहार करते देखा तो वे गर्व के साथ क्रुद्ध हो उछले और उन्होने चक्र को पकड़ना चाहा। पर तत्क्षण उनके मन मे विचार आया कि तुच्छ काम-भोगो के लिये उन्हे ऐसा करना योग्य नही। भाई मर्यादा-भ्रष्ट हो गया है तो भी उन्हे धर्म छोडकर भ्रातृवध जैसा दुष्कर्म नही करना चाहिये।[1]

भरत के ही परिवार के सदस्य व चरमशरीरी होने के कारण चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके पीछे की ओर लौट गया।[2]

बाहुबली की इस विजय से गगन विजयघोषों से गूंज उठा और भरत मन ही मन बहुत लज्जित हुए। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे इस सन्दर्भ को निम्न रूप से प्रस्तुत किया गया है —

---

[1] (क) आव० नि० मलयवृत्ति गा० ३२ से ३५ प० २३२ (ख) आव० चू० प० २१०

[2] न चक्र चक्रिण शक्त, सामान्येऽपि सगोत्रजे।
विशेषतस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे ॥७२३॥
चक्र चक्रभृत पाणि, पुनरप्यापपात तत्। .. .७२४॥
[त्रिषष्टि श पु चरित्र, पर्व १, सर्ग ५]

बाहुबली ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गये और सब एक स्वर में कहने लगे "क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतीकार भूल से नहीं होता।"

बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे—"ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय?"

"उन्होंने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होंने ऋषभदेव के चरणों में वहीं से भावपूर्वक नमन किया और कृत-अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।"

भरत-बाहुबली युद्ध पर शास्त्रीय दृष्टि

कथा-साहित्य में भरत-बाहुबली के युद्ध को बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कहीं देवों को बीच-बचाव में खींचा है, तो कहीं इन दोनों भाइयों के स्वयं के चिन्तन को महत्त्व दिया गया है। परन्तु जब शास्त्रीय परम्परा की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो वहां इस सम्बन्ध में स्वल्पमात्र भी युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत शास्त्र में तो स्पष्ट उल्लेख है कि चक्रवर्ती किसी राजा, महाराजा से तो क्या, देव-दानव से भी पराजित नहीं होते। इस प्रकार की स्थिति में देव-दानवों द्वारा अजेय भरत चक्रवर्ती को युद्ध में उनके अपने एक भाई महाराजा से पराजित हो जाने का उल्लेख सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

संभव है उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा बाहुबली के बल की विशिष्टता बतलाने के लिये ऐसा लिखा गया हो। छद्मस्थ साहित्यकारों द्वारा चरित्र-चित्रण में अतिशयोक्ति होना असंभव नहीं है।

बाहुबली का घोर तप और केवलज्ञान

भ० ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होने पर भी बाहुबली आगे नहीं बढ़ सके। उनके मन में द्वन्द्व था—"पूर्वदीक्षित छोटे भाइयों के पास मैं ही कैसे जाऊं?"

इस बात का स्मरण आते ही वे अहंकार से अभिभूत हो गये। वे वन में ध्यानस्थ खड़े हो गये और एक वर्ष तक गिरिराज के समान अचल-अडोल निष्कम्प भाव से खड़े रहे। शरीर पर बेलें छा गईं, सुकोमल कमल के समान

खिला वदन मुरझा गया, पैर दीमको की मिट्टी से ढक गये।[1] इतना सब कुछ होने पर भी उन्हे केवलज्ञान का आभास तक नही हुआ।

त्रिकालदर्शी प्रभु ऋषभदेव ने मुनि बाहुबली की इस प्रकार की मन:-स्थिति देख, उन्हे प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा।

दोनो साध्विया तत्काल बाहुबली के पास जाकर प्रेरक मृदु स्वर मे उनसे बोली—"भाई! हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नही होती।"

बाहुबली साध्वियों की बात सुनकर विचारने लगे—"मै हाथी पर कहाँ बैठा हू? किन्तु साध्विया कभी असत्य नही बोलती।[2] अरे समझा, ये ठीक ही कहती है, मैं अभिमान रूपी हाथी पर आरूढ हू।"

इस विचार के साथ ही सरल भाव से ज्योही बाहुबली ने अपने छोटे भाइयो को नमन करने के लिये पैर उठाये कि उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

केवली बनकर वे भगवान् के समवसरण मे गये और वहा नियम के अनुसार प्रभु को वन्दन कर केवली-परिषद् मे बैठ गये।

आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान मे स्थिर रहे, परन्तु उनके मन मे यह विचार बना रहा कि उनके कारण भरत के मन मे सक्लेश हुआ है। उनके वार्षिक अनशन के पश्चात् भरत के द्वारा क्षमा-याचनापूर्वक वन्दन करने पर उनका मानसिक शल्य दूर हुआ और उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया।[3]

भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है कि कुछ समय के पश्चात् भरत चक्रवर्ती पद पर आसीन हुए तो उनके मन मे विचार आया कि उन्होने दिग्विजय कर विपुल वैभव एवं साधन एकत्रित किये है। अन्य लोग भी रातदिन परिश्रम कर अपनी शक्तिभर धनार्जन करते है। इस प्रकार परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग किन्ही

---

[1] सवच्छर अच्छई काउसग्गेण वल्लीवितागोण वेढियो पाया य निग्गएहि भुयगेहिं
—आव० म० वृ०, पृ० २३२ (१)—

[2] तातो य अन्निय न भणति।
—आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २११—

[3] महापुराण, ३६। १८६—८८। २१७ द्वि० भाग

ऐसे कल्याणकारी कार्यों में किया जाना चाहिये, जो सभी भांति लाभप्रद एवं परम हितकर हों। इस विचार के साथ उन्हे यह भी ध्यान मे आया कि यदि बुद्धिजीवी लोगो का एक वर्ग तैयार किया जाय तो उनके द्वारा त्रिवर्ग के अन्य लोगों को भी नैतिक जीवन-निर्माण मे बौद्धिक सहयोग प्राप्त होता रहेगा और समाज का नैतिक स्तर भी अध पतन की ओर उन्मुख न होकर अभ्युन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा।

इस विचार को मूर्त्त रूप देने के लिये उन्होने सभी शिष्ट लोगो को अपने यहां आमन्त्रित किया और उनकी परीक्षा के लिये मार्ग मे हरी घास बिछवा दी।

हरी घास मे भी जीव होते हैं, जिनकी हमारे चलने से विराधना होगी, इस बात का बिना विचार किये ही बहुत से लोग भरत के प्रासाद मे चले गये। परन्तु कतिपय विवेकशील लोग मार्ग मे हरी घास बिछी देखकर प्रासाद मे नही गये।

भरत द्वारा उन्हे प्रासाद के अन्दर नही आने का कारण पूछने पर उन्होने कहा—"हमारे आने से -वनस्पति के जीवों की विराधना होती, इसलिये हम प्रासाद के अन्दर नही आये।"

महाराज भरत ने उनकी दयावृत्ति की सराहना करते हुए उन्हें दूसरे मार्ग से प्रासाद मे बुलाया और उन्हे सम्मानित कर 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' की सञ्ज्ञा मे सम्बोधित किया।

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी) के अनुसार भरत अपने ६८ भाइयो को प्रव्रजित हुए जानकर अधीर हो उठे और मन में विचार करने लगे कि इतनी बडी अतुल सम्पदा किस काम की, जो अपने स्वजनो के भी काम न आ सके। यदि मेरे भाई चाहें तो मैं यह भोग उन्हें अर्पण कर दूं।

जब भगवान् विनीता नगरी पधारे तो भरत ने अपने दीक्षित भाइयो को भोगो के लिए निमन्त्रित किया, पर उन्होने त्यागे हुए भोगों को ग्रहण करना स्वीकार नही किया। तब भरत ने उन परिग्रह-त्यागी मुनियों का आहार आदि के दान द्वारा सेवा-सत्कार करना चाहा। अशनादि से भरे ५०० गाड़े लेकर वे उन मुनियो के पास पहुँचे एव वन्दन नमन के पश्चात् उन्हे अशन-पानादि के उपभोग के लिए आमन्त्रित करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव ने फरमाया—इस प्रकार का साधुओ के लिए बना हुआ आधाकर्मी या उनके लिये लाया हुआ आहार साधुओ के लिए ग्राह्य नही होता।

खिला वदन मुरझा गया, पैर दीमको की मिट्टी से ढक गये ।[1] इतना सब कुछ होने पर भी उन्हे केवलज्ञान का आभास तक नही हुआ ।

त्रिकालदर्शी प्रभु ऋषभदेव ने मुनि बाहुबली की इस प्रकार की मन.-स्थिति देख, उन्हे प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा ।

दोनो साध्वियां तत्काल बाहुबली के पास जाकर प्रेरक मृदु स्वर मे उनसे बोली—"भाई ! हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नही होती ।"

बाहुबली साध्वियो को बात सुनकर विचारने लगे—"मै हाथी पर कहाँ बैठा हू ? किन्तु साध्विया कभी असत्य नही बोलती ।[2] अरे समझा, ये ठीक ही कहती है, मैं अभिमान रूपी हाथी पर आरूढ हूं ।"

इस विचार के साथ ही सरल भाव से ज्योही बाहुबली ने अपने छोटे भाइयो को नमन करने के लिये पैर उठाये कि उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

केवली बनकर वे भगवान् के समवसरण मे गये और वहा नियम के अनुसार प्रभु को वन्दन कर केवली-परिषद् मे बैठ गये ।

आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान मे स्थिर रहे, परन्तु उनके मन में यह विचार बना रहा कि उनके कारण भरत के मन मे सक्लेश हुआ है । उनके वार्षिक अनशन के पश्चात् भरत के द्वारा क्षमा-याचनापूर्वक वन्दन करने पर उनका मानसिक शल्य दूर हुआ और उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया ।[3]

भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है कि कुछ समय के पश्चात् भरत चक्रवर्ती पद पर आसीन हुए तो उनके मन मे विचार आया कि उन्होने दिग्विजय कर विपुल वैभव एवं साधन एकत्रित किये है । अन्य लोग भी रातदिन परिश्रम कर अपनी शक्तिभर धनार्जन करते है । इस प्रकार परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग किन्ही

---

[1] सवच्छर अच्छई काउसग्गेण वल्लीविताणेण वेढियो पाया य निग्गएहिं भुयगेहिं
—आव० म० वृ०, पृ० २३२ (१)—

[2] तातो व अन्निय न भणति ।
—आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २११—

[3] महापुराण, ३६। १८६—८८। २१७ द्वि० भाग

ऐसे कल्याणकारी कामों में किया जाना चाहिये, जो सभी भांति लाभप्रद एवं परम हितकर हों। इस विचार के साथ उन्हें यह भी ध्यान मे आया कि यदि बुद्धिजीवी लोगों का एक वर्ग तैयार किया जाय तो उनके द्वारा त्रिवर्ग के अन्य लोगों को भी नैतिक जीवन-निर्माण मे बौद्धिक सहयोग प्राप्त होता रहेगा और समाज का नैतिक स्तर भी अध पतन की ओर उन्मुख न होकर अभ्युन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा।

इस विचार को मूर्त रूप देने के लिये उन्होने सभी शिष्ट लोगो को अपने यहा आमन्त्रित किया और उनकी परीक्षा के लिये मार्ग मे हरी घास बिछवा दी।

हरी घास मे भी जीव होते हैं, जिनकी हमारे चलने से विराधना होगी, इस बात का बिना विचार किये ही बहुत से लोग भरत के प्रासाद में चले गये। परन्तु कतिपय विवेकशील लोग मार्ग मे हरी घास बिछी देखकर प्रासाद मे नही गये।

भरत द्वारा उन्हें प्रासाद के अन्दर नहीं आने का कारण पूछने पर उन्होने कहा—"हमारे आने से वनस्पति के जीवों की विराधना होती, इसलिये हम प्रासाद के अन्दर नही आये।"

महाराज भरत ने उनकी दयावृत्ति की सराहना करते हुए उन्हें दूसरे मार्ग से प्रासाद मे बुलाया और उन्हे सम्मानित कर 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' की सज्ञा से सम्बोधित किया।

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी) के अनुसार भरत अपने ९८ भाइयो को प्रव्रजित हुए जानकर अधीर हो उठे और मन मे विचार करने लगे कि इतनी बडी अतुल सम्पदा किस काम की, जो अपने स्वजनो के भी काम न आ सके। यदि मेरे भाई चाहें तो मैं यह भोग उन्हें अर्पण कर दूँ।

जब भगवान् विनीता नगरी पधारे तो भरत ने अपने दीक्षित भाइयो को भोगों के लिए निमन्त्रित किया, पर उन्होंने त्यागे हुए भोगों को ग्रहण करना स्वीकार नही किया। तब भरत ने उन परिग्रह-त्यागी मुनियो का आहार आदि के दान द्वारा सेवा-सत्कार करना चाहा। अशनादि से भरे ५०० गाड़े लेकर वे उन मुनियो के पास पहुँचे एव वन्दन नमन के पश्चात् उन्हें अशन-पानादि के उपभोग के लिए आमन्त्रित करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव ने फरमाया—इस प्रकार का साधुओं के लिए बना हुआ आधाकर्मी या उनके लिये लाया हुआ आहार साधुओ के लिए ग्राह्य नहीं होता।

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की—भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मेरे लिए पहले से ही बने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय।

जब भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य बताया तो भरत बड़े खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे – क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है ?

इसी बीच देवराज शक्र ने भरत की व्यथा एवं चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की – भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार के होते हैं ?

प्रभु ने पचविध अवग्रह मे देवेन्द्र और राजा का भी अवग्रह बताया।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया – भगवन् ! मैं अपने भारतवर्ष मे श्रमण-निर्ग्रन्थो को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

इसके बाद श्रमणों के लिये लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्बन्ध मे भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा – राजन् ! जो तुम से विरति गुण में अधिक हैं, उनका इस अशन-पानादि से सत्कार करो।

भरत ने मन ही मन सोचा – कुल, जाति और वैभव आदि में तो कोई मुझ से अधिक नही है। जहा तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमें मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज है, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नहीं करते। अब रहे गुणाधिक कुछ श्रावक – तो उन्हें ही यह सामग्री दे दी जाय।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावको को दे दिया और उन्हे बुला कर कहा – आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करे, मैं आप लोगो की जीविका की व्यवस्था करूंगा। आपका कार्य केवल शास्त्रो का श्रवण, पठन एव मनन व देव, गुरु की सेवा करते रहना है।

इस प्रकार अनेको श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला मे भोजन करते और बोलते – 'वर्द्धते भयं, मा हण, मा हण' – भय बढ़ रहा है, हिंसा मत करो, हिंसा मत करो।

भरत की ओर से श्रावको के नाम इस साधारण निमन्त्रण को पाकर अन्यान्य लोग भी अधिकाधिक सख्या में भरत की भोजनशाला में आकर भोजन करने लगे। भोजनशाला के व्यवस्थापको ने भोजन के लिए आने वालो की दिन प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से निरन्तर बढती हुई संख्या को देखकर सोचा कि यदि यही स्थिति रही तो बडी अव्यवस्था हो जाएगी। उन्होने सारी स्थिति भरत के सम्मुख रखी।

भरत ने कहा – तुम लोग प्रत्येक व्यक्ति से पूछताछ करने के पश्चात् जो श्रावक हो उसे भोजन खिलाओ।

भोजनशाला के व्यवस्थापको ने आगन्तुकों से पूछताछ करना प्रारम्भ किया। जिन लोगों ने अपने व्रतों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से बताया उनको योग्य समझ कर वे भरत के पास ले गये। भरत ने काकणी रत्न से उन्हे चिह्नित किया और कहा – छ: छ: महीनों से ऐसा परीक्षण करते रहो।

इस प्रकार माहण उत्पन्न हुए। उनके जो पुत्र-पौत्र होते, उन्हे भी साधुओ के पास ले जाया जाता और व्रत स्वीकार करने पर काकिणी रत्न से चिह्नित किया जाता। वे लोग आरम्भ, परिग्रह की प्रवृत्तियो से अलग रहकर लोगो को 'मा हन, मा हन,' ऐसी शिक्षा देते, उन्हे 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा।[1]

भरत द्वारा, प्रत्येक श्रावक के – देव, गुरु, धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण, कांकणी रत्न से तीन रेखाए की जाती। समय पाकर वे ही तीन रेखाएं यज्ञोपवीत के रूप मे परिणत हो गई।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई। जब भरत के पुत्र आदित्य यश सिंहासनारूढ हुए तो उन्होने सुवर्णमय यज्ञोपवीत धारण करवाई। यह स्वर्ण की यज्ञोपवीत धारण करने की परिपाटी आदित्य यश से आठवी पीढ़ी तक चलती रही।[2]

इस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक चार वर्णों की स्थापना हुई।

भगवान् ऋषभदेव का धर्म परिवार

भगवान् ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार विशाल था, उसी प्रकार उनका धर्म-परिवार भी बहुत बड़ा था। यो देखा जाय तो प्रभु ऋषभदेव की वीतराग-वाणी को सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा, जो लाभान्वित एव उनके प्रति श्रद्धाशील नही हुआ हो। अगणित नर-नारी, देव-देवी और पशु तक उनके उपासक बने, भक्त बने। परन्तु यहा विशेषकर व्रतियों की दृष्टि से ही उनके धर्म परिवार का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० २१३–१४

[2] एव ते उप्पन्ना माहणा, काम जदा आइच्चजसो जातो तदा सोवण्णियाणि जण्णोवइयाणि। एव तेसिं अट्ठ पुरिसजुगाणि ताव सोवण्णिताणि॥ आव० चू० प्र० भा०, पृष्ठ–२१४

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की—भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मेरे लिए पहले से ही बने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय।

जब भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य बताया तो भरत बडे खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे — क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है ?

इसी बीच देवराज शक्र ने भरत की व्यथा एवं चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की — भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार के होते है ?

प्रभु ने पचविध अवग्रह में देवेन्द्र और राजा का भी अवग्रह बताया।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया — भगवन् ! मैं अपने भारतवर्ष मे श्रमण-निर्ग्रन्थो को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

इसके बाद श्रमणों के लिये लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्बन्ध मे भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा — राजन् ! जो तुम से विरति गुण में अधिक हैं, उनका इस अशन-पानादि से सत्कार करो।

भरत ने मन ही मन सोचा — कुल, जाति और वैभव आदि में तो कोई मुझ से अधिक नही है। जहा तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमे मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज है, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नही करते। अब रहे गुणाधिक कुछ श्रावक — तो उन्हें ही यह सामग्री दे दी जाय।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावको को दे दिया और उन्हे बुला कर कहा — आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करे, मैं आप लोगो की जीविका की व्यवस्था करूंगा। आपका कार्य केवल शास्त्रो का श्रवण, पठन एव मनन व देव, गुरु की सेवा करते रहना है।

इस प्रकार अनेको श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला मे भोजन करते और बोलते — 'वर्द्धते भय, मा हण, मा हण' — भय बढ रहा है, हिंसा मत करो, हिंसा मत करो।

भरत की ओर से श्रावको के नाम इस साधारण निमन्त्रण को पाकर अन्यान्य लोग भी अधिकाधिक सख्या मे भरत की भोजनशाला में आकर भोजन करने लगे। भोजनशाला के व्यवस्थापको ने भोजन के लिए आने वालो की दिन प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से निरन्तर बढती हुई सख्या को देखकर सोचा कि यदि यही स्थिति रही तो बड़ी अव्यवस्था हो जाएगी। उन्होने सारी स्थिति भरत के सम्मुख रखी।

भरत ने कहा – तुम लोग प्रत्येक व्यक्ति से पूछताछ करने के पश्चात् जो श्रावक हो उसे भोजन खिलाओ।

भोजनशाला के व्यवस्थापकों ने आगन्तुकों से पूछताछ करना प्रारम्भ किया। जिन लोगों ने अपने व्रतों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से बताया उनको योग्य समझ कर वे भरत के पास ले गये। भरत ने काकणी रत्न से उन्हें चिह्नित किया और कहा – छः छः महीनों से ऐसा परीक्षण करते रहो।

इस प्रकार माहण उत्पन्न हुए। उनके जो पुत्र-पौत्र होते, उन्हें भी साधुओं के पास ले जाया जाता और व्रत स्वीकार करने पर काकिणी रत्न से चिह्नित किया जाता। वे लोग आरम्भ, परिग्रह की प्रवृत्तियों से अलग रहकर लोगो को 'मा हन, मा हन,' ऐसी शिक्षा देते, उन्हें 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा।[1]

भरत द्वारा, प्रत्येक श्रावक के – देव, गुरु, धर्म अथवा ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण, काकणी रत्न से तीन रेखाएं की जाती। समय पाकर वे ही तीन रेखाएं यज्ञोपवीत के रूप में परिणत हो गई।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई। जब भरत के पुत्र आदित्य यश सिंहासनारूढ हुए तो उन्होने सुवर्णमय यज्ञोपवीत धारण करवाई। यह स्वर्ण की यज्ञोपवीत धारण करने की परिपाटी आदित्य यश से आठवी पीढी तक चलती रही।[2]

इस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक चार वर्णों की स्थापना हुई।

भगवान् ऋषभदेव का धर्म परिवार

भगवान् ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार विशाल था, उसी प्रकार उनका धर्म-परिवार भी बहुत बड़ा था। यो देखा जाय तो प्रभु ऋषभदेव की वीतराग-वाणी को सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा, जो लाभान्वित एवं उनके प्रति श्रद्धाशील नहीं हुआ हो। अगणित नर-नारी, देव-देवी और पशु तक उनके उपासक बने, भक्त बने। परन्तु यहां विशेषकर व्रतियों की दृष्टि से ही उनके धर्म परिवार का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० २१३-१४

[2] एव ते उप्पन्ना माहणा, काम जदा आइच्चजसो जातो तदा सोवण्णियाणि जण्णोवइयाणि। एव तेसिं अट्ठ पुरिसजुगाणि ताव सोवण्णिताणि ॥ आव० चू० प्र० भा०, पृष्ठ-२१४

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की–भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मेरे लिए पहले से ही बने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय।

जब भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य बताया तो भरत बड़े खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे – क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है?

इसी बीच देवराज शक्र ने भरत की व्यथा एवं चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की – भगवन्! अवग्रह कितने प्रकार के होते हैं?

प्रभु ने पचविध अवग्रह में देवेन्द्र और राजा का भी अवग्रह बताया।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया – भगवन्! मैं अपने भारतवर्ष मे श्रमण-निर्ग्रन्थो को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

इसके बाद श्रमणों के लिये लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्बन्ध मे भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा – राजन्! जो तुम से विरति गुण मे अधिक हैं, उनका इस अशन-पानादि से सत्कार करो।

भरत ने मन ही मन सोचा – कुल, जाति और वैभव आदि में तो कोई मुझ से अधिक नही है। जहा तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमें मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज हैं, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नही करते। अब रहे गुणाधिक कुछ श्रावक – तो उन्हें ही यह सामग्री दे दी जाय।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावको को दे दिया और उन्हें बुला कर कहा – आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करें, मैं आप लोगो की जीविका की व्यवस्था करूंगा। आपका कार्य केवल शास्त्रो का श्रवण, पठन एव मनन व देव, गुरु की सेवा करते रहना है।

इस प्रकार अनेको श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला मे भोजन करते और बोलते – 'वर्द्धते भय, मा हण, मा हण' – भय बढ़ रहा है, हिंसा मत करो, हिंसा मत करो।

भरत की ओर से श्रावको के नाम इस साधारण निमन्त्रण को पाकर अन्यान्य लोग भी अधिकाधिक सख्या मे भरत की भोजनशाला में आकर भोजन करने लगे। भोजनशाला के व्यवस्थापको ने भोजन के लिए आने वालो की दिन प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से निरन्तर बढती हुई सख्या को देखकर सोचा कि यदि यही स्थिति रही तो बडी अव्यवस्था हो जाएगी। उन्होने सारी स्थिति भरत के सम्मुख रखी।

भ० ऋषभदेव के कल्याणक

कौशलिक ऋषभदेव भगवान् के पांच कल्याणक उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में और छठा कल्याणक अभिजित् नक्षत्र में हुआ। उन कल्याणकों का विवरण इस प्रकार है :-

भ० ऋषभदेव के जीव का उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन हुआ और च्यवन कर उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में ही गर्भ में आया (१), भ० ऋषभदेव का उत्तराषाढा नक्षत्र में जन्म हुआ (२), उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे प्रभु का राज्याभिषेक हुआ (३), उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे वे गृहस्थ धर्म का परित्याग कर अणगार धर्म में प्रव्रजित हुए (४), प्रभु ऋषभदेव ने उत्तराषाढा नक्षत्र मे केवलज्ञान प्राप्त किया (५) और अभिजित् नक्षत्र में वे आठों कर्मों को नष्ट कर शुद्ध-बुद्ध मुक्त हुए (६)।

प्रभु ऋषभदेव का अप्रतिहत विहार

एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व की भाव-तीर्थङ्कर पर्याय मे प्रभु ऋषभदेव ने उस समय के वृहत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे विहार किया। उन्होंने बहली, अडबइल्ला-अटक प्रदेश, यवन-यूनान, स्वर्णभूमि और पह्लव-पर्शिया जैसे दूर दूर के क्षेत्रो में भी विचरण कर भव्यों को धर्म का उपदेश दिया। उस समय देश के कोने-कोने एवं सुदूरस्थ प्रदेशो में जैनधर्म बहुमुखी प्रचार-प्रसार के कारण सार्वभौम धर्म के प्रतिष्ठित पद पर अधिष्ठित हुआ। वह भगवान् आदिनाथ ऋषभ के ही उपदेशों का प्रतिफल था।

वज्र ऋषभनाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान से सुगठित ५०० धनुष की ऊंचाई वाले सुघड़-सुन्दर शरीर के धनी कौशलिक ऋषभदेव अरिहन्त बीस लाख पूर्व की अवस्था तक कुमार अवस्था मे और ६३ लाख पूर्व तक महाराज पद पर रहे। इस प्रकार कुल मिला कर तियासी लाख पूर्व तक गृहवास मे। पश्चात् उन्होंने अणगार धर्म की प्रव्रज्या ग्रहण की। वे १००० वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय मे रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक वे केवली पर्याय (भाव तीर्थंकर पर्याय) मे रहे। सब मिला कर उन्होंने एक लाख पूर्व तक श्रमणधर्म का पालन किया।

अन्त समय में आयु-काल को निकट समझ कर १०,००० अन्तेवासी साधुओ के परिवार के साथ भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद पर्वत के शिखर पर पादपोपगमन संथारा किया। वहा, हेमन्त ऋतु के तृतीय मास और पाचवे पक्ष मे माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन पानी रहित चौदह भक्त अर्थात् ६ दिन के उपवासो की तपस्या से युक्त, दिन के पूर्व विभाग मे, अभिजित् नक्षत्र के योग मे

के अनुसार[1] कौशलिक ऋषभदेव के धर्मसघ मे गणधरों आदि की सख्या इस प्रकार थी –

गणधर ऋषभसेन आदि	चौरासी (८४)
केवली साधु	बीस हजार (२०,०००)
केवली साध्वियां	चालीस हजार (४०,०००)
मन पर्यवज्ञानी	बारह हजार छह सौ पचास (१२,६५०)
अवधिज्ञानी	नौ हजार (९,०००)
चतुर्दश पूर्वधारी	चार हजार सात सौ पचास (४,७५०)
वादी	बारह हजार छह सौ पचास (१२,६५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	बीस हजार छह सौ (२०,६००)
अनुत्तरोपपातिक[2]	बाईस हजार नौ सौ (२२,९००)
साधु	चौरासी हजार (८४,०००)
साध्वियां ब्राह्मी और सुन्दरी प्रमुख	तीन लाख (३,००,०००)
श्रावक श्रेयास प्रमुख	तीन लाख पचास हजार (३,५०,०००)
श्राविकाए सुभद्रा प्रमुख	पांच लाख चौवन हजार (५,५४,०००)

भगवान् ऋषभदेव के इस धर्म परिवार मे २० हजार साधुओ और चालीस हजार साध्वियो – इस प्रकार कुल मिलाकर ६० हजार अन्तेवासी साधु-साध्वियो ने आठो कर्मों को समूल नष्ट कर अन्त मे मोक्ष प्राप्त किया ।

भगवान् ऋषभदेव के विशाल अन्तेवासी परिवार मे बहुत से अणगार ऊर्ध्व जानु और अधोशिर किये ध्यानमग्न रहकर सयम एव तपश्चरण से अपनी आत्मा को भावित अर्थात् परिष्कृत करते हुए विचरण करते थे ।

भगवान् ऋषभदेव की दो अन्तकृत् भूमियां हुईं । एक तो युगान्तकृत् भूमि और दूसरी पर्यायान्तकृत् भूमि । युगान्तकृत् भूमि की अवधि असख्यात पुरुषयुगो तक चलती रही और पर्यायान्तकृत्-भूमि मे मुमुक्षु अन्तर्मुहूर्त की पर्याय से आठो कर्मो का अन्त करने के कामी हुए ।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र (अमोलक ऋषिजी म०), पृ०८७–८८

[2] यदि इन २२,९०० मुनियो की ७ लवसत्तम जितनी भी आयुष्य और होती तो ये सीधे मोक्ष मे जाते । ७ लवसत्तम जितना समय ही इनके मोक्ष जाने मे कम रहा था कि इनकी आयुष्य समाप्त हो गई और ये अनुत्तर विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुए ।

की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवों ने गणधरो तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमश. तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं मे रखा। "जय जय नन्दा, जय जय भद्दा" आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को और देवो ने गणधरो तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओ के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवों ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओं के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्नि कुमारों ने क्रमश: तीनो चिताओं में अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवो ने अग्नि को प्रज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और मन शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्षचन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं में देवों द्वारा कालागरु आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओं को ठंडा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की दाढो और दांतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रियो! शीघ्रता से सर्वरत्नमय विशाल आलयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव की चिता पर, दूसरा गणधरों की चिता पर और तीसरा उन विमुक्त अणगारों की चिता के स्थान पर हो।" उन चार प्रकार के देवों ने क्रमश. प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणगारों की चिता पर तीन चैत्यस्तूप का निर्माण किया।

आवश्यक निर्युक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय मे भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है:

मडयं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढम सिद्धो त्ति।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो य ॥६०॥
सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य।
सद्दो य रुण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहाय कतो ॥६१॥
तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपा कृता, ततो लोकेऽपि तत आरम्य मृतक दाह स्थानेषु स्तूपा प्रवर्तन्ते ॥ आवश्यक मलय ॥

जब कि सुषम-दुःषम नामक तीसरे आरक के समाप्त होने में ८९ पक्ष (तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन) शेष रहे थे, उस समय प्रभु ऋषभदेव निर्वाण प्राप्त हुए। प्रभु के साथ जिन १०,००० साधुओं ने पादपोपगमन संथारा किया था वे भी प्रभु के साथ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

आश्चर्य

काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म-अविभाज्य काल, जो समय कहलाता है, उस एक ही समय में भगवान् ऋषभदेव के साथ उन १० हजार अन्तेवासियों में से १०७ अन्तेवासी भी मुक्त हुए। अनादिकाल से यह नियम है कि एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो ही जीव एक साथ सिद्ध हो सकते हैं[1], दो से अधिक नहीं। किन्तु ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना वाले भगवान् ऋषभदेव और उनके १०७ अन्तेवासी कुल मिलाकर १०८ एक समय में ही सिद्ध हो गये, यह प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल का आश्चर्य माना गया है। इस अवसर्पिणी काल में जो १० आश्चर्य घटित हुए हैं, उनमें इस घटना की भी आश्चर्य के रूप में गणना की गई है। वे दस आश्चर्य इस प्रकार हैं :—

१. उवसग्ग, २. गब्भहरणं, ३. इत्थीतित्थं, ४. अभाविया-परिसा।
५ कण्हस्स अवरकंका, ६. उत्तरणं चंद-सूराणं ॥
७ हरिवंसकुलुप्पत्ती, ८. चमरुप्पातो य ९. अट्ठसयसिद्धा।
१० अस्संजतेसु पूआ, दस वि अणंतेण कालेण ॥[2] स्था. सूत्र, १० स्थान।

प्रभु के निर्वाण के समय प्रभु सहित उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८, महान् आत्माओं ने एक ही समय में निर्वाण प्राप्त किया। प्रभु के साथ संथारा किये हुए प्रभु के शेष ९८९३ अन्तेवासियों ने भी उसी दिन थोड़े थोड़े क्षणों के अन्तर से शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सिद्ध गति प्राप्त की। प्रभु के साथ मुक्त हुए उन १० हजार श्रमणों में प्रभु के गणधर, पुत्र, पौत्र और अन्य भी सम्मिलित थे।

निर्वाण महोत्सव

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण होते ही सौधर्मेन्द्र शक्र आदि ६४ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब इन्द्र अपने-अपने विशाल देव परिवार और अद्भुत दिव्य ऋद्धि के साथ अष्टापद पर्वत के शिखर पर आये। देवराज शक्र

---

१ उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे ॥५४॥ उत्तराध्ययन, अ. ३६

२ दस आश्चर्यों के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रभु महावीर का "गर्भापहार प्रकरण" देखें

की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवो ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमशः तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं मे रखा। "जय जय नन्दा, जय जय भद्दा" आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को और देवों ने गणधरो तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओं के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवो ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओ के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्नि कुमारों ने क्रमशः तीनों चिताओं में अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और मन शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्षचन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं मे देवों द्वारा कालागरु आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओ को ठंडा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की दाढों और दांतों को तथा शेष देवो ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रियो! शीघ्रता से सर्व-रत्नमय विशाल आलयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव की चिता पर, दूसरा गणधरो की चिता पर और तीसरा उन विमुक्त अणगारों की चिता के स्थान पर हो।" उन चार प्रकार के देवों ने क्रमशः प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणगारों की चिता पर तीन चैत्यस्तूप का निर्माण किया।

आवश्यक निर्युक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय में भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

मडयं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढम सिद्धो त्ति।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो य ॥६०॥
सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य।
सद्दो य रुण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहाय कतो ॥६१॥
तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपा कृता, ततो लोकेऽपि तत आरभ्य मृतक दाह स्थानेषु स्तूपा प्रवर्तन्ते ॥ आवश्यक मलय ॥

भ० ऋषभदेव, उनके गणधरों और अन्तेवासी साधुओं की तीन चिताओं पर पृथक्-पृथक् तीन चैत्यस्तूपों का निर्माण करने के पश्चात् सभी देवेन्द्र अपने देव-देवी परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गये। वहां उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का अष्टाह्निक निर्वाण महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को लौट गये।[1]

वैदिक परम्परा के साहित्य में माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन आदिदेव का शिवलिंग के रूप में उद्भव होना माना गया है।[2] भगवान् आदिनाथ के शिव-पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेव की निषद्या (चिता स्थल) पर जो स्तूप का निर्माण किया गया वही आगे चल कर स्तूपाकार चिह्न शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया हो।

जैनेतर साहित्य में ऋषभदेव

जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के साहित्य में भी ऋषभदेव का विस्तृत परिचय उपलब्ध होता है। बौद्ध साहित्य में भी ऋषभ का उल्लेख मिलता है। पुराणों में ऋषभ की वंश-परम्परा का परिचय इस प्रकार मिलता है :—

> "ब्रह्माजी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायंभुव को प्रथम मनु बनाया। स्वायंभुव मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।[3]
>
> ऋषभदेव का परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि महात्मा नाभि की प्रिया मरुदेवी की कुक्षि से अतिशय कान्तिमान् ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ। महाभाग पृथिवीपति ऋषभदेव ने धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया और अपने वीर पुत्र भरत को

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्प सूत्र, १९९ सू०

२ ईशान संहिता।

(क) माघे कृष्णे चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूत, कोटिसूर्य-समप्रभ ॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या, शिवरात्रिव्रते तिथि। [ईशान संहिता]

(ख) माघमासस्य शेषे या, प्रथमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु, शिवरात्रि प्रकीर्तिता ॥ [कालमाधवीय नागरखण्ड]

३ विष्णु पुराण, अंश २ अ० १। श्लो. ७। १६, २७

राज्याधिकार सौंपकर तपस्या के लिये पुलहाश्रम की ओर प्रस्थान किया ।[1]

जबसे ऋषभदेव ने अपना राज्य भरत को दिया तबसे यह हिमवर्ष लोक में भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[2]"

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव को यज्ञपुरुष विष्णु का अंशावतार माना गया है। उसके अनुसार भगवान् नाभि का प्रेम–सम्पादन करने के लिये महारानी मरुदेवी के गर्भ से संन्यासी वातरशना–श्रमणों के धर्म को प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए । यथा :—

"भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्या, धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावततार ।[3]"

"ऋषभदेव के शरीर में जन्म से ही वज्र, अंकुश आदि विष्णु के चिह्न थे। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा ।[4]"

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को साक्षात् ईश्वर भी कहा है । यथा :—
"भगवान् ऋषभदेव परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब तरह की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे। अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उन्होंने सत्य धर्म की शिक्षा दी ।[5]"

भागवत में इन्द्र द्वारा दी गई जयन्ती कन्या से ऋषभ का पाणिग्रहण और उसके गर्भ से अपने समान सौ पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख है ।[6]

ब्रह्मावर्त पुराण में लिखा है कि ऋषभ ने अपने पुत्रों को अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दी और फिर स्वयं ने अवधूतवृत्ति स्वीकार कर ली। उनके उपदेश का सार इस प्रकार है :

---

१ विष्णु पुराण, २।१।२८ और २९
२ विष्णु पुराण, २।१।३२
३ श्रीमद्भागवत, ५।३।२०
४ श्रीमद्भागवत, ५।४।२
५ श्रीमद्भागवत, ५।४।१४
६ श्रीमद्भागवत, ५।४।८

"मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनो के लिये बुद्धिगम्य नही है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसलिये सत्पुरुष मुझे ऋषभ कहते हैं।[१] पुत्रो! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।[२]"

"ऋषभदेव की अपरिग्रहवृत्ति का भागवत मे निम्न रूप से उल्लेख मिलता है :

"ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राज्यगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्ति-परायण महामुनियों के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया।[३]"

ऋषभदेव के तप की पराकाष्ठा और उनकी नग्नचर्या का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

"वे तपस्या के कारण सूख कर कांटा हो गये थे और उनके शरीर की शिराएं-धमनियां दिखाई देने लगी। अन्त में अपने मुख मे एक पत्थर की बटिया रख कर उन्होने नग्नावस्था मे महाप्रस्थान किया।[४]"
भागवतकार के शब्दों मे ऋषभ-चरित्र की महिमा इस प्रकार है :—
"राजन्! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओं के परमगुरु भगवान् ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हे सुनाया है।"
"यह मनुष्य के समस्त पापो को हरने वाला है। जो मनुष्य इस परम मंगलमय पवित्र चरित्र को एकाग्रचित्त से श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते हैं, उन दोनो की ही भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति हो जाती है।[५]"

"निरन्तर विषय-भोगो की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध बने हुए लोगों को जिन्होने करुणावश निर्भय

---

१ श्रीमद्भागवत, ५।५।१९
२ श्रीमद्भागवत, ५।५।२६
३ श्रीमद्भागवत, ५।५।२८
४ श्रीमद्भागवत, ५।६।७
५ श्रीमद् भा० ५।६।१६

आत्मालोक का उपदेश दिया और जो स्वय निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओ से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है ।[1]"

शिवपुराण मे शिव का आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप मे अवतार लेने का उल्लेख है ।[2]

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दु खो का नाश करने वाला बतलाते हुए कहा है .—

"जैसे जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वज्ञान के प्रतिपादक वृषभ (ऋषभ) महान् है ।"

बौद्ध साहित्य मे लिखा है –

"भारत के आदि सम्राटो मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है । उन्होने हेमवंत गिरि हिमालय पर सिद्धि प्राप्त की । वे व्रतपालन मे दृढ थे । वे ही निर्ग्रन्थ, तीर्थंकर ऋषभ जैनो के आप्त-देव थे ।[3]"

धम्मपद मे ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है ।[4]

ऋषभदेव के समय का उल्लेख करते हुए कुछ इतिहासज्ञो ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है –

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन है .—

"मोहनजोदडो की खुदाई मे योग के प्रमाण मिले है और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे शक्ति कालान्तर मे शिव के साथ समन्वित हो गई । इस दृष्टि से कई जैन विद्वानो का यह मानना अयुक्ति-युक्त नही है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व है ।[5]"

---

१ श्रीमद् भा० ५।६।१६

२ शिव पु० ४।४७।४७

३ प्रजापतं सुतोनाभि, तस्यापि सुतमुच्यते । नाभिनो ऋषभपुत्रो वै, सिद्धकर्म-दृढव्रत ।।
तस्यापि मणिचरो यक्ष, सिद्धो हेमवते गिरौ । ऋषभस्य भरत. पुत्र. ।
आर्य मञ्जु श्री मूल श्लो० ३६०–६१–६२

४ उसभ पवर वीर । धम्मपद ४२२

५ आजकल, मार्च १९६२, पृ० ८

डॉ० जिम्मर लिखते हैं —

"आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषों के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे महापुरुष हुए ही नहीं।"

"इस अवसर्पिणी काल में भोगभूमि के अन्त में अर्थात् पाषाणकाल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ में पहले तीर्थंकर ऋषभ हुए, जिन्होंने मानव को सभ्यता का पाठ पढ़ाया।"

"उनके पश्चात् और भी तीर्थंकर हुए जिनमें से अनेक का उल्लेख वेद-ग्रन्थों में भी मिलता है। अतः जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।[1]"

भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए हैं कि उनका जैन ग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है, इसके अतिरिक्त वेद के मन्त्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उनका उल्लेख मिलता है।

भागवत में मरुदेवी, नाभिराज, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण मिलता है।

यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में भिन्न प्रकार से दिया गया है। फिर भी मूल में समानता है।

इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। निम्नांकित उद्धरणों से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है :—

> आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु, ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
> ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद् वरः ॥३९॥
> सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः।
> तपस्तेपे महाभागः, पुलहाश्रमसंश्रयः ॥४०॥
> हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, भरताय पिता ददौ।
> तस्मात्तु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४०]

---

[1] (क) दी फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० २१७
(ख) अहिंसा वाणी, वर्ष १२, अंक ८ पृ० ३७९
डॉ० कामताप्रसाद के लेख से उद्धृत।

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मरुदेव्या महाद्युति. ।।३७।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर. पुत्रशताग्रज· ।
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्रं, भरत पृथिवीपति· ।।३८।।
[कूर्म पुराण, अध्याय ४०]

जरा मृत्यु भय नास्ति, धर्माधर्मौयुगादिकम् ।
नाधर्म मध्यम तुल्या, हिम देशात्तु नाभितः ।।१०।।
ऋषभो मरुदेव्या च, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गतः ।।११।।
भरताद् भारत वर्ष, भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।
[अग्नि पुराण, अध्याय १०]

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठं, मर्वं क्षत्रस्य पूर्वजम् ।।५०।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर· पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरत, पुत्र प्राव्राज्यमास्थितः ।।५१।।
हिमाह्वयं दक्षिण वर्ष, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ।।५२।।
[वायु महापुराण, पूर्वार्धं, अध्याय ३३]

नाभिस्त्वजनयत् पुत्र, मरुदेव्या महाद्युतिम् ।।५९।।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज. ।।६०।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र, महाप्राव्राज्यमास्थित. ।
हिमाह्वय दक्षिण वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ·।।६१।।
[ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्धे, अनुषगपाद अध्याय १४]

"नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत पुत्रश्च तावदग्रज. तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिण वर्ष महद् भारत नाम शशास ।
[वाराह पुराण, अध्याय ७४]

नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि, हिमाकेऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र, मरुदेव्या महामतिः ।।१९।।
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रज ।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो, भरत पुत्रवत्सल. ।
ज्ञान वैराग्यमाश्रित्य, जित्वेन्द्रियमहोरगान् ।।२१।।

डॉ० जिम्मर लिखते है –

"आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषो के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नही। इसका अर्थ यह नही है कि वे महापुरुष हुए ही नही।"

"इस अवसर्पिणी काल मे भोगभूमि के अन्त मे अर्थात् पाषाणकाल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ मे पहले तीर्थंकर ऋषभ हुए, जिन्होने मानव को सभ्यता का पाठ पढाया।"

"उनके पश्चात् और भी तीर्थंकर हुए जिनमे से अनेक का उल्लेख वेद-ग्रन्थो मे भी मिलता है। अत जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।[1]"

भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए है कि उनका जैन ग्रन्थो मे तो उल्लेख आता ही है, इसके अतिरिक्त वेद के मन्त्रो, जैनेतर पुराणो, उपनिषदो आदि मे भी उनका उल्लेख मिलता है।

भागवत मे मरुदेवी, नाभिराज, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण मिलता है।

यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों मे भिन्न प्रकार से दिया गया है। फिर भी मूल मे समानता है।

इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। निम्नांकित उद्धरणो से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है –

आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु, ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रशताद् वर. ॥३९॥
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्र, महाप्राव्राज्यमास्थित।
तपस्तेपे महाभाग, पुलहाश्रमसश्रय ॥४०॥
हिमाह्वय दक्षिणं वर्षं, भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारत वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मन. ॥४१॥

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४०]

---

[1] (क) दी फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० २१७
(ख) अहिंसा वाणी, वर्ष १२, अक ६ पृ० ३७६
डॉ० कामताप्रसाद के लेख से उद्धृत।

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं, नाभेरासीन्महात्मन· ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मरुदेव्यां महाद्युति ॥३७॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रशताग्रज· ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, भरत पृथिवीपतिः ॥३८॥

[कूर्म पुराण, अध्याय ४०]

जरा मृत्यु भय नास्ति, धर्माधर्मौयुगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यम तुल्या, हिम देशात्तु नाभित ॥१०॥
ऋषभो मरुदेव्या च, ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गत ॥११॥
भरताद् भारत वर्ष, भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।

[अग्नि पुराण, अध्याय १०]

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभ पार्थिव-श्रेष्ठं, मर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरत, पुत्र प्राव्राज्यमास्थित. ॥५१॥
हिमाह्वयं दक्षिण वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥५२॥

[वायु महापुराण, पूर्वार्धं, अध्याय ३३]

नाभिस्त्वजनयत् पुत्र, मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥५९॥
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज. ॥६०॥
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्र, महाप्राव्राज्यमास्थित. ।
हिमाह्वय दक्षिण वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥६१॥

[ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्धं, अनुषगपाद अध्याय १४]

"नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरत. पुत्रश्च तावदग्रज तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिण वर्ष महद् भारत नाम शशास ।

[वाराह पुराण, अध्याय ७४]

नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि, हिमाकेऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्र, मरुदेव्या महामति· ॥१९॥
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर· पुत्रशताग्रजः ॥२०॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो, भरत पुत्रवत्सल. ।
ज्ञान वैराग्यमाश्रित्य, जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥

सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य. परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वातगतो हि स ।।२२।।
निराशस्त्यक्तसंदेह, शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।।२३।।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।

[लिंग पुराण, अध्याय ४७]

.... ।
न ते स्वस्ति युगावस्था, क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।।२६।।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ।।२७।।
.... ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।।२८।।

[विष्णु पुराण, द्वितीयांश अध्याय १]

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्यनाम्नात्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यते ।।५७।।

[स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अध्याय ३७]

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।
चक्षुष्मान् यशस्वी चाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।
मरुदेवश्च नाभिश्च, भरते कुल सप्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीति त्रितयकर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः ।

[मनुस्मृतिः]

भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक में ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है, वह भगवान् वृषभदेव को छोड़कर दूसरा नहीं है। ब्रह्मा के अन्य अनेक नामों से निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयंभू ।

इनकी यथार्थ संगति भगवान् वृषभदेव के साथ बैठती है। जैसे :—

हिरण्य गर्भ—जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ में आए, उसके छः मास पहले अयोध्यानगरी में हिरण्य, सुवर्ण तथा रत्नों की वर्षा होने लगी

थी। इसलिए आपका हिरण्यगर्भ[1] नाम सार्थक है।

प्रजापति – कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छः कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, अतः आप प्रजापति कहलाये।

लोकेश – समस्त लोक के स्वामी होने के कारण आप लोकेश कहलाये।

नाभिज – नाभिराज नामक चौदहवें (सातवें) मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाए।

चतुरानन – समवसरण में चारों ओर से आपके दर्शन होते थे, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे।

स्रष्टा – भोगभूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार और विवाह प्रथा आदि के आप आद्य-प्रवर्त्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे गए।

स्वयम्भू – दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से अपनी आत्मा के गुणों का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थंकर हुए, इसलिए स्वयंभू कहलाए।
[आदि पुराणम्, प्रथमो विभाग प्रस्तावना पृ० १५, जिनसेनाचार्य]

सार्वभौम आदि नायक के रूप में लोकव्यापी कीर्ति

भ० ऋषभदेव के आद्योपान्त समग्र जीवन चरित्र और उनके सम्बन्ध में भारत के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों—वेदों, वैष्णव, भागवत, शैव प्रभृति विभिन्न आम्नायों के उपरिवर्णित १० पुराणों, मनुस्मृति एवं बौद्ध ग्रन्थ आर्य मंजुश्री आदि के श्रद्धा-श्लाघा से ओतप्रोत गौरव गरिमापूर्ण उल्लेखों पर चिन्तन-मनन करने से सहज ही प्रत्येक व्यक्ति को यह विदित हो जाता है कि युगादि की सम्पूर्ण मानवता ने भ० ऋषभदेव को, अपने अन्तस्तल से उद्भूत सर्वसम्मत समवेत स्वर से अपने सार्वभौम लोकनायक-सार्वभौम धर्मनायक और सर्वोच्च सार्वभौम हृदयसम्राट् के रूप में स्वीकार किया था।

मानव संस्कृति की उच्च एवं आदर्श मानवीय मर्यादाओं के महानिधान तुल्य 'मनुस्मृति' नामक प्राचीन ग्रन्थ में तो नाभि के सुपुत्र मरुदेवीनन्दन

[1] सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥ महापुराण पर्व १२-श्लोक ९५
हिरण्यगर्भमन्त्य धाता जगतां त्वं स्वभूरसि।
निभमात्र त्वदुत्पत्तौ पितृमन्या यतो वयम्॥ महापुराण पर्व १५ श्लो० ५७

भगवान् श्री अजितनाथ

तीर्थंकर ऋषभदेव के बहुत समय बाद द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ हुए।

प्रकृति का अटल नियम है कि जिसका जीवन जितना उच्च होगा, उसकी पूर्वजन्म की साधना भी उतनी ही ऊंची होगी। अजितनाथ की पूर्व जन्म की साधना भी ऐसी ही अनुकरणीय और उत्तम थी। उनके पूर्वजन्म की साधना का जो विवरण उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है :—

पूर्वभव

जम्बूद्वीपस्थ महाविदेह क्षेत्र मे सीता नाम की महानदी के दक्षिणी तट पर अति समृद्ध एवं परम रमणीय वत्स नामक विजय है। वहां अलका तुल्य अति सुन्दर सुसीमा नाम की नगरी थी। विमलवाहन नामक एक महाप्रतापी राजा वहा राज्य करता था। वह बडा ही पराक्रमी, न्यायप्रिय धर्मपरायण, नीतिनिपुण और शासक के योग्य सभी श्रेष्ठ गुणो से युक्त था। संसार में रहते हुए भी उनका जीवन भोगों से अलिप्त था। विशाल राज्य और भव्य भोगों को पाकर भी वे आसक्त नही हुए। लोग उनको वीरवर, दानवीर और दया-वीर कहा करते थे।

सुखपूर्वक राज्य करते हुए प्रजावत्सल राजा विमलवाहन एक दिन आत्मनिरीक्षण करने लगे कि मानव भव पाकर प्राणी को क्या करना चाहिये। उनकी चिन्तनधारा और आगे की ओर प्रवाहित हुई। वे सोचने लगे कि संसार के अनन्तानन्त प्राणी कराल काल की विकराल चक्की मे अनादि काल से पिसते चले आ रहे है। चौरासी लाख जीव योनियों मे जन्म-मरण के असह्य व दारुण दु:खो को भोगते हुए, तड़प रहे है, सिसक रहे हैं और करुण क्रन्दन कर रहे हैं। इस जन्म, जरा, मरण रूपी कालचक्र का कोई ओर है न कोई छोर ही। भवाटवी मे अनादि काल से भटकते हुए उन अनन्तानन्त प्राणियों मे मैं भी सम्मिलित हू। मैं इस भयावहा भवाटवी के चक्रव्यूह से, इस त्रिविध ताप से जाज्वल्यमान भट्टी से और जन्म-मरणके भयावह भव-पाप से कब छुटकारा पाऊंगा? चौरासी लाख जीव योनियो मे केवल एक मानव योनि ही ऐसी है जिसमें प्राणी साधना-पथ पर अग्रसर हो सभी सांसारिक दु:खो का अन्त कर भवपाश से मुक्त हो 'सत्य शिव सुन्दरम्' के सही स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवपद को प्राप्त कर सकता है। मुझे भवपाश से विमुक्त होने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। अनाद्यनन्त काल तक दुस्सह्य दु:खपूर्ण विविध

योनियों में भटकने के पश्चात् पूर्वोपार्जित अनन्त-अनन्त पुण्य के प्रताप से मुझे यह दुर्लभ मानव जन्म मिला है। पुण्य भू कर्मभूमि के आर्यक्षेत्र में किसी हीन कुल में नहीं अपितु उत्तम आर्य कुल में मेरा जन्म हुआ है। मुझे स्वस्थ, सशक्त, सुन्दर शरीर, उत्तम सहनन और उत्तम संस्थान मिला है। ऐसा सुन्दर, सुनहरा सुयोग अनन्तकाल तक भव भ्रमण करने के अनन्तर अनन्त पुण्योदय के प्रभाव से ही सभी प्रकार के बाह्य साधन प्राप्त है। इस अमूल्य मनुष्य जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है। फिर मैं कैसा अभागा मूढ़ हूं, जो मैंने इस चिन्तामणि तुल्य तत्काल अभीप्सित अमृतफल प्रदायी महार्घ्य मानव जन्म की महत्त्वपूर्ण घड़ियों को क्षणभंगुर एवं मृगमरीचिका के समान वास्तविकता-विहीन सांसारिक सुखोपभोग में नष्ट कर दिया है।

स्वप्न का दृश्य तभी तक दिखता है, जब तक कि आँखें बन्द है, आँखें खुलते ही वह दृश्य तिरोहित हो जाता है और स्वप्नद्रष्टा समझ जाता है कि वह दृश्य जंजाल था, धोखा था, अवास्तविक था, किन्तु जागृत अवस्था में दिखने वाला यह संसार का दृश्य तो स्वप्न के दृश्य से भी बहुत बड़ा धोखा है। यह दृश्य जंजाल होते हुए भी जब तक आँखें खुली रहती हैं, तब तक प्राणी को सच्चा प्रतीत होता है और आँखें बन्द हो जाने पर झूठा जंजाल, अवास्तविक, अस्तित्वविहीन अथवा असत्। जीवन भर प्राणी असत् को सत् समझता हुआ भ्रम में रहे, भुलावे में रहे और सब कुछ समाप्त होने पर मानव जन्म रूपी चिन्तामणि रत्न लुट जाने के पश्चात् मरणोपरान्त वास्तविकता का उसे बोध हो, ऐसा भ्रामक व धोखाधड़ी से ओतप्रोत है यह सांसारिक दृश्य। सन्त-कबीर ने ठीक ही कहा है—'माया महा ठगिनी मैं जानी।' इससे बढ़कर धोखा और क्या हो सकता है? कितने भुलावे में रहा हूं मैं? कितना बड़ा धोखा खाया है मैंने कि जो भवसागर से पार उतारने वाले महापोत तुल्य महत्त्वपूर्ण महान् निर्णायक मनुष्य जीवन को विषय-वासनाओं के एकान्ततः असत् इन्द्रजाल में व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया। अब उन बीती अमूल्य घड़ियों का एक भी बहुमूल्य क्षण लौट कर नहीं आ सकता। अनादि काल से अनन्तानन्त तीर्थंकर विश्व को शाश्वत सनातन सत्पथ बताते हुए कहते आ रहे हैं :—

> जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
> अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥
> जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
> धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥

जो अनन्त मूल्यवान् समय हाथ से निकल गया, उसके लिये हाथ मल-मल कर पछताने पर भी कुछ हाथ आने वाला नहीं है। जो बीता सो तो बीत गया, अब आगे की सुध लेना ही बुद्धिमत्ता है। अब जो जीवन शेष रहा है,

भगवान् श्री अजितनाथ

तीर्थंकर ऋषभदेव के बहुत समय बाद द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ हुए।

प्रकृति का अटल नियम है कि जिसका जीवन जितना उच्च होगा, उसकी पूर्वजन्म की साधना भी उतनी ही ऊंची होगी। अजितनाथ की पूर्व जन्म की साधना भी ऐसी ही अनुकरणीय और उत्तम थी। उनके पूर्वजन्म की साधना का जो विवरण उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है :—

पूर्वभव

जम्बूद्वीपस्थ महाविदेह क्षेत्र मे सीता नाम की महानदी के दक्षिणी तट पर अति समृद्ध एवं परम रमणीय वत्स नामक विजय है। वहां अलका तुल्य अति सुन्दर सुसीमा नाम की नगरी थी। विमलवाहन नामक एक महाप्रतापी राजा वहां राज्य करता था। वह बड़ा ही पराक्रमी, न्यायप्रिय धर्मपरायण, नीतिनिपुण और शासक के योग्य सभी श्रेष्ठ गुणो से युक्त था। संसार मे रहते हुए भी उनका जीवन भोगो से अलिप्त था। विशाल राज्य और भव्य भोगों को पाकर भी वे आसक्त नही हुए। लोग उनको वीरवर, दानवीर और दया-वीर कहा करते थे।

सुखपूर्वक राज्य करते हुए प्रजावत्सल राजा विमलवाहन एक दिन आत्मनिरीक्षण करने लगे कि मानव भव पाकर प्राणी को क्या करना चाहिये। उनकी चिन्तनधारा और आगे की ओर प्रवाहित हुई। वे सोचने लगे कि संसार के अनन्तानन्त प्राणी कराल काल की विकराल चक्की मे अनादि काल से पिसते चले आ रहे है। चौरासी लाख जीव योनियों में जन्म-मरण के असह्य व दारुण दु.खो को भोगते हुए तड़प रहे हैं, सिसक रहे हैं और करुण क्रन्दन कर रहे हैं। इस जन्म, जरा, मरण रूपी कालचक्र का कोई ओर है न कोई छोर ही। भवाटवी मे अनादि काल से भटकते हुए उन अनन्तानन्त प्राणियों में मैं भी सम्मिलित हूं। मैं इस भयावहा भवाटवी के चक्रव्यूह से, इस त्रिविध ताप से जाज्वल्यमान भट्टी से और जन्म-मरणके भयावह भव-पाप से कब छुटकारा पाऊंगा? चौरासी लाख जीव योनियो मे केवल एक मानव योनि ही ऐसी है जिसमें प्राणी साधना-पथ पर अग्रसर हो सभी सासारिक दु:खो का अन्त कर भवपाश से मुक्त हो 'सत्यं शिव सुन्दरम्' के सही स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त-अव्याबाध-शाश्वत सुखधाम शिवपद को प्राप्त कर सकता है। मुझे भवपाश से विमुक्त होने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। अनाद्यनन्त काल तक दुस्सह्य दु:खपूर्ण विविध

योनियो मे भटकने के पश्चात् पूर्वोपार्जित अनन्त-अनन्त पुण्य के प्रताप से मुझे यह दुर्लभ मानव जन्म मिला है। पुण्य भू कर्मभूमि के आर्यक्षेत्र में किसी हीन कुल में नहीं अपितु उत्तम आर्य कुल में मेरा जन्म हुआ है। मुझे स्वस्थ, सशक्त, सुन्दर शरीर, उत्तम सहनन और उत्तम संस्थान मिला है। ऐसा सुन्दर, सुनहरा सुयोग अनन्तकाल तक भव भ्रमण करने के अनन्तर अनन्त पुण्योदय के प्रभाव से ही सभी प्रकार के बाह्य साधन प्राप्त है। इस अमूल्य मनुष्य जीवन का एक-एक क्षरण अनमोल है। फिर मैं कैसा अभागा मूढ हूं, जो मैंने इस चिन्तामरिण तुल्य तत्काल अभीप्सित अमृतफल प्रदायी महार्घ्य मानव जन्म की महत्त्वपूर्ण घड़ियों को क्षरणभंगुर एव मृगमरीचिका के समान वास्तविकता-विहीन सासारिक सुखोपभोग मे नष्ट कर दिया है।

स्वप्न का दृश्य तभी तक दिखता है, जब तक कि आंखे बन्द हैं, आंखे खुलते ही वह दृश्य तिरोहित हो जाता है और स्वप्नद्रष्टा समझ जाता है कि वह दृश्य जंजाल था, धोखा था, अवास्तविक था, किन्तु जागृत अवस्था मे दिखने वाला यह संसार का दृश्य तो स्वप्न के दृश्य से भी बहुत बड़ा धोखा है। यह दृश्य जजाल होते हुए भी जब तक आंखे खुली रहती है, तब तक प्राणी को सच्चा प्रतीत होता है और आंखे बन्द हो जाने पर झूठा जंजाल, अवास्तविक, अस्तित्वविहीन अथवा असत्। जीवन भर प्राणी असत् को सत् समझता हुआ भ्रम में रहे, भुलावे से रहे और सब कुछ समाप्त होने पर मानव जन्म रूपी चिन्तामरिण रत्न लुट जाने के पश्चात् मरणोपरान्त वास्तविकता का उसे बोध हो, ऐसा भ्रामक व धोखाधड़ी से ओतप्रोत है यह सासारिक दृश्य। सन्त-कबीर ने ठीक ही कहा है—'माया महा ठगिनी मैं जानी।' इससे बढ़कर धोखा और क्या हो सकता है? कितने भुलावे में रहा हूं मैं? कितना बड़ा धोखा खाया है मैंने कि जो भवसागर में पार उतारने वाले महापोत तुल्य महत्त्वपूर्ण महान् निर्णायक मनुष्य जीवन को विषय-वासनाओं के एकान्तत असत् इन्द्रजाल मे व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया। अब उन बीती अमूल्य घड़ियों का एक भी बहुमूल्य क्षरण लौट कर नहीं आ सकता। अनादि काल से अनन्तानन्त तीर्थंस्वर विश्व को शाश्वत सनातन सत्पथ बताते हुए कहते आ रहे है :—

जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ॥
जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥

जो अनन्त मूल्यवान् समय हाथ से निकल गया, उसके लिये हाथ मल-मल कर पछताने पर भी कुछ हाथ आने वाला नहीं है। जो बीता सो तो बीत गया, अब आगे की सुध लेना ही बुद्धिमत्ता है। अब जो जीवन शेष रहा है,

उससे अधिकाधिक आध्यात्मिक लाभ उठाना ही मेरे लिये परम हितकर होगा। महापुरुषों का कथन है कि अध्यात्म मार्ग पर प्रवृत्त अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला प्रबुद्ध आत्मदर्शी आत्मा उत्कट भाव द्वारा एक क्षण में भी जो अक्षय आत्म-निधि अर्जित करता है, उस एक क्षण में उपार्जित आत्मनिधि के समक्ष ससार की समस्त सम्पदाएं, समग्र निधिया तृण तुल्य तुच्छ हैं। अतः अब मुझे इन सब निस्सार ऐहिक भोगोपभोग, ऐश्वर्य और वैभवादि को विषवत् त्याग कर स्व-पर कल्याणकारी साधना-पथ पर इसी क्षण अग्रसर हो जाना चाहिये।

इस प्रकार संसार से विरक्त हो सुसीमाधिपति महाराज विमलवाहन ने आत्महित साधना का सुदृढ सकल्प किया ही था कि उद्यानपाल ने उनके सम्मुख उपस्थित हो प्रणाम कर निवेदन किया – "प्रजावत्सल पृथ्वीपाल! सुसीमावासियों के महान् पुण्योदय से स्वर्गोपमा सुसीमा नगरी के बहिस्थ उद्यान में महान् तपस्वी आचार्य अरिदमन का शुभागमन हुआ है।

इस समयोचित सुखद सवाद को सुनकर महाराज विमलवाहन ने ऐसा अनिर्वचनीय आनन्दानुभव किया – मानो जन्म-जन्मान्तरों के प्यासे को क्षीर सागर का शीतल जल मिल गया हो। उन्होने उद्यानपाल को उसकी सात पीढ़ी तक के लिये पर्याप्त प्रीतिदान दिया। राजा विमलवाहन ने सोचा – "कैसा अचिन्त्य अद्भुत चमत्कार है शुभ भावनाओ का? अन्तर्मानस मे शुभ भावना की तरंग के उद्भूत होते ही तत्काल सन्तसमागम का अमर अमृतफल स्वतः हस्तगत हो गया।

महाराज विमलवाहन परिजनों एवं पुरजनों के साथ उद्यान में पहुचे। प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति से आचार्य अरिदमन को वन्दन-नमन करने के पश्चात् आचार्य श्री के सम्मुख अवग्रहभूमि छोड़कर राजा विमलवाहन अपने परिजनों एव पौरजनों के साथ देशना श्रवणार्थ विनयपूर्वक भूमि पर बैठ गया। आचार्य अरिदमन का अमरता प्रदान करने वाला उपदेश सुनकर राजा विमलवाहन का प्रबल वैराग्य अत्युत्कट हो गया। उसने आचार्यदेव से विनयपूर्वक प्रश्न किया – "भगवन्! अनन्त दारुण दु.खों से ओतप्रोत इस संसार में घोरातिघोर दु खो की निरवच्छिन्न परम्परा से निरन्तर निष्पीडित और प्रताड़ित होते रहने पर भी साधारणतः प्राणियो को ससार से विरक्ति नही होती। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। ऐसी स्थिति मे आपको संसार से विरक्ति किस कारण एवं किस निमित्त से हुई?"

आचार्यश्री ने कहा – "राजन्! विज्ञ विचारक के लिये संसार का प्रत्येक कार्यकलाप वैराग्योत्पादक है। विचारपूर्वक देखा जाय तो सम्पूर्ण संसार वैराग्य के कारणो और निमित्तो से भरा पड़ा है। प्रत्येक प्राणी के समक्ष

उसके प्रत्येक दिन की दिनचर्या मे पग-पग पर, प्रतिपल-प्रतिक्षण वैराग्योत्पादक प्रबल से प्रबलतर निमित्त प्रस्तुत होते रहते है। परन्तु मोह-ममत्व के मद से मदान्ध बना ससारी प्राणी उन निमित्तो को बाह्य दृष्टि से देखकर भी अन्तर्दृष्टि से न देखने के कारण देखी को अनदेखी कर देता है। सुलभबोधि प्राणी तो ससार की स्वानुभूत अथवा परानुभूत प्रत्येक घटना को वैराग्य का निमित्त समझकर साधारण से साधारण और छोटी से छोटी नगण्य घटना के निमित्त से भी प्रबुद्ध हो ससार से तत्क्षण विरक्त हो जाता है। जहा तक मेरी विरक्ति का प्रश्न है, मैं अपनी विरक्ति का कारण तुम्हे बताता हू।

राज्य-सिंहासन पर आरूढ होने के कुछ समय पश्चात् मैंने दिग्विजय करने का निश्चय किया और अपनी चतुरगिणी सेना लेकर मैं विजय यात्रार्थ प्रस्थित हुआ। विजय यात्रा मे जाते समय मार्ग मे मैंने एक स्थान पर नन्दन वनोपम एक अतीव सुरम्य उद्यान देखा। उस उद्यान मे सहस्रो वृक्ष फलों और फूलो से लदे हुए थे। बगीचे के चारो ओर चार-चार कोस का वातावरण भांति-भांति के सुगन्धित पुष्पो की सुखद सुगन्ध से सुरभित हो गमगमा रहा था। देश-विदेशों से आये हुए विभिन्न जातियो, वर्णो, स्वरूपों और आकार से अतीव मनोहर पक्षिसमूह उस बगीचे के सुमधुर-सुस्वादु फलो के रसास्वादन से आकण्ठ तृप्त हो कर्णप्रिय कलरव कर रहे थे। वापी, कूप, तडाग एवं लतामण्डपो से आकीर्ण वह उद्यान देव-वन से स्पर्धा कर रहा था। उस उद्यान की मनोहर छटा पर मैं मुग्ध हो गया। मैंने अपने सामन्तों एव सेनापतियो के साथ उस उद्यान में कुछ समय तक विश्राम किया और पुनः दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। दिग्विजय काल मे मैंने अनेक देशो पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई, किन्तु उस प्रकार का नयनाभिराम मनोहर उद्यान मुझे कही दृष्टिगोचर नही हुआ।

दिग्विजय के पश्चात् जब मैं पुन अपनी राजधानी की ओर लौटा तो मैंने उस उद्यान को पूर्णत· विनष्ट और उजड़ा हुआ देखा। फलो और फूलो से लदे उन विशाल वृक्षो के स्थान पर खडे सूखे-काले ठूठ ऐसे भयावह प्रतीत हो रहे थे मानो प्रेतो की सेना खडी हो। पेड-पौधे, लता-वल्लरी अथवा किसी प्रकार की हरियाली का वहा कोई नाम-निशान तक नही था। जो उपवन कुछ ही समय पहले नन्दनवन सा सुरम्य प्रतीत हो रहा था वही मृत पशु-पक्षियो के ढेर से श्मशान तुल्य वीभत्स, दुर्गन्धपूर्ण और चक्षु-पीडाकारक बन गया था। यह देखकर मेरे मन और मस्तिष्क को बड़ा गहरा आघात पहुचा। अन्तस्तल मे एक चिन्तन की धारा प्रबल वेग से उद्भूत हो तरगित हो उठी। मुझे यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् क्षणभगुर प्रतीत होने लगा और मेरे मन में विश्वास जम गया कि ससार के सभी प्राणियो की देर अथवा सबेर से एक न

एक दिन यही दशा होनी सुनिश्चित है, अवश्यम्भावी है। जो बच्चा आज जन्मा है, वह अनुक्रमश. कालान्तर मे किशोर, युवा एव जराजर्जरित वृद्ध होगा और एक दिन कराल काल का कवल बन जायगा। आज जो स्वस्थ, सुडौल व सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमे से कतिपय गर्हास्पद, गलित कुष्ठरोगी, कतिपय काणे, कतिपय नितान्त अन्धे, लूले, लगड़े बन अथवा राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोगो से ग्रस्त हो नरकोपम दारुण दु खो को भोगते हुए, सिसकते, कराहते, करुण क्रन्दन करते-करते एक दिन कालकवलित हो जाते हैं। जो आज राजा है, वही कल रक बनकर घर-घर भीख मांगता हुआ भटकता है। जिसके जयघोषो से एक दिन गगन गूंजता था वही दूसरे दिन जन-जन द्वारा दुत्कारा जाता है। जो आज बृहस्पति तुल्य वाग्मी है, वही पक्षाघात, विक्षिप्तता आदि रोगो से ग्रस्त हो महामूढ बन जाता है। किस क्षण, किसकी, कैसी दुर्गति होने वाली है, यह किसी को विदित नही। संसार के सभी जीव स्वयं द्वारा विनिर्मित कर्म-रज्जुओं से आबद्ध हो असह्य दारुण दु खों से ओतप्रोत चौरासी लाख जीव-योनियो मे पुनः पुनः जन्म-जरा-मृत्यु की अति विकराल चक्की में निरन्तर पिसते हुए चौदह रज्जु प्रमाण लोक में भटक रहे है। किसी बाजीगर की डोर से बंधे मर्कट की तरह परवश हो अनन्त काल से नटवत् विविध वेश धारण कर नाट्यरत हैं। भवाग्नि की भीषण ज्वालाओं से धुकधुकाती हुई इस संसार रूपी भट्टी में झुलस रहे हैं, भुन रहे हैं, जल रहे हैं, भस्मीभूत हो रहे हैं। इन घोर दु खों का कोई अन्त नही, एक क्षण भर के लिये भी कोई विश्राम नहीं, सुख नही, शान्ति की श्वास-उच्छ्वास लेने का भी अवकाश नही।

यही चिन्तन का प्रवाह आत्मनिरीक्षण की ओर मुडा तो मैं कांप उठा, सिहर उठा। अनन्त काल से जन्म-मरण की चक्की मे पिसते चले आ रहे, दु.ख-दावाग्नि मे दग्ध होते आ रहे अनन्त अनन्त संसारी प्राणियो मे मैं भी एक संसारी प्राणी हू। हाय ! मैं भी अनन्त काल से इन अनन्त दु खों को भोगता आ रहा हूं। यदि इस समय मैंने सम्हल कर, साधनापथ पर अग्रसर हो इन दु खो के मूल का अन्त नही किया तो मैं फिर अनन्त-अनन्त काल तक इन असह्य, अनन्त दु खो से त्रस्त होता रहूगा, भीषण भवाटवी मे भटकता रहूंगा।

मुझे उसी क्षण संसार से विरक्ति हो गई। मुझे यह सम्पूर्ण ससार एक अति विशाल अग्निकुण्ड के समान दाहक प्रतीत होने लगा। विषय भोगो को विषवत् ठुकरा कर मैंने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। तभी से मैं शाश्वत सुखप्रदायी पंच महाव्रतो का पालन कर रहा हूं।"

आचार्य श्री अरिदमन के प्रवचनों को सुन कर राजा विमलवाहन ने भी अपने पुत्र को राज्यभार सम्हला कर श्रमणधर्म स्वीकार किया।

तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन

मुनि बनने के पश्चात् विमलवाहन ने गुरु की सेवा में रह कर तपश्चरण के साथ-साथ आगमों का अध्ययन किया। सुदीर्घ काल तक पांच समिति, तीन गुप्ति की विशुद्ध पालना करते हुए उन्होंने अनन्त काल से संचित कर्मों की निर्जरा की। अरिहन्त-भक्ति आदि बीस बोलों में से कतिपय बोलो की उत्कट आराधना कर मुनि विमलवाहन ने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया। अन्त मे अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर मुनि विमलवाहन विजय नामक अनुत्तर विमान मे तेतीस सागर की आयु वाले देव रूप मे उत्पन्न हुए। वहा उनकी देह एक हाथ की ऊंची और अति विशुद्ध दिव्य पुद्गलों से प्रकाशमान थी।

माता-पिता

जम्बूद्वीपस्थ भारतवर्ष के दक्षिणी मध्य खण्ड में विनीता नाम की नगरी थी। वहां भगवान् ऋषभदेव की इक्ष्वाकु-वंश-परम्परा के असंख्य राजाओं के राज्यकाल के अनन्तर उसी महान् इक्ष्वाकु वश मे जितशत्रु नामक एक महान् प्रतापी और धर्मनिष्ठ राजा हुए। उनकी सहधर्मिणी महारानी का नाम विजया था। महारानी विजया सर्वगुण सम्पन्ना, सर्वांग सुन्दरी, अनुपम रूप-लावण्य सम्पन्ना, विदुषी धर्मनिष्ठा और आदर्श पतिव्रता महिला थी। राजदम्पति न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए उत्तमोत्तम ऐहिक सुखोपभोगों के साथ-साथ श्रमणोपासक धर्म का सुचारुरूपेण पालन करते थे। उनके राज्य में प्रजा सर्वतः सुखी, सम्पन्न और धर्मपरायणा थी। महाराजा जितशत्रु के राज्य में अभाव-अभियोगो के लिये कही कोई अवकाश नही था।

च्यवन और गर्भ में आगमन

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण से लगभग ७१ लाख पूर्व कम पचास लाख करोड सागर पश्चात् विमल वाहन का जीव, विजय नामक अनुत्तर विमान के देव की तेतीस सागरोपम आयु पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला त्रयोदशी (१३) की रात्रि मे रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होने पर विजय विमान से मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञान से युक्त च्यवन कर चित्रा नक्षत्र में ही विनीता (अयोध्या) नगरी के महाराजा जितशत्रु की महारानी विजया देवी के गर्भ मे उत्पन्न हुआ।

उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे महारानी विजया देवी ने अर्द्ध सुप्त तथा अर्द्ध जागृत अवस्था में चौदह महा स्वप्न देखे। शुभ स्वप्नों को देखते ही महारानी विजया जागृत हो हर्षातिरेक से परम प्रमुदित हुई। उसने तत्काल मन्थर गति से महाराज जितशत्रु के शयनकक्ष मे पहुंच कर विनयपूर्वक उन्हे चौदह

स्वप्नो का विवरण सुनाया। स्वप्नों का विवरण सुन महाराज जितशत्रु ने हर्षित हो कहा—महादेवि ! स्वप्न महाकल्याणकारी है। हमे महान् प्रतापी, जगत्पूज्य पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। हर्षोत्फुल्ला महारानी विजया ने शेष रात्रि जागृत रह कर धर्माराधन मे व्यतीत की।

दूसरे चक्रवर्ती का गर्भ में आगमन

उसी रात्रि मे महाराज जितशत्रु के छोटे भाई युवराज सुमित्र विजय की युवरानी वैजयन्ती ने भी चौदह महास्वप्न देखे, जिनकी प्रभा महारानी विजया के स्वप्नो से कुछ मन्द थी।

प्रात काल महाराज जितशत्रु ने कुशल स्वप्न पाठको को ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हे महारानी और युवराज्ञी द्वारा देखे गये चौदह महास्वप्नो का फल पूछा। स्वप्न-पाठको ने समीचीनतया चिन्तन-मनन के पश्चात् कहा—"महारानी विजया देवी की कुक्षि से इस अवसर्पिणी काल के द्वितीय तीर्थंकर महाप्रभु का पुत्र रूप मे जन्म होगा और युवराज्ञी वैजयन्ती देवी द्वितीय चक्रवर्ती को जन्म देगी।"

स्वप्नो का फल सुन कर महाराज जितशत्रु सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवशी परिवार, अमात्यवृन्द और वहा उपस्थित परिजन आनन्द विभोर हो उठे। बन्दीजनो ने विरुदावली के रूप मे कहा—"धन्य है महाप्रतापी इक्ष्वाकु वश, जिसमे तिरेसठ शलाका पुरुषो मे से दो शलाका पुरुष तो युगादि मे ही हो चुके हैं और दो और शलाका पुरुष इस यशस्वी वश की दो महामहिमामयी कुलवधुओ की रत्नकुक्षि मे उत्पन्न हो चुके हैं।

गर्भस्थ लोकपूज्य प्रभु के प्रभाव से माता महारानी विजया देवी के पूर्व ही से अनुपम प्रताप तेज और कान्ति मे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी। पतिपरायणा महारानी धर्माराधन मे निरत रहती हुई गर्भ का पालन करने लगी।

जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला अष्टमी (८) की महा पुनीता रात्रि मे चन्द्रमा का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर माता विजया देवी ने सुखपूर्वक त्रिलोकपूज्य पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु का जन्म होते ही त्रैलोक्य दिव्य प्रकाश से जगमगा उठा। सम्पूर्ण लोक मे हर्ष की लहर दौड गई। प्रतिपल, प्रति समय घोर दु खो का अनुभव करने वाले नरक के जीवो ने भी उस समय कुछ क्षणो के लिये सुख का अनुभव किया। छप्पन दिक्कुमारिका देवियो,

देवराज शक्र, चौसठ इन्द्राणियों, देवों तथा देवागनाओं ने विनीता नगरी में आ कर हर्षोल्लास के साथ राजभवन मे जन्म महोत्सव मनाने के अनन्तर प्रभु को मेरु शिखर पर ले जा कर वहां उपस्थित ६३ इन्द्रों के साथ बड़े ठाट-बाट से देव-देवेन्द्रों के परम्परागत विधि-विधानों के अनुसार उनका जन्माभिषेक किया।

प्रभु के जन्म के कुछ समय पश्चात् उसी रात्रि मे युवराज सुमित्र की युवरानी वैजयन्ती ने भी द्वितीय चक्रवर्ती पुत्र रत्न को जन्म दिया। प्रथम तो पुत्र जन्म की तदनन्तर थोड़ी ही देर पश्चात् भ्रातृज के जन्म की सुखद बधाई पा कर महाराज जितशत्रु आनन्दविभोर हो गये। उन्होंने तत्काल दोनों बधाइयां देने वालों को उनकी अनेक पीढ़ियों के लिए पर्याप्त धन-सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें बड़े-बड़े वैभवशालियों की श्रेणी मे ला दासत्व से मुक्त कर दिया। अनेकों को प्रीतिदान और अनेकों को पारितोषिक दिये गये। विविध वाद्यों की एक तान पर उठी ध्वनियों एवं किन्नरकण्ठिनी सुहागिनों के कण्ठों से निसृत मंगल गीतों की अति मधुर कर्णप्रिय राग-रागनियों से विनीता नगरी गन्धर्वराज की राजधानी सी प्रतीत हो रही थी। राजप्रासादों, सामन्तों, अमात्यों के भलीभांति सजाये गये अति विशाल सुन्दर भवनों, नगरश्रेष्ठि, श्रेष्ठिवरो, श्रीमन्तों के स्फटिकाभ सुन्दर आवासो, राजपथों, वीथियों आदि मे स्थान-स्थान पर आयोजित उत्सवों की धूम से राजपरिवार और समस्त प्रजाजन रागरंग और उत्सवों की धूम से झूम उठे। रागरंग और उत्सवो की चहल-पहल के कारण दिन घड़ियों के समान और घड़ियां पलो के समान प्रतीत हो रही थी।

नामकरण

जन्म-महोत्सव मनाने के पश्चात् महाराज जितशत्रु ने बन्धु-बान्धवों, अमात्यों, सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं मित्रों को आमन्त्रित कर सरस, स्वादिष्ट उत्तमोत्तम भोज्य पक्वान्नो एवं पेय आदि से सब का सम्मान-सत्कार करते हुए कहा—'जब से यह वत्स अपनी माता के गर्भ मे आया, तब से मुझे कोई जीत न सका, मैं प्रत्येक क्षेत्र मे अजित ही रहा, अतः इस बालक का नाम अजित रखा जाय।'[1] उपस्थित सभी महानुभावों ने हर्षोल्लास पूर्वक अपनी सहमति प्रकट की और प्रभु का नाम अजित रखा गया।

आवश्यक चूर्णि मे उल्लेख है कि गर्भाधान से पूर्व पासो की क्रीड़ा में राजा जितशत्रु ही रानी से जीतते थे पर गर्भाधान के पश्चात् जब प्रभु महारानी विजया के गर्भ में आये तभी से महाराज जितशत्रु हारते रहे और महारानी

---

1 भगवम्मि समुप्पण्णे ए केणई जिओ जणउ त्ति कलिऊण अम्मापिईहिं अजिओत्ति णाम कय। —चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० ११

विजया जीतती रही। गर्भस्थ प्रभु के प्रताप से गर्भकाल में महारानी-महाराजा से सदा अजित रही। इस चमत्कार को ध्यान में रखते हुए प्रभु का नाम अजित रखा गया।[१] युवराज सुमित्र के पुत्र का नाम सगर रखा गया।

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल का यह एक कैसा अति सुन्दर सुयोग था कि एक ही साथ, एक ही वश, एक ही परिवार में एवं एक ही घर मे दो सहोदरों की धर्मपत्नियो की कुक्षियों में इस अवसर्पिणी के चौवन महापुरुषों में से दो महापुरुषों का—एक त्रिलोक पूज्य धर्म तीर्थंकर का और दूसरे भावी राजराजेश्वर चक्रवर्ती सम्राट् का, केवल कुछ ही क्षणो के अन्तर से एक साथ गर्भ रूप में आगमन हुआ एवं कतिपय क्षणो के अन्तर से एक साथ जन्म और साथ-साथ लालन-पालन एव संवर्द्धन आदि हुए। उन असाधारण महान् शिशुओ की बाल-लीलाएं भी कितनी ललित, कितनी सम्मोहक, चमत्कारपूर्ण, अद्भुत् और दर्शकों को आश्चर्य चकित कर देने वाली होंगी, इसकी कल्पना मात्र से ही प्रत्येक विज्ञ भावुक भक्त का हृदय-सागर आनन्द की तरंगों से तरंगित और हर्ष की हिलोरो से कल्लोलित हो झूम उठता है, गद्गद् हो उठता है। उन महापुरुषों की माताओ ने कितनी बलैया ली होंगी, आबाल वृद्ध पारिवारिक और परिजनो ने कितना अतिशय आनन्दानुभव किया होगा, कितनी महिलाओं के मानस में मधुर मंजुल गुद्गुदी उठी होगी, इसका वर्णन करना सहस्रों जिह्वाओं और लेखनियो के सामर्थ्य के बाहर है, केवल श्रद्धासिक्त अन्तर्मन से अनुभूतियो द्वारा ही इस के अनिर्वचनीय आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है। अस्तु।

दोनों होनहार शिशुओ ने अनेक वर्षों तक अपनी बाल-लीलाओं से माता-पिता, परिचारको, परिजनो और पौरजनो को आनन्द के विविध रसो का अद्भुत आस्वादन कराते हुए किशोर वय में पदार्पण किया।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विमल वाहन के जीव ने विजय विमान से तीन ज्ञान के साथ च्यवन किया था। यह सनातन नियम है कि तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृति का बन्ध की हुई सभी महान् आत्माए अपने पूर्व भव से ही विशिष्ट तीन ज्ञान साथ ले कर माता की कुक्षि मे आती है, अतः विशिष्ट तीन ज्ञान युक्त कुमार श्री अजित को तो किसी शिक्षक अथवा कलाचार्य से शिक्षा दिलाने अथवा कलाए सिखाने की कोई आवश्यकता ही नही थी। परन्तु सगर कुमार को विद्याओ एवं कलाओ में निपुण बनाने हेतु सुयोग्य शिक्षाविद् कलाचार्य की नियुक्ति की गई। कुशाग्र बुद्धि के धनी मेधावी सगर कुमार ने बडी निष्ठा और विनयपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ किया और अनुमानित

१ विमेमो जूत रमति पुव्व राया जिणिणइयो, गब्भ आभूते माता जिणाति मदाविति तेण अक्खेसु अजिनत्ति अजितो जातो। —आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृ० १०

समय से पूर्व ही वे शब्दशास्त्र, साहित्य, छन्दशास्त्र, न्याय आदि विद्याओं एवं बहत्तर कलाओं में पारगत हो गये। सगर कुमार इस अर्थ में महान् भाग्यशाली थे कि उन्हें विशिष्ट तीन ज्ञान के धारक अपने ज्येष्ठ भ्राता अजित कुमार का साहचर्य प्राप्त हुआ था। वस्तुत. यह उनके लिये परम लाभप्रद सुयोग था। सगर कुमार इस अद्भुत सुयोग से अत्यधिक लाभान्वित हुए। अध्ययन काल में मेधावी छात्र सगर कुमार के मन में समय-समय पर अनेक ऐसी जिज्ञासाएं उत्पन्न होती जिनका समुचित समाधान करने में उनके शिक्षक असफल रहते। ज्यों ही सगर कुमार अपनी जिज्ञासाए अग्रजकु अजित कुमार के सम्मुख रखते त्यों ही अजित कुमार उन जटिल से जटिलतर समस्याओं का ऐसे समीचीन रूप से समाधान करते कि सगर कुमार तत्काल उनका समुचित समाधान पाकर पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाते। इस प्रकार सगरकुमार ने केवल अपने अध्ययन काल में ही नहीं अपितु लम्बे जीवनकाल में प्रभु अजितनाथ से वह तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया जो किसी अन्य शिक्षक एवं कलाचार्य से प्राप्त नहीं होता। सगर कुमार अपने ज्येष्ठ बन्धु अजितकुमार को पिता तुल्य और गुरु समझ कर उनके प्रति सदा अनन्य सम्मान, श्रद्धा और भक्ति प्रकट करते थे।

क्रमशः भ्रातृद्वय श्री अजितकुमार और सगरकुमार ने किशोर वय को पार कर युवावस्था में प्रवेश किया। तब दोनों कुमारों के पाणिग्रहण हेतु अनेक राजाओं के अपनी-अपनी राजकन्याओं के पाणिग्रहण के लिए प्रस्ताव आने लगे। वज्र ऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र सस्थान के धनी, तपाये हुए विशुद्ध स्वर्ण के समान मनोहारिणी कान्ति वाले उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त, व्यूढोरस्क, वृषस्कन्ध कुमारयुगल को यौवन के तेज से प्रदीप्त देख कर महाराज जितशत्रु और महारानी विजया ने दोनों राजकुमारों का उनके योग्य राजकुमारियों से विवाह करने का प्रस्ताव किया। भोगफल देने वाले भोगावली कर्मों को उदित हुए जान कर अजितकुमार को विवाह के लिये अपनी स्वीकृति येन-केन-प्रकारेण देनी पड़ी। दोनों कुमारों के लिये सभी दृष्टियों से सुयोग्य कन्याओं का बड़ी सावधानी से चयन करने के पश्चात् क्रमशः अजितकुमार और सगर कुमार का कुल, रूप, लावण्य एवं सर्वगुण सम्पन्ना अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया गया। रोग से निवृत्त होने के लिये औषधि लेना आवश्यक है, उसी प्रकार उदय में आये हुए भोगावलि कर्मों से निवृत्ति पाने के लिये भोगों का उपभोग भी करना है, यह समझ कर श्री अजितकुमार भोगमार्ग में प्रवृत्त हुए।

जिस समय अजित कुमार की वय १८ लाख पूर्व की हुई, उस समय महाराज जितशत्रु ने ससार से विरक्त हो श्रमण धर्म ग्रहण करने का निश्चय किया। उन्होंने अजित कुमार को अपने संकल्प से अवगत कराते हुए राज्यभार सम्भालने का आग्रह किया। राजकुमार श्री अजित ने प्रव्रज्या ग्रहण के पिता-

श्री के संकल्प की सराहना करते हुए कहा—"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने में समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नहीं पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—"मैं किसी भी दशा में इस सांसारिक राज्य के झंझट में नहीं फंसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नहीं चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा—"कुमार ठीक कहते हैं। ये स्वयं तीर्थंकर हैं। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नहीं टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होंने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन ला[illegible] पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। ससार के सर्वोत्कृष्ट [illegible]

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल मे समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन मे इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो ! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें ? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन् ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"बन्धो ! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"देव ! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के सकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने मे समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नही पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—"मैं किसी भी दशा में इस सासारिक राज्य के झंझट मे नही फँसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा मे राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा--"कुमार ठीक कहते है। ये स्वयं तीर्थंकर हैं। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होंने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त में शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। ससार के सर्वोत्कृष्ट पद—

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नही रही। महाराज अजित के शासनकाल मे समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नही करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन मे इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो ! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें ? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन् ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"वत्स ! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"देव ! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के संकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने में समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नही पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा--"मैं किसी भी दशा में इस सासारिक राज्य के झंझट में नहीं फँसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा--"कुमार ठीक कहते है। ये स्वयं तीर्थंकर हैं। तुम इनके तीर्थ में सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान--केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। ससार के सर्वोत्कृष्ट पद-

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल में समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन में इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन्! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"बन्धो! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"देव! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के सकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विघ्न को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने मे समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नही पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—"मैं किसी भी दशा में इस सासारिक राज्य के झंझट में नही फँसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप मे रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा—"कुमार ठीक कहते है। ये स्वयं तीर्थंकर है। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बडी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध सयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। संसार के सर्वोत्कृष्ट पद—

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वत. श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल में समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन में इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन्! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"बन्धो! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"देव! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के सकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने मे समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नही पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा--"मैं किसी भी दशा में इस सांसारिक राज्य के झंझट में नही फँसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप मे रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा--"कुमार ठीक कहते है। ये स्वयं तीर्थंकर है। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अत: अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान--केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। संसार के सर्वोत्कृष्ट पद--

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल में समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने मे अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन में इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन्! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"बन्धो! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होने प्रभु से निवेदन किया—"देव! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के संकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने मे समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नही पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—"मैं किसी भी दशा में इस सासारिक राज्य के झंझट में नही फसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा—"कुमार ठीक कहते है। ये स्वय तीर्थंकर है। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अत अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बडी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध सयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान--केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। ससार के सर्वोत्कृष्ट पद–

तीर्थंकर पद की पुण्य प्रकृतियों के बन्ध वाले विशिष्ट कोटि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञान के धारक, अमित शक्ति सम्पन्न महाराज श्री अजित के पुण्य-प्रताप से अन्य राजागण स्वतः श्रद्धा-भक्ति से नतमस्तक हो उनके अधीन हो गये। परचक्र के भय की तो महाराज अजित के राज्य में कभी किसी प्रकार की आशंका ही नहीं रही। महाराज अजित के शासनकाल में समस्त प्रजा सर्वतः सम्पन्न, समृद्ध, सुखी और न्याय-नीति-धर्मपरायण रही।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन के लिये लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना

भोगावली कर्मों के पर्याप्त मात्रा में क्षीण हो चुकने के अनन्तर जब अभिनिष्क्रमण का समय निकट आ रहा था, उस समय एक दिन महाराज अजित ने एकान्त में चिन्तन करते हुए सोचा—"अब मुझे संसार के इन राज्य प्रपंचों, भोगोपभोगादि कार्यकलापों का पूर्णतः परित्याग कर अपने मूल लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वतः समुद्यत और तत्पर हो जाना चाहिये। निर्बन्ध, निर्विकार, निष्कलंक होने के लिए साधना करने में अब मुझे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जिस समय महाराज अजित के मन मे इस प्रकार का चिन्तन चल रहा था, उसी समय लोकान्तिक देव अपने जीताचार का निर्वहन करने हेतु स्वयंबुद्ध प्रभु के समक्ष उपस्थित हो सविनय सांजलि शीश झुका प्रार्थना करने लगे :—

"हे निखिल चराचर जगज्जीवों के शरण्य प्रभो ! आप तो स्वयं सम्बुद्ध हैं। आप जैसे जगद्गुरु से हम क्या निवेदन करें ? तथापि हम अपने परम्परागत कर्त्तव्य का पालन करने हेतु आपसे प्रार्थना करते हैं—भगवन् ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर भव्य प्राणियों का उद्धार कीजिये।" लोकान्तिक देवों ने तीन बार इस प्रकार की प्रार्थना प्रभु से की और प्रभु को वन्दन-नमन कर वे निज देव-धाम की ओर लौट गये।

लोकान्तिक देवों के लौट जाने के पश्चात् अजित प्रभु ने युवराज सगर को बुला कर कहा—"बन्धो ! मैं अब सभी प्रकार के प्रपंचों का परित्याग कर साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता हूं। अतः अब तुम इस राज्यभार को सम्भालो।"

प्रभु के वचन सुन कर युवराज सगर वज्राहत से स्तब्ध-अवाक् रह गये। उनके फुल्लारविन्द तुल्य सुन्दर एवं आयत दृगों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो चली। विषादातिरेक से अवरुद्ध-अति विनम्र स्वर में उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—"देव ! मैं तो शैशवकाल से ही छायावत् सदा आपका अनन्य अनुगामी रहा हूं। मैंने तो सदा आपको ही अपना मात-तात-गुरु और सर्वस्व समझा है।

श्री के संकल्प की सराहना करते हुए कहा--"मोक्ष की साधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है। ऐसे पुनीत कार्य में किसी भी विज्ञ को बाधक न बन कर साधक ही बनना चाहिये। राज्यभार आप पितृव्यश्री को ही दीजिये। वे युवराज हैं और राज्यभार ग्रहण करने में समर्थ एवं सुयोग्य भी।" राजकुमार अजित अपनी बात पूरी कह ही नहीं पाये थे कि युवराज सुमित्र ने कहा—"मैं किसी भी दशा में इस सांसारिक राज्य के झंझट मे नही फँसूंगा। मैं तो महाराज के साथ ही मोक्ष का शाश्वत साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर साधना करूंगा।"

राजकुमार श्री अजित ने अपने ज्ञानोपयोग से सुमित्र विजय के प्रव्रजित होने में अभी पर्याप्त विलम्ब जान कर अनुरोध किया कि यदि आप किसी भी दशा में राज्यभार ग्रहण करना नही चाहते तो आपको कुछ समय तक गृहवास में ही भावयति के रूप में रहना चाहिये।

महाराज जितशत्रु ने भी कहा—"कुमार ठीक कहते है। ये स्वय तीर्थंकर हैं। तुम इनके तीर्थ मे सिद्ध होवोगे। अतः अभी भावयती बनकर घर में ही रहो। सुमित्र विजय उन दोनो के अनुरोध को नही टाल सके।

प्रभु अजित का राज्याभिषेक

बड़ी ही साज-सज्जा के साथ भ० अजितनाथ के राज्याभिषेक महोत्सव का आयोजन किया गया। महाराज जितशत्रु ने हर्षोल्लास के वातावरण में दिव्य समारोह के साथ राजकुमार श्री अजित का राज्याभिषेक किया। राज्य-सिंहासन पर आरूढ होते ही महाराज श्री अजित ने सगर कुमार को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

पिता की प्रव्रज्या, केवलज्ञान और मोक्ष

प्रभु के राज्याभिषेक महोत्सव के सम्पन्न हो जाने पर महाराज जितशत्रु का अभिनिष्क्रमण बड़े उत्सव के साथ हुआ। उन्होंने प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ की परम्परा के एक स्थविर मुनिराज के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् मुनि जितशत्रु ने दीर्घ काल तक कठोर तपश्चरण के साथ-साथ विशुद्ध संयम की पालना द्वारा चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त किया और अन्त मे शेष ४ अघाति कर्मों को विनष्ट कर अनन्त शाश्वत सुखधाम-मोक्ष प्राप्त किया।

महाराजा अजित का आदर्श शासन

राजसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् महाराज अजित ने तिरेपन लाख पूर्व तक न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। संसार के सर्वोत्कृष्ट पद–

त्सव का आयोजन किया। सभी इन्द्रों और सगर ने प्रभु का अभिषेक किया। अभिषेकानन्तर दिव्य गन्धादि के विलेपन एवं वस्त्राभूषणों से प्रभु को अलंकृत कर सुप्रभा नाम की शिविका में विराजमान किया गया। देव-देवियों एवं नर-नारियों के समूह प्रभु का अभिनिष्क्रमण महोत्सव देखने के लिए उद्वेलित अथाह उदधि की तरह उमड़ पड़े। नर-नरेन्द्रों एवं देवेन्द्रों ने प्रभु की पालकी को उठाया। देव-देवेन्द्रों तथा नर-नरेन्द्रों के विशाल समूह के कण्ठों से उद्घोषित जयघोषों के बीच, पग-पग पर अभिनन्दित-अभिवर्द्धित होती हुई प्रभु की सुप्रभा शिविका राजधानी के राजपथ से होती हुई विनीता नगरी के बहिर्भागस्थ सहस्राम्र वन मे पहुंची। गगनमण्डल को गुंजरित कर देने वाले जयघोषों के साथ प्रभु सुप्रभा शिविका से उतरे।

दीक्षा

माघ शुक्ला नवमी के दिन चन्द्र का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर प्रभु अजितनाथ ने स्वय ही वस्त्रालंकारों को उतार कर इन्द्र द्वारा समर्पित देवदूष्य धारण किया। तदनन्तर प्रभु ने पंचमुष्टिक लुंचन कर 'नमो सिद्धाणं' के उच्चारण के साथ सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार कर षष्ठभक्त की तपश्चर्या सहित एक हजार राजाओं के साथ यावज्जीवन सामायिक चारित्र स्वीकार किया।

दीक्षित होते ही तीर्थंकरों को मन पर्यवज्ञान हो जाता है, यह एक अपरिवर्तनीय सनातन नियम है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रभु अजितनाथ विजयविमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुति और अवधि—इन तीन ज्ञान के साथ माता विजयादेवी के गर्भ में आये थे। इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व वे इन तीन ज्ञान के धारक तो थे ही। सामायिक चारित्र स्वीकार करते समय भगवान् अजितनाथ प्रशस्त भावों के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान मे स्थित थे। अत: दीक्षा ग्रहण करते ही उनके मन में उसी समय संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को ज्ञात कराने वाला चौथा ज्ञान-मन:पर्यव-ज्ञान भी प्रकट हो गया।

छद्मस्थकाल

प्रभु द्वारा चारित्रधर्म स्वीकार कर लिए जाने पर सभी देवेन्द्र, देव, सगर आदि राजा-महाराजा और उपस्थित जन प्रभु को भक्तिपूर्वक वन्दन-नमन कर अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

दीक्षा ग्रहण करने के दूसरे दिन प्रभु को साकेत (अयोध्या-अपर नाम विनीता) में ही राजा ब्रह्मदत्त ने अपने यहां क्षीरान्न से बेले के तप का पारणा

आपका भी मुझ पर सदा निस्सीम स्नेह और वरद हस्त रहा है। मुझ से ऐसा क्या अपराध हो गया है, जो आप मुझे अनायास ही छोड़-छिटका कर प्रव्रजित होना चाहते है ? मैं क्षण भर के लिए भी आपकी छत्रछाया से पृथक् नही रह सकता। आपके विछोह मे मुझे यह राज्य तो क्या समग्र विश्व का एकच्छत्र राज्य भी और मेरा अपना जीवन भी भयंकर विषधर काले नाग के समान भयानक लगेगा। आपके वियोग की कल्पनामात्र से ही मेरा अन्तर्मन उद्विग्न और गात्र के सभी अगोपाग शिथिल हो गये है, मेरे तन की त्वचा जल रही है। प्रभो ! मैं तो आपके बिना एक क्षण भी नही रह सकता। यदि आपने प्रव्रजित होने का ही दृढ निश्चय कर लिया है तो मुझे भी आपकी सेवा मे रहने की आज्ञा दीजिये। मेरे लिये आपका अहर्निश सान्निध्य त्रैलोक्य के राज्य से भी वडा राज्य होगा। अत हे देव ! मैं आपसे पुन करवद्ध हो, अन्त.करण से प्रार्थना करता हू कि आप अपने इस अनन्य अनुगामी को अपने से पृथक् मत कीजिये।" यह कह कर सगर ने अपना मस्तक प्रभु के चरणो पर रख दिया।

तीन ज्ञान के धनी प्रभु अजित को यह विदित ही था कि कुमार सगर इस अवसर्पिणी काल का द्वितीय चक्रवर्ती होगा। अत. उन्होने आत्मीयता से ओतप्रोत आज्ञापूर्ण स्वर मे कहा—"कुमार ! अभी तुम्हारे विपुल भोगावली कर्म अवशिष्ट है, मै तुम्हे आज्ञा देता हू कि अब तुम मेरी आज्ञा का पालन करने के लिये भी इस राज्यभार को सम्भालो और अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होओ।"

सदा पितृवत् पूजित और गुरु तुल्य आदृत अपने अनन्य श्रद्धाविन्दु-भक्तिकेन्द्र ज्येष्ठ बन्धु के आदेश को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त अब कुमार सगर के समक्ष और कोई मार्ग ही अवशिष्ट नही रह गया था।

प्रभु अजित ने भव्य महोत्सव के साथ सगर कुमार का राज्याभिषेक किया।

वर्षीदान

सगर का राज्याभिषेक करने के पश्चात् प्रभु अजित ने वर्षीदान दिया। वे प्रतिदिन प्रात.काल एक करोड आठ लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान देते थे। इस प्रकार प्रभु ने एक वर्ष मे ३ अरब, अठ्यासी करोड और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान दिया।

वर्षीदान के सम्पन्न होते ही सौधर्म कल्प के शक्र आदि चौसठ इन्द्रो के आसन चलायमान हुए। वे सब तत्काल प्रभु की सेवा मे उपस्थित हुए। तदनन्तर शक्र आदि देवेन्द्रो और महाराजा सगर ने प्रभु के अभिनिष्क्रमण महो-

त्सव का आयोजन किया। सभी इन्द्रों और सगर ने प्रभु का अभिषेक किया। अभिषेकानन्तर दिव्य गन्धादि के विलेपन एवं वस्त्राभूषणों से प्रभु को अलंकृत कर सुप्रभा नाम की शिविका में विराजमान किया गया। देव-देवियों एवं नर-नारियों के समूह प्रभु का अभिनिष्क्रमण महोत्सव देखने के लिए उद्वेलित अथाह उदधि की तरह उमड़ पड़े। नर-नरेन्द्रों एवं देवेन्द्रों ने प्रभु की पालकी को उठाया। देव-देवेन्द्रों तथा नर-नरेन्द्रों के विशाल समूह के कण्ठों से उद्घोषित जयघोषों के बीच, पग-पग पर अभिनन्दित-अभिवर्द्धित होती हुई प्रभु की सुप्रभा शिविका राजधानी के राजपथ से होती हुई विनीता नगरी के बहिर्भागस्थ सहस्राम्र वन में पहुंची। गगनमण्डल को गुंजरित कर देने वाले जयघोषों के साथ प्रभु सुप्रभा शिविका से उतरे।

दीक्षा

माघ शुक्ला नवमी के दिन चन्द्र का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर प्रभु अजितनाथ ने स्वयं ही वस्त्रालंकारों को उतार कर इन्द्र द्वारा समर्पित देवदूष्य धारण किया। तदनन्तर प्रभु ने पंचमुष्टिक लुंचन कर 'नमो सिद्धाणं' के उच्चारण के साथ सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार कर षष्ठभक्त की तपश्चर्या सहित एक हजार राजाओं के साथ यावज्जीवन सामायिक चारित्र स्वीकार किया।

दीक्षित होते ही तीर्थंकरों को मन पर्यवज्ञान हो जाता है, यह एक अपरिवर्तनीय सनातन नियम है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रभु अजितनाथ विजयविमान से च्यवन के समय से ही मति, श्रुति और अवधि—इन तीन ज्ञान के साथ माता विजयादेवी के गर्भ में आये थे। इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व वे इन तीन ज्ञान के धारक तो थे ही। सामायिक चारित्र स्वीकार करते समय भगवान् अजितनाथ प्रशस्त भावों के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान में स्थित थे। अतः दीक्षा ग्रहण करते ही उनके मन में उसी समय संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को ज्ञात कराने वाला चौथा ज्ञान-मन.पर्यव-ज्ञान भी प्रकट हो गया।

छद्मस्थकाल

प्रभु द्वारा चारित्रधर्म स्वीकार कर लिए जाने पर सभी देवेन्द्र, देव, सगर आदि राजा-महाराजा और उपस्थित जन प्रभु को भक्तिपूर्वक वन्दन-नमन कर अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

दीक्षा ग्रहण करने के दूसरे दिन प्रभु को साकेत (अयोध्या-अपर नाम विनीता) में ही राजा ब्रह्मदत्त ने अपने यहां क्षीरान्न से बेले के तप का पारणा

करवाया। वहा पाच प्रकार की दिव्य वृष्टि हुई। इस प्रकार राजा ब्रह्मदत्त प्रभु अजितनाथ के प्रथम भिक्षादाता हुए।

भगवान् अजितनाथ दीक्षित होने के पश्चात् बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। बारह वर्ष तक बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरण द्वारा प्रभु कर्म समूह को ध्वस्त करते रहे। एक दिन प्रभु सहस्राम्रवन में बेले की तपस्या के साथ ध्यानमग्न थे। ध्यानावस्था मे घाति कर्मो का समूलोच्छेद करने वाली क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुए और अप्रमत्त गुणस्थान से प्रभु ने आठवे अपूर्वकरण नामक गुणस्थान मे प्रवेश किया। वे श्रुत के किसी शब्द पर चिन्तन मे प्रवृत्त हुए। शब्द-चिन्तन, अर्थ-चिन्तन और अर्थ चिन्तन मे शब्द पर ध्यान केन्द्रित करते हुए वे अनेक प्रकार के श्रुत विचार वाले पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्लध्यान के प्रथम चरण मे प्रविष्ट हुए। आठवे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त रह कर ध्यान की प्रबल शक्ति से प्रभु ने मोहनीय कर्म की हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन छ प्रकृतियो को समूल नष्ट कर नवे अनिवृत्ति बादर नामक गुणस्थान मे प्रवेश किया। इस नवे गुणस्थान मे प्रभु की ध्यानशक्ति और अधिक प्रबल होती गई। उस प्रबल होती हुई ध्यान शक्ति से आपने वेद मोहनीय की प्रकृतियो, कषाय मोहनीय के सज्वलन क्रोध, मान और माया को नष्ट करते हुए सूक्ष्मसपराय नामक दशम गुणस्थान मे प्रवेश किया। ध्यान-बल से ज्यो-ज्यो मोह का क्षय होता गया, त्यो-त्यो आत्मशक्ति भी बढती गई और गुणस्थान भी बढते गये। मोहनीय कर्म को पूर्णरूपेण मूलत नष्ट कर प्रभु क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान मे आये। यहा तक शुक्ल-ध्यान का प्रथम चरण कार्यसाधक बना। शुक्लध्यान के प्रथम चरण के बल से मोहनीय कर्म को नष्ट कर भगवान् अजितनाथ परम वीतराग हो गये। बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे शुक्लध्यान का एकत्व वितर्क अविचार नामक दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। शुक्लध्यान के इस द्वितीय चरण मे स्थिरता प्राप्त कर ध्यान एक ही वस्तु पर स्थिर होना है। शुक्लध्यान के इस द्वितीय चरण मे इसके प्रथम चरण के समान शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पर ध्यान के जाने की स्थिति न रह कर शब्द और अर्थ इन दोनो मे से केवल एक पर ही ध्यान स्थिर रहता है। शुक्लध्यान के इस द्वितीय चरण के प्राप्त होते ही प्रभु ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन शेष घाति कर्मो को एक साथ नष्ट कर युगपत् केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के साथ तेरहवे सयोगि केवली नामक गुणस्थान मे प्रवेश किया। इस प्रकार बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे साधना के अनन्तर भगवान् अजितनाथ ने पौष शुक्ला एकादशी के दिन चन्द्रमा का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग होने पर विनीता (अयोध्या) नगरी के सहस्राम्र वन मे अनादि काल से चली आ रही छद्मस्थावस्था का अन्त कर युगपत् प्रकट हुए अनन्त ज्ञान और अनन्त-दर्शन से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये।

अब भगवान् अजितनाथ भाव अरिहन्त कहलाये वे सम्पूर्ण लोक के देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच और चराचर सहित समग्र द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानने तथा देखने वाले एवं सभी जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये।

देवों ने पंच दिव्यो की वृष्टि की और देवों तथा इन्द्रों ने केवलज्ञान की महिमा करते हुए सहस्राम्रवन उद्यान मे समवसरण की रचना की। उद्यानपाल ने महाराज सगर को तत्काल बधाई दी कि भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। इस हर्षप्रद शुभ संवाद को सुन कर महाराज सगर ने असीम आनन्द का अनुभव करते हुए उद्यानपाल को प्रीतिदान दे मालामाल कर दिया। वे तत्काल अपने अमात्यो, परिजनों और पौरजनों सहित समस्त राजसी ठाठ के साथ प्रभुदर्शन के लिये उद्यान की ओर प्रस्थित हुए। समवसरण मे पहुंच कर उन्होने प्रभु को अमित श्रद्धा-भक्ति एवं आह्लाद सहित वन्दन-नमन किया और वे सब यथास्थान बैठ गये। समवसरण में देवों द्वारा निर्मित उच्च सिंहासन पर आसीन हो प्रभु ने पीयूषवर्षिणी अमोघ देशना दी।

प्रभु की देशना से प्रबुद्ध हो अनेक पुरुषों ने प्रभु के पास श्रमण धर्म, अनेक महिलाओं ने श्रमणीधर्म और हजारों पुरुषों ने श्रावक धर्म तथा महिलाओं ने श्राविका धर्म स्वीकार किया। भगवान् अजितनाथ के ९८ गणधर हुए, उनमें प्रथम गणधर का नाम सिंहसेन था। प्रभु की प्रथम शिष्या का नाम फल्गु था जो प्रभु के साध्वीसंघ की प्रवर्तिनी हुई। इस प्रकार प्रभु अजितनाथ ने प्रथम देशना में भव्य प्राणियों को श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की शिक्षा देकर साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के पश्चात् प्रभु अपने शिष्य परिवार सहित विभिन्न क्षेत्रो मे विचरण करते हुए भव्य प्राणियो को धर्ममार्ग मे स्थित एवं स्थिर करने लगे।

शालिग्राम निवासियों का उद्धार

इस प्रकार देवो, देवेन्द्रो, नरेन्द्रो और लोकसमूहो द्वारा वन्द्यमान भगवान् अजितनाथ विभिन्न क्षेत्रो और प्रदेशों के भव्य जीवो को शाश्वत सत्यधर्म के उपदेश द्वारा मोक्ष मार्ग पर आरूढ करते हुए विहारानुक्रम से कौशाम्बी नगरी के बाहर उत्तर दिशा मे अवस्थित उद्यान मे पधारे। देवो ने समवसरण की रचना की। समवसरण में अशोक वृक्ष के नीचे विशाल सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुए। सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र प्रभु के दोनों पार्श्व मे खड़े हो कर चंवर डुलाने लगे। सुरो, असुरों और मनुष्यों आदि की धर्म-परिषद में प्रभु ने अमोघ देशना प्रारम्भ की। उसी समय एक ब्राह्मण सपत्नीक समवसरण मे उपस्थित हुआ और प्रभु को आदक्षिणा प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन कर उनके चरण कमलों के पास अवग्रह भूमि छोड़ बैठ गया।

भगवान् की देशना के अनन्तर उस ब्राह्मण ने हाथ जोड़ कर पूछा—"प्रभो ! यह इस प्रकार क्यो है ?"

भगवान् अजितनाथ ने फ़रमाया—"हे देवानुप्रिय ! यह सम्यक्त्व का प्रभाव है।"

ब्राह्मण ने पूछा—"किस प्रकार प्रभो ?"

प्रभु ने ब्राह्मण के "किस प्रकार ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—"सौम्य ! सम्यक्त्व का प्रभाव बहुत बड़ा है। सम्यक्त्व के प्रभाव से वैर शान्त हो जाते हैं, व्याधियां नष्ट हो जाती हैं, अशुभ कर्म विलीन हो जाते हैं, अभीप्सित कार्य सिद्ध होते है, देवायु का बन्ध होता है, देव-देवीगण सहायतार्थ सदा समुद्यत रहते है। ये सब तो सम्यक्त्व के साधारण फल हैं। सम्यक्त्व की उत्कृट उपासना से प्राणी समस्त कर्म-समूह को भस्म कर विश्ववंद्य तीर्थंकर पद तक प्राप्त कर शुद्ध, बुद्ध हो शाश्वत शिवपद प्राप्त करते हैं।

प्रभु के मुखारविन्द से यह सुन कर ब्राह्मण ने कहा—"भगवन् यह ऐसा ही है, यथातथ्य है, अवितथ है। किंचिन्मात्र भी अन्यथा नहीं है।" यह कह-कर ब्राह्मण अत्यन्त सन्तुष्ट मुद्रा मे अपने स्थान पर बैठ गया।

शेष सब श्रोताओं को इस प्रश्नोत्तर के रहस्य से अवगत कराने हेतु परम उपकारी प्रभु के मुख्य गणधर ने पूछा—"प्रभो ! ब्राह्मण के प्रश्न और आपके द्वारा दिये गये उत्तर का रहस्य क्या है ?"

भगवान् अजितनाथ ने फरमाया—"सौम्य ! सुनो, यहां से थोड़ी ही दूरी पर शालिग्राम नामक एक ग्राम है। उस ग्राम मे दामोदर नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम सीमा था। उनके पुत्र का नाम शुद्धभट्ट था। सिद्धभट्ट नामक एक ब्राह्मण की सुलक्षणा नाम्नी कन्या के साथ शुद्धभट्ट का विवाह किया गया। नवदम्पति सासारिक सुखो का उपभोग करने लगा। कालान्तर मे उन दोनो के माता-पिता का देहावसान हो गया और उनका पूर्वसंचित धन-वैभव भी विनष्ट हो गया। स्थिति यहा तक बिगड़ी कि अति कष्टसाध्य घोर परिश्रम के उपरान्त भी उन्हे दोनों समय भोजन तक का मिलना भी दूभर हो गया। अपने घर की इस दारिद्र्यपूर्ण दयनीय दशा को देख कर शुद्धभट्ट बड़ा दुखित हुआ। एक दिन वह अपनी पत्नी को बिना कहे ही चुपचाप घर से निकल कर परदेश चला गया। सुलक्षणा को अन्य लोगो से ही पति के परदेश गमन का वृत्तान्त ज्ञात हुआ।

पति के इस प्रकार चुपचाप उसे छोड कर चले जाने से सुलक्षणा के हृदय को बड़ा भारी आघात पहुंचा। वह शोक सागर मे डूबी हुई सब से दूर

एकाकिनी और वैरागिनी की तरह रहने लगी। उसे संसार के किसी कार्य में रस की कोई अनुभूति नहीं हो रही थी। उन्हीं दिनों उसके पूर्वकृत पुण्यों के उदय से विपुला नाम की एक प्रवर्तिनी दो अन्य साध्वियों के साथ उस ग्राम मे वर्षावास हेतु आई और सुलक्षणा से वर्षाकाल मे रहने के लिये उसके घर मे एक स्थान माग कर रहने लगी। सुलक्षणा प्रतिदिन बडी रुचि से प्रवर्तिनीजी के धर्मोपदेशों को सुनने लगी। प्रवर्तिनीजी के धर्मोपदेशो को सुनने से सुलक्षणा की धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई। उसकी मिथ्यात्व की पर्तें दूर हुई तो उसके अन्तस्तल मे सम्यक्त्व प्रकट हुआ। सुलक्षणा ने जीव, अजीव आदि तत्वो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया। उसने संसार सागर से पार उतारने वाले जिनोपदिष्ट शाश्वत धर्म जैन धर्म को अगीकार किया। इससे उसके कषायो का उपशमन हुआ और विषयो के प्रति उसके मन मे विरक्ति, अरुचि हुई। जन्म-मरण की परम्परा से उसे भय का अनुभव होने लगा। षड्जीवनिकाय के प्रति उसके अन्तर मे अनुकम्पा उत्पन्न हुई और परलोक के अस्तित्व के सम्बन्ध मे उसे पूर्ण आस्था हो गई। सम्पूर्ण चातुर्मास काल उसने अनवरत निष्ठा के साथ साध्वियों की सेवा-सुश्रूषा करते हुए व्यतीत किया। वर्षावास की समाप्ति पर साध्वियो ने सुलक्षणा को बारह अणुव्रतों का नियम ग्रहण करवा कर श्राविका बनाया और वहां से अन्यत्र विहार किया।

साध्वियो के विहार करने के पश्चात् विदेश मे उपार्जित विपुल धनराशि के साथ शुद्धभट्ट भी शालिग्राम मे लौट आया। पति के आगमन से सुलक्षणा परम प्रसन्न हुई। शुद्धभट्ट ने पूछा—"शुभे ! मेरे वियोग में तुम्हारा समय किस प्रकार बीता ?"

सुलक्षणा ने उत्तर दिया—"प्रियतम ! मैं आपके वियोग से पीडित थी उसी समय गणिनीजी यहा पधार गईं। उनके दर्शन से आपके विरह का दुःख शान्त हो गया। गणिनीजी ने चार मास तक यहां अपने घर में विराज कर इसे पवित्र किया। मैंने उनसे सम्यक्त्वरत्न प्राप्त कर अपना जन्म सफल किया।

शुद्धभट्ट ने जिज्ञासा व्यक्त की—"सम्यक्त्व किसे कहते है, कैसा होता है वह ?"

सुलक्षणा ने वीतराग जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित विश्वकल्याणकारी शाश्वत धर्म का स्वरूप अपने पति को समझाते हुए कहा—"राग-द्वेषादि समस्त दोषो को नष्ट कर वीतराग बने त्रिलोकपूज्य, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म को स्वीकार कर सुदेव मे देवबुद्धि रखना, सद्गुरु मे गुरु-बुद्धि रखना, विश्व-कल्याणकारी शुद्ध धर्म मे धर्मबुद्धि रखना और इन तीनो-सुदेव, सद्गुरु और शुद्ध धर्म के प्रति अटल श्रद्धा रखना ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का

ही दूसरा नाम सम्यग्दर्शन है। इनमें आस्था न रख कर रागद्वेष वाले कुदेव, कुगुरु एवं अधर्म मे श्रद्धा रखना, इनमें धर्म मानना मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व का पर्यायवाची अर्थात् दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है।

जिस प्रकार वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हितोपदेष्टा, शुद्ध धर्म का प्ररूपण करने वाले देव ही वास्तव मे सुदेव हैं, उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतो को जीवनपर्यन्त पालने वाले, निरन्तर सामायिक-चारित्र की आराधना करने वाले, समय पर प्राप्त सरस-नीरस अथवा शुष्क, निर्दोष भिक्षा से जीवन-निर्वाह करने वाले शान्त, दान्त, निर्लोभी, धैर्यशाली और विशुद्ध धर्म का उपदेश करने वाले गुरु ही सद्गुरु हैं।

उसी प्रकार शुद्ध धर्म भी वही है, जो दुर्गति मे गिरते हुए जीवों को उस मार्ग से हटा कर सद्गति के पथ पर लगावे। राग-द्वेष से रहित वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, विश्वबन्धु, जगत्पूज्य अरिहत भगवन्तो द्वारा बताया हुआ धर्म ही मोक्ष प्रदान करने वाला है।

सम्यक्त्व की पहचान—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था अर्थात् आस्तिक्य—इन पाच लक्षणो से होती है। सम्यक्त्व से विचलित होते हुए स्वधर्मी बन्धुओ को सम्यक्त्व मे स्थिर करना, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन में कुशलता और चतुर्विध तीर्थ की सेवा—ये पाच गुण सम्यक्त्व के भूषण हैं। इसके विपरीत शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्या दृष्टि की प्रशसा और मिथ्या दृष्टि से परिचय-ससर्ग—ये पाच अवगुण सम्यक्त्व के दूषण है, सम्यग्दर्शन को दूषित करने वाले है।

सम्यग्दर्शन और जैनधर्म के स्वरूप को अपनी पत्नी से अच्छी तरह समझ कर शुद्धभट्ट वडा प्रसन्न हुआ। उसने भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त किया। इस प्रकार शुद्धभट्ट और सुलक्षणा—दोनो ही पति-पत्नी सम्यक्त्वधारी बन कर जैनधर्म का पालन करने लगे। कालान्तर मे सुलक्षणा ने एक पुत्र को जन्म दिया। पति-पत्नी दृढ आस्था के साथ श्रावकधर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन करने लगे। उस गाव के ब्राह्मण उन दोनो पति-पत्नी को श्रावकधर्म का पालन करते हुए देख कर उनकी निन्दा करने लगे कि इन्होने कुलक्रमागत धर्म को छोड़ दिया है और ये श्रावकधर्म का पालन कर रहे हैं।

सर्दी के दिनों मे प्रातःकाल एक वार शुद्धभट्ट अपने पुत्र को लिये "धर्म अग्निष्टिका" के पास गया, जहां अनेक ब्राह्मण अग्नि के चारो ओर बैठे ताप रहे थे। शुद्धभट्ट को अपने पास आया हुआ देख कर वे लोग बोले—"तुम श्रावक हो, अतः तुम्हारे लिये हमारे यहां कोई स्थान नही है।" यह कह कर वे लोग उस "धर्म-अंगीठी" को चारों ओर से इस प्रकार घेरते हुए बैठ गये कि शुद्धभट्ट

के लिये वहा बैठने को किंचिन्मात्र भी स्थान नही रहा। तदनन्तर अट्टहास कर उन लोगो ने शुद्धभट्ट का उपहास किया। उन लोगो के इस प्रकार के तिरस्कार-पूर्ण व्यवहार से प्रतिहत हो शुद्धभट्ट ने क्रोधावेश मे उच्च स्वर से कहा—"यदि जिनधर्म ससार-सागर से पार उतारने वाला नही हो, यदि अर्हत्, तीर्थंकर और सर्वज्ञ नही हों, यदि सम्यक् ज्ञान-दर्शन और चारित्र मोक्ष का मार्ग नही हो और यदि सम्यक्त्व नाम की कोई वस्तु ही ससार में नही हो तो मेरा यह पुत्र इस अग्नि मे जल जाय, और यदि ये सब है, तो इसके एक रोम को भी आंच न आये।" यह कहते हुए शुद्धभट्ट ने अपने पुत्र को खैर के जाज्वल्यमान अगारो से भरी उस विशाल वेदी में फेंक दिया।

यह देख कर वहा बैठे हुए सभी लोग एक साथ हाहाकार और कोलाहल करते हुए उठे और आक्रोशपूर्ण उच्च स्वर में चिल्लाने लगे—"हाय, हाय! इस अनार्य ने अपने पुत्र को जला दिया है।"

पर ज्योंही उन्होने वेदिका की ओर दृष्टिपात किया तो वे सभी आश्चर्याभिभूत हो अवाक्-स्तब्ध रह गये। उनके आश्चर्य का कोई पारावार ही नही रहा। उन्होंने देखा कि वेदी मे जहा कुछ ही क्षण पूर्व ज्वालामालाओं से आकुल अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वहा अग्नि का नाम तक नही है। अग्नि के स्थान पर एक पूर्ण विकसित कमल का अति सुन्दर पुष्प सुशोभित है और उस पर वह बालक खिलखिलाता हुआ बालक्रीडा कर रहा है। कोलाहल सहसा शान्त हो गया। वहा उपस्थित सभी लोग परम आश्चर्यान्वित मुद्रा मे इस अद्भुत् चमत्कार को अपलक दृष्टि से देखते ही रह गये।

वास्तव मे हुआ यो कि जिस समय शुद्धभट्ट ने क्रुद्ध हो अपने पुत्र को प्रज्वलित अग्नि से पूर्ण वेदिका मे डाला, उस समय सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट करने मे सदा तत्पर रहने वाली पास ही मे कही रही हुई व्यन्तर जाति की देवी ने बडी ही तत्परता से अग्नि को तिरोहित कर वेदिका मे विशाल कमलपुष्प की रचना कर उस बालक की अग्नि से रक्षा की। वह व्यन्तरी पूर्व जन्म मे एक साध्वी थी। श्रमणधर्म की विराधना करने के फलस्वरूप वह साध्वी मर कर व्यन्तरी हुई। व्यन्तर जाति मे देवी रूप से उत्पन्न होने के के पश्चात् उसने एक दिन एक केवली प्रभु से प्रश्न पूछा कि वह व्यन्तरी किस कारण बनी? केवली ने कहा—"श्रामण्य की विराधना के कारण तुम व्यन्तर योनि मे उत्पन्न हुई हो। तुम सुलभ-बोधि हो किन्तु तुम्हे सदा सम्यक्त्व के विकास के लिये सरल भाव से समुद्यत रहना चाहिये।"

केवली के वचन सुनने के पश्चात् वह व्यन्तरदेवी सदा सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट करने मे तत्पर रहती। शुद्धभट्ट द्वारा अपने पुत्र को अग्नि में फेंके

जाने के वृत्तान्त को अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जान कर वह व्यन्तर जाति की देवी, उस वेदिका के निकट आ उपस्थित हुई और उसने सम्यक्त्वधारी ब्राह्मण-दम्पति के बालक की रक्षा कर सम्यक्त्व के प्रभाव को प्रकट किया।

शुद्धभट्ट अपने पुत्र को लिये घर लौटा। उसने अपनी पत्नी सुलक्षणा को सब वृत्तान्त सुनाया। उक्त वृत्तान्त सुन कर सुलक्षणा ने अपने पति से कहा—"आपने यह अच्छा नहीं किया। क्योंकि यदि उस समय देवता का सान्निध्य नहीं होता और हमारा पुत्र जल जाता तो क्या सम्यक्त्व, जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म त्रिलोकपूज्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हत् प्रभु का अस्तित्व निरस्त हो जाता इनका अस्तित्व तो त्रिकालसिद्ध है।"

इस प्रकार कह कर यह ब्राह्मणी सुलक्षणा उस गांव के उन सब लोगों को और अपने पति को सम्यक्त्व में स्थिर करने के लिए अपने साथ ले कर यहां आई है।

इस ब्राह्मण ने यहां आ कर मुझ से उसी सम्बन्ध में पूछा और मैंने भी उसे सम्यक्त्व का प्रभाव बताया।

भगवान् अजितनाथ के मुखारविन्द से यह सुन कर ब्राह्मण दम्पति के साथ आये हुए शालिग्राम के निवासियों ने दृढ़ आस्था प्राप्त की। समवसरण में उपस्थित अन्य अनेक भव्यो ने भी सम्यक्त्व ग्रहण किया। शुद्धभट्ट और सुलक्षणा ने उसी समय प्रभु से श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की और अनेक वर्षों तक विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए उन दोनों ने समस्त कर्मसमूह को ध्वस्त कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

धर्म परिवार

भ० अजितनाथ का धर्म-परिवार इस प्रकार था :—

गणधर[1]	पचानवे (९५)
केवली[2]	बाईस हजार (२२,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	बारह हजार पांच सौ (१२,५००)
अवधिज्ञानी	नव हजार चार सौ (९,४००)
चौदह पूर्वधारी	तीन हजार सात सौ (३,७००)
वैक्रियलब्धिधारी	बीस हजार चार सौ (२०,४००)
वादी	बारह हजार चार सौ (१२,४००)

१ हरिवंश पुराण और तिलोयपण्णत्ति में ९० गणधर होने का उल्लेख है।
२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व २, सर्ग ६, श्लो० ६६५ से ६७०।
समवायांग सूत्र।

साधु	एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
श्रावक	दो लाख अठानवे हजार (२,९८,०००)
श्राविका	पांच लाख पैतालीस हजार (५,४५,०००)

परिनिर्वाण

अन्त मे बहत्तर लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर प्रभु अजितनाथ एक हजार मुनियो के साथ सम्मेत शिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ला पंचमी को मृगशिर नक्षत्र मे सिद्ध बुद्ध-मुक्त हुए। वही आपका निर्वाण दिवस है।

आपने अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था मे तिरेपन लाख पूर्व से कुछ अधिक समय राज्य-शासक की अवस्था मे, बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था मे और कुछ कम एक लाख पूर्व केवली पर्याय मे बिताये।

चिरकाल तक आपका धर्म-शासन जयपूर्वक चलता रहा, जिसमे असंख्य आत्माओ ने अपना कल्याण किया।

□ □ □

चक्रवर्ती सगर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती भरत के पश्चात् द्वितीय चक्रवर्ती सगर हुए ।

भगवान् अजितनाथ द्वारा तीर्थप्रवर्तन के कतिपय वर्षों पश्चात् महाराज सगर की आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । इस हर्षप्रद प्रसंग के उपलक्ष्य मे महाराज सगर के आदेश से सम्पूर्ण राज्य मे आठ दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ महोत्सव मनाया गया । चक्ररत्न को मिलाकर चक्रवर्ती सगर के यहां कुल चौदह रत्न उत्पन्न हुए, उनके नाम इस प्रकार है .—

(१) चक्ररत्न, (२) छत्ररत्न, (३) चर्मरत्न, (४) मणिरत्न, (५) काकिणी रत्न, (६) खड्गरत्न और (७) दण्डरत्न —ये सात रत्न तो एकेन्द्रिय थे । शेष (८) अश्वरत्न, (९) हस्तिरत्न, (१०) सेनापतिरत्न, (११) गाथापतिरत्न, (१२) पुरोहितरत्न, (१३) बढईरत्न और (१४) स्त्रीरत्न—ये सात रत्न पचेन्द्रिय थे ।

सगर चक्रवर्ती ने भी भरत चक्रवर्ती के समान बत्तीस हजार वर्ष तक भरतक्षेत्र के ६ खण्डो की दिग्विजय कर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित किया । सगर के यहा ९ निधिया उत्पन्न हुई । उन ९ निधियों के नाम इस प्रकार हैं .—

(१) नैसर्प महानिधि, (२) पाण्डुक महानिधि, (३) पिंगल महानिधि, (४) सर्वरत्न महानिधि, (५) महापद्म महानिधि, (६) काल महा निधि, (७) महाकाल निधि, (८) माणवक महानिधि और (९) शख महानिधि ।

चक्रवर्ती सगर की सेवा मे, ३२ हजार मुकुटधर महाराजा, सदा उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये तत्पर रहते थे । चक्रवर्ती सगर के अन्त.पुर मे स्त्रीरत्न प्रमुख ६४ हजार रानिया थी । महाराजाधिराज चक्रवर्ती सगर के सहस्राशु, सहस्राक्ष, जह्नु, सहस्रबाहु आदि ६० हजार पुत्र हुए । सुदीर्घकाल तक चक्रवर्ती षट्खण्ड के राज्य का सुखोपभोग करते रहे ।

आचार्य शीलाक के चौवन महापुरिस चरियम् और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र मे ऐसा उल्लेख है – "सहस्राशु आदि सगर के ६० हजार पुत्र चक्रवर्ती सगर की आज्ञा प्राप्त कर सेनापतिरत्न, दण्डरत्न आदि रत्नो और एक बडी सेना के साथ भरतक्षेत्र के भ्रमण के लिये प्रस्थित हुए । अनेक स्थानो मे भ्रमण करते हुए जब वे अष्टापद पर्वत के पास

आये तब उन्होंने अष्टापद पर जिन-मन्दिरो को देखा और उनकी सुरक्षा के लिये पर्वत के चारों ओर एक खाई खोदने का विचार किया। इन दोनों आचार्यों के उपरि उद्धृत ग्रन्थों में उल्लेख है कि जह्नु आदि उन ६० हजार सगरपुत्रों ने भवनपतियों के भवन तक गहरी खाई खोद डाली। जह्नुकुमार ने दण्डरत्न के प्रहार से गंगा नदी के एक तट को खोदकर गंगा के प्रवाह को उस खाई में प्रवाहित कर दिया और उस खाई को भर दिया। खाई का पानी भवनपतियों के भवनो मे पहुंचने से वे रुष्ट हुए और नागकुमारो ने रोष वश उन ६० हजार सगरपुत्रों को दृष्टिविष से भस्मसात् कर डाला।

इस प्रकार का कोई उल्लेख शास्त्रो मे दृष्टिगोचर नही होता। न भरत द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का ही शास्त्रो मे कही उल्लेख है। देवो द्वारा चैत्य अर्थात् स्तूप बनाने का उल्लेख जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे मिलता है। वह भी कृत्रिम होने के कारण संख्यात काल के पश्चात् नही रह सकता। अत. यह कथा विचारणीय प्रतीत होती है। संभव है, पुराणों मे शताश्वमेधी की कामना करने वाले महाराज सगर के यज्ञाश्व को इन्द्र द्वारा पाताललोक मे कपिल मुनि के पास बांधने और सगरपुत्रों के वहां पहुचकर कोलाहल करने से कपिल ऋषि द्वारा उन्हें भस्मसात् करने की घटना से प्रभावित हो जैन आचार्यों ने ऐसी कथा प्रस्तुत की हो।

संसार की उच्चतम कोटि की भौतिक शक्तिया भी कर्मों के दारुण विपाक से किसी प्राणी की रक्षा नही कर सकती इस शाश्वत तथ्य का दिग्दर्शन उपर्युक्त दोनों आचार्यों ने अपने उपरिलिखित ग्रन्थो मे सगर चक्रवर्ती के अग्रेतर इतिवृत्त के माध्यम से करवाया है। सगर का इतिवृत्त वस्तुत बड़ा ही वैराग्योत्पादक और शिक्षाप्रद है, अतः उसे यहा संक्षेप मे दिया जा रहा है।

अपने सभी पुत्रों के एक साथ मरण का अतीव दुःखद समाचार सुनकर छः खण्डों का एकच्छत्र अधिपति, चौदह रत्नो और ६ महानिधियो का स्वामी सगर चक्रवर्ती शोकसागर मे निमग्न हो क्रमश अपने चौदह रत्नो को आक्रोश-पूर्ण उपालम्भ देते हुए अति दीन स्वर मे असहाय अनाथ के समान विलाप करने लगा। उसने विलाप करते हुए कहा—ओ सेनापति रत्न! रणांगण मे तुम्हारे सम्मुख कोई भी शत्रु, चाहे वह कितना ही महान् शक्तिशाली क्यो न रहा हो, क्षण भर भी नही ठहर सकता था। पर मेरे प्राणप्रिय पुत्रो पर आये प्राण-संकट के समय तुम्हारा वह अप्रतिम पौरुष कहा चला गया? ओ पुरोहित रत्न! तुमने अनेक घोर अनिष्टों को समय-समय पर शान्त किया किन्तु तुम इस महा नाशकारी अरिष्ट को शान्त क्यो नही कर सके? हे हस्तिरत्न! तुम पर मुझे बड़ा विश्वास था, पर तुम भी मेरे पुत्रो की रक्षा करने मे निष्क्रिय रहे। अरे! तुम नागराज होकर भी एक क्षुद्र नाग को वश मे नही कर सके;

हाय, ! महाशोक ! भ्रो वर्द्ध कीरत्न ! तुम भी मेरे पुत्रों की रक्षा करने में असमर्थ रहे। हे पवन तुल्य वेगवाले अश्व रत्न ! तुमने मेरे पुत्रों को अपनी पीठ पर बैठाकर उन नागकुमारों की पहुंच के बाहर सुरक्षित स्थान पर क्यों नही पहुंचा दिया ? हे मणिरत्न ! तुम तो सब प्रकार के विष के नाशक हो। तो फिर तुमने मेरे पुत्रों की नागकुमारों के विष से रक्षा क्यों नही की ? भ्रो काकिणी रत्न ! तुमने नागकुमार के विष को नष्ट क्यों नही किया ? भ्रो छत्ररत्न ! तुम तो लाखों लोगों को आच्छादित कर उनकी सभी संकटों से रक्षा करने वाले हो। फिर तुमने अपनी छत्र छाया द्वारा मेरे पुत्रों की सुरक्षा क्यो नहीं की ? हे खड्गरत्न ! तुमने उस नागकुमार का सिर तत्काल ही क्यो नही काट डाला ? अरे दण्डरत्न ! तुम्हें तो मैं किन शब्दों मे उपालम्भ दूं, इस महान् अनर्थ का उद्‌भव ही तुम से ही हुआ है। हाय ! भ्रो चर्मरत्न ! तुमने नागकुमार को धरातल से निकलते ही अपने आवरण में बन्दी क्यों नही बना लिया ? भ्रो अचिंत्य शक्तिसम्पन्न चक्ररत्न ! तुमने मेरे इंगित पर अनेक दुर्दान्त शत्रुओं के सिर कमल नालवत् काट गिराये थे। पृथ्वी के विवर से जिस समय नागकुमार निकले उसी समय तुमने मेरे प्राण प्रिय पुत्रों की रक्षार्थ उनके सिर क्यों नही काट डाले ? संसार में चक्रवर्ती के एक-एक रत्न की शक्ति अचिन्त्य व अपरिमेय मानी गई है। पर तुम १३ रत्न मिलकर भी मेरे पुत्रो की रक्षा नही कर सके। इससे बढ़कर भौतिक ऋद्धि की, भौतिक शक्ति की, निस्सारता का, दयनीयता का और कोई उदाहरण नही हो सकता। अपनी दयनीय असहायावस्था के साथ-साथ इन भौतिक अनुपम शक्तियों की अकिंचनता का भी मुझे अपने जीवन में यह पहली ही बार बोध हुआ है। अब तक मैं अपने आप को षट्खण्डाधिपति समझता आ रहा था, वह मेरा दम्भ था। लोग भी मुझे षट्खण्डाधिपति कहते हैं, यह भी वस्तुत. एक बड़ी विडम्बना है, भुलावा है। तथ्य तो यह है कि मैं अपने परिवार का तो क्या, स्वयं अपना भी अधिपति नही हू। वास्तव में यह ससार असार है। धोखे से भरा मायाजाल है। मानव का यौवन वस्तुतः पर्वत से निकली नदी के वेग के समान क्षणिक है। लक्ष्मी वादल की छायातुल्य चचल और क्षणभंगुर है। जीवन जल के बुद्‌बुदे के समान क्षण विध्वसी और कुटुम्बी परिजनो का समागम, भोग, ऐश्वर्य आदि सब कुछ मायामय इन्द्रजाल के दृश्य के समान है, अवास्तविक एवं असत्य है। मैं व्यर्थ ही आज तक इस व्यामोह में फसा रहा। मैंने अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को इस निस्सार ऐश्वर्य के पीछे व्यर्थ ही खो दिया। जो समय बीत चुका है, उसका तो अब एक भी क्षण पुन. लौटकर नही आ सकता। अब तो जो जीवन अवशिष्ट रहा है, उसमे मुझे अपना आत्म-कल्याण कर अपने इस दुर्लभ मानव भव को कृतार्थ करना है।

इस प्रकार संसार से विरक्त हो सगर चक्रवर्ती ने अपने पौत्र भगीरथ को

राज्य सिंहासन पर आसीन किया और उन्होंने तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ[1] के चरणों में श्रमण धर्म अंगीकार कर लिया। विशुद्ध संयम का पालन करते हुए सगर मुनि ने अनेक प्रकार की उग्र तपश्चर्याएं की। तप और सयम की अग्नि मे चार घाति कर्मों को मूलतः ध्वस्त कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त मे अघाति कर्मों को नष्ट कर अक्षय अव्याबाध शाश्वत सुखधाम निर्वाण प्राप्त किया।

१ (अ) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे भ० अजितनाथ के पास सगर चक्रवर्ती के दीक्षित होने का उल्लेख है।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व २, सर्ग ६, पृ० २५०–२५१, श्लोक स० ६१६ से ६५१—

(ब) चउवनमहापुरिसचरियं मे सुस्थित नामक आचार्य के पास सगर चक्रवर्ती के दीक्षित होने का उल्लेख है। यथा —

"अण्णणा य मुणिऊण ससारा सारत्तण..................सुट्ठियायरियसयासे कुमार सहगयमहासामतेहिं सद्धि गहिया णीस्सेसकम्मणिज्जरणभूया..............पवज्जा

—चउवन म० पु० चरिय, पृ० ७१—

भगवान् श्री संभवनाथ

भगवान् अजितनाथ के बहुत समय बाद तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ हुए। आपने राजा विपुलवाहन के भव मे उच्च करणी का बीज बोया जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

पूर्वभव

किसी समय क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन के राज्यकाल मे भयकर दुष्काल पड़ा। प्रजावत्सल राजा को इसकी बडी चिन्ता हुई। उसने देखा कि लोग भोजन के लिये तडप रहे हैं। करुणाशील नृपति इस भयकर दृश्य को नही देख सका। उसने भडारियों को आज्ञा दी कि राज्य के अन्न-भण्डारो को खोल कर प्रजाजनो में बाट दिया जाय।

इतना ही नही उसने सत और प्रभु-भक्तो को भी नियमानुसार सुधि ली। वह साधु-साध्वियो को निर्दोष तथा प्राशुक आहार स्वय देता और सज्जन एवं धर्मनिष्ठ जनो को अपने सामने खिला कर सतुष्ट करता।

इस प्रकार निर्मल भाव से चतुर्विध सघ की सेवा करने के कारण उसने तीर्थंकर पद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित कर लिये।

एक बार सध्या के समय बादलो को बनते और बिखरते देखकर उसे ससार की नश्वरता का सही स्वरूप ध्यान मे आया और मन मे विरक्ति हो गई। आचार्य स्वयप्रभ की सेवा मे दीक्षित होकर उसने संयम धर्म की आराधना की और अन्त मे समाधि-मरण से काल कर नवम-कल्प-आनत[1] देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुआ।

जन्म

देवलोक से निकल कर उसी विपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि के यहा पुत्र रूप मे जन्म लिया। इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी[2] था।

---

१ सत्तरिसय द्वार, द्वार १२, गा० ५५-५६ मे सप्तम ग्रैवेयक और तिलोयपन्नत्ति मे अधोग्रैवेयक मे च्यवन होने का उल्लेख है।

२ तिलोयपन्नत्ति (गा० ५२६ से ५४६) मे सुसेना नाम दिया है।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ में आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्नफल सुनकर परम प्रसन्न हुई।

उचित आहार-विहार और मर्यादा के नव महीने तक गर्भ की प्रतिपालना कर मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को अर्द्ध रात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

आपके जन्म समय में सारे संसार में आनन्द-मंगल की लहर फैल गई और जब से प्रभु गर्भ में आये तब से देश में प्रभूत मात्रा में साम्ब एवं मूंग आदि धान्य की उत्पत्ति हुई। चारों ओर देश की भूमि धान्य से लहलहा उठी, अतः माता-पिता ने आपका नाम संभवनाथ रखा।[१]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब संभवनाथ युवा हुए तो महाराज जितारि ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण संस्कार करवाया और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये।

संभवनाथ पिता के आग्रह से सिंहासनारूढ़ तो हुए पर मन में भोगों से विरक्त रहे। उन्होंने संसार के विषयों को विषमिश्रित पक्वान्न की तरह माना। वे विचार करने लगे—"जैसे विषमिश्रित पक्वान्न खाने में मधुर होकर भी प्राणहारी होते हैं, वैसे ही संसार के भोग तत्काल मधुर और लुभावने होकर भी शुभ आत्मगुणों को घात करने वाले हैं। बहुत लज्जा की बात है कि मानव अनन्त पुण्य से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को यों ही आरम्भ-परिग्रह और विषय-कषाय के सेवन में गंवा रहे हैं। अमृत का उपयोग लोग पैरों को धोने में कर रहे हैं। मुझे चाहिये कि संसार को सम्यक् बोध देने के लिये मैं स्वयं त्याग-मार्ग में अग्रणी होकर जन-समाज को प्रेरणा प्रदान करूं।"

दीक्षा

आपने भोगावली कर्मों को चुकाने के लिये चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग काल तक राज्यपद का उपभोग किया, फिर स्वयं विरक्त हो गये, क्योंकि स्वयं-बुद्ध होने के कारण तीर्थंकरों को किसी दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर

---

१ गब्भत्थे जिणिंदे णिहाणाइय बहुय सभूयं, जायम्मिय रज्जस्स सयलस्स वि सुहं सम्भूयं ति कलिऊण संभवाहिहाणं कुणंति सामिणो ॥ चौ० महापुरिस च०, पृ० ७२।

भगवान् श्री संभवनाथ

भगवान् अजितनाथ के बहुत समय बाद तीसरे तीर्थंकर श्री संभव-नाथ हुए। आपने राजा विपुलवाहन के भव मे उच्च करणी का बीज बोया जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

पूर्वभव

किसी समय क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन के राज्यकाल मे भयकर दुष्काल पड़ा। प्रजावत्सल राजा को इसकी बड़ी चिन्ता हुई। उसने देखा कि लोग भोजन के लिये तड़प रहे हैं। करुणाशील नृपति इस भयकर दृश्य को नही देख सका। उसने भडारियों को आज्ञा दी कि राज्य के अन्न-भण्डारो को खोल कर प्रजाजनो में बांट दिया जाय।

इतना ही नही उसने संत और प्रभु-भक्तो की भी नियमानुसार सुधि ली। वह साधु-साध्वियो को निर्दोष तथा प्राशुक आहार स्वय देता और सज्जन एवं धर्मनिष्ठ जनों को अपने सामने खिला कर सतुष्ट करता।

इस प्रकार निर्मल भाव से चतुर्विध सघ की सेवा करने के कारण उसने तीर्थंकर पद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित कर लिये।

एक बार सध्या के समय बादलों को बनते और बिखरते देखकर उसे ससार की नश्वरता का सही स्वरूप ध्यान में आया और मन मे विरक्ति हो गई। आचार्य स्वयप्रभ की सेवा में दीक्षित होकर उसने संयम धर्म की आराधना की और अन्त मे समाधि-मरण से काल कर नवम-कल्प-आनत[1] देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न हुआ।

जन्म

देवलोक से निकल कर उसी विपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि के यहा पुत्र रूप मे जन्म लिया। इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी[2] था।

---

१ सत्तरिसय द्वार, द्वार १२, गा० ५५–५६ मे सप्तम ग्रैवेयक और तिलोयपन्नत्ति मे अधोग्रैवेयक से च्यवन होने का उल्लेख है।

२ तिलोयपन्नत्ति (गा० ५२६ से ५४६) मे सुसेना नाम दिया है।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ में आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्नफल सुनकर परम प्रसन्न हुई।

उचित आहार-विहार और मर्यादा के नव महीने तक गर्भ की प्रतिपालना कर मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को अर्द्धरात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

आपके जन्म समय में सारे संसार में आनन्द-मंगल की लहर फैल गई और जब से प्रभु गर्भ में आये तब से देश में प्रभूत मात्रा में साम्ब एवं मूंग आदि धान्य की उत्पत्ति हुई। चारों ओर देश की भूमि धान्य से लहलहा उठी, अतः माता-पिता ने आपका नाम संभवनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब संभवनाथ युवा हुए तो महाराज जितारि ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण संस्कार करवाया और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये।

संभवनाथ पिता के आग्रह से सिंहासनारूढ़ तो हुए पर मन में भोगों से विरक्त रहे। उन्होंने संसार के विषयों को विषमिश्रित पक्वान्न की तरह माना। वे विचार करने लगे—"जैसे विषमिश्रित पक्वान्न खाने में मधुर होकर भी प्राणहारी होते हैं, वैसे ही संसार के भोग तत्काल मधुर और सुहावने होकर भी शुभ आत्मगुणों का घात करने वाले हैं। बहुत लज्जा की बात है कि मानव अनन्त पुण्य से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को यों ही आरम्भ-परिग्रह और विषय-कषाय के सेवन में गंवा रहे हैं। अमृत का उपयोग लोग पैरों को धोने में कर रहे हैं। मुझे चाहिये कि संसार को सम्यक् बोध देने के लिये मैं स्वयं त्याग-मार्ग में अग्रणी होकर जन-समाज को प्रेरणा प्रदान करूं।"

दीक्षा

आपने भोगावली कर्मों को चुकाने के लिये चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग काल तक राज्यपद का उपभोग किया, फिर स्वयं विरक्त हो गये, क्योंकि स्वयं-बुद्ध होने के कारण तीर्थंकरों को किसी दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर

---

१ गब्भत्थे जिणिंदे सिंहाणाइय बहुय सभूय, कयम्मिय रज्जस्स सयलस्स वि सुहं सभूयं ति कलिऊण संभवाहिहाणं कुणंति सामिणो ॥ चौ० महापुरिस च०, पृ० ७४।

प्रार्थना की और प्रभु ने भी वर्षीदान देकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की।

वर्षीदान के पश्चात् जब भगवान् दीक्षित होने को पालकी में बैठकर सहस्राम्रवन में आये तब उनके त्याग से प्रभावित होकर अन्य एक हजार राजा भी उन्हीं के साथ घर से निकल पड़े और मगसिर सुदी पूर्णिमा को मृगशिर नक्षत्र में पंच-मुष्टिक लुंचन कर व सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर प्रभु संयम-धर्म में दीक्षित हो गये।

आपके परम उच्च त्याग से देव, दानव और मानव सभी बड़े प्रभावित थे, क्योंकि आप चक्षु, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों पर और क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मुंडित हुए। दीक्षित होते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ और जन-जन के मन पर आपकी दीक्षा का बड़ा प्रभाव रहा।

विहार और पारणा

जिस समय आपने दीक्षा ग्रहण की, उस समय आपको निर्जल षष्ट-भक्त का तप था। दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु सावत्थी नगरी में पधारे और सुरेन्द्र राजा के यहां प्रथम पारणा किया। फिर तप करते हुए विभिन्न ग्राम नगरों में विचरते रहे।

केवलज्ञान

चौदह वर्षों की छद्मस्थकालीन कठोर तप साधना से आपने शुक्ल ध्यान की अग्नि में मोहनीय कर्म को सर्वथा भस्मीभूत कर डाला, फिर क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का युगपद् क्षय कर कार्तिक कृष्णा पंचमी को श्रावस्ती नगरी में मृगशिर नक्षत्र में केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवलज्ञान होने के पश्चात् धर्म-देशना देकर आपने साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और फिर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

आपके मुख्य शिष्य चारुजी हुए। आपका धर्म-संघ निम्न प्रकार था –

गणधर	–	एक सौ दो (१०२)
केवली	–	पन्द्रह हजार (१५,०००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	बारह हजार एक सौ पचास (१२,१५०)

अवधि ज्ञानी	–	नौ हजार छः सौ (९,६००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार एक सौ पचास (२,१५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	उन्नीस हजार आठ सौ (१९,८००)
वादी	–	बारह हजार (१२,०००)
साधु	–	दो लाख (२,००,०००)
साध्वी	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३,३६,०००)
श्रावक	–	दो लाख तिरानवे हजार (२,९३,०००)
श्राविका	–	छः लाख छत्तीस हजार (६,३६,०००)

परिनिर्वाण

चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व वर्षों तक केवली पर्याय मे रहकर आप चैत्र शुक्ला छठ को मृगशिर नक्षत्र मे अनशन पूर्वक शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निवृत्त हो गये।

आपने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था में, चार पूर्वांग सहित चवालीस लाख वर्ष पूर्व राज्य-शासक अवस्था मे और कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष दीक्षा अवस्था में बिताये। इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व वर्षों का आपने आयुष्य पाया।

□ □ □

धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार निम्न संख्या मे था :—

गरण एवं गरणधर	— एक सो सोलह (११६)
केवली	— चौदह हजार (१४,०००)
मन:पर्यवज्ञानी	— ग्यारह हजार छ: सौ (११,६००)
अवधि ज्ञानी	— नौ हजार आठ सौ (९,८००)
चौदह पूर्वधारी	— एक हजार पाच सौ (१,५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	— उन्नीस हजार (१९,०००)
वादी	— ग्यारह हजार (११,०००)
साधु	— तीन लाख (३,००,०००)
साध्वी	— छ: लाख तीस हजार (६,३०,०००)
श्रावक	— दो लाख अठ्यासी हजार (२,८८,०००)
श्राविका	— पांच लाख सत्ताईस हजार (५,२७,०००)

परिनिर्वाण

पचास लाख पूर्व वर्षों की पूर्ण आयु मे आपने साढे बारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था, आठ पूर्वांग सहित साढे छत्तीस लाख पूर्व तक राज्यपद और आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक दीक्षा पर्याय का पालन किया।

फिर अन्त मेंजीवन काल की समाप्ति निकट समझ कर वैशाख शुक्ला अष्टमी को[1] पुष्य नक्षत्र के योग मे आपने एक मास के अनशन से एक हजार मुनियों के साथ सकल कर्म क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपके परम पावन उपदेशों से असख्य आत्माओं ने अपना कल्याण-साधन किया।

□ □ □

१ वैशाखस्य सिताष्टम्या, पुष्यस्थे रजनीकरे।
सम मुनिसहस्रेणापुनरागत्यगात् पदम् ॥ त्रिषष्टि श०पु०च०, पर्व ३, सर्ग ३, श्लो १७२
(क) सत्तरिसयद्वार, द्वा १४७, गा ३०९ से ३१०
(ख) प्रवचनसारोद्धार, हरिवंश और तिलोय पन्नत्ति में वैशाख शु ५ निर्वाण तिथि का उल्लेख है।

भगवान् श्री सुमतिनाथ

चौथे तीर्थंकर भगवान् अभिनन्दन के पश्चात् नव लाख करोड सागर जैसी सुदीर्घावधि के अनन्तर पचम तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ हुए।

भ० सुमतिनाथ का पूर्वभव

जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय मे सुसमृद्ध एव सुखी प्रजाजनो से परिपूर्ण शखपुर नामक एक परम सुन्दर नगर था। वहा विजयसेन नामक राजा राज्य करता था। महाराजा विजयसेन की पट्ट-राजमहिषी का नाम सुदर्शना था। महादेवी सुलक्षणा एव अपनी अन्य महारानियो के साथ सभी प्रकार के ऐहिक सुखोपभोग करता हुआ राजा विजयसेन न्यायपूर्वक प्रजा का पालन कर रहा था।

एक दिन किसी लीलोत्सव के अवसर पर शंखपुर के सभी वर्गों के नागरिक आमोद-प्रमोद के लिये उद्यान में गये। पालकी पर आरूढ महारानी सुदर्शना ने उस उद्यान मे आठ वधुओं से परिवृता एक महिला को उत्सव का आनन्द लेते हुए देखा। महारानी ने कंचुकी से पूछा—"यह महिला कौन है, किसकी पत्नी है और इसके साथ ये आठ सुन्दरियां कौन हैं ?"

कचुकी ने तत्काल उस महिला का पूर्ण परिचय प्राप्त कर निवेदन किया—"महादेवी ! यह महिला इसी नगर के श्रेष्ठी नन्दिषेण की पत्नी है। इसका नाम सुलक्षणा है। इसके दो पुत्र हैं, जिनका चार-चार रूपसी कन्याओ के साथ विवाह किया गया। यह श्रेष्ठि पत्नी सुलक्षणा अपनी उन्ही आठ पुत्र-वधुओ के साथ आनन्दमग्न हो सभी भाति के सुखो का उपभोग कर रही है।"

यह सुनकर निरपत्या महारानी सुदर्शना के अन्तर्मन मे संतति का अभाव शूल की भाति खटकने लगा। उसे अपने प्रति बडी आत्मग्लानि हुई कि वह एक भी सन्तान की माता न बन सकी। वह मन ही मन अति खिन्न हो सोचने लगी—"उस महिला का जन्म, जीवन, यौवन, धन-वैभव, ऐश्वर्य सभी कुछ निरर्थक है, जिसने सभी प्रकार के सासारिक सुखो के सारभूत सुतरत्न को जन्म नही दिया। उस स्त्री के मानव तन धारण करने और जीवित रहने मे कोई सार नही, जिसकी गोद को उसका धूलिधूसरित पुत्र सुशोभित नही करता। वे माताए धन्य हैं, जो पुत्र को जन्म देती है, उसे स्तन्यपान कराती और हर्षातिरेक से उसके मुखचन्द्र का चुम्बन कर अक मे भर उसे अपने हृदय से लगा लेती है। उन पुण्यशालिनी पुत्रवती महिलाओ के लिये स्वर्गसुख तृणवत् तुच्छ है जो

अपने हृदय के हार पुत्र की तुतलाती हुई मृदु वाणी का अपने कर्णरन्ध्रों से पान कर सदा आनन्दविभोर रहती हैं।" इस प्रकार चिन्तन करती हुई महारानी अथाह शोकसागर में निमग्न हो गई। वनमहोत्सव उसे परमपीड़ाकारी और श्मशान तुल्य प्रतीत होने लगा। उसने तत्काल कंचुकी को राजप्रासाद की ओर लौटने का आदेश दिया।

राजप्रासाद के अपने कक्ष में प्रविष्ट होते ही महारानी पलंग पर लेट कर दीर्घ निश्वास लेती हुई फूट फूट कर रोने लगी। अपनी स्वामिनी की यह दशा देख दासिया शोकाकुल एवं भयभीत हो गई। एक दासी ने तत्काल महाराज विजयसेन को महारानी की उस अदृष्ट पूर्व स्थिति से अवगत कराया।

महाराज विजयसेन यह सूचना पाते ही महारानी के महल मे आये। महारानी के अश्रुपूर्ण लाल लोचनयुगल और मलिन मुख को देखकर राजा ने सवेदना मिश्रित स्नेहपूर्ण स्वर मे पूछा—"प्राणाधिके राजराजेश्वरी ! तुम्हारे इस प्रकार शोकसतप्त होने का कारण क्या है ? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन किया है ? क्या कसल काल का कवल बनने के इच्छुक किसी अभागे ने तुम्हारे लिये कुछ अप्रीतिकर कहा अथवा किया है ? शीघ्र बताओ, मैं तुम्हें क्षण भर के लिये भी शोकातुरावस्था नें नही देख सकता।"

महारानी सुदर्शना ने कहा—"आर्यपुत्र ! आपकी छत्रछाया में मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने का कोई साहस नही कर सकता। देव ! मैं तो अपने आन्तरिक दु.ख से ही उद्विग्न हू। मुझे अपने इस निरर्थक जीवन से ही ग्लानि हो गई है कि अभी तक मैं एक पुत्र की मा नही बन सकी। प्राणनाथ ! आप मुझ पर पूर्णतः प्रसन्न हैं तथापि यदि औषधोपचार, विद्या, मन्त्रादि के उपाय करने पर भी मेरे सन्तान नही हुई तो मैं अपने इस निरर्थक शरीर का निश्चित रूप से त्याग कर दू गी।"

महाराज विजयसेन ने महारानी सुदर्शना को मधुर वचनो से आश्वस्त करते हुए कहा कि वे सब प्रकार के उचित औषधोपचारादि विविध उपायों के करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखेंगे, जिनसे कि महारानी का मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण हो।

एक दिन महाराज विजयसेन ने वेले की तपस्या कर कुलदेवी की आराधना की। तप और निष्ठापूर्ण आराधना के प्रताप से कुलदेवी ने राजा विजयसेन को स्वप्न मे दर्शन दे कहा—"नरेन्द्र उद्विग्न होने की आवश्यकता नही। शीघ्र ही तुम्हें एक महाप्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी।" महाराज विजयसेन आश्वस्त हुए। अपने पति मे यह सुसवाद सुनकर महारानी सुदर्शना बडी ही प्रमुदित हुई। उसके हर्ष का पारावार न रहा।

स्वल्प समय पश्चात् ही रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखप्रसुप्ता महादेवी सुदर्शना ने एक स्वप्न देखा कि एक केसरिकिशोर उसके मुख में प्रविष्ट हो गया है। भयभीत हो महारानी उठी और उसने तत्काल अपने पति के शयनकक्ष में जा उन्हें उस स्वप्नदर्शन का वृत्तान्त सुनाया। स्वप्नदर्शन विषयक महारानी का कथन सुनकर महाराज विजयसेन ने हर्षानुभव करते हुए कहा—"महादेवी ! कुलदेवी के कथनानुसार तुम्हे सिंह के समान पराक्रमी एवं प्रतापी पुत्ररत्न की प्राप्ति होने वाली है।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी सुदर्शना ने सर्व सुलक्षण सम्पन्न एव परम सुन्दर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया और अपने जीवन को सफल समझा। राज्य भर मे उत्सवों की धूम मच गई। बन्दियों को कारागारो से मुक्त किया गया। महाराज विजयसेन ने स्थान-स्थान पर दानशालाए, भोजनशालाएं खोल दी और बड़ी उदारतापूर्वक स्वजन-परिजन-पुरजन-अर्थीजनो को समुचित सम्मान-दानादि से सन्तुष्ट किया।

नामकरण-महोत्सव के आयोजन में अपने सम्बन्धियों, परिजनो एवं पौरजनों आदि को आमन्त्रित-सम्मानित कर राजकुमार का नाम पुरुषसिंह रखा। राजसी ठाट-बाट से राजकुमार का लालन-पालन किया गया। शिक्षा-योग्य वय में राजकुमार को सुयोग्य शिक्षाविदो से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा दिलाई गई। राजकुमारोचित सभी विद्याओं में निष्णात हो राजकुमार पुरुषसिंह ने युवावस्था मे पदार्पण किया। माता-पिता ने बड़े ही हर्षोल्लासपूर्वक राजकुमार पुरुषसिंह का रूपलावण्यवती अनिन्द्य सौन्दर्य सम्पन्ना आठ सुलक्षणी राजकन्याओं के साथ विवाह किया। सर्वांग सुन्दर सुस्वस्थ व्यक्तित्व का धनी अतुल बलशाली राजकुमार पुरुषसिंह अपनी आठ युवराज्ञियों के साथ विविध ऐहिक भोगोपभोगो का सुखोपभोग करता हुआ आमोद-प्रमोदपूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करने लगा। विशिष्ट विज्ञान, कुल, शील, रूप, विनयादि सर्व गुणो से सम्पन्न एव शस्त्रास्त्रादि समस्त विद्याओं में कुशल राजकुमार पुरुषसिंह सभी पुरजनों व परिजनों के मन को मुग्ध एव नयनों को आनन्दित करने वाला था। उसका सुन्दर स्वरूप कामदेव के समान इतना सम्मोहक था कि जिस ओर से वह निकलता, वहाँ आबालवृद्ध प्रजाजनो के समूह उसे अपलक दृष्टि से देखते ही रह जाते थे। सक्षेप मे कहा जाय तो वह सब ही को प्राणाधिक प्रिय था।

कालान्तर में एक दिन राजकुमार पुरुषसिंह मनोविनोद एवं आमोद-प्रमोदार्थ शंखपुर के बहिस्थ एक सुरम्य उद्यान में गया। उस उद्यान मे राजकुमार ने मुनिवृन्द से परिवृत विनयानन्द नामक आचार्य को एक सुरम्य स्थान पर बैठे देखा। आचार्यश्री को देखते ही राजकुमार पुरुषसिंह का हृदय हर्षाति-

रेक से प्रफुल्लित, लोचनयुगल हर्षाश्रुओं से प्रपूरित और रोम-रोम पुलकित हो उठा। साश्चर्य उसने सोचा—"यह महापुरुष कौन हैं, जो परिपूर्ण यौवनकाल मे विश्वविजयी कामदेव पर विजय प्राप्त कर श्रमण बन गये हैं। तो चलूं मैं इनसे धर्म के विषय मे कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करूं।" यह विचार कर राजकुमार आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। आचार्यश्री और श्रमणवर्ग को वन्दन कर वह उनके समक्ष बैठ गया। कुछ क्षणों तक आचार्यश्री के दर्शनो से अपने अन्तर्मन को आप्यायित करने के पश्चात् पुरुषसिंह सविनय, साजलि शीश झुका बोले—"भगवन्! यह तो मैं आपके महान् त्याग से ही समझ गया कि यह ससार निस्सार है। ससार के सुख नीरस है, कर्मों का परिपाक अतीव विषम है, तथापि यह बताने की कृपा कीजिये कि ससार सागर से पार उतारने मे कौनसा धर्म सक्षम है?"

आचार्यश्री विनयानन्द ने राजकुमार का प्रश्न सुनकर कहा—"सौम्य! तुम धन्य हो कि इस प्रकार की रूप-यौवन सम्पदा के स्वामी होते हुए भी तुम्हारे अन्तर्मन में पूर्वार्जित पुण्य के प्रभाव से धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई है। दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है। दान भी चार प्रकार का है—ज्ञानदान, अभयदान, धर्मोपग्रहदान और अनुकम्पादान। ज्ञानदान से जीव बन्ध, मोक्ष और सकल पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर हेय का परित्याग एवं उपादेय का ग्रहण-आचरण करते है। अधिक क्या कहा जाय, जीव इहलोक और परलोक मे सुखो का भागी ज्ञान से ही होता है। ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञान का दान करने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनो ही के लिये सौख्यप्रदायी है।" दूसरा दान है—अभयदान। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही जीवो की अभयदान की ओर प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव वनस्पति काय के एकेन्द्रिय जीवो और विकलेन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीवो की मन, वचन, तथा काया से रक्षा करना—उनकी हिंसा न करना, उन्हे भयरहित स्थिति प्रदान करना—जीवनदान देना—यह अभयदान है। अभयदान वास्तव मे महादान है। क्योंकि सभी जीव, चाहे वे कितने ही दु खी क्यो न हों, जीना चाहते हैं, उन्हे जीवन ही सर्वाधिक प्रिय है। अत. प्रत्येक मुमुक्षु एव प्रत्येक विवेकी का यह सबसे पहला परम आवश्यक कर्तव्य है कि वह प्राणिमात्र को अभयदान प्रदान करे।

तीसरा दान है—धर्मोपग्रह दान। तप, सयम में निरत साधक निश्चिन्तता और दृढतापूर्वक निर्बाध रूप से निरन्तर धर्माराधन मे प्रवृत्त होते रहे—इसके लिए उनको आठ मदस्थानो से रहित—दायकशुद्ध, ग्राहकशुद्ध, कालशुद्ध और भावशुद्ध प्रासुक अशन, पान, औषध, भेषज्य, वस्त्र, पात्र, पाठ, फलक आदि धर्म उपकरणों का दान देना वस्तुत. निर्जरा आदि महान् फलो का देने वाला

है। इस प्रकार प्रगाढ श्रद्धा—भक्तिपूर्वक एकान्ततः कर्मों की निर्जरा की भावना से विशुद्ध सयम की पालना करने वाले तपस्वी श्रमणो को धर्म मे सहायक उपकरण अर्थात् उपग्रहों का किया हुआ दान उपजाऊ भूमि मे बोये गये बीज के समान अनेक अचिन्त्य फल देने वाला है। दायकशुद्धदान का अर्थ है दानदाता आठ मदस्थानो से दूर रह कर केवल निर्जरार्थ दान दे। ग्राहकशुद्ध–दान का अर्थ है—दान लेने वाला साधक पंच महाव्रतधारी, प्राणिमात्र का सच्चा हितैषी, परीषहोपसर्गों से कभी विचलित न होने वाला, परिग्रहत्यागी और अप्रतिहत विहारी हो। कालशुद्ध–दान वह है—जिस प्रकार समय पर हुई वर्षा खेती के लिए परम लाभकारी है, उसी प्रकार श्रमणों के अशन-पान ग्रहण करने के अवसर पर उन्हें धर्मोपग्रह प्रदान किये जाये। भावशुद्ध दान वह है कि दानदाता दान देते समय अपने आपको अन्तर्मन से कृतार्थ समझे। मैं तपस्वी श्रमणों को दान दूं, इस प्रकार की भावना आते ही जिसकी रोमावलि हर्ष से पुलकित हो उठे, दान देते समय उसके हर्ष का पारावार न हो और दान देने के पश्चात् भी उसका मन हर्षसागर में हिलोरें लेता रहे। नवकोटि–विशुद्ध दान देते समय दानदाता सोचे कि मेरे पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्यों के प्रताप से आज मैं साधुओं को अशन-पानादि प्रदान कर कृतकृत्य हो गया हूं। चौथा दान है अनुकम्पा—दान। अभाव-अभियोगो से प्रपीड़ित लोगों का उनकी आवश्यकतानुसार हितमिश्रित अनुकम्पा की भावना से प्रेरित हो अशन, पान, वस्त्र, द्रविण आदि का दान करना अनुकम्पा–दान है। यह चतुर्विध धर्म के प्रथम भेद चार प्रकार के दान का स्वरूप है।

धर्म का दूसरा भेद है—शील। पंच महाव्रतों का पालन, क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, मन को वश मे करना, प्रतिपल–प्रतिक्षण अप्रमत्त भाव से सजग रह कर ज्ञानाराधन करना, प्राणिमात्र को मित्र समझना और अपने सानुकूल अथवा अननुकूल ससार के सभी कार्यकलापो में मध्यस्थ भाव से निरीह, निस्संग, निर्लिप्त रहना—यह धर्म का द्वितीय प्रकार शीलधर्म है।

धर्म का तीसरा भेद है—तपधर्म। तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, अवमोदर्य आदि बाह्य तप है और स्वाध्याय, ध्यान, इन्द्रिय-दमन आदि आभ्यन्तर तप। जहा तक सम्भव हो, इन दोनो प्रकार की तपश्चर्याओं का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आराधन करना तप-धर्म है। जिस प्रकार तृण-काष्ठ आदि के पर्वततुल्य समूहो को भी अग्नि अनायास ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार बाह्य एव आभ्यन्तर तपश्चर्या की अग्नि जन्म-जन्मान्तरो, भव-भवान्तरो में संचित कर्मों के विपुल से विपुलतर समूहो को पूर्णरूपेण भस्मसात् तथा मूलतः नष्ट कर कर्म-कलुषित आत्माओं को सच्चिदानन्दघन स्वरूप प्रदान कर देती है।

रेक से प्रफुल्लित, लोचनयुगल हर्षाश्रुओं से प्रपूरित और रोम-रोम पुलकित हो उठा। साश्चर्य उसने सोचा—"यह महापुरुष कौन है, जो परिपूर्ण यौवनकाल मे विश्वविजयी कामदेव पर विजय प्राप्त कर श्रमण बन गये है। तो चलूं मैं इनसे धर्म के विषय मे कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करूं।" यह विचार कर राजकुमार आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हुआ। आचार्यश्री और श्रमणवर्ग को वन्दन कर वह उनके समक्ष बैठ गया। कुछ क्षणो तक आचार्यश्री के दर्शनों से अपने अन्तर्मन को आप्यायित करने के पश्चात् पुरुषसिंह सविनय, सांजलि शीश झुका बोले—"भगवन्! यह तो मैं आपके महान् त्याग से ही समझ गया कि यह ससार निस्सार है। ससार के सुख नीरस है, कर्मों का परिपाक अतीव विषम है, तथापि यह बताने की कृपा कीजिये कि ससार सागर से पार उतारने मे कौनसा धर्म सक्षम है?"

आचार्यश्री विनयानन्द ने राजकुमार का प्रश्न सुनकर कहा—"सौम्य! तुम धन्य हो कि इस प्रकार की रूप-यौवन सम्पदा के स्वामी होते हुए भी तुम्हारे अन्तर्मन मे पूर्वाजित पुण्य के प्रभाव से धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई है। दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है। दान भी चार प्रकार का है—ज्ञानदान, अभयदान, धर्मोपग्रहदान और अनुकम्पादान। ज्ञानदान से जीव बन्ध, मोक्ष और सकल पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर हेय का परित्याग एवं उपादेय का ग्रहण-आचरण करते है। अधिक क्या कहा जाय, जीव इहलोक और परलोक में सुखों का भागी ज्ञान से ही होता है। ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञान का दान करने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनों ही के लिये सौख्यप्रदायी है।" दूसरा दान है—अभयदान। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही जीवो की अभयदान की ओर प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव वनस्पति काय के एकेन्द्रिय जीवो और विकलेन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीवो की मन, वचन, तथा काया से रक्षा करना—उनकी हिंसा न करना, उन्हें भयरहित स्थिति प्रदान करना—जीवनदान देना—यह अभयदान है। अभयदान वास्तव मे महादान है। क्योंकि सभी जीव, चाहे वे कितने ही दु खी क्यो न हो, जीना चाहते है, उन्हे जीवन ही सर्वाधिक प्रिय है। अत. प्रत्येक मुमुक्षु एव प्रत्येक विवेकी का यह सबसे पहला परम आवश्यक कर्तव्य है कि वह प्राणिमात्र को अभयदान प्रदान करे।

तीसरा दान है—धर्मोपग्रह दान। तप, संयम मे निरत साधक निश्चिन्तता और दृढतापूर्वक निर्बाध रूप से निरन्तर धर्माराधन मे प्रवृत्त होते रहे—इसके लिए उनको आठ मदस्थानों से रहित—दायकशुद्ध, ग्राहकशुद्ध, कालशुद्ध और भावशुद्ध प्रासुक अशन, पान, औषध, भेषज्य, वस्त्र, पात्र, पाठ, फलक आदि धर्म उपकरणो का दान देना वस्तुतः निर्जरा आदि महान् फलो का देने वाला

है। इस प्रकार प्रगाढ़ श्रद्धा—भक्तिपूर्वक एकान्ततः कर्मों की निर्जरा की भावना से विशुद्ध संयम की पालना करने वाले तपस्वी श्रमणों को धर्म मे सहायक उपकरण अर्थात् उपग्रहों का किया हुआ दान उपजाऊ भूमि मे बोये गये बीज के समान अनेक अचिन्त्य फल देने वाला है। दायकशुद्धदान का अर्थ है दानदाता आठ मदस्थानों से दूर रह कर केवल निर्जरार्थ दान दे। ग्राहकशुद्ध—दान का अर्थ है—दान लेने वाला साधक पंच महाव्रतधारी, प्राणिमात्र का सच्चा हितैषी, परीषहोपसर्गो से कभी विचलित न होने वाला, परिग्रहत्यागी और अप्रतिहत विहारी हो। कालशुद्ध—दान वह है—जिस प्रकार समय पर हुई वर्षा खेती के लिए परम लाभकारी है, उसी प्रकार श्रमणों के अशन-पान ग्रहण करने के अवसर पर उन्हें धर्मोपग्रह प्रदान किये जायें। भावशुद्ध दान वह है कि दानदाता दान देते समय अपने आपको अन्तर्मन से कृतार्थ समझे। मैं तपस्वी श्रमणों को दान दूं, इस प्रकार की भावना आते ही जिसकी रोमावलि हर्ष से पुलकित हो उठे, दान देते समय उसके हर्ष का पारावार न हो और दान देने के पश्चात् भी उसका मन हर्षसागर में हिलोरें लेता रहे। नवकोटि—विशुद्ध दान देते समय दानदाता सोचे कि मेरे पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्यों के प्रताप से आज मैं साधुओं को अशन-पानादि प्रदान कर कृतकृत्य हो गया हूं। चौथा दान है अनुकम्पा—दान। अभाव-अभियोगों से प्रपीड़ित लोगों का उनकी आवश्यकतानुसार हितमिश्रित अनुकम्पा की भावना से प्रेरित हो अशन, पान, वस्त्र, द्रविण आदि का दान करना अनुकम्पा—दान है। यह चतुर्विध धर्म के प्रथम भेद चार प्रकार के दान का स्वरूप है।

धर्म का दूसरा भेद है—शील। पंच महाव्रतों का पालन, क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, मन को वश में करना, प्रतिपल—प्रतिक्षण अप्रमत्त भाव से सजग रह कर ज्ञानाराधन करना, प्राणिमात्र को मित्र समझना और अपने सानुकूल अथवा अननुकूल संसार के सभी कार्यकलापों में मध्यस्थ भाव से निरीह, निस्संग, निर्लिप्त रहना—यह धर्म का द्वितीय प्रकार शीलधर्म है।

धर्म का तीसरा भेद है—तपधर्म। तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, अवमोदर्य आदि बाह्य तप हैं और स्वाध्याय, ध्यान, इन्द्रिय-दमन आदि आभ्यन्तर तप। जहां तक सम्भव हो, इन दोनों प्रकार की तपश्चर्याओं का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आराधन करना तप-धर्म है। जिस प्रकार तृण-काष्ठ आदि के पर्वततुल्य समूहों को भी अग्नि अनायास ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर तपश्चर्या की अग्नि जन्म-जन्मान्तरों, भव-भवान्तरों में संचित कर्मों के विपुल से विपुलतर समूहों को पूर्णरूपेण भस्मसात् तथा मूलतः नष्ट कर कर्म-कलुषित आत्माओं को सच्चिदानन्दघन स्वरूप प्रदान कर देती है।

रेक से प्रफुल्लित, लोचनयुगल हर्षाश्रुओं से प्रपूरित और रोम-रोम पुलकित हो उठा। साश्चर्य उसने सोचा—"यह महापुरुष कौन हैं, जो परिपूर्ण यौवनकाल मे विश्वविजयी कामदेव पर विजय प्राप्त कर श्रमण बन गये हैं। तो चलूं मैं इनसे धर्म के विषय मे कुछ विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करूं।" यह विचार कर राजकुमार आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हुआ। आचार्यश्री और श्रमणवर्ग को वन्दन कर वह उनके समक्ष बैठ गया। कुछ क्षणो तक आचार्यश्री के दर्शनो से अपने अन्तर्मन को आप्यायित करने के पश्चात् पुरुषसिंह सविनय, साजलि शीश झुका बोले—"भगवन्! यह तो मैं आपके महान् त्याग से ही समझ गया कि यह ससार निस्सार है। ससार के सुख नीरस है, कर्मो का परिपाक अतीव विषम है, तथापि यह बताने की कृपा कीजिये कि ससार सागर से पार उतारने मे कौनसा धर्म सक्षम है?"

आचार्यश्री विनयानन्द ने राजकुमार का प्रश्न सुनकर कहा—"सौम्य! तुम धन्य हो कि इस प्रकार की रूप-यौवन सम्पदा के स्वामी होते हुए भी तुम्हारे अन्तर्मन मे पूर्वाजित पुण्य के प्रभाव से धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई है। दान, शील, तप और भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है। दान भी चार प्रकार का है—ज्ञानदान, अभयदान, धर्मोपग्रहदान और अनुकम्पादान। ज्ञानदान से जीव बन्ध, मोक्ष और सकल पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर हेय का परित्याग एवं उपादेय का ग्रहण-आचरण करते है। अधिक क्या कहा जाय, जीव इहलोक और परलोक में सुखो का भागी ज्ञान से ही होता है। ज्ञानदान वस्तुतः ज्ञान का दान करने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनो ही के लिये सौख्यप्रदायी है।" दूसरा दान है—अभयदान। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही जीवो की अभयदान की ओर प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव वनस्पति काय के एकेन्द्रिय जीवो और विकलेन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीवो की मन, वचन, तथा काया से रक्षा करना—उनकी हिंसा न करना, उन्हे भयरहित स्थिति प्रदान करना—जीवनदान देना—यह अभयदान है। अभयदान वास्तव मे महादान है। क्योकि सभी जीव, चाहे वे कितने ही दु खी क्यो न हो, जीना चाहते है, उन्हें जीवन ही सर्वाधिक प्रिय है। अत प्रत्येक मुमुक्षु एव प्रत्येक विवेकी का यह सबसे पहला परम आवश्यक कर्तव्य है कि वह प्राणिमात्र को अभयदान प्रदान करे।

तीसरा दान है—धर्मोपग्रह दान। तप, सयम मे निरत साधक निश्चिन्तता और दृढ़तापूर्वक निर्बाध रूप से निरन्तर धर्माराधन मे प्रवृत्त होते रहे—इसके लिए उनको आठ मदस्थानो से रहित—दायकशुद्ध, ग्राहकशुद्ध, कालशुद्ध और भावशुद्ध प्रासुक अशन, पान, औषध, भेषज्य, वस्त्र, पात्र, पाठ, फलक आदि धर्म उपकरणो का दान देना वस्तुत. निर्जरा आदि महान् फलों का देने वाला

है। इस प्रकार प्रगाढ श्रद्धा—भक्तिपूर्वक एकान्ततः कर्मों की निर्जरा की भावना से विशुद्ध सयम की पालना करने वाले तपस्वी श्रमणो को धर्म मे सहायक उपकरण अर्थात् उपग्रहो का किया हुआ दान उपजाऊ भूमि मे बोये गये बीज के समान अनेक अचिन्त्य फल देने वाला है। दायकशुद्धदान का अर्थ है दानदाता आठ मदस्थानो से दूर रह कर केवल निर्जरार्थ दान दे। ग्राहकशुद्ध—दान का अर्थ है—दान लेने वाला साधक पञ्च महाव्रतधारी, प्राणिमात्र का सच्चा हितैषी, परीषहोपसर्गों से कभी विचलित न होने वाला, परिग्रहत्यागी और अप्रतिहत विहारी हो। कालशुद्ध—दान वह है—जिस प्रकार समय पर हुई वर्षा खेती के लिए परम लाभकारी है, उसी प्रकार श्रमणों के अशन-पान ग्रहण करने के अवसर पर उन्हें धर्मोपग्रह प्रदान किये जायें। भावशुद्ध दान वह है कि दानदाता दान देते समय अपने आपको अन्तर्मन से कृतार्थ समझे। मैं तपस्वी श्रमणों को दान दूँ, इस प्रकार की भावना आते ही जिसकी रोमावलि हर्ष से पुलकित हो उठे, दान देते समय उसके हर्ष का पारावार न हो और दान देने के पश्चात् भी उसका मन हर्षसागर मे हिलोरें लेता रहे। नवकोटि—विशुद्ध दान देते समय दानदाता सोचे कि मेरे पूर्वोपार्जित प्रबल पुण्यो के प्रताप से आज मैं साधुओं को अशन-पानादि प्रदान कर कृतकृत्य हो गया हूं। चौथा दान है अनुकम्पा—दान। अभाव-अभियोगो से प्रपीड़ित लोगों का उनकी आवश्यकतानुसार हितमिश्रित अनुकम्पा की भावना से प्रेरित हो अशन, पान, वस्त्र, द्रविण आदि का दान करना अनुकम्पा—दान है। यह चतुर्विध धर्म के प्रथम भेद चार प्रकार के दान का स्वरूप है।

धर्म का दूसरा भेद है—शील। पंच महाव्रतों का पालन, क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, मन को वश मे करना, प्रतिपल—प्रतिक्षण अप्रमत्त भाव से सजग रह कर ज्ञानाराधन करना, प्राणिमात्र को मित्र समझना और अपने सानुकूल अथवा अननुकूल संसार के सभी कार्यकलापो मे मध्यस्थ भाव से निरीह, निस्संग, निर्लिप्त रहना—यह धर्म का द्वितीय प्रकार शीलधर्म है।

धर्म का तीसरा भेद है—तपधर्म। तप दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, अवमोदर्य आदि बाह्य तप है और स्वाध्याय, ध्यान, इन्द्रिय-दमन आदि आभ्यन्तर तप। जहा तक सम्भव हो, इन दोनो प्रकार की तपश्चर्याओं का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आराधन करना तप-धर्म है। जिस प्रकार तृण-काष्ठ आदि के पर्वततुल्य समूहों को भी अग्नि अनायास ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर तपश्चर्या की अग्नि जन्म-जन्मान्तरों, भव-भवान्तरों मे संचित कर्मों के विपुल से विपुलतर समूहों को पूर्णरूपेण भस्मसात् तथा मूलत. नष्ट कर कर्म-कलुषित आत्माओं को सच्चिदानन्दघन स्वरूप प्रदान कर देती है।

चौथे प्रकार का धर्म है—भावनाधर्म। भावनाएँ बारह प्रकार की हैं; अतः भावना-धर्म बारह प्रकार का है। यथा :—

१. अनित्य भावना—यौवन, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ऐहिक सुखोपभोग, पुत्र-पौत्र-कलत्र आदि परिजन, यह शरीर और जीवन आदि आदि—ये संसार के समग्र कार्यकलाप अनित्य हैं—क्षणविध्वंसी हैं, मृगमरीचिका तुल्य, इन्द्र-जालवत्, स्वप्न-दर्शन समान नितान्त असत्य, मायास्वरूप, भ्रान्ति अथवा व्यामोहपूर्ण है। ससार मे एक भी वस्तु ऐसी नही, जो चिरस्थायिनी हो। ये सब मुझ से भिन्न है, मैं इन सबसे भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप विशुद्ध चैतन्य हू। इन अनित्य जड़ तत्वो के संग से, अज्ञानवश इन्हे अपना समझ कर मैं ध्रौव्यधर्मा शाश्वत होते हुए भी इन अनित्य जड़ तत्वो की भाति उत्पाद-व्ययधर्मा बन कर जन्म-जरा-मृत्यु की विकराल चक्की मे अनादि काल से पिसता चला आ रहा हूं। इन क्षणविध्वसी अनित्य एवं जड़ पदार्थों के साथ मुझ अविनाशी ध्रौव्यधर्मा, नित्य शाश्वत, विशुद्ध चैतन्य का सग वस्तुत. मेरा व्यामोह मात्र है। अब इन उत्पत्ति-विनाशधर्मा जड़ पदार्थों के साथ, इस अनित्य जगत् के साथ मैं कभी किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही रखूंगा। यह अनित्य भावना नाम की पहली भावना है।

२. अशरण भावना—मैं सच्चिदानन्द ज्ञानघन स्वरूप चैतन्य होते हुए भी मदारी के मर्कट की भांति कर्मरज्जु से आबद्ध हो अशरण बना हुआ असहाय, अनाथ की भांति अनादि काल से अनन्तानन्त दुस्सह दारुण दु.ख भोगता हुआ भवाटवी मे भटकता आ रहा हू। तात, मात, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, स्वजन, स्नेही आदि मे से कोई भी मुझे शरण देने वाला नही है, कोई मेरा दुखो से त्राण करने वाला नही है। केवल वीतराग जिनेन्द्र प्रभु ही मुझे शरण देने वाले हैं। अतः मैं इसी क्षण से जिनेन्द्र देव की—जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म की, प्राणिमात्र के हितैषी, पंच महाव्रतधारी गुरुदेव की-जिनशासन की सर्वात्मना सर्वभावेन अविचल आस्था और दृढ विश्वास के साथ शरण ग्रहण करता हू। अहर्निश प्रतिपल, प्रतिक्षण इस प्रकार की भावना अन्तर्मन से भाना अशरण भावना नाम की दूसरी भावना है।

३. एकत्व भावना—मैं एकाकी हूं। मेरा कोई संगी साथी नही। मेरे द्वारा उपार्जित कर्मों का फल केवल एकाकी मुझे ही भोगना पड़ेगा। कोई भी स्वजन अथवा परिजन उसमें भागीदार बनने वाला नही है। क्योंकि मेरे सिवा और कोई मेरा है ही नहीं। मैं तो अनादि से एकाकी ही हूं और एकाकी ही रहूंगा। प्रतिपल अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाना एकत्व भावना नामक तीसरी भावना है।

४. अन्यत्व भावना—इस संसार में मैं किसी का नही और न कोई मेरा ही है। माता, पिता, भाई, स्वजन, परिजन, मित्र, स्नेही आदि मुझे अपना कहते हैं और मैं भी इन्हें अपना ही समझता आया हूं। पर वस्तुतः ये मेरे नही, मुझ से अन्य हैं। मैं भी इनका नही। क्योंकि ये अन्य हैं और मैं भी अन्य हूं। ये मुझ से भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूं। अन्यत्व में अपनत्व की, ममत्व की बुद्धि वस्तुतः असत्य है, भ्रान्ति और व्यामोह मात्र है। यह है चौथी अन्यत्व भावना।

५ अशुचि भावना—मैं कितना मूढ हूं कि अपनी इस अपवित्र-अशुचि-भण्डार देह पर गर्व करता हु, फूला नही समाता। अस्थि-चर्म-रुधिर-मांस-मज्जा का ढांचा यह मेरा शरीर मल-मूत्र, लार-कफ, पित्त आदि अशुचियो से भरा पड़ा है। इसमे पवित्रता एवं रमणीयता कहां? इस प्रकार की भावना अशुचि भावना नामक पाचवी भावना है।

६. असार भावना—यह संसार नितान्त निस्सार-सर्वथा असार है। कही किसी भी सांसारिक कार्यकलाप में कोई किंचिन्मात्र भी तो सार नहीं, सब कुछ तृणवत् त्याज्य, असार है। यह है 'असार भावना' नामक छठी भावना।

७. आश्रव भावना—हाय! मैं अनन्त ससार में अनन्तानन्त काल तक भटकने को ओर—छोर विहीन अपार सामग्री एकत्रित कर रहा हूं। सब ओर से खुले मेरे व्रत—नियम विहीन अथाह आत्मनद मे महानदियों के अत्युग्र-अति विशाल जल प्रवाह से भी अति भयंकर अतिविशाल प्रवाह एवं अति तीव्र वेग वाले कर्माश्रव (कर्मों की महा नदियो के असंख्य समूह) गिर रहे हैं। यदि मैंने व्रत नियमादि के द्वारा आत्मनद मे अहर्निश प्रतिपल-प्रतिक्षण गिरते हुए कर्म-प्रवाह के इन आश्रव द्वारो को नही रोका तो मैं अनन्तानन्त काल तक इस भयावहा भवाटवी में भटकता रहूंगा, अनन्त अपार, अथाह भवसागर मे डूबा रहूंगा। यह है सातवी "आश्रव भावना।"

८. संवर भावना—आत्मनद मे अहर्निश, प्रतिक्षण महानदियों के पूर की तरह गिरते हुए कर्माश्रवो का निरोध सवर द्वारा ही किया जा सकता है। अतः मुझे नियमित रूप से व्रत, नियम, प्रत्याख्यान महाव्रतादि ग्रहण तथा कषायों के अधिकाधिक निग्रह द्वारा द्रव्य संवर और भाव संवर, दोनो ही प्रकार के सवर से इन आश्रवों को रोकना चाहिये। नियमित रूप से व्रत, नियम, महाव्रत आदि ग्रहण कर के ही मैं इन आश्रवों से अपनी आत्मा का संवरण तथा संरक्षण कर सकता हूं। अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाने का नाम आठवी "सवर भावना" है।

९. निर्जरा भावना—मैं अनादि काल से कर्मशत्रुओं द्वारा जकड़ा हुआ

चौथे प्रकार का धर्म है—भावनाधर्म। भावनाएं बारह प्रकार की हैं; अतः भावना-धर्म बारह प्रकार का है। यथा :—

१. अनित्य भावना—यौवन, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ऐहिक सुखोपभोग, पुत्र-पौत्र-कलत्र आदि परिजन, यह शरीर और जीवन आदि आदि—ये संसार के समग्र कार्यकलाप अनित्य हैं—क्षणविध्वंसी हैं, मृगमरीचिका तुल्य, इन्द्रजालवत्, स्वप्न-दर्शन समान नितान्त असत्य, मायास्वरूप, भ्रान्ति अथवा व्यामोहपूर्ण है। ससार मे एक भी वस्तु ऐसी नही, जो चिरस्थायिनी हो। ये सब मुझ से भिन्न है, मैं इन सबसे भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप विशुद्ध चैतन्य हूं। इन अनित्य जड़ तत्वो के सग से, अज्ञानवश इन्हे अपना समझ कर मैं ध्रौव्यधर्मा शाश्वत होते हुए भी इन अनित्य जड़ तत्वो की भाति उत्पाद-व्ययधर्मा बन कर जन्म-जरा-मृत्यु की विकराल चक्की में अनादि काल से पिसता चला आ रहा हूं। इन क्षणविध्वंसी अनित्य एवं जड़ पदार्थों के साथ मुझ अविनाशी ध्रौव्यधर्मा, नित्य शाश्वत, विशुद्ध चैतन्य का सग वस्तुत. मेरा व्यामोह मात्र है। अब इन उत्पत्ति-विनाशधर्मा जड पदार्थों के साथ, इस अनित्य जगत् के साथ मैं कभी किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही रखूंगा। यह अनित्य भावना नाम की पहली भावना है।

२. अशरण भावना—मैं सच्चिदानन्द ज्ञानघन स्वरूप चैतन्य होते हुए भी मदारी के मर्कट की भाति कर्मरज्जु से आबद्ध हो अशरण बना हुआ असहाय, अनाथ की भाँति अनादि काल से अनन्तानन्त दुस्सह दारुण दु.ख भोगता हुआ भवाटवी मे भटकता आ रहा हूं। तात, मात, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, स्वजन, स्नेही आदि में से कोई भी मुझे शरण देने वाला नही है, कोई मेरा दुखो से त्राण करने वाला नही है। केवल वीतराग जिनेन्द्र प्रभु ही मुझे शरण देने वाले हैं। अतः मैं इसी क्षण से जिनेन्द्र देव की—जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म की, प्राणिमात्र के हितैषी, पच महाव्रतधारी गुरुदेव की-जिनशासन की सर्वात्मना सर्वभावेन अविचल आस्था और दृढ़ विश्वास के साथ शरण ग्रहण करता हूं। अहर्निश प्रतिपल, प्रतिक्षण इस प्रकार की भावना अन्तर्मन से भाना अशरण भावना नाम की दूसरी भावना है।

३. एकत्व भावना—मैं एकाकी हूं। मेरा कोई संगी साथी नही। मेरे द्वारा उपार्जित कर्मों का फल केवल एकाकी मुझे ही भोगना पड़ेगा। कोई भी स्वजन अथवा परिजन उसमे भागीदार बनने वाला नही है। क्योकि मेरे सिवा और कोई मेरा है ही नहीं। मैं तो अनादि से एकाकी ही हूं और एकाकी ही रहूंगा। प्रतिपल अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाना एकत्व भावना नामक तीसरी भावना है।

४. अन्यत्व भावना—इस संसार में मैं किसी का नहीं और न कोई मेरा ही है। माता, पिता, भाई, स्वजन, परिजन, मित्र, स्नेही आदि मुझे अपना कहते हैं और मैं भी इन्हें अपना ही समझता आया हूं। पर वस्तुतः ये मेरे नहीं, मुझ से अन्य हैं। मैं भी इनका नहीं। क्योंकि ये अन्य हैं और मैं भी अन्य हूं। ये मुझ से भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूं। अन्यत्व मे अपनत्व की, ममत्व की बुद्धि वस्तुतः असत्य है, भ्रान्ति और व्यामोह मात्र है। यह है चौथी अन्यत्व भावना।

५. अशुचि भावना—मैं कितना मूढ हूं कि अपनी इस अपवित्र-अशुचि-भण्डार देह पर गर्व करता हूं, फूला नहीं समाता। अस्थि-चर्म-रुधिर-मांस-मज्जा का ढांचा यह मेरा शरीर मल-मूत्र, लार-कफ, पित्त आदि अशुचियों से भरा पड़ा है। इसमे पवित्रता एवं रमणीयता कहां ? इस प्रकार की भावना अशुचि भावना नामक पांचवीं भावना है।

६. असार भावना—यह ससार नितान्त निस्सार-सर्वथा असार है। कहीं किसी भी सासारिक कार्यकलाप में कोई किंचिन्मात्र भी तो सार नहीं, सब कुछ तृणवत् त्याज्य, असार है। यह है 'असार भावना' नामक छठी भावना।

७. आस्रव भावना—हाय ! मैं अनन्त संसार मे अनन्तानन्त काल तक भटकने की ओर—छोर विहीन अपार सामग्री एकत्रित कर रहा हूं। सब ओर से खुले मेरे व्रत—नियम विहीन अथाह आत्मनद मे महानदियों के अत्युग्र-अति विशाल जल प्रवाह से भी अति भयंकर अतिविशाल प्रवाह एवं अति तीव्र वेग वाले कर्मास्रव (कर्मों की महा नदियो के असंख्य समूह) गिर रहे हैं। यदि मैंने व्रत नियमादि के द्वारा आत्मनद में अहर्निश प्रतिपल-प्रतिक्षण गिरते हुए कर्म-प्रवाह के इन आस्रव द्वारो को नही रोका तो मैं अनन्तानन्त काल तक इस भयावहा भवाटवी में भटकता रहूंगा, अनन्त अपार, अथाह भवसागर में डूबा रहूंगा। यह है सातवी "आस्रव भावना।"

८. सवर भावना—आत्मनद मे अहर्निश, प्रतिक्षण महानदियों के पूर की तरह गिरते हुए कर्मास्रवो का निरोध संवर द्वारा ही किया जा सकता है। अतः मुझे नियमित रूप से व्रत, नियम, प्रत्याख्यान महाव्रतादि ग्रहण तथा कषायो के अधिकाधिक निग्रह द्वारा द्रव्य संवर और भाव संवर, दोनो ही प्रकार के संवर से इन आस्रवों को रोकना चाहिये। नियमित रूप से व्रत, नियम, महाव्रत आदि ग्रहण कर के ही मैं इन आस्रवो से अपनी आत्मा का संवरण तथा संरक्षण कर सकता हूं। अन्तर्मन से इस प्रकार की भावना भाने का नाम आठवी "संवर भावना" है।

९. निर्जरा भावना—मैं अनादि काल से कर्मशत्रुओं द्वारा जकड़ा हुआ

दुस्सह्य दारुण दु.ख भोगता चला आ रहा हूं। मेरे घर के बाह्य एवं आभ्यन्तर भाग में इन कर्म-चोरो ने पूर्ण अधिकार जमा रखा है। मुझे मन-वचन-काय-विशुद्धिपूर्वक तपश्चरण, पांच समितियो और तीन गुप्तियो की समीचीनतया आराधना कर इन कर्मशत्रुओं की निर्जरा करनी है, इन कर्मचोरों को नष्ट करना है। कर्मों की पूर्णरूपेण जब तक निर्जरा नही करूंगा, जब तक कर्मों का समूल नाश नही करूंगा तब तक इन अनन्त दु:खो से मेरा छुटकारा होना असम्भव है। दु:खों से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त होने हेतु मैं भावशुद्धि एवं तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा करने का पूरा प्रयास करूंगा। इस प्रकार की भावना भाने का नाम है नवी भावना "निर्जरा भावना।"

१०. लोक-स्वरूप भावना—अनन्त अलोकाकाश के मध्यभाग मे अवस्थित यह लोक सभी ओर से क्रमश: घनोदधि, घनवात और तनवात नामक तीन प्रकार की वायु के वलयो से वेष्टित एव इन्ही तीन प्रकार की वायु के आधार पर अवस्थित है।

लोक का स्वरूप

सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण है। लोक का आकार दोनों पैरों को फैला कर कमर पर हाथ रख कर खड़े पुरुष के आकार के समान है। सम्पूर्ण लोक मुख्यत: अधोलोक, मध्यलोक (तिर्छालोक) और ऊर्ध्वलोक इन तीन विभागों मे विभक्त किया जाता है। अधोलोक के सबसे निचले भाग की चौड़ाई (विस्तार) देशोन सात राजू परिमाण का है। इससे ऊपर इसका विस्तार अनुक्रमश. घटते-घटते कमर के भाग अर्थात् मध्य भाग मे एक राजू रह गया है। मध्य भाग से ऊपर इसका विस्तार क्रमश. बढते-बढते दोनो हाथों की कुहनियो के स्थान पर पाच राजू परिमाण का है। दोनो कुहनियो के ऊपर पुन: अनुक्रमश: घटते-घटते मस्तक के स्थान अर्थात् लोक के अग्र भाग पर इसका विस्तार एक राजू परिमाण रह गया है।

अधोलोक

अधोलोक की ऊँचाई सात राजू से कुछ अधिक है। अधोलोक का आकार पर्यंक अथवा वेत्रासन के समान है। इस वेत्रासनाकार अधोलोक मे मध्यलोक के नीचे क्रमश: रत्नप्रभा आदि गोत्र वाली घम्मा, वंशा, शिला, अंजना, अरिष्टा, मघा और माघवई—ये ७ पृथ्वियां हैं। इन सातो पृथ्वियों मे पहली पृथ्वी घम्मा (रत्नप्रभा गोत्र) की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन, दूसरी शर्करा प्रभा की १ लाख ३२ हजार योजन, तीसरी बालुकाप्रभा की एक लाख २८ हजार योजन, चौथी पंकप्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख २४ हजार योजन, पांचवी धूम्रप्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख २० हजार योजन, छठी तम: प्रभा

पृथ्वी की मोटाई १ लाख १६ हजार योजन और सातवी महातमः प्रभा पृथ्वी की मोटाई १ लाख ८ हजार योजन है। ये सातो पृथ्वियां अपने से पहली पृथ्वी से अनुक्रमशः असंख्यात हजार योजन नीचे है।

रत्नप्रभा पृथ्वी की १ लाख ८० हजार योजन की कुल मोटाई मे से १ हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे की मोटाई को छोड़ शेष १ लाख ७८ हजार योजन के बीच के क्षेत्र के ऊपरी भाग में व्यन्तर एवं भवनपति देवों के निवास हैं और नीचे के भाग मे नारकों के नरकावास हैं।

इन सातों पृथ्वियों में अनुक्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३, १—यो कुल मिला कर ४९ पाथड़े हैं। इस प्रकार ४९ पाथड़ों मे विभक्त उपरिलिखित ७ पृथ्वियों मे अनुक्रमश. ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९९९५ और ५—यों कुल मिला कर ८४ लाख नरकावास है, जहां अनेक प्रकार के घोर पाप करने वाले महादम्भी जीव नारकीय के रूप मे उत्पन्न होते है। उन नरकावासों में सदा-सर्वकाल असंख्यात नारकीय जीव क्षेत्रजन्य, परस्परजन्य असंख्यात प्रकार के परम दुस्सह अति दारुण दु.ख असंख्यात काल तक भोगते है। उन नारकीय जीवो को अपने असंख्यात काल के लम्बे जीवन मे केवल घोर दुःख ही दु.ख हैं। कभी पलक झपकने जितने समय के लिये भी उन्हे चैन नही मिलता। नारक भूमियो के कण-कण मे नारकीय जीवो के अंग-प्रत्यंग और रोम-रोम मे इतनी भयकर दुस्सह दुर्गन्ध भरी हुई है कि उसकी उपमा देने के लिये तिर्छालोक मे कोई वस्तु नही। वहा की वायु मध्य-लोक की भीषण से भीषण भट्टी की आग की अपेक्षा असख्यात गुना अधिक तापकारिणी है। नरक की वैतरणी का जल यहा के तेज से तेज तेजाब की अपेक्षा अत्यधिक दाहक होता है, जिससे नारकीयों के शरीर फट जाते हैं। वहां के असिपत्र वृक्षो के पत्तो से नारक जीवो के शरीर, अग-प्रत्यंग कट जाते हैं। क्रूरकर्मा नारक जीव एक दूसरे को तलवारो से काटते, करवत से चीरते, कुल्हाड़े से छिन्न-भिन्न करते, बसोले से छीलते, भालो से बींधते, सूली पर लटकाते, भाड़ मे भूनते और खोलते हुए तैल से भरी कड़ाही मे तलते हैं। वे नारक जीव सिंह, व्याघ्र गीध आदि का रूप बना परस्पर लड़ते, कराल दंष्ट्राओं से चीर-फाड़ करते, वज्रमयी चोंचो से एक दूसरे की आखें, आते निकाल-निकाल कर एक-दूसरे को घोर यातनाएं पहुँचाते है। छेदन-भेदन से उन्हे दुस्सह पीडा होती है पर पारद के बिखरे कणो के समान उनके कटे हुए अग-प्रत्यग पुन. जुड़ जाते हैं। इन पीड़ाओ से वे मरते नही, आयु पूर्ण होने पर ही मरते है। तीसरी नरक तक परमाधामी असुर वहा के नारकियों को परस्पर उकसाते, लड़ाते और दारुण दुःख देते है। इन सात नारक भूमियो मे असख्यात काल

पर्यन्त नारकीय जीव जो घोर दुःख भोगते हैं, उन दुखो का पूरा वर्णन किया जाना जिह्वा अथवा लेखनी द्वारा सम्भव नही।[1]

मध्यलोक

मध्यलोक (तिर्छालोक) का आकार झालर के समान गोल है। मध्य-लोक की ऊँचाई ९०० योजन ऊपर और ९०० योजन नीचे—इस प्रकार कुल मिलाकर १८०० योजन है। मध्यलोक के बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के चारो ओर दो लाख योजन विस्तार वाला वलयाकार लवरण समुद्र, उसके चारों ओर चार लाख योजन विस्तार का धातकी खण्ड द्वीप, उसके चारो ओर ८ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्र के चारों ओर वलयाकार सोलह लाख योजन वाला पुष्करद्वीप है। पुष्कर द्वीप के बीच में, इस द्वीप को बराबर दो भागों में विभक्त करने वाला गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। पुष्कर द्वीप से आगे उत्तरोत्तर द्विगुणित आकार वाले अनुक्रमशः पुष्करोद समुद्र, वरुणवर द्वीप आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। इन सब के अन्त में असंख्यात योजन विस्तार वाला स्वयंभू-रमण समुद्र है। मनुष्य केवल जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप और पुष्करार्द्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत की परिधि के अन्तर्वर्ती क्षेत्र में ही रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्य नही रहते, केवल तिर्यंच पशु-पक्षी आदि ही रहते हैं। तिर्छालोक के मध्यभाग मे जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरु पर्वत है, जो मूल में १० हजार योजन विस्तार वाला और एक लाख योजन ऊँचा है। मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नामक ६ वर्षधर पर्वत तथा भरत, हेमवत, हरि देवकुरु (मेरु के दक्षिण मे), पूर्व महाविदेह, पश्चिम महा विदेह (मेरु के पूर्व में पूर्व महाविदेह और पश्चिम में पश्चिम महाविदेह), उत्तरकुरु (मेरु के उत्तर मे), रम्यक्, हैरण्यवत और शिखरी पर्वत के उत्तर में ऐरवत—ये १० क्षेत्र हैं। इन दस क्षेत्रों में से पूर्व तथा पश्चिम दोनो महाविदेह, भरत और ऐरवत ये क्षेत्र कर्मभूमियां हैं और शेष सब अकर्म भूमिया अर्थात् भोग भूमियां। कर्म भूमियो के मनुष्य असि, मसि, कृषि आदि कर्मों से अपनी आजीविका चलाते हैं और यहां के मनुष्य एवं तिर्यंच स्वयं द्वारा किये गये पाप अथवा पुण्य के अनुसार मृत्यु के पश्चात्, देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नरक इन चारों गतियो में उत्पन्न होते हैं। महाविदेह, भरत और ऐरवत क्षेत्रों के मनुष्य ही कठोर आध्यात्मिक साधना द्वारा आठों कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। धातकी खण्ड द्वीप तथा पुष्करार्द्ध द्वीप—इन दोनों में से प्रत्येक द्वीप

---

१ अच्छिणिमीलियमेत्त, णत्थि सुह दुक्खमेव अणुबद्ध णरए णेरइयाण, अहोणिसि पच्चमाणाणं ॥

मे इन भोग भूमियो और कर्म भूमियों की संख्या जम्बूद्वीप की इन भूमियों की अपेक्षा दुगुनी-दुगुनी है। इस प्रकार ढाई द्वीप मे कुल मिला कर १५ कर्म भूमिया है। पाच महाविदेह क्षेत्रों मे काल सदा-सर्वदा अवस्थित अर्थात् एक सा रहता है। वहा सदा दु खम्-सुखम् नामक चतुर्थ आरक जैसी स्थिति रहती है। पाच भरत और पाच ऐरवत इन १० कर्म भूमियों मे अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल के रूप मे कालचक्र चलता रहता है। पूर्ण कालचक्र २० कोटाकोटि सागरोपम काल का होता है, जिसमे दश कोटाकोटि सागरोपम का अवसर्पिणी काल और दश कोटाकोटि सागरोपम का ही उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल मे ४ कोटाकोटि सागरोपम का सुखमासुखम् नामक प्रथम आरक, ३ कोटाकोटि सागरोपम का सुखम् नामक द्वितीय आरक, २ कोटाकोटि सागरोपम का सुखम्-दु.खम् नामक तीसरा आरक, ४२ हजार वर्ष कम एक सागर का दु.खम्-सुखम् नामक चतुर्थ आरक २१ हजार वर्ष का दु खम् नामक पचम आरक और २१ हजार वर्ष का ही दु खमा-दु.खम् नामक छठा आरक—ये छः आरक होते हैं। दश कोटाकोटि सागरावधि के उत्सर्पिणी काल मे ये ही छः आरक उल्टे क्रम से होते हैं। जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में जघन्य (कम से कम) ४ तीर्थंकर, घातकी खण्ड द्वीप के दोनो महाविदेह क्षेत्रो में ८ और पुष्करार्द्ध द्वीप के दोनों महाविदेह क्षेत्रों मे ८, इस प्रकार ढाई द्वीप मे कुल मिला कर जघन्य २० विहरमान तीर्थंकर समकालीन अवश्यमेव सदा ही विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र में बत्तीस-बत्तीस विजय है। इस प्रकार ढाई द्वीप के पाचों महाविदेह क्षेत्रो के विजयो की सख्या कुल मिला कर १६० है। जिस समय इन सभी विजयो मे एक-एक तीर्थंकर होते है उस समय केवल पच महाविदेह क्षेत्रों में तीर्थंकरो की सख्या १६० हो जाती है। तीर्थंकरो की यह सख्या जिस समय ढाई द्वीप के पाच भरत और पाच ऐरवत क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के तृतीय आरक के अन्तिम भाग एव चतुर्थ आरक मे तथा उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरक में तथा चतुर्थ आरक के प्रारम्भिक काल में इन दशों क्षेत्रो की दशो चौबीसियों के अनुक्रमश प्रथम से ले कर चौबीसवें तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं, उस समय ढाई द्वीप की इन १५ कर्मभूमियो मे तीर्थंकरों की उत्कृष्ट सख्या समकाल में १७० हो जाती है। इस दृष्टि से ढाई द्वीप मे एक ही समय में तीर्थंकरों की जघन्य संख्या २० और उत्कृष्ट संख्या १७० मानी गयी है।

ढाई द्वीप में जो भोग भूमिया हैं, उनमे से देवकुरु एवं उत्तरकुरु में सदा सर्वदा सुखम्-सुखम् नामक प्रथम आरक जैसी, हरिवर्ष एवं रम्यकवर्ष क्षेत्रों में सुखम् नामक द्वितीय आरक जैसी तथा हेमवत एवं हिरण्यवत् क्षेत्रों में सदाकाल सुखम्-दु खम् नामक तृतीय आरक जैसी स्थिति रहती है।

कर्म भूमि और अकर्म भूमि के इन मनुष्य क्षेत्रों के अतिरिक्त ५६ अन्तर्दीपो में भी मनुष्य रहते हैं। चुल्ल हिमवन्त और शिखरी पर्वत इन दोनों पर्वतों

के नैऋत्य आदि चारो कोणों मे जो दाढे है, उनमे से प्रत्येक दाढ पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार इन दोनो पर्वतो की आठ दाढो पर कुल मिला कर ५६ अन्तर्द्वीप है। इन दोनों पर्वतों के पहले ८ अन्तर्द्वीप इन पर्वतों की जगती से तीन सौ योजन दूर लवण समुद्र मे है। प्रथम अष्टक से ४०० योजन आगे दूसरा अन्तर्द्वीपाष्टक, उससे आगे ५०० योजन पर तीसरा, तीसरे से ६०० योजन आगे चौथा, उससे ७०० योजन आगे पाँचवां, उससे ८०० योजन आगे छठा और छठे अष्टक से ६०० योजन आगे इन ५६ अन्तर्द्वीपों का सातवां अर्थात् अन्तिम अष्टक है। इन छप्पन अन्तर्द्वीपो के मनुष्य तथा तिर्यंच यौगलिक होते है और कल्पवृक्षो से अपना जीवन निर्वाह करते है। इन ५६ अन्तर्द्वीपो मे सदा-सर्वदा सुखम्-दु:खम् नामक तृतीय आरक के उत्तरार्द्ध जैसी स्थिति रहती है। इन अन्तर्द्वीपो के मनुष्यो का देहमान ८०० धनुष और स्त्रियो का देहमान ८०० धनुष से कुछ कम होता है। इनके शरीर मे ६४ पसलियां होती हैं और ये यौगलिक अपने संतति युगल का ७६ दिवस तक पालन करने के पश्चात् काल कर भवनपति अथवा वाणव्यन्तर देवो मे उत्पन्न होते हैं।

मध्यलोक की ऊँचाई जम्बूद्वीप के समतल भाग से ६०० योजन ऊपर तक है। मध्यलोक के इस उपरितन भाग मे अर्थात् ७६० योजन की ऊँचाई से ६०० योजन की ऊँचाई तक ज्योतिर्मण्डल अथवा ज्योतिषी लोक है। ११० योजन की ऊँचाई वाले इस ज्योतिर्लोक मे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारक ये पाच प्रकार के ज्योतिषी देवों के विमान हैं। इस ज्योतिष लोक का विस्तार लोक की चारों दिशाओ एवं चारो विदिशाओ मे मेरु पर्वत के चारों ओर ११२१ योजन छोडकर लोक के अन्तिम समुद्र स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्तिम कूल से ११२१ योजन पहले तक है। ६०० योजन की ऊँचाई और स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्तिम तट से ११२१ योजन पूर्व तक विस्तार वाले इस मध्यलोक के आकाश में ७६० योजन की ऊँचाई पर सर्व प्रथम तारो के विमान है। तारों से १० योजन ऊपर सूर्य के, सूर्य से ८० योजन की ऊँचाई पर चन्द्र के, चन्द्र से ४ योजन ऊपर नक्षत्रो के, नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध के, बुध से ३ योजन ऊपर शुक्र के, शुक्र से ३ योजन ऊपर बृहस्पति के, उससे ३ योजन ऊपर मंगल के, मंगल से ३ योजन ऊपर शनि के विमान है। पाँच जाति के ज्योतिषी देवो के केवल ढाई द्वीपवर्ती विमान ही गतिशील है। ढाई द्वीप से बाहर शेष असंख्य योजन विस्तृत क्षेत्र के असख्य ज्योतिषी विमान गतिशील नही, अपितु स्थिर हैं।

ऊर्ध्व लोक

समतल भूमि से ६०० योजन तक की ऊँचाई वाले मध्यलोक से ऊपर सात राजू से कुछ अधिक ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक में बारह देवलोक, ६ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमान हैं। बारह देवलोको मे कल्पवासी देव रहते हैं। इन

देवों के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्विषी ये दश विभाग होते हैं। इसी कारण इन बारह देवलोकों को १२ कल्प के नाम से भी अभिहित किया जाता है। केवल पहले के दो देवलोकों मे ही देविया उत्पन्न होती हैं शेष मे नही। प्रथम और द्वितीय कल्प मे उत्पन्न होने वाली देवियां दो प्रकार की होती हैं– एक तो परिग्रहीता और दूसरी अपरिग्रहीता। अपरिग्रहीता देविया ऊपर के आठवें स्वर्ग तक जाती हैं। प्रथम और दूसरे स्वर्ग की परिग्रहीता देविया परिणीता कुलीन मानव स्त्रियों के समान अपने-अपने दाम्पत्य जीवन मे उन्ही देवो के साथ दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करती हैं, जिन देवो की वे परिग्रहीता देवियां हैं। प्रथम और दूसरे स्वर्ग के देव परिग्रहीता और कतिपय अपरिग्रहीता दोनों प्रकार की देवियो के साथ विषय सुख का रसास्वादन करते हुए काया से इन देवियो का उपभोग करते हैं। अतः प्रथम के इन सौधर्म एव ईशान दोनो. कल्पो के देवों को काय परिचारक देव कहा गया है। तीसरे सनत्कुमार एव चौथे माहेन्द्र कल्प के देव प्रथम तथा द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियो का स्पर्श मात्र से सेवन करते हैं, अतः तीसरे और चौथे कल्प के देवो को स्पर्श परिचारक देव कहा गया है। पाँचवें ब्रह्मलोक और छठे लान्तक कल्प, के देव प्रथम तथा द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियो का रूप मात्र देख कर ही अपनी काम-वासना की तृप्ति कर लेते हैं, अत' पांचवे और छठे देवलोक के देवो को रूप-परिचारक देव कहा गया है। सातवे सहस्रार और आठवे महाशुक्र कल्प के देव प्रथम एवं द्वितीय कल्प की अपरिग्रहीता देवियो का, उनके शब्दों (गीत-संभाषण) मात्र से सेवन करते हैं, अतः सातवें और आठवें कल्प के देवो को शब्द-परिचारक देव कहा गया है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत–क्रमशः नवें, दशवें, ग्यारहवे और बारहवें—इन चार उपरितन कल्पो के देव अपरिग्रहीता देवियो का मन मात्र से चिन्तन कर अपनी विषय वासना की तृप्ति कर लेते हैं, अत' आनत आदि ऊपर के चारों कल्पो के देवो को मन परिचारक देव कहा गया है।[1]

जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती मेरु पर्वत से दक्षिण की ओर ऊर्ध्वलोक मे तारागण, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रात्मक ज्योतिषी मण्डल से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार प्रथम सौधर्म कल्प और मेरु के उत्तरवर्ती ऊर्ध्वलोक मे

---

१ दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता त जहा–सोहम्मे चेव ईसाणे चेव। दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता त जहा-सणकुमारे चेव माहिंदे चेव। दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पण्णत्ता त जहा–बभलोए चेव लतए चेव। दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पण्णत्ता त जहा–महासुक्के चेव सहस्सारे चेव।

(टीका) आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मन परिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्यम्।

—स्थानाग ठाणा २

सौधर्मकल्प के समान ऊँचाई पर ईशान कल्प नामक द्वितीय कल्प संस्थित है। इन दोनों अर्द्ध चन्द्राकार कल्पों का आकार परस्पर मिलाने से वलयाकार बन गया है। सौधर्म कल्प में दक्षिणार्द्ध लोकपति शक्र और ईशान कल्प में उत्तरार्द्ध लोकपति ईशानेन्द्र अपने सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक आभियोगिक और किल्विषी देवों तथा अग्रमहिषियों एवं विशाल दैवी परिवार के साथ रहते हैं।

इन प्रथम दो कल्पों से कोटानुकोटि योजन ऊपर, सौधर्म कल्प के ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार सनत्कुमार नामक तीसरा कल्प और ईशानकल्प के ऊपर अर्द्ध-चन्द्राकार माहेन्द्र नामक चौथा कल्प है।

तीसरे और चौथे कल्प से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर ब्रह्मलोक नामक पाँचवां कल्प है। इसमे ब्रह्मेन्द्र नामक इन्द्र अपने विशाल देव परिवार के साथ रहता है। ब्रह्मलोक के अरिष्ट नामक विमान तक जो आठ कृष्ण राजिया आई हुई है, उनके आठ अवकाशान्तरो मे स्थित अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, (प्रभंकर, शुभंकर), चन्द्राभ, सुराभ, शुक्राभ, सुप्रतिष्ठाभ और रिष्टाभ नामक आठ लोकान्तिक विमानो मे क्रमश: सारस्वत, आदित्य, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट जाति के लोकान्तिक देव रहते हैं। ये लोकान्तिक देव महाज्ञानी और एक भवावतारी होते है। ये लोकान्तिक देव तीर्थंकरों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का विचार किये जाने पर अपने जीताचार के अनुसार उन्हें दीक्षार्थ प्रार्थना करने उनकी सेवा मे उपस्थित होते हैं। ये लोकान्तिक देवो के विमान जिन आठ कृष्णराजियो के अवकाशान्तरालों मे अवस्थित हैं, वे कृष्णराजिया एक प्रदेश की श्रेणी वाली तमस्काय है। तिर्छा-लोक मे असंख्यात द्वीप-समुद्रो के पश्चात् जो अरुणोदय समुद्र है उससे पहले के अरुणवरद्वीप की वेदिका के बहिरग भाग से ४२ लाख योजन दूर अरुणोदय सागर के पानी के ऊपर के भाग से तमस्काय का प्रारम्भ हुआ है। अरुणोदय सागर के जल से १७२१ योजन ऊपर उठ कर ऊपर की ओर उत्तरोत्तर फैलती हुई ये अष्ट कृष्णराजिया ब्रह्मकल्प नामक पाँचवें देवलोक के रिष्ट विमान तक पहुंच कर पूर्ण हुई हैं।

ब्रह्मलोक नामक पाचवें कल्प के अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर छठा लान्तक नामक कल्प, उससे अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर सातवां सहस्रार नामक कल्प और उससे कोटानुकोटि योजन ऊपर महाशुक्र नामक आठवां कल्प है। इन कल्पों में से प्रत्येक कल्प में एक-एक इन्द्र है, जो इन कल्पों के देवों का स्वामी है।

महाशुक्र नामक आठवें कल्प के अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर आनत और प्राणत नामक नवें और दशवें कल्प हैं। इन दोनों स्वर्गों का स्वामी आनत-

प्राणतेन्द्र प्राणत नामक स्वर्ग में रहता है। ये दोनों कल्प सौधर्म और ईशान कल्प के समान समभाग ऊँचाई पर अवस्थित हैं। इन दोनो मे से प्रत्येक का आकार अर्द्ध चन्द्र के समान और दोनों को मिला कर वलयाकार है। आनत एवं प्राणत कल्पों से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर आरण नामक ११वां और अच्युत नामक १२वा स्वर्ग है। ये दोनो कल्प भी अर्द्ध चन्द्राकार है और दोनों अर्द्ध चन्द्राकारों को मिला कर इन दोनों का सम्मिलित आकार वलय के तुल्य बन गया है। इन दोनो कल्पों का स्वामी भी एक ही इन्द्र है जिसे अच्युतेन्द्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

आरण एवं अच्युत कल्प से अनेक कोटानुकोटि योजन ऊपर लोक के ग्रीवा स्थान में भद्र, सुभद्र, सुजात, सौमनस, प्रियदर्शन, सुदर्शन, अमोह (अमोघ), सुप्रबुद्ध और यशोधर नामक ६ ग्रैवेयक विमानप्रस्तर है। नौ ग्रैवेयकों के निवासी सभी देव कल्पातीत अर्थात् अहमिन्द्र हैं।

नौ ग्रैवेयक विमान प्रस्तरो से बहुत ऊपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व—इन पाच दिशाओ मे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध नामक पाच अनुत्तर महाविमान हैं। इन पाँचो अनुत्तर महाविमानो के देवों की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम होती है और वे सभी देव अहमिन्द्र-कल्पातीत, सम्यग्दृष्टि और एक भवावतारी होते हैं। प्रथम कल्प से लेकर अनुत्तर विमान तक के देवों के बल, वीर्य, ओज, तेज, ऋद्धि, कान्ति, ऐश्वर्य, आयु आदि मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होती गई है।

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊँचाई पर मनुष्यलोक के ठीक ऊपर ऊर्ध्व लोक के अन्त मे पैतालीस लाख योजन विस्तार वाली गोलाकार ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है। यह पृथ्वी मध्यभाग मे ८ योजन मोटी और चारो ओर अनुक्रमश घटते-घटते अन्त में मक्षिका की पंखुडी से भी पतली रह गई है। इसका आकार चादी के छत्र के समान है। उस ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी की परिधि १,४२,३०,२४६ योजन है। इस पृथ्वी का सम्पूर्ण भूमिभाग अनुपम एवं लोक के समस्त शेष भाग की अपेक्षा परम रमणीय है। स्थानाग सूत्र में इस पृथ्वी के ईषत्, ईषत्प्राग्भारा, तन्वी, तन्वीतन्वीतरा, सिद्धि, सिद्धालया, मुक्ति और मुक्तालया ये आठ नाम और प्रज्ञापना सूत्र में इन आठ नामो के अतिरिक्त लोकाग्र, लोकाग्रस्तूपिका, लोकाग्रप्रतिवाहिनी और सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्व-सुखावहा ये १२ नाम बताये गये हैं। संसार में परिभ्रमण कराने वाले आठों कर्मों को समूल नष्ट कर जन्म-जरा मृत्यु से विमुक्त आत्माएं सिद्धगति को प्राप्त कर इस सिद्धि, सिद्धालया, मुक्ति अथवा मुक्तालया नाम की ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी पर निवास करती और अनन्तकाल तक अनन्त, अक्षय अव्याबाध निरुपम सुख का उपभोग करती हैं। इस सिद्धालय में पहुंचने के पश्चात् कोई आत्मा पुनः

कभी संसार में नही लौटता । सिद्धों को जो अनन्त, अक्षय-अव्याबाध सुख प्राप्त है, उसको प्रकट करने के लिए ससार में कोई उपमा तक नही है । त्रिकालवर्ती सब मनुष्यों एवं सब देवो के सम्पूर्ण सुखो को यदि एकत्रित किया जाय तो वे देव-मनुष्यो के सब सुख सिद्धात्मा के सुख के अनन्तानन्तवें भाग की तुलना में भी नगण्य ही ठहरेंगे । यदि सिद्धों के सुख को पुंजीभूत किया जाय तो उसको समाने मे सम्पूर्ण आकाश भी अपर्याप्त ही रहेगा । मुक्ति को छोड़ शेष समग्र लोक असंख्य प्रकार के दारुण दुःखो से ओतप्रोत है । संसारी जीव अनादि काल से चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते हुए घोरातिघोर दुस्सह दुःख भोगते चले आ रहे हैं और जब तक कोई भी जीव आठो कर्मों को नष्ट कर मुक्ति प्राप्त नही कर लेगा तब तक अनन्त काल तक भवाटवी मे भटकता हुआ घोरातिघोर दुस्सह, दारुण दुःख भोगता ही रहेगा ।

इस प्रकार तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन करते हुए प्रत्येक सुखाभिलाषी प्राणी को समस्त दुःखो का सदा सर्वदा के लिए अन्त करने और भव-भ्रमण से छुटकारा पाने हेतु आठों कर्मों के निर्मूलन एवं मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रतिपल, प्रतिक्षण प्राणपण से प्रयत्न करते रहना चाहिये । यह है लोक स्वरूप भावना नाम की दशवी भावना ।

११. बोधिदुर्लभ भावना—संसार में बोधि वस्तुतः परम दुर्लभ है। बोधि का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान, परमार्थ का ज्ञान, वास्तविक ज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्ति अथवा सब प्रकार के दुःखो का अन्त करने वाले जिनप्रणीत धर्म का बोध । जितने भी जीव सिद्ध हुए, जितने जीव सिद्ध हो रहे हैं, और जितने भी जीव भविष्य मे सिद्ध होंगे, उनकी मुक्ति मे मूलभूत कारण बोधि के होने से वह सब बोधि का ही प्रताप माना गया है । बिना बोधि अर्थात् बिना परमार्थ के ज्ञान के न कभी किसी जीव ने मुक्ति प्राप्त की है और न भविष्य मे ही प्राप्त कर सकेगा । इसीलिए शास्त्रो मे बोधि को दुर्लभ कहा गया है ।

संसारी प्राणी अनादि काल से निगोद, स्थावर, त्रस-नर, नारक, तिर्यंच, देवादि चौरासी लाख योनियो मे भटकते चले आ रहे हैं । एक-एक निगोद शरीर में अनन्त जीव हैं और उनकी सख्या भूतकाल मे जितने सिद्ध हुए हैं, उनसे अनन्तानन्त गुनी अधिक है । अनन्त काल तक निगोद मे निवास करने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से पृथ्वीकाय आदि पाच स्थावर काय मे आता है । सम्पूर्ण लोक बादर-सूक्ष्म निगोद जीवो के देहो से एव पृथ्वीकायादि पच स्थावरो से भरा पड़ा है । जिस प्रकार अथाह सागर मे गिरी हीरे की छोटी से छोटी कणिका को खोज निकालना अति दुष्कर है, उसी प्रकार अनन्त काल तक निगोद मे भटकने के पश्चात् भी पच स्थावर योनियो मे आना स्थावर योनियों से द्वीन्द्रिय योनि में, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय मे, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय में, असंज्ञी

पंचेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय योनियों में उत्पन्न होना अत्यन्त दुष्कर है। संज्ञी पंचेन्द्रिय हो कर भी यदि वह अशुभ लेश्या का धारक और रौद्र परिणाम वाला होता है तो पुनः नरक, तिर्यंच, स्थावर आदि योनियों में दीर्घ काल तक दारुण दुःखों का भागी बनता है। इस प्रकार मानव-भव मिलना बहुत कठिन है। पुण्य के प्रताप से मानव-भव भी मिल जाय तो आर्य क्षेत्र में एवं उत्तम कुल में उत्पन्न होना बड़ा कठिन है। आर्य क्षेत्र एवं उत्तम कुल में उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी सर्वांगपूर्ण सुदृढ स्वस्थ शरीर एवं दीर्घायु के साथ सत्संगति का पाना दुर्लभ है। सत्संगति मिल जाने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पाना बड़ा कठिन है। सम्यक्चारित्र को अंगीकार कर लेने के उपरान्त भी जीवन भर उसका सुचारुरूपेण निर्वहन करते हुए समाधि-मरण प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ है। मुक्ति वस्तुतः मानव शरीर से ही प्राप्त की जा सकती है। मानव शरीर प्राप्त किये बिना रत्नत्रय का आराधन, जन्म-मरण के बीजभूत कर्मों को निर्मूल करने की क्षमता एवं निर्वाण का प्राप्त करना असम्भव है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु मानव को अहर्निश इस प्रकार का चिन्तन करना—इस प्रकार की भावना भाना चाहिये कि जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य के प्रताप से मानव भव के साथ-साथ जो आर्य क्षेत्र एवं उत्तम कुल में जन्म, सत्संग तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सुयोग मिला है, इसका मुझे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। विषय-कषायों एवं क्षण विध्वंसी सांसारिक भोगोपभोगों को तिलांजलि दे समस्त कर्मों के निर्मूलन और अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुखधाम मुक्ति की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये।

इस प्रकार की भावना का नाम है बोधि दुर्लभ नामक ग्यारहवीं भावना।

१२. धर्म भावना—जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, ताड़न-तर्जन, छेदन-भेदन, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि असंख्य प्रकार के दारुण दुःखों से ओतप्रोत संसार-सागर में निमग्न प्राणिवर्ग के लिए एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत धर्म ही त्राण, सहारा अथवा सच्चा सखा है। वस्तुतः केवली-प्रणीत धर्म अनाथों का नाथ, निर्धनों का धन, असहायों का सहायक, निर्बलों का बल, अशरण्यों का शरण्य, छोटी-बड़ी सभी प्रकार की व्याधियों की एक मात्र औषध, त्रिविध ताप-संताप-पाप-कलुषकल्मष संहारकारी परमामृत है। बारह प्रकार के श्रावकधर्म और दश प्रकार के यतिधर्म को मिला कर धर्म मुख्य रूप से बाईस प्रकार का है। सम्यक्त्व मूलक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह श्रावक का बारह प्रकार का धर्म है। क्षांति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का अणगार धर्म अर्थात् यतिधर्म है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, प्रतिवासुदेव, देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि पद तथा जितने भी सांसारिक ऐश्वर्य, वैभव, सुखसाधन भोगोपभोग आदि प्राणि को प्राप्त होते हैं, वे सब धर्म के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं। दशविध

अणगारधर्म के सम्यगाराधन से ही प्राणी सब प्रकार के मूल बीजभूत आठों कर्मों को मूलत. नष्ट कर अजरामर, अक्षय, अव्याबाध अनन्त शाश्वत सुखधाम मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। अत. प्रत्येक शाश्वत सुखाभिलाषी मुमुक्षु को सदा सर्वदा केवली प्रणीत धर्म का आराधन करने मे अहर्निश निरत रहना चाहिये। यह धर्मभावना नाम की बारहवी भावना है।

जो मुमुक्षु इन बारह भावनाओ मे से किसी एक भावना का भी विशुद्ध मन से पुन पुन· उत्कट चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करता है वह सुनिश्चित रूप से शीघ्र हो शाश्वत शिवसुख का अधिकारी हो जाता है।

आचार्य विनयानन्द के मुखारविन्द से धर्म के वास्तविक स्वरूप को सुन कर राजकुमार पुरुषसिंह के अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसे संसार विषय कषायों की जाज्वल्यमान ज्वालाओ से संकुल अति विशाल भीषण भट्टी के समान महा तापसंतापकारी एव सर्वस्व को भस्मसात् कर देने वाला प्रतीत होने लगा। राजकुमार पुरुषसिंह ने हाथ जोड मस्तक झुकाते हुए आचार्य विनयानन्द से निवेदन किया—"भगवन्! आपने धर्म का जो सुन्दर स्वरूप बताया है, उससे मेरे घट के पट खुल गये हैं। भवसागर की भयावहता से मैं भयभीत हो रहा हूं। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि सर्वात्मना—सर्वभावेन आपके चरणो पर अपना जीवन समर्पित कर सब दुःखों का अन्त एवं अक्षय अनन्त शाश्वत सुख प्रदान करने वाले धर्म का आराधन करू। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप मुझे श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर अपने चरणों की शीतल छाया मे शरण दें।"

आचार्य विनयानन्द ने कहा—"सौम्य! तुम्हारा संकल्प अत्युत्तम है। माता-पिता आदि गुरुजनो से परामर्श पूर्वक आज्ञा प्राप्त कर तुम श्रमण धर्म में दीक्षित हो सकते हो।"

राजकुमार पुरुषसिंह ने तत्काल अपने माता-पिता के पास उपस्थित हो उनके समक्ष अपना अटल निश्चय रखा और उनसे अनुमति ले आचार्य विनयानन्द के पास श्रमण धर्म मे दीक्षित हो गया। श्रमणधर्म अंगीकार करने के पश्चात् अणगार पुरुषसिंह ने गुरुचरणो मे बैठ कर बड़ी निष्ठा से आगमों का अध्ययन किया और उनमे निष्णातता प्राप्त की। मुनि पुरुषसिंह ने सुदीर्घ काल तक निरतिचार संयम का पालन करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कराने वाले बीस बोलों मे से कतिपय बोलों की उत्कट आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त मे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की आयुष्य वाले महर्द्धिक अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्म

वैजयन्त विमान की स्थिति पूर्ण हो जाने पर श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में पुरुषसिंह का जीव वैजयन्त विमान से च्युत हुआ और अयोध्यापति महाराज मेघ की रानी मंगलावती के गर्भ मे आया। तत्पश्चात् माता मंगलावती गर्भ-सूचक चौदह शुभ स्वप्न देखकर परम प्रसन्न हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी को मध्य रात्रि के समय मघा नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

पुण्यशाली पुरुषो का जन्म किसी खास कुल या जाति के लिए नही होता। वे तो विश्व के लिए उत्पन्न होते है अत. उनकी खुशी और प्रसन्नता भी सारे संसार को होती है। फिर जन्म की नगरी मे इस जन्म से आनन्द और हर्ष का अतिरेक होना स्वाभाविक ही था।

महाराज मेघ ने जन्मोत्सव की खुशी में दश दिनो तक नागर-जनो के आमोद-प्रमोद के लिए सारी सुविधाएं प्रदान की।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के लिए स्वजन एवं बान्धवों को एकत्र कर महाराज मेघ ने कहा—"बालक के गर्भ मे रहते समय इसकी माता ने बड़ी-बड़ी उलझी हुई समस्याओ का भी अनायास ही अपनी सन्मति से हल ढूंढ निकाला, अत इसका नाम सुमतिनाथ रखना ठीक जचता है।"

सबके पूछने पर महाराज ने रानी की सन्मति के उदाहरणस्वरूप निम्न घटना सबके सामने रखी।

एक बार किसी सेठ की दो पत्नियों में अपने एक शिशु को लेकर कलह उत्पन्न हो गया। सेठ व्यवसाय के प्रसंग मे शिशु को दोनों माताओं की देख-रेख मे छोड़कर देशान्तर गया हुआ था। वहा उसकी मृत्यु हो गई। इधर शिशु की विमाता माता से भी बढ़कर बच्चे का लालन-पालन करती थी। आपस मे प्रेम की अधिकता से पुत्र की माता लाड़-प्यार के कार्य में सौत को दखल नही देती। बालक दोनों को बराबर मानता था, उसके निर्मल और निश्छल मानस मे माता और विमाता का भेदभाव नही था।

जब सेठ के मरने की सूचना मिली तो विमाता ने पुत्र और धन दोनों पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया। बालक की माता भला ऐसे निराधार अधिकार को चुपचाप कैसे सहन कर लेती? फलत: दोनो का विवाद निर्णय के लिए राजा मेघ के पास पहुंचा। बच्चे के रंग, रूप और आकार-प्रकार से महाराज किसी

उचित निर्णय पर नहीं पहुंच सके और इसी ऊहापोह में उन्हें भोजन के लिए जाने मे देर हो गई।

जब रानी सुमंगला को यह पता लगा तो वह महाराज के पास आयी और बोली—"स्वामिन्! आज भोजन मे इतनी देर क्यों?"

जब महाराज ने सारी कथा कह सुनायी तो सुमंगला बोली—"महाराज! आप भोजन और आराम करें। मैं शीघ्र ही इस समस्या का हल निकाल देती हूं।"

ऐसा कह कर उसने दोनो सेठानियो को बुलाकर उनकी बातें सुनी और बोलीं—"मेरे गर्भ मे तीन ज्ञान का धारक अतिशय पुण्यवान् प्राणी है। वह जन्म लेकर तुम्हारे इस विवाद का निर्णय कर देगा, तब तक बच्चे को मेरे पास रहने दो। मैं सब तरह से इसकी देखभाल और लालन-पालन करती रहूंगी।"

इस पर विमाता बोली—"ठीक है, आप इसे अपने पास निर्णय होने तक रखे, मुझे आपकी शर्त स्वीकार है।"

मगर जननी का हृदय अपने प्राणप्रिय पुत्र के इस निरवधि-वियोग के दारुण दुःख को कैसे सहन कर लेता? वह जोरो से चीख उठी—"नही, मुझे आपकी यह शर्त स्वीकार नही है। मैं अपने नयन-तारे को इतने समय तक अपने से अलग रखना पसन्द नही करूंगी। मैं अपने प्राण त्याग सकती हूं किन्तु पुत्र का क्षणिक त्याग भी मेरे लिये असह्य है।"

रानी सुमगला ने उसकी बातों से समझ लिया कि पुत्र इस ही का है। क्योंकि कोई भी जननी अपने अंश को परवशता के बिना अपने से अलग रखना स्वीकार नही कर सकती। इसी आधार पर उन्होने धन सहित पुत्र की वास्तविक अधिकारिणी उस ही को माना। इस तरह रानी ने इस विकट समस्या का समाधान अपनी सद्बुद्धि से कर दिया।[1]

यह सुन कर उपस्थित जनों ने एक स्वर से कुमार का नाम सुमतिनाथ रखने में अपनी सम्मति दे दी। इस प्रकार कुमार का नाम सुमतिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

युवावस्था में प्रविष्ट होने पर महाराज मेघ ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण कराया। उनतीस लाख पूर्व वर्षों तक राज्य-पद का उपभोग कर जब उन्होने भोग कर्म को क्षीण हुआ समझा तो संयम धर्म के लिए तत्पर हो गये।

---

१ गब्भगते भट्टारए माताए दोण्हं सवत्तीणं छम्मासितो ववहारो छिण्णो एत्थं असोगवर पादवे एस मम पुत्तो महामती छिंदिहिति, ताए जावत्ति भणिताओ, इतरी भणिति एवं होतु, पुत्तमाता णेच्छतित्ति णातूणं, छिण्णो एतस्स गब्भगतस्स गुणेणंति सुमति जातो ॥ आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृ० १०

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ आप दीक्षार्थ निकले और वैशाख शुक्ला नवमी के दिन मघा नक्षत्र में सिद्धों को नमस्कार कर प्रभु ने पंचमुष्टिक लोच किया और सर्वथा पापकर्म का त्याग कर मुनि बन गये।

उस समय आपको षष्टभक्त—दो दिन का निर्जल तप था। दूसरे दिन विहार कर प्रभु विजयपुर पधारे और वहां के महाराज पद्म के यहां तप का प्रथम पारणा स्वीकार किया।

केवलज्ञान व देशना

बीस वर्षों तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ दशा मे विचरे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से बड़ी कर्म निर्जरा की। फिर सहस्राम्र वन में पधार कर ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान की प्रकर्षता से चार घातिक कर्मों के ईन्धन को जला कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की।

केवलज्ञान की प्राप्ति कर प्रभु ने देव, दानव और मानवों की विशाल सभा में मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

इनके संघ में निम्न परिवार था :—

गणधर	— एक सौ (१००)
केवली	— तेरह हजार (१३,०००)
मनः पर्यवज्ञानी	— दस हजार चार सौ पचास (१०,४५०)
अवधिज्ञानी	— ग्यारह हजार (११,०००)
चौदह पूर्वधारी	— दो हजार चार सौ (२,४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	— अठारह हजार चार सौ (१८,४००)
वादी	— दस हजार छ सौ पचास (१०,६५०)
साधु	— तीन लाख बीस हजार (३,२०,०००)
साध्वी	— पांच लाख तीस हजार (५,३०,०००)
श्रावक	— दो लाख इक्यासी हजार (२,८१,०००)
श्राविका	— पांच लाख सोलह हजार (५,१६,०००)

परिनिर्वाण

चालीस लाख पूर्व की आयु में से प्रभु ने दस लाख पूर्व तक कुमारावस्था, उनतीस लाख ग्यारह पूर्वांग राज्यपद, बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक चारित्र-पर्याय का पालन किया, फिर अन्त समय निकट जान कर एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो निर्वाण-पद प्राप्त किया। □□

भगवान् श्री पद्मप्रभ

पूर्वभव

भगवान् सुमतिनाथ के पश्चात् छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी हुए। अन्य तीर्थंकरो की तरह आपने भी राजा अपराजित के भव मे तीर्थंकर पद की विशिष्ट योग्यता उपार्जित की।

सुसीमा नगरी के महाराज अपराजित ऐसे धर्मपूर्ण व्यवहार वाले थे कि जैसे सदेह धर्म ही हो। इन्हे न्याय ही मित्र, धर्म ही बन्धु और गुण-समूह ही सच्चा धन प्रतीत होता था। अन्य मित्र, बन्धु और धन आदि बाहरी साधनो मे उनकी प्रीति नही थी।

एक दिन भूपति ने सोचा कि ये बाह्य साधन जब तक मुझको नही छोड़े तब तक पुरुषार्थ का बल बढ़ाकर मैं ही इनको त्याग दू तो श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार विचार करके उन्होने पिहिताश्रव मुनि के चरणों मे संयम ग्रहण कर लिया और अर्हद्-भक्ति आदि स्थानो की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय मे समाधि के साथ आयु पूर्ण कर वे ३१ सागर की परम स्थिति वाले ग्रैवेयक देव हुए।

जन्म

देव भव की स्थिति पूर्ण कर अपराजित के जीव ने कोशाम्बी नगरी के महाराजा धर के यहां तीर्थंकर रूप मे जन्म लिया। वह माघ कृष्णा षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र मे देवलोक से च्यवन कर माता सुसीमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी सुसीमा ने चौदह महाशुभस्वप्न देखे।

फिर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन चित्रा नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। जन्म के प्रभाव से लोक मे सर्वत्र शान्ति और हर्ष की लहर दौड़ गई।

नामकरण

गर्भ काल मे माता को पद्म (कमल) की शय्या मे सोने का दोहद उत्पन्न हुआ और बालक के शरीर की प्रभा पद्म के समान थी, इसलिए इनका नाम पद्मप्रभ रक्खा गया।[1]

---

१ "गब्भत्थे य भगवम्मि जणणीए पउमसयणीयम्मि दोहलो आसि' त्तितेण भगवमं जहत्थमेव पउमप्पभो' त्तिणाम कय।" चउप्पन महापुरिस चरिय, पृ० ८३

पद्मवर्णं पद्मचिन्हं, सा देवी सुषुवे सुत। त्रि ३।४।३८

पद्मशय्या दोहदोऽस्मिन् यम्मातुर्गर्भगेऽभवत्।

पद्माभश्चैष्यमु पद्मप्रभ इत्याह्वयत् पिता। त्रि. ३।४।५१

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब पद्मप्रभ ने यौवन मे प्रवेश किया तब महाराजा धर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया।

आठ लाख वर्ष पूर्व कुमार पद मे रहकर आपने राज्य-पद ग्रहण किया। इक्कीस लाख पूर्व से अधिक राज्य-पद पर रहकर इन्होने न्याय-नीति से प्रजा का पालन किया और नीति-धर्म की शिक्षा दी।

दीक्षा और पारणा

दीर्घकाल तक राज्य सुख का उपभोग कर जब देखा कि भोगावली कर्म-क्षीण हो गये है, तो प्रभु मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

लोकान्तिक देवो की प्रार्थना से एक वर्ष तक दान देकर प्रभु ने कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन षष्ठभक्त—दो दिन के निर्जल तप से विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। उस समय राजन्य आदि वर्गों के एक हजार पुरुषो ने आपके संग दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन ब्रह्मस्थल के महाराज सोमदेव के यहा प्रभु का पारणा हुआ। देवो द्वारा दान की महिमा हेतु पच दिव्य बरसाये गये।

केवलज्ञान

आप छ. मास तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थ चर्या मे विचरे और फिर विहार क्रम से सहस्राम्र वन मे आए। मोह कर्म को तो प्रभु प्राय. क्षीण कर चुके थे। फिर शेष कर्मों की निर्जरा के लिये षष्ठभक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर आपने शुक्लध्यान से घातिकर्मों का क्षय किया और चैत्र सुदी पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र मे केवलज्ञान प्राप्त किया।

घाती कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के बाद प्रभु ने धर्म-देशना देकर चतुर्विध सघ की स्थापना की एव आप अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य) के धारक होकर लोकालोक के ज्ञाता, द्रष्टा, उपदेष्टा और भाव-तीर्थंकर हो गये।

धर्म परिवार

आपके धर्म परिवार की सख्या निम्न है :—

गणधर — एक सौ सात (१०७)
केवली — बारह हजार (१२,०००)

मन:पर्यवज्ञानी	—	दस हजार तीन सौ (१०,३००)
अवधिज्ञानी	—	दस हजार (१०,०००)
चौदह पूर्वधारी	—	दो हजार तीन सौ (२,३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	सोलह हजार आठ सौ (१६,८००)
वादी	—	नौ हजार छः सौ (९,६००)
साधु	—	तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
साध्वी	—	चार लाख बीस हजार (४,२०,०००)
श्रावक	—	दो लाख छिहत्तर हजार (२,७६,०००)
श्राविका	—	पाच लाख पांच हजार (५,०५,०००)

परिनिर्वाण

केवली बन कर प्रभु ने बहुत वर्षों तक संसार को कल्याणकारी मार्ग की शिक्षा दी।

फिर जब अन्त में आयुकाल निकट देखा तब एक मास का अनशन कर मंगसिर बदी एकादशी के दिन[1] चित्रा नक्षत्र मे सम्पूर्ण योगो का निरोध कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

आपकी कुल आयु तीस लाख पूर्व की थी जिसमें सोलह पूर्वांग कम साढ़े सात लाख पूर्व तक कुमार रहे, साढ़े इक्कीस लाख पूर्व तक राज्य किया और कुछ कम एक लाख पूर्व तक चारित्र धर्म का पालन कर प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।

□ □ □

भगवान् श्री सुपार्श्वनाथ

पूर्वभव

भगवान् पद्मप्रभ के बाद सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ हुए । क्षेमपुरी के महाराज नन्दिसेन के भव मे इन्होंने त्याग एवं तप की उत्कृष्ट साधना की ।

आचार्य अरिदमन के पास संयम ले इन्होंने बीस स्थानों की आराधना की एवं तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया और अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर आप छठे ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए ।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर नन्दिसेन का जीव भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में वाराणसी नगरी के महाराज प्रतिष्ठसेन की रानी पृथ्वी की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि को महारानी पृथ्वीदेवी ने महापुरुष के जन्म-सूचक चौदह मंगलकारी शुभ-स्वप्न देखे ।

विधिपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर माता ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा नक्षत्र मे सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के समय महाराज प्रतिष्ठसेन ने सोचा कि गर्भकाल मे माता के पार्श्व-शोभन रहे, अत. बालक का नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा जाय ।[1] इस तरह से आपका नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा गया ।

विवाह और राज्य

शैशव के पश्चात् महाराज प्रतिष्ठसेन ने उनका योग्य कन्याओं से पाणिग्रहण करवाया और राज्य-पद से उन्हें सुशोभित किया ।

चौदह लाख पूर्व कुछ अधिक समय तक प्रभु राज्य-श्री का उपभोग करते हुए प्रजाजनो को नीति-धर्म की शिक्षा देते रहे ।

दीक्षा और पारणा

फिर राज्य-काल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण देखा तो संयम-ग्रहण की इच्छा की ।

आपने लोकान्तिक देवो की प्रार्थना पर वर्ष भर दान देने के पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा के लिए

---

१ भयवम्मि य गब्भगए जणणी आया सुपासत्ति तओ भगवओ सुपासत्तिणाम कयं । च महापुरिस च., पृ ८६

निष्क्रमण किया। षष्ठभक्त की तपस्या के साथ उद्यान मे पहुच कर प्रभु ने पंच-मुष्टि लोच करके सर्वथा पापो का त्याग कर, मुनिव्रत ग्रहण किया।

दूसरे दिन पाटलिखण्ड नगर के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहा उनका पारणा सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

नव मास तक विविध प्रकार का तप करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या में विचरते रहे। फिर उसी सहस्राम्र वन में आकर शुक्लध्यान में स्थित हो गए।

ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर, फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र मे प्रभु ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्राप्त किया।

केवली बनकर देव-मनुजो की विशाल परिषद् मे प्रभु ने धर्म-देशना दी और जड़ और चेतन का भेद समझाते हुए फरमाया कि दृश्य जगत् की सारी वस्तुएं, यहां तक कि तन भी अपना नहीं है। तन, धन, परिजन आदि बाह्य वस्तुओं को अपना मानना ही दुःख का मूल कारण है।

उनके इस प्रकार के सदुपदेश से सहस्रों नर-नारी संयम-धर्म के आराधक बने और प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भाव-अरिहन्त पद को प्राप्त किया।

धर्म परिवार

प्रभु के संघ में निम्न परिवार था :—

गण एवं गणधर	— पिच्यानवे (९५) जिनमे मुख्य विदर्भजी थे।
केवली	— ग्यारह हजार (११,०००)
मन:पर्यवज्ञानी	— नौ हजार एक सौ पचास (९,१५०)
अवधिज्ञानी	— नौ हजार (९,०००)
चौदह पूर्वधारी	— दो हजार तीन सौ पचास (२,३५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	— पन्द्रह हजार तीन सौ (१५,३००)
वादी	— आठ हजार चार सौ (८,४००)
साधु	— तीन लाख (३,००,०००)
साध्वी	— चार लाख तीस हजार (४,३०,०००)
श्रावक	— दो लाख सत्तावन हजार (२,५७,०००)
श्राविका	— चार लाख तिरानवे हजार (४,९३,०००)

परिनिर्वाण

बीस लाख पूर्व की कुल आयु में से पांच लाख पूर्व कुमार अवस्था में, चौदह लाख कुछ अधिक पूर्व राज्य-पद पर और बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक सम्यक् चारित्र का पालन कर जब आपने अपना अन्त समय निकट समझा तो एक मास का अनशन कर पांच सौ मुनियों के साथ चार अघाति-कर्मों का क्षय करके फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

□ □ □

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

भगवान् सुपार्श्वनाथ के बाद आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ स्वामी हुए।

पूर्वभव

धातकीखण्ड में मंगलावती नगरी के महाराज पद्म के भव में इन्होंने उच्च योगों की साधना की, फलतः इनको वैराग्य हो गया और उन्होंने युगन्धर मुनि के पास संयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक चारित्र-धर्म का पालन करते हुए बीस स्थानों की आराधना की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर ये विजय-विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

विजय विमान से निकल कर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहाँ गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ। महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि में परम सुखदायी फलदायक चौदह शुभ स्वप्न देखे।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौष कृष्णा (द्वादशी) एकादशी के दिन[1] अनुराधा नक्षत्र में अर्द्ध रात्रि के समय पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव-देवेन्द्र ने अति-पाण्डु-कम्बल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक बड़े उल्लास एव उत्साहपूर्वक मनाया।

नामकरण

महाराज महासेन ने जन्म-महोत्सव के बाद बारहवें दिन नामकरण के लिये मित्रजनों को एकत्र कर कहा—"बालक की माता ने गर्भकाल में चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की और इस बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी है, अतः बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है।"[2]

---

१ शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार जन्मतिथि पौष कृष्णा १२ मानी गई है। त्रि.ष.३।६।३२

२ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहदः।
चन्द्राभश्चैव इत्याह्वच्चन्द्रप्रभममुं पिता ॥ त्रि. श. पु च. ३।६।४१

(ख) पिउणा य 'चवप्पहसमाणो' ति कलिऊण चंदप्पहो त्ति णामं कयं भगवओ ॥
च. म. पु. च., ८८

विवाह और राज्य

युवावस्था सम्पन्न होने पर राजा ने उत्तम राजकन्याओं से प्रभु का पाणिग्रहण करवाया।

ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर रह कर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छः लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीति-धर्म का प्रसार करते रहे। इनके राज्य-काल में प्रजा सब तरह से सुख-सम्पन्न और कर्त्तव्य-मार्ग का पालन करती रही।

दीक्षा और पारणा

संसार के भोग्य-कर्म क्षीण हुए जानकर प्रभु ने मुनि-दीक्षा का संकल्प किया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ षष्ट-भक्त की तपस्या से इनका निष्क्रमण हुआ।

पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में सम्पूर्ण पाप-कर्मों का परित्याग कर प्रभु ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दूसरे दिन पद्मखण्ड के सोमदत्त राजा के यहां क्षीरान्न से प्रभु का पारणा हुआ। देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

तीन मास तक छद्मस्थ-चर्या में विचर कर फिर प्रभु सहस्राम्र वन में पधारे। वहां प्रियंगु वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान में ध्यानावस्थित हो गये। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का क्षय कर, प्रभु ने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

फिर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुत व चारित्र-धर्म की देशना देकर भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय में रहकर प्रभु ने लाखों जीवों का कल्याण किया।

धर्म परिवार

यों तो महापुरुषों का परिवार "वसुधैव कुटुम्बकम्" होता है, फिर भी व्यवहारदृष्ट्या उनके उपदेशों का पालन एवं प्रसार करने वाले अधिक कृपापात्र होने से उनके धर्म-परिवार में गिने गये हैं जो इस प्रकार हैं :—

गण एवं गणधर	– तिरानवे (९३) दत्त आदि
केवली	– दस हजार (१०,०००)
मन:पर्यवज्ञानी	– आठ हजार (८,०००)
अवधि ज्ञानी	– आठ हजार (८,०००)

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

भगवान् सुपार्श्वनाथ के बाद आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ स्वामी हुए।

पूर्वभव

धातकीखण्ड में मंगलावती नगरी के महाराज पद्म के भव में इन्होंने उच्च योगों की साधना की, फलतः इनको वैराग्य हो गया और उन्होंने युगन्धर मुनि के पास संयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक चारित्र-धर्म का पालन करते हुए बीस स्थानो की आराधना की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर ये विजय-विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

विजय विमान से निकल कर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहाँ गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि में परम सुखदायी फलदायक चौदह शुभ स्वप्न देखे।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौष कृष्णा (द्वादशी) एकादशी के दिन[१] अनुराधा नक्षत्र में अर्द्ध रात्रि के समय पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव-देवेन्द्र ने अति-पाण्डु-कम्बल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक बड़े उल्लास एवं उत्साहपूर्वक मनाया।

नामकरण

महाराज महासेन ने जन्म-महोत्सव के बाद बारहवें दिन नामकरण के लिये मित्रजनो को एकत्र कर कहा—"बालक की माता ने गर्भकाल में चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की और इस बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी है, अतः बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है।"[२]

---

१ शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार जन्मतिथि पौष कृष्णा १३ मानी गई है। त्रि ष.३।६।३२

२ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहद.।
चन्द्राभश्चैष इत्याह्वच्चन्द्रप्रभममुं पिता ॥ त्रि. श. पु. च. ३।६।४१

(ख) पिउणा य 'चवप्पहसमाणो' त्ति कलिऊण चवप्पहो त्ति णामं कय भगवओ ॥
च म पु च., ८८

विवाह और राज्य

युवावस्था सम्पन्न होने पर राजा ने उत्तम राजकन्याओं से प्रभु का पाणिग्रहण करवाया।

ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर रह कर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छः लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीति-धर्म का प्रसार करते रहे। इनके राज्य-काल में प्रजा सब तरह से सुख-सम्पन्न और कर्त्तव्य-मार्ग का पालन करती रही।

दीक्षा और पारणा

संसार के भोग्य-कर्म क्षीण हुए जानकर प्रभु ने मुनि-दीक्षा का संकल्प किया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ षष्ट-भक्त की तपस्या से इनका निष्क्रमण हुआ।

पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में सम्पूर्ण पाप-कर्मों का परित्याग कर प्रभु ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दूसरे दिन पद्मखण्ड के सोमदत्त राजा के यहां क्षीरान्न से प्रभु का पारणा हुआ। देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

तीन मास तक छद्मस्थ-चर्या में विचर कर फिर प्रभु सहस्राम्र वन में पधारे। वहां प्रियंगु वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान में ध्यानावस्थित हो गये। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का क्षय कर, प्रभु ने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

फिर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुत व चारित्र-धर्म की देशना देकर भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय में रहकर प्रभु ने लाखों जीवों का कल्याण किया।

धर्म परिवार

यों तो महापुरुषों का परिवार "वसुधैव कुटुम्बकम्" होता है, फिर भी व्यवहारदृष्ट्या उनके उपदेशों का पालन एवं प्रसार करने वाले अधिक कृपापात्र होने से उनके धर्म-परिवार में गिने गये हैं जो इस प्रकार हैं :—

गण एवं गणधर	— तिरानवे (९३) दत्त आदि
केवली	— दस हजार (१०,०००)
मन:पर्यवज्ञानी	— आठ हजार (८,०००)
अवधि ज्ञानी	— आठ हजार (८,०००)

चौदह पूर्वधारी	– दो हजार (२,०००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– चौदह हजार (१४,०००)
वादी	– सात हजार छः सौ (७,६००)
साधु	– दो लाख पचास हजार (२,५०,०००)
साध्वी	– तीन लाख अस्सी हजार (३,८०,०००)
श्रावक	– दो लाख पचास हजार (२,५०,०००)
श्राविका	– चार लाख इकरानवे हजार (४,९१,०००)

परिनिर्वाण

जिस समय प्रभु ने अपने जीवनकाल का अन्त निकट देखा उस समय सम्मेद शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और अयोगी दशा में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया

इनकी कुल आयु दस लाख पूर्व वर्षों की थी, जिसमें ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद और साढ़े छः लाख पूर्व तक राज्य-पद पर रहे तथा कुछ कम एक लाख पूर्व तक प्रभु ने चारित्र-धर्म का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त किया।

□ □ □

भगवान् श्री सुविधिनाथ

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के पश्चात् नौवें तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ हुए। इन्हें पुष्पदन्त भी कहा जाता है।

पूर्वभव

पुष्कलावती विजय के भूपति महापद्म के भव में इन्होंने संसार से विरक्त होकर मुनि जगन्नन्द के पास दीक्षा ग्रहण की और उच्चकोटि की तप-साधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में अनशनपूर्वक काल कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

काकन्दी नगरी के महाराज सुग्रीव इनके पिता और रामादेवी इनकी माता थी।

वैजयन्त विमान से निकलकर महापद्म का जीव फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में माता रामादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि में चौदह मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महाराज से स्वप्न-फल सुनकर महारानी हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण कर माता ने मंगसिर कृष्णा पचमी को मध्यरात्रि के समय मूल नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता व नरेन्द्र-देवेन्द्रों ने जन्मोत्सव की खुशियां मनाईं। दस दिनों तक नगर में आमोद-प्रमोद का मंगल वातावरण बना रहा।

नामकरण

नामकरण के समय महाराजा सुग्रीव ने सोचा कि बालक के गर्भकाल में माता सब विधियों में कुशल रही, इसलिये इसका नाम सुविधिनाथ और गर्भ-काल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः पुष्पदन्त रखा जाय। इस प्रकार सुविधिनाथ और पुष्पदत प्रभु के ये दो नाम प्रख्यात हुए।[1]

---

1 कुशला सर्वविधिषु गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्यभूत्
पुष्पदोहदतो दन्तोद्गमोऽस्यसममूदिति।
सुविधि पुष्पदन्तश्चेत्यभिधानद्वय विभो। महोत्सवेन चक्राते, पितरौ दिवसे शुभे।
त्रि० ३ प ७ स० ४६।५०

विवाह और राज्य

दो लाख पूर्व की आयु मे चौथा भाग अर्थात् पचास हजार पूर्व का समय बीतने पर महाराज सुग्रीव ने योग्य कन्याओ से इनका पाणिग्रहण करवाया तथा योग्य जानकर: राज्य पद पर भी अभिषिक्त कर दिया। कुछ अधिक पचास हजार पूर्व तक प्रभु ने अलिप्त भाव से लोक हितार्थ कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन किया।

दीक्षा और पारणा

राज्यकाल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण होते देखा तब संयम ग्रहण करने की इच्छा की।

लोकान्तिक देवो ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षीदान देकर प्रभु ने भी एक हजार राजाओ के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मगसिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सूरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्राम्र वन में पहुचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होने मन.पर्यवज्ञान प्राप्त किया।

दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा हुआ और देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

चार मास तक प्रभु विविध कष्टो को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। फिर उसी उद्यान मे आकर प्रभु ने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्ल ध्यान से घातिकर्मों का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवो की महती सभा में प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और वे चतुर्विध संघ की स्थापना कर, भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

प्रभु के सघ मे निम्न गणधरादि हुए :—

गणधर	—	अठ्यासी (८८) वाराहजी आदि।
केवली	—	सात हजार पांच सौ (७,५००)
मन:पर्यवज्ञानी	—	सात हजार पांच सौ (७,५००)
अवधि ज्ञानी	—	आठ हजार चार सौ (८,४००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार पाच सौ (१,५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	तेरह हजार (१३,०००)

वादी	–	छः हजार (६,०००)
साधु	–	दो लाख (२,००,०००)
साध्वी	–	एक लाख बीस हजार (१,२०,०००)
श्रावक	–	दो लाख उन्तीस हजार (२,२६,०००)
श्राविका	–	चार लाख बहत्तर हजार (४,७२,०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन कर जब प्रभु ने अपना आयु-काल निकट समझा तब एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर एक मास का अनशन धारण किया, फिर योगनिरोध करते हुए चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

कहा जाता है कि कालदोष से सुविधिनाथ के बाद साधुकर्म का विच्छेद हो गया और श्रावक लोग इच्छानुसार दान आदि धर्म का उपदेश करने लगे। सभव है यह काल ब्राह्मण सस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख समय रहा हो।

□ □ □

विवाह और राज्य

दो लाख पूर्व की आयु मे चौथा भाग अर्थात् पचास हजार पूर्व का समय बीतने पर महाराज सुग्रीव ने योग्य कन्याओ से इनका पाणिग्रहण करवाया तथा योग्य जानकर राज्य पद पर भी अभिषिक्त कर दिया। कुछ अधिक पचास हजार पूर्व तक प्रभु ने अलिप्त भाव से लोक हितार्थ कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन किया।

दीक्षा और पारणा

राज्यकाल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण होते देखा तब संयम ग्रहण करने की इच्छा की।

लोकान्तिक देवो ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षीदान देकर प्रभु ने भी एक हजार राजाओ के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मगसिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सूरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्राम्र वन में पहुंचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होने मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया।

दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा हुआ और देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

चार मास तक प्रभु विविध कष्टो को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। फिर उसी उद्यान मे आकर प्रभु ने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्ल ध्यान से घातिकर्मों का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र मे केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवो की महती सभा में प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और वे चतुर्विध सघ की स्थापना कर, भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

प्रभु के सघ मे निम्न गणधरादि हुए :—

गणधर	—	अठ्यासी (८८) वाराहजी आदि।
केवली	—	सात हजार पाच सौ (७,५००)
मनःपर्यवज्ञानी	—	सात हजार पांच सौ (७,५००)
अवधि ज्ञानी	—	आठ हजार चार सौ (८,४००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार पाच सौ (१,५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	तेरह हजार (१३,०००)

वादी	–	छः हजार (६,०००)
साधु	–	दो लाख (२,००,०००)
साध्वी	–	एक लाख बीस हजार (१,२०,०००)
श्रावक	–	दो लाख उन्तीस हजार (२,२६,०००)
श्राविका	–	चार लाख बहत्तर हजार (४,७२,०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन कर जब प्रभु ने अपना आयु-काल निकट समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर एक मास का अनशन धारण किया, फिर योगनिरोध करते हुए चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

कहा जाता है कि कालदोष से सुविधिनाथ के बाद साधुकर्म का विच्छेद हो गया और श्रावक लोग इच्छानुसार दान आदि धर्म का उपदेश करने लगे। सम्भव है यह काल ब्राह्मण संस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख समय रहा हो।

□ □ □

भगवान् श्री शीतलनाथ

भगवान् श्री सुविधिनाथ के बाद भगवान् श्री शीतलनाथ दसवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव

सुसीमा नगरी के महाराज पद्मोत्तर के भव में बहुत वर्षों तक राज्य का उपभोग कर इन्होंने 'अस्ताघ' नाम के आचार्य के पास संयम ग्रहण किया और विशिष्ट प्रकार की तप: साधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में अनशन की आराधना से काल प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

जन्म

भद्दिलपुर के राजा दृढ़रथ इनके पिता और नन्दादेवी इनकी माता थीं। वैशाख कृष्णा षष्ठी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्राणत स्वर्ग से च्यव कर पद्मोत्तर का जीव नन्दादेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी उसी रात्रि को महा मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर जागृत हुईं। उसने महाराज के पास जाकर उन स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर में यह सुनकर कि वह एक महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म देने वाली है, महारानी अत्यधिक प्रसन्न हुई।

गर्भकाल के पूर्ण होने पर माता नन्दा ने माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्म से अखिल विश्व मे शान्ति एवं आनन्द की लहर फैल गई। महाराज दृढ़रथ ने मन खोलकर जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण

बालक के गर्भकाल में महाराज दृढरथ के शरीर में भयंकर दाह-ज्वर की पीडा थी जो विभिन्न उपचारों से भी शान्त नही हुई, पर एक दिन नन्दादेवी के कर-स्पर्श मात्र से वह वेदना शान्त हो गई और तन, मन में शीतलता छा गई। अत. सबने मिलकर बालक का नाम शीतलनाथ रखा।[1]

---

१ राज्ञ. सन्तप्तमप्यग, नन्दास्पर्शेन शीत्यभूत्।
गर्भस्थेऽस्मिन्निति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत् ।। त्रिष० ३।८।४७

विवाह और राज्य

हर्ष और उल्लास के वातावरण में शैशवकाल पूर्ण कर जब इन्होने यौवनावस्था में प्रवेश किया, तब माता-पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण संस्कार किया गया।

पच्चीस हजार पूर्व तक कुंवर पद पर रहकर फिर पिता के अत्याग्रह से प्रभु ने निर्लेप भाव से राज्यपद लेकर शासन का सम्यक् रूप से संचालन किया। पचास हजार पूर्व तक राज्यपद पर रहने के पश्चात् जब भोगावली कर्म का भोग पूर्ण हुआ, तब प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की।

दीक्षा और प्रथम पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ होकर प्रभु सहस्राम्र वन में पहुंचे और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में षष्ठ-भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर मुनि बन गये।

श्रमण-दीक्षा लेते ही इन्होंने मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया। दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराज पुनर्वसु के यहां परमान्न से इनका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच-दिव्य प्रकट करके दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

विविध प्रकार के परिषहों को सहन करते हुए तीन मास छद्मस्थ-चर्या के बिताकर फिर प्रभु सहस्राम्र वन पधारे और प्लक्ष [पीपल] वृक्ष के नीचे शुक्ल-ध्यान में स्थित हो गये। शुक्ल ध्यान से ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर प्रभु ने पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर मानवों की विशाल सभा में धर्मदेशना दी। संसार के नश्वर पदार्थों की प्रीति को दुःखजनक बतलाकर उन्होंने मोक्ष-मार्ग में यत्न करने की शिक्षा दी और चतुर्विध-संघ की स्थापना कर, आप भावतीर्थंकर कहलाए।

धर्म परिवार

भगवान् शीतलनाथ के संघ में निम्न गणधर आदि हुए :—

गण एवं गणधर	— इक्यासी (८१)
केवली	— सात हजार (७,०००)

मन पर्यवज्ञानी	–	सात हजार पांच सौ (७,५००)
अवधिज्ञानी	–	सात हजार दो सौ (७,२००)
चौदह पूर्वधारी	–	एक हजार चार सौ (१,४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	बारह हजार (१२,०००)
वादी	–	पांच हजार आठ सौ (५,८००)
साधु	–	एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	–	एक लाख और छः (१,००,००६)
श्रावक	–	दो लाख नव्वासी हजार (२,८९,०००)
श्राविका	–	चार लाख अट्ठावन हजार (४,५८,०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम पच्चीस हजार पूर्व तक सयम का पालन कर जब आयु काल निकट देखा तब प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया।

अन्त मे मन-वचन-कायिक योगो का निरोध करते हुए सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे प्रभु ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

□ □ □

भगवान् श्री श्रेयांसनाथ

भगवान् श्री शीतलनाथ के पश्चात् ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ हुए।

पूर्वभव

पुष्कर द्वीप के राजा नलिनगुल्म के भव में इन्होंने राज रोग की तरह राज्य भोग को छोड़कर ऋषि वज्रदन्त के पास दीक्षा ले ली और तीव्र तप से कर्मों को कृश करते हुए निर्मोह भाव से विचरते रहे।

वहां बीस स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय मे शुभ-ध्यान से आयु पूर्णकर नलिनगुल्म महाशुक्र कल्प में ऋद्धिमान देव हुए।

जन्म

भारतवर्ष की भूषणस्वरूपा, सिंहपुरी नगरी के अधिनायक महाराज विष्णु इनके पिता और सद्गुणधारिणी विष्णुदेवी इनकी माता थी।

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र मे 'नलिनगुल्म' का जीव स्वर्ग से निकलकर माता विष्णु की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि में १४ महा शुभ-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपके जन्मकाल मे सर्वत्र सुख, शांति और हर्ष का वातावरण फैल गया।

नामकरण

बालक के जन्म से समस्त राजपरिवार और राष्ट्र का श्रेय-कल्याण हुआ, अतः माता-पिता ने शुभ समय मे बालक का गुणसम्पन्न नाम श्रेयांसनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल मे देव, दानव और मानव कुमारो के संग खेलते हुए जब प्रभु युवावस्था में प्रविष्ट हुए तो पिता के आग्रह से योग्य कन्याओ के संग आपने पाणिग्रहण किया और इक्कीस लाख वर्ष के होने पर आप राज्य-पद के अधिकारी बनाये गये।

बयालीस लाख वर्ष तक आप मही-मंडल पर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करते रहे।

---

१ जिनस्य मातापितरावुत्सवेन महीयसा,
अभिधा श्रेयसि दिने, श्रेयास इति चक्रतु ॥४।१।८६ त्रि० शलाका पु च

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म के क्षीण होने पर जब आपने संयम ग्रहण करने की इच्छा की, तब लोकान्तिक देवो ने अपनी मर्यादा के अनुसार सेवा में आकर प्रभु से प्रार्थना की। फलत: वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओ के साथ वेले की तपस्या मे आपने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रवण नक्षत्र मे सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की।

दूसरे दिन सिद्धार्थपुर मे राजा नन्द के यहां प्रभु का परमान्न से पारण सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

दीक्षा के पश्चात् दो मास तक छद्मस्थभाव मे आप विविध ग्राम-नगरों में विचरते हुए आगत कष्टो को सहन करने मे अचल-स्थिर बने रहे। माघ कृष्णा अमावस्या को क्षपकश्रेणी द्वारा मोह-विजय कर शुक्लध्यान की उच्च स्थिति में घाति-कर्मो का सर्वथा क्षय कर षष्ठ तप से आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की। केवली होकर प्रभु ने देव-मानवों की विशाल सभा मे श्रुति-चारित्र धर्म की देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर, आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राज्य शासन पर श्रेयांस का प्रभाव

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ विचरते हुए पोतनपुर पधारे। भगवान् के पधारने की शुभ सूचना राजपुरुष ने तत्कालीन प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ को दी।

त्रिपृष्ठ यह शुभ समाचार सुनकर इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने शुभ संदेश लाने वाले को साढ़े बारह करोड़ मुद्राओ से पुरस्कृत किया और अपने बड़े भाई अचल बलदेव के साथ भगवान् के चरणारविन्दों को वन्दन करने गया। भगवान् की सम्यक्त्व–सुधा बरसाने वाली वाणी को सुनकर दोनों भाइयो ने सम्यक्त्व धारण किया।[1]

यह त्रिपृष्ठ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव और इनके भाई अचल प्रथम बलदेव थे।

---

१ सम्यक्त्व प्रतिपेदाते बलभद्रहरी पुन ॥ त्रि० पु० च० ४।१।८४५

भगवान् महावीर के पूर्वभवीय मरीचि के जीव ने ही महाराज प्रजापति की महारानी भद्रा[1] की कुक्षि से त्रिपृष्ठ के रूप में जन्म ग्रहण किया।

इधर प्रथम प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव को निमित्तज्ञों की भविष्यवाणी से जब यह ज्ञात हुआ कि उसका संहार करने वाला प्रथम वासुदेव जन्म ग्रहण कर चुका है तो वह चिन्तातुर हो रात-दिन अपने प्रतिद्वन्द्वी की खोज मे तत्पर रहने लगा।

प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठ और बलदेव के पराक्रम एव अद्‌भुत साहस की सौरभ सर्वत्र फैल रही थी। उससे अश्वग्रीव के मन मे शका उत्पन्न हुई कि हो न हो प्रजापति के दोनों महा पराक्रमी पुत्र ही मेरे लिये काल बनकर पैदा हुए हों, अतः वह उन दोनों को छल-बल से मरवाने की बात सोचने लगा।

उन दिनों अश्वग्रीव के राज्य में किसी शालिखेत में एक शेर का भयंकर आतंक छाया हुआ था। अश्वग्रीव की ओर से शेर को मरवाने के सारे उपाय निष्फल हो जाने पर उसने प्रजापति को आदेश भेजा कि वह शालिखेत की शेर से रक्षा करे।

प्रजापति शालिखेत पर जाने को तैयार हुए ही थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ आ पहुंचे। उन्होंने साहस के साथ महाराज प्रजापति से कहा—"शेर से खेत की रक्षा करना कौनसा बड़ा काम है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं ही उस शेर को समाप्त कर दूंगा।"

पिता की आज्ञा से त्रिपृष्ठ, अचल बलदेव के साथ शालिखेत पर जा पहुंचे। लोगों के मुख से सिंह की भयंकरता और प्रजा में व्याप्त आतंक के संबंध में सुनकर उन्होंने उसे मिटाने का संकल्प किया। त्रिपृष्ठ ने सोचा कि प्रजा मे व्याप्त सिंह के आतंक को समाप्त कर दूं, तभी मेरे पौरुष की सफलता है।

दोनों भाई निर्भीक हो शेर की मांद की ओर बढे और त्रिपृष्ठ ने निर्भय सोये हुए शेर को ललकारा। सिंह भी बार-बार की आवाज से क्रुद्ध हुआ और भयकर दहाड़ के साथ त्रिपृष्ठ पर झपटा। त्रिपृष्ठ ने विद्युत् वेग से लपक कर सिंह के दोनों जबड़ों को पकड़ आसानी से पुराने बांस की तरह उसे चीर डाला। सिंह मारे क्रोध और ग्लानि के तड़प रहा था और विचार रहा था—"आज एक मानव-किशोर ने मुझे कैसे मार डाला ?" सारथी ने शेर को आश्वस्त करते हुए कहा—"वनराज शोक न करो, जिस प्रकार तुम पशुओ में राजा हो

---

१ आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिपृष्ठ की माता का नाम मृगावती लिखा है। यथा—
विश्वभूतिश्च्युत शुक्रान्मृगावत्या अथोदरे।
[त्रिषष्टि श पु च, पर्व १०, स. १, श्लो ११८]

उसी प्रकार यह तेजस्वी युवक भी मनुष्यों मे राजा है । तुम किसी छोटे व्यक्ति के हाथ से नही मारे जा रहे हो ।"

त्रिपृष्ठ द्वारा उस भयंकर और शक्तिशाली सिंह के मारे जाने की खबर सुन कर अश्वग्रीव कांप उठा और उसे निश्चय हो गया कि इसी कुमार के हाथों उसकी मृत्यु होगी ।

कुछ सोच विचार के बाद उसको एक उपाय सूझा कि इस वीरता के उपलक्ष मे पुरस्कार देने के बहाने उन दोनो कुमारो को यहां बुला कर छल-बल से मरवा दिया जाय । अश्वग्रीव ने महाराज प्रजापति को सदेश भिजवाया—"आपके दोनो राजकुमारो ने जो वीरतापूर्ण कार्य किया है उसके लिये हम उनको पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहते है, अत आप उन्हें यहा भिजवा दें ।"

अश्वग्रीव के उपरोक्त सदेश के उत्तर में त्रिपृष्ठ ने कहलवा भेजा—"जो राजा एक शेर को भी नही मार सका उससे हम किसी प्रकार का पुरस्कार लेने को तैयार नही है ।"

कुमार त्रिपृष्ठ के इस उत्तर से अश्वग्रीव तिलमिला उठा और एक बड़ी चतुरंगिणी सेना लेकर उसने प्रजापति पर चढाई कर दी । बलदेव और त्रिपृष्ठ भी अपनी सेना के साथ रणागण मे आ डटे । दोनो ओर की सेनाएं भिड़ गई और बड़ा भीषण लोमहर्षक युद्ध हुआ ।

उस समय त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव से कहलाया कि निरर्थक नर-संहार से तो यह अच्छा रहेगा कि हम दोनो आपस मे द्वन्द्वयुद्ध कर ले । अश्वग्रीव भी त्रिपृष्ठ के इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और दोनो मे भयकर द्वन्द्वयुद्ध चल पड़ा । अन्ततोगत्वा प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव, वासुदेव त्रिपृष्ठ द्वारा युद्ध मे मारा गया । इस प्रकार त्रिपृष्ठ अर्द्ध-भरत का अधिपति वासुदेव हो गया ।

त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव के बीच का यह युद्ध भगवान् श्रेयांसनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व हुआ था ।

वासुदेव त्रिपृष्ठ के यहां किसी दिन कुछ संगीतज्ञ, जो अत्यन्त मधुर स्वर से सगीत प्रस्तुत करने मे दक्ष थे, आये । शयन का समय होने से त्रिपृष्ठ ने शय्यापाल को आज्ञा दी कि जिस समय मुझे नीद आ जाय, तत्काल संगीत बन्द करा देना ।

संगीत की मधुर कर्णप्रिय ध्वनि की मस्ती मे भूलकर शय्यापाल ने त्रिपृष्ठ को निद्रा आ जाने पर भी संगीत बन्द नही कराया । रात भर संगीत चलता

रहा, सहसा त्रिपृष्ठ जाग उठे और क्रुद्ध होकर शय्यापाल से पूछा—"अरे ! सगीत बन्द क्यों नही कराया ?"

शय्यापाल ने कहा—"महाराज ! संगीत मुझे इतना कर्णप्रिय लगा कि समय का कुछ भी ध्यान नही रहा ।"

त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध हो अन्य सेवको को आदेश दिया कि शीशा गरम करके उसके कानो मे उंडेल दिया जाय । राजाज्ञा को कौन टाले ? शय्यापाल के कानों में गरम २ शीशा उंडेल दिया गया और वह तड़प-तड़प कर मर गया ।

इस तरह के क्रूर कर्मों से वासुदेव त्रिपृष्ठ ने घोर नरक-आयु का बन्ध कर लिया । क्रूर अध्यवसाय से उसका सम्यक्त्वभाव खंडित हो गया । ८४ लाख वर्ष की आयु भोगकर वह सातवें नरक का अधिकारी बना ।

बलदेव अचल ने जब भाई का मरण सुना तो शोक से आकुल हो गये, विवेकी होकर भी अविवेकी की तरह करुण स्वर मे विलाप करने लगे । बार-बार उठने की आवाज देने पर भी त्रिपृष्ठ महानिद्रा से नही उठे तो अचल मूर्छित हो भूतल पर गिर पड़े । कालान्तर मे मूर्छा दूर होने पर वृद्धजनो से प्रबोधित किये गये ।

दुःख मे वीतराग के चरण ही एकमात्र आधार होते है, यह समझकर बलदेव भी प्रभु श्रेयांसनाथ के चरणों का ध्यान कर और उनकी वाणी का स्मरण कर संसार की नश्वरता के बारे में सोचते हुए सांसारिक विषयो से पराङमुख हो गये ।[1]

आखिर धर्मघोष आचार्य की वाणी सुनकर अचल बलदेव विरक्त हुए और जिनदीक्षा ग्रहण कर तप-संयम से सकल कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये । इनकी ८५ लाख वर्ष की आयु थी ।

धर्म परिवार

श्रेयासनाथ के संघ मे निम्न गण एव गणधरादि परिवार हुआ —

गणधर	— छिहत्तर[2] (७६)
केवली	— छ हजार पाच सौ (६,५००)
मन:पर्यवज्ञानी	— छ हजार (६,०००)

१ श्रेयासस्वामिपादानां, स्मरन् श्रेयस्करी गिरम् ।
ससारासारता ध्यायन्, विषयेभ्यो पराङमुख ॥ त्रि० ४।१।६०२॥

२ कही पर ६६ का उल्लेख भी मिलता है ।

अवधिज्ञानी	– छ हजार (६,०००)
चौदह पूर्वधारी	– तेरह सौ (१,३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– ग्यारह हजार (११,०००)
वादी	– पाच हजार (५,०००)
साधु	– चौरासी हजार (८४,०००)
साध्वी	– एक लाख तीन हजार (१,०३,०००)
श्रावक	– दो लाख उन्यासी हजार (२,७९,०००)
श्राविका	– चार लाख अड़तालीस हजार (४,४८,०००)

परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक भूमडल मे विचर कर प्रभु ने लोगो को आत्मकल्याण की शिक्षा दी ।

फिर मोक्षकाल निकट समझकर एक हजार मुनियो के साथ अनशन स्वीकार किया और शुक्लध्यान के अन्तिम चरण मे अयोगीदशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र मे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए । आपकी पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष की थी ।

☐☐☐

भगवान् श्री वासुपूज्य

श्रेयांसनाथ के बाद बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी हुए।

पूर्वभव

इन्होंने पुष्करार्द्ध द्वीप के मंगलावती विजय में पद्मोत्तर राजा के भव में निरन्तर जिनशासन की भक्ति की। इनके मन में सदा यही ध्यान रहता कि लक्ष्मी चपला की तरह चंचल है और पुण्यबल अंजलिगत जल की तरह नश्वर है, अतः इस नाशवान् शरीर से अविनश्वर मोक्ष-पद की प्राप्ति करने मे ही जीवन का वास्तविक कल्याण है।

संयोगवश भावना के अनुरूप उनका वज्रनाभ गुरु के साथ समागम हुआ। उनके उपदेश से विरक्त होकर इन्होंने संयम ग्रहण किया और उग्र-कठोर तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ स्थानों की आराधना से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया। अन्तिम समय शुभध्यान में काल कर वे प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

प्राणत स्वर्ग से निकल कर यही पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और जयादेवी माता थी।

ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जया की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता जया ने चौदह महा शुभ-स्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे। माता ने उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

नामकरण

महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया।

विवाह और राज्य

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार वासुपूज्य अविवाहित माने गये हैं, ऐसा

अवधिज्ञानी	– छ हजार (६,०००)
चौदह पूर्वधारी	– तेरह सौ (१,३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– ग्यारह हजार (११,०००)
वादी	– पाच हजार (५,०००)
साधु	– चौरासी हजार (८४,०००)
साध्वी	– एक लाख तीन हजार (१,०३,०००)
श्रावक	– दो लाख उन्यासी हजार (२,७९,०००)
श्राविका	– चार लाख अड़तालीस हजार (४,४८,०००)

परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक भूमडल मे विचर कर प्रभु ने लोगो को आत्मकल्याण की शिक्षा दी ।

फिर मोक्षकाल निकट समझकर एक हजार मुनियो के साथ अनशन स्वीकार किया और शुक्लध्यान के अन्तिम चरण मे अयोगीदशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र मे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए । आपकी पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष की थी ।

□ □ □

भगवान् श्री वासुपूज्य

श्रेयांसनाथ के बाद बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी हुए ।

पूर्वभव

इन्होंने पुष्करार्द्ध द्वीप के मंगलावती विजय में पद्मोत्तर राजा के भव में निरन्तर जिनशासन की भक्ति की । इनके मन में सदा यही ध्यान रहता कि लक्ष्मी चपला की तरह चंचल है और पुण्यबल अंजलिगत जल की तरह नश्वर है, अतः इस नाशवान् शरीर से अविनश्वर मोक्ष-पद की प्राप्ति करने मे ही जीवन का वास्तविक कल्याण है ।

संयोगवश भावना के अनुरूप उनका वज्रनाभ गुरु के साथ समागम हुआ । उनके उपदेश से विरक्त होकर इन्होंने संयम ग्रहण किया और उग्र-कठोर तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ स्थानों की आराधना से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया । अन्तिम समय शुभध्यान में काल कर वे प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव हुए ।

जन्म

प्राणत स्वर्ग से निकल कर यही पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ । भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और जयादेवी माता थी ।

ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जया की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ । उसी रात्रि में माता जया ने चौदह महा शुभ-स्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे । माता ने उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

नामकरण

महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया ।

विवाह और राज्य

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार वासुपूज्य अविवाहित माने गये हैं, ऐसा

ही जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का भी मन्तव्य है। हेमचन्द्र के अनुसार शैशवकाल पूर्ण होने पर भी जब वासुपूज्य शिशु की तरह भोग से सर्वथा विमुख दिखाई दिये, तब महाराज वासुपूज्य ने पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखते हुए पुत्र से अनुरोध की भाषा में कहा—"कुमार! अब तुम्हें विवाह करना चाहिये। जैसे ऋषभ ने पितृवचन से सुनन्दा और सुमंगला से पाणिग्रहण किया और अजितनाथ से श्रेयांसनाथ तक के भूतकालीन तीर्थंकरों ने भी पिता के अनुरोध से राज्य का उपभोग कर फिर मोक्ष-मार्ग का साधन किया। इसी प्रकार तुम्हें भी विवाह, राज्य, दीक्षा और तपःसाधन की पूर्व-परम्परा का पालन करना चाहिये। यही हमारी अभिलाषा है।"

पितृ-वचन को सुनकर वासुपूज्य ने सादर कहा—"तात! पूर्व पुरुषों के पावन चरित्र को मैं भी जानता हूं, किन्तु सबके भोग्य-कर्म समान नहीं होते। उनके जैसे-जैसे कर्म और भोगफल अवशेष थे, वैसे मेरे भोग-कर्म अवशिष्ट नहीं हैं। साथ ही भविष्य मे भी मल्लिनाथ, नेमनाथ आदि तीर्थंकर भोग्य-कर्म अवशेष नही होने से बिना विवाह के ही दीक्षित होंगे, ऐसे मुझे भी अविवाहित रहकर दीक्षा-ग्रहण करना है। अतः आप आज्ञा दीजिये जिससे मैं दीक्षित होकर स्व-पर का कल्याण कर सकूं।"

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर विवाह और राज्य-ग्रहण किये बिना ही इनके दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वासुपूज्य बालब्रह्मचारी रहे एवं उन्होने न विवाह किया और न राज्य ही। किन्तु आचार्य शीलांक के "चउपन्न महापुरिस चरियं" में दार-परिग्रह करने और कुछ काल राज्यपालन कर दीक्षित होने का उल्लेख है।[1]

वास्तव में तीर्थंकर की गृहचर्या भोग्यकर्म के अनुसार ही होती है, अतः उनका विवाहित होना या नही होना कोई विशेष अर्थ नही रखता। विवाह से तीर्थंकर की तीर्थंकरता में कोई बाधा नही आती।

दीक्षा और पारणा

भोग्यकर्म क्षीण होने पर प्रभु ने लोकान्तिक देवों से प्रेरित होकर वर्षभर तक निरन्तर दान दिया, फिर अठारह लाख वर्ष पूर्ण होने पर छह सौ राजाओं के साथ चतुर्थ-भक्त से दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र मे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर श्रमणवृत्ति स्वीकार की।

दूसरे दिन महापुर में जाकर राजा सुनन्द के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवो ने पंच-दिव्य बरसा कर पारण की बड़ी महिमा की।

---

१ सम्मो कुमारभावमणुवालिऊण किंचिकाल कयदारपरिग्गहो रायसिरिमणुवालिऊण.... चउ० महापुरिस च० पृ० १०४।

केवलज्ञान

दीक्षा लेकर भगवान् तपस्या करते हुए एक मास छद्मस्थचर्या मे विचरे और फिर उसी उद्यान मे आकर पाटला वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। शुक्ल-ध्यान के दूसरे चरण में चार घातिकर्मों का क्षय कर माघ शुक्ला द्वितीया को शतभिषा के योग मे प्रभु ने चतुर्थ-भक्त (उपवास) से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-असुर-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना दी तथा क्षान्ति आदि दशविध धर्म का स्वरूप समझाकर चतुर्विध सघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

विहार करते हुए जब प्रभु द्वारिका के निकट पधारे तो राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ठ को प्रभु के पधारने की शुभ-सूचना दी। भगवान् वासुपूज्य के पधारने की शुभ-सूचना की बधाई सुनाने के उपलक्ष मे वासुदेव ने उसको साढ़े बारह करोड़ मुद्राओ का प्रीतिदान दिया।

त्रिपृष्ठ के बाद ये भरत क्षेत्र में इस समय के दूसरे वासुदेव होते है।

धर्म-परिवार

आपके सघ मे निम्न परिवार था :-

गण एवं गणधर	– छियासठ [६६]
केवली	– छ हजार [६,०००]
मन'पर्यवज्ञानी	– छ हजार एक सौ [६,१००]
अवधिज्ञानी	– पांच हजार चार सौ [५,४००]
चौदह पूर्वधारी	– एक हजार दो सौ [१,२००]
वैक्रिय लब्धिधारी	– दस हजार [१०,०००]
वादी	– चार हजार सात सौ [४,७००]
साधु	– बहत्तर हजार [७२,०००]
साध्वी	– एक लाख [१,००,०००]
श्रावक	– दो लाख पन्द्रह हजार [२,१५,०००]
श्राविका	– चार लाख छत्तीस हजार [४,३६,०००]

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

श्रेयासनाथ की तरह भगवान् वासुपूज्य का धर्मशासन भी सामान्य लोक-जीवन से लेकर राजघराने तक व्यापक हो चला था। छोटे-बड़े राजाओ के अतिरिक्त उस समय के अर्द्धचक्री (वासुदेव) द्विपृष्ठ और विजय बलदेव पर भी उनका विशिष्ट प्रभाव था।

प्रभु के पधारने की खबर सुनकर त्रिपृष्ठ ने भी साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान किया और वासुपूज्य भगवान् की वीतरागमयी वाणी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा विजय बलदेव ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। कालान्तर में मुनि-धर्म स्वीकार कर विजय ने शिव-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

एक मास कम चौवन लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर प्रभु ने लाखों भव्य-जनों को धर्म का संदेश दिया। फिर मोक्ष-काल निकट जानकर चम्पा नगरी पधारे और छह सौ मुनियों के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण से अक्रिय होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय किया एवं आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर प्रभु ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की।

□ □ □

भगवान् श्री विमलनाथ

भगवान् वासुपूज्य के बाद तेरहवें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ हुए ।

पूर्वभव

तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करने के लिये इन्होंने भी धातकी खण्ड की महापुरी नगरी मे राजा पद्मसेन के भव मे वैराग्य प्राप्त किया और जिनशासन की बडी सेवा की ।

मुनि सर्वगुप्त का उपदेश सुनकर ये विरक्त हुए और शिक्षा-दीक्षा लेकर निर्मलभाव से आपने संयम की आराधना की । वहा बीस स्थानों की आराधना कर इन्होने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर आठवें सहस्रार-कल्प में ऋद्धिमान् देव रूप से उत्पन्न हुए ।

जन्म

सहस्रार देवलोक से निकल कर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में माता श्यामा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ ।

इनकी जन्मभूमि कंपिलपुर थी । विमल यशधारी महाराज कृतवर्मा इनके पिता थे और उनकी सुशीला पत्नी श्यामा आपकी माता थी । माता ने गर्भ धारण के पश्चात् मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न देखे और उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद मे चन्द्र का योग होने पर सुखपूर्वक सुवर्णकान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

देवो ने सुमेरु पर्वत की अति पांडुकम्बल शिला पर प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया । महाराज कृतवर्मा ने भी हृदय खोल कर पुत्र जन्म की खुशिया मनाई ।

नामकरण

दश दिनो के आमोद-प्रमोद के पश्चात् महाराज कृतवर्मा ने नामकरण के लिये मित्रों व बान्धवजनो को एकत्र किया और बालक के गर्भ मे रहने के समय माता तन, मन से निर्मल बनी रही, अतः बालक का नाम विमलनाथ रखा ।[1]

---

१ गर्भस्थे जननी तस्मिन् विमला यदजायत ।
ततो विमल इत्याख्यां, तस्य चक्रे पिता स्वयम् ।। त्रिष० ४।३।४८

प्रभु के पधारने की खबर सुनकर द्विपृष्ठ ने भी साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान किया और वासुपूज्य भगवान् की वीतरागमयी वाणी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा विजय बलदेव ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। कालान्तर में मुनि-धर्म स्वीकार कर विजय ने शिव-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

एक मास कम चौवन लाख वर्ष तक केवली पर्याय मे विचर कर प्रभु ने लाखों भव्य-जनों को धर्म का सदेश दिया। फिर मोक्ष-काल निकट जानकर, चम्पा नगरी पधारे और छह सौ मुनियों के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण से अक्रिय होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय किया एवं आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर प्रभु ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की।

मन:पर्यवज्ञानी	—	पांच हजार पांच सौ (५,५००)
अवधिज्ञानी	—	चार हजार आठ सौ (४,८००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार एक सौ (१,१००)
वैक्रिय लब्धि-धारी	—	नौ हजार (९,०००)
वादी	—	तीन हजार दो सौ (३,२००)
साधु	—	अड़सठ हजार (६८,०००)
साध्वी	—	एक लाख आठ सौ (१,००,८००)
श्रावक	—	दो लाख आठ हजार (२,०८,०००)
श्राविका	—	चार लाख चौबीस हजार (४,२४,०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

तेरहवें तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ के समय में मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयंभू वासुदेव हुए।

विमलनाथ के धर्म-शासन का साधारण जन से लेकर लोकनायक-शासकों पर भी पूर्ण प्रभाव था। भगवान् विमलनाथ के समवसरण की बात जान कर वासुदेव स्वयंभू भी अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र बलदेव के साथ वन्दन करने गया और प्रभु की वाणी सुनकर स्वयंभू ने सम्यक्त्व धारण किया और भद्र बलदेव ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

वासुदेव स्वयंभू की मृत्यु के पश्चात् बलदेव भद्र ने विरक्त होकर मुनिधर्म ग्रहण किया और पैंसठ लाख वर्ष की आयु भोग कर अन्तिम समय की आराधना से मुक्ति प्राप्त की।

परिनिर्वाण

दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली रूप से जन-जन को सत्य-मार्ग का उपदेश देकर जब प्रभु ने अपना आयुकाल निकट देखा तब छः सौ साधुओं के साथ उन्होंने एक मास का अनशन किया और मास के अन्त में शेष चार अघाति-कर्मों का क्षय कर आषाढ़ कृष्णा[1] सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु साठ लाख वर्ष की थी।

□ □ □

---

१ प्रवचन सारोद्धार, हरिवंश पु० और तिलोयपण्णत्ति में आषाढ़ कृष्णा ८ उल्लिखित है, जब कि सत्तरिसय द्वार की गाथा ३०९ से ३१० में आषाढ़ कृष्णा ७।

विवाह और राज्य

एक हजार आठ लक्षण वाले विमलनाथ जब तरुण हुए तो भोगों में रति नहीं होने पर भी माता-पिता के आग्रह से प्रभु ने योग्य कन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण किया।

पन्द्रह लाख वर्ष कुंवर-पद में बिता कर आप राज्य-पद पर आरूढ़ हुए और तीस लाख वर्ष तक प्रभु ने न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया।

पैतालीस लाख वर्ष के बाद जब भव-विपाकी कर्म को क्षीण हुआ समझा तब प्रभु ने भवजलतारिणी आर्हती दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों द्वारा प्राथित प्रभु वर्ष भर तक कल्पवृक्ष की तरह याचकों को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओं के संग दीक्षार्थ सहस्राम्र वन में पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में षष्ठभक्त की तपस्या से सब पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षित हो गये।

दूसरे दिन धान्यकट पुर में जाकर प्रभु ने महाराज जय के यहां परमान्न से पारणा किया।

केवलज्ञान

पारणा करने के पश्चात् वहां से विहार कर दो वर्ष तक प्रभु विविध ग्राम नगरों में परिषहों को समभाव से सहन करते हुए विचरते रहे।

फिर दीक्षास्थल में पहुंचकर अपूर्वकरण गुणस्थान से क्षपक-श्रेणी में आरूढ़ हुए और ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मों को क्षय कर पौष शुक्ला षष्ठी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे बेले की तपस्या से प्रभु ने केवलज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति की।

केवलज्ञान के पश्चात् जब प्रभु विहार कर द्वारिका पधारे और समव-सरण हुआ तब राजपुरुष ने तत्कालीन वासुदेव स्वयंभू को अर्हद्‌दर्शन की शुभ-सूचना दी। उन्होने भी प्रसन्न होकर साढे बारह करोड़ रौप्यमुद्राओं का प्रीतिदान देकर उसको संस्कृत किया और प्रभु की देशना सुनकर जहां हजारों नरनारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया वहां वासुदेव ने भी सम्यक्त्व-धर्म स्वीकार किया। चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु ने भाव-तीर्थंकर का पद सार्थक किया।

धर्म परिवार

आपके संघ में मन्दर आदि छप्पन गणधरादि सहित निम्न परिवार था:—

गण एवं गणधर	—	छप्पन (५६)
केवली	—	पांच हजार पांच सौ (५,५००)

मनःपर्यवज्ञानी	—	पांच हजार पांच सौ (५,५००)
अवधिज्ञानी	—	चार हजार आठ सौ (४,८००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार एक सौ (१,१००)
वैक्रिय लब्धि-धारी	—	नौ हजार (६,०००)
वादी	—	तीन हजार दो सौ (३,२००)
साधु	—	अड़सठ हजार (६८,०००)
साध्वी	—	एक लाख आठ सौ (१,००,८००)
श्रावक	—	दो लाख आठ हजार (२,०८,०००)
श्राविका	—	चार लाख चौबीस हजार (४,२४,०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

तेरहवें तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ के समय में मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयंभू वासुदेव हुए।

विमलनाथ के धर्म-शासन का साधारण जन से लेकर लोकनायक-शासकों पर भी पूरा प्रभाव था। भगवान् विमलनाथ के समवसरण की बात जान कर वासुदेव स्वयंभू भी अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र बलदेव के साथ वन्दन करने गया और प्रभु की वाणी सुनकर स्वयंभू ने सम्यक्त्व धारण किया और भद्र बलदेव ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

वासुदेव स्वयंभू की मृत्यु के पश्चात् बलदेव भद्र ने विरक्त होकर मुनिधर्म ग्रहण किया और पैसठ लाख वर्ष की आयु भोग कर अन्तिम समय की आराधना से मुक्ति प्राप्त की।

परिनिर्वाण

दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली रूप से जन-जन को सत्य-मार्ग का उपदेश देकर जब प्रभु ने अपना आयुकाल निकट देखा तब छः सौ साधुओं के साथ उन्होंने एक मास का अनशन किया और मास के अन्त में शेष चार अघाति-कर्मों का क्षय कर आषाढ़ कृष्णा[1] सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु साठ लाख वर्ष की थी।

□ □ □

---

१ प्रवचन सारोद्धार, हरिवंश पु० और तिलोयपण्णत्ति में आषाढ़ कृष्णा ८ उल्लिखित है, जब कि उत्तरपुराण द्वार की गाथा ३०६ से ३१० में आषाढ़ कृष्णा ७।

भगवान् श्री अनन्तनाथ

भगवान् विमलनाथ के पश्चात् चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ हुए।

पूर्वभव

इन्होने धातकीखण्ड की अरिष्टा नगरी मे महाराज पद्मरथ के भव मे तीर्थंकर-पद की साधना की। महाराज पद्मरथ बडे शूरवीर और पराक्रमी राजा थे।

विरोधी राजाओ और समस्त महीमडल को जीतकर भी मोक्ष-लक्ष्मी की साधना में उन्होने उसको नगण्य समझा और कुछ समय बाद वैराग्यभाव से चित्तरक्ष गुरु के पास संयम ग्रहण कर तप-सयम की विशिष्ट साधना की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय मे शुभ ध्यान से प्राण त्याग कर दसवे स्वर्ग के ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन इनके पिता और महारानी सुयशा इनकी माता थी। श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र मे स्वर्ग से निकलकर पद्मरथ का जीव माता सुयशा की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र के योग मे माता सुयशा ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देवो, दानव और मानवो ने जन्म की खुशिया मनाईं।

नामकरण

दश दिन तक आमोद-प्रमोद मनाने के उपरान्त नामकरण करते समय महाराज सिंहसेन ने विचार किया—"बालक की गर्भावस्था मे आक्रमणार्थ आये हुए अतीव उत्कट अपार शत्रु-सैन्य पर भी मैंने विजय प्राप्त की अत इस बालक का नाम अनन्तनाथ रखा जाय।"[1] इस विचार के अनुरूप ही प्रभु का नामकरण हुआ।

---

१ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् जित पित्रानन्त परबल यत।
ततश्चक्रेऽनन्तजिदित्याख्या परमेष्ठिनु ॥त्रि०च० ४।४।४७

(ख) गब्भत्थे य भगवम्मि पिउणा 'अणत परबल जिय ति तओ
जहत्थ अणन्तइजिणो त्ति कार नाम भुवणगुरुणो ॥ च० महापुरिस चरिय, पृ १२६

विवाह और राज्य

चन्द्रकला की तरह बढ़ते हुए प्रभु ने कौमारकाल के सात लाख पचास हजार वर्ष पूर्ण कर जब तारुण्य प्राप्त किया तब पिता सिंहसेन ने अत्याग्रह से योग्य कन्याओं के साथ आपका पाणिग्रहण करवाया और राज्य की व्यवस्था के लिये आपको राज्य-पद पर भी अभिषिक्त किया।

पन्द्रह लाख वर्ष तक समुचित रीति से राज्य का पालन कर जब आपने भोग्य-कर्म को क्षीण समझा तो मुनिव्रत ग्रहण करने का संकल्प किया।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रेरणा से प्रभु ने वर्षीदान से याचकों को इच्छानुकूल दान देकर वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके बेले की तपस्या थी।

दीक्षा के बाद दूसरे दिन वर्द्धमानपुर में जाकर प्रभु ने विजय भूप के यहाँ परमान्न से पारणा किया।

केवलज्ञान

दीक्षित होने के बाद प्रभु तीन वर्ष तक छद्मस्थचर्या से ग्रामानुग्राम विचरते रहे फिर अवसर देख सहस्राम्र वन में पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। क्षपक-श्रेणी से कषायों का उन्मूलन कर शुक्लध्यान के दूसरे चरण से प्रभु ने घाति-कर्मों का क्षय किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में अष्टमभक्त-तपस्या से केवलज्ञान की उपलब्धि की।

केवली होकर देव-मानवों की सभा में प्रभु ने धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। द्वारिका के पास पहुंचने पर तत्कालीन वासुदेव पुरुषोत्तम ने भी आपका उपदेश-श्रवण किया और सम्यक्त्व धर्म की प्राप्ति की।

धर्म परिवार

भगवान् अनन्तनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :-

गण एवं गणधर	–	पचास [५०]
केवली	–	पांच हजार [५,०००]
मन:पर्यवज्ञानी[1]	–	पांच हजार [५,०००]

[1] हेमचन्द्राचार्य ने त्रि० शलाका पुरु० च० में ४५०० मन:पर्यवज्ञानी लिखे हैं।

अवधिज्ञानी	—	चार हजार तीन सौ [४,३००]
चौदह पूर्वधारी	—	नौ सौ [९००]
वैक्रिय लब्धिधारी	—	आठ हजार [८,०००]
वादी	—	तीन हजार दो सौ [३,२००]
साधु	—	छियासठ हजार [६६,०००]
साध्वी	—	बासठ हजार [६२,०००]
श्रावक	—	दो लाख छः हजार [२,०६,०००]
श्राविका	—	चार लाख चौदह हजार [४,१४,०००]

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् अनन्तनाथ के समय में भी पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए।

भगवान् के निर्मल ज्ञान की महिमा से प्रभावित होकर पुरुषोत्तम भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ इनके वन्दन को गया और भगवान् की अमृतमयी वाणी से अपने मन को निर्मल कर उसने सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

बलदेव सुप्रभ ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और भाई की मृत्यु के पश्चात् संसार की मोह-माया से विरक्त हो मुनि-धर्म ग्रहण कर अन्त मे मुक्ति-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

तीन वर्ष कम सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर जब मोक्ष-काल निकट समझा तब प्रभु ने एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र में तीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

□ □ □

भगवान् श्री धर्मनाथ

भगवान् अनन्तनाथ के पश्चात् पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ हुए।

पूर्वभव

एक समय धातकीखण्ड के पूर्व-विदेह मे स्थित भद्दिलपुर के महाराज सिंहरथ प्रबल पराक्रमी और विशाल साम्राज्य के अधिपति होकर भी धर्म में बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे। नित्यानन्द की खोज मे उन्होने संसार के सभी सुखों को नीरस समझकर निस्पृह-भाव से इन्द्रिय-सुखों का परित्याग कर विमलवाहन मुनि के पास दुर्लभतम चारित्रधर्म को स्वीकार किया एवं तप-संयम की साधना करते हुए तीर्थंकर-नामकर्म की योग्यता प्राप्त की।

समता को उन्होंने योग की माता और तितिक्षा को जीवन-सहचरी सखी माना। दीर्घकाल की साधना के बाद समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए। यही सिंहरथ का जीव आगे चलकर धर्मनाथ तीर्थंकर हुआ।

जन्म

सिंहरथ का जीव वैजयन्त विमान से च्यवन कर वैशाख शुक्ला सप्तमी[1] को पुष्य नक्षत्र में रत्नपुर के महाप्रतापी महाराज भानु की महारानी सुव्रता के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी सुव्रता तीर्थंकर के जन्म-सूचक चौदह महामंगलकारी शुभ-स्वप्न देखकर हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सुव्रता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवेन्द्रों और महाराज भानु ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ भगवान् धर्मनाथ का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

बारहवें दिन सब लोग नामकरण के लिये एकत्रित हुए। महाराज भानु ने सबको संबोधित करते हुए कहा—"बालक के गर्भ में रहते माता को धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे और उसकी भावना सदा धर्ममय

---

१ धम्मया वइसाह सुद्धपंचमीए पूसजोगम्मि........वेजयन्तविमाणाओ चविऊण सुव्वयाए कुच्छिसि समुप्पण्णो........[चउ० म० पु० च०, पृ० १३३]

अवधिज्ञानी	—	चार हजार तीन सौ [४,३००]
चौदह पूर्वधारी	—	नौ सौ [६००]
वैक्रिय लब्धिधारी	—	आठ हजार [८,०००]
वादी	—	तीन हजार दो सौ [३,२००]
साधु	—	छियासठ हजार [६६,०००]
साध्वी	—	बासठ हजार [६२,०००]
श्रावक	—	दो लाख छः हजार [२,०६,०००]
श्राविका	—	चार लाख चौदह हजार [४,१४,०००]

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् अनन्तनाथ के समय में भी पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए।

भगवान् के निर्मल ज्ञान की महिमा से प्रभावित होकर पुरुषोत्तम भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ इनके वन्दन को गया और भगवान् की अमृतमयी वाणी से अपने मन को निर्मल कर उसने सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

बलदेव सुप्रभ ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और भाई की मृत्यु के पश्चात् संसार की मोह-माया से विरक्त हो मुनि-धर्म ग्रहण कर अन्त मे मुक्ति-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

तीन वर्ष कम सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर जब मोक्ष-काल निकट समझा तब प्रभु ने एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र में तीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

□ □ □

भगवान् श्री धर्मनाथ

भगवान् अनन्तनाथ के पश्चात् पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ हुए।

पूर्वभव

एक समय धातकीखण्ड के पूर्व-विदेह में स्थित भद्दिलपुर के महाराज सिंहरथ प्रबल पराक्रमी और विशाल साम्राज्य के अधिपति होकर भी धर्म में बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे। नित्यानन्द की खोज में उन्होंने संसार के सभी सुखों को नीरस समझकर निस्पृह-भाव से इन्द्रिय-सुखों का परित्याग कर विमलवाहन मुनि के पास दुर्लभतम चारित्रधर्म को स्वीकार किया एवं तप-संयम की साधना करते हुए तीर्थंकर-नामकर्म की योग्यता प्राप्त की।

समता को उन्होंने योग की माता और तितिक्षा को जीवन-सहचरी सखी माना। दीर्घकाल की साधना के बाद समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे वैजयन्त विमान मे अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए। यही सिंहरथ का जीव आगे चलकर धर्मनाथ तीर्थंकर हुआ।

जन्म

सिंहरथ का जीव वैजयन्त विमान से च्यवन कर वैशाख शुक्ला सप्तमी[1] को पुष्य नक्षत्र में रत्नपुर के महाप्रतापी महाराज भानु की महारानी सुव्रता के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी सुव्रता तीर्थंकर के जन्म-सूचक चौदह महामंगलकारी शुभ-स्वप्न देखकर हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सुव्रता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवेन्द्रों और महाराज भानु ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ भगवान् धर्मनाथ का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

बारहवें दिन सब लोग नामकरण के लिये एकत्रित हुए। महाराज भानु ने सबको संबोधित करते हुए कहा—"बालक के गर्भ में रहते माता को धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे और उसकी भावना सदा धर्ममय

---

१ अन्नया वइसाह सुद्धसत्तमीए पूसजोगम्मि........वैजयन्तविमाणाओ चविऊण सुव्वयाए कुच्छिसि समुप्पण्णो........[चउ० म० पु० च०, पृ० १३३]

रही, अतः बालक का नाम धर्मनाथ रखा जाता है।"[1]

विवाह और राज्य

देव-कुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए प्रभु ने शैशवकाल पूर्ण किया। फिर पिता की चिरकालीन अभिलाषा को पूर्ण करने और भोग्य-कर्म को चुकाने के लिये आपने पाणिग्रहण किया।

दो लाख पचास हजार वर्ष के बाद पिता के अनुरोध से आपने राज्यभार ग्रहण किया और पांच लाख वर्ष तक भली भांति पृथ्वी का पालन करने के पश्चात् आप भोग्य-कर्म को हल्का हुआ जानकर दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों ने प्रार्थना की—"भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

उनकी विज्ञप्ति से वर्ष भर तक दान देकर नागदत्ता शिविका से प्रभु नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे और एक हजार राजाओं के साथ बेले की तपस्या से माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य-नक्षत्र मे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन सौमनस नगर मे जाकर धर्मसिंह राजा के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवो ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

विभिन्न प्रकार के तप-नियमों के साथ परीषहों को सहते हुए प्रभु दो वर्ष तक छद्मस्थचर्या से विचरे, फिर दीक्षा-स्थान मे पहुंचे और दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान् धर्मनाथ ने पुष्य नक्षत्र मे ज्ञानावरणादि घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

---

१ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् धर्मविधौ, यन्मातुर्दोहदोऽभवत्।
तेनास्य धर्म इत्याख्यामकार्षीद् भानुभूपतिः ॥त्रि० ४।५।४९॥

(ख) "भगवम्मि गब्भत्थे' अतीव जणणीए धम्मकरणदोहलो आसि त्ति तओ धम्मो त्ति नाम कयं तिहुयणगुरुणो। च० महा पु० च० पृ० १३३

(ग) अम्मा पितरो सावग धम्मे भुज्जो भुज्जो वसंति, उववण्णो दढव्वताणि ॥
[आ चू, पूर्व. भा, पृ.११]

केवली बनकर देवासुर-मनुजों की विशाल सभा मे देशना देते हुए प्रभु ने कहा—"मानवो ! बाहरी शत्रुओं से लड़ना छोड़कर अपने अन्तर के विकारो से युद्ध करो । तन, धन और इन्द्रियों का दास बनकर आत्मगुण की हानि करने वाला नादान है । नाशवान् पदार्थों मे प्रीति कर अनन्तकाल से भटक रहे हो, अब भी अपने स्वरूप को समझो और भोगों से विरत हो सहजानन्द के भागी बनो ।"

प्रभु का इस प्रकार का उपदेश सुनकर हजारों नर-नारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया । वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी भगवान् के उपदेश से सम्यग्-दृष्टि बने । चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये ।

भगवान् धर्मनाथ के शासन के तेजस्वी रत्न

भगवान् धर्मनाथ के केवलज्ञान की महिमा सुनकर वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी प्रभावित हुए ।

प्रतिवासुदेव निशुंभ को मार कर पुरुषसिंह त्रिखण्डाधिपति बन चुका था । भगवान् के अश्वपुर नगर में पधारने पर बलदेव सुदर्शन और पुरुषसिंह भी वंदन को गये । प्रभु की वाणी सुनकर बलदेव व्रतधारी श्रावक बने और पुरुषसिंह वासुदेव सम्यग्दृष्टि ।

महारंभी होने से पुरुषसिंह मर कर छठी नरकभूमि में गया और बलदेव भ्रातृवियोग से विरक्त होकर संयमी बन गये । तप-संयम की सम्यग् आराधना कर वे मुक्ति के अधिकारी बने । यह भगवान् धर्मनाथ के उपदेश का ही फल था ।

वासुदेव की तरह भगवान् के शासन में चक्रवर्ती भी उनकी उपासना करते । चक्री मघवा और सनत्कुमार जैसे बल रूप और ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् भी त्याग-मार्ग की शरण लेकर मोक्ष-मार्ग के अधिकारी हो गये । ये दोनो चक्रवर्ती पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ के अन्तराल-काल मे अर्थात् भगवान् धर्मनाथ के शासनकाल में हुए । उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् तीसरे चक्रवर्ती मघवा हुए । सावत्थी नगरी के महाराज समुद्रविजय की पतिव्रता देवी भद्रा से मघवा का जन्म हुआ, माता ने चौदह शुभ-स्वप्नों मे इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र के होने की बात जानकर बालक का नाम मघवा रखा ।

समुद्रविजय के बाद वे राज्य का संचालन करने लगे । आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर षट्खण्ड की साधना कर चक्रवर्ती बने । भोग की

विपुल सामग्री पाकर भी आप उसमें आसक्त नहीं हुए अपितु अपनी धर्मकरणी में वृद्धि करते रहे। अन्त में सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर चारित्रधर्म स्वीकार किया और समाधिभाव में काल कर तीसरे देवलोक में महर्द्धिक देव हुए।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी भगवान् धर्मनाथ के शासन में हुए। आप अतिशय रूपवान् और शक्तिसम्पन्न थे। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नगर के शासक महाराज अश्वसेन शील, शौर्य आदि गुणसम्पन्न थे। उनकी धर्मशीला रानी सहदेवी की कुक्षि में एक स्वर्गीय जीव उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे और स्वप्नों का शुभ फल जानकर प्रसन्न हुई एव समय पर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को देखकर बालक का नाम सनत्कुमार रखा।

सनत्कुमार ने बड़े होकर विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उसका एक मित्र महेन्द्रसिंह था जो बहुत ही पराक्रमी और गुणवान् था। एक दिन राजकुमार ने महाराज अश्वसेन को भेंट में प्राप्त हुए उत्तम जाति के घोड़े देखे और उनमे जो सर्वोत्तम घोडा था, उसकी लगाम पकड़ कर सनत्कुमार उस पर आरूढ हो गया। सनत्कुमार के आरूढ होते ही घोड़ा वायुवेग से उड़ता सा बढ़ चला। कुमार ने लगाम खींचकर घोड़े को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, पर ज्यो-ज्यों कुमार ने घोड़े को रोकने का प्रयास किया, त्यों-त्यों घोड़े की गति बढ़ती ही गई।

महेन्द्रसिंह आदि सब साथी पीछे रह गये और सनत्कुमार अदृश्य हो गया। राजा अश्वसेन, अपने पुत्र सनत्कुमार के अदृश्य होने की बात सुनकर बड़े चिन्तित हुए और स्वयं उसकी खोज करने लगे। आंधी के कारण मार्ग के चरण-चिह्न भी मिट गये थे।

महेन्द्रसिंह ने महाराज अश्वसेन को किसी तरह पीछे लौटाया और स्वयं एकाकी ही कुमार को खोजने की धुन में निकल पड़ा। इस प्रकार खोज करते-करते लगभग एक वर्ष बीत गया, पर राजकुमार का कहीं पता नहीं लगा।

सनत्कुमार की खोज मे विविध स्थानों और वनों में घूमते-घूमते महेन्द्रसिंह ने एक दिन किसी एक जंगल मे हंस, सारस, मयूरादि पक्षियों की आवाज सुनी और शीतल-सुगन्धित वायु के झोंके उस दिशा से आकर उसका स्पर्श करने लगे तो वह कुछ आशान्वित हो उस दिशा की ओर आगे बढ़ा।

कुछ दूर जाकर उसने देखा कि कुछ रमणियाँ मधुर-ध्वनि के साथ आमोद-प्रमोद कर रही हैं। उन रमणियों के मध्य एक परिचित युवा को

देखकर ज्योंही वह आगे बढ़ा तो अपने चिरप्रतीक्षित सखा सनत्कुमार से उसका साक्षात्कार हो गया। दोनो एक दूसरे को देखकर हर्षविभोर होगये। पारस्परिक कुशलवृत्त पूछने के पश्चात् महेन्द्र ने सनत्कुमार के साथ बीती सारी बात जाननी चाही। राजकुमार ने कहा—"मैं स्वय कहूं इसकी अपेक्षा विद्याधर-कन्या बकुलमति से सुनेगे तो अच्छा रहेगा।"

बकुलमति ने सनत्कुमार के शौर्य की कहानी सुनाते हुए बताया कि किस प्रकार आर्य-पुत्र ने यक्ष की दानवी शक्तियो से लोहा लेकर विजय पाई और किस प्रकार वे सब उनकी (सनत्कुमार की) अनुचरिया बन गईं।

सनत्कुमार की गौरवगाथा सुनकर महेन्द्रसिह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तदनन्तर उसने राजकुमार को माता-पिता की स्मृति दिलाई। फलस्वरूप राजकुमार अपने परिवार सहित हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। कुमार के आगमन का समाचार सुनकर महाराज अश्वसेन के हर्ष का पारावार नही रहा। उन्होंने बड़े उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश कराया और पुत्र के शौर्यातिरेक को देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया और महेन्द्रसिह को सेनापति बनाकर स्वयं भगवान् धर्मनाथ के शासन मे स्थविर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हुए सनत्कुमार की पुण्य-कला चतुर्मुखी हो चमक उठी। उनकी आयुधशाला मे चक्ररत्न प्रकट हुआ, तब षट्खण्ड की साधना कर उन्होने चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया।

सनत्कुमार की रूपसंपदा इतनी अद्भुत थी कि स्वर्ग मे भी उनकी प्रशंसा होने लगी। एक बार सौधर्म देवलोक मे दूसरे स्वर्ग का एक देव आया तो उसके रूप से वहा के सारे देव चकित हो गये। उन्होने कालान्तर मे इन्द्र से पूछा—"इसका रूप इतना अलौकिक कैसे है?"

इन्द्र ने कहा—"इसने पूर्वजन्म मे आयबिल-वर्द्धमान तप किया था, उसका यह आंशिक फल है।"

देवों ने पूछा—"क्या ऐसा दिव्य रूप कोई मनुष्य भी पा सकता है?"

इन्द्र ने कहा—"भरतक्षेत्र में सनत्कुमार चक्री ऐसे ही विशिष्ट रूप वाले हैं।"

इन्द्र की बात सब देवों ने मान्य की, पर दो देवो ने नही माना। वे ब्राह्मण का रूप बनाकर आये और उन्होने द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की उत्कंठा व्यक्त की।

विपुल सामग्री पाकर भी आप उसमें आसक्त नहीं हुए अपितु अपनी धर्मकरणी में वृद्धि करते रहे। अन्त में सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर चारित्रधर्म स्वीकार किया और समाधिभाव में काल कर तीसरे देवलोक में महर्द्धिक देव हुए।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी भगवान् धर्मनाथ के शासन में हुए। आप अतिशय रूपवान् और शक्तिसम्पन्न थे। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नगर के शासक महाराज अश्वसेन शील, शौर्य आदि गुणसम्पन्न थे। उनकी धर्मशीला रानी सहदेवी की कुक्षि में एक स्वर्गीय जीव उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे और स्वप्नों का शुभ फल जानकर प्रसन्न हुईं एवं समय पर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को देखकर बालक का नाम सनत्कुमार रखा।

सनत्कुमार ने बड़े होकर विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उसका एक मित्र महेन्द्रसिंह था जो बहुत ही पराक्रमी और गुणवान् था। एक दिन राजकुमार ने महाराज अश्वसेन को भेंट में प्राप्त हुए उत्तम जाति के घोड़े देखे और उनमे जो सर्वोत्तम घोड़ा था, उसकी लगाम पकड़ कर सनत्कुमार उस पर आरूढ हो गया। सनत्कुमार के आरूढ होते ही घोड़ा वायुवेग से उड़ता सा बढ चला। कुमार ने लगाम खींचकर घोड़े को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, पर ज्यों-ज्यों कुमार ने घोड़े को रोकने का प्रयास किया, त्यों-त्यों घोड़े की गति बढती ही गई।

महेन्द्रसिंह आदि सब साथी पीछे रह गये और सनत्कुमार अदृश्य हो गया। राजा अश्वसेन, अपने पुत्र सनत्कुमार के अदृश्य होने की बात सुनकर बड़े चिन्तित हुए और स्वयं उसकी खोज करने लगे। आंधी के कारण मार्ग के चरण-चिह्न भी मिट गये थे।

महेन्द्रसिंह ने महाराज अश्वसेन को किसी तरह पीछे लौटाया और स्वयं एकाकी ही कुमार को खोजने की धुन में निकल पड़ा। इस प्रकार खोज करते-करते लगभग एक वर्ष बीत गया, पर राजकुमार का कहीं पता नहीं लगा।

सनत्कुमार की खोज मे विविध स्थानों और वनों में घूमते-घूमते महेन्द्रसिंह ने एक दिन किसी एक जंगल में हंस, सारस, मयूरादि पक्षियों की आवाज सुनी और शीतल-सुगन्धित वायु के झोंके उस दिशा से आकर उसका स्पर्श करने लगे तो वह कुछ आशान्वित हो उस दिशा की ओर आगे बढ़ा।

कुछ दूर जाकर उसने देखा कि कुछ रमणियां मधुर-ध्वनि के साथ आमोद-प्रमोद कर रही हैं। उन रमणियों के मध्य एक परिचित युवा को

देखकर ज्योंही वह आगे बढा तो अपने चिरप्रतीक्षित सखा सनत्कुमार से उसका साक्षात्कार हो गया। दोनो एक दूसरे को देखकर हर्षविभोर होगये। पारस्परिक कुशलवृत्त पूछने के पश्चात् महेन्द्र ने सनत्कुमार के साथ बीती सारी बात जाननी चाही। राजकुमार ने कहा—"मैं स्वय कहूं इसकी अपेक्षा विद्याधर-कन्या बकुलमति से सुनेगे तो अच्छा रहेगा।"

बकुलमति ने सनत्कुमार के शौर्य की कहानी सुनाते हुए बताया कि किस प्रकार आर्य-पुत्र ने यक्ष की दानवी शक्तियों से लोहा लेकर विजय पाई और किस प्रकार वे सब उनकी (सनत्कुमार की) अनुचरिया बन गईं।

सनत्कुमार की गौरवगाथा सुनकर महेन्द्रसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तदनन्तर उसने राजकुमार को माता-पिता की स्मृति दिलाई। फलस्वरूप राजकुमार अपने परिवार सहित हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। कुमार के आगमन का समाचार सुनकर महाराज अश्वसेन के हर्ष का पारावार नही रहा। उन्होने बड़े उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश कराया और पुत्र के शौर्यातिरेक को देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया और महेन्द्रसिंह को सेनापति बनाकर स्वयं भगवान् धर्मनाथ के शासन मे स्थविर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हुए सनत्कुमार की पुण्य-कला चतुर्मुखी हो चमक उठी। उनकी आयुधशाला मे चक्ररत्न प्रकट हुआ, तब षट्खण्ड की साधना कर उन्होने चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया।

सनत्कुमार की रूपसंपदा इतनी अद्‌भुत थी कि स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा होने लगी। एक बार सौधर्म देवलोक मे दूसरे स्वर्ग का एक देव आया तो उसके रूप से वहा के सारे देव चकित हो गये। उन्होने कालान्तर मे इन्द्र से पूछा—"इसका रूप इतना अलौकिक कैसे है?"

इन्द्र ने कहा—"इसने पूर्वजन्म मे आयंबिल-वर्द्धमान तप किया था, उसका यह आंशिक फल है।"

देवों ने पूछा—"क्या ऐसा दिव्य रूप कोई मनुष्य भी पा सकता है?"

इन्द्र ने कहा—"भरतक्षेत्र में सनत्कुमार चक्री ऐसे ही विशिष्ट रूप वाले हैं।"

इन्द्र की बात सब देवों ने मान्य की, पर दो देवों ने नही माना। वे ब्राह्मण का रूप बनाकर आये और उन्होने द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की उत्कंठा व्यक्त की।

उस समय सनत्कुमार स्नान-पीठ पर खुले बदन नहाने बैठे थे, ब्राह्मणों की प्रबल इच्छा जानकर चक्री ने कहा—"आने दो ।" ब्राह्मण आये और सनत्कुमार का रूप-लावण्य देखकर चकित हो गये ।

चक्री ने कहा—"अभी क्या देख रहे हो ? स्नान के पश्चात् जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो सभा मे बैठूं तब देखना ।"

ब्राह्मणो ने कहा—"जैसी आज्ञा ।"

कुछ ही समय में स्नानादि से निवृत्त हो महाराज कल्पवृक्ष की तरह अलंकृत विभूषित हो राजसभा मे आये, उस समय उन दोनो ब्राह्मणो को भी बुलाया गया ।

ब्राह्मणो ने देखा तो शरीर का रग बदल गया था । वे मन ही मन खेद का अनुभव करने लगे ।

चक्रवर्ती ने पूछा—"चिन्तित क्यो है ?"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! शरीर व्याधिमंदिरम्" आपके सुन्दर शरीर में कीड़े उत्पन्न हो गये है ।"

शरीर की इस नश्वरता से सनत्कुमार संभल गये और विरक्त हो सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह का त्यागकर मुनि बन गये । दीक्षित होकर वे निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करने लगे, रोग आदि प्रतिकूल परीषहो मे भी विचलित नहीं हुए । दीर्घकाल की इस कठिन तपस्या एवं साधना से उनको अनेक लब्धिया प्राप्त हो गईं ।

एक बार पुनः स्वर्ग मे उनकी प्रशसा हुई और देव उनके धैर्य की परीक्षा करने आया ।

देव वैद्य का रूप बनाकर आया और आवाज लगाते हुए मुनि के पास से निकला—"लो दवा, लो दवा । रोग मिटाऊ ।"

मुनि ने कहा—"वैद्य ! कौनसा रोग मिटाते हो ? भाव-रोग दूर कर सकते हो तो करो, द्रव्य-रोग की क्या चिन्ता, उसकी दवा तो मेरे पास भी है ।"

यो कहकर मुनि ने रक्तस्राव से गलित अगुली के थूक लगाया और तत्काल ही वह अगुली कंचन के समान हो गई ।

देव भी चकित [illegible] हो बार-
क्षमायाचना करते [illegible]

उस समय सनत्कुमार स्नान-पीठ पर खुले बदन नहाने बैठे थे, ब्राह्मणों की प्रबल इच्छा जानकर चक्री ने कहा—"आने दो।" ब्राह्मण आये और सनत्कुमार का रूप-लावण्य देखकर चकित हो गये।

चक्री ने कहा—"अभी क्या देख रहे हो? स्नान के पश्चात् जब वस्त्राभूषणों मे सुसज्जित हो सभा मे बैठूं तब देखना।"

ब्राह्मणों ने कहा—"जैसी आज्ञा।"

कुछ ही समय में स्नानादि से निवृत्त हो महाराज कल्पवृक्ष की तरह अलंकृत विभूषित हो राजसभा मे आये, उस समय उन दोनों ब्राह्मणों को भी बुलाया गया।

ब्राह्मणों ने देखा तो शरीर का रंग बदल गया था। वे मन ही मन खेद का अनुभव करने लगे।

चक्रवर्ती ने पूछा—"चिन्तित क्यों है?"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! शरीरं व्याधिमंदिरम्" आपके सुन्दर शरीर में कीड़े उत्पन्न हो गये हैं।"

शरीर की इस नश्वरता से सनत्कुमार संभल गये और विरक्त हो सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह का त्यागकर मुनि बन गये। दीक्षित होकर वे निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करने लगे, रोग आदि प्रतिकूल परीषहों मे भी विचलित नहीं हुए। दीर्घकाल की इस कठिन तपस्या एवं साधना से उनको अनेक लब्धियां प्राप्त हो गईं।

एक बार पुनः स्वर्ग मे उनकी प्रशंसा हुई और देव उनके धैर्य की परीक्षा करने आया।

देव वैद्य का रूप बनाकर आया और आवाज लगाते हुए मुनि के पास से निकला—"लो दवा, लो दवा। रोग मिटाऊं।"

मुनि ने कहा—"वैद्य! कौनसा रोग मिटाते हो? भाव-रोग दूर कर सकते हो तो करो, द्रव्य-रोग की क्या चिन्ता, उसकी दवा तो मेरे पास भी है।"

यों कहकर मुनि ने रक्तस्राव से गलित अंगुली के थूक लगाया और तत्काल ही वह अंगुली कंचन के समान हो गई।

देव भी चकित एवं लज्जित हो मुनि के चरणों मे नतमस्तक हो बार-बार क्षमायाचना करते हुए अपने स्थान को चला गया।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् धर्मनाथ का प्रवचन देवों में सर्वत्र जनमानस में घर किये हुए था और सबके लिये आदरणीय बना हुआ था।

महामुनि सनत्कुमार एक लाख वर्ष तक संयम का पालन कर, अन्त समय की आराधना से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

भगवान् धर्मनाथ के संघ में निम्न परिवार था :—

गणधर	— तियालीस [४३] अरिष्ट आदि
केवली	— चार हजार पाच सौ [४,५००]
मन.पर्यवज्ञानी	— चार हजार पाच सौ [४,५००]
अवधिज्ञानी	— तीन हजार छः सौ [३,६००]
चौदह पूर्वधारी	— नौ सौ [९००]
वैक्रिय लब्धिधारी	— सात हजार [७,०००]
वादी	— दो हजार आठ सौ [२,८००]
साधु	— चौसठ हजार [६४,०००]
साध्वी	— बासठ हजार चार सौ [६२,४००]
श्रावक	— दो लाख चवालीस हजार [२,४४,०००]
श्राविका	— चार लाख तेरह हजार [४,१३,०००]

परिनिर्वाण

दो कम ढाई लाख वर्ष तक केवली-पर्याय मे विचरकर प्रभु ने लाखों जीवो का उद्धार किया।

फिर प्रभु ने अपना मोक्षकाल निकट देखकर आठ सौ मुनियों के साथ सम्मेत-शिखर पर एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पुष्य नक्षत्र में अयोगी-भाव मे स्थित हो, सकल कर्मों का क्षय कर दस लाख वर्ष की आयु मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

□ □ □

चक्रवर्ती मघवा

पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थंकर भ० शान्तिनाथ के अन्तराल काल में तीसरा चक्रवर्ती मघवा हुआ।

इसी भरतक्षेत्र की श्रावस्ती नामक नगरी में समुद्रविजय नामक एक महा प्रतापी राजा राज्य करता था। उनकी पट्टमहिषी का नाम भद्रा था। राजा और रानी दोनों ही बड़े न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ थे। एक रात्रि में महारानी भद्रा ने १४ शुभस्वप्न देखे। दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज समुद्रविजय ने स्वप्नपाठकों को बुलाकर महारानी के स्वप्नो के सम्बन्ध मे जिज्ञासा प्रकट की। नैमित्तिकों ने १४ महास्वप्नों के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करने के पश्चात् महाराजा से निवेदन किया कि महारानी के गर्भ में एक महान् पुण्यशाली एवं महाप्रतापी प्राणी आया है। महादेवी ने जो उत्तम १४ महास्वप्न देखे हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे चक्रवर्ती सम्राट् की माता बनेंगी।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महादेवी भद्रा ने एक महान् तेजस्वी, सुन्दर एवं सुकुमार पुत्ररत्न को जन्म दिया। महाराजा समुद्रविजय ने देवेन्द्र के समान ओजस्वी तथा तेजस्वी अपने पुत्र का नाम मघवा रखा। राजकुमार मघवा का बड़े ही राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन किया गया और शिक्षायोग्य वय में उन्हे उस समय उच्च कोटि के कलाचार्यों के पास सभी प्रकार की राजकुमारोचित कलाओं एवं विद्याओ का अध्ययन कराया गया भोगसमर्थ युवावस्था मे राजकुमार मघवा का अनेक कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया। युवराज मघवा २५,००० वर्ष तक कुमारावस्था मे रहकर ऐहिक विविध सुखों का उपभोग करते रहे। तदनन्तर महाराज समुद्रविजय ने उनका राज्याभिषेक किया। महाराज मघवा २५ हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते रहे। अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर महाराज मघवा ने १० हजार वर्ष तक षट्खण्ड की साधना की और षट्खण्ड की सम्पूर्ण साधना के पश्चात् उनका चक्रवर्ती के पद पर महाभिषेक किया गया। ३६ हजार (३६,०००) वर्ष तक वे भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर एकच्छत्र शासन करते हुए चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों का सुखोपभोग करते रहे। उनचालीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर रहने के अनन्तर उन्होने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। पचास हजार वर्ष तक उन्होने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किया और अन्त मे ५,००,००० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर वे तीसरे देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए। चक्रवर्ती मघवा

के देवलोकगमन क सम्बन्ध में "तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ की एक गाथा प्रकाश डालती है, जो इस प्रकार है :—

अट्ठेव गया मोक्खं, सुहुमो बंभो य सत्तमि पुढवि ।
मघवं सणकुमारो, सणकुमारं गया कप्पं ।।५७।।

अर्थात्—बारह चक्रवर्तियों में से आठ चक्रवर्ती मोक्ष में गये । सुभूम और ब्रह्मदत्त नामक दो चक्रवर्ती सातवें नरक में गये तथा मघवा और सनत्कुमार नामक दो चक्रवर्ती सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में गये ।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि चक्रवर्ती मघवा मोक्ष में गये, न कि सनत्कुमार नामक देवलोक मे । अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे उनके द्वारा यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि उत्तराध्ययनसूत्र के "संजइज्जं" नामक अठारहवें अध्ययन मे भरतादि मुक्त हुए राजर्षियो के साथ चक्रवर्ती मघवा और सनत्कुमार का स्मरण किया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती मघवा मोक्ष मे गये । परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन मे सभी राजर्षियो के लिये प्रयुक्त शब्दावलि पर मनन के उपरान्त उन विद्वानों की वह मान्यता केवल अनुमान ही प्रतीत होने लगती है । उक्त अध्ययन की ३५ वी गाथा मे भरत एवं सगर चक्रवर्ती के लिये "परिनिव्वुडे" और ३८ से ४३ संख्या तक की गाथाओं मे भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ तथा चक्रवर्ती महापद्म, हरिषेण एवं जयसेन के लिये "पत्तो गइमणुत्तरं" पद का प्रयोग किया गया है । इसके विपरीत उक्त अध्ययन की गाथा सं० ३६ में चक्रवर्ती मघवा के लिये 'पव्वज्जमब्भुवगओ" और गाथा स० ३७ में चक्रवर्ती सनत्कुमार के लिये "सोवि राया तवं चरे"—पद का प्रयोग किया गया है । यदि ३७ वी गाथा और ३८ वी गाथाओं के अन्तिम चरण क्रमश: "मघवं परिनिव्वुडो" तथा "पत्तो गइमणुत्तरं"—इस रूप मे होते तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता था कि वे मुक्ति में गये । स्थानागसूत्र मे चक्रवर्ती सनत्कुमार के सम्बन्ध मे तो—"दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ" स्थानांग सूत्र के इस मूल पाठ पर गहन चिन्तन-मनन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उसी भव मे मुक्त हो गये होंगे, किन्तु इस प्रकार का कोई सूत्रपाठ मघवा चक्रवर्ती के सम्बन्ध मे उपलब्ध नही होता । इस प्रकार की स्थिति मे तित्थोगाली पइन्नय की उपर्युद्धृत गाथा और टीकाकारो के उल्लेखों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि चक्रवर्ती मघवा सुदीर्घकाल तक श्रमणपर्याय का पालन कर सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न हुए ।

भगवान् श्री शान्तिनाथ

भगवान् धर्मनाथ के बाद सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ हुए। इनका जीवन बड़ा प्रभावशाली और लोकोपकारी था। इन्होने अनेक भवों से तीर्थंकर-पद की योग्यता सम्पादित की। इनके श्रीषेण, युगलिक आदि के भवों में से यहां वज्रायुध के भव से संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह के मंगलावती-विजय मे रत्नसंचया नाम की नगरी थी। रत्न-संचया के महाराज क्षेमंकर की रानी रत्नमाला से वज्रायुध का जन्म हुआ।

बड़े होने पर लक्ष्मीवती देवी से उनका विवाह हुआ और वे सुदीर्घ काल तक उसके साथ सांसारिक सुखोपभोग करते रहे। कालान्तर में लक्ष्मीवती ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सहस्रायुध रखा गया।

किसी समय स्वर्ग में इन्द्र ने देवगण के समक्ष वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा की। समस्त देवगण द्वारा उसे मान्य करने पर भी चित्रचूल नाम के एक देव ने कहा—"मैं परीक्षा के बिना ऐसी बात नही मानता।"

ऐसा कहकर वह क्षेमंकर राजा की सभा मे आया और बोला—"संसार मे आत्मा, परलोक और पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं है। लोग अन्धविश्वास में व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं।"

देव की बात का प्रतिवाद करते वज्रायुध बोला—"आयुष्मन्! आपको जो दिव्य-पद और वैभव मिला है, अवधिज्ञान से देखने पर पता चलेगा कि पूर्व-जन्म में यदि आपने विशिष्ट कर्त्तव्य नही किया होता तो यह दिव्य-भव आपको नहीं मिलता। पुण्य-पाप और परलोक नही होते तो आपको वर्तमान की ऋद्धि प्राप्त नहीं होती।"

वज्रायुध की बात से देव निरुत्तर हो गया और उसकी दृढता से प्रसन्न होकर बोला—"मैं तुम्हारी दृढ़ सम्यक्त्वनिष्ठा से प्रसन्न हूं, अतः जो चाहो सो मांगो।"

वज्रायुध ने निस्पृहभाव से कहा—"मैं तो इतना ही चाहता हूं कि तुम सम्यक्त्व का पालन करो।"

वज्रायुध की नि.स्वार्थ-वृत्ति से देव बहुत प्रसन्न हुआ और दिव्य-अलंकार भेंट कर वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हुए चला गया।

किसी समय वज्रायुध के पूर्वभव के शत्रु एक देव ने उनको क्रीडा मे देखकर ऊपर से पर्वत गिराया और उन्हें नाग-पाश मे बाध लिया। परन्तु प्रबल-पराक्रमी वज्रायुध ने वज्रऋषभ-नाराच-संहनन के कारण एक ही मुष्टि-प्रहार से पर्वत के टुकडे-टुकडे कर दिये और नागपाश को भी तोड फेंका।

कालान्तर मे राजा क्षेमकर ने वज्रायुध को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। इधर भावी-तीर्थंकर वज्रायुध ने आयुधशाला मे चक्र-रत्न के उत्पन्न होने पर छ खण्ड पृथ्वी को जीत कर सार्वभौम सम्राट् का पद प्राप्त किया और सहस्रायुध को युवराज बनाया।

एक बार जब वज्रायुध राज-सभा मे बैठे हुए थे कि "बचाओ, बचाओ" की पुकार करता हुआ एक विद्याधर वहा आया और राजा के चरणो मे गिर पड़ा।

शरणागत जानकर वज्रायुध ने उसे आश्वस्त किया। कुछ स.य बाद ही शस्त्र हाथ मे लिए एक विद्याधर दम्पति आया तथा अपने अपराधी को मांगने लगा और उसने कहा—"महाराज ! इसने हमारी पुत्री को विद्या-साधन करते समय उठाकर आकाश मे ले जाने का अपराध किया है, अत इसको हमे सौंपिये, हम इसे दण्ड देंगे।"

वज्रायुध ने उनको पूर्वजन्म की बात सुनाकर उपशान्त किया और स्वयं ने भी पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। वे सयम-साधना के पश्चात् पादोपगमन संथारा कर आयु का अन्त होने पर ग्रैवेयक मे देव हुए।

ग्रैवेयक से निकलकर वज्रायुध का जीव पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहा रानी प्रियमती की कुक्षि से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम मेघरथ रखा गया।

महाराज घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा से दृढरथ का जन्म हुआ। युवा होने पर सुमंदिरपुर के राजा की कन्या के साथ मेघरथ का विवाह हुआ। मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी बड़े दयालु और साहसी थे।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। मेघरथ राजा बन गया, फिर भी धर्म को नही भूला। एक दिन व्रत ग्रहण कर वह पौषधशाला मे बैठा था कि एक कबूतर आकर उसकी गोद मे गिर गया और भय से

कंपित हो अभय की याचना करने लगा।[1] राजा ने स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसे निर्भय रहने को आश्वस्त किया।

इतने में ही वहां एक बाज आया और राजा से कबूतर की माग करने लगा। राजा ने शरणागत को लौटाने मे अपनी असमर्थता प्रकट की तथा बाज से कहा—"खाने के लिए तू दूसरी वस्तु से भी अपना पेट भर सकता है, फिर इसको मार कर क्या पायेगा ? इसको भी प्राण अपने समान ही प्रिय है।"

इस पर बाज ने कहा—"महाराज ! एक को मार कर दूसरे को बचाना, यह कहा का न्याय व धर्म है ? कबूतर के ताजे मास के बिना मैं जीवित नही रह सकता, आप धर्मात्मा है तो दोनो को बचाइये।"

यह सुनकर मेघरथ ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो मैं अपना ताजा मास तुम्हें देता हूं, लो इसे खाओ और असहाय कबूतर को छोड़ दो।"

बाज ने राजा की बात मान ली। तराजू मँगाकर राजा ने एक पलड़े मे कबूतर को रखा और दूसरे मे अपने शरीर का मास काट-काट कर रखने लगे। राजा के इस अद्भुत साहस को देख कर पुरजन और अधिकारी वर्ग स्तब्ध रह गये, राज परिवार में शोक का वातावरण छा गया। शरीर का एक-एक अग चढाने पर भी जब उसका भार कबूतर के भार के बराबर नही हुआ तो राजा स्वय सहर्ष तराजू पर बैठ गया।

बाज रूप मे देव, राजा की इस अविचल-श्रद्धा और अपूर्व-त्याग को देख कर मुग्ध हो गया और दिव्य-रूप से उपस्थित होकर मेघरथ के करुणाभाव की प्रशसा करते हुए बोला—"धन्य है महाराज मेघरथ को ! मैंने इन्द्र की बात पर विश्वास न करके आपको जो कष्ट दिया, एतदर्थ क्षमा चाहता हू। आपकी श्रद्धा सचमुच अनुकरणीय है।" यह कह कर देव चला गया।[2]

कुछ समय बाद मेघरथ ने पौषधशाला मे पुन अष्टम-तप किया। उस समय राजा ने जीव-दया के उत्कृष्ट अध्यवसायो मे महान् पुण्य-सचय किया।

ईशानेन्द्र ने स्वर्ग से नमन कर इनकी प्रशसा की, किन्तु इन्द्राणियो को विश्वास नही हुआ। उन्होने आकर मेघरथ को ध्यान से विचलित करने के लिए

---

१ एयम्मि देसयाले, भीओ पारेवओ थरथरेंतो।
पोसहमालमइगओ 'राय ! सरण ति सरण' ति ॥
[वसुदेव हिण्डी, द्वि० खण्ड, पृ ३३७]

२ आचार्य शीलाक के अनुसार वज्रायुध ने पारावत की रक्षा करने को पौषधशाला मे अपना माम काटकर देना स्वीकार किया तो देव उनकी दृढता देख प्रसन्न हो चला गया।
[चउ म पु. च पृ १४६]

विविध परीषह दिये परन्तु राजा का ध्यान विचलित नही हुआ । सूर्योदय होते-होते देवियां अपनी हार मानती हुई राजा को नमस्कार कर चली गई ।

प्रात:काल राजा मेघरथ ने दीक्षा लेने का संकल्प किया और अपने पुत्र को राज्य देकर महामुनि घनरथ के पास अनेक साथियों के संग दीक्षा ले ली । प्राणि-दया से प्रकृष्ट-पुण्य का संचय किया ही था, फिर तप, संयम की आराधना से उन्होंने महती कर्म-निर्जरा की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन कर लिया ।

अन्त-समय अनशन की आराधना कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए तथा वहा तेंतीस सागर की आयु प्राप्त की ।

जन्म

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र के शुभ योग में मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्ध-विमान से च्यव कर हस्तिनापुर के महाराज विश्वसेन की महारानी अचिरा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । माता ने गर्भधारण कर उसी रात में मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न भी देखे । उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में मध्यरात्रि के समय माता ने सुखपूर्वक कांचनवर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया । इनके जन्म से सम्पूर्ण लोक मे उद्योत हुआ और नारकीय जीवो को भी क्षण भर के लिए विराम मिला । महाराज ने अनुपम आमोद-प्रमोद के साथ जन्म-महोत्सव मनाया ।

नामकरण

शान्तिनाथ के जन्म से पूर्व हस्तिनापुर नगर एवं देश मे कुछ काल से महामारी का रोग चल रहा था । प्रकृति के इस प्रकोप से लोग भयाक्रान्त थे । माता अचिरादेवी भी इस रोग के प्रसार से चिन्तित थी ।

माता अचिरादेवी के गर्भ में प्रभु का आगमन होते ही महामारी का भयंकर प्रकोप शान्त हो गया, अतः नामकरण संस्कार के समय आपका नाम शान्तिनाथ रखा गया ।[1]

विवाह और राज्य

द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ते हुए कुमार शान्तिनाथ जब पच्चीस हजार वर्ष के हो युवावस्था में आये तो पिता महाराज विश्वसेन ने अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह करा दिया[2] और कुछ काल के बाद

---

१ गब्भत्थेण य भगवया सव्वदेसे सतीसमुप्पण्णा त्ति काऊण सन्तिस्णाम अम्मापितीहिं कय ।। च म. पु च. पृ. १५०

२ ततो सो जोव्वण पत्तो पणुवीसवाससहस्साणी कुमारकाल गमेइ ।
[वसुदेव हिण्डी दूसरा भाग पृष्ठ ३४०]

शान्तिनाथ को राज्य देकर स्वयं महाराज विश्वसेन ने आत्मशुद्धयर्थ मुनिव्रत स्वीकार किया।

अब शान्तिनाथ राजा हो गये। उन्होंने देखा कि अभी भोग्य-कर्म अवशेष हैं। इसी बीच महारानी यशोमती से उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जो कि दृढ़रथ का जीव था। पुत्र का नाम चक्रायुध रखा गया। पचीस हजार वर्ष तक मांडलिक राजा के पद पर रहते हुए आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर उसके प्रभाव से शान्तिनाथ ने षट्खण्ड पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया और पच्चीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से सम्पूर्ण भारतवर्ष का शासन किया। जब भोग्य-कर्म क्षीण हुए तो उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा की।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवो से प्रेरित होकर प्रभु ने वर्ष भर याचकों को इच्छानुसार दान दिय और एक हजार राजाओ के साथ छट्ठ-भक्त की तपस्या से ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भरणी नक्षत्र मे दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। देव-मानव-वृन्द से घिरे हुए प्रभु सहस्राम्र वन मे पहुचे और वहा सिद्ध की साक्षी से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन मदिरपुर मे जाकर महाराज सुमित्र के यहां परमान्न से आपने प्रथम पारणा किया। पचदिव्य बरसा कर देवो ने दान की महिमा प्रकट की।

वहा से विहार कर वर्ष भर तक आप विविध प्रकार की तपस्या करते हुए छद्मस्थ-रूप से विचरे।

केवलज्ञान

एक वर्ष बाद फिर हस्तिनापुर के सहस्राम्र उद्यान में आकर आप ध्यानावस्थित हो गये। आपने शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सम्पूर्ण घाति-कर्मो का क्षय किया और पौष शुक्ला नवमी को भरणी नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना देते हुए समझाया—"संसार के सारभूत षट्-द्रव्यो में आत्मा ही सर्वोच्च और प्रमुख है। जिस कार्य से आत्मा का उत्थान हो वही उत्तम और श्रेयस्कर है। मानव-जन्म पाकर जिसने कल्याण-साधन नहीं किया उसका जीवन अजा-गल-स्तन की तरह व्यर्थ एवं निष्फल है।"

धर्म-देशना सुन कर हजारों नर-नारियो ने संयम-धर्म स्वीकार किया। चतुर्विध-संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार

भगवान् शान्तिनाथ का धर्म-परिवार निम्न प्रकार था :—

गण एवं गणधर[1]	– छत्तीस [३६]
केवली	– चार हजार तीन सौ [४,३००]
मन पर्यवज्ञानी	– चार हजार [४,०००]
अवधिज्ञानी	– तीन हजार [३,०००]
चौदह पूर्वधारी	– आठ सौ [८००]
वैक्रिय लब्धिधारी	– छः हजार [६,०००]
वादी	– दो हजार चार सौ [२,४००]
साधु	– बासठ हजार [६२,०००]
साध्वी	– इकसठ हजार छः सौ [६१,६००]
श्रावक	– दो लाख नब्बे हजार [२,९०,०००]
श्राविका	– तीन लाख तिरानवे हजार [३,९३,०००]

परिनिर्वाण

प्रभु ने एक वर्ष कम पच्चीस हजार वर्ष केवली-पर्याय में विचर कर लाखों लोगों को कल्याण का संदेश दिया। फिर अन्तकाल समीप जानकर उन्होंने नौ सौ साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सम्मेत-शिखर पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु एक लाख वर्ष की थी।

□ □ □

१ (क) आवश्यक नि० दीपिका प्र० भा०, पृ० ६७ (१), गा० २६७
(ख) समवायांग, समवाय ९ में ९० गणधर होने का उल्लेख है।

भगवान् श्री कुंथुनाथ

भगवान् श्री शान्तिनाथ के बाद सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह की खड्गी नगरी के महाराज सिंहावह संसार से विरक्ति होने के कारण संवराचार्य के पास दीक्षित हुए और अर्हद् भक्ति आदि विशिष्ट स्थानों की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्तिम समय में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सिंहावह सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

सर्वार्थसिद्ध विमान से निकल कर सिंहावह का जीव हस्तिनापुर के महाराज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी की कुक्षि में श्रावण बदी नवमी को कृत्तिका नक्षत्र में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने सर्वोत्कृष्ट महान् पुरुष के जन्म-सूचक चौदह परम-मंगलप्रदायक-शुभस्वप्न देखे।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र में सुखपूर्वक प्रभु ने जन्म धारण किया।

नामकरण

दस दिन तक जन्म-महोत्सव आमोद-प्रमोद के साथ मनाने के बाद महाराज वसुसेन ने उपस्थित मित्रजनों के समक्ष नामकरण का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा—"गर्भ-समय में बालक की माता ने कुंथु नाम के रत्नों की राशि देखी, अतः बालक का नाम कुंथुनाथ रखा जाता है।"[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था में प्रवेश करने के बाद प्रभु ने भोग्य-कर्म को समाप्त करने के लिए योग्य राज-कन्याओं से पाणिग्रहण किया।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष के बाद आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न

---

१ सुमिणे य थूमं दट्ठूण जणणी विउद्ध त्ति, गब्भगये य कुंथुसमाणा सेसपडिवक्खा थिट्ठुत्ति काऊणं कुंथु त्ति णामं कयं भगवओ ॥ च. म पु. च., पृ. १५२

होने पर आपने षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया एवं चौदह रत्न, नव-निधान और सहस्रों राजाओं के अधिनायक हुए।

बाईस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से राज्य का शासन करते हुए प्रभु समुचित रीति से प्रजा का पालन करते रहे।

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की—"भगवन्! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्र वन में पहुंचकर छट्ठ-भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु 'चक्रपुर' नगर में पधारे और राजा व्याघ्रसिंह के यहां प्रथम पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ-चर्या में सोलह वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुनः सहस्राम्र वन में पधारे और ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में तिलक वृक्ष के नीचे मोह और अज्ञान का सर्वथा नाश कर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका के योग में प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुतधर्म-चारित्रधर्म की महिमा बतलाते हुए चतुर्विध-संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार

भगवान् कुंथुनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण	— पेंतीस [३५] स्वयम्भू आदि गणधर एवं ३५ ही गण
केवली	— तीन हजार दो सौ [३,२००]
मनःपर्यवज्ञानी	— तीन हजार तीन सौ चालीस [३,३४०]

अवधिज्ञानी	– दो हजार पाँच सौ [२,५००]
चौदह पूर्वधारी	– छः सौ सत्तर [६७०]
वैक्रियलब्धिधारी	– पाँच हजार एक सौ [५,१००]
वादी	– दो हजार [२,०००]
साधु	– साठ हजार [६०,०००]
साध्वी	– साठ हजार छः सौ [६०,६००]
श्रावक	– एक लाख उन्यासी हजार [१,७६,०००]
श्राविका	– तीन लाख इक्यासी हजार [३,८१,०००]

परिनिर्वाण

मोक्षकाल समीप जान कर प्रभु सम्मेतशिखर पधारे। वहाँ केवलज्ञान के बाद तेईस हजार सात सौ चालीस वर्ष बीतने पर एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।

इनकी पूर्ण आयु पिच्यानवे हजार वर्ष की थी, जिसमें से तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार अवस्था, तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष माण्डलिक-पद और उतने ही वर्ष अर्थात् २३ हजार सात सौ पचास वर्ष चक्रवर्ती-पद पर रहे एवं तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष संयम का पालन किया।

☐ ☐ ☐

भगवान् श्री अरनाथ

भगवान् कुंथुनाथ के पश्चात् अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व महा-विदेह की सुसीमा नगरी के महाराज धनपति के भव में इन्होंने तीर्थंकर-पद की अर्हता प्राप्त की। धनपति ने अपने नगरवासियों को प्रेमपूर्वक संयम और अनुशासन में रहने की ऐसी शिक्षा दी थी कि उन्हें दण्ड से समझाने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई।

कुछ समय के बाद धनपति ने संसार से विरक्त होकर संवर मुनि के पास संयम-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तप-नियम की साधना करते हुए महीमंडल पर विचरने लगे।

एक बार चातुर्मासी तप के पारणे पर जिनदास सेठ ने मुनि को श्रद्धापूर्वक प्रतिलाभ दिया। इस प्रकार देव, गुरु, धर्म के विनय और तप-नियम की उत्कृष्ट साधना से उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधि-पूर्वक काल कर वे ग्रैवेयक में महर्द्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर यही धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप में उत्पन्न हुआ। उस समय महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्नों को देख कर परम प्रमोद प्राप्त किया।

अनुक्रम से गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देव और देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव मनाया। महाराज सुदर्शन ने भी नगर में बड़े आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

गर्भकाल में माता ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा, इसलिए बालक के नामकरण के समय सुदर्शन ने पुत्र का नाम भी उपस्थित मित्रजनों के समक्ष अरनाथ रखा।[1]

---

१ गब्भट्ठियम्मि से माया सुमिणम्मि महारिहाऽरयणमयरत्तणोऽयं अरो त्ति। [च. पु च पृ. १५३]

अवधिज्ञानी	— दो हजार पाँच सौ [२,५००]
चौदह पूर्वधारी	— छः सौ सत्तर [६७०]
वैक्रियलब्धिधारी	— पाँच हजार एक सौ [५,१००]
वादी	— दो हजार [२,०००]
साधु	— साठ हजार [६०,०००]
साध्वी	— साठ हजार छः सौ [६०,६००]
श्रावक	— एक लाख उन्यासी हजार [१,७९,०००]
श्राविका	— तीन लाख इक्यासी हजार [३,८१,०००]

परिनिर्वाण

मोक्षकाल समीप जान कर प्रभु सम्मेतशिखर पधारे। वहाँ केवलज्ञान के बाद तेईस हजार सात सौ चालीस वर्ष बीतने पर एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।

इनकी पूर्ण आयु पिच्चानवे हजार वर्ष की थी, जिसमें से तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार अवस्था, तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष माण्डलिक-पद और उतने ही वर्ष अर्थात् २३ हजार सात सौ पचास वर्ष चक्रवर्ती-पद पर रहे एवं तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष संयम का पालन किया।

□□□

भगवान् श्री अरनाथ

भगवान् कुंथुनाथ के पश्चात् अठारहवे तीर्थंकर भगवान् अरनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व महा-विदेह की सुसीमा नगरी के महाराज धनपति के भव मे इन्होंने तीर्थंकर-पद की अर्हता प्राप्त की। धनपति ने अपने नगरवासियो को प्रेमपूर्वक सयम और अनुशासन मे रहने की ऐसी शिक्षा दी थी कि उन्हे दण्ड से समझाने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।

कुछ समय के बाद धनपति ने ससार से विरक्त होकर संवर मुनि के पास सयम-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तप-नियम की साधना करते हुए महीमंडल पर विचरने लगे।

एक बार चातुर्मासी तप के पारणे पर जिनदास सेठ ने मुनि को श्रद्धापूर्वक प्रतिलाभ दिया। इस प्रकार देव, गुरु, धर्म के विनय और तप-नियम की उत्कृष्ट साधना से उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त मे समाधि-पूर्वक काल कर वे ग्रैवेयक में महद्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर यही धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि मे फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप मे उत्पन्न हुआ। उस समय महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्नों को देख कर परम प्रमोद प्राप्त किया।

अनुक्रम से गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र मे माता ने सुखपूर्वक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देव और देवेन्द्रो ने जन्म-महोत्सव मनाया। महाराज सुदर्शन ने भी नगर मे बड़े आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

गर्भकाल में माता ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा, इसलिए बालक के नामकरण के समय सुदर्शन ने पुत्र का नाम भी उपस्थित मित्रजनो के समक्ष अरनाथ रखा।[1]

---

[1] गब्भट्ठियंमि देवी सुमिणंमि महारिहाऽरयणरयणं अद्दक्खि त्ति। [च. पु च पृ १५१]

विवाह और राज्य

बालक्रीडा करते हुए प्रभु द्वितीया के चन्द्र की तरह बडे हुए। युवावस्था मे पिता की आज्ञा से योग्य राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया गया। इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर राजा सुदर्शन ने कुमार को राज्य-पद पर अभिषिक्त किया। इक्कीस हजार वर्ष तक वे माण्डलिक राजा के रूप मे रहे और फिर आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हो जाने पर प्रभु देश-विजय को निकले और षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती बन गये। इक्कीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती के पद से आपने जनपद का शासन कर देश में सुख, शान्ति सुशिक्षा और समृद्धि की वृद्धि की।

दीक्षा और पारणा

भोग-काल के बाद जब उदय-कर्म का जोर कम हुआ तब प्रभु ने राज्य-वैभव का त्याग कर संयम-साधना की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवो ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्दकुमार को राज्य देकर आप वर्षीदान मे प्रवृत्त हुए तथा याचको को इच्छित-दान देकर हजार राजाओ के साथ बडे समारोह से दीक्षार्थ निकल पड़े।

सहस्राम्र वन मे आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में छट्ठभक्त-बेले की तपस्या से सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

फिर दूसरे दिन राजपुर नगर मे अपराजित राजा के यहा प्रभु ने परमान्न से पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

वहाँ से विहार कर विविध अभिग्रहो को धारण करते हुए तीन वर्ष तक प्रभु छद्मस्थ-विहार से विचरे।[1] वे निद्रा-प्रमाद का सर्वथा वर्जन करते हुए ध्यान की साधना करते रहे। विहारक्रम से प्रभु सहस्राम्र वन आये और आम्र-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। कार्तिक शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र के योग में शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर आठवें, नवमें, दशवे और बारहवे गुणस्थान को प्राप्त किया और घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवो की विशाल सभा मे धर्म-देशना

---

१ आवश्यक मे छद्मस्थकाल तीन अहोरात्र का माना है। सम्पादक

देकर चतुर्विध-संघ की स्थापना की और वे भाव-तीर्थंकर एवं भाव-अरिहंत कहलाये। भाव-अरिहंत अठारह दोषों से रहित होते है। जो इस प्रकार है :—

१. ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान-दोष
२, दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा-दोष
३ मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व-दोष
४ अविरति-दोष
५. राग
६ द्वेष
७ हास्य
८ रति
९. अरति-खेद
१०. भय
११. शोक-चिन्ता
१२. दुगन्छा
१३. काम

(१४ से १८) अन्तरायजन्य दानान्तराय आदि पांच अन्तराय-दोषों को मिलाने से अठारह।

कुछ लोग अठारह दोषों में आहार-दोष को भी गिनते है, पर आहार शरीर का दोष है, अत. आत्मिक दोषों मे उसकी गणना उचित प्रतीत नही होती। उससे केवलज्ञान की प्राप्ति मे अवरोध नही होता। अरिहन्त बन-जाने पर तीर्थंकर प्रभु ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-महाप्रातिहार्य के धारक होते है।

धर्म-परिवार

आपके सघ मे निम्न धर्म-परिवार था .—

गणधर एव गण	– कुंभजी आदि तेतीस [३३] गणधर एव तेतीस [३३] ही गण
केवली	– दो हजार आठ सौ [२,८००]
मन.पर्यवज्ञानी	– दो हजार पांच सौ इक्यावन [२,५५१]
अवधिज्ञानी	– दो हजार छः सौ [२,६००]
चौदह पूर्वधारी	– छः सौ दस [६१०]
वैक्रिय लब्धिधारी	– सात हजार तीन सौ [७,३००]
वादी	– एक हजार छः सौ [१,६००]
साधु	– पचास हजार [५०,०००]
साध्वी	– साठ हजार [६०,०००]
श्रावक	– एक लाख चौरासी हजार [१,८४,०००]
श्राविका	– तीन लाख बहत्तर हजार [३,७२,०००]

परिनिर्वाण

तीन कम इक्कीस हजार वर्ष केवली-चर्या मे विचर कर जब आपको

अपना मोक्षकाल समीप प्रतीत हुआ तो एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर प्रभु ने एक मास का अनशन ग्रहण किया और अन्त समय में शैलेशी दशा को प्राप्त कर चार अघाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र के योग में चौरासी हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए, अर्थात् शरीर त्याग निरञ्जन-निराकार-सिद्ध बन गये ।

□ □ □

भगवान् श्री मल्लिनाथ

अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ के निर्वाण के पश्चात् पचपन हजार वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री मल्लिनाथ का जन्म हुआ।

पूर्वभव

महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती विजय में भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने तीर्थंकर भव से पूर्व के अपने तीसरे भव-महाबल के जीवन में पहले तो स्त्री-वेद का बन्ध और तदनन्तर तीर्थंकर गोत्र-नाम कर्म का उपार्जन किया। भगवान् मल्लिनाथ का पूर्व का यह तीसरा भव वस्तुतः प्रत्येक साधक के लिये बड़ा ही प्रेरणाप्रदायी और शिक्षादायक है।

भगवान् मल्लिनाथ का जीव अपने तीसरे पूर्व भव में महाबल नामक महाराजा था। वह अपने छह बालसखा राजाओं के साथ श्रमणधर्म में दीक्षित हुआ। द्वादशांगी का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् महाबल आदि उन सातों ही अणगारों ने परस्पर विचार विनिमय के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सातों मुनि सदा साथ-साथ और समान तप करेंगे। उन सातों मित्र श्रमणों ने अपनी प्रतिज्ञानुसार साथ-साथ समान तप का आचरण प्रारम्भ भी कर दिया। तदनन्तर मुनि महाबल के मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए :—

"इन छहों साथियों के साथ मैंने समान तपश्चरण की प्रतिज्ञा तो कर ली। पर वस्तुतः श्रमण जीवन से पूर्व में इन सब से ऋद्धि, समृद्धि, ऐश्वर्य आदि में बड़ा रहा हूं, आगे रहा हूं। ये छहों मेरे समकक्ष नहीं थे। मुझसे छोटे थे तो अब तपश्चरण में मैं इनके बराबर कैसे रहूं। अतः मुझे तपश्चरण में इनसे अत्यधिक उत्कृष्ट नहीं तो कम से कम थोड़ा बहुत तो विशिष्ट रहना ही चाहिये।"

इस बड़प्पन के अहं ने मुनि महाबल के अन्तर्मन में माया को, छल-छद्म को जन्म दिया। उसने अपने साथियों से विशिष्ट प्रकार का तपश्चरण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके छहों साथी षष्ठ भक्त तप करते तो महाबल अष्टमभक्त तप करता। वे अष्टमभक्त तप करते तो वह दशम भक्त तप करता। सारांश यह कि उसके छहों साथी जिस किसी प्रकार का छोटा अथवा बड़ा तप करते, उनसे वह महाबल मुनि विशिष्ट तप करता। अपने तप के पारण के दिन

सम महामुनि ने भवतापहारिणी वीतरागवाणी का उपदेश दिया। महामुनि का उपदेश सुनकर महाराजा बल का मानस वैराग्य रस से ओतप्रोत हो उठा। देशनान्तर विशाल परिषद् नगर की ओर लौट गई। महाराजा बल ने सांजलिक शीष झुका महामुनि से निवेदन किया—"भगवन् ! आपके मुखारविन्द से अवितथ वीतरागवाणी को सुनकर मुझे संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई है। मैं अपने पुत्र को सिंहासनारूढ कर आत्महित साधना हेतु आपके पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूं।"

महामुनि ने कहा—"राजन् ! जिसमें तुम्हें सुख प्रतीत हो रहा है, वही करो, उस सुखकर कार्य मे किसी प्रकार का प्रमाद मत करो।"

महाराजा बल ने अपने राजप्रासाद में लौटकर अपने पुत्र महाबल का राज्याभिषेक किया और पुनः महास्थविरों की सेवा में उपस्थित हो उसने महामुनि के पास जन्म-मरण आदि संसार के सभी दु.खों का अन्त करने वाली भागवती दीक्षा अंगीकार की। बल मुनि ने एकादशांगी के गहन अध्ययन के साथ-साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अपनी आत्मा को भावित करना प्रारम्भ किया। उग्रतम तपश्चरण और 'स्व' तथा 'पर' का कल्याण करते हुए मुनि बल ने अनेक वर्षों तक पूर्ण निष्ठा और प्रगाढ श्रद्धा के साथ श्रामण्य पर्याय का पालन किया। अन्त में चारु पर्वत पर जाकर संलेखना, झूसना के साथ अशन-पानादि का पूर्णतः आजीवन प्रत्याख्यान कर संथारा किया। अन्त में उन्होंने एक मास के अनशन पूर्वक समस्त कर्मों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।

उधर राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् महाराजा महाबल ने न्याय और नीतिपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करना प्रारम्भ किया। कालान्तर में महाबल की महारानी कमलश्री ने एक ओजस्वी पुत्र को जन्म दिया। महाबल ने अपने उस पुत्र का नाम बलभद्र रखा। महाराजा महाबल ने अपने पुत्र बलभद्र को शिक्षा योग्य वय मे सुयोग्य कलाचार्यों के पास शिक्षार्थ रखा और जब कुमार बलभद्र सकल कलाओं में पारंगत हो गया तो उसे युवराज पद प्रदान किया।

महाराजा महाबल के अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द नामक छह समवयस्क बालसखा थे। महाबल, अचल आदि उन सातो मित्रों में परस्पर इतनी प्रगाढ मैत्री थी कि वे सदा साथ-साथ रहते, साथ-साथ ही उठते, बैठते, खाते, पीते और आमोद-प्रमोद करते थे। एक दिन महाबल आदि सातो मित्रो ने परस्पर वार्तालाप करते समय यह प्रतिज्ञा की कि वे जीवन भर साथ-साथ रहेंगे। आमोद-प्रमोद, अशन, पान, आदि ऐहिक सुखोपभोग और यहां

तक कि पारलौकिक हित साधना के दान, दया,धर्म से लेकर श्रमणत्व अंगीकार करने तक के सभी कार्य साथ साथ ही करेंगे। कभी एक दूसरे से बिछुड़ेंगे नहीं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वे आमोद-प्रमोद, सुखोपभोग आदि सभी कार्य साथ-साथ करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

कालान्तर में एक दिन वीतशोका नगरी के बहिर्भाग मे अवस्थित इन्द्र-कुम्भ उद्यान में तपस्वी स्थविर श्रमणो के शुभागमन का शुभ संवाद सुनकर वे सातों मित्र उन स्थविरों के दर्शन एवं उपदेश श्रवण के लिये उस उद्यान में गये। धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् महाबल ने स्थविर श्रमणमुख्य की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—"महामुने! आपके उपदेश को सुनकर मुझे ससार से विरक्ति हो गई है। मैं अपने पुत्र को राज्यभार सँभला कर आपके पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूं।" स्थविरमुख्य ने महाबल से कहा—"राजन्! जिससे तुम्हे सुख हो, वही करो। अच्छे कार्य में प्रमाद मत करो।"

महाबल ने अपने अचल आदि छहों मित्रो के समक्ष निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म मे दीक्षित होने का अपना विचार रखा। छहों मित्रों ने एक स्वर में महाबल से कहा—"देवानुप्रिय! यदि तुम्ही श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर रहे हो तो इस संसार में हमारे लिये और कौनसा आधार है और कौनसा आकर्षण अवशिष्ट रह जाता है। यदि आप प्रव्रजित होते हैं तो हम छहो भी आपके साथ ही प्रव्रजित होगे।"

महाबल ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो अपने-अपने पुत्रो को अपने-अपने राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर आप लोग शीघ्रतापूर्वक मेरे पास आ जाइये।"

अपने अनन्य सखा महाराज महाबल की बात सुनकर वे छहों मित्र बड़े प्रमुदित हुए। वे अपने अपने राजप्रासाद में गये। तत्काल अपने अपने बड़े पुत्र को अपने अपने राजसिंहासन पर आसीन कर एक एक सहस्र पुरुषों द्वारा उठाई गई छह पालकियो में बैठ महाबल के पास लौट आये। महाराजा महाबल ने भी अपने पुत्र बलभद्र का राज्याभिषेक किया और वह एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली पालकी मे आरूढ हो अपने मित्रों को साथ लिये स्थविरों के पास इन्द्रकुम्भ उद्यान मे उपस्थित हुआ। तदनन्तर महाबल आदि सातो मित्रों ने अपना अपना स्वयमेव पचमुष्टि लु चन कर उन स्थविर महामुनि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् उन सातों ही मुनियो ने साथ साथ एकादशागी का अध्ययन किया और वे अपनी आत्मा को संयम एव तप द्वारा

भावित करते हुए अप्रतिहत विहार से विचरण करने लगे। कालान्तर में उन सातो ही साथी मुनियो ने परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सातो साथ साथ एक समान तपस्याए करते हुए विचरण करेंगे। अपनी इस प्रतिज्ञाके अनुसार वे सातो ही मुनि एक दूसरे के समान चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्ट भक्त आदि तपस्याएं साथ-साथ करते हुए विचरण करने लगे। तदनन्तर उस महाबल अरणगार ने इस कारण स्त्री नामकर्म का उपार्जन कर लिया कि जब उसके साथी छहो मुनि चतुर्थ भक्त तप करते तो वह महाबल षष्ठभक्त तप कर लेता। यदि उसके छहो साथी मुनि षष्ठ भक्त तप करते तो वह महाबल अरणगार अष्टम भक्त तप कर लेता। इसी प्रकार वे छहों अरणगार यदि अष्टम भक्त तप करते तो महाबल दशमभक्त तप करता और वे छहों अरणगार यदि दशम भक्त तप करते तो महाबल अरणगार द्वादश भक्त तप अर्थात् पांच उपवास का तप करता।

इस प्रकार अपने छहों मित्रों के साथ संयुक्त रूप से की गई समान तपस्या करने की अपनी प्रतिज्ञा के उपरान्त भी अपने मित्रो को अपने अन्तर्मन का भेद न देते हुए उनसे अधिक तपस्या करते रहने के कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध कर लेने के पश्चात् मुनि महाबल ने अर्हद्भक्ति (१), सिद्ध भक्ति (२), प्रवचन भक्ति (३), गुरु (४), स्थविर (५), बहुश्रुत (६), तपस्वी इन चारों की वात्सल्य सहित सेवा भक्ति के साथ उनके गुणों का उत्कीर्तन (७), ज्ञान में निरन्तर उपयोग (८), सम्यक्त्व की विशुद्धि (९), गुरु आदि व गुणवानों के प्रति विनय (१०), दोनो संध्या विधिवत् षड़ावश्यक करना (११), शील और व्रतों का निर्दोष पालन (१२), क्षण भर भी प्रमाद न करते हुए शुभ ध्यान करना अथवा वैराग्य भाव की वृद्धि करना (१३), यथाशक्ति बारह प्रकार का तप करना (१४), त्याग-अभयदान, सुपात्रदान देना (१५) आचार्य आदि वड़ों की वैयावृत्य-शुश्रूषा करना (१६), प्राणिमात्र को समाधि मिले, इस प्रकार का प्रयास करना (१७), अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करना (१८), श्रुतभक्ति अर्थात् जिनप्ररूपित आगमो मे अनुराग रखना (१९) और प्रवचन प्रभावना अर्थात् ससार सागर मे डूबते हुए प्राणियो की रक्षा के प्रयास, समस्त जगत् के जीवों को जिन शासन रसिक बनाने के प्रयास, मिथ्यात्व महान्धकार को मिटा सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रयास के साथ-साथ करण सत्तरी तथा चरण सत्तरी की आराधना करते हुए जिनशासन की महिमा बढाना (२०)— इन बीस बोलो मे से प्रत्येक की पुन पुन: उत्कट आराधना, करते हुए तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म की उपार्जना की।

तदनन्तर महाबल आदि उन सातो ही साथी श्रमणों ने भिक्षु की बारहों प्रतिमाओं को क्रमश: धारण किया। तदनन्तर उन महाबल आदि सातो ही महामुनियो ने स्थविरो से आज्ञा लेकर लघु सिंहनिष्क्रीड़ित और महासिंह

निष्क्रीडित जैसी ६ वर्ष २ मास और १२ रात्रियों में निष्पन्न की जाने वाली घोर-उग्र तपश्चर्याओ की आग मे अपने-अपने आत्मदेव को तपा-तपा कर अपने-अपने कर्म मल को क्षीण से क्षीणतर करने का प्रबल प्रयास किया। लघुसिंह निष्क्रीड़ित और महासिंह निष्क्रीड़ित तपस्याओं को पूर्ण करने के पश्चात् वे सातो मुनि उपवास, बेला, तेला आदि तपस्याएं करते हुए अपने कर्मसमूह को नष्ट करने में प्रयत्नशील रहे।

इस प्रकार घोर तपश्चरण करते रहने के कारण महाबल आदि सातो मुनियो के शरीर केवल चर्म से ढंके हुए अस्थि पजर मात्र अवशिष्ट रह गये, उस समय उन्होने स्थविरों से आज्ञा लेकर चारु पर्वत पर सलेखना के साथ यावज्जीव अशन-पानादि का प्रत्याख्यान रूप पादपोपगमन सथारा किया। उन महाबल आदि सातो महामुनियों ने ८४ लाख वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया और अन्त मे ४ मास की तपस्यापूर्वक ८४ लाख पूर्व की अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र देव हुए। महाबल पूर्ण ३२ सागर की आयु वाला देव और शेष अचल आदि छहो मुनि बत्तीस सागर मे कुछ कम स्थिति वाले देव हुए। जयन्त विमान मे वे सातो मित्र देव अपने महर्द्धिक देव भव के दिव्य सुखो का उपभोग करने लगे।

अचल आदि ६ मित्रों का जयन्त विमान से च्यवन

महाबल को छोड शेष अचल आदि छहो मित्रो के जीव जयन्त विमान की अपनी देव आयु पूर्ण होने पर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशुद्ध मातृ-पितृ वश वाले राजकुलो मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। अचल का जीव कोशल देश की राजधानी अयोध्या मे प्रतिबुद्धि नामक कौशल नरेश हुआ। धरण का जीव अंग जनपद की राजधानी चम्पा नगरी में चन्द्रछाग नामक अगराज हुआ। अभिचन्द का जीव काशी जनपद की राजधानी बनारस मे शख नामक काशी नरेश्वर हुआ। पूरण का जीव कुणाला जनपद की राजधानी कुणाला नगरी मे रुक्मी नामक कुणालाधिपति हुआ। वसु का जीव कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर मे अदीनशत्रु नामक कुरुराज और वैश्रवण का जीव पाचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्यपुरी नगरी में जितशत्रु नामक पांचालाधिपति हुआ।

भगवान् मल्लिनाथ का गर्भ में आगमन

महाबल का जीव जयन्त नामक अनुत्तर विमान के देव भव की अपनी आयु पूर्ण होने पर १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के रूप मे उत्पन्न हुआ।

जिस समय सूर्यादि ग्रह उच्च स्थान मे स्थित थे, चारों दिशाऐं दिग्दाहादि उपद्रवो से विहीन होने के कारण सौम्य, तीर्थंकर पुण्य प्रकृति के बन्ध वाले;

भावित करते हुए अप्रतिहत विहार से विचरण करने लगे। कालान्तर में उन सातों ही साथी मुनियो ने परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सातो साथ साथ एक समान तपस्याएं करते हुए विचरण करेंगे। अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार वे सातो ही मुनि एक दूसरे के समान चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्ट भक्त आदि तपस्याए साथ-साथ करते हुए विचरण करने लगे। तदनन्तर उस महाबल अणगार ने इस कारण स्त्री नामकर्म का उपार्जन कर लिया कि जब उसके साथी छहो मुनि चतुर्थ भक्त तप करते तो वह महाबल षष्ठभक्त तप कर लेता। यदि उसके छहो साथी मुनि षष्ठ भक्त तप करते तो वह महाबल अणगार अष्टम भक्त तप कर लेता। इसी प्रकार वे छहों अणगार यदि अष्टम भक्त तप करते तो महाबल दशमभक्त तप करता और वे छहो अणगार यदि दशम भक्त तप करते तो महाबल अणगार द्वादश भक्त तप अर्थात् पाँच उपवास का तप करता।

इस प्रकार अपने छहो मित्रों के साथ संयुक्त रूप से की गई समान तपस्या करने की अपनी प्रतिज्ञा के उपरान्त भी अपने मित्रो को अपने अन्तर्मन का भेद न देते हुए उनसे अधिक तपस्या करते रहने के कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध कर लेने के पश्चात् मुनि महाबल ने अर्हद्भक्ति (१), सिद्ध भक्ति (२), प्रवचन भक्ति (३), गुरु (४), स्थविर (५), बहुश्रुत (६), तपस्वी इन चारों की वात्सल्य सहित सेवा भक्ति के साथ उनके गुणों का उत्कीर्तन (७), ज्ञान में निरन्तर उपयोग (८), सम्यक्त्व की विशुद्धि (९), गुरु आदि व गुणवानों के प्रति विनय (१०), दोनो संध्या विधिवत् षडावश्यक करना (११), शील और व्रतों का निर्दोष पालन (१२), क्षण भर भी प्रमाद न करते हुए शुभ ध्यान करना अथवा वैराग्य भाव की वृद्धि करना (१३), यथाशक्ति बारह प्रकार का तप करना (१४), त्याग-अभयदान, सुपात्रदान देना (१५) आचार्य आदि बड़ों की वैयावृत्य-शुश्रूषा करना (१६), प्राणिमात्र को समाधि मिले, इस प्रकार का प्रयास करना (१७), अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करना (१८), श्रुतभक्ति अर्थात् जिनप्ररूपित आगमो मे अनुराग रखना (१९) और प्रवचन प्रभावना अर्थात् ससार सागर मे डूबते हुए प्राणियों की रक्षा के प्रयास, समस्त जगत् के जीवो को जिन शासन रसिक बनाने के प्रयास, मिथ्यात्व महान्धकार को मिटा सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रयास के साथ-साथ करण सत्तरी तथा चरण सत्तरी की आराधना करते हुए जिनशासन की महिमा बढाना (२०)— इन बीस बोलो में से प्रत्येक की पुनः पुन. उत्कट आराधना, करते हुए तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म की उपार्जना की।

तदनन्तर महाबल आदि उन सातो ही साथी श्रमणो ने भिक्षु की बारहों प्रतिमाओं को क्रमशः धारण किया। तदनन्तर उन महाबल आदि सातो ही महामुनियो ने स्थविरो से आज्ञा लेकर लघु सिंहनिष्क्रीड़ित और महासिंह

निष्क्रीडित जैसी ६ वर्ष २ मास और १२ रात्रियों में निष्पन्न की जाने वाली घोर-उग्र तपश्चर्याओं की आग मे अपने-अपने आत्मदेव को तपा-तपा कर अपने-अपने कर्म मल को क्षीण से क्षीणतर करने का प्रबल प्रयास किया। लघुसिंह निष्क्रीडित और महासिंह निष्क्रीडित तपस्याओ को पूर्ण करने के पश्चात् वे सातो मुनि उपवास, बेला, तेला आदि तपस्याएं करते हुए अपने कर्मसमूह को नष्ट करने मे प्रयत्नशील रहे।

इस प्रकार घोर तपश्चरण करते रहने के कारण महाबल आदि सातो मुनियो के शरीर केवल चर्म से ढंके हुए अस्थि पजर मात्र अवशिष्ट रह गये, उस समय उन्होने स्थविरो से आज्ञा लेकर चारु पर्वत पर सलेखना के साथ यावज्जीव अशन-पानादि का प्रत्याख्यान रूप पादपोपगमन सथारा किया। उन महाबल आदि सातो महामुनियों ने ८४ लाख वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन किया और अन्त मे ४ मास की तपस्यापूर्वक ८४ लाख पूर्व की अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र देव हुए। महाबल पूर्ण ३२ सागर की आयु वाला देव और शेष अचल आदि छहों मुनि बत्तीस सागर मे कुछ कम स्थिति वाले देव हुए। जयन्त विमान मे वे सातो मित्र देव अपने महर्द्धिक देव भव के दिव्य सुखो का उपभोग करने लगे।

अचल आदि ६ मित्रों का जयन्त विमान से च्यवन

महाबल को छोड शेष अचल आदि छहो मित्रों के जीव जयन्त विमान की अपनी देव आयु पूर्ण होने पर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशुद्ध मातृ-पितृ वश वाले राजकुलो में पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। अचल का जीव कोशल देश की राजधानी अयोध्या मे प्रतिबुद्धि नामक कोशल नरेश हुआ। धरण का जीव अग जनपद की राजधानी चम्पा नगरी में चन्द्रछाग नामक अगराज हुआ। अभिचन्द का जीव काशी जनपद की राजधानी बनारस में शंख नामक काशी नरेश्वर हुआ। पूरण का जीव कुणाला जनपद की राजधानी कुणाला नगरी में रुक्मी नामक कुणालाधिपति हुआ। वसु का जीव कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर में अदीनशत्रु नामक कुरुराज और वैश्रवण का जीव पांचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्यपुरी नगरी में जितशत्रु नामक पाचाला-धिपति हुआ।

भगवान् मल्लिनाथ का गर्भ में आगमन

महाबल का जीव जयन्त नामक अनुत्तर विमान के देव भव की अपनी आयु पूर्ण होने पर १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के रूप मे उत्पन्न हुआ।

जिस समय सूर्यादि ग्रह उच्च स्थान मे स्थित थे, चारों दिशाएँ दिग्दाहादि उपद्रवो से विहीन होने के कारण सौम्य, तीर्थंकर पुण्य प्रकृति के बन्ध वाले

जीव के गर्भागमन काल के कारण अन्धकार रहित—प्रकाशमान और झंझावात, रजकण आदि से विहीन होने के कारण स्वच्छ, निर्मल थीं, जिस समय पक्षि-गण अपने-अपने नीड़ों में विश्राम करते हुए जय-विजय-कल्याणसूचक कलरव कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मलयानिल मन्द-मन्द और अनुकूल गति से प्रवा-हित हो रहा था। धान्यादिक से आच्छादित सस्य-श्यामला वसुन्धरा हरी-भरी थी। जनपदों का जनगण-मन प्रमुदित एवं भांति-भांति की क्रीड़ाओं में निरत था। ऐसे सम्मोहक, शान्त रात्रि के समय में, अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर फाल्गुन शुक्ला चौथ (४) की अर्द्ध रात्रि के समय जयन्त नामक अनुत्तर विमान की अपनी ३२ सागर प्रमाण देवायु के पूर्ण होने पर जयन्त विमान से अपने मति-श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञान युक्त च्यवन कर, इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की मिथिला राजधानी के महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती देवी की कुक्षि में गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ।

उसी रात्रि में सुखपूर्वक सोयी हुई महारानी प्रभावती देवी ने अर्द्ध जागृत अवस्था में गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, पूर्णकलश, पद्मसरोवर, समुद्र, देवविमान, रत्नराशि और निर्धूम्र अग्नि—इन चौदह महा-स्वप्नो को देखा।

उन चौदह स्वप्नों को देखने के तत्काल पश्चात् महारानी प्रभावती जागृत हुई और उठ बैठी। वह सहज ही अपार आनन्द का अनुभव करने लगी। वह अपने आपको परम प्रमुदित एव प्रफुल्लित अनुभव करने लगी। उसके हर्ष का वेग द्रुत गति से बढने लगा। उसके रोम पुलकित हो उठे। उसने अनुभव किया कि हर्ष उसके हृदय मे समा नही रहा है। उसने हृदय मे समा नही पा रहे अपने हर्ष को बांटना उचित समझा। स्वप्नो का फल जानने की इच्छा भी बलवती हो रही थी और पूर्व मे अननुभूत हर्ष का कारण जानने की भी। वह अपनी सुकोमल सुखशय्या से उठी। अपने शयनकक्ष से बाहर आई। उसने देखा व्योम शान्त था, दिशाएं सौम्य, स्वच्छ, निर्मल एव प्रकाशमान थी। मन्द-मन्द मादक मलयानिल थिरक रहा था। उसे समग्र ससार सुहाना लगा। ससार का सम्पूर्ण वातावरण लुभावना प्रतीत होने लगा। उसके पदयुगल मन्द-मन्थर गयन्द गति से अपने स्वामी मिथिलेश महाराजा कुम्भ के शयन कक्ष की ओर बढ़े। स्वप्न फल की जिज्ञासा के साथ-साथ वह यह भी जानना चाहती थी कि आज उसका तन, मन अनायास ही उद्वेलित आनन्द सागर की उत्तु ग तरगो पर क्यो झूल रहा है। उसे क्या ज्ञात था कि चराचर का शरण्य, स्वामी और सच्चा स्नेही त्रिलोकीनाथ उसकी रत्नगर्भा कुक्षि मे आ चुका है।

सहमते, सकुचाते शनैः शनैः महारानी ने अपने स्वामी के शयन कक्ष में प्रवेश किया। कुछ क्षण वह शय्या के पास खड़ी इष्ट, कान्त, प्रिय, मृदु-मधुर

वाणी बोलती रही। महारानी के मृदु वचन सुनकर महाराज की निद्रा खुली। वे शय्या पर उठ बैठे।

"स्वागत है महादेवि! आज इस समय शुभागमन कैसे?" महाराजा कुम्भ ने स्नेहसिक्त स्वर में प्रश्न किया। पर महारानी के मुखमण्डल पर दृष्टि पड़ते ही अपने इस प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा न कर उत्कण्ठापूर्ण मुद्रा मे पूछा– "महादेवि! आज तुम्हारे मुखमण्डल पर भामण्डल का सा दिव्य प्रकाश स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम आज अतीव प्रसन्न प्रतीत हो रही हो। तुम्हारे लोचन युगल से आज अलौकिक आलोक की किरणें प्रकट हो रही हैं। अवश्य ही आज तुम कोई न कोई विशिष्ट शुभ संवाद सुनाने आई हो। हमें भी अपने हर्ष का भागीदार बनाओ।

महारानी प्रभावती ने अंजलि भाल से छुआते हुए विनम्र, मृदु, मंजुल स्वर में कहा—"देव! अभी अभी अर्द्ध जागृतावस्था में मैंने अद्भुत १४ स्वप्न देखे हैं। उन स्वप्नों को देख कर मेरी निद्रा भंग हुई। सहसा मैं उठ बैठी। अकारण ही मेरा मनमयूर हर्ष विभोर हो नाच उठा। मैंने आज से पहले इतने असीम और अद्भुत आनन्द का अनुभव कभी नहीं किया। मुझे आज सब कुछ सुहाना लग रहा है। मैं अपने आनन्द का पारावार शब्दो से प्रकट करने मे अक्षम हूं। मुझे स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि मेरे सीमित मानस में आनन्द का उद्वेलित अथाह उदधि समा नही रहा है, इसीलिये अपने आनन्द का आधा भाग आपको देकर अपने आनन्द के भार को हल्का करने हेतु आपकी यह चरण चंचरीका आपकी सेवा में इस समय उपस्थित हुई है। प्राणाधार! मैं अभी तक अपने इस पारावार विहीन हर्ष का कारण नही समझ पा रही हूं। ऐसा आभास होता है कि हो न हो इन स्वप्नो का इस अपार आनन्द से अवश्य ही कोई सम्बन्ध है।

मिथिलेश्वर महाराज कुम्भ महारानी प्रभावती के मुख से उन चौदह स्वप्नों को सुन कर परम प्रमुदित हुए और बोले—"महादेवि! तुम्हारे ये स्वप्न यही बता रहे हैं कि अलौकिक शक्ति सम्पन्न कोई महान् पुण्यशाली प्राणी तुम्हारी कुक्षि मे आया है। उस महान् आत्मा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही तुम्हारे मुख मण्डल और अंग प्रत्यंग से प्रकाशपुंज प्रकट हो रहा है। तुम्हारे असीम आनन्द का स्रोत भी तुम्हारी कुक्षि में आया हुआ वही पुण्यवान् प्राणी प्रतीत होता है। महादेवि! तुम वस्तुतः महान् भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे महास्वप्न निश्चित रूप से महान् शुभ फल प्रदायी होंगे, ऐसी मेरी धारणा है। प्रातःकाल स्वप्न पाठकों को बुला कर उनसे इन महास्वप्नो के फल के विषय में विस्तृत विवरण ज्ञात कर लिया जायगा।

अपने पति के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर महारानी प्रभावती मन ही मन अपने नारी जीवन को धन्य समझ प्रमुदित हुई। नारी सुलभ लज्जा से

उसके विशाल-आयत-ललित लोचन युगल की पलकें मृणाल तुल्या ग्रीवा के साथ ही झुक गईं। उसने ईषत् स्मित के साथ अजलि भाल पर रख हर्षातिरेक-वशात् अवरुद्ध कण्ठ से वीणा के तार की झंकार तुल्य सुमधुर विनम्र स्वर मे धीमे से कहा—"प्राणाधिक दयित ! आपके ये सुधासिक्त परम प्रीति प्रदायक वचन कर्णरन्ध्रों के माध्यम से मेरे मानस मे अमृत उंडेल उसे आप्लावित, आप्यायित कर रहे हैं। अब मुझे अपने अन्तर में हर्ष सागर के उद्वेलित होने का कारण समझ मे आ गया है। आपके वचन अक्षरशः सत्य हो। मेरे सब उहापोह शान्त हो गये है। मैं आश्वस्त हो गई हूं। अब आप विश्राम करें।"

यह कह कर महारानी प्रभावती उठी। उसने महाराज कुम्भ को झुक-कर प्रणाम किया और वह अपने शयनकक्ष की ओर लौट गई। आँखों मे, तन-मन मे और रोम-रोम मे आनन्दातिरेक समाया हुआ था, निद्रा के लिये वहाँ कोई अवकाश ही नही रहा। इसके साथ ही साथ महारानी को यह आशंका भी थी कि अब सोने पर कही कोई दु:स्वप्न न आ जाय, इसलिये उसने शेष रात्रि धर्माराधन करते हुए धर्मजागरणा के रूप मे व्यतीत की।

दैनिक आवश्यक कृत्यो से निवृत्त हो प्रात.काल महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठकों को सादर आमन्त्रित किया। उन्हे महारानी के चौदह महास्वप्नों का विवरण सुना कर स्वप्न-फल पूछा।

स्वप्न-शास्त्र के पारंगत स्वप्न पाठको ने स्वप्न-शास्त्र के प्रमाणो के आधार पर परस्पर विचार-विमर्श द्वारा स्वप्नो के फल के सम्बन्ध मे सर्वसम्मत निर्णय किया। तदनन्तर स्वप्न पाठको के मुखिया ने स्वप्न-फल सुनाते हुए महाराज कुम्भ से कहा—"महाराज ! जो स्वप्न महारानी ने देखे हैं, वे स्वप्नो में सर्वश्रेष्ठ स्वप्न हैं। स्वप्न-शास्त्र में इन स्वप्नो को "चौदह महास्वप्न" की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार चौदह महास्वप्न वस्तुत. केवल तीर्थंकरो और चक्रवर्तियो की माताए ही गर्भधारण की रात्रि में देखती हैं। महारानी द्वारा देखे गये ये महास्वप्न पूर्व-सूचना देते हैं कि महारानी की रत्नकुक्षि मे ऐसा महान् पुण्यशाली प्राणी आया है, जो भविष्य मे धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर अथवा भरत क्षेत्र के छहो खण्डो का अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् होगा।"

स्वप्न पाठकों के मुख से स्वप्नो का फल सुन मिथिलापति महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती—दोनो ही बड़े प्रसन्न-प्रमुदित हुए। महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठको को पुरस्कारादि से सन्तुष्ट एव सम्मानित कर विदा किया।

तदनन्तर परम प्रमुदिता महारानी प्रभावती सयमित एव समुचित आहार-विहार का पूरा ध्यान रख कर सुखपूर्वक गर्भ को वहन करती हुई सदा शान्त एवं प्रसन्न मुद्रा में सुखोपभोग करने लगी। इस प्रकार सुखोपभोग करते

हुए उसके गर्भकाल के तीन मास पूर्ण हो गये, तब उसे एक अतीव प्रशस्त दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ। उसके मन में एक उत्कट साध जगी, जो इस प्रकार थी :—

"वे माताएं धन्य है, जो जल और स्थल मे उत्पन्न एवं प्रफुल्लित हुए पांच रंगों के सुगन्धित सुमनोहर पुष्पों के ढेर से समीचीनतया सुसंस्कारित, समाच्छादित, सुसज्जित शय्या पर बैठती और शयन करती है, और गुलाब, मोगरा, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग, मरुआ, दमनक और कुब्जक के रंग-बिरंगे हृदयहारी सुमनो के समूह से उत्कृष्ट कलात्मक कौशलपूर्वक ग्रथित किये गये, स्पर्श करने में सुतरां सुकोमल, देखने में नयनानन्दप्रदायक-प्रीतिकारक, तृप्तिकारक, सम्मोहक, मादक महा सुरभि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को मगमगायमान सुरभित, सुगन्धित करने वाले दामगण्ड-पुष्पस्तबक को सूंघती हुई अपने गर्भ-मनोरथ की, अपने गर्भकाल की साध की, अपनी गुर्विणी अवस्था के दोहद की पूर्ति करती है।"

समीप ही में रहने वाले वाणव्यन्तर देवो ने, महारानी प्रभावती के दोहदोत्पत्ति का परिज्ञान होते ही, दोहद के अनुरूप, जल तथा स्थल में उत्पन्न हुए पांच वर्णों के प्रफुल्लित एव सुन्दर पुष्पो के ढेर से महारानी की शय्या को सुचारुरूपेण समाच्छादित एवं सजा दिया और दोहद की पूर्ति करने में पूर्णरूपेण सक्षम, उपरिवर्णित सभी भांति के सुगन्धित, सुविकसित, सुन्दरातिसुन्दर सुमनो से उत्कृष्टतम कला-कौशल पूर्वक गुंथा हुआ एक अद्भुत् अलौकिक दामगण्ड-पुष्पस्तबक (गुलदस्ता) महारानी के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

जल तथा थल में पुष्पित-विकसित पञ्च वर्णात्मक प्रभूत पुष्पनिचय से चातुरीपूर्वक चित्रित-समाच्छादित नयनाभिराम सुकोमल पुष्प शय्या को और अपने मनोरथ के शतप्रतिशत अनुकूल, नयन-नासिका-श्रवण-तन-मन-मस्तिष्क को सर्वथा संतृप्त कर देने वाले मनोज्ञ सुमन-स्तवक को देखते ही महारानी हर्षविभोर हो उठी, उसके हृदय की कली-कली खिल उठी। उसने सुकोमल सुमन-शय्या पर बैठ कर, शयन कर और पुष्पस्तबक को सूंघ-सूंघ कर, देख-देख कर अपने प्रशस्त दोहद की पूर्णरूपेण पूर्ति की। उसकी पांचो इन्द्रियां तृप्त हो गई, रोम-रोम तुष्ट हो गया। इस प्रकार राजा एवं प्रजा द्वारा प्रशंसित प्रशस्त अपना दोहद पूर्ण होने पर महारानी प्रभावती पूर्णतः प्रसन्न एव प्रमुदित रहने लगी। गर्भकाल के सवा नो मास पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी की मध्यरात्रि के समय चन्द्रमा का अश्विनी नक्षत्र के साथ योग होने पर, जिस समय कि सूर्य आदि ग्रह उच्च स्थान पर स्थित थे, जनपदो के निवासी आनन्दमग्न एवं परम प्रसन्न थे, उस समय महारानी प्रभावती ने बिना किसी बाधा-पीडा के सुखपूर्वक १९वें तीर्थंकर को जन्म दिया। चौसठ

उसके विशाल-आयत-ललित लोचन युगल की पलके मृणाल तुल्या ग्रीवा के साथ ही झुक गई। उसने ईषत् स्मित के साथ अजलि भाल पर रख हर्षातिरेक-वशात् अवरुद्ध कण्ठ से वीणा के तार की झकार तुल्य सुमधुर विनम्र स्वर में धीमे से कहा—"प्राणाधिक दयित! आपके ये सुधासिक्त परम प्रीति प्रदायक वचन कर्णरन्ध्रों के माध्यम से मेरे मानस में अमृत उंडेल उसे आप्लावित, आप्यायित कर रहे हैं। अब मुझे अपने अन्तर मे हर्ष सागर के उद्वेलित होने का कारण समझ मे आ गया है। आपके वचन अक्षरशः सत्य हों। मेरे सब उहापोह शान्त हो गये है। मैं आश्वस्त हो गई हूं। अब आप विश्राम करे।"

यह कह कर महारानी प्रभावती उठी। उसने महाराज कुम्भ को झुककर प्रणाम किया और वह अपने शयनकक्ष की ओर लौट गई। आंखों मे, तन-मन मे और रोम-रोम मे आनन्दातिरेक समाया हुआ था, निद्रा के लिये वहां कोई अवकाश ही नही रहा। इसके साथ ही साथ महारानी को यह आशंका भी थी कि अब सोने पर कही कोई दु:स्वप्न न आ जाय, इसलिये उसने शेष रात्रि धर्माराधन करते हुए धर्मजागरणा के रूप मे व्यतीत की।

दैनिक आवश्यक कृत्यो से निवृत्त हो प्रात.काल महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठकों को सादर आमन्त्रित किया। उन्हे महारानी के चौदह महास्वप्नों का विवरण सुना कर स्वप्न-फल पूछा।

स्वप्न-शास्त्र के पारगत स्वप्न पाठको ने स्वप्न-शास्त्र के प्रमाणो के आधार पर परस्पर विचार-विमर्श द्वारा स्वप्नो के फल के सम्बन्ध में सर्वसम्मत निर्णय किया। तदनन्तर स्वप्न पाठकों के मुखिया ने स्वप्न-फल सुनाते हुए महाराज कुम्भ से कहा—"महाराज! जो स्वप्न महारानी ने देखे हैं, वे स्वप्नों में सर्वश्रेष्ठ स्वप्न हैं। स्वप्न-शास्त्र में इन स्वप्नो को "चौदह महास्वप्न" की सज्ञा दी गई है। इस प्रकार चौदह महास्वप्न वस्तुत. केवल तीर्थंकरो और चक्रवर्तियो की माताए ही गर्भधारण की रात्रि मे देखती हैं। महारानी द्वारा देखे गये ये महास्वप्न पूर्व-सूचना देते हैं कि महारानी की रत्नकुक्षि मे ऐसा महान् पुण्यशाली प्राणी आया है, जो भविष्य में धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर अथवा भरत क्षेत्र के छहो खण्डों का अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् होगा।"

स्वप्न पाठकों के मुख से स्वप्नो का फल सुन मिथिलापति महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती—दोनों ही बड़े प्रसन्न-प्रमुदित हुए। महाराज कुम्भ ने स्वप्न पाठको को पुरस्कारादि से सन्तुष्ट एव सम्मानित कर विदा किया।

तदनन्तर परम प्रमुदिता महारानी प्रभावती सयमित एव समुचित आहार-विहार का पूरा ध्यान रख कर सुखपूर्वक गर्भ को वहन करती हुई सदा शान्त एवं प्रसन्न मुद्रा में सुखोपभोग करने लगी। इस प्रकार सुखोपभोग करते

हुए उसके गर्भकाल के तीन मास पूर्ण हो गये, तब उसे एक अतीव प्रशस्त दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ। उसके मन में एक उत्कट साध जगी, जो इस प्रकार थी :—

"वे माताएं धन्य हैं, जो जल और स्थल में उत्पन्न एवं प्रफुल्लित हुए पाँच रंगों के सुगन्धित सुमनोहर पुष्पों के ढेर से समीचीनतया सुसंस्कारित, समाच्छादित, सुसज्जित शय्या पर बैठती और शयन करती हैं, और गुलाब, मोगरा, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग, मरुआ, दमनक और कुब्जक के रंग-बिरंगे हृदयहारी सुमनों के समूह से उत्कृष्ट कलात्मक कौशलपूर्वक ग्रथित किये गये, स्पर्श करने में सुतरा सुकोमल, देखने में नयनानन्दप्रदायक-प्रीतिकारक, तृप्तिकारक, सम्मोहक, मादक महा सुरभि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को मगमगायमान सुरभित, सुगन्धित करने वाले दामगण्ड-पुष्पस्तबक को सूंघती हुई अपने गर्भ-मनोरथ की, अपने गर्भकाल की साध की, अपनी गुर्विणी अवस्था के दोहद की पूर्ति करती हैं।"

समीप ही में रहने वाले वाणव्यन्तर देवों ने, महारानी प्रभावती के दोहदोत्पत्ति का परिज्ञान होते ही, दोहद के अनुरूप, जल तथा स्थल में उत्पन्न हुए पाँच वर्णों के प्रफुल्लित एवं सुन्दर पुष्पों के ढेर से महारानी की शय्या को सुचारुरूपेण समाच्छादित एवं सजा दिया और दोहद की पूर्ति करने में पूर्णरूपेण सक्षम, उपरिवर्णित सभी भाँति के सुगन्धित, सुविकसित, सुन्दरातिसुन्दर सुमनों से उत्कृष्टतम कला-कौशल पूर्वक गूंथा हुआ एक अद्भुत अलौकिक दामगण्ड-पुष्पस्तबक (गुलदस्ता) महारानी के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

जल तथा थल में पुष्पित-विकसित पंच वर्णात्मक प्रभूत पुष्पनिचय से चातुरीपूर्वक चित्रित-समाच्छादित नयनाभिराम सुकोमल पुष्प शय्या को और अपने मनोरथ के शतप्रतिशत अनुकूल, नयन-नासिका-श्रवण-तन-मन-मस्तिष्क को सर्वथा संतृप्त कर देने वाले मनोज्ञ सुमन-स्तबक को देखते ही महारानी हर्षविभोर हो उठी, उसके हृदय की कली-कली खिल उठी। उसने सुकोमल सुमन-शय्या पर बैठ कर, शयन कर और पुष्पस्तबक को सूंघ-सूंघ कर, देख-देख कर अपने प्रशस्त दोहद की पूर्णरूपेण पूर्ति की। उसकी पाँचों इन्द्रियां तृप्त हो गई, रोम-रोम तुष्ट हो गया। इस प्रकार राजा एवं प्रजा द्वारा प्रशंसित प्रशस्त अपना दोहद पूर्ण होने पर महारानी प्रभावती पूर्णतः प्रसन्न एवं प्रमुदित रहने लगी। गर्भकाल के सवा नौ मास पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी की मध्यरात्रि के समय चन्द्रमा का अश्विनी नक्षत्र के साथ योग होने पर, जिस समय कि सूर्य आदि ग्रह उच्च स्थान पर स्थित थे, जनपदों के निवासी आनन्दमग्न एवं परम प्रसन्न थे, उस समय महारानी प्रभावती ने बिना किसी बाधा-पीड़ा के सुखपूर्वक १९वें तीर्थंकर को जन्म दिया। चौसठ

इन्द्रो, इन्द्राणियो, चार जाति के देवो एवं देवियो ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ १६वे तीर्थंकर का जन्म महोत्सव मनाया।

चारों जाति के देवो द्वारा जन्म महोत्सव मनाये जाने के पश्चात् महाराजा कुम्भ ने भगवान् का नामकरण किया। गर्भकाल मे माता को पाच वर्णो के पुष्पो की शय्या और दामगण्ड का दोहृद उत्पन्न हुआ था, जिसकी कि पूर्ति देवो द्वारा की गई थी। अत· महाराजा कुम्भ ने अपनी पुत्री का नाम मल्ली रखा। मल्ली राजकुमारी अनुक्रमशः दिन प्रतिदिन वृद्धिगत होने लगी। वे ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त थी। वे जयन्त नामक विमान से च्यवन कर आई थी और अनुपम कान्ति एवं शोभा से सम्पन्न थी। वे दासियो तथा दासो से परिवृत्त और समवयस्का सहचरियो-सहेलियो के परिकर अर्थात् समूह से युक्त थी।

उनके बाल भ्रमर के समान काले और चमकीले थे। आँखें बडी ही सुहानी थी। ओष्ठ बिम्ब फल के समान लाल-लाल और दन्तपंक्ति श्वेत एवं चमकीली थी। उनके अंगोपांग नवविकसित कमल पुष्पवत् मृदुल मंजुल एव कोमल थे। उनके निश्वासो से प्रफुल्लित नीलकमल की गन्ध के समान सुगन्ध समग्र वातावरण मे व्याप्त हो जाती थी।

इस प्रकार शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र की कला के समान अनुक्रमशः वृद्धिगत होती हुई विदेह राजकुमारी भगवती मल्ली जब बाल्यावस्था से किशोरी अवस्था मे प्रविष्ट हुई तो उनकी देहयष्टि अत्युत्कृष्टतम रूप, लावण्य एवं यौवन से सम्पन्न हो गई। जब वह मल्ली कुमारी सौ वर्ष से कुछ ही न्यून अवस्था की हुई, उस समय अपने पूर्वजन्म के मित्र इक्ष्वाकुराज प्रतिबुद्धि, अग देशाधिप चन्द्रच्छाय, काशीराज-शख, कुणालाधिपति रुप्पी, कुरुराज अदीनशत्रु और पाचाल नरेश जितशत्रु—इन छहों राजाओ को अपने विपुल अवधिज्ञान द्वारा देखती, जानती हुई अपनी सखियो के साथ सुखपूर्वक विचरण करने लगी। उस समय मल्ली राजकुमारी ने अपने कौटुम्बिक पुरुषो को बुला कर कहा—"हे देवानुप्रियो! तुम लोग अशोक वाटिका मे सैकडो स्तम्भो पर आधारित एक विशाल मोहन-घर का निर्माण कर उसके मध्य भाग मे छः गर्भ ग्रहोके बीचोबीच एक जालीगृह की रचना कर उस जालगृह के मध्यभाग मे एक मणिमयी पीठिका (चबूतरे) का निर्माण करो। यह सब निर्माण कार्य शीघ्र ही सम्पन्न कर मुझे सूचित करो। मल्ली विदेह राजदुलारी के कौटुम्बिक पुरुषो ने भगवती मल्ली की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी इच्छा के अनुरूप अतीव मनोहर उस मोहनघर मे पृथक्-पृथक् छैः गर्भग्रह, जालीगृह और छहो गर्भग्रहों से स्पष्टतः दिखने वाले मणिपीठ का निर्माण कर, उस निर्माण कार्य के सम्पूर्ण होने की सूचना भगवती मल्ली को दी।

तदनन्तर भगवती मल्ली ने उस मणिपीठिका पर साक्षात् अपने ही समान देहाकार, वर्ण, वय, रूप, लावण्य और यौवन आदि गुणों से सर्वथा सम्पन्न एक स्वर्णमयी ऐसी पुतली का निर्माण किया, जिसको देखते ही सुविचक्षण से सुविचक्षण दर्शक भी यही समझे कि यह भगवती मल्ली खड़ी है। अपनी उस प्रतिमा के शिर पर भगवती मल्ली ने एक छिद्र रख कर उसे पद्मपत्र के ढक्कन से ढक दिया। साक्षात् अपने जैसी ही प्रतिमा का निर्माण करने के पश्चात् मल्ली भगवती स्वय जो जो मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम–चार प्रकार का आहार करती उस चार प्रकार के आहार मे से एक-एक ग्रास (कवल) प्रतिदिन उस पुतली मे डाल कर उसे पद्मपत्र के ढक्कन से ढक देती। प्रतिदिन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। उस कनकमयी पुतली मे मस्तक के छिद्र से प्रतिदिन चतुर्विध आहार का एक एक ग्रास डालते रहने से उस मे बड़ी ही भयंकर और दुस्सह्य दुर्गन्ध उत्पन्न हुई। वह दुर्गन्ध मृत मानव अथवा मृत पशु के कलेवर के कई दिन पड़े रहने पर, उससे निकलने वाली दुर्गन्ध से भी अनेक गुना अधिक दुस्सह्य, अनिष्टतम, अमनोज्ञतम और आस-पास के सम्पूर्ण वायुमण्डल को दुर्गन्धित एवं दूषित बना देने वाली थी।

अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति

उन्मुक्त-बालभावा भगवती मल्ली के अलौकिक रूप-लावण्य और उत्कृष्टतम गुणों की ख्याति दिग्दिगन्त में फैलने लगी।

जिन दिनों मति, श्रुति और अवधिज्ञान से सम्पन्ना भगवती मल्ली अपने पूर्वभव के मित्र राजाओं के मोहभाव का शमन करने के लिये मोहन घर का निर्माण करवा रही थी, उन्ही दिनो भगवती मल्ली के पूर्वजन्म के बालसखा उन छहों राजाओं को भगवती मल्ली के प्रति विभिन्न ६ कारणों से प्रगाढ़ प्रीति उत्पन्न हुई। प्रतिबुद्ध आदि उन छहों राजाओं को जिस-जिस निमित्त से भगवती मल्ली के प्रति गाढ़तम अनुराग हुआ, उन निमित्तो का सार रूप विवरण इस प्रकार है :—

कौशलाधीश प्रतिबुद्धि का अनुराग

एक बार साकेतपुर मे प्रतिबुद्धि राजा ने रानी पद्मावती के लिये नागघर के यात्रा महोत्सव की घोषणा की और मालाकारों को अच्छे से अच्छा माल्य गुच्छ (पुष्पस्तबक) बनाने का आदेश दिया। जब राजा और रानी नागघर में आये और नाग प्रतिमा को उन्होंने वन्दन किया, उस समय मालाकारों द्वारा प्रस्तुत एक श्री दामगण्ड (पुष्पस्तबक) को राजा ने देखा और विस्मित हो कर अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से प्रश्न किया—"हे देवानुप्रिय! तुम राजकार्य से बहुत से ग्राम, नगर आदि में घूमते रहते हो, राजाओं के भवनों

मे भी प्रवेश करते हो, क्या तुमने ऐसा मनोहर श्री दामगण्ड कही अन्यत्र भी देखा है ?

सुबुद्धि ने कहा—"महाराज ! मैं आपका संदेश ले कर एक बार मिथिला गया था । वहां महाराज कुम्भ की पुत्री मल्ली विदेह राजवर कन्या के वार्षिक जन्म-महोत्सव के अवसर पर जो दिव्य श्री दामगण्ड मैंने देखा, उसके समक्ष महारानी देवी पद्मावती का यह श्री दामगण्ड लक्षांश भी नही है । उसने विदेह रायवर कन्या मल्लीकुमारी के सौन्दर्य का बड़ा ही आश्चर्यकारी परिचय दिया, जिसे सुन कर कौशलेश प्रतिबुद्धि मल्लीकुमारी पर पर्णरूपेण मुग्ध हो गये ।

राजप्रासाद मे आकर कोशलाधीश महाराज प्रतिबुद्ध ने अपने एक अति कुशल दूत को बुला कर कहा—"देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और मिथिला के महाराजा कुम्भ के समक्ष जा कर मेरा यह सन्देश सुनाओ कि इक्ष्वाकु कुल कमल दिवाकर साकेत पति कौशलेश्वर महाराजा प्रतिबुद्ध आपकी पुत्री विदेह वर राजकन्या मल्लीकुमारी को अपनी पत्नी के रूप में वरण करना चाहता है । राजकुमारी मल्ली को प्राप्त करने के लिये कौशलेश्वर अपने कौशल जनपद के सम्पूर्ण राज्य को भी न्यौछावर करने के लिये समुद्यत हैं ।"

दूत ने सांजलि शीश झुका "यथाज्ञापयति देव !" कहते हुए अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य किया । वह दूत अतीव प्रमुदित हो अपने घर आया और पाथेय, अनुचर और कुछ सैनिकों की व्यवस्था कर उन्हें साथ ले मिथिला की ओर प्रस्थित हो गया ।

अरहन्नक द्वारा दिव्य कुण्डल-युगल की भेंट

जिस समय भगवती मल्ली ने किशोरी वय नें प्रवेश किया, उस समय अंग जनपद के अधीश्वर चन्द्रच्छाग अंग राज्य की राजधानी चम्पा नगरी में (अंग जनपद के) राजसिंहासन पर आसीन थे ।

उस समय चम्पा नगरी मे सम्मिलित रूप से व्यापार करने वाले अरहन्नक प्रमुख बहुत से पोतवणिक् रहते थे । वे व्यापारी जहाजो द्वारा दूर-दूर के अनेक देशो मे व्यापार के लिये साथ-साथ समुद्री यात्राएं करते रहते थे । वे सभी पोतवणिक् विपुल वैभव शाली, ऐश्वर्यशाली और समृद्ध थे । उनके भण्डार धन, धान्यादिक से परिपूर्ण थे । कोई भी व्यक्ति उनका पराभव करने में समर्थ नही था । उन नौकाओं से व्यापार करने वाले व्यापारियों में अरहन्नक नाम का प्रमुख व्यापारी न केवल धन-धान्यादिक से ही समृद्ध था, अपितु वह धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाला सच्चा श्रमणोपासक और जीव तथा अजीव के स्वरूप का ज्ञाता, तत्वज्ञ एवं मर्मज्ञ था । धर्म में उसकी आस्था अविचल थी ।

एक दिन उन सब पोतवणिकों ने विचार विनिमय के पश्चात् समुद्र पार के सुदूरस्थ देशों से व्यापार करने का निश्चय किया। तदनुसार गणिम अर्थात् गिनती पूर्वक क्रय-विक्रय करने योग्य नारियल, सुपारी आदि, धरिम-अर्थात् तुला पर तोल कर क्रय-विक्रय करने योग्य सस्यादि मेय अर्थात्-पल, सेतिका आदि के परिमाण से व्यवहृत होने योग्य और परिच्छेय-अर्थात् गुणों की परीक्षा के द्वारा क्रय-विक्रय किये जाने योग्य मणि, रत्न, वस्त्र आदि इन चार प्रकार के क्रयाणकों की वस्तुओं से दो विशाल जलपोतों (जहाजों) को भर कर उन्होंने शुभ मुहूर्त मे समुद्री यात्रा प्रारम्भ की। समुद्र यात्रा करने का, अग नरेश का आदेश-पत्र उनके साथ था। अनेक प्रकार के क्रयाणकों, भोजन सामग्री, सेवकों, पोतरक्षकों एवं पोत-वणिकों से भरे दोनो जलपोत समुद्र मे मिलती वेगवती नदियों की तीव्र धाराओं पर तैरते, उदधि की उत्ताल तरंगो से जूझते हुए समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुए समुद्र में बहुत दूर निकल गये।

जलपोतो के ऊपर बांधे गये सुदृढ़ श्वेत वस्त्र के पालों मे निरन्तर अवरुद्ध होती हुई वायु के वेग से द्रुत गति पकड़े हुए दोनों जलपोत कुछ ही दिनों मे समुद्र के अन्दर सैकड़ो योजनो की दूरी पर पहुच गये, चारो ओर कल्लोलित सागर की लोल लहरें और छोर विहीन जलराशि के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु दृष्टिगोचर नही हो रही थी। उस समय आकाश में अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। सहसा पोतवणिकों ने देखा कि कज्जलगिरि के समान काला और अति विशाल एक पिशाच घनघटा की तरह गर्जन, अट्टहास और कराल भैरव की तरह नृत्य करता हुआ उनके जहाजों की ओर बढ़ा चला आ रहा है। उसकी जंघाएं सात-आठ ताल वृक्षों जितनी लम्बी-लम्बी, वक्षस्थल कज्जल के गिरिराज की अति विशाल शिला के समान विस्तीर्ण एवं भयानक, कपोल और मुख गहरे गड्ढे की तरह भीतर घुसे हुए, नाक छोटी, चिपटी और बैठी हुई, आंखें खद्योत की चमक के समान लाल-लाल, ओष्ठ बड़े-बड़े और लटके हुए, चौके के चारों दांत हस्ति दंत के समान बाहर निकले हुए, जिह्वा लम्बी-लम्बी और लपलपाती हुई, भौहे अति वक्र तनी हुई और भयावनी, नख सूप के समान, कान ऊपर चोटी तक ऊंचे उठे हुए और नीचे दोनों स्कन्धों तक लटकते हुए थे। वह नर-मुण्डो की माला धारण किये हुए था। उसके कानो मे कर्णपूरों के स्थान पर दो भयकर काले नाग फनों को उठाये हुए थे। उसने अपने दोनों स्कन्धों पर मार्जारो और शृगालो को और शिर पर घू-घू की घोर ध्वनि करने वाले उल्लुओं को बैठा रखा था। उसकी दोनों भुजाओं में रुधिर से रंजित हस्तिचर्म लिपटे हुए थे। हाथ में दुधारा विकराल खड्ग धारण किये हुए अपने गले में बंधे घंटों का घोर-रव करता हुआ जलपोतों की ओर आकाश से उतर रहा था।

इस प्रकार के भीषण कालतुल्य पिशाच को देख कर अरहन्नक को छोड़ शेष सभी पोतवणिक भयभीत हो थर-थर कांपते हुए एक-दूसरे से चिपट गये।

में भी प्रवेश करते हो, क्या तुमने ऐसा मनोहर श्री दामगण्ड कहीं अन्यत्र भी देखा है ?

सुबुद्धि ने कहा—"महाराज ! मैं आपका संदेश ले कर एक बार मिथिला गया था। वहां महाराज कुम्भ की पुत्री मल्ली विदेह राजवर कन्या के वार्षिक जन्म-महोत्सव के अवसर पर जो दिव्य श्री दामगण्ड मैंने देखा, उसके समक्ष महारानी देवी पद्मावती का यह श्री दामगण्ड लक्षांश भी नहीं है। उसने विदेह रायवर कन्या मल्लीकुमारी के सौन्दर्य का बडा ही आश्चर्यकारी परिचय दिया, जिसे सुन कर कौशलेश प्रतिबुद्धि मल्लीकुमारी पर पर्णरूपेण मुग्ध हो गये।

राजप्रासाद मे आकर कोशलाधीश महाराज प्रतिबुद्ध ने अपने एक अति कुशल दूत को बुला कर कहा—"देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और मिथिला के महाराजा कुम्भ के समक्ष जा कर मेरा यह सन्देश सुनाओ कि इक्ष्वाकु कुल कमल दिवाकर साकेत पति कौशलेश्वर महाराजा प्रतिबुद्ध आपकी पुत्री विदेह वर राजकन्या मल्लीकुमारी को अपनी पत्नी के रूप में वरण करना चाहता है। राजकुमारी मल्ली को प्राप्त करने के लिये कौशलेश्वर अपने कौशल जनपद के सम्पूर्ण राज्य को भी न्यौछावर करने के लिये समुद्यत हैं।"

दूत ने सांजलि शीश झुका "यथाज्ञापयति देव !" कहते हुए अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य किया। वह दूत अतीव प्रमुदित हो अपने घर आया और पाथेय, अनुचर और कुछ सैनिको की व्यवस्था कर उन्हे साथ ले मिथिला की ओर प्रस्थित हो गया।

अरहन्नक द्वारा दिव्य कुण्डल-युगल की भेंट

जिस समय भगवती मल्ली ने किशोरी वय में प्रवेश किया, उस समय अंग जनपद के अधीश्वर चन्द्रच्छाग अंग राज्य की राजधानी चम्पा नगरी में (अंग जनपद के) राजसिंहासन पर आसीन थे।

उस समय चम्पा नगरी मे सम्मिलित रूप से व्यापार करने वाले अरहन्नक प्रमुख बहुत से पोतवणिक् रहते थे। वे व्यापारी जहाजों द्वारा दूर-दूर के अनेक देशो मे व्यापार के लिये साथ-साथ समुद्री यात्राएं करते रहते थे। वे सभी पोतवणिक् विपुल वैभव शाली, ऐश्वर्यशाली और समृद्ध थे। उनके भण्डार धन, धान्यादिक से परिपूर्ण थे। कोई भी व्यक्ति उनका पराभव करने मे समर्थ नहीं था। उन नौकाओ से व्यापार करने वाले व्यापारियों में अरहन्नक नाम का प्रमुख व्यापारी न केवल धन-धान्यादिक से ही समृद्ध था, अपितु वह धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाला सच्चा श्रमणोपासक और जीव तथा अजीव के स्वरूप का ज्ञाता, तत्त्वज्ञ एवं मर्मज्ञ था। धर्म में उसकी आस्था अविचल थी।

एक दिन उन सब पोतवणिकों ने विचार विनिमय के पश्चात् समुद्र पार के सुदूरस्थ देशों से व्यापार करने का निश्चय किया। तदनुसार गणिम अर्थात् गिनती पूर्वक क्रय-विक्रय करने योग्य नारियल, सुपारी आदि, धरिम-अर्थात् तुला पर तोल कर क्रय-विक्रय करने योग्य सस्यादि मेय अर्थात्-पल, सेतिका आदि के परिमाण से व्यवहृत होने योग्य और परिच्छेद्य-अर्थात् गुणों की परीक्षा के द्वारा क्रय-विक्रय किये जाने योग्य मणि, रत्न, वस्त्र आदि इन चार प्रकार के क्रयाणकों की वस्तुओं से दो विशाल जलपोतो (जहाजो) को भर कर उन्होंने शुभ मुहूर्त मे समुद्री यात्रा प्रारम्भ की। समुद्र यात्रा करने का, अग नरेश का आदेश-पत्र उनके साथ था। अनेक प्रकार के क्रयाणकों, भोजन सामग्री, सेवको, पोतरक्षको एवं पोत-वणिको से भरे दोनो जलपोत समुद्र मे मिलती वेगवती नदियो की तीव्र धाराओ पर तैरते, उदधि की उत्ताल तरंगो से जूझते हुए समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुए समुद्र मे बहुत दूर निकल गये।

जलपोतो के ऊपर बांधे गये सुदृढ़ श्वेत वस्त्र के पालों मे निरन्तर अवरुद्ध होती हुई वायु के वेग से द्रुत गति पकड़े हुए दोनों जलपोत कुछ ही दिनों में समुद्र के अन्दर सैकड़ों योजनो की दूरी पर पहुच गये, चारो ओर कल्लोलित सागर की लोल लहरें और छोर विहीन जलराशि के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु दृष्टिगोचर नही हो रही थी। उस समय आकाश में अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे। सहसा पोतवणिकों ने देखा कि कज्जलगिरि के समान काला और अति विशाल एक पिशाच घनघटा की तरह गर्जन, अट्टहास और कराल भैरव की तरह नृत्य करता हुआ उनके जहाजो की ओर बढ़ा चला आ रहा है। उसकी जंघाएँ सात-आठ ताल वृक्षों जितनी लम्बी-लम्बी, वक्षस्थल कज्जल के गिरिराज की अति विशाल शिला के समान विस्तीर्ण एवं भयानक, कपोल और मुख गहरे गड्ढे की तरह भीतर घुसे हुए, नाक छोटी, चिपटी और बैठी हुई, आँखें खद्योत की चमक के समान लाल-लाल, ओष्ठ बड़े-बड़े और लटके हुए, चौके के चारों दांत हस्ति दंत के समान बाहर निकले हुए, जिह्वा लम्बी-लम्बी और लपलपाती हुई, भौहें अति वक्र तनी हुई और भयावनी, नख सूप के समान, कान ऊपर चोटी तक ऊंचे उठे हुए और नीचे दोनो स्कन्धो तक लटकते हुए थे। वह नर-मुण्डो की माला धारण किये हुए था। उसके कानो मे कर्णपूरो के स्थान पर दो भयंकर काले नाग फनो को उठाये हुए थे। उसने अपने दोनो स्कन्धों पर मार्जारो और शृगालो को और शिर पर घू-घू की घोर ध्वनि करने वाले उल्लुओं को बैठा रखा था। उसकी दोनों भुजाओ मे रुधिर से रंजित हस्तिचर्म लिपटे हुए थे। हाथ में दुधारा विकराल खड्ग धारण किये हुए अपने गले में बंधे घंटों का घोर-रव करता हुआ जलपोतो की ओर आकाश से उतर रहा था।

इस प्रकार के भीषण कालतुल्य पिशाच को देख कर अरहन्नक को छोड़ शेष सभी पोतवणिक भयभीत हो थर-थर कांपते हुए एक-दूसरे से चिपट गये।

किन्तु श्रमणोपासक अरहन्नक उस काल के समान विकराल पिशाच को देख कर किंचिन्मात्र भी भयभीत अथवा विचलित नही हुआ। वह पूर्णत. शान्त और निरुद्विग्न बना रहा। उसने जलपोत के एक स्थान को वस्त्र के छोर से प्रमार्जित किया, उस स्थान को जीवादि से रहित विशुद्ध बना कर वहीं स्थिर-अचल आसन से बैठ गया। उसने अपने दोनो हाथो को जोड अजलि से अपने भाल को छुआ और आवर्त करते हुए इन्द्रस्तव से धैर्यपूर्वक सिद्ध प्रभु की स्तुति की। तदनन्तर यह उच्चारण करते हुए कि यदि मैं इस पिशाचकृत उपसर्ग से बच गया तो अशनादि ग्रहण करूंगा और यदि मैं इस उपसर्ग से नही बचा, जीवित नही रहा तो जीवन पर्यन्त अशन-पानादि ग्रहण नही करूंगा, उसने आगार सहित अनशन का प्रत्याख्यान किया। इस प्रकार अरहन्नक द्वारा सागारिक संथारा ग्रहण किये जाने के कुछ ही क्षण पश्चात् वह विकराल पिशाच हाथ में दुधारा खड्ग लिये हुए अरहन्नक के पास आया और अत्यन्त क्रुद्ध मुद्रा मे लाल-लाल भयावनी आंखें दिखाते हुए अरहन्नक से कहने लगा—"अरे ओ ! प्राणि-मात्र द्वारा अप्रार्थित मृत्यु की प्रार्थना करने वाले, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी अथवा अमावस्या की कालरात्रि में जन्म ग्रहण किये हुए लज्जा और शोभा विहीन अरहन्नक ! तेरे द्वारा ग्रहण किये गये ४ शिक्षाव्रतो, ५ अणुव्रतों और ३ गुणव्रतों रूप १२ प्रकार के श्रावक धर्म को पूर्णत: अथवा अशत. खण्डित करवाने में तुझे सम्यक्त्व से, तेरे इस १२ प्रकार के श्रमणोपासक धर्म से पतित करने में कोई भी देव-दानव की शक्ति असमर्थ है। तेरा भला इसी मे है कि तू स्वत: ही सम्यक्त्व का—बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म का परित्याग कर दे, अन्यथा मैं तेरे इन जलपोतों को दो अंगुलियो से उठा कर आकाश मे बहुत ऊपर ले जा कर इस अथाह समुद्र मे डुबो दूंगा, जिसके परिणाम स्वरूप तू घोर आर्तध्यान करता हुआ अकाल में ही काल का कवल बन जायगा। श्रमणोपासक अरहन्नक को पूर्ववत् निश्चल और निर्भय रूपेण ध्यानमग्न देख उस पिशाच ने और भी अधिक तीव्र क्रोध और आक्रोशपूर्ण कडकते हुए स्वर मे अपने उक्त कथन को दूसरी बार दोहराया। इस पर भी अरहन्नक धीर, गम्भीर और निर्भय बना रहा। उसने मन ही मन उस पिशाच को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे देवानु-प्रिय ! मैं अरहन्नक नामक श्रमणोपासक हूं। मैंने जीव अजीव आदि तत्वों का सम्यग्ज्ञान समीचीनतया हृदयंगम कर उस पर अटूट श्रद्धा और अविचल आस्था की है। मुझे अपनी इस निर्ग्रन्थ प्रवचन की श्रद्धा से ससार की कोई भी शक्ति किंचिन्मात्र भी क्षुभित, स्खलित अथवा विचलित नही कर सकती। इसलिए हे देव ! तुम जो कुछ भी करना चाहते हो, वह सब कुछ कर लो, मैं अपनी श्रद्धा का, आस्था का, सम्यक्त्व अथवा बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म का लेश मात्र भी परित्याग नही करूंगा।"

अरहन्नक को उसी प्रकार अनुद्विग्न, अविकम्प, अविचल, निर्भय और

शान्त देख कर प्रलयघटा में कड़कती बिजली के स्वर में जल, स्थल और नभ को प्रकम्पित करते हुए दूसरी बार अपने उसी उपर्युक्त कथन को दोहराया। इस कर्णवेधी अति कर्कश, कठोर कथन का अरहन्नक के तन, मन अथवा हृदय पर कोई प्रभाव पड़ा कि नहीं, इस प्रकार की प्रतिक्रिया की कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् जब उस पिशाच ने यह देखा कि उसके द्वारा सभी प्रकार का भय दिखाये जाने पर अरहन्नक अडिग आसन से पूर्णतः शान्त, निर्भय मुद्रा में ध्यान मग्न हैं, तो उसे अरहन्नक के साथ-साथ अपनी असफलता पर भी परम क्षोभ और भीषण क्रोध आया। उसने भयावह हुंकार से दशों दिशाओं को कम्पायमान करते हुए अरहन्नक के जलपोत को अपनी दो अंगुलियों पर उठा लिया। जलपोत को अपनी मध्यमा और तर्जनी अंगुलियों पर रख उसने आकाश की ओर ऊंची छलांग भरी। आकाश में सात-आठ ताल वृक्ष प्रमाण ऊंचाई पर जा कर गगन को गुंजायमान कर देने वाले उच्चतम आक्रोशपूर्ण स्वर में एक बार पुनः अपने उपर्युक्त कथन को दोहराते हुए कहा—"अरे ओ! अप्रार्थित मृत्यु की प्रार्थना करने वाले निर्लज्ज, निर्भीक अरहन्नक! अब भी समय है, अपने सम्यक्त्व को, अपनी आस्था को, अपने बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म को छोड़ दे, अन्यथा मैं तुझे तेरे इस जलयान के साथ ही भीषण दंष्ट्राकराल वाले बुभुक्षित मकरों से संकुल सागर के अगाध जल में डुबोता हूं।"

अपने इस कथन के उपरान्त भी जब उस पिशाच ने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा कि अरहन्नक के तन, मन, मस्तिष्क अथवा हृदय पर उसके अति कर्कश कथन और प्राणान्तक भीषण कृत्य का भी कोई किंचिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है, वह पूर्ववत् अपने धर्म पर, अपनी श्रद्धा-आस्था पर, सम्यक्त्व पर पूर्णरूपेण सुस्थिर है, उसकी निर्ग्रन्थ प्रवचन पर जो अटूट आस्था है, उस आस्था श्रद्धा से उसे विचलित करने के लिए उसने जितने भीषण से भीषण उपाय किये हैं, वे सब निष्फल सिद्ध हुए हैं, वह अपने धर्म पथ से किंचिन्मात्र भी स्खलित अथवा विचलित नहीं हुआ है, तो उसने अरहन्नक को उपसर्ग देने का विचार त्याग दिया। उसने अरहन्नक के जलपोत को शनैः शनैः समुद्र के जल की सतह पर रखा। तदनन्तर उसने अपने घोर भयावह पिशाच रूप का परित्याग कर दिव्य देव रूप को धारण किया। उस देव ने हाथ जोड़ कर अरहन्नक से क्षमा मांगते हुए सादर झुक कर विनम्र स्वर में कहा—"हे देवानुप्रिय अरहन्नक! तुम धन्य हो कि तुमने निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति इस प्रकार की अनुपम अविचल आस्था, संसार की किसी भी शक्ति से किंचिन्मात्र भी परिचालित नहीं की जा सकने वाली श्लाघनीय अगाध अक्षोभ्य श्रद्धा अवाप्त की है। सौधर्मपति देवराज इन्द्र ने अपने सौधर्मावतंसक विमान में स्थित सौधर्म सभा में विशाल देवसमूह के समक्ष दृढ विश्वास के साथ, गुरु-गम्भीर तथा सुस्पष्ट शब्दों में अपने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा था कि

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की चम्पा नामक नगरी में जीव, अजीव आदि तत्वों का ज्ञाता एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन मे अटूट आस्था रखने वाला ऐसा श्रद्धानिष्ठ श्रावक है कि उसकी निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अगाध आस्था एवं अविचल आस्था को कोई भी देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर अथवा किंपुरिस विचलित नहीं कर सकता। मुझे एक मानव की प्रशसा में कहे गये देवराज शक्र के ये वचन रुचिकर नही लगे, मुझे उनके इन वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने देवेन्द्र के इन वचनों को अतुल शक्ति सम्पन्न देवो की दिव्य शक्ति के लिये चुनौती समझा। मुझे विश्वास नही हो रहा था कि अस्थि-मास-मज्जा से निर्मित मानव शरीर में इस प्रकार की शक्ति हो सकती है। मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने की ठानी। वस्तुतः तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही मैंने घोर भयावह पिशाच का रूप धारण कर तुम्हारे समक्ष इस प्रकार का घोर उपसर्ग उपस्थित किया है। मेरे मन में तुम्हारे प्रति अन्य किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं थी। मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए तुम्हे घोरातिघोर प्राण संकट में डाला, किन्तु तुम अपने धर्म से, अपनी श्रद्धा से लेशमात्र भी विचलित नही हुए, तुम्हारे मन मे किंचिन्मात्र भी भय उत्पन्न नही हुआ। तुम्हारी इस परीक्षा के पश्चात् मुझे पक्का विश्वास हो गया है कि सौधर्मेन्द्र ने जिन शब्दों में तुम्हारी प्रशंसा की, वह अक्षरशः सत्य है। वस्तुतः तुम दृढ़धर्मा, गुणों के भण्डार, तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी हो। तुम्हारे धैर्य, वीर्य, पौरुष और पराक्रम को घोरातिघोर विपत्तिया भी विचलित नही कर सकती।"

यह कह कर वह अलौकिक कान्ति वाला देव अरहन्नक के चरणों पर गिर पड़ा। उसने बारम्बार अपने अपराध के लिये क्षमा मांगते हुए अरहन्नक को दिव्य कुण्डलो की दो जोड़िया भेंट की और वह अपने स्थान को लौट गया।

उस देवकृत उपसर्ग के समाप्त हो जाने के पश्चात् अरहन्नक ने अपने सागारिक संथारे का पारण किया। वे सब व्यापारी पुनः सुखपूर्वक समुद्र की यात्रा करने लगे। वायु से प्रेरित उनके जलपोत एक दिन एक विशाल बन्दरगाह पर आये। उन पोत वणिको ने अपने जलपोतो को बन्दरगाह पर ठहराया और उनमें से अपने समस्त क्रयाणकों को गाडो मे भर कर अनेक स्थलो में व्यापार करते हुए वे मिथिला नगरी में आये। वहाँ वे मिथिला नगरी के बहिस्थ उद्यान मे ठहरे। उन व्यापारियो का मुखिया अरहन्नक श्रमणोपासक महाराजा को भेंट करने योग्य अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएं और देव द्वारा प्रदत्त कुण्डलों की दो जोडियो मे से एक जोड़ी ले कर मिथिलाधिपति महाराजा कुम्भ की सेवा मे उपस्थित हुआ। उसने वह दिव्य कुण्डल-युगल और उपहार स्वरूप लाई हुई वस्तुएं महाराजा कुम्भ को भेंट की। महाराजा कुम्भ ने उसी समय भगवती मल्ली को बुलाया और उन्हे वे कुण्डल कानो मे धारण करवा दिये।

तदनन्तर महाराज कुम्भ ने अरहन्नक प्रमुख पोतवणिकों को प्रीतिदान में विपुल वस्त्र, गन्ध, अलंकारादि प्रदान किये और उन्हें अच्छी तरह सत्कार सम्मानपूर्वक विदा किया। उन पोतवणिकों ने अपने साथ लाये हुए क्याणकों का मिथिला में विक्रय किया और वहां से विभिन्न प्रकार के आवश्यक क्याणक का क्रय कर उनसे अपने गाड़ों को भर उसी गंभीरी पोतपत्तन की ओर प्रस्थान किया जहां कि उनके जलपोत थे। मिथिला से क्रीत क्याणक को उन्होंने उन दोनों पोतों में भरा और समुद्री यात्रा करते हुए, एक दिन उनके जलपोत चम्पा नगरी के पास पोतपत्तन मे पहुंचे। उन्होंने जलपोतों को पोतपत्तन पर ठहराया और लंगर लगा दिये। वहां उन्होंने अपने साथ राजा को भेंट करने योग्य अनेक वस्तुओं के साथ वह शेष दिव्य कुण्डलो की जोड़ी ली और वे चम्पा के राजप्रासाद में अंगाधिप चन्द्रच्छाग की सेवा में उपस्थित हुए। अरहन्नक ने प्रणामादि के पश्चात् वह दिव्य कुण्डल युगल और अनेक बहुमूल्य वस्तुएं महाराज चन्द्रच्छाग को उपहारस्वरूप भेंट कीं।

चम्पा नरेश चन्द्रच्छाग ने भेंट स्वीकार करते हुए अरहन्नक से पूछा— "समुद्र यात्रा करते हुए आप लोग अनेक द्वीपों, देश देशान्तरों मे व्यापार करते रहते, क्या आपने कहीं कोई आश्चर्यकारी दृश्य, वृत्त अथवा वस्तु देखी है ?"

अरहन्नक श्रमणोपासक ने कहा—"महाराज ! यों तो विदेशों में, देश-देशान्तरो, राज्यों और राजधानियों मे व्यापार करते हुए छोटे-बड़े अनेक प्रकार के आश्चर्य देखते ही रहते हैं, किन्तु इस बार हमने मिथिला के राजप्रासाद में एक अदृष्टपूर्व आश्चर्य देखा। इस बार हम अनेक प्रकार की वस्तुओ से गाडे भर कर मिथिला नगरी में गये। वहां हम मिथिलेश महाराज कुम्भ की सेवा मे एक दिव्य कुण्डल युगल और बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएं ले कर पहुंचे। हमने उन वस्तुओं के साथ कुण्डल महाराज कुम्भ को भेंट किये। उन्होने उसी समय विदेहराज पुत्री मल्ली को बुलाया और उनके कानों में वे दिव्य कुण्डल पहना दिये। उस समय हमने कुम्भ राजा के राजप्रासाद में विदेह की राजकुमारी मल्ली को संसार के सर्वोत्कृष्ट आश्चर्य के रूप में देखा। जैसी सुन्दर, रूप लावण्य सम्पन्ना महाराज कुम्भ की कन्या, महारानी प्रभावती की आत्मजा विदेह राजकुमारी मल्ली हैं, उस प्रकार की तो क्या उसके अंगुष्ठ के शतांश भाग से तुलना करने वाली कोई मानव कन्या तो क्या देवकन्या भी नहीं हो सकती।"

तदनन्तर महाराज चन्द्रछाग ने उन पोतवणिकों का सत्कार-सम्मान कर उन्हें आदर सहित विदा किया। अरहन्नक के मुख से भगवती मल्ली के रूप का परमाश्चर्यकारी विवरण सुन कर उसके हृदय में मल्ली को प्राप्त करने की उत्कण्ठा जागृत हुई। उसने दौत्यकार्य में अतीव कुशल अपने दूताग्रणी को बुला कर आदेश दिया—"देवानुप्रिय ! तुम मिथिला नगरी के महाराजा कुम्भ

के पास जा कर उनसे उनकी कन्या मल्लिकुमारी की मेरे लिए मेरी भार्या के रूप मे याचना करो। यदि उस राजकुमारी के लिए कन्या-शुल्क के रूप मे मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य भी देना पडे तो मैं देने के लिए समुद्यत हू।"

अगपति महाराज चन्द्रच्छाग का आदेश सुन कर दूत बड़ा हृष्ट और तुष्ट हुआ। वह द्रुतगति से अपने घर गया और यात्रा के लिए सैनिक, अनुचर, पाथेय. द्रुतगामी वाहनादि का समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् अनेक सैनिको के साथ मिथिला की ओर प्रस्थित हो गया।

कुणालाधिपति रुप्पी का अनुराग

कुणाला जनपद मे भी मल्लिकुमारी के सौन्दर्य की घर-घर चर्चा होने लगी। श्रावस्ती मे कुणालाधिपति महाराज रुप्पी का शासन था। उनकी पुत्री, महारानी धारिणी की आत्मजा सुबाहु बड़ी ही रूपवती थी। एक बार कन्या के चातुर्मासिक मज्जन का महोत्सव था। उस समय राजा ने स्वर्णकार मण्डल को आदेश दिया—"राजमार्ग के पास बने पुष्प मण्डप मे अनेक रगो से रगे हुए चावलो से नगर की रचना करो। उस नगर के मध्यभाग मे एक पट्टक बनाओ।"

स्वर्णकारों ने अपने महाराजा की आज्ञा के अनुसार सब कार्य सम्पन्न कर उन्हे सूचित किया।

अपनी आज्ञानुसार नगरी का आलेखन हो जाने पर राजा ने कन्या को पट्ट पर बिठला कर सुवर्ण-रौप्यमय कलशो से उसे स्नान कराया, फिर वस्त्रा-भूषणो से सुसज्जित एव अलकृत हो कन्या पितृवन्दन को आई तो राजा उसके रूप-लावण्य को देख कर विस्मित हो गया। वर्षधर पुरुषो को बुला कर राजा ने पूछा—"क्या तुमने कही सुबाहु कन्या के समान रूप-लावण्य अन्य किसी कन्या का देखा है?"

एक वर्षधर पुरुष ने कहा—"महाराज! एक बार हम राज-कार्य से मिथिला गये थे, वहा महाराज कुम्भ की पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी का मज्जन देखा। उसके सम्मुख यह सुबाहु का मज्जन लाखवें भाग भी नही है।"

यह सुन कर कुणालाधिपति का गर्व गल गया और वह मल्लिकुमारी के सौन्दर्य के दर्शन को अत्यन्त व्यग्र और लालायित हो गया।

कुणालाधिपति रुप्पी ने भी कुम्भ महाराज के पास अपने दूत को जाने की आज्ञा देते हुए कहा—"तुम शीघ्र ही मिथिला जा कर महाराज कुम्भ से

मेरा यह संदेश कहो कि मैं उनकी पुत्री मल्लिकुमारी का अपनी भार्या के रूप में वरण करना चाहता हूं।"

अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर महाराजा रुप्पी का वह दूत कतिपय सैनिकों, अनुचरों और पाथेयादि को अपने साथ ले मिथिला की ओर तत्काल प्रस्थित हुआ।

काशी जनपद के महाराजा शंख का अनुराग

भगवती मल्ली के अलौकिक सौन्दर्य एवं अनुपम गुणों की ख्याति काशी नरेश के पास भी पहुंची। उन दिनों काशी जनपद पर महाराजा शंख का राज्य था। वे काशी जनपद की राजधानी बनारस में रहते थे।

भगवती मल्ली के कानों के अरहन्नक श्रावक द्वारा महाराज कुम्भ को भेंट किये गये कुण्डल युगल मे से एक दिन एक कुण्डल की संधि पृथक् हो गई। मिथिला के स्वर्णकारों को वह कुण्डल सन्धि जोड़ने के लिए दिया गया, परन्तु मिथिला के स्वर्णकारों मे से कोई भी स्वर्णकार उस कुण्डल की सन्धि को नहीं जोड़ सका। इससे क्रुद्ध हो महाराज कुम्भ ने उन स्वर्णकारों को अपने राज्य विदेह जनपद की सीमा से निर्वासित कर दिया।

महाराज कुम्भ द्वारा विदेह जनपद से निष्कासित कर दिये जाने पर वे स्वर्णकार काशी नरेश शंख के पास पहुंचे और उन्होंने उनकी छत्रछाया में सुख से रहने की इच्छा अभिव्यक्त की। काशीपति ने उन्हें मिथिला के राज्य से निर्वासित करने का कारण पूछा और स्वर्णकारों द्वारा अपने निष्कासन का उपर्युक्त कारण बताये जाने पर महाराज कुम्भ की पुत्री मल्लिकुमारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में काशीराज ने स्वर्णकारों से जानकारी चाही। स्वर्णकारों ने उपयुक्त अवसर देख कर कह डाला—"महाराज ! कोई देवकन्या भी मल्ली जैसी सुन्दर नहीं होगी, वह अनुपम, उत्कृष्टतम और अलौकिक कान्ति-वाली है।

स्वर्णकारों के मुख से विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य की बात सुन कर काशी नृपति भी भगवती मल्ली के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उसने तत्काल अपने प्रमुख दूत को बुला कर आदेश दिया—"देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और महाराज कुम्भ के पास जा कर उन्हें मेरा यह संदेश सुनाओ—काशी जनपद के अधीश्वर महाराजाधिराज शंख आपकी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी को अपनी पट्ट महिषी बनाने के लिये समुत्सुक हैं। मल्लिकुमारी को प्राप्त करने के लिये वे अपना विशाल राज्य भी देने को समुद्यत हैं।"

अपने स्वामी की आज्ञा सुनकर दूत बडा प्रमुदित हुआ । उसने साष्टांग प्रणाम करते हुए महाराज शख की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने साथ कुछ सैनिक, कतिपय अनुचर और पर्याप्त पाथेय ले कर वह मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ ।

कुरुराज अदीनशत्रु का अनुराग

भगवती मल्ली के अनुपम सौन्दर्य की सौरभ फैलते-फैलते कुरु देश तक भी पहुंच गई । उन दिनों कुरु जनपद पर महाराजा अदीनशत्रु का शासन था । वे कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर नगर मे रहते थे ।

एक दिन भगवती मल्ली के कनिष्ठ भाई मल्लदिन्न कुमार ने अपने प्रमर्द वन में चित्रकारो द्वारा चित्रसभा की रचना करवाई । जब राजकुमार चित्रसभा देखने गये तो वहां एक चित्र को देख कर वे स्तम्भित हो गये । वस्तुस्थिति यह थी कि एक चित्रकार ने भगवती मल्ली के पैर का अंगुष्ठ किसी समय देख लिया था । उसी के आधार पर उस चित्रकला-विशारद ने अपनी योग्यता से अंगूठे के आधार पर मल्ली का पूरा चित्र वहां चित्रसभा मे चित्रित कर दिया था ।

मल्लदिन्न कुमार ने जब उस चित्र को देखा तो यह सोच कर कि यह मल्ली विदेह राजकन्या ही यहां खड़ी हुई है, वे लज्जित हो गये । ज्येष्ठ भगिनी के संकोच से वे पीछे की ओर हट गये । जब उन्हें धाई मा से यह ज्ञात हुआ कि यह मल्ली नही, किन्तु चित्रकार द्वारा आलिखित उनका चित्र है तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और चित्रकार को उन्होने प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी । प्रजा और चित्रकार-मण्डल की प्रार्थना पर उसे अंगुष्ठ-छेदन का दण्ड दे कर निर्वासित कर दिया । वह चित्रकार कुरु नरेश के पास पहुंचा और उन्हे भगवती मल्ली का चित्र भेट किया । चित्रपट को देख और मल्लिकुमारी के रूप की प्रशसा सुन कर कुरुराज अदीनशत्रु भी मल्लिकुमारी पर मुग्ध हो गये ।

उन्होंने तत्काल अपने दूत को बुला कर आज्ञा दी—"देवानुप्रिय ! तुम आज ही मिथिला की ओर प्रस्थान करो और मिथिलाधिपति महाराज कुम्भ को मेरा यह सन्देश सुनाओ—कुरुराज अदीनशत्रु आपकी पुत्री विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी को अपनी पट्टमहिषी बनाने के लिये व्यग्र हैं । वे मल्लिकुमारी को प्राप्त करने के लिये अपना सम्पूर्ण कुरु जनपद का राज्य भी देने को समुद्यत है ।"

अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य कर कुरुराज का दूत भी तत्काल आवश्यक पाथेय, अनुचर और कतिपय सैनिको को साथ ले मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ ।

पांचाल नरेश जितशत्रु का अनुराग :

जिस समय भगवती मल्ली १०० वर्ष से कुछ कम अवस्था की हुईं, उस समय पांचाल (आधुनिक पंजाब) जनपद पर जितशत्रु नामक महाराजा राज्य करता था। उस समय पांचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्यपुर नगर में थी। काम्पिल्यपुर बड़ा ही समृद्ध और विशाल नगर था। पांचाल राज्य की राजधानी होने के कारण देश-विदेश के व्यापारी वहां व्यापार करने आते रहते थे। काम्पिल्यपुर में पांचालपति जितशत्रु का विशाल और भव्य राजप्रासाद था। उसके राजप्रासाद मे अति सुरम्य और विशाल अन्तःपुर था। राजा जितशत्रु के अन्तःपुर में धारिणी प्रमुख १००० रानियां थीं और वे सभी अनिन्द्य सुन्दरियां थीं।

उधर उन्हीं दिनों मिथिला नगरी में चोक्षा नाम की एक परिव्राजिका रहा करती थी। चोक्षा परिव्राजिका ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों एवं स्मृति आदि समस्त शास्त्रों की पारगत विदुषी थी। वह विदुषी परिव्राजिका मिथिला के सभी राज्याधिकारियों, श्रेष्ठियों, सार्थवाहों एवं सभी सम्भ्रान्त परिवारों के नर-नारियों के समक्ष शौच मूलक धर्म, दानधर्म एवं तीर्थाभिषेक आदि का विशद व्याख्यापूर्वक उपदेश एवं अपने आचरण से उन धर्मों का प्रदर्शन भी करती थी। एक दिन वह चोक्षा परिव्राजिका गेरुएं (भगवां) वस्त्र धारण किये हुए हाथ मे त्रिदण्ड और कमण्डलु लिये अनेक परिव्राजिकाओं के परिवार से परिवृत्त हो अपने मठ से राजप्रासाद की ओर प्रस्थित हुई। वह मिथिला नगरी के मध्यवर्ती राजपथ से चल कर राजप्रासाद में प्रविष्ट हो भगवती मल्ली के कन्यान्तःपुर में पहुंची। भगवती मल्ली के प्रासाद में अन्य परिव्राजिकाओं ने भूमि को जल से छिड़क कर उस पर दर्भ का आसन बिछाया। चोक्षा परिव्राजिका उस दर्भासन पर बैठ गई और भगवती मल्ली के समक्ष शौचधर्म, दानधर्म और तीर्थाभिषेक की महत्ता के सम्बन्ध में निरूपण करने लगी। उसकी प्ररूपणा को सुनने के पश्चात् भगवती मल्ली ने चोक्षा परिव्राजिका से प्रश्न किया—"हे चोक्षे! तुम्हारे यहा धर्म का मूल किसे माना गया है?"

मल्ली भगवती के प्रश्न का उत्तर देते हुए चोक्षा परिव्राजिका ने कहा—"देवानुप्रिये! हमारे यहा धर्म को शौचमूलक बताया गया है। इसी कारण जब कभी हमारी कोई भी वस्तु अशुचि-अपवित्र हो जाती है तो हम उसे मट्टी और पानी से धो कर पवित्र कर लेते हैं। हमारे इस शौचमूलक धर्म के अनुसार जल से स्नान करने पर हमारी आत्मा पवित्र हो जाती है और हम शीघ्र ही बिना किसी विघ्न अथवा बाधा के स्वर्ग में पहुंच जाते हैं।"

चोक्षा परिव्राजिका द्वारा की गई शौचमूलक धर्म की यह व्याख्या सुनकर भगवती मल्ली ने कहा—"हे परिव्राजिके ! रुधिर से प्रलिप्त वस्त्र को यदि कोई व्यक्ति रुधिर से ही धोवे तो क्या वह शुद्ध या स्वच्छ हो जायगा ? कदापि नही। रुधिर से सने वस्त्र को रुधिर से धोने पर शुद्धि हो जाती है, इस बात को कोई साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी नही मान सकता। रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर तो वस्तुत: वह और अधिक गंदा एवं रुधिर लिप्त होगा, और अधिक रक्तवर्ण होगा। ठीक इसी प्रकार चोक्षे ! हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, मिथ्यादर्शन, शल्य आदि आदि पाप कर्मों से आत्मा कर्ममल से लिप्त होता है, वह आत्मा पर लगा हिंसा आदि पाप कर्म का मैल हिंसा-कारक जल-स्नान, यज्ञ-यागादि पापपूर्ण कार्यों से कदापि शुद्ध नही हो सकता।

जिस प्रकार रुधिर रंजित वस्त्र को सज्जी अथवा क्षारादि से प्रलिप्त कर उसे किसी पात्र मे रख कर अग्नि से तपाया जाय और तत्पश्चात् उसे शुद्ध पानी से धोया जाय तभी वह वस्त्र शुद्ध और स्वच्छ-निर्मल होता है, उसी प्रकार हिंसा आदि पापकर्मों से प्रलिप्त आत्मा को सम्यक्त्व रूपी क्षार से लिप्त कर शरीर भाण्ड मे तपश्चर्या की अग्नि से तपा कर संयम के विशुद्ध जल से धोने पर ही आत्मा कर्ममल रहित हो सकता है, न कि रुधिर रजित वस्त्र को रुधिर से धो कर साफ करने के प्रयास तुल्य पापपक से लिप्त आत्मा को जल-स्नान, यज्ञ, यागादि पाप पूर्ण कृत्यो द्वारा पवित्र करने के विनाशकारी प्रयास से।"

मल्ली भगवती द्वारा इस प्रकार समझाये जाने पर वह चोक्षा परिव्राजिका शंका, कांक्षा, वितिगिच्छायुक्त और निरुत्तर हो गई। वह चुपचाप मल्ली भगवती की ओर देखती ही रह गई।

चोक्षा परिव्राजिका की इस प्रकार की हतप्रभ अवस्था देख कर मल्ली राजकुमारी की दासियो, परिचारिकाओ आदि ने अनेक प्रकार की भावभगिमायें बना कर उसका उपहास किया। दासियो के इस प्रकार के व्यवहार से उसने अपने आपको अपमानित अनुभव किया। वह अपमान की ज्वाला से सतप्त और मल्ली भगवती के प्रति प्रद्वेष करती हुई प्रासाद से उठी और अपने मठ में आकर अपनी सभी परिव्राजिकाओ के साथ मिथिला से काम्पिल्यपुर की ओर प्रस्थित हुई। उसके अन्तर्मन मे भगवती मल्ली के प्रति विद्वेषाग्नि भड़क उठी। कतिपय दिनों पश्चात् वह काम्पिल्यपुर पहुंची और वहां वह राज्याधिकारियों, सार्थवाहों, श्रेष्ठियों और विभिन्न वर्गों के नागरिको के समक्ष अपने शौच लक धर्म का उपदेश देने लगी।

कुछ समय पश्चात् एक दिन वह चोक्षा ५ र्व ज शिष्याओं के साथ पाचालाधीश्वर जितशत्रु के अन्त पुर मे ।

राजा जितशत्रु अपनी एक सहस्र चारुहासिनी रानियो के विशाल परिवार से परिवृत्त हुआ अपने अन्त पुर मे बैठा हुआ आमोद-प्रमोद कर रहा था। चोक्षा परिव्राजिका को देखते ही राजा अपने सिंहासन से उठा। परिव्राजिकाओ को प्रणाम करने के पश्चात् उन्हें आसन पर बैठने का निवेदन किया। चोक्षा परिव्राजिका ने राजा को जय-विजय शब्दो के उच्चारण पूर्वक अभिवादित किया। जल से छिटके हुए दर्भासन पर बैठ कर चोक्षा परिव्राजिका ने राजा और रानियों से कुशलक्षेम पूछा। कुशलक्षेम पूछने की पारस्परिक औपचारिकता के पश्चात् चोक्षा परिव्राजिका ने राजा के अन्त.पुर मे शौच, दान और तीर्थाभिषेक के सम्बन्ध में उपदेश दिया।

उस समय अपने अन्त.पुर के विशाल परिवार और एक सहस्र सुमुखी सर्वांग सुन्दरी रानियो के रूप, लावण्य एवं अनमोल वस्त्रालंकारो को देख-देखकर जितशत्रु मन ही मन अपने अतुल ऐश्वर्य पर गर्व का अनुभव कर रहा था। धर्मोपदेश की समाप्ति के पश्चात् महाराजा जितशत्रु ने चोक्षा परिव्राजिका से प्रश्न किया—"देवानुप्रिये परिव्राजिके ! आप ग्राम, नगर आदि मे परिभ्रमण करती हुई बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली राजाओं के अन्त पुरों मे भी जाया करती है। क्या आपने कही मेरे अन्तःपुर के समान किसी अन्य राजा का अन्त.पुर देखा है ?"

महाराजा जितशत्रु के प्रश्न को सुन कर चोक्षा परिव्राजिका कुछ क्षणो तक हँसती रही। तत्पश्चात् उसने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा— "राजन् ! आप भी संयोगवशात् समुद्र से किसी कूप में आये हुए मेंढक के समक्ष समुद्र की विशालता जानने के अभिप्राय से अपने कूप में छलागे मार-मार कर बार-बार प्रश्न पूछने वाले कूपमण्डूक जैसी ही बात कर रहे हैं। जिस प्रकार कूपमण्डूक समझता है कि जिस कूप मे वह जन्मा और बड़ा हुआ है, संसार में उससे बड़ा और कोई कूप, जलाशय अथवा जलधि हो ही नही सकता, उसी प्रकार आप अपने अन्त पुर को ही सर्वश्रेष्ठ अन्त.पुर समझते हुए यह प्रश्न पूछ रहे हैं। पांचालपति ! सावधान हो कर सुनो ! विदेह राज मिथिलेश महाराज कुम्भ की कन्या, महारानी प्रभावती की आत्मजा विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी को हमने देखा है। मल्लिकुमारी संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। वस्तुतः वह अनुपम है। किसी भी मानव कन्या की तो बात ही क्या, ससार की कोई परम सुन्दरी देवकन्या, नागकन्या भी रूप, लावण्य, यौवन आदि गुणो मे मल्लिकुमारी के समक्ष तुच्छ प्रतीत होती है। राजन् ! सच कहती हूं, तुम्हारा यह समस्त अन्तःपुर परिवार विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी के चरणांगुष्ठ के एक लाखवें अंश की भी समता नही कर सकता। उसके रूप के समक्ष आपका यह अन्त.पुर नगण्य और तुच्छ है।"

तदनन्तर समग्र अन्त:पुर को आश्चर्य, व्यामोह और ऊहापोह मे निमग्न करती हुई चोक्षा परिव्राजिका अपने गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थित हुई।

चोक्षा परिव्राजिका के मुख से भगवती मल्ली के अनुपम रूप-लावण्य का विवरण सुन कर पांचालाधिपति जितशत्रु मल्लिकुमारी पर इतना अधिक अनुरक्त हुआ कि वह अपने समग्र पांचाल राज्य के पण से अर्थात् पांचाल देश का पूरा राज्य दे कर भी मल्लिकुमारी को भार्या के रूप में प्राप्त करने के लिये कृतसंकल्प हो गया।

उसने अपने दूत को बुला कर आदेश दिया—"देवानुप्रिय! तुम शीघ्रातिशीघ्र मिथिला के महाराज कुम्भ के पास जाओ। उनसे निवेदन करो कि पाचालपति जितशत्रु आपकी पुत्री विदेह राजकुमारी मल्ली को अपनी भार्या के रूप में आपसे याचना करते है। वे समग्र पाचाल प्रदेश का राज्य देकर भी मल्ली राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प है।"

अपने स्वामी का आदेश सुन कर दूत बड़ा प्रसन्न हुआ। यात्रा के लिये आवश्यक प्रबन्ध करने के पश्चात् वह विपुल पाथेय, सैनिकों और अनुचरो के साथ मिथिला की ओर प्रस्थित हुआ।

इस भाति प्रतिबुद्ध आदि छहो राजाओ द्वारा भगवती मल्ली की अपनी-अपनी भार्या के रूप मे महाराज कुम्भ से याचना करने के लिये भेजे गये छहो दूत अपने-अपने नगर से प्रस्थित हो चलते-चलते संयोगवश एक ही साथ मिथिला नगरी पहुचे। उन छहो दूतो ने मिथिला नगरी के बाहर प्रधान उद्यान मे अपने अलग-अलग स्कन्धावार-डेरे डाले। स्नानादि आवश्यक कृत्यो से निवृत्त हो दूतयोग्य परिधान धारण कर वे छहो दूत मिथिला नगरी के मध्यभाग मे होते हुए राजप्रासाद में महाराज कुम्भ के पास उपस्थित हुए। उन छहो दूतो ने महाराज कुम्भ को साजलि शीष झुका प्रणाम करने के पश्चात् क्रमश. अपने-अपने स्वामी नरेश का सन्देश महाराज कुम्भ को सुनाया।

दूतो के मुख से प्रतिबुद्ध आदि राजाओ का सन्देश सुनते ही महाराज कुम्भ अत्यन्त क्रुद्ध हुए, क्रोध के कारण उनकी दोनो आंखे लाल हो गई, ललाट पर त्रिवलि उभर आई और भौंहे तन गईं। उन्होंने आवेशपूर्ण स्वर में गर्जते हुए उन दूतों से कहा—"ओ दूतो! कह दो अपने-अपने राजाओं से जा कर कि मैं अपनी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्लिकुमारी तुम्हारे राजाओ के लिये नही दूंगा।"

इस प्रकार महाराज कुम्भ ने आक्रोशपूर्ण नकारात्मक उत्तर दे कर बिना किसी प्रकार का सत्कार सम्मान किये उन छहो राजाओं के दूतों को राज-

प्रासाद के अपद्वार (पृष्ठ भाग के छोटे द्वार) से बाहर निकलवा दिया। इस प्रकार राजप्रासाद से निकलवा दिये जाने पर वे छहों दूत तत्काल अपने-अपने अनुचरों एवं सैनिकों के साथ मिथिला से अपने-अपने नगर की ओर प्रस्थित हुए। अपने-अपने नगर में पहुंच कर वे दूत अपने-अपने राजा की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने अपने-अपने स्वामी राजा को हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए निवेदन किया—"हम छहों राजाओं के छहों ही दूत एक साथ मिथिला में और मिथिलापति महाराज कुम्भ की राज्यसभा में पहुंचे थे। हम छहों दूतों ने अपने-अपने स्वामी का वक्तव्य-सन्देश महाराज कुम्भ को सुनाया। महाराज कुम्भ सुनते ही क्रोध से तिलमिला उठे। उन्होंने आक्रोश और आवेशपूर्ण स्पष्ट शब्दों में कहा—"मैं अपनी पुत्री विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी तुम लोगों मे से किसी के स्वामी को नहीं दूंगा।" यह कह कर महाराजा कुम्भ ने हम छहो दूतों को असत्कारित एवं असम्मानित करते हुए अपद्वार से निकलवा दिया।

उन छहों दूतों ने अपने-अपने राजा को निवेदन किया—"स्वामिन्! मिथिलाधिपति महाराज कुम्भ अपनी कन्या मल्लिकुमारी आपको नहीं देंगे।"

जितशत्रु आदि छहों राजा अपने-अपने दूतों की उक्त बात सुन कर बड़े क्रुद्ध हुए। उन छहों राजाओं ने परस्पर एक दूसरे के पास दूत भेज कर कहलवाया—"हम छहों राजाओं के दूतों को राजा कुम्भ ने एक साथ अपमानित कर अपने राजप्रासाद के अपद्वार से निकलवा दिया। अतः अब हम लोगों के लिए यही श्रेयस्कर है कि महाराजा कुम्भ को पराजित करने के लिए हम छहों मिल कर अपनी सेनाओं के साथ मिथिला पर आक्रमण कर दें।"

दूतों के माध्यम से इस प्रकार का परामर्श कर प्रतिबुद्ध आदि छहों राजाओं ने एकमत हो अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेना साथ ले मिथिला पर आक्रमण करने के लिये अपने-अपने नगरों से प्रस्थान किया। एक निश्चित स्थान पर छहों राजा एक-दूसरे से मिले। तदनन्तर उन छहों राजाओं ने अपनी-अपनी सेना के साथ मिथिला की ओर प्रयाण किया।

जब मिथिलेश महाराज कुम्भ को अपने गुप्तचरों के माध्यम से ज्ञात हुआ कि जितशत्रु आदि छह राजा अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाओं के साथ मिथिला पर आक्रमण करने के लिये आ रहे हैं तो वे (कुम्भ) भी आक्रमणकारी राजाओं से अपने जनपद की रक्षा के लिए सुसन्नद्ध हो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित चतुरंगिणी सेना के साथ अपने राज्य विदेह जनपद की सीमा पर आक्रामक राजाओं के आने से पहले ही पहुंच गये। विदेह जनपद की सीमा पर उन्होंने अपनी सेना का सन्निवेश स्थापित किया और युद्ध के लिये कटिबद्ध हो उन राजाओं के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

युद्ध और पराजय

थोडी ही प्रतीक्षा के पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजा अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ विदेह जनपद की सीमा के पास उसी स्थान पर आये जहा महाराज कुम्भ की सेना थी । उन छहो राजाओं ने आते ही छहो राज्यो की सम्मिलित सैन्य शक्ति के साथ महाराजा कुम्भ की सेना पर आक्रमण कर दिया । छहो राज्यो की सम्मिलित विशाल सैन्य शक्ति के समक्ष एकाकी कुम्भ राजा की सेना अधिक समय तक डटी नही रह सकी । तुमुल युद्ध मे जितशत्रु आदि छह राजाओ की सेना ने विदेहराज कुम्भ की सेना के अनेक योद्धाओ को मौत के घाट उतार दिया, अनेक योद्धाओ को क्षत-विक्षत और बहुत से योद्धाओ को गम्भीर रूप से आहत कर दिया । उन छहो राजाओ ने मिलकर महाराजा कुम्भ के छत्र, पताका आदि राज चिह्नों को पृथ्वी पर गिरा दिया । अन्ततोगत्वा महाराजा कुम्भ को उन छहों राजाओ ने घेर लिया । इस प्रकार महाराजा कुम्भ के प्राण सकट मे पड गये । छहों राजाओं की संगठित विशाल सेना द्वारा अपनी स्वल्प सैन्य शक्ति को इस प्रकार छिन्न-भिन्न और क्षीण होती देखकर महाराजा कुम्भ निरुत्साह हो गये । उन्होने अच्छी तरह जान लिया कि परबल अजेय है । अत: वे शीघ्र ही त्वरित वेग से मिथिला की ओर प्रस्थित हुए । अपनी बची हुई सेना के साथ मिथिला में प्रवेश करते ही मिथिला के सभी प्रवेश द्वारों को बन्द करवा, शत्रु के आवागमन के सभी मार्गों को अवरुद्ध कर वे नगर की रक्षा का प्रबन्ध करने मे व्यस्त हो गये ।

अपने सैनिको के साथ महाराजा कुम्भ के मिथिला में प्रवेश कर लेने के पश्चात् वे जितशत्रु आदि छहो राजा भी अपनी सेनाओ के साथ मिथिला की ओर बढे और मिथिला पहुंचने पर उन्होने मिथिला नगरी को चारों ओर से घेर लिया । छह जनपदों के राजाओ की सम्मिलित विशाल सेना द्वारा डाला गया वह मिथिला का घेरा इतना कडा था कि मित्र राजाओं की सहायता प्राप्त करने के लिये दूत को भेजना तो दूर, कोई एक व्यक्ति भी नगर के प्राकार के बाहर अथवा अन्दर आ जा नही सकता था । मिथिला नगरी को इस प्रकार के कड़े घेरे से अवरुद्ध देख महाराज कुम्भ अपने किले के आभ्यन्तर भाग की अपनी उपस्थान शाला मे राजसिंहासन पर बैठ कर उन छहों शत्रु-राजाओ के गुप्त दूषणों, मानव सुलभ दुर्बलताओ, छिद्रो एवं विवरो की टोह मे रहने लगे । पर जब उन्हे अपने उन शत्रुओ का किसी प्रकार का छिद्र अथवा दूषण दृष्टिगोचर नही हुआ तो उन्होने अपने मन्त्रियों के साथ बैठ कर औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं परिणामिकी—इन सभी प्रकार की बुद्धि से अपने कार्य की सिद्धि के लिये उपाय ढूंढने का प्रयास किया । किन्तु सभी भाति अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त भी इष्ट-सिद्धि का कोई उपाय दृष्टिगोचर नही हुआ तो महाराजा कुम्भ बड़े हतोत्साह हुए और वे आर्त ध्यान करने लगे ।

उसी समय स्नानोपरान्त वस्त्राभरणों से अलंकृत भगवतीमल्ली ने महाराज कुम्भ के पास आकर उनके चरणों मे प्रणाम किया। किन्तु उद्विग्न होने के कारण महाराज कुम्भ चिन्तामग्न ही रहे। न तो वे भगवती मल्ली से बोले और न उनका उनकी ओर ध्यान ही गया।

अपने पिता की इस प्रकार की मनोदशा देखकर भगवती मल्ली ने उनसे पूछा—"तात! आज से पहले तो सदा आप मुझे आती देखते ही प्रफुल्लित हो जाते थे, मेरा आदर एवं दुलार कर मुझसे बात करते थे, परन्तु आज क्या कारण है कि आप इस प्रकार हतोत्साह हुए चिन्तामग्न बैठे हैं?"

अपनी पुत्री का प्रश्न सुनकर महाराज कुम्भ ने कहा—"हे पुत्रि! तुम्हारे साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जितशत्रु आदि इन छहो राजाओं ने मेरे पास अपने दूत भेजे थे। मैंने उनके प्रस्ताव को ठुकरा कर उनके छहो दूतों को अनादृत कर अपद्वार से राजप्रासाद के बाहर निकलवा दिया। जब अपने-अपने दूतो के मुख से उन छहों राजाओं ने यह सब वृत्त सुना तो वे बड़े कुपित हुए। यही कारण है कि उन छहों राजाओ ने मिथिला नगरी को सब ओर से घेर लिया है, न किसी को बाहर जाने देते है और न किसी को बाहर से अन्दर ही आने देते हैं। मैंने इनको परास्त करने के विचार से अनेक प्रकार के उपाय सोचे पर न तो उनका कोई छिद्र ही दिखाई दे रहा है और न इनको परास्त करने का कोई उपाय ही। यही कारण है कि मैं हतमना चिन्ता ग्रस्त बना बैठा हूं।"

जितशत्रु आदि को प्रतिबोध

यह सुनकर भगवती मल्ली ने कहा—"तात न तो आपको हतमना होने की आवश्यकता है और न चिन्ताग्रस्त होने की ही। इस विषय मे मैं आपको एक उपाय बताती हूं। वह यह है कि आप उन जितशत्रु आदि छहो राजाओ में से प्रत्येक के पास एकान्त में अपना दूत भेजियें। वह दूत प्रत्येक राजा को यही कहे—"हम अपनी पुत्री विदेह राजवर कन्या मल्ली कुमारी तुम्हे देंगे।"

उन छहो राजाओं को पृथक्-पृथक् दूत से इस प्रकार कहलवा कर उनमें से एक एक को अलग अलग निस्तब्ध रात्रि मे, जबकि सब लोग निद्रा की गोद में सोये हुए हो, नगर मे प्रवेश करवाइये और छहो को पृथक्-पृथक् गर्भगृहों मे एक एक करके ठहरा दीजिये। जब वे छहों राजा छहो गर्भगृहों मे प्रविष्ट हो जायं, उस समय मिथिला के सभी प्रवेशद्वारों को बन्द करवा दीजिये और इस प्रकार उन छहो राजाओ को यहा रोककर आत्मरक्षा कीजिये।"

भगवती मल्ली के कथनानुसार महाराज कुम्भ ने छहों राजाओ को

पृथक्-पृथक् दूत भेजकर रात्रि के समय नगर में एक-एक को प्रवेश करवा कर पृथक्-पृथक् गर्भगृहों में ठहरा दिया।

सूर्योदय होते ही मोहनघर के गर्भगृहों के वातायनों में से जितशत्रु आदि उन छहों राजाओं ने भगवती मल्ली द्वारा निर्मित साक्षात् मल्ली कुमारी के समान अनुपम सुन्दरी, रूप, लावण्य यौवन सम्पन्ना भगवती मल्ली की प्रतिकृति-प्रतिमा को मणिपीठ पर देखा। मल्ली भगवती की उस प्रतिकृति को देखते ही "अरे, यह तो विदेह राजवर कन्या मल्ली कुमारी है"—मन ही मन यह कहते हुए वे सब उसके रूप-लावण्य पर पूर्णतः मुग्ध, लुब्ध और आसक्त हो निर्निमेष दृष्टि से आँखें विस्फारित कर देखते ही रह गये। उसी समय भगवती मल्ली वस्त्रालकारों से विभूषित हो कुब्जा आदि अनेक दासियो के साथ जालघर में अपनी कनकमयी प्रतिकृति के पास आई। उसने पुतली के शिर पर रखे पद्म कमल के ढक्कन को उठा लिया। प्रतिमा पुतली के शिर से ढक्कन के उठाते ही उसमे से ऐसी असह्य और भीषण दुर्गन्ध निकली जैसी कि मृत सर्प, गोह और श्वान के सड़े हुए शरीर में से निकलती है। वह भीषण दुस्सह्य दुर्गन्ध तत्क्षण समस्त वायुमण्डल मे व्याप्त हो गई। उस घोर दुस्सह्य दुर्गन्ध के निकलते ही जितशत्रु आदि उन छहों राजाओ न अपने-अपने उत्तरीय के अंचल से अपनी-अपनी नाक को ढँक लिया और दूसरी ओर मुख मोड़कर बैठ गये।

उन छहों राजाओं को इस प्रकार की अवस्था मे देखकर भगवती मल्ली ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रियो! आप लोग अपने-अपने उत्तरीय से अपनो नाक ढांप कर और पुतली को ओर से मुख मोड़कर क्यों बैठ गये हो?"

मल्ली भगवती का यह प्रश्न सुनकर उन छहों राजाओं ने कहा—"हे देवानुप्रिये! हम लोगों को यह अशुभ दुस्सह्य दुर्गन्ध किसी भी तरह किंचिन्मात्र भी सहन नही हो रही है। इसी कारण हम उत्तरीय से नाक ढँक कर और मुख मोड़कर बैठ गये हैं।"

इस पर भगवती मल्ली ने कहा—"हे देवानुप्रियो! इस कनकमयी पुतली में अति स्वादिष्ट एवं मनोज्ञ अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य इन चार प्रकार के आहार का एक-एक ग्रास डाला जाता रहा है। मेरी इस कनक निर्मिता प्रतिकृति स्वरूपा पुतली में डाला गया मनोज्ञ अशन, पानादि का एक एक ग्रास का पुद्गलपरिणमन इस प्रकार का अमनोज्ञ, तन, मन और मस्तिष्क में इस प्रकार की विकृति का उत्पादक एवं नितान्त असह्य, घोर अशुभ, दुस्सह्य व दुर्गन्ध-पूर्ण बन गया तो वीर्य एवं रज से निर्मित श्लेष्म, लार, मल, मूत्र, मज्जा, शोणित आदि अशुचियो के भण्डार, नाड़ियों के जाल से आबद्ध, आन्त्रजाल के कोष्ठा-

गार, पीढ़ी-प्रपीढ़ियों से परम्परागत सभी प्रकार के रोगों के घर, ग्रन्थि, चर्म और मांसमय इस अशुचि के भण्डार सड़नधर्मा, पतनधर्मा, विनश्वर औदारिक शरीर में प्रतिदिन डाले गये अशन, पानादि चार प्रकार के मनोज्ञ आहार का पुद्गल परिणमन कितना घोर दुर्गन्धपूर्ण होगा, यह एक साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है।

अतः हे देवानुप्रियो ! इस शाश्वत सत्य को ध्यान में रखते हुए तुम लोग मनुष्य-भव सम्बन्धी काम-भोगों में मत फंसो, सांसारिक कामभोगों में अनुराग, आसक्ति, तृष्णा, लोलुपता, गृद्धि और विमुग्धता मत रखो।

याद करो देवानुप्रियो ! हम सातों अपने इस मानव भव से पूर्व के तीसरे भव में, महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती विजय की राजधानी वीतशोका नगरी में सात समवयस्क बालसखा, अनन्य मित्र राजपुत्र थे। हम सातों साथ ही जन्मे, साथ-साथ ही बढ़े, साथ-साथ ही बाल-क्रीड़ा में निरत रहे, साथ-साथ ही हमने अध्ययन किया, साथ-साथ ही राज्योपभोग-सांसारिक सुखोपभोग आदि किया और निमित्त पा हम सातों ही अनन्य मित्रों ने एक साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। हम सातों ही मित्र मुनियों ने साथ-साथ समान तप करने का निश्चय किया था।

मैंने इस कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध किया कि तुम छहों साथी मुनि यदि दो उपवासों की तपस्या का प्रत्याख्यान करते तो मैं तीन उपवासों की तपस्या कर लेता, तुम छहों यदि तीन उपवासों की तपस्या करते तो मैं चार उपवासों की तपस्या कर लेता। इस प्रकार मुनि जीवन की अपनी प्रारम्भिक साधना में मैं तुम छहों साथी मुनियों से किसी न किसी बहाने विशिष्ट तप करता रहा। इस कारण मैंने स्त्री नाम कर्म का बन्ध कर लिया। किन्तु अपने प्रारम्भिक साधना-जीवन के पश्चात् हम सबने विशुद्ध भाव से एक समान दुष्कर तपश्चरण किया। मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म की महान् पुण्य प्रकृति का उपार्जन कराने वाले अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानों की पुनः पुनः उत्कट भावना से आराधना की। उस कारण मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया। हम सातों ने घोर तपश्चरण द्वारा अपनी देहयष्टियों को केवल चर्म से आवृत अस्थिपंजरावशिष्ट बना दिया और अन्त में हमने देखा कि हमने धर्माराधन के साधन अपने अपने शरीर से पूरा सार ग्रहण कर लिया है, अब उसमें तपश्चरण करते हुए विचरण करने की शक्ति समाप्तप्राय हो चुकी है, तो हम सातों ही मुनियों ने चारु पर्वत पर जाकर संलेखनापूर्वक साथ-साथ ही पादपोपगमन संथारा किया और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर हम सातों ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। हम सातों ने ही जयन्त विमान में अपने देवभव के दिव्य भोगों का उपभोग किया। तुम छहों की जयन्त विमान

पृथक्-पृथक् दूत भेजकर रात्रि के समय नगर मे एक-एक को प्रवेश करवा कर पृथक्-पृथक् गर्भगृहो में ठहरा दिया ।

सूर्योदय होते ही मोहनघर के गर्भगृहो के वातायनों मे से जितशत्रु आदि उन छहों राजाओं ने भगवती मल्ली द्वारा निर्मित साक्षात् मल्ली कुमारी के समान अनुपम सुन्दरी, रूप, लावण्य यौवन सम्पन्ना भगवती मल्ली की प्रतिकृति-प्रतिभा को मणिपीठ पर देखा । मल्ली भगवती की उस प्रतिकृति को देखते ही "अरे, यह तो विदेह राजवर कन्या मल्ली कुमारी है"—मन ही मन यह कहते हुए वे सब उसके रूप-लावण्य पर पूर्णत: मुग्ध, लुब्ध और आसक्त हो निर्निमेष दृष्टि से आँखें विस्फारित कर देखते ही रह गये । उसी समय भगवती मल्ली वस्त्रालंकारों से विभूषित हो कुब्जा आदि अनेक दासियों के साथ जालघर में अपनी कनकमयी प्रतिकृति के पास आई । उसने पुतली के शिर पर रखे पद्म कमल के ढक्कन को उठा लिया । प्रतिमा पुतली के शिर से ढक्कन के उठाने ही उसमे से ऐसी असह्य और भीषण दुर्गन्ध निकली जैसी कि मृत सर्प, गोह और श्वान के सड़े हुए शरीर में से निकलती है । वह भीषण दुस्सह्य दुर्गन्ध तत्क्षण समस्त वायुमण्डल मे व्याप्त हो गई । उस घोर दुस्सह्य दुर्गन्ध के निकलते ही जितशत्रु आदि उन छहों राजाओ न अपने-अपने उत्तरीय के अंचल से अपनी-अपनी नाक को ढँक लिया और दूसरी ओर मुख मोड़कर बैठ गये ।

उन छहों राजाओं को इस प्रकार की अवस्था में देखकर भगवती मल्ली ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—"हे देवानुप्रियो ! आप लोग अपने-अपने उत्तरीय से अपनी नाक ढांप कर और पुतली की ओर से मुख मोड़कर क्यों बैठ गये हो ?"

मल्ली भगवती का यह प्रश्न सुनकर उन छहों राजाओ ने कहा—"हे देवानुप्रिये ! हम लोगों को यह अशुभ दुस्सह्य दुर्गन्ध किसी भी तरह किंचिन्मात्र भी सहन नहीं हो रही है । इसी कारण हम उत्तरीय से नाक ढँक कर और मुख मोड़कर बैठ गये हैं ।"

इस पर भगवती मल्ली ने कहा—"हे देवानुप्रियो ! इस कनकमयी पुतली में अति स्वादिष्ट एवं मनोज्ञ अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य इन चार प्रकार के आहार का एक-एक ग्रास डाला जाता रहा है । मेरी इस कनक निर्मिता प्रतिकृति स्वरूपा पुतली में डाला गया मनोज्ञ अशन, पानादि का एक एक ग्रास का पुद्गलपरिणमन इस प्रकार का अमनोज्ञ, तन, मन और मस्तिष्क में इस प्रकार की विकृति का उत्पादक एवं नितान्त असह्य, घोर अशुभ, दुस्सह्य व दुर्गन्ध-पूर्ण बन गया तो वीर्य एवं रज से निर्मित श्लेष्म, लार, मल, मूत्र, मज्जा, शोणित आदि अशुचियो के भण्डार, नाड़ियों के जाल से आबद्ध, आन्त्रजाल के कोष्ठा-

गार, पीढ़ी-प्रपीढ़ियों से परम्परागत सभी प्रकार के रोगों के घर, अस्थि, चर्म और मांसमय इस अशुचि के भण्डार शडनधर्मा, पतनधर्मा, विनश्वर औदारिक शरीर में प्रतिदिन डाले गये असन, पानादि चार प्रकार के मनोज्ञ आहार का पुद्गल परिणमन कितना घोर दुर्गन्धपूर्ण होगा, यह एक साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है।

अतः हे देवानुप्रियो! इस शाश्वत सत्य को ध्यान में रखते हुए तुम लोग मनुष्य-भव सम्बन्धी काम-भोगों में मत फँसो, सांसारिक कामभोगों में अनुराग, आसक्ति, तृष्णा, लोलुपता, गृद्धि और विमुग्धता मत रखो।

याद करो देवानुप्रियो! हम सातों अपने इस मानव भव से पूर्व के तीसरे भव में, महाविदेह क्षेत्र के सलिलावती विजय की राजधानी वीतशोका नगरी में सात समवयस्क बालसखा, अनन्य मित्र राजपुत्र थे। हम सातों साथ ही जन्मे, साथ-साथ ही बढ़े, साथ-साथ ही बाल-क्रीड़ा में निरत रहे, साथ-साथ ही हमने अध्ययन किया, साथ-साथ ही राज्योपभोग-सांसारिक सुखोपभोग आदि किया और निमित्त पा हम सातों ही अनन्य मित्रों ने एक साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। हम सातों ही मित्र मुनियों ने साथ-साथ समान तप करने का निश्चय किया था।

मैंने इस कारण स्त्री नामकर्म का बन्ध किया कि तुम छहों साथी मुनि यदि दो उपवासों की तपस्या का प्रत्याख्यान करते तो मैं तीन उपवासों की तपस्या कर लेता, तुम छहों यदि तीन उपवासों की तपस्या करते तो मैं चार उपवासों की तपस्या कर लेता। इस प्रकार मुनि जीवन की अपनी प्रारम्भिक साधना में मैं तुम छहों साथी मुनियों से किसी न किसी बहाने विशिष्ट तप करता रहा। इस कारण मैंने स्त्री नाम कर्म का बन्ध कर लिया। किन्तु अपने प्रारम्भिक साधना-जीवन के पश्चात् हम सबने विशुद्ध भाव से एक समान दुष्कर तपश्चरण किया। मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र-कर्म की महान् पुण्य प्रकृति का उपार्जन कराने वाले अर्हद्भक्ति आदि बीसों ही स्थानों की पुनः पुनः उत्कट भावना से आराधना की। उस कारण मैंने तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया। हम सातों ने घोर तपश्चरण द्वारा अपनी देहयष्टियों को केवल चर्म से आवृत अस्थिपंजरावशिष्ट बना दिया और अन्त में हमने देखा कि हमने धर्माराधन के साधन अपने अपने शरीर से पूरा सार ग्रहण कर लिया है, अब उससे तपश्चरण करते हुए विचरण करने की शक्ति समाप्तप्राय हो चुकी है, तो हम सातों ही मुनियों ने चारु पर्वत पर जाकर संलेखनापूर्वक साथ-साथ ही पादपोपगमन संथारा किया और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर हम सातों ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। हम सातों ने ही जयन्त विमान में अपने देवभव के दिव्य भोगों का उपभोग किया। तुम छहों की जयन्त विमान

के देवभव की आयु ३२ सागर से कुछ कम थी, अतः तुम छहो मुझ से पूर्व ही जयन्त विमान से च्यवन कर अपने इस वर्तमान भव मे इन छह जनपदो के अधिपति बने हो। मेरी जयन्त विमान के देवभव की आयु पूरे बत्तीस सागर की थी। अतः मैंने तुम छहो के पश्चात् जयन्त विमान से च्यवन कर विदेह जनपद के महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती देवी की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हो गर्भकाल समाप्त होने पर कन्या के रूप मे जन्म ग्रहण किया है।

हे राजाओ! क्या आप लोग अपने इस भव से पूर्व के भव को भूल गये हो, जिसमे कि हम सातो ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे कुछ कम बत्तीस सागर जैसी सुदीर्घावधि तक साथ-साथ देव बन कर रहे हैं। वहा हम सातों ने प्रतिज्ञा की थी कि हम देवलोक से च्यवन करने के पश्चात् परस्पर एक दूसरे को प्रतिबोधित करेंगे। आप लोग अपने उस देव भव को स्मरण करो।"[1]

छहों राजाओं को जातिस्मरण

भगवती मल्ली के मुखारविन्द से अपने दो पूर्वभवो का विवरण सुनकर वे छहों राजा विचारमग्न हो गये। विचार करते करते शुभ परिणामो, प्रशस्त अध्यवसायों, लेश्याओ की विशुद्धि एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गण, गवेषण करने से उन छहो राजाओ को संज्ञि जातिस्मरणज्ञान हो गया।

जितशत्रु आदि छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान होते ही मल्ली भगवती को विदित हो गया कि इन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मल्ली भगवती ने तत्काल गर्भगृहों के द्वारो को खुलवा दिया। द्वार खुलते ही जितशत्रु आदि छहों राजा भगवती मल्ली के पास आये और पूर्वभवो के वे सात मित्र एक स्थान पर सम्मिलित हो गये।

तदनन्तर भगवती मल्ली ने उन छहो राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"देवानुप्रियो! मैं तो ससार के भवभ्रमण रूपी भय से उद्विग्न हूं, अतः प्रव्रजित होऊंगी। अब आप लोगो का क्या विचार है, क्या करना चाहते हैं, आप लोगों का हृदय कितना सशक्त–कितना समर्थ है?"

भगवती मल्ली का प्रश्न सुनकर उन जितशत्रु आदि छहो राजाओ ने उनसे निवेदन किया—"हे देवानुप्रिये! जब आप प्रव्रजित हो रही हैं, तो फिर

---

१ किं थ तयं पम्हुट्ठं, जं थ तया भो जयंत पवरम्मि।
बुत्था समयं निबद्ध, देवा! तं संभरह जाइं ॥सू० ३५॥

—ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अ० ८—

हमारा अन्य कौन सहायक होगा ? कौन हमारा आधार होगा और कौन हमें कल्याणकारी बथा सन्मार्ग में लगायगा ? अतः जिस प्रकार आप आज से पहले के तीसरे भव में हमारे धुराग्रणी, मेढि अथवा मार्गदर्शक बनकर रहे, उसी प्रकार इस भव में भी आप ही धर्ममार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले हमारे धुराग्रणी रहें, पथप्रदर्शक रहें। हे देवानुप्रिये ! हम भी भवभ्रमण से भयभीत हैं, हम लोग भी आपके साथ प्रव्रजित, दीक्षित होंगे।"

छहों राजाओं की बात सुनकर भगवती मल्ली ने कहा—"यदि आप सब संसार के भय से उद्विग्न हैं और मेरे साथ प्रव्रजित होना चाहते हैं, तो अपने अपने घर जायें और अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पर आसीन कर एक-एक सहस्र पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली शिबिकाओं में आरूढ हो मेरे पास लौट आयें।"

उन छहों राजाओं ने भगवती मल्ली की बात को स्वीकार किया। भगवती मल्ली उन छहों राजाओं को साथ लेकर महाराज कुम्भ के पास गईं। उन छहों राजाओं को महाराज कुम्भ के चरणों मे झुका उनसे प्रणाम करवाया।

महाराज कुम्भ ने उन छहों राजाओं का चार प्रकार के मनोज्ञ आहार, पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला आदि से सत्कार किया। तदनन्तर उन्हें विदा किया। वहां से विदा हो वे जितशत्रु आदि छहों राजा अपने अपने राज्यों की ओर प्रस्थित हुए और अपने अपने राजप्रासादों में आकर राजकार्य में संलग्न हो गये।

तदनन्तर तीर्थंकर मल्ली भगवती ने मन में निश्चय कर लिया कि वे एक वर्ष समाप्त होने पर दीक्षा ग्रहण करेंगी।

मल्ली भगवती के इस प्रकार का विचार करते ही सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र का आसन चलायमान हुआ। उसे अवधिज्ञान के उपयोग से विदित हुआ कि अर्हत् मल्ली भगवती ने प्रव्रजित होने का विचार कर लिया है। त्रिकालवर्ती सौधर्मेन्द्रों का यह परम्परागत जीताचार रहा है कि वे प्रव्रजित होने के लिये तत्पर तीर्थंकरों के यहां अर्थात् तीर्थंकरों के माता-पिता के घर में तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएं दें अर्थात् प्रस्तुत करें।[1] इस प्रकार विचार कर शक्र ने वैश्रमण देव (कुबेर) को बुलाकर उसे कुम्भ राजा के राजप्रासाद में उपर्युक्त प्रमाण में स्वर्णमुद्राएं रखवाने की आज्ञा दी। कुबेर

---

१ तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीतिं च होंति कोडीओ।
असितिं च सयसहस्सा, इंदा दलयंति अरहाणं ॥१॥

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ० ८

ने शक्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर जृम्भक देवों को बुलाया और उन्हे तीन सौ अट्ठासी करोड अस्सी लाख स्वर्णमुद्राए महाराज कुम्भ के राजप्रासाद में पहुंचाने की आज्ञा दी। जृम्भक देवों ने तत्काल उत्कृष्ट देवगति से मिथिला के राजप्रासाद मे आकर महाराज कुम्भ के भण्डारों को तीन सौ अट्ठासी करोड अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओं से भर दिया।

भगवती मल्ली द्वारा वर्षीदान

इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा महाराज कुम्भ के भण्डारो को स्वर्णमुद्राओ द्वारा पूरित कर दिये जाने के पश्चात् भगवती मल्ली ने वर्षीदान देना प्रारम्भ किया। निरन्तर एक वर्ष पर्यन्त वे प्रतिदिन प्रातःकाल से मध्याह्न काल पर्यन्त दो प्रहर तक बहुत से सनाथों, अनाथों, पान्थिको, पथिको, खप्परधारियों आदि को एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएं दान करती रही।

महाराज कुम्भ ने उस समय मिथिला नगरी में अनेक स्थानों पर भोजनशालाएं खुलवा दी। उन भोजनशालाओं में रसोइये प्रचुर मात्रा मे चारो प्रकार के स्वादिष्ट अशन, पानादि बनाते और वहां आने वाले पन्थिको, पथिकों, खप्परधारियों, भिक्षुको, कंथाधारी भिक्षुको, गृहस्थो आदि सभी प्रकार के लोगों को भोजन कराया जाता। अस्वस्थो, अपाहिजो आदि, वहां आने मे असमर्थ लोगों को, उनके स्थान पर ले जाकर भोजन दिया जाता। चारो ओर लोग यत्र-तत्र भगवान् के वर्षीदान और महाराज कुम्भ द्वारा किये जाने वाले भोजनदान की महिमा गाने लगे।

त्रिलोकपूज्य तीर्थंकरो के निष्क्रमण के समय निरन्तर एक वर्ष तक प्रतिदिन बार बार इस प्रकार की घोषणाएँ की जाती है कि जिसे जो चाहिये वही मागे। इन घोषणाओं के अनुसार जो भी जाता उसे, जो वह चाहता, वही दिया जाता।

इस प्रकार दान देते समय अन्त में भगवान् मल्लिनाथ ने मन मे विचार किया कि प्रतिदिन १ करोड ८ लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान करती हुई एक वर्ष मे तीन अरब अट्ठासी करोड़, अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान अर्थात् तीर्थंकरो द्वारा अभिनिष्क्रमण के अवसर पर इतने ही परिमाण में दिये जाने वाले दान के सम्पन्न हो जाने पर वे प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे।

प्रभु मल्लिनाथ के मन मे इस प्रकार के विचार आते ही लोकान्तिक देवों के आसन प्रकम्पित हुए। अवधिज्ञान के उपयोग से उन्हे विदित हुआ कि वर्षीदान समाप्त कर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के १९वें तीर्थंकर प्रभु मल्ली प्रव्रजित होने का विचार कर रहे है। अभिनिष्क्रमण काल मे तीर्थंकरो को संबोधित करने की त्रिकालवर्ती लोकान्तिक देवों की मर्यादा के अनुसार वे

लोकान्तिक देव भगवती मल्ली के पास उपस्थित हुए और आकाश मे खडे रह उन्होंने प्रभु को अंजलि सहित शिर झुका कर प्रणाम करने के पश्चात् प्रार्थना की—"हे लोकनाथ प्रभो ! आप भव्य जीवों को बोध दो, चतुर्विध धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करो। वह धर्मतीर्थ संसार के प्राणियों के लिये हितकर, सुखकर और निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हो।" लोकान्तिक देवो ने तीन बार प्रभु मल्ली से इस प्रकार की प्रार्थना की और तदनन्तर प्रभु को वन्दन-नमन कर वे अपने-अपने स्थान को लौट गये।

इस प्रकार लोकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधित होने के पश्चात् प्रभु मल्ली अपने माता-पिता के पास आये। हाथ जोड़कर उन्होने माता-पिता के चरणों में नमस्कार कर कहा—"हे अम्ब-तात! मैं आप लोगों से आज्ञा प्राप्त कर मुण्डित हो प्रव्रजित होना चाहती हूं।"

महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती—दोनों ने ही अपनी पुत्री भगवती मल्ली की बात सुनकर कहा—"देवानुप्रिये ! जिससे तुम्हें सुख हो वही करो। विलम्ब मत करो।" अपनी पुत्री को प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर महाराज कुम्भ ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर उन्हें एक हजार आठ (१००८) स्वर्ण कलश, रौप्य कलश, मणिमय कलश, स्वर्ण-रौप्य कलश, स्वर्ण-मणि निर्मित कलश, रौप्य-मणि निर्मित कलश, स्वर्ण-रौप्य-मणि निर्मित कलश, मिट्टी के कलश तथा तीर्थंकर के निष्क्रमणाभिषेक के लिये आवश्यक सभी प्रकार की अन्यान्य सामग्री शीघ्र ही उपस्थित करने की आज्ञा दी। महाराजा कुम्भ की आज्ञा का पालन करते हुए कौटुम्बिक पुरुषों ने उनके निर्देशानुसार कलशादि सभी सामग्री तत्काल वहां ला प्रस्तुत की।

उस समय चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र पर्यन्त ६४ इन्द्र महाराज कुम्भ के राजप्रासाद में आ उपस्थित हुए। देवराज शक्र ने आभियोगिक देवों को स्वर्ण, मणि आदि से निर्मित १००८ कलश और तीर्थंकर के अभिनिष्क्रमणाभिषेक के सभी प्रकार के विपुल साधन वहां प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। आभियोगिक देवों ने देवराज शक्र की आज्ञानुसार सभी प्रकार की सामग्री वहां प्रस्तुत कर दी और उसे महाराज कुम्भ द्वारा एकत्रित किये गये कलशों आदि के साथ रख दिया।

अभिनिष्क्रमणाभिषेक के लिये आवश्यक सभी प्रकार की सामग्री के यथास्थान रख दिये जाने के पश्चात् देवराज शक्र और महाराज कुम्भ ने अर्हत् मल्ली को अभिषेक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। तदनन्तर देवराज शक्र ने और महाराज कुम्भ ने उन अष्टोत्तर एक एक हजार कलशों से भगवान् मल्ली का अभिषेक किया। जिस समय भगवान् मल्ली का अभिषेक किया जा

रहा था उस समय देव नगर के अन्दर और बाहर चारो ओर हर्षातिरेक से दिव्य कुतूहल कर रहे थे। अभिषेक के अनन्तर महाराज कुम्भ ने भगवान् मल्ली को पुन: सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाकर उन्हे समस्त अलकारो से अलकृत किया और अपने कौटुम्बिक पुरुषो को मनोरमा नाम की शिविका उपस्थित करने को कहा। देवराज शक्र ने भी आभियोगिक देवों को सैकडो स्तम्भो वाली अति सुरम्य शिविका लाने का आदेश दिया। आभियोगिक देवों ने शक्र की आज्ञा के अनुरूप एक दिव्य शिविका वहा ला उपस्थित की। शक्र द्वारा मंगवाई गई दिव्य शिविका अपने दिव्य प्रभाव से कुम्भ राजा द्वारा मगाई गई शिविका से मिल गई।

अभिनिष्क्रमण एवं दीक्षा

तदनन्तर भगवान् मल्ली अभिषेक सिंहासन से उठकर शिविका के पास आये और उसे अपने दक्षिण पार्श्व की ओर कर उस पर आरूढ़ हो उसमे रखे उच्च सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो विराज गये।

तदनन्तर सद्यस्नात अठारह श्रेणियो और प्रश्रेणियों के जनो तथा अठारह प्रकार के अवान्तर जातीय पालकी उठाने वाले पुरुषो ने महाराज कुम्भ की आज्ञानुसार सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत हो उस मनोरमा नाम की पालकी को अपने स्कन्धो पर उठा लिया। देवराज शक्र ने उस मनोरमा शिविका के दक्षिण दिशावर्ती ऊपर के डण्डे को पकडा। ईशानेन्द्र ने उत्तर की दिशा वाले ऊपर के डण्डे को पकडा। चमरेन्द्र ने दक्षिण दिशा वाले नीचे के डण्डे को और बलीन्द्र ने उत्तरदिग्विभागवर्ती नीचे के डण्डे को पकड़ा। अवशिष्ट भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक इन्द्रो ने अपनी अपनी योग्यतानुसार उस शिविका का परिवहन किया। हर्षातिरेक से रोमांचित हुए मनुष्यो ने सर्व प्रथम उस शिविका को अपने कन्धो पर उठाया। उनके पश्चात् देवेन्द्रों, असुरेन्द्रो और नागेन्द्रो ने उस शिविका को अपने कन्धों पर उठाया। भगवान् मल्ली की पालकी के सबसे आगे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म और दर्पण ये अष्ट मंगल चल रहे थे। मिथिला नगरी के मध्यवर्ती राजमार्ग से होती हुई भगवान् मल्लिनाथ के महाभिनिष्क्रमण की शोभायात्रा सहस्राम्र वन नामक उद्यान मे पहुंची। उस उद्यान मे भगवान् की पालकी जब अशोकवृक्ष के नीचे पहुची तब पालकी को मनुष्यो और देवेन्द्रो आदि ने अपने कन्धो से नीचे उतारा। तदनन्तर अर्हत् मल्ली उस मनोरमा शिविका से नीचे उतरे। उन्होने अपने आभरणालकारो को स्वत: ही उतारा, जिन्हे महारानी प्रभावती ने अपने वस्त्राचल मे रख लिया। तदनन्तर प्रभु मल्ली ने अपने केशों का पचमुष्टि लु चन किया। उन केशो को शक्र ने अपने वस्त्र मे रख कर क्षीर समुद्र मे प्रक्षिप्त कर दिया।

तत्पश्चात् अर्हत् मल्ली ने "णमोत्थु ण सिद्धाण" अर्थात् सिद्धो को नमस्कार हो—'इस उच्चारण के साथ सिद्धों को नमस्कार कर सामायिक चारित्र को धारण किया। जिस समय भगवान् मल्ली ने सामायिक चारित्र को अंगीकार किया, उस समय शक्र की आज्ञानुसार देवो तथा मनुष्यो द्वारा किये जा रहे जय घोषो एवं विविध वाद्य यन्त्रों और गीतों की ध्वनियो को बन्द कर दिया गया। सामायिक चारित्र को अगीकार करते ही भगवान् मल्ली को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया और प्रभु चार ज्ञान के धारक हो गये।

जिस समय अर्हत् मल्ली ने सामायिक चारित्र अंगीकार किया, उस समय पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन का पूर्वाह्न काल था।[1] प्रभु उस समय अष्टम भक्त की तपस्या किये हुए थे। उस समय अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग था।

भगवान् मल्ली के साथ उनकी आभ्यन्तर परिषद् की तीन सौ महिलाओं और बाह्य परिषद् के तीन सौ पुरुषों ने मुडित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। अर्हत् मल्ली के साथ नंद, नदिमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन और महासेन नामक आठ राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

चार प्रकार के देवो ने भगवान् मल्ली के अभिनिष्क्रमण की खूब महिमा की और नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में जाकर उन्होने अष्टाह्निक महोत्सव किया। तदनन्तर वे चारो जाति के देव अपने अपने स्थान को लौट गये।

केवल ज्ञान

भगवान् मल्ली ने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसी दिन, उस दिवस के पश्चिम प्रहर में जब वे अशोक वृक्ष के नीचे शिलापट्ट पर सुखासन से ध्यानावस्थित थे, उस समय प्रभु मल्ली ने शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओ के द्वारा घनघातिक कर्मों के सम्पूर्ण आवरणो को क्षय करने वाले अपूर्वकरण मे प्रवेश किया और उन्होने अल्प समय में ही अष्टम, नवम, दशम और बारहवें गुणस्थान को पार कर पौष शुक्ला एकादशी को ही दिन के पश्चिम प्रहर मे अनन्त केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्रकट कर लिया। वे सम्पूर्ण संसार के सचराचर द्रव्यों, द्रव्यो के पर्यायो और समस्त भावो को साक्षात् युगपद् जानने और देखने लगे।

इस ऋषभादि महावीरान्त चौबीसी के अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा प्रभु मल्लिनाथ की यह विशिष्टता रही कि आपने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की, उसी दिन आपको केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गये। आपका छद्मस्थकाल अन्य तेवीस तीर्थंकरो से सर्वाधिक कम अर्थात् एक प्रहर से कुछ अधिक अथवा

---

१ सत्तरिसय द्वार आदि मे मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को दीक्षा दिन लिखा है।

रहा था उस समय देव नगर के अन्दर और बाहर चारो ओर हर्षातिरेक से दिव्य कुतूहल कर रहे थे। अभिषेक के अनन्तर महाराज कुम्भ ने भगवान् मल्ली को पुनः सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाकर उन्हे समस्त अलंकारों से अलंकृत किया और अपने कौटुम्बिक पुरुषो को मनोरमा नाम की शिबिका उपस्थित करने को कहा। देवराज शक्र ने भी आभियोगिक देवो को सैकड़ो स्तम्भों वाली अति सुरम्य शिबिका लाने का आदेश दिया। आभियोगिक देवों ने शक्र की आज्ञा के अनुरूप एक दिव्य शिबिका वहां ला उपस्थित की। शक्र द्वारा मंगवाई गई दिव्य शिबिका अपने दिव्य प्रभाव से कुम्भ राजा द्वारा मगाई गई शिबिका से मिल गई।

अभिनिष्क्रमण एवं दीक्षा

तदनन्तर भगवान् मल्ली अभिषेक सिंहासन से उठकर शिबिका के पास आये और उसे अपने दक्षिण पार्श्व की ओर कर उस पर आरूढ हो उसमे रखे उच्च सिंहासन पर पूर्वाभिमुख हो विराज गये।

तदनन्तर सद्यस्नात अठारह श्रेणियो और प्रश्रेणियों के जनो तथा अठारह प्रकार के अवान्तर जातीय पालकी उठाने वाले पुरुषो ने महाराज कुम्भ की आज्ञानुसार सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलंकृत हो उस मनोरमा नाम की पालकी को अपने स्कन्धो पर उठा लिया। देवराज शक्र ने उस मनोरमा शिबिका के दक्षिण दिशावर्ती ऊपर के डण्डे को पकडा। ईशानेन्द्र ने उत्तर की दिशा वाले ऊपर के डण्डे को पकड़ा। चमरेन्द्र ने दक्षिण दिशा वाले नीचे के डण्डे को और बलीन्द्र ने उत्तरदिग्विभागवर्ती नीचे के डण्डे को पकड़ा। अवशिष्ट भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक इन्द्रो ने अपनी अपनी योग्यतानुसार उस शिबिका का परिवहन किया। हर्षातिरेक से रोमाञ्चित हुए मनुष्यो ने सर्व प्रथम उस शिबिका को अपने कन्धो पर उठाया। उनके पश्चात् देवेन्द्रों, असुरेन्द्रो और नागेन्द्रो ने उस शिबिका को अपने कन्धो पर उठाया। भगवान् मल्ली की पालकी के सबसे आगे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म और दर्पण ये अष्ट मंगल चल रहे थे। मिथिला नगरी के मध्यवर्ती राजमार्ग से होती हुई भगवान् मल्लिनाथ के महाभिनिष्क्रमण की शोभायात्रा सहस्राम्र वन नामक उद्यान मे पहुची। उस उद्यान मे भगवान् की पालकी जब अशोकवृक्ष के नीचे पहुची तब पालकी को मनुष्यों और देवेन्द्रो आदि ने अपने कन्धो से नीचे उतारा। तदनन्तर अर्हत् मल्ली उस मनोरमा शिबिका से नीचे उतरे। उन्होने अपने आभरणालंकारो को स्वतः ही उतारा, जिन्हे महारानी प्रभावती ने अपने वस्त्राचल मे रख लिया। तदनन्तर प्रभु मल्ली ने अपने केशो का पंचमुष्टि लुञ्चन किया। उन केशो को शक्र ने अपने वस्त्र में रख कर क्षीर समुद्र मे प्रक्षिप्त कर दिया।

तत्पश्चात् अर्हत् मल्ली ने "णमोत्थु णं सिद्धाणं" अर्थात् सिद्धों को नमस्कार हो—'इस उच्चारण के साथ सिद्धों को नमस्कार कर सामायिक चारित्र को धारण किया। जिस समय भगवान् मल्ली ने सामायिक चारित्र को अंगीकार किया, उस समय शक्र की आज्ञानुसार देवों तथा मनुष्यों द्वारा किये जा रहे जय घोषों एवं विविध वाद्य यन्त्रों और गीतों की ध्वनियों को बन्द कर दिया गया। सामायिक चारित्र को अंगीकार करते ही भगवान् मल्ली को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया और प्रभु चार ज्ञान के धारक हो गये।

जिस समय अर्हत् मल्ली ने सामायिक चारित्र अंगीकार किया, उस समय पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन का पूर्वाह्न काल था।[1] प्रभु उस समय अष्टम भक्त की तपस्या किये हुए थे। उस समय अश्विनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग था।

भगवान् मल्ली के साथ उनकी आभ्यन्तर परिषद् की तीन सौ महिलाओं और बाह्य परिषद् के तीन सौ पुरुषों ने मुंडित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। अर्हत् मल्ली के साथ नंद, नंदिमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन और महासेन नामक आठ राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

चार प्रकार के देवों ने भगवान् मल्ली के अभिनिष्क्रमण की खूब महिमा की और नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में जाकर उन्होंने अष्टाह्निक महोत्सव किया। तदनन्तर वे चारों जाति के देव अपने अपने स्थान को लौट गये।

केवल ज्ञान

भगवान् मल्ली ने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उसी दिन, उस दिवस के पश्चिम प्रहर में जब वे अशोक वृक्ष के नीचे शिलापट्ट पर सुखासन से ध्यानावस्थित थे, उस समय प्रभु मल्ली ने शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा घनघातिक कर्मों के सम्पूर्ण आवरणों को क्षय करने वाले अपूर्वकरण में प्रवेश किया और उन्होंने अल्प समय में ही अष्टम, नवम, दशम और बारहवें गुणस्थान को पार कर पौष शुक्ला एकादशी को ही दिन के पश्चिम प्रहर में अनन्त केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्रकट कर लिया। वे सम्पूर्ण संसार के सचराचर द्रव्यों, द्रव्यों के पर्यायों और समस्त भावों को साक्षात् युगपद् जानने और देखने लगे।

इस ऋषभादि महावीरान्त चौबीसी के अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा प्रभु मल्लिनाथ की यह विशिष्टता रही कि आपने जिस दिन प्रव्रज्या ग्रहण की, उसी दिन आपको केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गये। आपका छद्मस्थकाल अन्य तेवीस तीर्थंकरों से सर्वाधिक कम अर्थात् एक प्रहर से कुछ अधिक अथवा

---

1 सत्तरिसय द्वार आदि में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को दीक्षा दिन लिखा है।

डेढ़ प्रहर के लगभग तक का ही रहा ।[1] भगवान् मल्लिनाथ का प्रथम पारणक भी केवलज्ञान मे ही मिथिला के महाराजा कुम्भ के अधीनस्थ राजा विश्वसेन के यहा सम्पन्न हुआ ।

प्रथम देशना एव तीर्थ-स्थापना

जिस समय भगवान् मल्लिनाथ को अनन्त केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुए उसी समय देव-देवेन्द्रो के सिहासन चलायमान हुए । अवधिज्ञान के उपयोग से जब उन्हे ज्ञात हुआ कि भगवान् मल्लिनाथ को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गये हैं तो उन्होने हृष्ट-तुष्ट हो प्रभु का केवलज्ञान-महोत्सव मनाते हुए पच दिव्यों की वृष्टि की । तत्काल देवो द्वारा महस्राम्रवन उद्यान मे समवसरण की रचना की गई । महाराजा कुम्भ भी अपने समस्त परिवार, पुरजनो एव परि-जनों के विशाल समूह के साथ समवसरण मे उपस्थित हुए । भगवान् मल्लिनाथ के केवलज्ञान उत्पन्न होने का सुखद शुभ सवाद तत्काल सर्वत्र प्रसृत हो गया । उत्ताल तरगो से सुविशाल भू-खण्ड को अपने क्रोड मे लेते हुए उद्वेलित सागर के समान जनसमुद्र प्रभु के समवसरण की ओर उमड पड़ा ।

जितशत्रु आदि छहो राजा भी अपने अपने ज्येष्ठ पुत्रो के स्कन्धो पर अपने अपने राज्य का भार रखकर एक एक सहस्र पुरुषो द्वारा वहन की जा रही शिबिकाओ मे बैठ ठीक उसी समय समवसरण मे पहुचे ।

देव-देवियो, नर-नारियो और तिर्यंचो की विशाल परिषद् के समक्ष भगवान् मल्लिनाथ ने समवसरण के मध्यभाग मे देवकृत उच्च सिहासन पर आसीन हो अपनी पहली दिव्य एव अमोघ देशना दी । तीर्थंकर भगवान् मल्ली ने अपनी प्रथम देशना मे घोर दुःखानुबन्धी दु खो की ओरछोर विहीन अनाद्यनन्त परम्परा वाले दु खो से ओतप्रोत चतुर्विधगतिक ससार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वभाव पर अज्ञान घनान्धकार विनाशक प्रकाश डालते हुए ससार के भव्य जीवो का कल्याण करने के लिये ससार के सब प्रकार के दु.खो का अन्त करने वाले धर्म का सच्चा स्वरूप ससार के समक्ष रखा ।

प्रभु मल्लिनाथ की त्रिविधताप-संताप हारिणी, पाप-पक प्रक्षालिनी अमोघ देशना को सुनकर भव्यजीवों ने अपने आपको धन्य समझा । प्रभु

---

१ तते ण मल्लि अरहा ज चेव दिवस पव्वसिए तस्सेव दिवसस्स पुव्वाऽ(पच्च)वरण्हकाल-समयसि असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयसि सुहासणवरगयस्स सुहेण परिणामेण पसत्थेहि अज्झवसाणेहि पसत्थाहि लेसाहि विसुज्झमाणीहि तयावरणकम्मरयविकरणकर अपुव्वकरण अणुपविट्ठस्स अणते जाव केवलणाणदसणे समुप्पन्ने ।

—ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र, अ० ८

मल्लिनाथ ने चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की। मिथिलेश महाराज कुम्भ ने तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ से श्रावकधर्म और महारानी प्रभावती ने श्राविका-धर्म अंगीकार किया।

भगवान् मल्लिनाथ की प्रथम देशना सुनकर जितशत्रु आदि छहों राजाओं को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। उन छहों राजाओं ने प्रभु के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। आगे चलकर वे चतुर्दश पूर्वधर और तदनन्तर केवली हो कर अन्त मे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

धर्मदेशना के पश्चात् मनुष्य, देव आदि की परिषद् अपने अपने स्थान को लौट गई। चार प्रकार के देव नन्दीश्वर द्वीप में प्रभु के केवलज्ञान का अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के लिये चले गये। चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना कर प्रभु भावतीर्थंकर कहलाये।

तदनन्तर भगवान् मल्ली तीर्थंकर सहस्राम्रवन उद्यान से विहार कर अन्य क्षेत्रों में अप्रतिहत विहार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार करने लगे।

तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का देह मान २५ धनुष ऊंचा, प्रियंगु (जामुन) के समान नीला, शरीर का संस्थान समचतुरस्र और संहनन वज्र-ऋषभ नाराच था। उन्होंने ५४९०० वर्षों तक अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए अनेक भव्यों को धर्म मार्ग पर आरूढ़ कर उनका कल्याण किया।

भगवान् मल्लिनाथ के प्रथम शिष्य एवं प्रमुख गणधर का नाम भिषक् और समस्त साध्वी संघ की प्रवर्तिनी प्रथम शिष्या का नाम बन्धुमती था। भगवान् मल्लिनाथ के अतिरिक्त ऋषभादि तेवीसों तीर्थंकरों के एक ही प्रकार की परिषद् थी। किन्तु तीर्थंकर मल्लिनाथ के साध्वियों की आभ्यन्तर परिषद् और साधुओं की बाह्य परिषद्—इस भांति दो प्रकार की परिषदें थी।[1]

धर्म-परिवार

भगवान् मल्लिनाथ के धर्मसंघ में निम्नलिखित धर्म परिवार था :—

गण एवं गणधर	– अट्ठाईस (२८) गण एवं अट्ठाईस (२८) ही गणधर
केवली	– तीन हजार दो सौ (३,२००)

---

१ तिहिं इत्थीसएहिं अभिंतरियाए परिसाए तिहिं पुरिससएहिंबाहिरियाए परिसाए सद्धिं, मुंडेभवित्ता पव्वइए....।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन—८

मन.पर्यवज्ञानी	– आठ सौ (८००)
अवधिज्ञानी	– दो हजार (२,०००)
चौदह पूर्वधारी	– छह सौ (६००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– तीन हजार पांच सौ (३,५००)
वादी	– एक हजार चार सौ (१,४००)
साधु	– चालीस हजार (४०,०००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	– दो हजार (२,०००)
साध्वी	– पचपन हजार (५५,०००)
श्रावक	– एक लाख चौरासी हजार (१,८४,०००)
श्राविका	– तीन लाख पैसठ हजार (३,६५,०००)

भगवान् मल्लिनाथ की अन्तकृद्भूमि—अर्थात् उनके तीर्थ मे उसी भव से मोक्ष जाने वालो की कालावधि, दो प्रकार की थी। एक तो युगान्तकृद्भूमि और दूसरी पर्यायान्तकृद्भूमि। युगान्तकृद्भूमि मे भगवान् मल्लिनाथ के निर्वाण से लेकर उनके २०वे पट्टधर आचार्य के समय तक उसी भव मे मोक्ष जाने वाले साधक अर्थात् साधु साध्वी अपने आठो कर्मों का अन्त कर मोक्ष जाते रहे। यह उनकी युगान्तकृद्भूमि थी। भगवान् मल्लिनाथ के बीसवें पट्टधर के समय के पश्चात् प्रभु के धर्मतीर्थ मे कोई साधक मोक्ष नही गया। उनके तीर्थ मे मोक्ष जाने का क्रम प्रभु के २०वें पट्टधर के समय तक ही चलता रहा। उसके पश्चात् उनके तीर्थ मे कोई मोक्ष नही गया। दूसरी उनकी अन्तकृद्भूमि पर्यायान्तकृद्-भूमि थी। प्रभु मल्लिनाथ की पर्यायान्तकृत् भूमि अर्थात् उनकी केवली पर्याय मे उसी भव मे मोक्ष आने वालो का काल प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न होने के दो वर्ष पश्चात् प्रारम्भ होकर उनके निर्वाण प्राप्त करने के समय तक चलता रहा। तात्पर्य यह है कि भगवान् मल्लिनाथ के धर्म तीर्थ मे, प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने के दो वर्ष पश्चात् मोक्ष जाने वालो का क्रम प्रारम्भ हुआ। उससे पहले उनके तीर्थ मे कोई मुक्त नही हुआ। प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति के दो वर्ष पश्चात् से लेकर उनके निर्वाण काल तक उनके तीर्थ मे साधको का मुक्ति मे जाने का क्रम चलता रहा, वह ५४८६८ वर्ष का काल भगवान् मल्लि-नाथ की पर्यायान्तकृत् भूमि थी। उनके निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्यों की बीसवी पीढी अर्थात् उनके बीसवें पट्टधर के समय तक उनके तीर्थ मे जो मुक्त होने का क्रम चलता रहा. यह प्रभु मल्ली की युगान्तकृत् भूमि थी। उनके बीसवें पट्टधर के समय के पश्चात् उनके तीर्थ मे कोई साधक मुक्त नही हुआ।

परिनिर्वाण

भगवान् मल्लिनाथ १०० वर्ष तक आगारवास मे अर्थात् अपने गृह में रहे। ५४,९०० वर्ष तक प्रभु केवली पर्याय मे रहे। लगभग १०० वर्ष कम

५५ हजार वर्ष तक देश के विभिन्न क्षेत्रो में केवलीपर्याय से सुखपूर्वक विचरते रहने के पश्चात् भगवान् मल्लिनाथ समेत पर्वत के शिखर पर पधारे। वहा प्रभु ने अपनी आभ्यन्तर परिषद् की ५०० साध्वियो और बहिरग परिषद् के ५०० साधुओ के साथ पादपोपगमन संथारा कर एक मास का, पानी रहित अनशन का प्रत्याख्यान किया। अपनी दोनो विशाल भुजाओं को फैलाये हुए शान्त-निश्चल भाव से प्रभु ने शेष चार घातिकर्मों को नष्ट किया और अपनी ५५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर चैत्र शुक्ला चौथ की अर्द्ध रात्रि के समय भरणी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर एक महीने का अनशन पूर्ण कर ५०० साध्वियो और ५०० साधुओ के साथ निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण महोत्सव का जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे जिस प्रकार का वर्णन है, उसी प्रकार देवों, देवेन्द्रो और नर-नरेन्द्रो ने भगवान् मल्लिनाथ और उनके साथ मुक्त हुए साधुओ एव साध्वियो के पार्थिव शरीर का अन्तिम सस्कार कर प्रभु का निर्वाण महोत्सव मनाया।

□□□

स्थान पर रुके त्वरित गति से लक्ष्यस्थल की ओर बढ़ते हुए वे एक दिन मिथिलाधिपति के राजप्रासाद मे पहुचे । उन्होने मिथिलेश्वर से कहा—"राजन् ! तुम्हारी १०० पुत्रियो मे से एक राजकन्या मुझे दो ।"

यह महातपस्वी कही रुष्ट हो मेरा घोर अनिष्ट न कर दे—इस डर से राजा ने तत्काल तापस की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए कहा—"भगवन् ! मेरी १०० पुत्रियो मे से जिसे आप चाहे, उसे ही ले ले । जमदग्नि ने सौ राजपुत्रियों मे से रेणुका नाम की राजपुत्री को अपनी भार्या बनाने के लिये चुना । राजा ने जमदग्नि के साथ अपनी पुत्री रेणुका का विवाह कर दिया । जमदग्नि अपनी पत्नी रेणुका के साथ अपने तपोवन मे लौट आये ।

रेणुका की एक बहिन का नाम तारा था । मिथिलेश ने अपनी उस तारा नाम की राजकुमारी का विवाह हस्तिनापुर के कौरववशी महाराजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के साथ किया । जहां एक बहिन रेणुका ऋषि पत्नी बनी, वहां दूसरी ओर दूसरी बहिन तारा महाराजरानी बनी ।

रेणुका ने एक पुत्र को जन्म दिया । जमदग्नि ने कुलपति परम्परा से क्रमागत अपना परशु अपने उस पुत्र को दिया । और उसका नाम परशुराम रखा ।

कालान्तर मे रेणुका अपनी बहिन तारा के यहां हस्तिनापुर के राज प्रासाद मे अतिथि बन कर गई । महारानी तारा ने अपनी बहिन रेणुका का बड़े ही राजसी ठाट-बाट से आतिथ्य-सत्कार एवं सम्मान किया । हस्तिनापुर के राजप्रासाद मे रहते हुए राज्यलक्ष्मी के लोभ, विषय भोगों की मनोज्ञता, अपनी इन्द्रियो के चाञ्चल्य एव कर्मपरिणति की कल्पनातीत शक्ति के प्रभाव के वशीभूत हो ऋषिपत्नी रेणुका अपने बहनोई (भगिनीपति) कार्तवीर्य पर आसक्त हो गई और उसके साथ अहर्निश कामभोगो मे अनुरक्त रहने लगी ।[1] तापस जमदग्नि को जब कामदेव के इस प्रपञ्च के सम्बन्ध मे ज्ञात हुआ तो वह हस्तिनापुर पहुचा और वहा से रेणुका को अपने आश्रम मे ले आया । जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को उसकी माता की दुश्चरित्रता का वृत्तान्त सुनाया तो परशुराम ने अपनी माता का शिर काट गिराया ।[2]

रेणुका की हत्या का वृत्तान्त सुनकर कार्तवीर्य सहस्रार्जुन अपने दल-बल के साथ जमदग्नि के आश्रम मे पहुँचा और परशुराम को वहा न पा उसने जमदग्नि तापस को मार डाला ।

---

१ चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६५
२ वही ।

कार्तवीर्य सहस्रार्जुन द्वारा अपने पिता के मारे जाने की बात सुनकर परशुराम की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने हस्तिनापुर आकर अपने पिता के घातक कार्तवीर्य सहस्रार्जुन को मार डाला। इस पर भी उसकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। वह क्षत्रिय वर्ग का ही द्रोही बन गया और उसने दूर दूर तक के प्रदेशों में घूम घूमकर क्षत्रियों को मारा। इस प्रकार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने के लिये परशुराम ने सात बार क्षत्रियों का भीषण सामूहिक संहार किया।

उस समय कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की रानी तारा गर्भिणी थी अतः वह हस्तिनापुर से प्रच्छन्नरूपेण पलायन कर एक अन्य तापस आश्रम मे पहुँची और वहाँ एक भूमिगृह (तलघर) में रहने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर तारा ने एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जिसके मुख मे जन्म ग्रहण करने के समय ही दाढ़े और दांत थे। तारा का वह पुत्र माता की कुक्षि से बाहर निकलते ही भूमितल को अपनी दाढ़ों में पकड़कर खड़ा हो गया अतः उसका नाम सुभूम रखा गया। उस तलघर में ही सुभूम का लालन-पालन किया गया और वही वह क्रमशः बड़ा हुआ। तापस-आश्रम के कुलपति के पास सुभूम ने शास्त्रो और विद्याओं का अध्ययन किया।

युवावस्था में पदार्पण करते ही सुभूम ने अपनी माता से पूछा—"मातेश्वरी! मेरे पिता कौन हैं और कहाँ हैं? क्या कारण है कि मुझे इस भूमि के विवर में रखा जा रहा है?"

तारा ने आंसुओं की अविरल धाराएं बहाते हुए मौन धारण कर लिया। इस पर सुभूम को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपनी माता से विस्मय एवं आक्रोश मिश्रित उच्च स्वर मे सब कुछ सच-सच बताने के लिये कहा। माता ने अथ से इति तक सम्पूर्ण वृत्तान्त अपने पुत्र सुभूम को कह सुनाया।

परशुराम द्वारा अपने पिता के मारे जाने का वृत्तान्त सुनते ही सुभूम की क्रोधाग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो उठी। उसके दोनों लोचन रक्तवर्ण हो अग्निवर्षा सी करने लगे। उसने अपने अधर को दांतों से चबाते हुए माता से प्रश्न किया—"अम्ब! मेरा वह पितृघाती शत्रु रहता कहाँ है?"

माता ने उत्तर दिया—"पुत्र! वह नृशंस पास ही के एक नगर मे रहता है। अपने हाथों मारे गये क्षत्रियो की संख्या से अवगत रहने के लिये उसने स्वयं द्वारा मारे गये क्षत्रियों की एक एक दाढ उखाड़कर सब दाढ़ें एक बड़े थाल में एकत्रित कर रखी हैं। किसी भविष्यवक्ता नैमित्तिक ने भविष्यवाणी कर

स्थान पर रुके त्वरित गति से लक्ष्यस्थल की ओर बढते हुए वे एक दिन मिथिलाधिपति के राजप्रासाद मे पहुचे । उन्होने मिथिलेश्वर से कहा—"राजन् ! तुम्हारी १०० पुत्रियो मे से एक राजकन्या मुझे दो ।"

यह महातपस्वी कही रुष्ट हो मेरा घोर अनिष्ट न कर दे—इस डर से राजा ने तत्काल तापस की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए कहा—"भगवन् ! मेरी १०० पुत्रियो मे से जिसे आप चाहे, उसे ही ले ले । जमदग्नि ने सौ राजपुत्रियों मे से रेणुका नाम की राजपुत्री को अपनी भार्या बनाने के लिये चुना । राजा ने जमदग्नि के साथ अपनी पुत्री रेणुका का विवाह कर दिया । जमदग्नि अपनी पत्नी रेणुका के साथ अपने तपोवन मे लौट आये ।

रेणुका की एक बहिन का नाम तारा था । मिथिलेश ने अपनी उस तारा नाम की राजकुमारी का विवाह हस्तिनापुर के कौरववशी महाराजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के साथ किया । जहा एक बहिन रेणुका ऋषि पत्नी बनी, वहा दूसरी ओर दूसरी बहिन तारा महाराजरानी बनी ।

रेणुका ने एक पुत्र को जन्म दिया । जमदग्नि ने कुलपति परम्परा से क्रमागत अपना परशु अपने उस पुत्र को दिया । और उसका नाम परशुराम रखा ।

कालान्तर मे रेणुका अपनी बहिन तारा के यहा हस्तिनापुर के राज प्रासाद में अतिथि बन कर गई । महारानी तारा ने अपनी बहिन रेणुका का बड़े ही राजसी ठाट-बाट से आतिथ्य-सत्कार एवं सम्मान किया । हस्तिनापुर के राजप्रासाद मे रहते हुए राज्यलक्ष्मी के लोभ, विषय भोगो की मनोज्ञता, अपनी इन्द्रियो के चाञ्चल्य एव कर्मपरिणति की कल्पनातीत शक्ति के प्रभाव के वशीभूत हो ऋषिपत्नी रेणुका अपने बहनोई (भगिनीपति) कार्तवीर्य पर आसक्त हो गई और उसके साथ अहर्निश कामभोगो में अनुरक्त रहने लगी ।[1] तापस जमदग्नि को जब कामदेव के इस प्रपञ्च के सम्बन्ध मे ज्ञात हुआ तो वह हस्तिनापुर पहुंचा और वहा से रेणुका को अपने आश्रम मे ले आया । जमदग्नि ने अपने पुत्र परशुराम को उसकी माता की दुश्चरित्रता का वृत्तान्त सुनाया तो परशुराम ने अपनी माता का शिर काट गिराया ।[2]

रेणुका की हत्या का वृत्तान्त सुनकर कार्तवीर्य सहस्रार्जुन अपने दल-बल के साथ जमदग्नि के आश्रम मे पहुँचा और परशुराम को वहा न पा उसने जमदग्नि तापस को मार डाला ।

---

१ चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६५

२ वही ।

कार्तवीर्य सहस्रार्जुन द्वारा अपने पिता के मारे जाने की बात सुनकर परशुराम की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने हस्तिनापुर जाकर अपने पिता के घातक कार्तवीर्य सहस्रार्जुन को मार डाला। इस पर भी उसकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। वह क्षत्रिय वर्ग का ही द्रोही बन गया और उसने दूर दूर तक के प्रदेशों में घूम घूमकर क्षत्रियों को मारा। इस प्रकार पृथ्वी को निक्षत्रिय करने के लिये परशुराम ने सात बार क्षत्रियों का भीषण सामूहिक संहार किया।

उस समय कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की रानी तारा गर्भिणी थी अतः वह हस्तिनापुर से प्रच्छन्नरूपेण पलायन कर एक अन्य तापस आश्रम में पहुँची और वहाँ एक भूमिगृह (तलघर) में रहने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर तारा ने एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जिसके मुख मे जन्म ग्रहण करने के समय ही दाढ़े और दांत थे। तारा का वह पुत्र माता की कुक्षि से बाहर निकलते ही भूमितल को अपनी दाढ़ों में पकड़कर खड़ा हो गया अतः उसका नाम सुभूम रखा गया। उस तलघर में ही सुभूम का लालन-पालन किया गया और वहीं वह क्रमशः बड़ा हुआ। तापस-आश्रम के कुलपति के पास सुभूम ने शास्त्रों और विद्याओं का अध्ययन किया।

युवावस्था में पदार्पण करते ही सुभूम ने अपनी माता से पूछा— "मातेश्वरी! मेरे पिता कौन हैं और कहाँ हैं? क्या कारण है कि मुझे इस भूमि के विवर में रखा जा रहा है?"

तारा ने आंसुओं की अविरल धाराएं बहाते हुए मौन धारण कर लिया। इस पर सुभूम को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपनी माता से विस्मय एवं आक्रोश मिश्रित उच्च स्वर में सब कुछ सच-सच बताने के लिये कहा। माता ने अथ से इति तक सम्पूर्ण वृत्तान्त अपने पुत्र सुभूम को कह सुनाया।

परशुराम द्वारा अपने पिता के मारे जाने का वृत्तान्त सुनते ही सुभूम की क्रोधाग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो उठी। उसके दोनों लोचन रक्तवर्ण हो अग्निवर्षा सी करने लगे। उसने अपने अधर को दांतो से चबाते हुए माता से प्रश्न किया—"अम्ब! मेरा वह पितृघाती शत्रु रहता कहाँ है?"

माता ने उत्तर दिया—"पुत्र! वह नृशंस पास ही के एक नगर में रहता है। अपने हाथों मारे गये क्षत्रियों की संख्या से अवगत रहने के लिये उसने स्वयं द्वारा मारे गये क्षत्रियों की एक एक दाढ़ उखाड़कर सब दाढ़ें एक बड़े थाल में एकत्रित कर रखी हैं। किसी भविष्यवक्ता नैमित्तिक ने भविष्यवाणी कर

परशुराम को बताया है कि जो व्यक्ति उच्च सिंहासन पर बैठकर इन दाढों से भरे थाल मे दाढो के पायस (खीर) के रूप मे परिणत हो जाने पर उस खीर को खायेगा, वही व्यक्ति तुम्हारे प्राणो का अन्त करने वाला होगा। नैमित्तिक द्वारा की गई भविष्यवाणी सुनकर परशुराम ने सत्रागार मंडप बनवाया। उस विशाल मण्डप के बीचो बीच एक उच्च सिंहासन रखवाया और उस सिंहासन से सलग्न उस पीठ पर स्वय द्वारा मारे गये क्षत्रियो की दाढो से भरा थाल रख दिया। परशुराम ने उस विशाल सत्रागार मे प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन करवाना प्रारम्भ कर दिया। उस सत्रागार मण्डप के चारो ओर परशुराम ने बहुत बड़ी संख्या मे सशक्त सैनिको को उस सिंहासन, थाल एवं मण्डप की रक्षा के लिये नियुक्त कर रखा है।"

अपनी माता के मुख से यह सारा वृत्तान्त सुनते ही सुभूम अपने पितृ-घातक परशुराम का वध करने के दृढ-सकल्प के साथ तत्काल परशुराम के नगर की ओर प्रस्थित हुआ। सत्रागार के द्वार पर पहुचकर सुभूम ने सत्रागार की रक्षा के लिये नियुक्त सशस्त्र सैनिको का सहार कर डाला और विद्युत् वेग से वह उस उच्च सिंहासन पर आसीन हो गया। उच्च सिंहासन पर बैठा सुभूम ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो लोहितवर्ण बाल रवि उदयाचल पर आ विराजमान हुआ हो। उसने क्षत्रियों की दाढो से भरे थाल की ओर दृष्टि डालकर देखा। सुभूम के दृष्टिपात के साथ ही वे दाढ़ें अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से खीर के रूप मे परिणत हो गईं। सुभूम तत्काल उस खीर को खाने लगा।[1]

यह देखकर परशुराम के हितचिन्तकों एवं सत्रागार के आहत रक्षकों ने तत्काल परशुराम की सेवा मे उपस्थित हो उनसे निवेदन किया—"देव! सिंह शावक के समान अति तेजस्वी एक बालक हमे हताहत कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया है। क्षत्रियो की दंष्ट्राओ से भरा वह थाल दाढो के स्थान पर पायस से भर गया है। वेष-भूषा से ब्राह्मण सा प्रतीत होने वाला वह बालक उस पायस को खा रहा है। उस तेजस्वी बालक की आखो से, अंग-प्रत्यग से और रोम-रोम से तेज एवं ओज बरस रहा है। भला मानव का तो क्या साहस देवगण भी उसकी ओर आंख उठाकर देखने मे भय विह्वल हो उठते हैं।"

आरक्षको की बात सुनते ही भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी परशुराम के कर्णरन्ध्रो मे मानो प्रतिध्वनित होने लगी और वह परम कोपाविष्ट हो तत्काल सत्रागार मण्डप मे पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक बालक उस उच्च सिंहासन पर बैठा हुआ सिंह के समान निर्भीक और निश्शक हो थाल मे भरी खीर खा रहा है। परशुराम ने कड़क कर कर्कश स्वर मे सुभूम को सम्बोधित करते हुए

---

१ चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६६

कहा—"अरे ओ ब्राह्मण के बच्चे बटूक ! यह श्रेष्ठ सिंहासन तुझे किसने दिया है, जिस पर बैठकर तू अपना जंगलीपन प्रकट कर रहा है ? इन मानव अस्थियों का तो तुझे स्पर्श तक नहीं करना चाहिए पर अरे तू तो ब्राह्मण बटूक होकर भी इन मानव अस्थियों का भक्षण कर रहा है। तू दिखने में तो ब्राह्मण बटूक ही प्रतीत होता है। यदि यह सच है तो सुन ले—मेरा यह घोर परशु केवल क्षत्रियों के ही रुधिर का प्यासा है, दीन श्रोत्रिय ब्राह्मणों पर प्रहार करने में यह लज्जा का अनुभव करता है। यदि तू क्षत्रिय कुमार है और मेरे भय के कारण तूने ब्राह्मणों के समान वेष और आचार अंगीकार कर लिया है तो भी तुझे मुझसे डरने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पृथ्वी के अनेक बार निक्षत्रिय कर दिये जाने पर अब तुम जैसे लोग वस्तुत: कुलीनों के लिये अगाढ अनुकम्पा के पात्र हो। अतः बुद्धिमानों द्वारा निन्दित एवं गर्हित मानव अस्थियों के इस अशुचि आहार का परित्याग कर मेरे इस सभागार में स्वादिष्ट से स्वादिष्टतम सात्विक षड्रस व्यंजनों का भोजन करो। अपनी भुजाओं के बल-पराक्रम के भरोसे यदि तू मेरे साथ युद्ध करना चाहता है तो भी तुझ जैसे निश्शस्त्र बालक पर प्रहार करने मे मुझे स्वयं अपने ऊपर घृणा का अनुभव होता है। क्योंकि जो लोग अपने घर आये हुए पुरुष पर प्रहार करते हैं, उन लोगों की सत्पुरुषों मे गणना नहीं की जा सकती।"[1]

सुभूम सहज निर्भीक-निश्शंक मुद्रा धारण किये खीर भी खाता रहा और परशुराम की बातें भी सुनता रहा। परशुराम की बात पूरी होते होते सुभूम भी क्षीर भोजन से निवृत्त हुआ। परशुराम के कथन के पूर्ण होते ही सुभूम ने उसे उसकी बातों के उत्तर में अपनी बात कहना प्रारम्भ किया—"ओ परशुराम ! सुन। दूसरों के द्वारा दिये गये आसन को ग्रहण करना पराक्रमियों के लिये कदापि शोभास्पद नहीं होता। केसरी सिंह का वन के राजा के रूप में कौन अभिषेक करता है ? मदोन्मत्त महाबलशाली गजराज को यूथपति के पद पर कौन अभिषिक्त करता है ? वे अपने पौरुष-पराक्रम के बल पर स्वतः ही वनराज एवं यूथपति बन जाते हैं। इसी प्रकार मैं भी अपने भुजबल के भरोसे, पौरुष-पराक्रम के बल के प्रभाव से इस सिंहासन पर आ बैठा हूं। प्रत्येक सत्पुरुष अपने कुकृत्य पर लज्जित होता है किन्तु इसके विपरीत तुम तो इतने अधिक दुष्कृत्य करने के पश्चात् भी अपने द्वारा मारे गये लोगों की दाढ़ों से थाल को भर कर फूले नहीं समा रहे हो, अपने दुष्कृत्यों की सराहना कर रहे हो। ओ मूढ ! क्या तुम यह भी नहीं जानते कि दाढ़ें किसी मनुष्य के द्वारा चबाई नहीं जा सकतीं। मैं दाढ़ें नहीं अपितु किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा इस थाल मे परोसी गई खीर खा रहा हूँ। मैं तुम्हें स्पष्ट बता दूं कि मैं ब्राह्मण नहीं हूं।

---

१ चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६६, गा० १७–२७

मैं क्षत्रिय कुमार हूं और तुम्हारा वध करने के लिये यहां आया हूं। ऋषियों के आश्रम में मेरा लालन-पालन हुआ है इसीलिये आश्रमवासियों जैसा मेरा यह वेष है। सुभटों का शस्त्र नृसिंह के समान केवल उनकी भुजाएं ही होती हैं और कायर पुरुष यदि अपने हाथ में वज्र भी धारण किया हुआ हो तो भी वह निहत्था ही है। अतः तुम मुझे जो शस्त्रविहीन कह रहे हो, यह भ्रम मात्र है। मुझे बालक समझ उपेक्षा करने की भूल मत कर बैठना। उदयाचल पर नवोदित बाल-भानु क्या दिग्दिगन्तव्यापी घनान्धकार को तत्काल ही विनष्ट नहीं कर देता? वैर का प्रतिशोध लेकर पितृऋण से उन्मुक्त होने के लिये मेरी भुजाएं फड़क रही हैं, मेरा अन्तःकरण आतुर हो रहा है। अतः शीघ्र ही शस्त्र उठा और अपना पौरुष दिखा। सावधान होकर सुन ले—जिन महान् योद्धा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन को तुमने रणांगण में मारा था, उन्हीं महाबलशाली महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन का मैं पुत्र हूं। पितृवध का प्रतिशोध लेने के लिये तेरे सम्मुख उपस्थित हूं। अब तो यदि तू पाताल में भी प्रविष्ट हो जाय तो भी निश्चित रूप से मैं तुझे पशु की मौत मारकर ही विश्राम लूंगा। तूने सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिया किया है अतः २१ बार पृथ्वी को निर्ब्राह्मण करने पर ही मेरी कोपाग्नि शान्त होगी, अन्यथा कदापि नहीं।"[1]

सुभूम की इस प्रकार की ललकार सुनते ही परशुराम का रोम-रोम क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। उसने तत्काल अपने धनुष की प्रत्यञ्चा पर सरसमूह का संधान कर सुभूम पर सरवर्षा की झड़ी लगा दी। सुभूम ने उस थाल की ढाल से सब बाणों को निरर्थक कर पृथ्वी पर गिरा दिया। यह देख परशुराम आश्चर्याभिभूत एवं हतप्रभ हो गया। अनेक भीषण युद्धों में सदा विजयश्री दिलाने वाले अपने प्रचण्ड कोदण्ड और पैने बाणों की एक बालक के समक्ष मोघता को देखकर परशुराम झुंझला उठे। धनुष बाण को एक ओर पटक उन्होंने अपना परशु सम्हाला। पर परशु को भी निष्प्रभ देख उन्हें बड़ी निराशा हुई। परशुराम के मुख से हठात् ये शब्द निकले—"अरे यह क्या हो गया, सहस्रों-सहस्रों क्षत्रियों का शिरोच्छेदन करने वाला यह घोर परशु आज प्रभाहीन कैसे प्रतीत हो रहा है?" कतिपय क्षणों तक इसी प्रकार चिन्ताग्रस्त एवं विचारमग्न रहने के अनन्तर परशुराम ने सुभूम के मस्तक को काट गिराने की अभिलाषा से उसकी ग्रीवा को लक्ष्य कर अपने प्रभाविहीन परशु को तीव्र वेग से सुभूम की ओर फेंका। कोपाकुल परशुराम द्वारा फेंका गया वह परशु सुभूम के पैरों के पास आ गिरा।

---

१ तुहकयतिखणेण मह पसमइ कोवाणलो नवर ॥१२॥

—चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६७ ॥

परशुराम द्वारा फेंके गये परशु को अपने पैरों के नीचे भूमि पर पड़ा देख सुभूम ने अट्टहास किया और परशुराम के वध के लिये कृत-संकल्प हो उसने अपने सम्मुख रखे थाल को उठाया। सुभूम के हाथ में जाते ही वह थाल अमोघ सहस्रार चक्र के समान तेज से जगमगा उठा। कोपाविष्ट सुभूम ने अपने शत्रु की ग्रीवा को लक्ष्य कर उस थाल को प्रबल वेग से घुमाते हुए परशुराम की ओर फेंका। उस थाल से कट कर परशुराम का मुण्ड ताल फल की तरह पृथ्वी पर लुढ़कने लगा।[1]

परशुराम के शिरोच्छेदन के उपरान्त भी सुभूम की क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। उसने पुनः-पुनः ब्राह्मणों का भीषण सामूहिक संहार कर पृथ्वी को २१ बार ब्राह्मण विहीन बना दिया।

सुभूम ने भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। ६ निधियों और १४ रत्नों का स्वामी सुभूम सुदीर्घ काल तक षट्खण्डों के विशाल साम्राज्य का परिपालन एवं अनुपम ऐहिक भोगोपभोगों का सुखोपभोग करता रहा और अन्त में आयु पूर्ण होने पर घोर नरक का अधिकारी बना।"

---

१ ताल फलं पिव छिण्णं पडइ सिरं परसुरामस्स ॥६७॥

—चउप्पन्न महापुरिसचरियं, पृ० १६७

भगवान् श्री मुनिसुव्रत

भगवान् मल्लिनाथ के बाद बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत हुए।

पूर्वभव

अपर-विदेह की चम्पा नगरी में राजा सुरश्रेष्ठ के भव में इन्होंने नन्दन मुनि की सेवा में संयम स्वीकार किया और अर्हत्-भक्ति आदि बीस स्थानो की सम्यक् आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त समय में समाधिपूर्वक काल कर दशवें प्राणत देवलोक मे देव हुए।

जन्म

स्वर्ग की स्थिति पूर्ण कर यही सुरश्रेष्ठ का जीव श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र में स्वर्ग से च्यव कर राजगृही के महाराज सुमित्र की महारानी देवी पद्मावती के गर्भ में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के रूप में उत्पन्न हुआ।

माता ने मंगलप्रद चतुर्दश शुभ-स्वप्न देखे और प्रशस्त दोहदों से प्रमोदपूर्वक गर्भकाल पूर्ण किया। ज्येष्ठ कृष्णा नवमी[1] के दिन श्रवण नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। इन्द्र, नरेन्द्र और पुरजनों ने भगवान् के जन्म का मंगल-महोत्सव मनाया।

नामकरण

इनके गर्भ मे रहते माता को विधिपूर्वक व्रत-पालना की इच्छा बनी रही और वह सम्यक् रीति से मुनि की तरह व्रत पालना करती रही अतः महाराज सुमित्र ने बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा।[2]

विवाह और राज्य

युवावस्था प्राप्त होने पर पिता सुमित्र ने प्रभावती आदि अनेक योग्य राजकन्याओं के साथ कुमार मुनिसुव्रत का विवाह किया और कालान्तर मे उनको राज्य का भार सौंप कर स्वयं आत्म-कल्याण की इच्छा से वैराग्यभावपूर्वक दीक्षित हो गये।

---

१ प्र० व्याकरण मे ज्येष्ठ कृष्णा ८ है।

२ गब्भगए मायापिया य सुव्वता जाता। (आव चू. उत्त. पृ. ११)

मुनिसुव्रत ने पिता के पीछे राज्य सभाला पर राजकीय वैभव और इन्द्रयो के सुख मे लिप्त नहीं हुए।

दीक्षा और पारणा

पन्द्रह हजार वर्षों तक राज्य का भलीभांति संचालन करने के पश्चात् प्रभु मुनिसुव्रत ने लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षीदान किया एवं अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर फाल्गुन कृष्णा अष्टमी[1] के दिन श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन राजगृही मे ब्रह्मदत्त राजा के यहां प्रभु के बेले का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

ग्यारह मास तक छद्मस्थ रूप से विचरण कर फिर प्रभु दीक्षा वाले उद्यान में पधारे और वहां चम्पा वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय किया और लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली बनकर प्रभु ने श्रुतधर्म एवं चारित्र-धर्म की देशना दी और हजारो व्यक्तियों को चारित्र-धर्म की दीक्षा देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की।

धर्म-परिवार

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के धर्म संघ में निम्न परिवार था :–

गण एवं गणधर	–अठारह [१८] गण एवं अठारह [१८] ही गणधर
केवली	–एक हजार आठ सौ [१,८००]
मन:पर्यवज्ञानी	–एक हजार पांच सो [१,५००]
अवधिज्ञानी	–एक हजार आठ सो [१,८००]
चौदह पूर्वधारी	–पांच सौ [५००]
वैक्रिय लब्धिधारी	–दो हजार [२,०००]
वादी	–एक हजार दो सौ [१,२००]
साधु	–तीस हजार [३०,०००]
साध्वी	–पचास हजार [५०,०००]
श्रावक	–एक लाख बहत्तर हजार [१,७२,०००]
श्राविका	–तीन लाख पचास हजार [३,५०,०००]

१ स० द्वा ६ मे फाल्गुन शुक्ला १२ उल्लिखित है।

परिनिर्वाण

तीस हजार वर्ष की पूर्ण आयु में से प्रभु साढ़े सात हजार वर्ष कुमारावस्था में रहे, पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य-पद पर रहे और साढ़े सात हजार वर्ष तक उन्होंने संयम-धर्म की आराधना की।

अन्त में केवलज्ञान से जीवन का अन्तिम काल निकट जानकर प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक-मास का निर्जल अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा नवमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।

जैन इतिहास और पुराणों के अनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, जिनका अपर नाम पद्म बलदेव है और वासुदेव लक्ष्मण भी भगवान् मुनिसुव्रत के शासन-काल में हुए। राम ने उत्कृष्ट साधना से सिद्धि प्राप्त की और सीता का जीव बारहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ। इनका पवित्र चरित्र "पउमचरियं" एवं पद्म-पुराण आदि ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध होता है।

□ □ □

चक्रवर्ती महापद्म

वर्तमान अवसर्पिणी काल में इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, बीसवें तीर्थंकर भ० मुनिसुव्रत स्वामी की विद्यमानता मे नौवें चक्रवर्ती महापद्म हुए। चक्रवर्ती महापद्म के ज्येष्ठ भ्राता का नाम विष्णु कुमार था।

प्राचीन काल में भरतक्षेत्र के आर्यावर्त खण्ड में हस्तिनापुर नामक एक सुसमृद्ध एवं सुन्दर नगर था। वहां भगवान् ऋषभदेव की वंश परम्परा में पद्मो-त्तर नामक एक महाप्रतापी राजा न्याय-नीतिपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन करते थे। उनकी पट्टमहिषी का नाम ज्वाला था। एक रात्रि में सुप्रसुप्ता महारानी ज्वाला ने स्वप्न में देखा कि एक केसरीसिंह उसके मुख में प्रविष्ट हो गया है। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा पद्मोत्तर ने स्वप्न पाठकों को बुला कर उनसे महादेवी के उक्त स्वप्न के फल के सम्बन्ध में प्रश्न किया। स्वप्न पाठकों ने स्वप्नशास्त्र के आधार पर महाराज को बताया कि अक्षय कीर्ति का उपार्जन करने वाला एक महान् पुण्यशाली प्राणी महारानी की कुक्षि मे आया है।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ज्वाला देवी ने एक अतीव सुन्दर, सुकुमाल एवं तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम विष्णुकुमार रखा।

कालान्तर में महारानी ज्वालादेवी ने एक रात्रि में चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नफल सम्बन्धी राजा-रानी की जिज्ञासा को शान्त करते हुए नैमित्तिकों ने बताया कि महारानी की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्ररत्न का जन्म होगा, जो समय पर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा।

गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ज्वालादेवी ने सर्व शुभ लक्षण सम्पन्न एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने स्वजन-परिजनों के साथ विचार-विमर्श कर अपने उस दूसरे पुत्र का नाम महापद्म रखा।

विष्णुकुमार और महापद्म—ये दोनों भाई शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र के समान अनुक्रमशः वृद्धिगत होते हुए शैशवावस्था को पार कर किशोर वय में और किशोर वय से युवावस्था में प्रविष्ट हुए। दोनों राजकुमारों को उस समय के लोकविश्रुत बड़े-बड़े शिक्षा शास्त्रियों एवं कलाविदों के सान्निध्य में रख कर उन्हें राजकुमारोचित सभी विद्याओ एवं कलाओं का अध्ययन कराया गया। सुतीक्ष्ण बुद्धि दोनों भ्राता सभी प्रकार की विद्याओं में पारंगत हो गये।

ज्येष्ठ राजपुत्र विष्णुकुमार की बाल्यकाल से ही सासारिक कार्यकलापो एव ऐहिक भोगोपभोगो के प्रति किसी प्रकार की अभिरुचि नही थी। अतः उन्होने कालान्तर मे माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। अगशास्त्रो के अभ्यास एवं विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना के साथ-साथ मुनि विष्णुकुमार ने सुदीर्घ काल तक अति कठोर दुष्कर तपश्चरण किया। उग्र तपश्चर्याओ के प्रभाव से मुनि विष्णुकुमार को अनेक प्रकार की उच्चकोटि की लब्धिया एव विद्याएं स्वत. ही प्रकट हो गईं।

महाराजा पद्मोत्तर ने होनहार चक्रवर्ती सम्राट् के योग्य सभी लक्षणों से युक्त अपने द्वितीय पुत्र महापद्म को युवराज पद पर अभिषिक्त कर शासन-सचालन के भार से निवृत्ति ली।

उन्ही दिनो बीसवें तीर्थंकर भ० मुनिसुव्रत स्वामी के शिष्य आचार्य सुव्रत अप्रतिहत विहार करते हुए विहारक्रम से उज्जयिनी पधारे। आचार्यश्री के शुभागमन का सम्वाद सुन उज्जयिनीपति श्रीवर्मा भी अपने प्रधानामात्य नमुचि एवं अपने परिजनो-पौरजनो आदि के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ नगर के बहिस्थ उद्यान मे गया। सुव्रताचार्य का वन्दन नमन करने के पश्चात् राजा उपदेश श्रवण की अभिलाषा से उनके सम्मुख बैठा। नमुचि को अपने पाण्डित्य का बड़ा अभिमान था। वहां बैठते ही वह वैदिक कर्मकाण्ड की श्लाघा और वीतराग जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने लगा। नमुचि को वितण्डावाद का आश्रय लिये देख सुव्रताचार्य तो मौन रहे किन्तु उनका एक लघु वयस्क शिष्य नमुचि द्वारा किये जा रहे वितण्डावाद और अनर्गल प्रलाप को सहन नही कर सका। उसने नमुचि के साथ शास्त्रार्थ कर उसे महाराजा श्री वर्मा के समक्ष ही पराजित कर दिया। उस समय तो वह निरुत्तर हो जाने के कारण कुछ भी नही बोल सका किन्तु राजा और प्रजा के सम्मुख एक छोटे से साधु द्वारा पराजित कर दिये जाने के अपमान की अग्नि मे उसका तन, मन और रोम-रोम जलने लगा। अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेने की भावना के वशीभूत हुआ वह नमुचि उन्मत्त बना रात्रि के घनान्धकार में एक नगी तलवार लिये घर से निकला और उस उद्यान मे प्रविष्ट हुआ, जहां सुव्रताचार्य अपने शिष्यमण्डल के साथ विराजमान थे। नमुचि दबे पावो उद्यान के मध्य भाग मे अवस्थित भवन की ओर बढा। उसने देखा कि वहां सब मुनि निश्शक भाव से निद्राधीन हैं, चारो ओर अर्द्धरात्रि की निस्तब्धता छाई हुई है। निद्राधीन लघु मुनि को दूर से देखते ही क्रोधाविष्ट हो नमुचि ने तलवार की मूठ को दोनों हाथों में कस कर पकड़ा। लघु मुनि की ग्रीवा पर तलवार का भरपूर वार करने के लिये उसने तलवार पकड़े हुए अपने दोनो हाथो को अपने दक्षिणस्कन्ध के ऊपर तक उठाया। नमुचि पूरी शक्ति जुटा कर लघु मुनि की गर्दन पर तलवार का वार करने के लिए उनकी ओर झपटा किन्तु किसी

अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से अथवा मुनिमण्डल के तपोनिष्ठ श्रमणजीवन के प्रताप से उस उद्यानशाला के द्वार पर ही वह स्तम्भित हो गया। नमुचि के हाथ ऊपर के ऊपर ही उठे रह गये। जब नमुचि ने यह अनुभव किया कि वह अपने हाथों को और तलवार को तिलमात्र भी इधर से उधर नहीं कर पा रहा है तो उसी अवस्था में उसने वहां से भाग निकलने का उपक्रम किया। परन्तु उसने पाया कि वह पूर्ण रूप से स्तम्भित हो चुका है, पूरी शक्ति लगा कर सभी प्रकार के प्रयास करने के उपरान्त भी वह अपने किसी भी अंगप्रत्यंग को किंचित्मात्र भी हिलाने में असमर्थ है। अन्ततोगत्वा नमुचि निराश हो गया। सूर्योदय होते ही उसकी कैसी भयंकर दुर्दशा होगी, दुर्गति होगी, कलंक-कालिमापूर्ण उसकी भयंकर अपकीर्ति प्रातःकाल होते ही दिग्दिगन्त मे फैल जायगी, नरेश्वर को और नागरिकों को वह अपना काला मुंह किस प्रकार दिखायेगा—इन विचारों से वह सिहर उठा, उसका मुख विवर्ण हो काला पड़ गया। वह मन ही मन सोचने लगा—"अच्छा हो यह धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊं, छुप जाऊं।" पर भला, पाप भी क्या कभी छुपाये छुपा है। न धरती ही फटी और न वह अपने आपको छुपा ही पाया। ब्राह्म मुहूर्त मे सर्वप्रथम सुव्रताचार्य ने नमुचि को उस रूप में खड़े देखा। तदनन्तर मुनिमण्डल ने भी देखा। हर्षामर्ष-विहीन-सम शत्रु-मित्र मुनिमण्डल समभाव से सदा की भांति अपनी आवश्यक धर्मक्रियाओं के निष्पादन में निरत हो गया। प्रातःकाल होते ही मुनिमण्डल के दर्शनार्थ आये हुए श्रद्धालु नागरिकों ने नमुचि को उस रूप मे स्तब्धावस्था मे देखा। विद्युत् वेग से यह संवाद नगर के कोने-कोने मे प्रसृत हो गया। सहस्रों-सहस्रों नागरिकों के समूह पहाड़ी नदी के प्रवाह के समान उस उद्यान की ओर उमड़ पड़े। उद्यान नागरिकों से खचाखच भर गया। चारों ओर से नमुचि पर कटु-वचनों की अनवरत वर्षा होने लगी। सब ओर उसकी भयंकर अपकीर्ति फैल गई। नमुचि बड़ा अपमानित हुआ। स्तम्भन का प्रभाव परिसमाप्त होते ही वह अपने घर मे आ कर छुप गया। उज्जयिनी में रहना उसके लिए वस्तुतः अब ज्वालामालाओं से संकुल भीषण भट्टी में रहने तुल्य दुस्सह्य एवं दूभर हो गया। एक दिन चुपचाप वह उज्जयिनी से निकला और घूमता-घामता हस्तिनापुर पहुंचा।

हस्तिनापुर पहुंचने के पश्चात् नमुचि युवराज महापद्म के सम्पर्क में आता रहा और युवराज ने उसे अपनी मन्त्रि-परिषद् मे स्थान दिया। उन्हीं दिनों हस्तिनापुर राज्य मे युवराज महापद्म के एक अधीनस्थ राजा सिंहरथ ने उत्पात करना प्रारम्भ किया। सिंहरथ अपने अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों मे युवराज महापद्म की प्रजा को लूट-मार कर अपने दुर्ग मे घुस जाता। युवराज पद्मरथ ने सिंहरथ को पकड़ कर दण्ड देने हेतु अपनी सेना भेजी किन्तु सिंहरथ का सुदृढ़ दुर्ग दुर्भेद्य एवं दुर्जेय था अतः युवराज की सेना उसे पकड़ने मे असफल रही। अन्ततोगत्वा युवराज ने सिंहरथ को बन्दी बना कर लाने के लिये अपने मंत्री

नमुचि को आज्ञा दी। नमुचि ने एक सशक्त एवं विशाल सेना के साथ सिंहरथ पर आक्रमण किया। उसने सिंहरथ के सुदृढ दुर्ग को चारों ओर से घेर कर रसद पहुंचने के सभी मार्गों को पूर्णरूपेण अवरुद्ध कर दिया। लम्बे समय तक दुर्ग के चारों ओर अपनी सेना का घेरा डाले रखने के अनन्तर नमुचि ने दाम-नीति और भेद-नीति का आश्रय ले दुर्गरक्षकों को अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार उसे एक दिन सहसा अपनी सेना के साथ सिंहरथ के दुर्ग में प्रवेश करने का अवसर मिल गया। नमुचि ने तत्काल दुर्ग पर युवराज महापद्म का आधिपत्य स्थापित कर दिया और सिंहरथ को बन्दी बना युवराज के समक्ष उपस्थित किया। दुर्भेद्य दुर्ग और दुर्दान्त शत्रु को अपने वश में पा युवराज महापद्म परम प्रसन्न हुआ। नमुचि को उसकी इस दुस्साध्य सफलता पर साधुवाद देते हुए युवराज ने उसे एक अभीप्सित वस्तु मांगने का आग्रह किया। नमुचि ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए युवराज महापद्म से निवेदन किया—"स्वामिन्! आपका कृपाप्रसाद ही मेरे लिये पर्याप्त है, तदुपरान्त भी आपका आग्रह है तो मेरे इस वर को आप धरोहर के रूप में अपने पास रखिये, आवश्यकता पड़ने पर मैं आपसे यह वर माँग लूंगा।" युवराज ने नमुचि की प्रार्थना स्वीकार कर उसको दिये हुए वरदान को अपने पास धरोहर के रूप में रख लिया।

कालान्तर में महापद्म की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने षट्खण्ड की साधना की और वह १४ रत्नों एवं ६ निधियों का स्वामी बना।

जिस समय भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का एकछत्र अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् महापद्म हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हो सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन कर रहा था, उस समय सुव्रताचार्य अपने शिष्य समूह के साथ हस्तिनापुर पधारे और धर्मनिष्ठ श्रद्धालु नगर निवासियों की प्रार्थना पर चातुर्मासावधि पर्यन्त उन्होंने नगर के बाहर एक उद्यान में रहना स्वीकार कर लिया।

अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का यह उपयुक्त अवसर समझ नमुचि ने चक्रवर्ती महापद्म को उनके पास धरोहर में रखे हुए अपने वरदान का स्मरण दिलाते हुए निवेदन किया—"भरतेश्वर! मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि मैं अपने परलोक की सिद्धि हेतु एक महान् यज्ञ करूं। वह महायज्ञ सभी भांति सुचारु रूप से सम्पन्न हो, इसके लिए मैं धरोहर के रूप में रखे गये उस वरदान के रूप में आपसे यह मांगता हूं कि आज से ले कर यज्ञ की पूर्णाहूति होने तक आपके सम्पूर्ण राज्य का स्वामी मैं रहूं। सर्वत्र मेरी आज्ञा शिरोधार्य एवं अनुल्लंघनीय रहे।"

सत्यसन्ध चक्रवर्ती महापद्म ने तत्काल यज्ञ की पूर्णाहूति के समय तक के लिए अपना सम्पूर्ण राज्याधिकार नमुचि को दे अन्तःपुर में अपना निवास कर दिया।

नमुचि के हाथों में सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के शासन की बागडोर आते ही प्रतिष्ठित पौरजनों, सामन्तों, विभागाध्यक्षों एवं विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों ने नमुचि के पास उपस्थित हो उसे वर्द्धापित करते हुए उसके यज्ञ की सफलता के लिए अपनी ओर से शुभकामनाएँ अभिव्यक्त की। सभी प्रकार के ऐहिक प्रपंचों से सदा दूर रहना, यह श्रमणाचार की एक बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण मर्यादा है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सुव्रताचार्य नमुचि के पास नहीं गये। इस पर नमुचि बड़ा क्रुद्ध हुआ। सुव्रताचार्य और श्रमणवर्ग के प्रति अपनी वैर भावना से प्रेरित हो कर ही तो नमुचि ने यह सब प्रपंच रचा था। वह क्रोधाविष्ट हो सुव्रताचार्य के पास गया और उन्हें राज्य विरोधी, पाखण्डी, मर्यादा-लोपक आदि अशिष्ट एवं हीन विशेषणों से सम्बोधित करते हुए उनसे कहा— "तुम लोग सात दिन के अन्दर-अन्दर मेरे राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ। उस अवधि के पश्चात् तुम लोगों में से यदि कोई भी साधु मेरे राज्य में रहा तो उसे कठोर से कठोर मृत्यु दण्ड दिया जायगा। बस, यह मेरी अन्तिम और अपरिहार्य आज्ञा है।" इस प्रकार की आज्ञा देने के पश्चात् नमुचि अपने आवास की ओर लौट गया।

श्रमण संघ को इस घोर संकट से बचाने के लिए सुदूरस्थ प्रदेश मे तपश्चरण में निरत अपने शिष्य महान् लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को सुव्रताचार्य ने बुलवाया। लब्धिधारी महामुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर मे आते ही नमुचि को समझाने का भरसक प्रयास किया। किन्तु राज्यमद मे मदान्ध नमुचि अपने हठ पर डटा ही रहा। अन्त में मुनि विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा—"अच्छा नमुचि! कम से कम तीन चरण भूमि तो मुझे रहने के लिए दे दो।"

नमुचि ने कहा—"मैं तुम्हें तीन चरण भूमि देता हूं। उस तीन चरण भूमि से बाहर जो भी साधु रहेगा, उसे तत्काल मार दिया जायेगा।"

तीन चरण भूमि देने की स्वीकृति ज्यों ही नमुचि ने दी कि मुनि विष्णुकुमार ने वैक्रिय लब्धि के प्रयोग से अपना शरीर बढ़ाना प्रारम्भ किया। देखते ही देखते असीम आकाश विष्णु मुनि के विराट् शरीर से आपूरित हो गया। ससागरा, सपर्वता पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी, आकाश आन्दोलित हो उठा। मुनि विष्णुकुमार के इस अदृष्टपूर्व विराट् स्वरूप को देख कर नमुचि आश्चर्याभिभूत एवं भयाक्रान्त हो धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। मुनि विष्णुकुमार ने अपना एक चरण समुद्र के पूर्वीय तट पर और दूसरा चरण सागर के पश्चिमी तट पर रखा और प्रलय-घनघटा की गड़गड़ाहट सन्निभ स्वर मे नमुचि से पूछा—"अब बोल नमुचे! मैं अपना तीसरा चरण कहां रखूं?"

उस अदृष्ट-अश्रुतपूर्व चमत्कारकारी भयावह दृश्य से भयभीत हुआ नमुचि झञ्झावात से झकझोरित पीपल के पत्ते के समान कांपता ही रहा।

नमुचि को आज्ञा दी। नमुचि ने एक सशक्त एवं विशाल सेना के साथ सिंहरथ पर आक्रमण किया। उसने सिंहरथ के सुदृढ़ दुर्ग को चारों ओर से घेर कर रसद पहुंचने के सभी मार्गों को पूर्णरूपेण अवरुद्ध कर दिया। लम्बे समय तक दुर्ग के चारों ओर अपनी सेना का घेरा डाले रखने के अनन्तर नमुचि ने दाम-नीति और भेद-नीति का आश्रय ले दुर्गरक्षकों को अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार उसे एक दिन सहसा अपनी सेना के साथ सिंहरथ के दुर्ग में प्रवेश करने का अवसर मिल गया। नमुचि ने तत्काल दुर्ग पर युवराज महापद्म का आधिपत्य स्थापित कर दिया और सिंहरथ को बन्दी बना युवराज के समक्ष उपस्थित किया। दुर्भेद्य दुर्ग और दुर्दान्त शत्रु को अपने वश में पा युवराज महापद्म परम प्रसन्न हुआ। नमुचि को उसकी इस दुस्साध्य सफलता पर साधुवाद देते हुए युवराज ने उसे एक अभीप्सित वस्तु मांगने का आग्रह किया। नमुचि ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए युवराज महापद्म से निवेदन किया—"स्वामिन्! आपका कृपाप्रसाद ही मेरे लिये पर्याप्त है, तदुपरान्त भी आपका आग्रह है तो मेरे इस वर को आप धरोहर के रूप में अपने पास रखिये, आवश्यकता पड़ने पर मैं आपसे यह वर मांग लूंगा।" युवराज ने नमुचि की प्रार्थना स्वीकार कर उसको दिये हुए वरदान को अपने पास धरोहर के रूप में रख लिया।

कालान्तर में महापद्म की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने षट्खण्ड की साधना की और वह १४ रत्नों एवं ६ निधियों का स्वामी बना।

जिस समय भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का एकछत्र अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् महापद्म हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हो सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन कर रहा था, उस समय सुव्रताचार्य अपने शिष्य समूह के साथ हस्तिनापुर पधारे और धर्मनिष्ठ श्रद्धालु नगर निवासियों की प्रार्थना पर चातुर्मासावधि पर्यन्त उन्होंने नगर के बाहर एक उद्यान में रहना स्वीकार कर लिया।

अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का यह उपयुक्त अवसर समझ नमुचि ने चक्रवर्ती महापद्म को उनके पास धरोहर में रखे हुए अपने वरदान का स्मरण दिलाते हुए निवेदन किया—"भरतेश्वर! मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि मैं अपने परलोक की सिद्धि हेतु एक महान् यज्ञ करूं। यह महायज्ञ सभी भांति सुचारु रूप से सम्पन्न हो, इसके लिए मैं धरोहर के रूप में रखे गये उस वरदान के रूप में आपसे यह मांगता हूं कि आज से ले कर यज्ञ की पूर्णाहुति होने तक आपके सम्पूर्ण राज्य का स्वामी मैं रहूं। सर्वत्र मेरी आज्ञा शिरोधार्य एवं अनुल्लंघनीय रहे।"

सत्यसन्ध चक्रवर्ती महापद्म ने तत्काल यज्ञ की पूर्णाहुति के समय तक के लिए अपना सम्पूर्ण राज्याधिकार नमुचि को दे अन्तःपुर में अपना निवास कर दिया।

नमुचि के हाथों में सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के शासन की बागडोर आते ही प्रतिष्ठित पौरजनों, सामन्तों, विभागाध्यक्षों एवं विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों ने नमुचि के पास उपस्थित हो उसे वर्द्धापित करते हुए उसके यज्ञ की सफलता के लिए अपनी ओर से शुभकामनाएं अभिव्यक्त की। सभी प्रकार के ऐहिक प्रपंचों से सदा दूर रहना, यह श्रमणाचार की एक बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण मर्यादा है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सुव्रताचार्य नमुचि के पास नहीं गये। इस पर नमुचि बड़ा क्रुद्ध हुआ। सुव्रताचार्य और श्रमणवर्ग के प्रति अपनी वैर भावना से प्रेरित हो कर ही तो नमुचि ने यह सब प्रपंच रचा था। वह क्रोधाविष्ट हो सुव्रताचार्य के पास गया और उन्हें राज्य विरोधी, पाखण्डी, मर्यादा-लोपक आदि अशिष्ट एवं हीन विशेषणों से सम्बोधित करते हुए उनसे कहा—"तुम लोग सात दिन के अन्दर-अन्दर मेरे राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ। उस अवधि के पश्चात् तुम लोगों में से यदि कोई भी साधु मेरे राज्य में रहा तो उसे कठोर से कठोर मृत्यु दण्ड दिया जायगा। बस, यह मेरी अन्तिम और अपरिहार्य आज्ञा है।" इस प्रकार की आज्ञा देने के पश्चात् नमुचि अपने आवास की ओर लौट गया।

श्रमण संघ को इस घोर संकट से बचाने के लिए सुदूरस्थ प्रदेश में तपश्चरण में निरत अपने शिष्य महान् लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को सुव्रताचार्य ने बुलवाया। लब्धिधारी महामुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में आते ही नमुचि को समझाने का भरसक प्रयास किया। किन्तु राज्यमद में मदान्ध नमुचि अपने हठ पर डटा ही रहा। अन्त में मुनि विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा—"अच्छा नमुचि! कम से कम तीन चरण भूमि तो मुझे रहने के लिए दे दो।"

नमुचि ने कहा—"मैं तुम्हें तीन चरण भूमि देता हूं। उस तीन चरण भूमि से बाहर जो भी साधु रहेगा, उसे तत्काल मार दिया जायेगा।"

तीन चरण भूमि देने की स्वीकृति ज्यों ही नमुचि ने दी कि मुनि विष्णुकुमार ने वैक्रिय लब्धि के प्रयोग से अपना शरीर बढ़ाना प्रारम्भ किया। देखते ही देखते असीम आकाश विष्णु मुनि के विराट् शरीर से आपूरित हो गया। ससागरा, सपर्वता पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी, आकाश आन्दोलित हो उठा। मुनि विष्णुकुमार के इस अदृष्टपूर्व विराट् स्वरूप को देख कर नमुचि आश्चर्याभिभूत एवं भयाक्रान्त हो धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। मुनि विष्णुकुमार ने अपना एक चरण समुद्र के पूर्वीय तट पर और दूसरा चरण सागर के पश्चिमी तट पर रखा और प्रलय-घनघटा की गड़गड़ाहट सन्निभ स्वर में नमुचि से पूछा—"अब बोल नमुचे! मैं अपना तीसरा चरण कहां रखूं?"

उस अदृष्ट-अश्रुतपूर्व चमत्कारकारी भयावह दृश्य से भयभीत हुआ नमुचि झंझावात से झकझोरित पीपल के पत्ते के समान कांपता ही रहा।

प्रकृति-परिवर्तनकारी इस आकस्मिक उत्पात का कारण जानने के लिए चक्रवर्ती महापद्म अन्तःपुर से बाहर घटनास्थल पर आये। उन्होंने मुनि विष्णुकुमार को वन्दन नमन किया और नतमस्तक हो वे उनसे अपने उपेक्षा-जन्य अपराध के लिए पुनः पुनः क्षमाप्रार्थना करने लगे। संघ तथा नागरिकों ने पुनः पुनः क्षमायाचना करते हुए मुनि विष्णुकुमार से शान्त होने की प्रार्थना की। सामूहिक प्रार्थना को सुन मुनि शान्त हुए। उन्होंने वैक्रियजन्य अपने विराट् स्वरूप का संवरण किया। सम शत्रुमित्र मुनिवर विष्णुकुमार ने नमुचि की ओर क्षमापूर्ण दृष्टिपात किया और संघ की रक्षा हेतु किये गये अपने कार्य का प्रायश्चित्त ले कर वे पुनः आत्मसाधना में लीन हो गये। तप-संयम की साधना से उन्होंने अन्त मे आठों कर्मों को मूलतः विनष्ट कर अक्षय, अव्याबाध शाश्वत सुखधाम मोक्ष प्राप्त किया।

चक्रवर्ती महापद्म ने भी २० हजार वर्ष की वय में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने १० हजार वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए घोर तपश्चरण द्वारा आठों कर्मों का अन्त कर मोक्ष प्राप्त किया।

□□□

भगवान् श्री नमिनाथ

भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी के पश्चात् इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ हुए।

पूर्वभव

तीर्थंकर नमिनाथ का जीव जब पश्चिम विदेह की कोशाम्बी नगरी में सिद्धार्थ राजा के भव में था, तब किसी निमित्त को पाकर इनको वैराग्य हो आया।

उसी समय सुदर्शन मुनि का सहज समागम हुआ और उन्होंने उत्कृष्ट भाव से दीक्षित होकर उनके पास विशिष्ट रूप से तप-संयम की साधना की। फलस्वरूप तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध किया और अन्त समय में शुभ भाव के साथ काल कर वे अपराजित स्वर्ग मे देव रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

यही सिद्धार्थ राजा का जीव स्वर्ग से निकलकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र में मिथिला नगरी के महाराज विजय की भार्या महारानी वप्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्नों को देखकर माता प्रसन्न थीं। योग्य आहार, विहार और आचार से महारानी वप्रा ने गर्भ का पालन किया।

पूर्ण समय होने पर माता वप्रा देवी ने श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र मे कनकवर्ण वाले पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया। नरेन्द्र और सुरेन्द्रो ने मंगल महोत्सव मनाया।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण करते समय महाराज विजय ने अपने बन्धु-बान्धवो के बीच कहा—"जब यह बालक गर्भ में था उस समय शत्रुओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया। माता वप्रा ने जब राजप्रासाद की छत पर जाकर उन शत्रुओं की ओर सौम्य दृष्टि से देखा तो शत्रु राजा का मन बदल गया और वे मेरे चरणों में आकर झुक गये। शत्रुओं के इस प्रकार नमन के कारण बालक का नाम नमिनाथ[1] रखना उचित प्रतीत होता है।

---

१ (क) गब्भगयम्मि य भगवंते णमिया नीसेसरिउणो' तम्रो णमि त्ति णामं कयं भगवओ। [च. म. पु. च., पृ. १७७]

(ख) नगरं रोहिज्जति, देवी अट्टे संठिता दिट्ठा, पच्छा पणता रायाणो अण्णे य पच्चंतिया रायाणो पणता तेण नमी [आव. चू. पृ. ११, उत्तरार्द्ध]

उपस्थित लोगों ने सहर्ष राजा की बात का समर्थन किया और आपका नाम नमिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

नमिनाथ के युवावस्था को प्राप्त होने पर महाराज विजय ने अनेक सुन्दर और योग्य राजकन्याओं के साथ नमिनाथ का पाणिग्रहण करवाया और दो हजार पांच सौ वर्ष की अवस्था होने पर राजा ने बड़े ही सम्मान और समारोह के साथ कुमार नमि का राज्याभिषेक किया।

नमिनाथ ने भी पाच हजार वर्ष तक राज्य का पालन कर जन-मन को जीतकर अपना बना लिया। बाद मे भोग्य कर्मों को क्षीण हुए जानकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की।

दीक्षा और पारणा

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नमिनाथ ने राजकुमार सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं एक हजार राजकुमारों के साथ सहस्राम्र वन की ओर दीक्षार्थ निकल पड़े।

वहां पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से विधिवत् सम्पूर्ण पापो का परित्याग कर आषाढ कृष्णा नवमी को उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु वीरपुर पधारे और वहा के महाराज 'दत्त' के यहा परमान्न से प्रथम पारणा ग्रहण किया। दान की महिमा बढ़ाने हेतु देवो ने पचदिव्य बरसाये और महाराज दत्त की कीर्ति को फैला दिया।

केवलज्ञान

नौ मास तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या मे विचरे और फिर उसी उद्यान मे आकर वोरसली वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। वहा मृगशिर कृष्णा एकादशी[1] को शुक्ल-ध्यान की प्रचण्ड अग्नि मे सम्पूर्ण घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि कर प्रभु-भाव-अरिहन्त कहलाये।

केवली होकर देवासुर-मानवो की विशाल सभा मे आपने धर्म-देशना दी और चतुर्विध सघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर बन गये।

धर्म-परिवार

भगवान् नमिनाथ के संघ मे निम्न धर्म-परिवार था—

गण एवं गणधर —सत्रह गण (१७) एवं सत्रह ही (१७) गणधर

---

१ "आवश्यक निर्युक्ति और सत्तरिसय द्वार मे मार्गशीर्ष शु ११ है

केवली	—एक हजार छः सौ [१,६००]
मन:पर्यवज्ञानी	—एक हजार दो सौ सात [१,२०७]
अवधिज्ञानी	—एक हजार छः सौ [१,६००]
चौदह पूर्वधारी	—चार सौ पचास [४५०]
वैक्रिय.लब्धिधारी	—पांच हजार [५,०००]
वादी	—एक हजार [१,०००]
साधु	—बीस हजार [२०,०००]
साध्वी	—इकतालीस हजार [४१,०००]
श्रावक	—एक लाख सत्तर हजार [१,७०,०००]
श्राविका	—तीन लाख अड़तालीस हजार [३,४८,०००]

इस प्रकार प्रभु के उपदेशामृत का पान कर लाखों लोगो ने भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन कर आत्म-कल्याण किया।

परिनिर्वाण

नव मास कम ढाई हजार वर्ष तक केवली पर्याय से धर्मोपदेश करते हुए जब प्रभु ने मोक्षकाल समीप समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेत शिखर पर जाकर अनशन प्रारम्भ किया।

एक मास के अन्त में शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में योग निरोध करके वैशाख कृष्णा दशमी को अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। आपकी पूर्ण आयु १० हजार वर्ष की थी।

मुनिसुव्रत स्वामी के छः लाख वर्ष पश्चात् नमिनाथ मोक्ष पधारे। इनके समय में हरिषेण और शासनकाल में जय नाम के चक्रवर्ती राजा हुए।

यहां इतना ध्यान रहे कि तीर्थंकर नमिनाथ और मिथिला के नमि राजर्षि एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। नाम और नगर की एकरूपता से अधिकांश लेखक दोनों को एक समझ लेते हैं, पर वस्तुतः दोनों एक नहीं हैं।

तीर्थंकर 'नमिनाथ' महाराज विजय के पुत्र और स्वयंबुद्ध हैं; जबकि नमिराज सुदर्शनपुर के युवराज युगबाहु के पुत्र और प्रत्येकबुद्ध हैं।

नमिराज दाह रोग से पीड़ित थे, दाह शान्ति के लिए चन्दन घिसती हुई रानियों के करों मे एक-एक चूड़ी देख कर वे प्रतिबोधित हुए। राज्यपद से वे ऋषि बने, अतः राजर्षि कहलाये।

□□□

चक्रवर्ती हरिषेण

इक्कीसवें तीर्थंकर भ० नमिनाथ के समय में, उनकी विद्यमानता में ही इस भरतक्षेत्र के दसवें चक्रवर्ती सम्राट् हरिषेण हुए ।

इसी जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के पांचाल प्रदेश के काम्पिल्यनगर में महाहरि नामक एक इक्ष्वाकुवंशीय राजा न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । उनकी पट्ट महिषी का नाम महिषी था । अनेक वर्षों तक ऐहिक ऐश्वर्य एवं विविध भोगों का उपभोग करते हुए महारानी महिषी ने एक रात्रि में चौदह शुभ स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने चक्रवर्ती के सभी लक्षणों से युक्त एक ओजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता-पिता ने अपने उस पुत्र का नाम हरिषेण रखा । राजकुमार हरिषेण का ऐश्वर्यपूर्ण राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन किया गया । समय पर उसे उच्चकोटि के कलाचार्यों से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओ का शिक्षण दिलाया गया । भोगसमर्थ वय में युवराज हरिषेण का अनेक कुलीन राजकन्याओ के साथ पाणिग्रहण करवाया गया ।

३२५ वर्ष तक राजकुमार हरिषेण कुमारावस्था में रहे । तदनन्तर महाराजा महाहरि ने अपने पुत्र हरिषेण का काम्पिल्य राज्य के राजसिंहासन पर महोत्सवपूर्वक राज्यभिषेक किया । ३२५ वर्ष तक महाराजा हरिषेण ने माण्डलिक राजा के रूप में अपनी प्रजा का न्याय-नीतिपूर्वक पालन किया । उस समय एक दिन महाराजा हरिषेण की आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । चक्ररत्न के मार्गदर्शन में महाराजा हरिषेण ने दिग्विजय का अभियान किया । १५० वर्षों तक दिग्विजय करते-करते महाराज हरिषेण ने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों की साधना की और वे चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर अभिषिक्त एव चौदह रत्नो तथा नौ निधियो के स्वामी हुए । ८८५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन किया । तदनन्तर उन्होने षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य और चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों को तृणवत् ठुकरा कर सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का परित्याग करते हुए श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की । मुनि हरिषेण ने ३५० वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए विशुद्ध संयम की परिपालना की और आठों कर्मों का अन्त कर १० हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष में पधारे ।

□ □ □

चक्रवर्ती जयसेन

इक्कीसवें तीर्थंकर भ० नमिनाथ के परिनिर्वाण के दीर्घकाल पश्चात् उन्हीं के शासनकाल अर्थात् धर्मतीर्थ काल में इस भरतक्षेत्र के ग्यारहवें चक्रवर्ती सम्राट् जयसेन हुए।

आज से सुदीर्घ काल पूर्व मगध राज्य की राजधानी राजगृही नगरी में विजय नामक राजा राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम वप्रा था। एक रात्रि मे सुखप्रसुप्ता महारानी वप्रा ने १४ शुभ स्वप्न देखे। स्वप्नों को देखते ही महारानी जागृत हुई एव हर्षविभोर हो उसी समय अपने पति महाराज विजय के शयनकक्ष में गई और उन्हे अपने चौदह स्वप्नों का पूरा विवरण सुनाया। महाराजा विजय ने प्रात:काल स्वप्न पाठकों को बुलवाया और उन्हें महारानी द्वारा देखे गये स्वप्नो का वृत्तान्त सुनाते हुए उन स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नशास्त्र मे उल्लिखित तथ्यों पर चिन्तन-मनन के पश्चात् स्वप्न-पाठकों ने महाराज विजय से निवेदन किया—"राजराजेश्वर! राजेश्वरी महारानी ने जो चौदह स्वप्न देखे हैं, उनकी स्वप्नशास्त्र मे सर्वश्रेष्ठ स्वप्नों में गणना की गई है। ये स्वप्न महाशुभ फलप्रदायी हैं। ये स्वप्न यही पूर्व सूचना देते हैं कि महारानी महापराक्रमी चक्रवर्ती पुत्ररत्न को जन्म देंगी।

स्वप्न फल सुन कर राजदम्पति, उनके परिजनों एवं पौरजनों के हर्ष का पारावार नहीं रहा। गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी वप्रा ने एक महा-तेजस्वी एवं नयनानन्दकारी पुत्ररत्न को जन्म दिया। महाराज विजय ने परिजनों, पौरजनों और अभ्यर्थियों को मुक्तहस्त हो सम्मान-दानादि से सन्तुष्ट किया। राजदम्पति ने अपने पुत्र का नाम जयसेन रखा। राजकुमार जयसेन का शैशवकाल में राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन, किशोर वय में राजकुमारोचित शिक्षण-दीक्षण और भोगसमर्थ युवावस्था में अनेक अनिन्द्य सुन्दरी कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया। शास्त्र-शस्त्रास्त्रादि विद्याओं तथा कलाओं में निष्णात राजकुमार जयसेन ३०० वर्षों तक कुमारावस्था में रहे। तदनन्तर महाराज विजय अपने पुत्र जयसेन को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रव्रजित हो गये। महाराजा बनने के पश्चात् जयसेन ने ३०० वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में शासन किया। अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने के पश्चात् महाराजा जयसेन ने १०० वर्ष तक दिग्विजय करते हुए सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराई और वे चक्रवर्ती सम्राट् बने। चौदह रत्नों और ६ निधियों के स्वामी जयसेन

चक्रवर्ती हरिषेण

इक्कीसवें तीर्थंकर भ० नमिनाथ के समय में, उनकी विद्यमानता में ही इस भरतक्षेत्र के दसवें चक्रवर्ती सम्राट् हरिषेण हुए।

इसी जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के पांचाल प्रदेश के काम्पिल्यनगर में महाहरि नामक एक इक्ष्वाकुवंशीय राजा न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनकी पट्ट महिषी का नाम महिषी था। अनेक वर्षों तक ऐहिक ऐश्वर्य एवं विविध भोगों का उपभोग करते हुए महारानी महिषी ने एक रात्रि में चौदह शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने चक्रवर्ती के सभी लक्षणों से युक्त एक ओजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने उस पुत्र का नाम हरिषेण रखा। राजकुमार हरिषेण का ऐश्वर्यपूर्ण राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन किया गया। समय पर उसे उच्चकोटि के कलाचार्यों से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का शिक्षण दिलाया गया। भोगसमर्थ वय में युवराज हरिषेण का अनेक कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया गया।

३२५ वर्ष तक राजकुमार हरिषेण कुमारावस्था मे रहे। तदनन्तर महाराजा महाहरि ने अपने पुत्र हरिषेण का काम्पिल्य राज्य के राजसिंहासन पर महोत्सवपूर्वक राज्यभिषेक किया। ३२५ वर्ष तक महाराजा हरिषेण ने माण्डलिक राजा के रूप में अपनी प्रजा का न्याय-नीतिपूर्वक पालन किया। उस समय एक दिन महाराजा हरिषेण की आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। चक्ररत्न के मार्गदर्शन में महाराजा हरिषेण ने दिग्विजय का अभियान किया। १५० वर्षों तक दिग्विजय करते-करते महाराज हरिषेण ने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों की साधना की और वे चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर अभिषिक्त एवं चौदह रत्नों तथा नौ निधियो के स्वामी हुए। ८८५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर शासन किया। तदनन्तर उन्होने षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य और चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों को तृणवत् ठुकरा कर सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का परित्याग करते हुए श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। मुनि हरिषेण ने ३५० वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए विशुद्ध संयम की परिपालना की और आठो कर्मों का अन्त कर १० हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष में पधारे।

□□□

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल वर्ण वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उसका नाम शंख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीडांगण में क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर दर्दभरी पुकार की—"राजन्! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर आतंक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे वीरों की छत्रछाया में राज्य का संरक्षण नहीं हुआ तो फिर हम अन्य से तो किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते।"

यह पुकार सुनकर महाराजा श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"तात! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा? आपकी आज्ञा भर की देर है, हमें पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज ने प्रसन्न हो सैन्य सहित उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख बन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

कर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग मे उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य-प्रभाव से देव-देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव किया। महाराज समुद्रविजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया। नगर मे घर-घर मंगल-महोत्सव मनाया गया।

शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक, गौतम गोत्रीय और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी। उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ, सस्थान-आकार समचतुरस्र था और उदर मछली जैसा था[1]। उनका बल देव एवं देवपतियो से भी बढकर था।

बारहवें दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजनों एवं मित्रजनों को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले—"बालक के गर्भकाल में हम सब प्रकार के अरिष्टो से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि का दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि[2] रखा जाता है।

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे। अतः यहा पर उनके वंश परिचय में हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :—

हरिवंश की उत्पत्ति

दशवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ में[3] वत्स देश की कौशाम्बी नगरी मे सुमुह नाम का राजा था। उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वन-माला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया। पत्नी के विरह मे विलाप करता हुआ वीरक अर्द्ध विक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर मे वह बालतपस्वी हो गया। उधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगो का उपभोग करती हुई रहने लगी।

---

१ वज्जरिसह संघयणो समचउरंसो झसोयरो।   [उ. सू., अ. २२]

२ अरिष्ट अप्रशस्त तदनेन नामितं, नेमि सामान्य,
विसेसो रिट्ठरयणामई नेमी, उप्पयमाणी सुविणे पेच्छति।[आव. चूर्णि, उत्त. पृ ११]

३ सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसम्बीनयरीए, तत्थेव य वीरय कुविन्दो॥   [पउम च. उ २१ गा. २]

मार्ग मे जितारि की कन्या यशोमती का हरण कर ले जाने वाले विद्याधर मणिशेखर से कुमार ने युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। यशोमती ने कुमार की वीरता पर मुग्ध होकर सहर्ष उनका वरण किया।

जब राजकुमार शख ने पल्लीपति को बन्दी के रूप में महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और राजकुमार को सुयोग्य समझ उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त कर स्वय दीक्षित हो गये। श्रीषेण मुनि ने निर्मल भाव से साधना करते हुए घाति-कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति की।

एक बार महाराज शंख अपने परिवार सहित मुनि श्री की सेवा में वन्दना करने गये और उनकी देशना सुनकर बोले—"भगवन्! मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यों है, जिससे कि मैं चाहकर भी सयम नही ले सकता?"

केवली मुनि ने पूर्वजन्म का परिचय देते हुए कहा—"शख! तुम जब धनकुमार के भव मे थे तब यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक में भी तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे रहे। चौथे भव में महेन्द्र देवलोक में तुम दोनों मित्र थे। फिर पाचवें अपराजित के भव में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप मे थे। छट्ठे जन्म मे आरण देवलोक मे भी तुम दोनों देव हुए। यह सातवा जन्म है, जहां तुम पति-पत्नी के रूप मे हो। पूर्व भवो के दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ प्रेम चल रहा है। आगे भी एक देव का भव पूर्णकर तुम बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप से जन्म लोगे।"

श्रीषेण केवली के पास पूर्वभव की बात सुनकर महाराज शंख के मन में वैराग्य जागृत हुआ और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर बन्धु-बान्धवों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

तप-सयम के साथ अर्हत्, सिद्ध, साधु की भक्ति में उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एव समाधिभाव से आयु-पूर्णकर वे अपराजित विमान में अहमिन्द्र रूप से अनुत्तर वैमानिक देव हुए।

जन्म

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा १२ को चित्रा नक्षत्र के योग में च्युत हुआ और महाराज समुद्र विजय की धर्मशीला महारानी शिवा देवी की कुक्षि मे गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

शिवादेवी १४ शुभ-स्वप्नो के दर्शन से परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की बात जानकर बहुत प्रसन्न हुई और उचित आहार-विहार से गर्भकाल को पूर्ण

कर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य-प्रभाव से देव-देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव किया। महाराज समुद्रविजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया। नगर में घर-घर मंगल-महोत्सव मनाया गया।

शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक, गौतम गोत्रीय और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी। उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ, सस्थान-आकार समचतुरस्र था और उदर मछली जैसा था[1]। उनका बल देव एवं देवपतियों से भी बढकर था।

बारहवें दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजनों एवं मित्रजनों को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले—"बालक के गर्भकाल में हम सब प्रकार के अरिष्टो से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि का दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि[2] रखा जाता है।

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे। अतः यहां पर उनके वश परिचय में हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :—

हरिवंश की उत्पत्ति

दशवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ में[3] वत्स देश की कौशाम्बी नगरी मे सुमुह नाम का राजा था। उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वनमाला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया। पत्नी के विरह मे विलाप करता हुआ वीरक अर्द्ध विक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर मे वह बालतपस्वी हो गया। उधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगो का उपभोग करती हुई रहने लगी।

---

१ वज्जरिसह संघयणो समचउरसो झसोयरो। [उ. सू., अ. २२]

२ अरिष्ट अप्रशस्त तदनेन नामितं, नेमि सामान्य,
विसेसो रिट्ठरयणामई नेमी, उप्पयमाणी सुविणे पेच्छति। [आव. चूणि, उत्त. पृ. ११]

३ सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसम्बीनयरीए, तत्थेव य वीरय कुविन्दो॥ [पउम. च उ. २१ गा. २]

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहां वीरक को बड़ी दयनीय दशा में देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा—"ओह ! मैंने कितना बडा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुई दोनो ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनो का वही प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में किल्विषी देव हुआ और उसने अवधिज्ञान से देखा कि उसका शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि मे अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगोपभोग का सुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा—"क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूं ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हे यों तो नही मार सकता। पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुंचाया जाय जहां तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दुःख परम्परा मे फस जायं।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा—"चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अतः इन्हे वहा पहुचा दूं क्योकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है, तो फिर अधिक दिन की तो बात ही क्या है ?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड़-पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुंचा दिया और नागरिक-जनो को आकाशवाणी से कहने लगा—"तुम लोग राजा की खोज मे चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूं। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊंचाई) भी घटा कर १००

---

१ पुव्वकोडीसेसाउएसु तेसिं वेर सुमरिऊण वाससयसहस्सं विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाण रायकंखियाण हरिवरिसाओ त मिहुणं साहरइ.....कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्त ।

[वसुदेवहिंडी, खं. १, भाग २ पृ. ३५७]

धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनो मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयांसनाथ के पूर्व माना गया है।[1]

हरिवंश मे अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमे से अनेको ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आज तक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवश में असंख्य राजा हुए। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवश में हुए।

सामान्य रूप मे युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव मे जितना आयु बन्धा है उसमे घट बढ नही होती फिर भी जो व्यवहार मे यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असंख्य वर्ष का ही होता है, वे करोड़ पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार मे इसे अपवर्तन कहा जाता है।

—सम्पादक

[1] समइक्कते सीयल जिणम्मि वहुणागए य सेयंसे।
एत्यंतरम्मि जाओ हरिवंसो जह तहा सुणह ॥ [चउ म. पु च., पृष्ठ १८०]

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहा वीरक को बडी दयनीय दशा में देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा—"ओह ! मैंने कितना बडा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है ।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी । इस तरह पश्चात्ताप करते हुई दोनो ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया । सहसा बिजली गिरने से दोनो का वही प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए ।

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में किल्विषी देव हुआ और उसने अवधिज्ञान से देखा कि उसका शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि मे अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगोपभोग का सुख भोग रहा है ।

वह कुपित होकर सोचने लगा—"क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूं ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हे यों तो नही मार सकता । पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुंचाया जाय जहां तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दु.ख परम्परा मे फंस जाय ।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा—"चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अत· इन्हे वहा पहुचा दूं क्योंकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है, तो फिर अधिक दिन की तो बात ही क्या है ?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड़-पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुंचा दिया और नागरिक-जनो को आकाशवाणी से कहने लगा—"तुम लोग राजा की खोज में चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूं । तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना ।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊंचाई) भी घटा कर १००

१ पुव्वकोडीसेसाउएसु तेसिं वेर सुमरिऊण वाससयसहस्स विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाणं रायकंखियाणं हरिवरिसाओ त मिहुणं साहरइ····कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसय उच्चत्त ।

[वसुदेवहिंडी, खं १, भाग २ पृ. ३५७]

धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनों मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयासनाथ के पूर्व माना गया है।[1]

हरिवंश मे अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमे से अनेको ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आज तक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

(१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश मे असंख्य राजा हुए। बीसवे तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवंश मे हुए।

सामान्य रूप मे युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव मे जितना आयु बन्धा है उसमे घट बढ नही होती फिर भी जो व्यवहार मे यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असख्य वर्ष का ही होता है, वे करोड पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार मे इसे अपवर्तन कहा जाता है।

—सम्पादक

१ समइक्कते सीयल जिणम्मि तइयाणए य सेयसे।
एत्थंतरम्मि जाओ हरिवंसो जह तहा सुणह॥ [चउ. म. पु च, पृष्ठ १८०]

माधव इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष प्रजापति हुआ। इस दक्ष प्रजापति की रानी का नाम इला और पुत्र का नाम इल था। किसी कारणवश महारानी इला अपने पति दक्ष से रूठकर अपने पुत्र इल को साथ ले दक्ष के राज्य से बाहर चली गई और उसने ताम्रलिप्ति प्रदेश मे इलावर्द्धन नामक नगर बसाया और इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई।

राजा इल के पश्चात् इसका पुत्र पुलिन राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुलिन ने एकदा वन मे एक स्थान पर देखा कि एक हरिणी कुंडी बनाकर कुण्डलाकार मुद्रा में एक सिंह का सामना कर रही है। इसे उस क्षेत्र का प्रभाव समझकर पुलिन ने उस स्थान पर 'कुंडिणी' नगरी बसाई।

पुलिन के पश्चात् 'वरिम' नामक राजा हुआ, जिसने इन्द्रपुर नगर बसाया। इसी वंश के राजा 'संजती' ने वणवासी अथवा वाणवासी नाम की एक नगरी बसाई। इसी राजवश मे कोल्लयर नगर का अधिपति 'कुणिम' नाम का एक प्रसिद्ध राजा हुआ। फिर इसका पुत्र महेन्द्र दत्त राजा हुआ। महेन्द्र दत्त के अरिष्टनेमि और मत्स्य नामक दो पुत्र बड़े प्रतापी राजा हुए। अरिष्टनेमि ने गजपुर नामक नगर बसाया और मत्स्य ने भद्दिलपुर नगर। अरिष्टनेमि और मत्स्य के, प्रत्येक के सौ-सौ-पुत्र हुए।

इसी हरिवश के 'अयधणू' नामक एक राजा ने सोज्झ नामक नगर बसाया। इसके अनन्तर 'मूल' नामक राजा हुआ। राजा मूल के पश्चात् 'विशाल' नामक नृप हुआ जिसने 'मिथिला' नगरी को बसाया।

राजा विशाल के पश्चात् क्रमशः 'हरिषेण', 'नहषेण', 'संख', 'भद्र' और 'अभिचन्द्र' नाम के बहुत से राजा हुए। 'अभिचन्द्र' का पुत्र 'वसु' एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ जो आगे चलकर उपरिचर वसु (आकाश में अधर सिंहासन पर बैठने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपरिचर वसु

यह वसु हरिवश का एक महान् प्रतापी राजा था। उसने बाल्यावस्था मे क्षीरकदम्बक नामक उपाध्याय के पास अध्ययन किया। महर्षि नारद एवं आचार्यपुत्र पर्वत भी वसु के सहपाठी थे। ये तीनो शिष्य जिस समय उपाध्याय क्षीरकदम्बक के पास अध्ययन कर रहे थे, उस समय किसी एक अतिशय-ज्ञानी ने अपने साथी साधु से कहा कि इन तीनो विद्यार्थियों में से एक तो राजा बनेगा, दूसरा स्वर्ग का अधिकारी होगा और तीसरा नरक में जायगा।[1]

---

१ मत्थेगो अइसयनाणी, तेण इयरो भणिओ—एए तिण्णि जणा, एएसि एक्को राजा भविस्सइ, एगो नरगगामि, एगो देवलोयगामि त्ति

[वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८९–९०]

क्षीरकदम्बक ने किसी तरह यह बात सुनली और मन मे विचार किया कि वसु तो राजा बनेगा पर नारद और पर्वत, इन दोनो में से नरक में कौन जायगा, इसका निर्णय करना आवश्यक है। अपने पुत्र पर्वत और नारद की परीक्षा करने के लिये उपाध्याय ने एक कृत्रिम बकरा बनाया और उसमे लाक्षारस भर दिया। उपाध्याय द्वारा निर्मित वह बकरा वस्तुतः सजीव बकरे के समान प्रतीत होता था।

उपाध्याय ने नारद को बुलाकर कहा—"वत्स ! मैंने इस बकरे को मन्त्र-बल से स्तंभित कर दिया है। आज बहुला अष्टमी है अत: संध्या के समय, जहां कोई नही देखता हो, ऐसे स्थान पर इसे मार कर शीघ्र लौट आना।"

अपने गुरु के आदेशानुसार नारद संध्या के समय उस बकरे को लेकर निर्जन स्थान में गया और विचार किया कि यहाँ तो तारे और नक्षत्र देख रहे हैं। वह और भी घने जगल के अन्दर चला गया और वहा पर भी उसने सोचा कि यहां पर भी वनस्पतियाँ देख रही हैं जो कि सचेतन हैं। उस घने जंगल के उस निर्जन स्थान से भी नारद बकरे को लिये हुए आगे बढा और एक देवस्थान मे पहुचा। पर वहाँ पर भी उसने मन में विचार किया कि वहा पर भी देव देख रहे हैं।

नारद असमंजस मे पड गया। उसके मन मे विचार आया—"गुरु-आज्ञा यह है कि जहा कोई नही देखता हो, उस स्थान पर इसका वध करना। पर ऐसा तो कही कोई भी स्थान नही है, जहा कि कोई न कोई नही देखता हो। ऐसी दशा में यह बकरा निश्चित रूप से अवध्य है।"

अन्ततोगत्वा नारद उस बकरे को बिना मारे ही गुरु के पास लौट आया और उसने गुरु के समक्ष अपने सारे विचार प्रस्तुत किये।

गुरु ने साधुवाद के साथ कहा—"नारद ! तुमने बिल्कुल ठीक तरह से सोचा है। तुम जाओ, इस सम्बन्ध मे किसी से कुछ न कहना।"[1]

---

१ (क) वसुदेव हिण्डी, पृष्ठ १९०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने उपाध्याय द्वारा तीनों शिष्यो को पृथक्-पृथक् एक-एक कृत्रिम कुक्कुट देने का उल्लेख किया है। यथा —

समर्प्य गुरुरस्माकमेकैकं पिष्टकुक्कुटम्।
उवाचामी तत्र वध्या, यत्र कोऽपि न पश्यति ॥

[त्रिषष्टि श पु च, पर्व ७, सर्ग २, श्ला० ३९१]

नारद के चले जाने के अनन्तर उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वत को बुलाया और उसे भी वही कृत्रिम बकरा सम्हलाते हुए उसी प्रकार का आदेश दिया, जैसा कि नारद को दिया था।

बकरे को लेकर पर्वत एक जन-शून्य गली में पहुँचा। उसने वहां खड़े होकर चारो ओर देखा कि कही कोई उसे देख तो नही रहा है। जब वह आश्वस्त हो गया कि उसे उस स्थान पर कोई मनुष्य नही देख रहा है, तो उसने तत्काल उस बकरे को काट डाला। कृत्रिम बकरे की गर्दन कटते ही उसमें भरे लाक्षारस से पर्वत के वस्त्र लाल हो गये। पर्वत ने लाक्षारस को लहू समझकर वस्त्रों सहित ही स्नान किया और घर पहुँचकर यथावत् सारा विवरण अपने पिता के समक्ष कह सुनाया।

उपाध्याय क्षीरकदम्बक को अपने पुत्र की बात सुनकर अपार दुःख हुआ। उन्होने क्रुद्ध-स्वर में कहा—"ओ पापी! तूने यह क्या कर डाला? क्या तू यह नही जानता कि सम्पूर्ण ज्योतिमण्डल के देव, वनस्पतियां और अदृश्य रूप से विचरण करने वाले गुह्यक सब के कार्यों को प्रतिक्षण देखते रहते हैं? इन सबके अतिरिक्त तू स्वयं भी तो देख रहा था। इस पर भी तूने बकरे को मार डाला। तू निश्चित रूप से नरक मे जायगा। हट जा मेरे दृष्टिपथ से।"[1]

कालान्तर मे नारद अपना अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की पूजा कर अपने निवास-स्थान को लौट गया।

वसु ने गुरुकुल से विदाई लेते समय जब अपने गुरु से गुरुदक्षिणा के लिये आग्रह किया तो उपाध्याय क्षीरकदम्बक ने कहा—"वत्स! राजा बन जाने पर तुम अपने समवयस्क पर्वत के प्रति स्नेह रखना। बस, यही मेरी गुरुदक्षिणा है। मैं तुम्हारा महन्त हूँ।"

कुछ समय पश्चात् वसु चेदि देश का राजा बना। एक बार मृगया के लिये जंगल में घूमते हुए वसु ने एक मृग को निशाना बनाकर तीर चलाया, पर मृग एव तीर के बीच मे आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक पत्थर था अतः बाण राह में ही उससे टकरा कर गिर गया। पास में जाकर वसु ने जब स्फटिक पत्थर को देखा तो उसके मन मे विचार आया कि यह स्फटिक पत्थर एक राजा के लिये बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। वसु ने पास ही के वृक्षों की टहनियां

---

१ तेण भणिओ—पावकम्म ! जोइसियदेवा वणप्फतीओ य पच्छण्णचारियगुज्झया पस्संति जणचरियं, सय च पस्समाणो 'न पस्सामि' त्ति विवाडेसि छगलम, गतो सि नरग, अवसर त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र. सं, पृष्ठ १९०]

काटकर उनसे उस स्फटिक पत्थर को आच्छादित कर दिया और अपने नगर में लौटने पर प्रधानामात्य को स्फटिक पत्थर के सम्बन्ध में अवगत किया।

प्रधानामात्य ने वह स्फटिक पत्थर राजप्रासाद में मंगवा लिया और उस पर वसु का राजसिंहासन रख दिया। कहीं इस रहस्य का भण्डाफोड़ नहीं हो जाय, इस आशंका से स्फटिक पत्थर लाने वाले सब लोगों को उनकी स्त्रियों सहित प्रधानामात्य ने मरवा डाला।

स्फटिकशिला पर रखे राजसिंहासन पर बैठने के कारण वसु की ख्याति दिग्दिगन्त में फैल गई कि न्याय एवं धर्मपरायण होने के कारण वसु का राजसिंहासन आकाश में अधर रहता है और इस प्रकार वह उपरिचर वसु के नाम से लोक में प्रख्यात हो गया।

आचार्य क्षीरकदम्बक की मृत्यु के पश्चात् पर्वत उपाध्याय बना और अध्यापन का कार्य करने लगा। पर्वत अपने शिष्यों को 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेद-वाक्य का यह अर्थ बताने लगा कि 'बकरों से यज्ञ करना चाहिए।'

नारद को जब इस अनर्थ की सूचना मिली तो वह पर्वत के पास पहुँचा। पर्वत ने इस गर्व से कि वह राजा के द्वारा पूजनीय है, जन-समुदाय के समक्ष कहा—"अजा अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिए।"[1]

नारद ने पर्वत को अच्छी तरह समझाया कि वह परम्परागत पवित्र वेद-वाक्य के अर्थ का अनर्थकारी प्रलाप न करे। अज का अर्थ ऋषि-महर्षि और श्रुतियां सदा से त्रैवार्षिक यव-व्रीही बताती आ रही हैं न कि छाग।

नारद द्वारा बार-बार समझाने-बुझाने पर भी पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। ज्यों-ज्यों विवाद बढ़ता गया, त्यों-त्यों पर्वत का दुराग्रह भी बढ़ता गया। अन्त में क्रुद्ध हो पर्वत ने अपने असत्य-पक्ष पर अड़े रहकर एकत्रित विद्वानों के समक्ष यह कह दिया—"नारद! मेरा पक्ष सत्य है। यदि मेरी बात मिथ्या साबित हो जाय तो विद्वानों के समक्ष मेरी जिह्वा काट डाली जाय अन्यथा तुम्हारी जिह्वा काट ली जाय।"[2]

---

१ कयाई च महाजणमज्झे पव्वयओ 'रायपूजिओ अहं' ति गव्विओ पण्णवेति—अजा छगला तेहिं य जइयव्वं ति। [वसुदेव हिण्डी, प्रथम खं.. पृ० १९०–१९१]

२ ततो तेसिं समच्छरे विवादे वट्टमाणे पव्वयओ भणति—
जइ अहं वितहवादी ततो मे जिहच्छेदो विउसाणं पुरओ, तव वा।

[वसुदेव हिण्डी प्र. खं. पृ० १९१]

नारद ने कहा—"पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार की प्रतिज्ञा न करो। मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हू कि इस प्रकार का अनर्थ और अधर्म मत करो। हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमे अज का अर्थ नहीं उगने वाला धान्य बताया है। यह तुम भी अपने मन मे भलीभांति जानते हो। केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो, यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोको के लिये भी।"

इस पर पर्वत ने कहा—"इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नही बता रहा हू। आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हू। पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है।"

नारद ने कहा—"पर्वत ! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं। अत. 'अजैर्यष्टव्य' का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताए, उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय।"

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी।

माता ने पर्वत से कहा—"पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया। तेरे पिता द्वारा, नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयगम करने वाला माना जाता था।"

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा—"मा ! ऐसा न कहो। मैंने अच्छी तरह सूत्रो के अर्थ को समझा है। तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दू गा।"

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नही हुआ। वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ, उसके सम्बन्ध मे दोनों के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा—"तुम्हारे आचार्य से तुम लोगों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?"

उत्तर मे वसु ने कहा—"मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता है, वही हम लोगो ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है।"

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर मे निमग्न हो गई। उसने वसु से कहा—"वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है। पुत्र-वियोग मे मैं भी अपने प्राणों को धारण

नहीं कर सकूंगी । अतः अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणों का परित्याग किये देती हूं ।"

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ से पकड़ ली ।

मरणोद्यता उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये । उसी समय पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगों ने राजा वसु से कहा—"देव ! उपाध्यायिनी के वचनों को सत्य समझिये । यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे ।"

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखन्डपन्थानुयायी लोगों के कहने में आकर अवश हो वसु ने कहा—"मां ! ऐसा न करो । मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूंगा ।"

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर को लौट गई ।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलों में विभक्त हो गया । कई नारद की प्रशंसा करने लगे तो कई पर्वत की । विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा में पहुंचे । उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे अतः यही प्रतीत हो रहा था कि वे बिना किसी प्रकार के सहारे के आकाश में अधर सिंहासन पर विराजमान हैं ।

नारद और पर्वत ने क्रमशः अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हें निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनों पक्षों में से किसका पक्ष सत्य है ?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी, पर्वत की माता को दिये गये आश्वासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया—"अज अर्थात् छाग—बकरे से यज्ञ करना चाहिये ।"

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिंहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओं द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इसी तरह 'उपरिचर' वसु 'स्थलचर' वसु बन गया ।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हें देखकर पुनः वह सही निर्णय दे । पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा—"जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है ।"

अदृष्ट शक्तियों द्वारा वसु तत्काल घोर रसातल में ढकेल दिया गया। उपस्थित जनसमुदाय पर्वत को धिक्कारने लगा कि इसने वसु का सर्वनाश करवा डाला। अधर्मपूर्ण असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक के दारुण दुखो का अधिकारी बना।[1]

तत्पश्चात् नारद वहा से चले गये। पर्वत ने तत्कालीन राजा सगर के शत्रु महाकाल नामक देव की सहायता से यज्ञों मे पशुबलि का सूत्रपात किया।

महाभारत में वसु का उपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व में भी वसुदेव हिण्डी से प्राय: काफी अंशों में मिलता-जुलता महाराज वसु का उपाख्यान दिया हुआ है। चेदिराज वसु द्वारा असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण वैदिकी श्रुति 'अजैर्यष्टव्यम्' मे दिये गये 'अज' शब्द का अर्थ त्रैवार्षिक यवों के स्थान पर छाग अर्थात् बकरे प्रतिपादित किया जाकर यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात्र हुआ, इस तथ्य को जैन और वैष्णव दोनों परम्पराओं के प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते है।

प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि, राजा एवं सम्राट् अज अर्थात् त्रैवार्षिक यव, घृत एवं वन्य औषधियों से यज्ञ करते थे। उस समय के यज्ञों मे पशु-हिंसा का कोई स्थान ही नही था और यज्ञों में पशुबलि को घोरातिघोर पापपूर्ण, गर्हित एवं निन्दनीय दुष्कृत्य समझा जाता था, यह महाभारत मे उल्लिखित तुलाधार-उपाख्यान,[2]

---

१ ततो उवरिचरो वसुराया, सोत्तीभतीए पव्वय-नारद विवाते 'अजेहिं अवीजेहिं छगलेहिं वा जइयव्वं' ति पसुवधवायमलियवयणं सक्खिकज्जे देवया णिपाइयो अधरि गति गयो।

[वसुदेव हिण्डी, द्वि. खं., पृ० १५७]

२ न भूतानामहिंसाया, ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूत, जातु किंचित् कथचन॥
सोऽभय सर्वभूतेभ्य., सम्प्राप्नोति महामुने॥३०॥

[शान्ति पर्व, अ० २६२]

यदेव सुकृत हव्य, तेन तुष्यन्ति देवता:।
नमस्कारेण हविषा, स्वाध्यायैरोषधैस्तथा॥८॥

[शा० प०, अ० २६३]

पूजा स्याद् देवताना हि, यथा शास्त्रनिदर्शनम्।....९॥

[वही]

सतां वर्त्मानुवर्तन्ते, यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनौषधीश्च, फलं मूलं च ते विदु:॥२६॥

[वही]

विचख्नु-उपाख्यान[1] एवं उपरिचर राजा वसु के उपाख्यानों से स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है।

यज्ञ मे पशुबलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु को रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त मे गिरना पड़ा, इस सन्दर्भ मे महाभारत मे उल्लिखित वसु का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

"राजा वसु को घोर तपश्चर्या मे निरत देखकर इन्द्र को शका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेंगे। इस आशंका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनविहारी विमान एवं सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।"[2]

वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

"इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान में विचरण करने के कारण ये उपरिचर वसु के नाम से लोक मे विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिंसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।"

---

१ सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून् नरा ॥५॥
[शा० पर्व, अ० २६४]
....अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥
[वही]
यदि यज्ञाश्च, वृक्षाश्च, यूपाश्चोद्दिश्य मानवा'।
वृथा मास न खादन्ति, नैषधर्म. प्रशस्यते ॥८॥
[वही]
सुरा मत्स्या मधुमासमासव कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तित ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥९॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च,
विष्णुमेवाभिजानन्ति

२ राजोपरिचरो
बभूव मृगयां गन्तुं
स चेदिविषय
...

अदृष्ट शक्तियों द्वारा वसु तत्काल घोर रसातल में ढकेल दिया गया। उपस्थित जनसमुदाय पर्वत को धिक्कारने लगा कि इसने वसु का सर्वनाश करवा डाला। अधर्मपूर्ण असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक के दारुण दुखों का अधिकारी बना।[1]

तत्पश्चात् नारद वहां से चले गये। पर्वत ने तत्कालीन राजा सगर के शत्रु महाकाल नामक देव की सहायता से यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात किया।

महाभारत में वसु का उपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व में भी वसुदेव हिण्डी से प्रायः काफी अंशों में मिलता-जुलता महाराज वसु का उपाख्यान दिया हुआ है। चेदिराज वसु द्वारा असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण वैदिकी श्रुति 'अजैर्यष्टव्यम्' में दिये गये 'अज' शब्द का अर्थ त्रैवार्षिक यवों के स्थान पर छाग अर्थात् बकरे प्रतिपादित किया जाकर यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात हुआ, इस तथ्य को जैन और वैष्णव दोनों परम्पराओं के प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते हैं।

प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि, राजा एवं सम्राट् अज अर्थात् त्रैवार्षिक यव, घृत एवं वन्य औषधियों से यज्ञ करते थे। उस समय के यज्ञों में पशु-हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था और यज्ञों में पशुबलि को घोरातिघोर पापपूर्ण, गर्हित एवं निन्दनीय दुष्कृत्य समझा जाता था, यह महाभारत में उल्लिखित तुलाधार-उपाख्यान,[2]

---

१ ततो उवरिचरो वसुराया, सोसीभवीए पव्वय-नारद विवाते 'अजेहि अजीवेहि छगलेहि वा जइयव्व' ति वसुवयणायमलियवयण सक्खिकज्जे देवया णिपाइयो अधरिं गति गओ।

[वसुदेव हिण्डी, द्वि. ख., पृ० ३५७]

२ न भूतानामहिंसाया, ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूत, जातु किंचित् कथचन।।
सोऽभय सर्वभूतेभ्य., सम्प्राप्नोति महामुने ।।३०।।

[शान्ति पर्व, अ० २६२]

यदेव सुकृत हव्य, तेन तुष्यन्ति देवता।
नमस्कारेण हविषा, स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ।।८।।

[शा० प०, अ० २६३]

पूजा स्याद् देवताना हि, यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।....९।।

[वही]

सन्तो धर्मानुवर्तन्ते, यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनौषधीश्च, फल मूल च ते विदुः ।।२९।।

[वही]

विचख्नु-उपाख्यान[1] एवं उपरिचर राजा वसु के उपाख्यानों से स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है।

यज्ञ मे पशुबलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु को रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त मे गिरना पड़ा, इस सन्दर्भ मे महाभारत मे उल्लिखित वसु का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

"राजा वसु को घोर तपश्चर्या मे निरत देखकर इन्द्र को शका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेंगे। इस आशंका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनबिहारी विमान एवं सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।"[2]

वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

"इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान में विचरण करने के कारण ये उपरिचर वसु के नाम से लोक मे विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिंसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।"

---

१ सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्या पशून् नरा. ॥५॥
[शा० पर्व, अ० २६४]
····अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥६॥
[वही]
यदि यज्ञाश्च, वृक्षाश्च, यूपाश्चोद्दिश्य मानवा·।
वृथा मास न खादन्ति, नैषधर्म. प्रशस्यते ॥८॥
[वही]
सुरा मत्स्या. मधुमासमासव कृसरौदनम्।
धूर्तै. प्रवर्तित ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥९॥
[वही]
मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणा. ॥१०॥
[वही]

२ राजोपरिचरो नाम, धर्मनित्यो महीपतिः।
बभूव मृगया गन्तु, सदा किल धृतव्रतः ॥१॥
स चेदिविषय रम्य, वसु पौरवनन्दनः।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह, रमणीय महीपति ॥२॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

"अंगिरस पुत्र—बृहस्पति इनके गुरु थे। न्याय, नीति एवं धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए राजा वसु ने महान् अश्वमेध यज्ञ किया। उस अश्वमेध यज्ञ के बृहस्पति, होता तथा एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैम्य, मेधातिथि, शालिहोत्र, कपिल, वैशम्पायन, कण्व आदि १६ महर्षि सदस्य हुए। उस महान् यज्ञ में यज्ञ के लिये सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई परन्तु उसमें किसी भी पशु का वध नहीं किया गया। राजा उपरिचर वसु पूर्ण अहिंसक भाव से उस यज्ञ में स्थित हुए। वे हिंसाभाव से रहित, कामनाओं से रहित, पवित्र तथा उदारभाव से अश्वमेध यज्ञ करने में प्रवृत्त हुए। वन में उत्पन्न हुए फल मूलादि पदार्थों से ही उस यज्ञ मे देवताओं के भाग निश्चित किये गये थे।"

"भगवान् नारायण ने वसु के इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हो स्वयं उस यज्ञ में प्रकट हो महाराज वसु को दर्शन दिये और अपने लिये अर्पित पुरोडाश (यज्ञभाग) को ग्रहण किया।" यथा :—

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैवं स्थितोऽभवत् ।।१०।।
अहिंसः शुचिरक्षुद्रो, निराशीः कर्मसंस्तुतः।
आरण्यकपदोद्भूता, भागास्तत्रोपकल्पिताः ।।११।।
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्, देवदेवः पुरातनः।
साक्षात् तं दर्शयामास, सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ।।१२।।

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्र, निवसन्त तपोनिधिम्।
देवाः शक्र पुरोगा वै, राजानमुपतस्थिरे ।।३।।
इन्द्रत्वमर्हो राजाय, तपसेत्यनुचिन्त्य वै।
त सान्त्वेन नृप साक्षात्, तपस सन्यवर्तयन् ।।४।।
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्व, सखाभूतो मम प्रियः।
रम्य. पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ।।७।।
... न तेऽस्त्यविदित किंचित्, त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ।।८।।
देवोपभोग्य दिव्य त्वामाकाशे स्फाटिक महत्।
आकाशग त्वा मद्दत्त विमानमुपपत्स्यते ।।१३।।
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि, देवो विग्रहवानिव ।।१४।।
ददामि ते वैजयन्ती, मालामम्लानपंकजाम्।
धारयिष्यति सग्रामे, या त्वा शस्त्रैरविक्षतम् ।।१५।।
यष्टिं च वैष्णवीं तस्मै, ददौ वृत्रनिषूदनः।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य, शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ।।१७।।
[महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३]

स्वयं भागमुपाघ्राय, पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो, देवेन हरिमेधसा ।।१३।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६]

उस महान् अश्वमेध-यज्ञ को पूर्ण करने के पश्चात् राजा वसु बहुत काल तक प्रजा का पालन करता रहा।[1]

'अजैर्यष्टव्यम्' को लेकर विवाद

एक बार ऋषियों और देवताओं के बीच यज्ञों में दी जाने वाली आहूति के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ। देवगण ऋषियों से कहने लगे—"अजेन यष्टव्यम्' (अजैर्यष्टव्यम्) अर्थात् 'अज के द्वारा यज्ञ करना चाहिए' यह, ऐसा जो विधान है, इसमें आये हुए 'अज' शब्द का अर्थ बकरा समझना चाहिए न कि अन्य कोई पशु। निश्चित रूप से यही वास्तविक स्थिति है।"

इस पर ऋषियों ने कहा—"देवताओ! यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजों का ही नाम अज है; अतः बकरे का वध करना हमें उचित नहीं है। जहां कहीं भी यज्ञ में पशुओं का वध हो, वह सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशु का वध कैसे किया जा सकता है?"

यथा :—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं, त्रिदशानां च भारत ।।२।।
अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ।।३।।
ऋषय: ऊचुः
बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि, च्छागं नो हन्तुमर्हथ ।।४।।
नैष धर्मः सतां देवा, यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं, कथं वध्येत वै पशुः ।।५।।
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

जिस समय देवताओं और ऋषियों के बीच इस प्रकार का संवाद चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी आकाशमार्ग से विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुंच गये। उन अन्तरिक्षचारी राजा वसु को सहसा आते देख

[1] समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।..................६२ ॥
[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा—"ये नरेश हम लोगों के संदेह दूर कर देंगे। क्योंकि ये यज्ञ करने वाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतों के हितैषी एवं प्रिय हैं। ये महान् पुरुष वसु शास्त्र के विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं ?"

इस प्रकार ऋषियों और देवताओं ने एकमत हो एक साथ राजा वसु के पास जाकर अपना प्रश्न उपस्थित किया—"राजन् ! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिए ? बकरे के द्वारा अथवा अन्न द्वारा ? हमारे इस संदेह का आप निवारण करें। हम लोगों की राय में आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं।"

तब राजा वसु ने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—"विप्रवरो ! आप लोग सच-सच बताइये, आप लोगो में से किस पक्ष को कौनसा मत अभीष्ट है ? अज शब्द का अर्थ आप में से कौनसा पक्ष तो बकरा मानता है और कौनसा पक्ष अन्न ?"

वसु के प्रश्न के उत्तर में ऋषियों ने कहा—"राजन् ! हम लोगों का पक्ष यह है कि अन्न से यज्ञ करना चाहिए तथा देवताओं का पक्ष यह है कि छाग नामक पशु के द्वारा यज्ञ होना चाहिये। अब आप हमे अपना निर्णय बताइये।"[1]

वसु द्वारा हिंसापूर्ण यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश

राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेते हुए कह दिया—"अज का अर्थ है छाग (बकरा) अत: बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना चाहिए।"

---

१ महाभारतकार के स्वय के शब्दों मे यह आख्यान इस प्रकार दिया गया है :-

तेषा सवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्त देश प्राप्तवान् वसुः ॥६॥
अन्तरिक्षचरः श्रीमान्, समग्रबलवाहनः।
त दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्त वसु ते त्वन्तरिक्षगम् ॥७॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति सशयम्।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठ सर्वभूतहित प्रियः ॥८॥
कथस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्य महान् वसुः।
एव ते सविद कृत्वा, विबुधा ऋषयस्तथा ॥९॥
अपृच्छन् सहितास्येत्य, वसु राजानमन्तिकात्।
भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ॥१०॥
एतन्न- सशय छिन्धि प्रमाण नो भवान् मत·।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा, परिपप्रच्छ वै वसु ॥११॥
कस्य वै को मतः कामो, ब्रूत सत्य द्विजोत्तमा।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव, पक्षोऽस्माक नराधिप ॥१२॥
देवानातु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः। [महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

यथा :—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा, वसुना पक्षसंश्रयात् ।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।।१३।।

यह सुनकर वे सभी सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि क्रुद्ध हो उठे और विमान पर बैठकर देवपक्ष का समर्थन करने वाले वसु से बोले—"राजन् ! तुमने यह जान कर भी कि 'अज' का अर्थ अन्न है, देवताओं का पक्ष लिया है अतः तुम आकाश से नीचे गिर जाओ । आज से तुम्हारी आकाश में विचरने की शक्ति नष्ट हो जाय । हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेद कर पाताल में प्रवेश करोगे । नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रों के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप तुम पर अवश्य लागू हो और यदि हम लोग शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय ।"

ऋषियों के इतना कहते ही तत्क्षण राजा उपरिचर वसु आकाश से नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर गये ।

इस सन्दर्भ में महाभारतकार के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :—

कुपितास्ते ततः सर्वे, मुनयः सूर्यवर्चसः ।।१४।।
ऊचुर्वसुं विमानस्थं, देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते, यस्मात् तस्माद् दिवः पत ।।१५।।
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।
अस्मच्छापाभिघातेन, मही भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि ।।१६।।
(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप ।
वयं विरुद्धवचना, यदि तत्र पतामहे ।।)
ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ, राजोपरिचरस्तदा ।
अधो वै संबभूवाशु: भूमेर्विवरगो नृप ।।१७।।

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

वसु के आठ पुत्रों में से छः पुत्र क्रमशः एक के बाद एक राजसिंहासन पर बैठते ही दैवी-शक्ति द्वारा मार डाले गये, शेष दो पुत्र 'सुवसु' और 'पिहद्धय' 'शुक्तिमती' नगरी से भाग खड़े हुए । 'सुवसु' मथुरा में जा बसा । और 'पिहद्धय' का उत्तराधिकारी राजा 'सुबाहु' हुआ । सुबाहु के पश्चात् क्रमशः 'दीर्घबाहु', वज्रबाहु, अर्द्धबाहु, भानु और सुभानु नामक राजा हुए । सुभानु के पश्चात् उनके पुत्र यदु इस हरिवंश में एक महान् प्रतापी राजा हुए । यदु के वंश मे 'सौरी' और 'वीर' नाम के दो बड़े शक्तिशाली राजा हुए । महाराज सौरी ने सौरिपुर और वीर ने सौवीर नगर बसाया ।[1]

---

१ सोरिणा सोरियपुर निवेसावियं, वीरेण सोवीरं । [वसु० हि०, पृ० ३५७]

भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल

पूर्वकथित इन्ही हरिवंशीय महाराज सौरी से 'अन्धकवृष्णि' और भोग-वृष्णि, दो पराक्रमी पुत्र हुए । 'अन्धकवृष्णि' के 'समुद्रविजय', अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द और वसुदेव ये दश पुत्र थे[1] जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए ।

इनमे बड़े समुद्रविजय और छोटे वसुदेव ये दो विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एवं प्रभावशाली थे । समुद्रविजय बड़े न्यायशील, उदार एवं प्रजावत्सल राजा हुए ।[2] अपने छोटे भाई वसुदेव का लालन-पालन, रक्षण, शिक्षण एवं सगोपन इनकी देख-रेख में ही होता रहा ।

समय पाकर वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त की । सौरिपुर के एक भाग मे उनका भी राज्यशासन रहा । वसुदेव का विशेष परिचय यहा दिया जा रहा है ।

वसुदेव का पूर्वभव और बाल्यकाल

कुमार वसुदेव अत्यन्त रूपवान्, पराक्रमी और लोकप्रिय थे । पूर्वजन्म मे नन्दीषेण ब्राह्मण के भव मे माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्बीजनो ने उसे घर से निकाल दिया ।

एक माली ने उसका पालन-पोषण कर बडा किया और अपनी पुत्रियों मे से किसी एक से उसका विवाह करने का उसे आश्वासन दिया किन्तु जब तीनो पुत्रियो द्वारा वह पसन्द नही किया जाकर ठुकरा दिया गया, तो उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई ।

नन्दीषेण ने घने बीहड़ जगल मे जाकर फासी डालकर मरना चाहा । वहा किसी मुनि ने देखकर उसे आत्महत्या करने से रोका और उपदेश दिया ।

---

१ समुद्दविजयो, अक्खोहो, थिमियो, सागरो हिमवतो ।
अयलो धरणो, पूरणो, अभिचन्दो वसुदेवो त्ति ।। [वसु० हि० पृ० ३५८]

२ सोरियपुरम्मि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति ।
तस्सासि अग्गमहिसी सिवत्ति देवी अणुज्जगी ।।
तेसि पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमि तहेव रहनेमी ।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी ।।
जो सो अरिट्ठनेमि, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा ।
रहनेमी सच्चनेमी एए पत्तेयबुद्धाउ ।।
[उत्तराध्ययन नि०, गा० ४४३-४४५]

मुनि के उपदेश से विरक्त हो उसने मुनि-दीक्षा स्वीकार की एवं ज्ञान-ध्यान और तप-संयम से साधना करने लगा। कठोर तप से अपने तिरस्कृत जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि किसी भी रोगी साधु की सूचना मिलते ही पहले उसकी सेवा करेगा, फिर अन्न ग्रहण करेगा। तपस्या से उसे अनेक लब्धियां प्राप्त थी अतः रुग्ण साधुओं की सेवा के लिए उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती, वही मिल जाती थी। इस सेवा के कारण वह समस्त भरत-खण्ड में महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उसकी सेवा की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी किया करते थे। दो देवों द्वारा घृणाजनक सेवा की परीक्षा करने पर भी नन्दीषेण विचलित नहीं हुए। निस्वार्थ साधुसेवा से इन्होंने महान् पुण्य का संचय किया।

अन्त में कन्याओं द्वारा किये गये अपने तिरस्कार की बात यादकर उन्होंने निदान किया[1]—"मेरी तपस्या का फल हो तो मैं अगले मानव-जन्म में स्त्री-वल्लभ होऊं।" इसी निदान के फलस्वरूप नन्दीषेण देवलोक का भव कर अन्धकवृष्णि के यहां वसुदेव रूप से उत्पन्न हुआ।

वसुदेव का बाल्यकाल बड़ा सुखपूर्वक बीता। ज्योंही वे आठ वर्ष के हुए, कलाचार्य के पास रखे गये। विशिष्ट बुद्धि के कारण अल्प समय में ही वे गुरु के कृपापात्र बन गये।[2]

वसुदेव की सेवा में कंस

जिस समय कुमार वसुदेव का विद्याध्ययन चल रहा था, उस समय एक दिन एक रसवणिक् उनके पास एक बालक को लेकर आया और कुमार से अभ्यर्थना करने लगा—"कुमार! यह बालक कंस आपकी सेवा करेगा, इसे आप अपनी सेवा मे रखें।"

वसुदेव ने रसवणिक् की प्रार्थना स्वीकार करली और तब से कंस कुमार की सेवा मे रहने लगा और उनके साथ विद्याभ्यास करने लगा।

---

१ श्रीमद्भागवत मे जो वसुदेव और नारद का सवाद दिया हुआ है, उसमे भी पूर्वभव में निदान किये जाने की झलक मिलती है। यथा :—

अहं किल पुरानन्तं, प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय, मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥
यथा विचित्र व्यसनाद्, भवद्भिर्विश्वतो भयात्।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा, तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११ अ० २]

२ वसुदेव हिण्डी।

एक दिन जरासन्ध ने समुद्रविजय के पास दूत भेजा और कहलवाया—"सिंहपुर के उद्दण्ड राजा सिंहरथ को जो पकड़ कर मेरे पास उपस्थित करेगा, उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करूंगा और उपहार में एक नगर भी दूंगा।"

वसुदेव को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होने समुद्रविजय से प्रार्थना की—"देव! आप मुझे आज्ञा दे, मैं सिंहरथ को बांध कर आपकी सेवा मे उपस्थित करूंगा।"

समुद्रविजय ने कुमार वसुदेव के आग्रह और उत्साह को देखकर सबल सेना के साथ उन्हें युद्ध के लिये विदा किया।

वसुदेव का युद्ध-कौशल

वसुदेव का सेना सहित आगमन सुनकर सिंहरथ भी अपने दल-बल के साथ रणांगण में आ डटा। दोनो सेनाओ के बीच घमासान युद्ध हुआ। सिंहरथ के प्रचण्ड पराक्रम और तीक्ष्ण प्रहारों से वसुदेव की सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देख कर वसुदेव ने अपने सारथी कंस को आदेश दिया कि वह उनके रथ को सिंहरथ की ओर बढावे। कंस ने सिंहरथ की ओर रथ बढाया और वसुदेव ने देखते ही देखते शरवर्षा की झड़ी लगाकर सिंहरथ के सारथी और घोडो को बाणो से बींध दिया। उन्होने अपने रण-कौशल और हस्तलाघव से सिंहरथ को हतप्रभ कर दिया। कंस ने भी परशु-प्रहार से सिंहरथ के रथ के पहियो को चकनाचूर कर दिया और झपट कर सिंहरथ को बन्दी बना लिया एवं वसुदेव के रथ में ला रखा। यह देख सिंहरथ की सारी सेना भाग छूटी।

वसुदेव सिंहरथ को लेकर सोरियपुर लौट आये और समुद्रविजय के समक्ष उसे बन्दी के रूप मे उपस्थित किया।[1] किशोरवय के कुमार वसुदेव की इस वीरता से समुद्रविजय बड़े प्रसन्न हुए और उन्होने उल्लास एव उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश करवाया।[2]

कस का जीवयशा से विवाह

समुद्रविजय ने एकान्त पाकर वसुदेव से कहा—"वत्स! मैंने कोष्टुकी (नैमित्तिक) से जीवयशा के लक्षणो के सम्बन्ध मे पूछा तो ज्ञात हुआ कि जीवयशा उभय-कुलो का विनाश करने वाली है। जीवयशा से विवाह करना श्रेयस्कर प्रतीत नही होता।"

---

१ 'चउवन्न महापुरिस चरियं' मे वसुदेव द्वारा सिंहरथ को सीधा जरासघ के पास ले जाने का उल्लेख है।

२ वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने समुद्रविजय की बात शिरोधार्य करते हुए कहा—"सिंहरथ को बन्दी बनाने में कंस ने साहसपूर्ण कार्य किया है, अतः उसके पारितोषिक रूप में जीवयशा का कंस के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये।"

समुद्रविजय द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि एक उच्च कुल के राजाधिराज की कन्या एक रसवणिक् के पुत्र से कैसे व्याही जा सकेगी;—वसुदेव ने कहा—"महाराज! क्षत्रियोचित साहस को देखते हुए कंस क्षत्रिय होना चाहिए न कि रसवणिक।" वास्तविकता का पता लगाने हेतु रसवणिक् को बुलाकर पूछा गया।

रसवणिक् ने कहा—"महाराज! यह मेरा पुत्र नहीं है, मैंने तो यमुना में बहती हुई कांस्य-पेटिका से इसे प्राप्त किया है। तामसिक स्वभाव के कारण बड़ा होने पर यह बालकों को मारता-पीटता था। इसलिये इससे ऊबकर मैंने इसे कुमार की सेवा में रख दिया। कांसी की पेटी ही इसकी माँ है और इसीलिए इसका नाम कंस रखा गया है। इसके साथ पेटी में यह नामांकित मुद्रिका भी प्राप्त हुई थी, जो सेवा में प्रस्तुत है।"

मुद्रिका पर महाराज उग्रसेन का नाम देखकर समुद्रविजय को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सिंहरथ और कंस को लेकर जरासंध के पास पहुंचे और बन्दी सिंहरथ को जरासंध के समक्ष उपस्थित करते हुए उन्होंने कंस के पराक्रम की प्रशंसा की और बताया कि यह कंस महाराज उग्रसेन का पुत्र है। यह सब सुनकर जरासंध बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवयशा का कंस के साथ विवाह कर दिया।

अपने पिता द्वारा नदी में बहा दिये जाने की बात सुन कंस पहले ही अपने पिता से बदला लेने पर तुला हुआ था। जरासंध का जामाता बनते ही उसने जरासंध से मथुरा का राज्य मांग लिया और मथुरा में आकर हठात् उग्रसेन को कारागृह में डालकर वह मथुरा का राज्य करने लगा।[1]

वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व

युवावस्था प्राप्त करते ही वसुदेव श्वेत परिधान पहने जातिमान् चंचल अश्व पर आरूढ़ हो एक उपवन से दूसरे उपवन में, इस वन से उस वन में प्रकृति की छटा का आनन्द लूटने लगे। नयनाभिराम वसुदेव को राजपथ से आते-जाते देखकर नागरिक जन उनके अलौकिक सौन्दर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते और महिलाएं तो उनकी कमनीय कान्ति पर मुग्ध हो उन्हें एकटक निहारती हुई मन्त्र-मुग्ध हरिणियों की तरह सुध-बुध भूले उनके पीछे-पीछे चलने लगतीं। इस प्रकार हँसी-खुशी के साथ उनका समय बीतने लगा।

---

1 वसुदेव हिण्डी।

एक दिन वसुदेव उपवनों से घूमकर राजप्रासाद में लौटे ही थे कि समुद्रविजय ने उन्हें बड़े दुलार से कहा—"कुमार! तुम इस प्रकार दिन में बाहर मत घूमा करो, तुम्हारा सुकुमार मुख धूलिधूसरित और कुम्हलाया सा दिख रहा है। घर में ही रहकर सीखी हुई कलाओं का अभ्यास किया करो—कहीं तुम उन कलाओं को भूल न जाओ।"

वसुदेव ने सहज विनयभाव से कहा—"ऐसा ही करूंगा महाराज!" और उस दिन से वसुदेव राजप्रासाद मे ही रहने लगे।

एक दिन समुद्रविजय के लिए विलेपन तैयार करती हुई कुब्जा दासी से वसुदेव ने पूछा—"यह उबटन किसके लिये तैयार कर रही हो?"

दासी का छोटा सा उत्तर था—"महाराज के लिए।"

"क्या यह मेरे लिये नहीं है?"

वसुदेव के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दासी ने कहा—"कुमार आपने अपराध किया है, अतः महाराज आपको उत्तम वस्त्राभूषण विलेपनादि नही देते।"

जब वसुदेव ने दासी द्वारा मना किये जाने पर भी बलात् विलेपन ले लिया तो दासी ने तुनक कर कहा—"इस प्रकार के आचरणो के कारण ही तो राजप्रासादों में अवरुद्ध किये गये हो, फिर भी अविनय से बाज नही आते।"

वसुदेव ने चौकन्ने होकर आग्रहपूर्वक दासी से पूछा—"अरी! कौनसा अपराध हो गया है, जिससे कि महाराज ने मुझे प्रासाद में ही रोक रखा है?"[1]

दासी ने कहा कि इस रहस्य के उद्घाटन से उसे राजा समुद्रविजय द्वारा दण्डित होने का डर है। वसुदेव ने प्रेमपूर्ण संभाषण से दासी को आखिर प्रसन्न कर लिया और उसने वसुदेव से कहा—"सुनिये कुमार! एक बार आपकी अनुपस्थिति में नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने महाराज के सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया कि शरद् पूर्णिमा के चन्द्र के समान मानव-मात्र के नयनों को आह्लादित करने वाले, विशुद्ध-निर्मल चरित्रवान् छोटे राजकुमार नगर में जिस किसी स्थान से निकलते हैं, तो वहाँ का नवयुवति-वर्ग कुमार के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उनके पीछे-पीछे मन्त्रमुग्धा हिरणियों के झुण्ड की तरह परिभ्रमण करता रहता है। कुमार अब इस पथ से निकलेंगे, इसे

१ वसुदेव हिण्डी।

आशा में नगर की युवतियां सूर्योदय से पूर्व ही वातायनों, गवाक्षों, जाली-झरोखों और गृह-द्वारों पर आ डटती हैं और यह कहती हुई कि "जब कुमार यहां से निकलेंगे तो उन्हें देखेंगी" सारा दिन चित्रलिखित पुतलियों की तरह वहीं बैठी-बैठी बिता देती हैं तथा रात्रि में निद्रावस्था में भी बार-बार चौंक-चौंक कर बड़बड़ाती हैं—अरे ! यह रहे वसुदेव, देखो-देखो ! यही तो हैं वसुदेव।"

रमणियां शाक, पत्र, फलादि खरीदने आती हैं तो वहां भी उनका यही ध्यान रहता है, कहती हैं—"ला वसुदेव दे-दे।" बच्चे जब क्रन्दन करते हैं तो कुमार के आगमन-पथ पर दृष्टि डाले युवतियां बच्चों को गाय के बछड़े समझ-कर रस्सियों से बांध देती हैं। इस प्रकार प्राय: सभी नगर-वधुएं उन्माद की अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं, गृहस्थी का सारा कामकाज चौपट हो चुका है, देव और अतिथि-पूजन का प्रमुख गृहस्थाचार शिथिल हो नष्टप्राय: हो चुका है। अत: देव ! कृपा कर ऐसा प्रबन्ध कीजिये कि कुमार बार-बार नगर में नहीं आयें।"

इस पर महाराज समुद्रविजय ने उन लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग विश्वस्त रहें, मैं कुमार को ऐसा करने से रोक दूंगा।" जो परिजन वहां उपस्थित थे, उन्हें महाराज ने निर्देश दिया कि इस सम्बन्ध में कुमार से कोई कुछ भी नहीं कहे।

दासी के मुंह से यह सब सुनकर वसुदेव बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि अब उनका यहां रहना श्रेयस्कर नहीं है। उन्होंने अपना स्वर और वेश बदलने की गोलियां तैयार कीं और सन्ध्या-समय वल्लभ नामक दास के साथ नगर के बाहर चले आये। श्मशान में एक शव को पड़ा देखकर वसुदेव ने अपने दास वल्लभ से कहा—"लकड़ियां लाकर चिता तैयार कर।"[1]

सेवक ने चिता तैयार कर दी। वसुदेव ने सेवक से फिर कहा—"अरे ! जा मेरे शयनागार से मेरा रत्नकरण्डक ले आ, द्रव्य का दान कर मैं अग्नि-प्रवेश करता हूं।" वल्लभ ने कहा—"स्वामिन् ! यदि आपने यही निश्चय किया है तो आपके साथ मैं भी अग्नि-प्रवेश करूंगा।"

वसुदेव ने कहा—"जैसे तुझे अच्छा लगे वही करना, पर खबरदार इस रहस्य का भेद किसी को मत देना। रत्नकरण्डक लेकर शीघ्र लौट आ।"

"अभी लाया महाराज !" यह कहकर वल्लभ शीघ्रता से नगर की ओर दौड़ा।

---

1 वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर दी और श्मशान मे पडी एक अधजली लकडी से माता और गुरुजनो से क्षमा मांगते हुए यह लिख दिया—"विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिको ने दोष लगाया, इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग मे जला डाला।"

पत्र को श्मशान में एक खम्भे से बांध कर वसुदेव त्वरित गति से वहां से चल पड़े। बड़ी लम्बी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाडी मे बैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा—"ओह! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाड़ी में बैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।"

वृद्ध ने गाड़ी में बैठने का आग्रह किया। गाड़ी में बैठे हुए सब की निगाहों से छुपकर जा सकूंगा, यह सोचकर वसुदेव गाडी में बैठ गए। सुगाम नामक नगर में पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन में उस गांव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हें नगर से आए हुए लोगों द्वारा यह कहते हुए सुना—"आज नगर में एक बड़ी दु.खद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर करुण क्रन्दन करता हुआ नगर में दौड आया। लोगो द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता में जलकर प्राणत्याग कर दिया।[1] इतना सुनते ही नगर मे सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार व्याप्त हो गया।

नागरिकों के रुदन को सुनकर नौ हृ [illegible] पहुंचे और वहा कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को [illegible] चिता को घृत और मधु से सींचा; चन्दन, [illegible] से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर [illegible] ने घर को लौट गये।

यह सब [illegible] को चिन्ता [illegible]
गया—"यह [illegible] कितना [illegible]
आत्मीयजनों [illegible] कि [illegible]

1 वसुदेव हिण्डी

नही करेंगे, अब मुझे निःशक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए।"

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहाँ से प्रस्थान किया और वैताढ्य गिरि की उपत्यकाओ में बसे विभिन्न नगरों और अनेक देशो में पर्यटन किया। वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल में अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदों और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया। वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेक बड़े-बड़े राजाओ ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओ का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओ से उन्हे सम्मानित किया।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर मे पहुँचे। वहा उन्हें ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज 'रुधिर' की अनुपम रूपगुणसम्पन्ना राजकुमारी 'रोहिणी' के स्वयंवर मे जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कस आदि अनेक बड़े-बड़े अवनिपति आये हुए हैं, तो वसुदेव भी पणव-वाद्य हाथ में लिये स्वयवर-मण्डप मे पहुँचे और एक मंच पर जा बैठे।[1]

परिचारिकाओ से घिरी हुई राजकुमारी 'रोहिणी' ने वरमाला हाथ में लेकर ज्योंही स्वयवर-मण्डप में प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौंध हो चित्रलिखित सा रह गया। यह त्रैलोक्य सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी, इस आशका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियो मे रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुँच चुका था।

जिन राजाओ के सामने रोहिणी अपने हाथो में ली हुई वरमाला को बिना हिलाये ही आगे बढ गई उन राजाओ के मुख राहु-ग्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये। वसुदेव ने अपने पणव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर बढ गई और उनकी ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकरण चढ़ाकर रनिवास मे चली गई।

मण्डप में इससे हलचल मच गई। सब राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—"किसको वरण किया ?" उत्तर में अनेक स्वर गूंज रहे थे—"एक गायक को।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर दी और श्मशान मे पड़ी एक अधजली लकड़ी से माता और गुरुजनो से क्षमा मांगते हुए यह लिख दिया—"विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिको ने दोष लगाया, इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग मे जला डाला।"

पत्र को श्मशान मे एक खम्भे से बाँध कर वसुदेव त्वरित गति से वहां से चल पड़े। बड़ी लम्बी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाड़ी मे बैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा—"ओह! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाड़ी में बैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।"

वृद्ध ने गाड़ी में बैठने का आग्रह किया। गाड़ी में बैठे हुए सब की निगाहों से छुपकर जा सकूंगा, यह सोचकर वसुदेव गाड़ी में बैठ गए। सुग्राम नामक नगर में पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन में उस गांव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हें नगर से आए हुए लोगों द्वारा यह कहते हुए सुना—"आज नगर में एक बड़ी दुःखद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर करुण क्रन्दन करता हुआ नगर में दौड़ आया। लोगो द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता में जलकर प्राणत्याग कर दिया।[1] इतना सुनते ही नगर मे सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार व्याप्त हो गया।

नागरिकों के रुदन को सुनकर नौ ही भाई तत्काल श्मशान में पहुचे और वहां कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को पढ़कर शोक से रोते-रोते उन्होने चिता को घृत और मधु से सींचा; चन्दन, अगर और देवदारु की लकड़ियों से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर प्रेतकार्य सम्पन्न कर वे सब अपने घर को लौट गये।

यह सब सुन कर वसुदेव को चिन्ता हुई। इनके मुंह से अनायास निकल गया—"यह सासारिक बन्धन कितना गूढ और रहस्यपूर्ण है, चलो, मेरे आत्मीयजनों को विश्वास हो गया कि वसुदेव मर गया। अब वे मेरी कोई खोज

1 वसुदेव हिण्डी।

नहीं करेंगे, अब मुझे निःशंक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए।"

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहाँ से प्रस्थान किया और वैताढ्य गिरि की उपत्यकाओं में बसे विभिन्न नगरों और अनेक देशों में पर्यटन किया। वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल में अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदों और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया। वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेक बड़े-बड़े राजाओं ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओं का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओं से उन्हें सम्मानित किया।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर में पहुँचे। वहां उन्हें ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज 'रुधिर' की अनुपम रूपगुणसम्पन्ना राजकुमारी 'रोहिणी' के स्वयंवर में जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कंस आदि अनेक बड़े-बड़े अवनिपति आये हुए हैं, तो वसुदेव भी पणव-वाद्य हाथ में लिये स्वयंवर-मण्डप में पहुँचे और एक मंच पर जा बैठे।[1]

परिचारिकाओं से घिरी हुई राजकुमारी 'रोहिणी' ने वरमाला हाथ में लेकर ज्योंही स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौंध हो चित्रलिखित सा रह गया। यह त्रैलोक्य सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी, इस आशंका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियों में रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुँच चुका था।

जिन राजाओं के सामने रोहिणी अपने हाथों में ली हुई वरमाला को बिना हिलाये ही आगे बढ़ गई उन राजाओं के मुख राहु-ग्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये। वसुदेव ने अपने पणव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर बढ़ गई और उनकी ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकण चढ़ाकर रनिवास में चली गई।

मण्डप में इससे हलचल मच गई। सब राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—"किसको वरण किया ?" उत्तर में अनेक स्वर गूंज रहे थे—"एक गायक को।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

राजाओं का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्र ने गरजते हुए कोशलाधीश को कहा—"तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन बड़े-बड़े क्षत्रिय राजाओं को क्यों आमन्त्रित किया गया ? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नहीं करेगा।"

कोशलपति ने कहा—"स्वयंवर में कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा, उसे अपना पति बना लिया। अब परदारा की आकांक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है ?"

दन्तवक्र ने कहा—"तुमने अपनी कन्या को स्वयंवर में दिया है, यह ठीक है, पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं होना चाहिये। अतः तुम्हारी कन्या इस वर को छोड़कर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"[1]

वसुदेव ने दन्तवक्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"दन्तवक्र ! जैसा तुम्हारा नाम टेढ़ा है वैसी ही टेढ़ी तुम बात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियों के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ में पणव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नहीं हूं ?"

इस पर दमघोष ने कहा—"अज्ञातवंश वाले को कन्या किसी भी दशा में नहीं दी जा सकती। अतः राजकुमारी इसे छोड़कर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।'

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वंश के सम्बन्ध में पूछ लिया जाय, वसुदेव ने कहा— 'क्योंकि सब विवाद में लगे हुए हैं, अतः कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है, अब तो मेरा बाहुबल ही मेरे कुल का परिचय देगा।"

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर में कहा—"पकड़ लो राजा रुधिर को।"

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्बर में एकत्रित सब राजाओं ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिंजयपुर के विद्याधर-राजा 'दधिमुख' के रथ में आरूढ़ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बड़े विस्मित हुए और कहने लगे "ओह ! कितना इसका साहस है जो सब राजाओं के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

सब राजाओ को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराजा पाण्डु ने कहा—"यह क्षत्रियों का धर्म नहीं है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करे।"

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासंध ने भी निर्णायक स्वर मे कहा—"हाँ, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा रोहिणी उसी की पत्नी होगी।"

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुञ्जय, दन्तवक्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओं को अपने अद्भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओ को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा—"आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियों की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करें।"

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढे। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नहीं किया।[1] इस पर समुद्रविजय कुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामांकित बाण उनके चरणों मे प्रेषित किया। वसुदेव के नामाकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बड़े भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणों में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश में आबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि शेष आठ भाई और महाराजा पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा मे आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरों को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पड़ा। कंस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर में कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त में विदा

---

१ वसुदेव हिण्डी।

राजाओ का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्र ने गरजते हुए कोशलाधीश को कहा—"तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन बडे-बडे क्षत्रिय राजाओ को क्यो आमन्त्रित किया गया ? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नही करेगा।"

कोशलपति ने कहा—"स्वयवर मे कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा, उसे अपना पति बना लिया। अब परदारा की आकाक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है ?"

दन्तवक्र ने कहा—"तुमने अपनी कन्या को स्वयवर मे दिया है, यह ठीक है पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नही होना चाहिये। अत. तुम्हारी कन्या इस वर को छोडकर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"[1]

वसुदेव ने दन्तवक्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"दन्तवक्र ! जैसा तुम्हारा नाम टेढा है वैसी ही टेढी तुम बात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियो के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ मे पणव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नही हू ?"

इस पर दमघोष ने कहा—"अज्ञातवंश वाले को कन्या किसी भी दशा में नही दी जा सकती। अत राजकुमारी इसे छोडकर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।'

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वश के सम्बन्ध मे पूछ लिया जाय; वसुदेव ने कहा—'क्योकि सब विवाद मे लगे हुए है, अत कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नही है, अब तो मेरा बाहुबल ही मेरे कुल का परिचय देगा।"

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर मे कहा—"पकड़ लो राजा रुधिर को।"

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्बर में एकत्रित सब राजाओ ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण सग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिंजयपुर के विद्याधर-राजा 'दधिमुख' के रथ मे आरूढ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बडे विस्मित हुए और कहने लगे "ओह ! कितना इसका साहस है जो सब राजाओ के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।"

---

१ वसुदेव हिण्डी।

सब राजाओं को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराजा पाण्डु ने कहा—"यह क्षत्रियों का धर्म नहीं है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करें।"

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासंध ने भी निर्णायक स्वर मे कहा—"हां, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा रोहिणी उसी की पत्नी होगी।"

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुञ्जय, दन्तवक्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओं को अपने अद्भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओं को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा—"आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियों की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करें।"

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नहीं किया।[१] इस पर समुद्रविजय कुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामांकित बाण उनके चरणों मे प्रेषित किया। वसुदेव के नामांकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बड़े भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणों में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश में आबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि शेष आठ भाई और महाराजा पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कंस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा मे आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरों को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पड़ा। कंस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर मे कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त में विदा

---

१ वसुदेव हिण्डी।

होते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव से कहा—"कुमार ! तुम बहुत घूम चुके हो, अब सब कुलवधुओ को साथ लेकर शीघ्र ही घर आ जाना ।"

कस ने भी विदा होते समय वसुदेव से कहा—"देव सूरसेण राज्य आपका ही है, मैं वहा आप द्वारा रक्षित-मात्र हूँ ।"

वसुदेव और रोहिणी बड़े आनन्द के साथ अरिष्टपुर मे रहे । वहा रहते हुए रोहिणी ने एक रात्रि मे चार शुभ-स्वप्न देखे और समय पर चन्द्रमा के समान गौरवर्ण पुत्र को जन्म दिया । रोहिणी के इस पुत्र का नाम बलराम रखा गया ।

तदनन्तर कुछ समय अरिष्टपुर में रहने के पश्चात् वसुदेव ने अपनी सामली, नीलयशा, मदनवेगा, प्रभावती, विजयसेना, गन्धर्वदत्ता, सोमश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पोडा, रत्तवती, प्रियगुसुंदरी, बन्धुमती. प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी—इन रानियों के साथ चलकर सोरियपुर आ पहुँचे ।

कुछ समय पश्चात् कंस वसुदेव के पास आया और बड़े ही अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना कर उन्हें सपरिवार मथुरा ले गया । वसुदेव भी मथुरा के राज-प्रासादो मे बड़े आनन्द के साथ रहने लगे ।[1]

वसुदेव-देवकी विवाह और कंस को वचन-दान

एक दिन कंस के आग्रह से महाराज वसुदेव देवक राजा की पुत्री देवकी को वरण करने के लिए मृत्तिकावती नगरी की ओर चले । । बीच मे ही उन्हे नेम-नारद मिले । वसुदेव ने उनसे देवकी के बारे मे पूछा तो नारद ने उसके रूप, गुण और शील की बड़ी प्रशंसा की । यह सुनकर वसुदेव ने नेम-नारद से कहा—"आर्य ! जैसा देवकी का वर्णन आपने मेरे सामने किया है, वैसे ही देवकी के सामने मेरा परिचय भी रखना ।"

"एवमस्तु" कह कर नारद वहा से राजा देवक के यहा गये और देवकी के सामने वसुदेव के रूप, गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

वसुदेव कंस के साथ मृत्तिकावती पहुँचे और कंस द्वारा वसुदेव के गुण-वर्णन से प्रभावित होकर देवक ने शुभ दिन में वसुदेव के साथ देवकी का विवाह कर दिया ।[2]

वसुदेव के सम्मान में देवक ने बहुत सा धन, दास, दासी और कोटि गायों का गोकुल, जो कि नन्द को प्रिय था, कन्यादान-दहेज के रूप में अर्पित

---

१ वसुदेव हिण्डी ।

२ कंसेण तस्स दिन्ना, पित्तिय धूया य देवकी आसी । [च० म० पु० च० पृ० १८३]

किया। बड़ी ऋद्धि के साथ देवकी को लेकर वसुदेव वहाँ से चलकर मथुरा पहुँचे। कंस भी उस मंगल-महोत्सव में वसुदेव के साथ मथुरा पहुँचा और विनयपूर्वक वसुदेव से बोला—"देव! इस खुशी के अवसर पर मुझे भी मुँह-मांगा उपहार दीजिये"

वसुदेव के 'हां' कहने पर हर्षित हो कंस ने देवकी के सात गर्भ मांगे। मैत्री के वश सहज भाव से बिना किसी अनिष्ट की आशंका के वसुदेव ने कंस की बातें मानली।

कंस के चले जाने पर वसुदेव को मालूम हुआ कि अतिमुक्तक कुमार श्रमण ने कंस-पत्नी जीवयशा द्वारा उन्हें देवकी का आनन्दवस्त्र दिखाकर उपहास किये जाने पर[1] क्रुद्ध हो कर कहा था—"जिस पर प्रसन्न हो तू नाचती है, उस देवकी का सातवां पुत्र तेरे पति और पिता का घातक होगा।"

कंस ने श्रमण के इसी शाप से भयभीत हो कर उक्त वरदान की याचना की है। वसुदेव ने मन ही मन विचार किया—"क्षत्रिय कभी अपने वचन से पीछे नहीं लौटते। मैंने शुद्ध मन से जब एक बार कंस को गर्भदान का वचन दे दिया है तो फिर इस वचन का निर्वाह करना ही होगा, भले ही इसके लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े।[2]

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमशः छः बार गर्भ धारण किये पर प्रसव-काल में ही देवकी के छः पुत्र सुलसा गाथापत्नी के यहां तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहां हरिणैगमेषी देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये। वे ही छः पुत्र वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपे और कंस ने उन्हें मृत समझकर फेंक दिया।

सातवीं बार जब देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात महाशुभ-स्वप्न देख कर वह जागृत हुई और वसुदेव को स्वप्नों का विवरण कह सुनाया। वसुदेव ने स्वप्नफल सुनाते हुए कहा—"देवि! तुम एक महान् भाग्यशाली पुत्र को जन्म दोगी। यही तुम्हारा सातवां पुत्र अइमुत्त श्रमण के वचनानुसार कंस और जरासंध का विघातक होगा।"

---

१ (क) आनन्दवस्त्रमेतत्ते, देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम् ॥

[हरिवंश पु० स० ३० श्लोक ३१]

(ख) जीवजसाए हसिउं, अइमुत्त मुणी य भसाए ॥५३॥
तेणय कोवावूरियं, हियएण मुणिवरेण सा सत्ता।
जो देवतीय गब्भो, सो तुह पइणो विणासाय ॥५४॥

[च० म० पु० पृष्ठ १८१]

२ वसुदेव हिण्डी।

देवकी स्वप्नफल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और वसुदेव से एकान्त मे बोली—"देव ! कृपा कर इस सातवें गर्भ की रक्षा करना, इसमे जो वचन-भग का पाप होगा वह मुझे हो, पर एक पुत्र तो मेरा जीवित रहना ही चाहिए।"

वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया । नव मास पूर्ण होने पर देवकी ने कमलदलसम श्याम कान्ति वाले महान् तेजस्वी बालक को जन्म दिया ।

प्रसवकाल मे देवकी की सतान का स्थानान्तरण न हो, इस शका से कस ने पहरेदार नियुक्त कर रखे थे । पर पुण्य प्रभाव से देवकी ने जब पूर्ण काल मे तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया, उस समय दिव्य प्रभाव से पहरेदार निद्राधीन हो गये । शात कर्म होने पर वसुदेव जब बालक को गोकुल की ओर ले जाने लगे, उस समय मन्द-मन्द वर्षा होने लगी । देवता ने अदृश्य छत्र धारण किया और दोनो ओर दो दिव्य ज्योतियाँ जगमगाती हुई साथ-साथ चलने लगी ।

वसुदेव निर्बाध गति से अँधेरी रात मे कृष्ण को लिए चल पडे और यमुना नदी को सरलता से पार कर व्रज पहुँचे । वहाँ नन्द गोप की पत्नी यशोदा ने उसी समय एक बालिका को जन्म दिया था । यशोदा को बालक अर्पित किया और बालिका को लेकर वसुदेव तत्काल अपने भवन मे लौट आये तथा देवकी के पास कन्या को रख कर शीघ्र अपने शयनागार मे चले गये । कंस की दासिया जागृत हुईं और सद्य.जाता उस बालिका को लेकर कस की सेवा मे उपस्थित हुईं । कंस भी अपना भय टला समझ कर प्रसन्न हुआ ।[1]

कंस को देवकी की सतान के हाथो अपनी मृत्यु होने का भय था अत: वह नहीं चाहता था कि देवकी की कोई सतान जीवित बची रहे ।

इसी कारण श्रीकृष्ण की सुरक्षा हेतु उनका लालन-पालन गोकुल मे किया गया । बालक कृष्ण के अनेक अद्भुत शौर्य और साहसपूर्ण कार्यों की कहानी कस ने सुनी तो उस को सदेह हो गया कि कही यही बालक बडा होने पर उसका प्राणान्त न कर दे, अत उसने बालक कृष्ण को मरवा डालने के लिये अनेक षड्यन्त्र किये ।

कंस ने अपने अनेक विश्वस्त मायावी मित्रो एवं सहायको को छद्म वेष मे गोकुल भेजा । बालक कृष्ण को मार डालने के लिए अनेक बार छल-प्रपच पूर्ण प्रयास किये गये, पर हर बार श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने वाले वे मायावी ही बलराम और कृष्ण द्वारा मार डाले गये ।

अन्त मे कस ने मथुरा मे अपने राजप्रासाद मे मल्लयुद्ध का आयोजन किया और कृष्ण एव बलराम को मारने के लिए मदोन्मत्त दो हाथियो व चाणूर

१ वसुदेव हिण्डी के आधार पर ।

तथा मुष्टिक नामक दो दुर्दान्त मल्लों को तैनात किया। पर कृष्ण और बलराम ने उन दोनों मल्लों और मत्त हाथियों को मौत के घाट उतार दिया।

अपने षड्यन्त्र को विफल हुआ देखकर कंस बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने योद्धाओं को आदेश दिया कि वे कृष्ण और बलराम को तत्काल मार डालें। तत्क्षण कंस के अनेक सैनिक कृष्ण और बलराम पर टूट पड़े। महाबली बलराम कंस के सैनिकों का संहार करने लगे और कृष्ण ने क्रुद्ध शार्दूल की तरह छलांग भर कंस को राजसिंहासन से पृथ्वी पर पटक कर पछाड़ डाला।

इस प्रकार कृष्ण ने कंस का वध कर डाला जिससे कि कंस के अत्याचारों से त्रस्त प्रजा ने सुख की सांस ली।

कंस के वध से जरासंध का प्रकोप

कंस के मारे जाने पर महाराज समुद्रविजय ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर अपने भाइयों तथा बलराम एवं कृष्ण के परामर्श से उन्हें मथुरा के राजसिंहासन पर बिठाया। उग्रसेन ने भी अपनी पुत्री सत्यभामा का श्रीकृष्ण के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह कर दिया।

अपने पति कंस की मृत्यु से क्रुद्ध हो जीवयशा यह कहती हुई राजगृह (कुसुमपुर)[1] की ओर प्रस्थान कर गयी कि बलराम कृष्ण और दशार्हों का सतति सहित सर्वनाश करके ही वह शान्त बैठेगी, अन्यथा अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

जीवयशा ने राजगृह पहुंचकर रोते-रोते, अपने पिता जरासंध को मुनि अतिमुक्तक की भविष्यवाणी से लेकर कृष्ण द्वारा कंसवध तक का सारा विवरण कह सुनाया।

जरासंध सारा वृत्तान्त सुनकर अपनी पुत्री के वैधव्य से बड़ा दुःखित हुआ। उसने जीवयशा को आश्वस्त करते हुए कहा—"पुत्री! तू मत रो। अब तो सब ही यादवों की स्त्रियाँ रोवेंगी। मैं यादवों को मारकर पृथ्वी को यादव-विहीन कर दूंगा।"

कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश

अपनी पुत्री को आश्वस्त कर जरासंध ने अपने पुत्र एवं सेनापति कालकुमार को आदेश दिया कि वह पाँच सौ राजाओं और एक प्रबल एवं विशाल सेना के साथ जाकर समस्त यादवों को मौत के घाट उतार दे।

---

1 'चउप्पन्न महापुरिस चरियं' में कुसुमपुर को जरासंध की राजधानी बताया गया है। यथा :
कुसुमपुरे णयरे जरासंधो महाबलपरक्कमो राया। [पृ० १८१]

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की—"देव ! यादव लोग जहाँ भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूंगा। अगर वे मेरे भय से अग्नि मे भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहां भी उनका पीछा करूंगा।"

जब यादवो को अपने गुप्तचरो से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डी दल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ रहा है, तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवो को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्र-विजय और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवो का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढने लगी और थोडे ही समय मे विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुच गयी जहा से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवो ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खडा कर दिया और उसमे अगणित चितायें जला दीं।

कालकुमार ने उस उत्तु ग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहाँ अगणित चितायें धाँय-धाँय करती हुई जल रही हैं तथा एक बड़ी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस बुढिया से पूछा—"वृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यो रो रही हो ?"

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया—"देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जब उन्हे यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिए उनके पीछे—पवनवेग से बढता हुआ आ रहा है, तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होने यहा चिताए जला ली और सबने धधकती चिताओ मे प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया है। दशो ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओं में जल मरे है। अत अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूं।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पडी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओ से कहा—"मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग मे

प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग मे से भी मैं उन्हें बाहर खीच-खीचकर मारूंगा । सब यादव मेरे डर से आग मे कूद पडे है, तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग मे कूदूंगा और एक-एक यादव को आग मे से घसीट-घसीटकर मारूंगा ।"

यह कहकर कालकुमार हाथ मे नगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश मे परिणाम की चिंता किये बिना चिता की धधकती आग मे प्रवेश कर गया और अपने बधु-बांधवो एव सैनिको के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया ।

जरासंध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी ।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवो को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढने लगे । उन्होने सौराष्ट्र प्रदेश मे रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला ।

वहाँ सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रो को जन्म दिया एव कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया ।

तृतीय रात्रि मे सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शख, बलराम को सुघोष नामक शख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट मे दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है ?

श्रीकृष्ण ने कहा—"पहले के अर्द्धचक्रियो की द्वारिका नगरी को आपने अपने अक मे छिपा लिया है । अब कृपा कर वह मुझे फिर दीजिए ।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया । शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र मे ही निर्माण कर दिया । अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादो, सुन्दर वापी-कूप-तड़ागों, रमणीय उद्यानों एवं विस्तीर्ण राजपथो से सुशोभित दृढ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरो वाली द्वारिकापुरी मे यादवो ने शुभ-मुहूर्त्त मे प्रवेश किया और वे वहाँ महान् समृद्धियो का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे ।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व में शैलराज रैवत, दक्षिण मे माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर मे गन्धमादन पर्वत था ।[1] इस तरह चारों ओर से

---

[1] तस्या पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत् माल्यवान् ।
सोमनसाऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्या गन्धमादन ॥४१८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की—"देव ! यादव लोग जहाँ भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूंगा। अगर वे मेरे भय से अग्नि मे भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहां भी उनका पीछा करूंगा।"

जब यादवो को अपने गुप्तचरो से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डी दल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ रहा है, तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवों को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्र-विजय और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढने लगी और थोड़े ही समय में विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुच गयी जहा से थोडी ही दूरी पर समस्त यादवो ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खडा कर दिया और उसमे अगणित चिताये जला दी।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहाँ अगणित चिताये धाँय-धाँय करती हुई जल रही हैं तथा एक बडी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस बुढ़िया से पूछा—"वृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यो रो रही हो ?"

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया—"देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासंध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिए उनके पीछे—पवनवेग से बढता हुआ आ रहा है, तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होने यहा चिताएं जला ली और सबने धधकती चिताओ मे प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया है। दशो ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओ मे जल मरे हैं। अत: अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूं।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पडी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओ से कहा—"मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग मे

प्रविष्ट हो जायेगे तो उनका पीछा करते हुए आग मे से भी मैं उन्हे बाहर खीच-खीचकर मारूगा । सब यादव मेरे डर से आग मे कूद पडे है, तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग मे कूदूगा और एक-एक यादव को आग मे से घसीट-घसीटकर मारूगा ।"

यह कहकर कालकुमार हाथ मे नगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश मे परिणाम की चिंता किये बिना चिता की धधकती आग मे प्रवेश कर गया और अपने बधु-बांधवो एव सैनिको के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया ।

जरासध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पडी ।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवो को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढने लगे । उन्होने सौराष्ट्र प्रदेश मे रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला ।

वहाँ सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रो को जन्म दिया एव कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया ।

तृतीय रात्रि मे सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शख, बलराम को सुघोष नामक शख एव दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट मे दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है ?

श्रीकृष्ण ने कहा—"पहले के अर्द्धचक्रियो की द्वारिका नगरी को आपने अपने अक मे छिपा लिया है । अब कृपा कर वह मुझे फिर दीजिए ।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया । शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौडी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र मे ही निर्माण कर दिया । अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादो, सुन्दर वापी-कूप-तडागों, रमणीय उद्यानों एव विस्तीर्ण राजपथो से सुशोभित दृढ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरो वाली द्वारिकापुरी मे यादवो ने शुभ-मुहूर्त्त मे प्रवेश किया और वे वहाँ महान् समृद्धियों का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे ।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व मे शैलराज रैवत, दक्षिण मे माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर मे गन्धमादन पर्वत था ।[1] इस तरह चारों ओर से

---

[1] तस्या पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत्तु माल्यवान् ।
सौमनसाऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्या गन्धमादन. ।।४१८।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

उत्तुंग एवं दुर्गम शैलाधिराजों से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओं के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी ।

बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतंक से जिस समय यादवों ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढे चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के साथ थे ।[1]

यादवो के द्वारिका नगरी मे बस जाने पर बालक अरिष्टनेमि दशो दशार्हों और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे । उनकी विविध बाल-लीलाए बडी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थी, अत उनके साथ खेलने की अद्‌भुत सुखानुभूति के लिए उनसे बडी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा बनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे ।[2]

बालक अरिष्टनेमि की सभी बाल-लीलाएं और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनों एवं नागरिको को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थी । यादव कुल के सभी राजकुमारों मे बालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे । आपके प्रत्येक कार्य एवं चेष्टा को देखकर, देखने वाले बड़े प्रभावित हो जाते थे । उन्हे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार मे अनेक महान् कार्य करेगा ।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योंही अरिष्टनेमि कुछ बड़े हुए तो उन्हे योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की बात सोची गई । पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि बालक अरिष्टनेमि तो इस वय मे भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न हैं, उन्हे क्या सिखाया जाये ? महापुरुषो में पूर्वजन्मों की सचित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे संसार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानो को भी चमत्कृत कर देते हैं । जिस प्रकार श्रीकृष्ण का बाल्यकाल

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५, श्लोक ३८८

२ तस्मिन्मुदं दशार्हाणां, भ्रातोश्च हलिकृष्णयोः ।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, ववृधे तत्र च क्रमात् ॥२॥
ज्यायांसोऽपि लघूभूय, चिक्रीडुः स्वामिना समम् ।
सर्वेऽपि भ्रातरः क्रीड़ा शैलोद्यानादि भूमिषु ॥३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

गोकुल में और शेष प्राय: सारा जीवन भीषण संघर्षो मे बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हे यथेष्ट समय नही मिला था तथापि वे सर्वकला-विशारद थे ।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एव अवधिज्ञान के धारक थे । उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी मे रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया । यादवो की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाए देश के सुदूर प्रान्तो मे भी गाई जाने लगी ।

जब जरासंध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका मे देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया, तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा ।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवो की सभा मे महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासंध का उन लोगो के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया—

"मेरा सेनापति मारा गया, उसकी तो मुझे चिन्ता नही है क्योकि अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटो के लिए विजय या प्राणाहूति इन दो मे से एक अवश्यभावी है । पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओ के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है । आप लोगो ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है, उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये । त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासंध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल मे सब यादवो को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं । अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरो पर चढ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण मे चले जाओ, तो भी किसी दशा में कही पर भी आप लोगो के [illegible] त्राण नही है । अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश [illegible] क्रुद्ध शार्दूल जरासंध तुम्हारा सर्वनाश किये बिना नही रहेगा ।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की [illegible] सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हों, बलराम-[illegible] यदुसिहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक [illegible]

गोकुल में और शेष प्रायः सारा जीवन भीषण संघर्षो मे बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हे यथेष्ट समय नही मिला था तथापि वे सर्वकला-विशारद थे।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे। उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी में रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया। यादवो की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तो मे भी गाई जाने लगी।

जब जरासंघ को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका में देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया, तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवों की सभा मे महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासंघ का उन लोगो के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया—

"मेरा सेनापति मारा गया, उसकी तो मुझे चिन्ता नही है क्योंकि अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटों के लिए विजय या प्राणाहुति इन दो में से एक अवश्यंभावी है। पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओ के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है। आप लोगों ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है, उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये। त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासघ अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल मे सब यादवों को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं। अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरों पर चढ़ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण मे चले जाओ, तो भी किसी दशा में कहीं पर भी आप लोगो के प्राणों का त्राण नही है। अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासंघ तुम्हारा सर्वनाश किये विना नहीं रहेगा।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हों, बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह

उत्तुंग एवं दुर्गम शैलाधिराजों से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओं के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी।

बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतंक से जिस समय यादवों ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढ़े चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के साथ थे।[1]

यादवों के द्वारिका नगरी में बस जाने पर बालक अरिष्टनेमि दशों दशार्हों और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे। उनकी विविध बाल-लीलाएं बड़ी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थीं, अतः उनके साथ खेलने की अद्भुत सुखानुभूति के लिए उनसे बड़ी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा बनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे।[2]

बालक अरिष्टनेमि की सभी बाल-लीलाएं और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनों एवं नागरिकों को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थीं। यादव कुल के सभी राजकुमारों में बालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे। आपके प्रत्येक कार्य एवं चेष्टा को देखकर, देखने वाले बड़े प्रभावित हो जाते थे। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार में अनेक महान् कार्य करेगा।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योंही अरिष्टनेमि कुछ बड़े हुए तो उन्हें योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की बात सोची गई। पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि बालक अरिष्टनेमि तो इस वय में भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न हैं, उन्हें क्या सिखाया जाये? महापुरुषों में पूर्वजन्मों की सञ्चित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे संसार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानों को भी चमत्कृत कर देते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण का बाल्यकाल

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५, श्लोक ३८८

२ तन्वम्मुद दशार्हाणां, आमोक्ष्य हलिकृष्णयोः।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, ववृधे तत्र च क्रमात् ॥२॥
ज्यायांसोऽपि लघूभूय, चिक्रीडु. स्वामिना समम्।
सर्वेऽपि भ्रातरः क्रीडा शैलोद्यानादि भूमिषु ॥३॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

गोकुल में और शेष प्रायः सारा जीवन भीषण संघर्षों में बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हें यथेष्ट समय नहीं मिला था तथापि वे सर्वकला-विशारद थे।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे। उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव-सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी मे रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया। यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तो मे भी गाई जाने लगी।

जब जरासंध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका मे देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया, तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवों की सभा मे महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासंध का उन लोगो के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया—

"मेरा सेनापति मारा गया, उसकी तो मुझे चिन्ता नहीं है क्योंकि अपने स्वामी के लिए रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटो के लिए विजय या प्राणाहुति इन दो मे से एक अवश्यंभावी है। पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओ के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है। आप लोगों ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है, उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये। त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासंध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल मे सब यादवो को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं। अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरो पर चढ़ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण मे चले जाओ, तो भी किसी दशा में कहीं पर भी आप लोगो के प्राणो का त्राण नही है। अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासंध तुम्हारा सर्वनाश किये बिना नहीं रहेगा।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हों, बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह

अम्बुधि-गम्भीर, किशोर अरिष्टनेमि की शान्त मुखमुद्रा पर भी हल्की सी लाली दृष्टिगोचर होने लगी। यादव योद्धाओ के हाथ अनायास ही अपने-अपने शस्त्रो पर जा पडे।

महाराज समुद्रविजय ने इगित मात्र से सबको शान्त करते हुए घनवत् गम्भीर स्वर मे कहा—"दूत! यदि यादवो के विशिष्ट गुणों पर मुग्ध हो स्नेह के वशीभूत होकर किसी देवी ने तुम्हार सेनापति को मार दिया तो इसमे यादवो ने कौनसा छल-प्रपञ्च किया?"

"यदि पीढियो से चले आ रहे अपने परस्पर के प्रगाढ प्रेमपूर्ण सम्बन्धो को तोडकर तेरा स्वामी सेना लेकर आ रहा है तो उसे आने दे। यादव भी भीरु नही है।"

भोज नरेश उग्रसेन ने कहा—"सुनो दूत! तुम दूत हो और हमारे घर आये हुए हो, अत. यादव तुम्हे अवध्य समझकर क्षमा कर रहे हैं। अब व्यर्थ प्रलाप की आवश्यकता नही। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि जो कार्य प्रारम्भ कर दिया है, उसे आप शीघ्र पूर्ण करो।"[1]

उस समय की राजनीति

दूत के चले जाने के अनन्तर दशार्ह, बलराम-कृष्ण, भोजराज उग्रसेन, मन्त्रिपरिषद् और प्रमुख यादव मन्त्रणार्थ मन्त्रणाभवन मे एकत्रित हुए। गुप्त मन्त्रणा आरम्भ करते हुए समुद्रविजय ने मन्त्रणा-परिषद् के समक्ष यह प्रश्न रखा—"हमे इस प्रकार की अवस्था में शत्रु के साथ किस नीति का अवलम्बन करते हुए कैसा व्यवहार करना चाहिये?"

भोजराज उग्रसेन ने कहा—"महाराज! राजनीति-विशारदो ने साम, भेद, उपप्रदान (दाम) और दण्ड—ये चार नीतिया बताई है। जरासंध के साथ साम-नीति से व्यवहार करना अब पूर्णरूपेण व्यर्थ है क्योकि अब वह हमारी ओर से किये गये मृदु से मृदुतर व्यवहार से भी छेड़े हुए भयानक काले नाग की तरह क्रुद्ध हो कर फूत्कार कर उठेगा।"

"दूसरी जो भेदनीति है उसका भी जरासन्ध पर प्रयोग किया जाना असम्भव है क्योकि मगधेश द्वारा अतिशय दान-मानादि से सुसमृद्ध एवं सम्मानित उसके समस्त सामन्त मगधपति के ऋण से उऋण होने के लिए उसके एक ही इंगित पर अपने सर्वस्व और प्राणों तक को न्यौछावर करने मे अपना महोभाग्य समझते हैं।"

---

१ चउवन महापुरुष चरियम् [पृ० १८३—८४]

"तीसरी उपप्रदान (दाम) नीति का तो जरासंघ के विरुद्ध प्रयोग करना नितान्त असाध्य है। क्योंकि जरासंघ ने अपनी अनुपम उदारता से अपने समस्त सामन्तों, अधिकारियों एवं सैनिकों तथा दासादिकों को कंचन-कामिनी, मणि रत्नादि से पूर्ण वैभवसम्पन्न बना रखा है।"

"अतः चौथी दण्ड-नीति का अवलम्बन ही हमारे लिए उपादेय और श्रेयस्कर है।"

"इन चार नीतियों के अतिरिक्त नीति-निपुणों ने एक और उपाय भी बताया है कि अजेय प्रबल शत्रु से संघर्ष को टालने हेतु उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देना चाहिये अथवा अपने स्थान का परित्याग कर किसी अन्य स्थान की ओर पलायन कर जाना चाहिये।"

"पर ये दोनों प्रकार के हीन आचरण हमारे आत्म-सम्मान के घातक है और बलराम व कृष्ण जैसे पुरुषसिंह जब हमारे सहायक है, उस अवस्था में पलायन अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नही उठता।"

"किन्तु दण्ड-नीति का अवलम्बन करते समय रण-नीति के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करना होगा कि युद्ध में उलझा हुआ व्यक्ति अन्तिम विजय तक प्राण-पण से जूझता रहे और एक क्षणभर के लिए भी सुख और विश्राम की आकांक्षा न करे।"

उग्रसेन की साहस और नीतिपूर्ण बातों का सभी सभासदों ने 'साधु-साधु' कहकर एक स्वर से समर्थन करते हुए कहा—"धन्य है आपकी नीतिकुशलता, मार्मिक अभिव्यंजना और वीरोचित गौरव-गरिमा को। हम सब हृदय से आपका अभिनन्दन करते हैं।"

तदनन्तर सभी सभासद महाराज समुद्रविजय का अभिमत जानने के लिए उनकी ओर उत्कंठित हो देखने लगे।

महाराज समुद्रविजय ने गम्भीर स्वर में कहा—"महाराज उग्रसेन ने मानो मेरे ही मन की बात कह दी है। जिस प्रकार तीव्र ज्वर में सम अर्थात् ठंडी औषधि ज्वर के प्रकोप को भीषण रूप से बढ़ा देती है, उसी प्रकार अपने बल-दर्प से गर्वोन्मत्त शत्रु के प्रति किया गया साम-नीति का व्यवहार उसके दर्प को बढ़ाने वाला और अपनी भीरुता का द्योतक होता है।"

"भेद-नीति भी छल-प्रपञ्च, कुटिलता और वंचना से भरी होने के कारण गर्हित और निन्दनीय है, अतः वह भी महापुरुषों की दृष्टि में हेय मानी गई है।"

"इसी तरह उपप्रदान की नीति भी आत्मसम्मान का हनन करने वाली व अपमानजनक है।"

"अतः अभिमानी जरासन्ध के गर्व को चूर-चूर करने के लिए हमे दण्ड-नीति का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी दुर्ग का आश्रय लेकर नही अपितु उसके सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर उससे युद्ध के रूप मे करना चाहिये। क्योकि दुर्ग का आश्रय लेकर शत्रु से लडने मे ससार के सामने अपनी भीरुता प्रकट होने के साथ ही साथ अपने राज्य के बहुत बडे भाग पर शत्रु का अधिकार भी हो जाता है।[1]

शत्रु के सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर युद्ध करने की दशा मे अपनी भीरुता के स्थान पर पौरुष प्रकट होता है, अपने राज्य का समस्त भू-भाग अपने अधिकार मे रहता है। शत्रु भी हमारे शौर्य एव साहस से आश्चर्यचकित हो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। अपनी प्रजा और सैन्यबल का साहस तथा मनोबल बढता है और अपनी सीमा-रक्षक सेनाएं भी युद्ध मे हमारी सहायता कर सकती हैं। दण्ड-नीति के इन सब गुणो को ध्यान मे रखते हुए हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हम अपने शत्रु को उसके सम्मुख जाकर युद्ध मे परास्त करे।"

दोनों ओर युद्ध की तैयारियां

मन्त्रणा-परिषद् मे उपस्थित सभी सदस्यो ने जयजयकार और हर्षध्वनि क साथ महाराज समुद्रविजय की मन्त्रणा को स्वीकार किया। शख-ध्वनि और रणभेरी के नाद से समस्त गगनमण्डल गूज उठा। मित्र राजाओ के पास तत्काल दूत भेज दिये गये। योद्धा रण-साज सजने लगे।

शुभ मुहूर्त मे यादवो की चतुरगिणी प्रबल सेना ने रणक्षेत्र की ओर प्रलयकालीन आंधी की तरह प्रयाण कर दिया। आषाढ की घनघोर मेघघटा के गर्जन तुल्य 'घर-घर' रव से गगनमण्डल को गुजाते हुए रथो के पहियो से, तरल तुरग-सेना की टापो से और पदाति सेना के पाद-प्रहारो से उडी हुई धूलि के समूहो ने अस्ताचल पर अस्त होने वाले सूर्य को मध्याह्न-वेला मे ही अस्तप्राय कर दिया।

इस तरह कूच पर कूच करती हुई यादवो की सेना कुछ ही दिनो मे द्वारिका से ४५ योजन अर्थात् ३६० माइल (१८० कोस) दूर सरस्वती नदी के तटवर्ती सिनीपल्ली (सिणवल्लिया) नामक ग्राम के पास पहुंची और वहा

---

१ चउवन महापुरुष चरियम् [पृ १८४-८५]

रणक्षेत्र के लिए उपयुक्त समतल भूमि देख, वहा पर सैन्य-शिविरो का निर्माण करा समुद्रविजय ने सेना का पडाव डाल दिया ।[1]

यादवों की सेना के पडाव से आगे अर्थात् सेनपल्ली ग्राम से ४ योजन की दूरी पर जरासन्ध की सेना पडाव डाले हुए थी ।[2]

यादव सेना ने जिस समय सेनपल्ली मे पडाव डाला उस समय अपने भ्रमणकाल मे वसुदेव द्वारा उपकृत कतिपय विद्याधर-पति अपनी सेनाओ के साथ यादवो की सहायता के लिए वहाँ आये और उन्होने समुद्रविजय को प्रणाम कर निवेदन किया—"आपके महामहिम यादव कुल मे यो तो महापुरुष अरिष्टनेमि एकाकी ही समस्त विश्व का त्राण और विनाश करने मे समर्थ है, कृष्ण और बलदेव जैसे अनुपम बलशाली व प्रद्युम्न, शाम्ब आदि करोड़ो योद्धा है, वहा हमारे जैसे लोग आपकी सहायता कर ही क्या सकते हैं। तथापि हम भक्तिवश इस अवसर पर आपकी सेवा मे आ गये है, अतः आप हमे अपने सामन्त समझ कर आज्ञा दीजिये कि हम भी आपकी यथाशक्ति सेवा करें। कृपा कर आप वसुदेव को हमारा सेनापति रखिये और शाम्ब एव प्रद्युम्न को वसुदेव की सहायतार्थ हमारे साथ रखिये ।"

उन विद्याधरो ने समुद्रविजय से यह भी निवेदन किया "वैताढ्य गिरि के अनेक शक्तिशाली विद्याधर-राजा मगधराज जरासन्ध के मित्र है और वे जरासन्ध की इस युद्ध मे सहायता करने के लिये अपनी सेनाओ के साथ आ रहे हैं। आप हमे आज्ञा दें कि हम उन विद्याधर पतियो को वैताढ्य गिरि पर ही युद्ध करके उलझाये रखें ।"

समुद्रविजय ने कृष्ण की सलाह से वसुदेव, शाम्ब और प्रद्युम्न को विद्याधरो के साथ रहकर वैताढ्य गिरि के जरासन्ध-समर्थक विद्याधर राजाओं के साथ युद्ध करने का आदेश दिया। उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने अपनी

---

१ (क) कइवय पयाणएहिं च पत्ता सरस्सतीए तीरासण्ण सिणवल्लियाहियाण गाम ति ।
तत्थ य समयल समरजोग्ग भूमिभागम्मि आवासियो समुद्दविजयो त्ति ।
[चउप्पन्न म पु च., पृ १८६]

(ख) पच चत्वारिंशत तु योजनानि स्वकात् पुरात् ।
गत्वा तस्थौ सेनपल्ल्या, ग्रामे सग्राम कोविद. ।।
[त्रिषष्टि शलाका पु च., पर्व ८, स. ७, श्लो. १९६]

२ अर्वाग् जरासध सैन्याच्चतुर्भिर्योजनै. स्थिते ।
[त्रिषष्टि श. पु. च., प. ८, स. ७, श्लो. १९७]

इस प्रकार महाकाल के भ्रान्त्रजाल की तरह विशाल, दुर्गम, दुर्भेद्य, अजेय और सुदृढ चक्रव्यूह की रचना सम्पन्न हो जाने पर जरासन्ध ने अनेक भीषण युद्धो को जीतने वाले विकट योद्धा कौशल-नरेश हिरण्यनाभ को चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया।

यादवो ने भी जरासन्ध के दुर्भेद्य चक्रव्यूह से टक्कर लेने में सक्षम, गरुड की तरह भोषण प्रहार करने वाले गरुड़-व्यूह की रचना की।

गरुड के शौण्ड-तुण्ड (चोच) के आकार के गरुड़-व्यूह के अग्रभाग पर पचास लाख उद्भट यादव-योद्धाओ के साथ कृष्ण और बलराम सन्नद्ध थे। कृष्ण-बलराम के पृष्ठभाग पर जराकुमार, अनाधृष्टि आदि सभी वसुदेव-पुत्र अपने एक लाख रथी-योद्धाओ के साथ तैनात थे। इनके पीछे उग्रसेन अपने पुत्रों सहित एक करोड रथारोही सैनिको के साथ डटे थे। उग्रसेन की सहायता के लिए अपने योद्धाओ सहित धर, सारण आदि यदुवीर, उग्रसेन के दक्षिण-पार्श्व मे प्रबल प्रतापी स्वय महाराज समुद्रविजय अपने भाइयों, पुत्रों और अगणित सैनिको के साथ शत्रु सेना के लिए काल के समान प्रतीत हो रहे थे।

अतिरथी अरिष्टनेमि तथा महारथी महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि, सुनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति ये समुद्रविजय के पुत्र उनके दोनों पार्श्व मे एवं अनेको नृपति पच्चीस लाख रथी-योद्धाओ के साथ परिपार्श्व मे उनके सहायतार्थ सन्नद्ध थे।

समुद्रविजय के वामपक्ष की ओर बलराम के पुत्र तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का सहार करने के लिये कृत-सकल्प पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के साथ भीषण संहारक शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित खडे थे। पाण्डवों के पीछे की ओर २५ लाख रथारूढ सैनिकों के साथ सात्यकि आदि अनेक महारथी तथा इनके पृष्ठ-भाग में ६० लाख रथी सैनिको के साथ सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल और द्रविड राज्यो के महीपाल अपनी सेनाओं के साथ नियुक्त किये गये।

पक्ष फैला कर विषधरों पर विद्युत् वेग से झपटते हुए गरुड की मुद्रा के आकार वाले इस गरुड-व्यूह के दोनों पक्षों के रक्षार्थ भानु, भामर, भीरुक, असित, संजय, शत्रुंजय, महासेन, वृहद्ध्वज, कृतधर्मा आदि अनेक महारथी शक्तिशाली अश्वारोहियों, रथारोहियो, गजारोहियो एवं पदाति योद्धाओ के साथ नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने शत्रु पर भीषण प्रहार करने में गरुड़ के समान अत्यन्त शक्तिशाली अभेद्य गरुड-व्यूह की रचना की।

महाराज समुद्रविजय ने कृष्ण के बड़े भाई अनाधृष्टि को जब यादव-सेना का सेनापति नियुक्त किया, उस समय शंख आदि रणवाद्यों की ध्वनि एवं यादव-सेना के जय-घोषों से गगनमण्डल गूंज उठा। दोनों ओर के योद्धा भूखे मृगराज की तरह अपने-अपने शत्रुदल पर टूट पड़े।

भ्रातृ-स्नेह के कारण अरिष्टनेमि भी युद्ध के लिए रणांगण में जाने को तत्पर हुए। यह देखकर इन्द्र ने उनके लिए दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जैत्ररथ और अपने सारथि मातलि को भेजा। मातलि द्वारा प्रार्थना करने पर अरिष्ट-नेमि सूर्य के समान तेजस्वी रथ पर आरूढ़ हुए।[1]

दोनों व्यूहों के अग्रभाग पर स्थित दोनों पक्षों की रक्षक सेनाओं के योद्धा प्राणपण से अपने शत्रु का संहार करने में जुट गये। बड़ी देर तक भीषण संग्राम होता रहा पर उनमें से कोई भी अपने प्रतिपक्षी के व्यूह का भेदन नहीं कर सके।

अन्त में जरासन्ध के सैनिकों ने गरुड़-व्यूह के रक्षार्थ आगे की ओर लड़ती हुई यादव-सेना की सुदृढ़ अग्रिम रक्षापंक्ति को भंग करने में सफलता प्राप्त कर ली। उस समय कृष्ण ने गरुड़-ध्वज को फहराते हुए अपने सैनिकों को स्थिर किया। तत्काल महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि ने अपने-अपने शंखों के घोर निनाद के साथ क्रुद्ध हो जरासंध की अग्रिम सेना पर भीषण आक्रमण किया और प्रलय-पवन के वेग की तरह बढ़कर न केवल जरासंध के चक्रव्यूह की रक्षक सेनाओं का ही संहार किया अपितु चक्रव्यूह को भी तीन ओर से तोड़कर उसमें तीन बड़ी-बड़ी दरारें डाल दीं। ये तीनों महान् योद्धा प्रलयकाल की घनघोर घटाओं के समान शरवर्षा करते हुए शत्रु-सेना के अगणित उद्भट योद्धाओं को धराशायी करते हुए जरासन्ध के चक्रव्यूह में काफी गहराई तक घुस गये। इनके पीछे यादव-सेना की अन्य पंक्तियाँ भी चक्रव्यूह के अन्दर प्रवेश कर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगी।[2]

---

१ भ्रातृस्नेहाद्युयुत्सुं च शक्रो विज्ञाय नेमिनम्।
प्रैषीद्रथ मातलिनो, जैत्रं शस्त्राचितं निजम् ॥२६१॥
सूर्योदयमिवातन्वन्, स रथो रत्नभासुरः।
उपानीतो मातलिनालंचक्रेऽरिष्टनेमिना ॥२६२॥

२ उद्वेलित विक्षुब्ध समुद्र की तरह बढ़ती हुई जरासन्ध की विशाल सेना को अरिष्टनेमि द्वारा पराजित करने का आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियं में इस प्रकार वर्णन किया है :—

महण्णवर तत्थ चक्कइ कढिणगुणप्पहर किणइयपउट्ठो।
तेल्लोक्कमंदिरक्खभविब्भमोऽरिट्ठवरणेमी ॥११४॥

तओ आयण्णयड्ढिय चक्कोयंडमुक्कसरपसरेण लीहायड्ढियं व. तुलिय तेल्लोक्कवीरमुप्पण्णपयावेणं धमियं व, अमियससिसामत्थयामतेण ओहियं व चरियं पराणीयं। एत्थावसरम्मि य एक्कपाससगलन्तकुमाराणुगयरामकेसव, अण्णओ भीम अज्जुण-णउल-सहदेवाहिट्ठियजुहिट्ठिल. अण्णओ ओयणारिदोववेयससहोवर-समुद्दविजयं पयट्टिय पहाणसमर त्ति। [च० म० पु० च०, पृ० १८८]

महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि निरन्तर जरासंध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढ़ने लगे। इन तीनो महारथियो ने शत्रु-सेना मे प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की टंकारों से जरासंध की सेना के हृदय धड़क उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाए ढंक गईं और अंधकार सा छागया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना में बढते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। अनाधृष्टि रौधिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहों वीरो का बडा भीषण युद्ध हुआ। दुर्योधन, रुक्मी और रौधिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाधृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रो से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सब शस्त्रास्त्रो को काटकर उसे शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुंजय आदि सात राजाओ ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल में जाने ही वाला है, तो वे सब मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुंजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के बाण मे वज्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध मे अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम ने दुर्योधन, दु शासन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रो को मौत के घाट उतार दिया। महाबली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियो को हाथियो से, रथो को रथों से और घोडो को घोड़ो से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयकर सहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र।
पहुंचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और
जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लड़ते हुए युद्ध मे [illegible]
भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने
और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेन[illegible] अनाधृष्टि ने जरासन्ध की
हिरण्यनाभ के साथ युद्ध [illegible] धनुष के टुकड़े
कर डाला और उसे पद [illegible] देख कर
तलवार लिये कूद पड़े। [illegible] का
देर तक होता रहा। अन्त म [illegible] तलवार से
को धड से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना मे हाहाकार और भगदड़ मच गई एवं यादव-सेना के जयघोषो से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा।

उस समय अंशुमाली अस्ताचल की ओट मे अस्त हो चुके थे, अत दोनो सेनाएँ अपने-अपने शिविरो की ओर लौट गई।

जरासध ने अपने सेनानायको और मन्त्रियों से मंत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिषिक्त किया।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनो सेनाए रणक्षेत्र मे आमने-सामने आ डटी। रणवाद्यो और शख-ध्वनि के साथ ही दोनो सेनाएं क्रुद्ध हो भीषण हुकार करती हुई रणक्षेत्र मे जूझने लगी।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुष की प्रत्यंचा से टकार करता हुआ बलराम एव कृष्ण की ओर बढा। जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी बडे वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रो पर शरवर्षा करता हुआ आगे बढा। देखते ही देखते सग्राम बडा वीभत्स रूप धारण कर गया।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया। अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से सहार करने लगा। उसने बलराम के आनन्द आदि दश पुत्रो को बलि के बकरो की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारो और अनेक योद्धाओं का संहार होते देखकर यादवो की सेना के पैर उखड गये। खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा —"अरे कृष्ण ! यह गोकुल नही है, रणक्षेत्र है।"

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा—"शिशुपाल ! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है।"

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय मे तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रो की वर्षा के साथ-साथ गालियो की भी वर्षा प्रारम्भ कर दी।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धज्जिया उडा दी। जब शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासध अत्यन्त क्रुद्ध हो त्रिक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रो और राजाओ के साथ कृष्ण

महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि निरन्तर जरासंध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढने लगे। इन तीनों महारथियों ने शत्रु-सेना मे प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की टंकारों से जरासंध की सेना के हृदय धडक उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाएं ढंक गई और अंधकार सा छागया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना में बढ़ते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। अनाधृष्टि रौधिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहों वीरों का बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दुर्योधन, रुक्मी और रौधिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाधृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सब शस्त्रास्त्रों को काटकर उसे शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुंजय आदि सात राजाओं ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल में जाने ही वाला है, तो वे सब मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुंजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के बाण में वज्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध मे अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम ने दुर्योधन, दु शासन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। महाबली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियों को हाथियों से, रथों को रथों से और घोड़ों को घोड़ों से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयकर संहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र में हरा कर यमधाम पहुंचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और महीजय नामक दो पुत्र जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लड़ते हुए युद्ध मे काम आये। सात्यकि ने भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने प्राग्योतिषपति भगदत्त को और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेनापति अनाधृष्टि ने जरासन्ध की सेना के सेनापति हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करते हुए उसके धनुष के टुकड़े करके रथ को भी नष्ट कर डाला और उसे पदाति, केवल असिपाणि देख कर वे भी अपने रथ से तलवार लिये कूद पड़े। दोनों सेनाओं के सेनापतियों का अद्भुत असियुद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त में अनाधृष्टि ने अपनी तलवार से हिरण्यनाभ के सिर को धड़ से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना मे हाहाकार और भगदड़ मच गई एव यादव-सेना के जयघोषों से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा।

उस समय अंशुमाली अस्ताचल की ओट मे अस्त हो चुके थे, अत दोनो सेनाएँ अपने-अपने शिविरो की ओर लौट गई।

जरासध ने अपने सेनानायको और मन्त्रियो से मंत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिषिक्त किया।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनो सेनाए रणक्षेत्र मे आमने-सामने आ डटी। रणवाद्यो और शस्त्र-ध्वनि के साथ ही दोनो सेनाए क्रुद्ध हो भीषण हुकार करती हुई रणक्षेत्र मे जूझने लगी।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुष की प्रत्यंचा से टकार करता हुआ बलराम एव कृष्ण की ओर बढा। जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी बड़े वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रो पर शरवर्षा करता हुआ आगे बढा। देखते ही देखते सग्राम बडा वीभत्स रूप धारण कर गया।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया। अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से सहार करने लगा। उसने बलराम के आनन्द आदि दश पुत्रो को बलि के बकरों की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारो और अनेक योद्धाओ का संहार होते देखकर यादवो की सेना के पैर उखड़ गये। खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा —"अरे कृष्ण ! यह गोकुल नही है, रणक्षेत्र है।"

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा—"शिशुपाल ! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है।"

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय मे तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रों की वर्षा के साथ-साथ गालियो की भी वर्षा प्रारम्भ कर दी।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धज्जियां उडा दी। जब शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासंध अत्यन्त क्रुद्ध हो त्रिक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रो और राजाओ के साथ कृष्ण

की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा—"यादवो ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो ? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम—इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो।"

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धा आँखों से आग और धनुषों से बाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े। पर अकेले जरासन्ध ने ही तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से उन अगणित योद्धाओं को बेध डाला। यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारो से पीस डाला।

अपने पुत्रों का युगपद्‌विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूर्च्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट ६९ पुत्रों को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कहकर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो ! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यह ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया— "त्रिलोकनाथ ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो ! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं, तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। नाथ ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों

दिशाएं, सारा नभोमण्डल और शत्रु कांप उठे, यादव आश्वस्त हो पुनः युद्ध में जूझने लगे।

अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण वर्तु ल-वात की तरह घुमाया। उसी समय अभिनव वारिदघटा की तरह अरिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा आरम्भ की और शत्रु-सैन्य के रथों, ध्वजाओं, धनुषों और मुकुटों को उन्होंने शरवर्षा से चूर्ण-विचूर्ण कर डाला।

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय में एक लाख शत्रु-योद्धाओं को नष्ट कर डाला। प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ओर शत्रु आंख उठा कर भी नहीं देख सके।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,—इस अटल नियम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासन्ध को नहीं मारा किन्तु अपने रथ को मनोवेग से शत्रु-राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को अवरुद्ध किये रखा।[1]

श्री अरिष्टनेमि के इस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण ओज, तेज तथा शौर्य से यादवों की सेना में नवीन उत्साह एवं साहस भर गया और वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल संभाले शत्रु-सेना का संहार करने लगे। समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथों, मारे गये हाथियों, घोड़ों एवं काटे हुए मानव-मुण्डों और रुण्डों से पटा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था।

अपनी सेना के भीषण संहार से जरासन्ध तिलमिला उठा। उसने अपने रथ को श्रीकृष्ण की ओर बढ़ाया और अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा—"ओ ग्वाले! तू अभी तक गीदड़ की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है। कंस और कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है। ले, अब मैं तेरे प्राणों के साथ ही तेरी माया का अन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूं।"

---

१ आकृष्टाखण्डलधनुर्गम्भीरोद इव प्रभुः। ववर्ष शरधाराभिः परितस्त्रासयन्परान् ॥४२८
अभांक्षीत् क्ष्मामुजां मर्त्त स्याम्येकोऽपि किरीटिनाम्।
उद्भ्रान्तस्य महाम्भोधेः स्थातुमीशोऽपि के पुरः ॥४३१॥
परसैन्यानि पश्यन्नास्थाच्छ्रीनेमिर्भ्रमयन् रथम्......४३३॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ८, स. ७]

श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा—"जरासन्ध ! मैं तुम्हारी तरह आत्मश्लाघा करना तो नही जानता, पर इतना बताये देता हू कि तुम्हारी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा तो उसके अग्नि-प्रवेश से ही पूर्ण होगी ।"

श्रीकृष्ण के उत्तर से जरासन्ध की क्रोधाग्नि और भभक उठी । उसने अपने धनुष की प्रत्यचा को आकर्णान्त खीचते हुए कृष्ण पर बाणो की वर्षा प्रारम्भ कर दी । कृष्ण उसके सब बाणो को बीच मे ही काटते रहे । दोनों उत्कट योद्धा एक दूसरे पर भीषण शस्त्रो और दिव्यास्त्रो से प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे । उन दोनो के तीव्रगामी भारी-भरकम रथो की घोर घरघराहट से नभोमण्डल फटने सा लगा और धरती कांपने सी लगी ।

कृष्ण पर अपने सब प्रकार के घातक और अमोघ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग कर चुकने के पश्चात् जब जरासन्ध ने देखा कि उन दिव्यास्त्रो से कृष्ण का बाल भी बांका नही हुआ है तो उसने क्रुद्ध हो अपने अन्तिम अमोघ-शस्त्र चक्र को कृष्ण की ओर प्रेषित किया । ज्वाला-मालाओं को उगलता हुआ कल्पान्तकालीन सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य वह चक्ररत्न प्रलयकालीन मेघ की अमित घटाओं के समान गर्जना करता हुआ श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा ।

उस समय समस्त यादव-सेना त्रस्त हो स्तब्ध सी रह गई । अर्जुन, बलराम, कृष्ण और अन्य यादव योद्धाओ ने चक्र को चकनाचूर कर डालने के लिए अमोघ दिव्यास्त्रो का प्रयोग किया, पर सब निष्फल । चक्र कृष्ण की ओर बढता ही गया । देखते ही देखते चक्र ने अपने मध्य भाग के धुरि-स्थल से कृष्ण के वज्र-कपाटोपम वक्ष स्थल पर हल्का सा प्रहार[1] किया, मानो चिरकाल से बिछुडा मित्र अपने प्रिय मित्र से, वक्ष से वक्ष लगा मिल रहा हो । तदनन्तर वह चक्र कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व मे, उनके दक्षिण-स्कध से कुछ ऊपर इस प्रकार स्थिर हो गया,[2] मानो भेद-नीति-कुशल कृष्ण ने उसे भेद-नीति से अपना बना लिया हो ।

कृष्ण ने तत्काल अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली पर चक्ररत्न को धारण किया और अनादिकाल से लोक मे प्रचलित इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि पुण्यात्माओ के प्रभाव से दूसरो के शस्त्र भी उनके अपने हो जाते है ।

---

१ एत्य तुम्बेन तच्चक्रं कृष्ण वक्षस्यताडयत ।।४५०।।

[त्रिषष्टि श पु. च , प. ८, स. ७]

२ त च पयाहिणीकाऊण....पत्तग्ग केसवकरयलम्मि ।

[चउवन महापुरिस चरिय, पृ० १८६]

आकाश की अदृश्य शक्तियों ने इस घोषणा के साथ कि "नवें वासुदेव प्रकट हो गये हैं", कृष्ण पर गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा की।

करुणार्द्र कृष्ण ने जरासन्ध से कहा—"मगधराज! क्या यह भी मेरी कोई माया है? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञानुवर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड़ दो।"

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा—"जरा मेरे चक्र को मेरी ओर चला कर तो देख।"

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढ़का दिया।

यादव विजयोल्लास में जयजयकार से दशों दिशाओं को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वर्तुलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओं को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओं ने प्रभु-चरणों में नमस्कार करते हुए कहा—"करुणासिन्धो! जरासन्ध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए, उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण में हैं।"

अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुंचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ़ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थांश राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पड़ी।

उसी समय तीन विद्याधरियों ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध के सहायतार्थ इस युद्ध में सम्मिलित होने हेतु आने वाले वैताढ्यगिरि के विविध विद्याओं के बल से अजेय विद्याधर राजाओं को वसुदेव,

प्रद्युम्न, शाम्ब और वसुदेव के मित्र विद्याधर राजाओं ने वहीं पर युद्ध में उलझाये रखा था। जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के समाचार सुन कर जरासन्ध के समर्थक सभी विद्याधर राजा वसुदेव के चरण-शरण मे आ गये। प्रद्युम्न एवं शाम्ब के साथ उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। अब वे सब यहां आ रहे हैं।

यादवों के शिविर में महाराज समुद्रविजय आदि सभी यादव-प्रमुख विद्याधरियों के मुख से वसुदेव आदि के कुशल-मगल और शीघ्र ही आगमन के समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर मे वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और मुकुटधारी अनेक विद्याधरपति वहां आ पहुंचे और सबने समुद्रविजय आदि पूज्यों के चरणों में सिर झुकाया।

यादव-सेना ने अपनी महान् विजय के उपलक्ष्य में बड़े ही समारोह के साथ आनन्दोत्सव मनाया। अपने इस आनन्दोत्सव की याद को चिरस्थायी बनाने के लिए यादवों ने अपने शिविर के स्थान पर सिनपल्ली ग्राम के पास सरस्वती नदी के तट पर आनन्दपुर नामक एक नगर बसाया।[1]

तदनन्तर तीन खण्ड की साधना करके श्रीकृष्ण समस्त यादवों और यादव-सेनाओं के साथ द्वारिकापुरी पहुंचे और सभी यादव वहां विविध भोगोपभोगों का आनन्दानुभव करते हुए बड़े सुख से रहने लगे।

महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी और सभी यादव-मुख्यों ने कुमार अरिष्टनेमि से बड़े दुलार के साथ विवाह करने का अनेक बार अनुरोध किया, पर कुमार अरिष्टनेमि तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होंने हर बार विवाह के प्रस्ताव को गम्भीरतापूर्वक यह कहकर टाल दिया—"नारी वास्तव में भवभ्रमण के घोर दुःखसागर में गिराने वाली है। मैं संसार के भव-चक्र में परिभ्रमण करते-करते बिल्कुल थक चुका हूं, अब इस विकट भवाटवी में भटकने का कोई काम करूं, ऐसी किंचित् भी इच्छा नहीं है। अतः मैं इस विवाह के चक्र से सदा कोसों दूर ही रहूंगा।" समुद्रविजयजी को नेमकुमार को मनाने में सफलता नहीं मिली।

अरिष्टनेमि का अलौकिक बल

एक दिन कुमार अरिष्टनेमि यादव कुमारों के साथ घूमते हुए वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुंच गये। उन्होंने वहां ग्रीष्मकालीन मध्याह्न के सूर्य के समान अतीव प्रकाशमान सुदर्शन चक्र, शेषनाग की तरह भयंकर शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और बृहदाकार पाचजन्य शंख को देखा।

---

१ ....तत्रानन्दपुर चक्रे सिनपल्लीपदे पुरम् ॥२१॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ८, सर्ग, ८]

कुमार अरिष्टनेमि को कौतुक से शंख की ओर हाथ बढ़ाते देख चारुकृष्ण नामक आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणाम कर कहा—"यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और निस्संदेह प्रबल पराक्रमी भी हैं, फिर भी इस शंख को पूरना तो दूर रहा, आप इसको उठाने में भी समर्थ नहीं होंगे। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और बजा सकते हैं, अतः आप इसे उठाने का वृथा प्रयास न कीजिये।"

रक्षक पुरुष की बात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने मुस्कुराते हुए अनायास ही शंख को उठा अधर-पल्लवों के पास ले जाकर पूर (बजा) दिया।

प्रथम तो कुमार अरिष्टनेमि तीर्थंकर होने के कारण अनन्त शक्ति-सम्पन्न थे, फिर पूर्ण ब्रह्मचारी थे, अतः उनके द्वारा पूरे गये पाचजन्य की ध्वनि से लवण समुद्र में भीषण उत्ताल तरंगें उठीं और उछल-उछल कर बड़े वेग के साथ द्वारिका के प्राकार से टकराने लगी। द्वारिका के चारों ओर के नगाधिराजों के शिखर और द्वारिका के समग्र भव्य-भवन थर्रा उठे। औरों का तो ठिकाना ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण और बलराम भी क्षुब्ध हो उठे। खम्भों में बंधे हाथी खम्भों को उखाड़, लौह शृंखलाओं को तोड़ चिंघाड़ते हुए इधर-उधर वेग से भागने लगे, द्वारिका के नागरिक उस शंख के अतिघोर निर्घोष से मूर्च्छित हो गये और शंखनिनाद के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण शस्त्रागार के रक्षक तो मृतप्राय ही हो गये।

श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे—"इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शंख बजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है अथवा इन्द्र पृथ्वी पर आया है? मेरे शंख के निर्घोष से तो सामान्य भूपति ही भौंचक्के होते हैं, पर शंख के इस अद्भुत निर्घोष से तो मैं स्वयं और बलराम भी क्षुब्ध हो गये।"

थोड़ी ही देर में आयुधशाला के रक्षक ने वहां आकर कृष्ण से निवेदन किया—"देव! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पांचजन्य शंख बजाया है। यह सुनकर कृष्ण बहुत विस्मित हुए, पर उन्हें उस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसी समय कुमार अरिष्टनेमि वहां आ पहुंचे। कृष्ण ने अतिशय आश्चर्य, स्नेह एवं आदरयुक्त मनःस्थिति में अरिष्टनेमि को अपने अर्द्ध सिंहासन पर पास बैठाया और बड़े दुलार से पूछा—"प्रिय भ्रात! क्या तुमने पांचजन्य शंख बजाया था, जिसके कारण कि सारा वातावरण अभी तक विक्षुब्ध हो रहा है?"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज स्वर में उत्तर दिया—"हां भैया।"

कृष्ण ने स्नेहातिरेक से कुमार अरिष्टनेमि को अंक में भरते हुए कहा—"मुझे प्रसन्नता हो रही है कि मेरे छोटे भाई ने पाञ्चजन्य शंख को बजाया है। आज तक मेरी यह धारणा थी कि इसे मेरे अतिरिक्त कोई नही बजा सकता। कुमार! अपन दोनों भाई व्यायामशाला में चलकर बल-परीक्षा करलें कि किसमें कितना अधिक बल है।"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज सरल स्वर में कहा—"जैसी आपकी इच्छा।"

यादव कुमारों से घिरे हुए दोनों नर-शार्दूल व्यायामशाला में पहुंचे।

सहज करुणार्द्र कुमार अरिष्टनेमि ने मन ही मन सोचा—"कही मेरी भुजाओं, वक्ष और जंघाओं के सघर्ष से मल्लयुद्ध मे मेरे बल से अनभिज्ञ बड़े भाई कृष्ण को पीड़ा न हो जाय।" यह सोचकर उन्होने कहा—"भैया! भू-लुण्ठनादि क्रिया वाले इस ग्राम्य मल्लयुद्ध की अपेक्षा बाहु को झुकाने से भी बल का परीक्षण किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि से सहमति प्रकट करते हुए अपनी प्रचण्ड विशाल दाहिनी भुजा फैला दी और कहा—"कुमार! देखें, इसे झुकाना।"

कुमार अरिष्टनेमि ने बिना प्रयास के सहज ही मे कमल की कोमल डण्डी की तरह कृष्ण की भुजा को झुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा—"अच्छा कुमार! अब तुम अपनी भुजा फैलाओ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने भी सहज-मुद्रा में अपनी भुजा फैलाई।

श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को झुकाने का प्रयास किया पर वह किंचित् मात्र भी नही झुकी। अन्त में कृष्ण ने अपने दोनो वज्र-कठोर हाथो से कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को कस कर पकड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने पैरों को भूमि से ऊपर उठा शरीर का सारा भार भुजा पर पटकते हुए बड़े जोर का झटका लगाया, वे कुमार अरिष्टनेमि की भुजा पकड़े अधर झूलने लगे पर कुमार की भुजा को नही झुका सके।

श्रीकृष्ण को कुमार का अपरिमित बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होने कुमार की भुजा छोड़कर उन्हे हृदय से लगा लिया और बोले—"प्रिय अनुज! मुझे तुम्हारे अलौकिक बल को देखकर इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिस प्रकार मेरे भुजबल के सहारे बलराम सभी योद्धाओ को तुच्छ समझते है, उसी तरह मैं तुम्हारी शक्ति के भरोसे समस्त संसार के योद्धाओ को तृणवत् समझता हूं।"

कुमार अरिष्टनेमि के चले जाने के अनन्तर कृष्ण ने बलराम से कहा—"भैया ! देखा आपने अपने छोटे भाई का बल ! मैं तो वृक्ष की डाल पर गोपबाल की तरह कुमार की भुजा पर लटक गया। इतना अपरिमित बल तो चक्रवर्ती और इन्द्र में भी नहीं होता। इतनी अमित शक्ति के होते हुए भी यह हमारा अनुज समग्र भरत के छःहों खण्डों को क्यों नहीं जीत लेता ?"

बलराम ने कहा—"चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक शक्तिशाली होते हुए भी कुमार स्वभाव से बिल्कुल शान्त हैं। उन्हें किंचित् मात्र भी राज्यलिप्सा नहीं है।"

फिर भी कृष्ण के मन का सन्देह नहीं मिटा। उस समय आकाशवाणी हुई कि ये बाईसवें तीर्थंकर हैं, बिना विवाह किये ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्रव्रजित होंगे।

तदनन्तर कृष्ण ने अपने अन्तःपुर में जाकर कुमार अरिष्टनेमि को बुलाया और बड़े प्रेम से अपने साथ खाना खिलाया। कृष्ण ने अपने अन्तःपुर के रक्षकों को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को बिना रोक-टोक के समस्त अन्तःपुर में आने-जाने दिया जाय, क्योंकि ये पूर्णरूपेण निर्विकार हैं।

कुमार अरिष्टनेमि सहज शान्त, भोगों से विमुख और निर्विकार भाव से सुखपूर्वक सर्वत्र विचरण करते। रुक्मिणी आदि सभी रानियाँ उनका बड़ा सम्मान रखती। कृष्ण उनके साथ ही खाते-पीते और क्रीडा करते हुए बड़े आनन्द से रहने लगे। कुमार नेमि पर कृष्ण का स्नेह दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया।

एक दिन उन्होंने सोचा—"नेमि कुमार का विवाह कर इन्हें दाम्पत्य जीवन में सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य, ऐश्वर्य एवं भ्रातृ-प्रेम सही माने में सार्थक हो सकता है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि कुमार अरिष्टनेमि को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर उनके मन में भोग-लिप्सा पैदा की जाय।"

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने अपनी सब रानियों से कहा—"मैं कुमार अरिष्टनेमि को सब प्रकार से सुखी देखना चाहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी सुन्दर कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया जाय और वे विवाहित जीवन का आनन्दोपभोग करें। पर कुमार सांसारिक भोगों के प्रति पूर्ण उदासीन हैं। अतः यह आवश्यक है कि विरक्त और भोगों से पराङ्मुख अरिष्टनेमि को हर सम्भव प्रयास कर विवाह करने के लिये राजी किया जाय।"

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हुए कहा—"महाराज ! बड़े-बड़े योगियों को भी योगमार्ग से विचलित कर देने वाली रमणियों के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। हम हमारे प्रिय देवर को विवाह करने के लिए अवश्य सहमत कर लेंगी।"

रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव

श्रीकृष्ण के संकेतानुसार रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने वसंत-क्रीड़ा के निमित्त रेवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया। निर्विकार नेमिनाथ को भी अपने बड़े भाई कृष्ण द्वारा आग्रह करने पर वसन्तोत्सव में सम्मिलित होना पड़ा।

वसन्तोत्सव के प्रारम्भ में रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने विविध रंगों और सुगन्धियों से मिश्रित पानी पिचकारियों और डोलियों में भर-भर कर कृष्ण और नेमिनाथ पर बरसाना प्रारम्भ किया। कृष्ण ने भी उन्हें उन्हीं के द्वारा लाये गये पानी से सराबोर कर दिया।

कृष्ण द्वारा किये गये जलधारा प्रपात से विचलित होकर भी वे बार-बार कृष्ण को चारों ओर से घेर कर पद्मपराग मिश्रित जल की अनवरत धाराओं से भिगोती हुई खिलखिलाकर हँसती। किन्तु कृष्ण और रानियों की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं से नेमिकुमार आकृष्ट नहीं हुए। वे निर्विकार भाव से सारी लीला को देखते रहे, केवल अपनी भाभियों के विनम्र निवेदन का मान रखने कभी-कभी उनके द्वारा उंडेले गये पानी के उत्तर में उन पर कुछ पानी उंडेल देते।

बड़ी देर तक विविध हासोल्लास से फाग खेला जाता रहा। वारिधाराओं की तीव्र बौछारों से सब के नेत्र लाल हो चुके थे। अब सभी रानियाँ मिल कर नेमिनाथ के साथ फाग खेलने लगीं। निर्विकार रूप से नेमिकुमार भी अपने पर अनेक बार पानी उंडेलने पर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में एक दो बार उन पर पानी उछाल देते।

अपने प्रिय छोटे भाई नेमिकुमार को फाग खेलते देख कर कृष्ण अलग हो, सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगे। फिर क्या था, अब तो सभी सुन्दरियों ने आपस में सलाह कर नेमिनाथ को अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया। वे उन्हें मोह राग और भोग-मार्ग में आकर्षित कर वैवाहिक बन्धन में बांधने का दृढ़ संकल्प लिए नारी-लीला का प्रदर्शन करने लगीं।

सभी रानियां दिव्य वस्त्राभूषणादि से षोडश अलंकार किये रूप-लावण्य में सुरवधुओं को भी तिरस्कृत करती हुई चारुहासों, तीक्ष्ण-तिरछे चितवनों

के कटाक्षों और हँसने-हँसाने, रूठने-मनाने आदि विविध मनोरम हावभावों से एवं नर-नारी के संगजन्य आनन्द को ही जीवन का सार प्रकट करने वाले अनुपम अभिनयों से कुमार के मन में मनसिज को जगाने एवं नारी के रमणीय कलेवर की ओर उत्कट आकर्षण व स्पृहा पैदा करने में ऐसी जुट गईं मानों स्वयं पुष्पायुध ही सदलबल नेमिनाथ पर विजय पाने चढ़ आया हो।

पर इन सब हावभावों और कमनीय कटाक्षों का नेमिनाथ के मन पर कोई असर नहीं हुआ। प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन के झोंकों में जैसे सुमेरु अचल-अडोल खड़ा रहता है उसी तरह उनका मन भी इस रंग भरे वातावरण में निर्विकार-निर्मल बना रहा।

अपनी असफलता से उत्तेजित हो उन रमणी-रत्नों ने अपने किन्नर-कण्ठों से वज्र-कठोर हृदय को भी गुदगुदा देने वाले मधुर प्रणय-गीत गाने आरम्भ किये। पर जिन्होंने इस सार तत्त्व को जान लिया है कि—"सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं"—उन प्रभु नेमिनाथ पर इस सब का क्या असर होने वाला था।

जब कृष्ण जल-क्रीड़ा कर सरोवर से बाहर निकले तो कृष्ण की सभी रानियां सरोवर तट के आजानु पानी में जल-क्रीड़ा करने लगी और नेमिकुमार ने भी राजहंस की तरह सरोवर में प्रवेश किया। पर घुटनों तक के तटवर्ती पानी में स्नान करने लगे। रुक्मिणी ने रत्न-जटित चौकी बिछा उस पर नेमिकुमार को बिठाया और अपनी चुनरी से वह उनके शरीर को मलने लगीं। शेष सभी रानियां उनके चारों ओर एकत्रित हो गईं।

रानियों द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की ओर मोड़ने का यत्न

सत्यभामा बड़े ही मीठे शब्दों में कहने लगीं—"प्रिय देवर ! आप सदा हमारी सब बातें शान्ति से सुन लिया करते हो इसलिए मैं आप से यह पूछना चाहती हूँ कि आपके बड़े भैया तो सोलह हजार रानियों के पति हैं, उनके छोटे भाई होकर आप कम से कम एक कन्या के साथ भी विवाह नहीं करते, यह कैसी अद्‌भुत् अटपटी बात है ? सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से तीनों लोकों में कोई भी आपकी तुलना नहीं कर सकता। युवावस्था में भी पदार्पण कभी के कर चुके हो फिर समझ में नहीं आता कि आपकी यह क्या स्थिति है ? आपके माता-पिता, भाई और हम सब आपकी भाभियाँ, सब के सब आपसे प्रार्थना करते हैं, एक बार तो सब का कहना मान कर विवाह कर ही लो।"

"आप स्वयं विचार कर देखो—बिना जीवन-संगिनी के कुँआरे कितने दिन तक रह सकोगे ? आखिर बोलो तो सही, क्या तुम काम-कला से अनभिज्ञ

हो, नीरस हो अथवा पौरुष-विहीन हो ? याद रखो कुमार ! बिना स्त्री के तुम्हारा जीवन निर्जन वन में खिले सुन्दर-मनोहर सुरभिसंयुक्त पुष्प के समान निरर्थक ही रहेगा ।"

"जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने पहले विवाह किया, फिर धर्म-तीर्थ की स्थापना की, उसी प्रकार आप भी पहले गृहस्थोचित सब कार्य सम्पन्न कर फिर समय पर यथारुचि ब्रह्मव्रत की साधना कर लेना । गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य अशुचि-स्थान में मन्त्रोच्चारण के समान है ।[1] फिर आप ही के वंश में मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए । उन्होंने भी पहले विवाहित होकर फिर मुनिव्रत ग्रहण किया था । आपके पीछे होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही करेंगे । फिर आप ही क्या ऐसे नये मुमुक्षु है जो पूर्व-पुरुषो के पथ को छोड़कर जन्म से ही स्त्री, भोग एवं विषयादि से पराङ्मुख हो रहे है ?"

सत्यभामा ने तमक कर कहा—"ये मिठास से रास्ते आने वाले नहीं हैं । माता-पिता-भाई सब समझाते-समझाते हार गये, अब कड़ाई से काम लेना होगा । हम सबको मिल कर अब इन्हें पास के एक स्थान में बन्द कर देना चाहिए और जब तक ये हमारी बात मान नहीं लें तब तक छोड़ना ही नही चाहिए ।"

रुक्मिणी ने कहा—"बहिन ! हमें अपने प्रिय सुकुमार देवर के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नही करना चाहिए, हमें बड़े मीठे वचनों से नम्रतापूर्वक इन्हें विवाह के लिए राजी करना चाहिए ।"

रुक्मिणी यह कह कर श्री नेमिकुमार के चरणों में झुक गई । श्रीकृष्ण की शेष सब रानियो ने भी नेमि के चरणों में अपने सिर झुका दिये और विवाह की स्वीकृति हेतु अनुनय-विनय करने लगी ।

यह देख कर कृष्ण आ गये और नेमिनाथ से बड़े ही मीठे वचनो से कहने लगे—"भाई ! अब तुम विवाह कर लो ।"

इतने में अन्य यादवगण भी वहाँ आ पहुँचे और नेमिनाथ से कहने लगे—"कुमार ! अपने बड़े भाई का कहना मान लो और माता-पिता एवं अपने स्वजन-परिजन को प्रमुदित करो ।"

इन सब के हठाग्रह को देख, नेमिकुमार ने मन ही मन विचार किया—"ओह ! इन लोगों का कैसा मोह है कि ये लोग केवल स्वयं ही ससार-सागर में

१ समये प्रतिपद्येथा, ब्रह्मापि हि यथा रुचि ।
माहंस्थ्ये मोचित ब्रह्म, मन्त्रोद्गार इवाशुचौ ॥ १०५
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

नही डूब रहे हैं अपितु दूसरों को भी स्नेह-शिला से बाँध कर भवार्णव मे डाल रहे हैं। इनके आग्रह को देखते हुए यही उपयुक्त है कि इस समय मुझे केवल वचन मात्र से इनका कहना मान लेना चाहिए और समय आने पर अपना कार्य कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गृह, कुटुम्ब आदि का परित्याग करने का कारण भी मेरे सम्मुख उपस्थित होगा।" यह सोच कर नेमि ने कहा—"हाँ ठीक है, ऐसा ही करेंगे।"[1]

नेमिकुमार की बात सुन कर कृष्ण और सभी यादव बड़े प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण सपरिवार द्वारिका मे आकर नेमिनाथ के योग्य कन्या ढूँढने का प्रयत्न करने लगे। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा—"मेरी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्ना छोटी बहिन राजीमती पूर्णरूपेण नेमिकुमार के अनुरूप एवं योग्य है।"

यह सुन कर कृष्ण अति प्रसन्न हुए और उन्होने तत्काल महाराज उग्रसेन के पास पहुँच कर अपने भाई नेमिकुमार के लिए उनकी पुत्री राजीमती की उनसे याचना की। उग्रसेन ने अपना अहोभाग्य समझते हुए प्रमुदित हो कृष्ण के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। नेमिनाथ यहाँ आवे तो मैं अपनी पुत्री देने को तैयार हूँ।

उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और उनकी सेवा मे नेमिनाथ के लिए राजीमती की याचना और उग्रसेन द्वारा सहर्ष स्वीकृति आदि के सम्बन्ध मे निवेदन किया।

समुद्रविजय ने हर्ष-गद्‌गद् स्वर मे कहा—"कृष्ण! तुम्हारी पितृ-भक्ति एवं भ्रातृ-प्रेम बहुत ही उच्चकोटि के हैं। इतने दिनो से जो हमारी मनोभिलाषा केवल मन में ही मरी पड़ी थी, उसे तुमने नेमिकुमार को विवाह करने हेतु राजी कर सजीव कर दिया है। पुत्र! बड़ी कठिनाई से नेमिकुमार ने विवाह करने की स्वीकृति दी है, अत. कालक्षेप उचित नही है।"

समुद्रविजय आदि ने नैमित्तिक को बुलाया और श्रावण शुक्ला ६ को विवाह का मुहूर्त्त निश्चित कर लिया।[2] श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका नगरी के प्रत्येक पथ, वीथि, उपवीथि, अट्टालियो, गोपुर और घर-घर को रत्नमचो, तोरणों

---

१ एव चेव कीरत मज्झं पि परिच्चायकारण भविस्सइ। त्ति कलिऊण परिहास वयारणा-पुव्वयं पि भणिऊण पडिवण्णं एव चेव कीरइ। [चउवन महापुरिसचरियं, पृष्ठ १६२]

२ चउवन महापुरिस चरिय मे उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर देने का उल्लेख है। यथा—"भयव पुण तेरणेव ववएसेण संवच्छरिय महादाण दाउमाढत्तो............ [चउवन महापुरिस, चरिय पृष्ठ १६०]

आदि से खूब सजाया। बड़ी धूमधाम के साथ नेमिकुमार के विवाह की तैयारियाँ की गईं।

विवाह से एक दिन पहले दशों दशार्हों, बलभद्र, कृष्ण आदि ने अन्तःपुर की समस्त सुहागिनियों द्वारा गाये जा रहे मंगल-गीतों की मधुर ध्वनि के बीच नेमिनाथ को एक ऊँचे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। अनेक सुगन्धित महार्घ्य, विलेपनादि के पश्चात् स्वयं बलराम और कृष्ण ने उन्हें सब प्रकार की औषधियों से स्नान कराया[1] और उनके हाथ पर कर-सूत्र (कंकण-डोरा) बाँधा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण उग्रसेन के राजप्रासाद में गये। वहाँ पर भी उन्होंने दुलहिन राजीमती के कर में उसी प्रकार मंगल-मृदु गीतों की स्वर-लहरियों के बीच उबटन-विलेपन-स्नानादि के पश्चात् कर-सूत्र बँधवाया और अपने भवन को लौटे।

दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ की बरात सजायी गई। महार्घ्य, सुन्दर श्वेत वस्त्र एवं बहुमूल्य मोतियों के आभूषण पहने, श्वेत छत्र तथा श्वेत चामरों से सुशोभित, कस्तूरी और गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किये दूल्हा अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुआ।[2]

नेमिकुमार के हाथी के आगे अनेक देवोपम यादव कुमार घोड़ों पर सवार हो चल रहे थे। घोड़ों की हिनहिनाहट से सारा वायुमण्डल गूंज रहा था। नेमिकुमार के दोनों पार्श्वों में मदोन्मत्त हाथियों पर बैठे हजारों राजा चल रहे थे और नेमिकुमार के हाथी के पीछे-पीछे दशों भाई दशार्ह, बलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे तथा उनके पीछे बहुमूल्य सुन्दर पालकियों में बैठी हुई राजरानियाँ, अन्तःपुर की व अन्य सुन्दर रमणियाँ मंगल-गीतों से वायुमण्डल में स्वरलहरियाँ पैदा करती हुई चल रही थीं। उच्च स्वर से किये जाने वाले मंगल पाठ से और विविध वाद्यों की कर्णप्रिय ध्वनि से सारा वातावरण बड़ा मृदु, मनोरम एवं मादक बन गया। इस तरह बड़े ठाठ-बाट के साथ नेमिकुमार की बरात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़ी। वर-यात्रा का दृश्य बड़ा ही सम्मोहक, मनोहारी और दर्शनीय था। सुन्दर, समृद्ध एवं सुसज्जित बरातियों के बीच दूल्हा नेमिकुमार संसार के सिरमौर, त्रैलोक्य चूड़ामणि की तरह सुशोभित हो रहे थे।

---

१ सव्वोसहीहिं ण्हविओ कयकोउय मंगलो। [उत्तराध्ययन, अ० २२, गा. ९]

२ (क) मत्तं च गन्ध हत्थि वासुदेवस्स जेट्ठगं आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणि जहा। [उत्तराध्ययन, अ० २२ गा० १०]

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र में श्वेत घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होने का उल्लेख है। यथा.—आरुरोहारिष्टनेमि. स्यन्दन श्वेतवाजिनम् ॥ [पर्व ८, स० ९, श्लो० १४९]

इधर राजीमती अनिष्ट की आशंका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आंसू बहा रही थी और उसे उसकी सहेलियां धैर्य बँधा रही थी। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनकर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा—"सारथे ! यह किसका करुण-क्रन्दन कर्णगोचर हो रहा है ?"

सारथि ने कहा—"स्वामिन् ! क्या आपको पता नही कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष मे विविध भोज्य-सामग्री बनाने हेतु अनेक बकरे, मेढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये है। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय है, अत ये क्रन्दन कर रहे हैं।"

नेमिनाथ ने महावत को पशुओं के बाडो की ओर हाथी को बढाने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगरिणत पशुओ की गर्दन और पैर रस्सियो से बधे हुए है एव अगरिणत पक्षी पिंजरो तथा जाल-पाशो मे जकडे म्लानमुख कांपते हुए दयनीय स्थिति मे बन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियो ने अपनी बोली मे अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की—"नाथ ! हम दीन, दु.खी, असहायों की रक्षा करो।"

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियो को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि से नेमिनाथ के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानो की ओर दौड पड़े और पक्षि-समूह पख फैला कर अपने विविध कण्ठरवो से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाए गाते हुए, अनन्त आकाश मे उडते हुए तिरोहित हो गये।

पशु-पक्षियो को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानो के कुडल-युगल, करधनी एव समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये[1] और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड़ दिया। उनको लौटते देख यादवो पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया। माता शिवा महारानी, महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनो से उतर पड़े और नेमिनाथ के सम्मुख राह रोककर खड़े हो गये।

---

१ सो कुण्डलाण जुयल, सुत्तग च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

आँखों से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बड़े दुलार से अनुनयपूर्वक कहा—"वत्स ! तुम अचानक ही इस मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ कर कहाँ जा रहे हो ?"

विरक्त नेमिकुमार ने कहा—"अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बंधे हुए थे, उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन से बन्धे हुए हैं। जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त कर दिया, उसी प्रकार मैं अब अपने . आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-सुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय मूर्च्छित हो गये एवं समस्त यादव-परिवार की आँखें रोते-रोते लाल हो गईं। श्रीकृष्ण ने सबको ढाढस बंधाते हुए नेमिकुमार से कहा—"भ्रात ! तुम तो हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बड़ा मान रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा में तुम्हारे इस असामयिक वैराग्य का क्या कारण है ? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो।"

"साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं। आपको अपने इन शोक-सागर में डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नही करनी चाहिए। जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियो को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-बान्धवों को भी अपने विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन कराकर प्रसन्न कर दीजिये।"

अरिष्टनेमि ने कहा—"चक्रपाणे ! माता-पिता और आप सब सज्जनो के दुःख का कोई कारण दृष्टिगोचर नही होता। देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति मे पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर मे फँसा हुआ प्राणी अनन्त, असह्य दुःख पाता है। यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है। अनन्त जन्मो मे अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये, पर कोई किसी के दुःख को नही बँटा सका। अपने-अपने कृत-कर्मों के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पड़ते हैं। यदि पुत्रों को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि आदि मेरे भाई हैं, अतः मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द मे किसी तरह की कमी नही आयेगी। हरे ! मैं तो ससार के इस बिना ओर-छोर के पथ

इधर राजीमती अनिष्ट की आशंका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आंसू बहा रही थी और उसे उसकी सहेलियां धैर्य बंधा रही थी। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओ के करुण क्रन्दन को सुनकर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा—"सारथे! यह किसका करुण-क्रन्दन कर्णगोचर हो रहा है?"

सारथि ने कहा—"स्वामिन्! क्या आपको पता नही कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष मे विविध भोज्य-सामग्री बनाने हेतु अनेक बकरे, मेढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये है। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय है, अत. ये क्रन्दन कर रहे हैं।"

नेमिनाथ ने महावत को पशुओं के बाडो की ओर हाथी को बढाने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगणित पशुओ की गर्दन और पैर रस्सियो से बधे हुए है एव अगणित पक्षी पिंजरो तथा जाल-पाशो मे जकड़े म्लानमुख कांपते हुए दयनीय स्थिति मे बन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियो ने अपनी बोली मे अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की—"नाथ! हम दीन, दु:खी, असहायो की रक्षा करो।"

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियो को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि से नेमिनाथ के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानो की ओर दौड पड़े और पक्षि-समूह पख फैला कर अपने विविध कण्ठरवो से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाए गाते हुए, अनन्त आकाश मे उड़ते हुए तिरोहित हो गये।

पशु-पक्षियो को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानो के कुडल-युगल, करधनी एव समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये[1] और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड़ दिया। उनको लौटते देख यादवो पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया। माता शिवा महारानी, महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनो से उतर पड़े और नेमिनाथ के सम्मुख राह रोककर खड़े हो गये।

---

१ सो कुण्डलाण जुयल, सुत्तग च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

आँखों से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बड़े दुलार से अनुनयपूर्वक कहा—"वत्स ! तुम अचानक ही इस मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ कर कहाँ जा रहे हो ?"

विरक्त नेमिकुमार ने कहा—"अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बंधे हुए थे, उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन से बन्धे हुए हैं। जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त कर दिया, उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-सुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय मूर्च्छित हो गये एवं समस्त यादव-परिवार की आँखें रोते-रोते लाल हो गईं। श्रीकृष्ण ने सबको ढाढस बँधाते हुए नेमिकुमार से कहा—"भ्रात ! तुम तो हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बड़ा मान रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा में तुम्हारे इस असामयिक वैराग्य का क्या कारण है ? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो।"

"साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं। आपको अपने इन शोक-सागर मे डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियों को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-बान्धवों को भी अपने विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन कराकर प्रसन्न कर दीजिये।"

अरिष्टनेमि ने कहा—"चक्रपाणे ! माता-पिता और आप सब सज्जनों के दुःख का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति मे पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर मे फँसा हुआ प्राणी अनन्त, असह्य दुःख पाता है। यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है। अनन्त जन्मों मे अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये, पर कोई किसी के दुःख को नहीं बँटा सका। अपने-अपने कृत-कर्मों के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पड़ते हैं। यदि पुत्रों को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि आदि मेरे भाई है, अतः मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द मे किसी तरह की कमी नहीं आयेगी। हरे ! मैं तो संसार के इस बिना ओर-छोर के पथ

पर चलते २ अत्यन्त वृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ, अतः मैं असह्य दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियों के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूंढने को लालायित हूँ। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दुःख के मूलभूत कर्मों का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा। बिना संयम ग्रहण किये कर्मों को ध्वस्त कर देना संभव नहीं, अतः मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्रजित होना है। आप लोग वृथा ही बाधा न डालें।"

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा—"वत्स! गर्भ में अवतीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठंड और क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दुःखों को सहने में किस तरह समर्थ होगा?"

नेमिकुमार ने कहा—"तात! जो लोग नर्कों के उत्तरोत्तर घोरातिघोर दुःखों को जानते हैं, उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दुःख तो नगण्य और नहीं के बराबर हैं। तात! इन तपश्चरण सम्बन्धी दुःखों को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, पर विषयजन्य सुखों से नर्क के अनन्त दारुण दुःखों की प्राप्ति होती है। अतः आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनों में से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए?"

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक चिन्तन से ओतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये। सबको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होंगे। सबकी आंखें अजस्र अश्रुधाराएं प्रवाहित कर रही थीं। नेमिनाथ ने आत्मीयों की स्नेहमयी लौहमृ खलाओं के अगाढ़ बन्धनों को एक ही झटके में तोड़ डाला और सारथी को हाथी हांकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवास स्थान पर चले आये।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने प्राञ्जलिपूर्वक प्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।" लोकान्तिक देवों को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हें ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा द्रव्यों से भरे हुए भण्डार में से वर्ष भर दान देते रहे।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का संवाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई लता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर धड़ाम से गिर पड़ी। शोकाकुल सखियों ने सुगन्धित

शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश मे लाने का प्रयास किया तो होश में आते ही राजीमती बड़ा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली— "कहाँ त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहां मैं हतभागिनी ! मुझे तो स्वप्न में भी आशा नही थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप मे प्राप्त होगा । पर ओ निर्मोही ! तुमने विवाह् की स्वीकृति देकर मेरे मन में आशा-लता अंकुरित क्यो की और असमय मे ही उसे उखाड कर क्यों फेंक दिया ?"

"महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं । यदि मैं आपको अपने अनुरूप नही जँची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यों दी ? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया, उसी दिन मेरा आपके साथ पाणि-ग्रहण हो चुका, उसके बाद यह विवाह्-मण्डप-रचना और विवाह् का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया । नाथ ! मुझे सबसे बडा दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भग करेंगे तो सारी लौकिक मर्यादाएं विनष्ट हो जायेंगी । प्राणेश ! इसमे आपका कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है । अवश्य ही मैंने पूर्व-जन्म में किसी चिरप्रणयी मिथुन का विछोह कर उसे विरह की वीभत्स ज्वाला में जलाया है । उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नही कर सकी ।"

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन से विह्वल राजी-मती ने हृदय के हार एवं कर-कंकणो को तोडकर टुकड़े २ कर डाला और अपने वक्षःस्थल पर अपने ही हाथो से प्रहार करने लगी ।

सखियों ने राजीमती की यह दशा देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा—"नही, नही, राजदुलारी ! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमिकुमार से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? उस मायावी से अब तुम्हें मतलब ही क्या है ? वह तो लोक-व्यवहार से विमुख, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति मे आ बसे वनवासी प्राणी की तरह है । सखि ! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो । यह तो खुशी की बात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये । यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो जाता तो तुम्हारी दशा अन्धकूप मे ढकेल देने जैसी हो जाती । सुभ्रू ! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ । तुम अभी तक कुमारी हो, क्योंकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल सकल्प मात्र से वाग्दान मे ही दी गई हो । प्रद्युम्न, साम्ब आदि एक से एक बढकर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादवकुमार हैं, उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो ।"

पर चलते २ अत्यन्त वृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ, अतः मैं असह्य दुःख का अनुभव कर रहा हूँ । मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियों के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूंढने को लालायित हूँ । मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दुःख के मूलभूत कर्मों का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा । बिना संयम ग्रहण किये कर्मों को ध्वस्त कर देना संभव नहीं, अतः मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्र-जित होना है । आप लोग वृथा ही बाधा न डालें ।"

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा—"वत्स ! गर्भ में अव-तीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठंड और क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दुःखों को सहने में किस तरह समर्थ होगा ?"

नेमिकुमार ने कहा—"तात ! जो लोग नर्कों के उत्तरोत्तर घोरातिघोर दुःखों को जानते हैं, उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दुःख तो नगण्य और नहीं के बराबर हैं । तात ! इन तपश्चरण सम्बन्धी दुःखों को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, पर विषयजन्य सुखों से नर्क के अनन्त दारुण दुःखों की प्राप्ति होती है । अतः आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनों में से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए ?"

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक चिन्तन से ओतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये । सबको यह दृढ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होंगे । सबकी आँखें अजस्र अश्रुधाराएं प्रवाहित कर रही थीं । नेमिनाथ ने आत्मीयों की स्नेहमयी लोहश्रृंखलाओं के प्रगाढ़ बन्धनों को एक ही झटके में तोड़ डाला और सारथी को हाथी हांकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवास स्थान पर चले आये ।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने प्राञ्जलिपूर्वक प्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये ।" लोकान्तिक देवों को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हें ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा द्रव्यों से भरे हुए भण्डार में से वर्ष भर दान देते रहे ।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का संवाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई लता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर धड़ाम से गिर पड़ी । शोकाकुल सखियों ने सुगन्धित

शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश में लाने का प्रयास किया तो होश में आते ही राजीमती बड़ा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली— "कहाँ त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहा मैं हतभागिनी ! मुझे तो स्वप्न में भी आशा नही थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप में प्राप्त होगा । पर ओ निर्मोही ! तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन मे आशा-लता अंकुरित क्यों की और असमय मे ही उसे उखाड़ कर क्यो फेंक दिया ?"

"महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं । यदि मैं आपको अपने अनुरूप नही जँची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यो दी ? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया, उसी दिन मेरा आपके साथ पाणि-ग्रहण हो चुका, उसके बाद यह विवाह-मण्डप-रचना और विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया । नाथ ! मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भंग करेंगे तो सारी लौकिक मर्यादाएं विनष्ट हो जायेंगी । प्राणेश ! इसमे आपका कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है । अवश्य ही मैंने पूर्व-जन्म में किसी चिरप्रणयी मिथुन का विछोह कर उसे विरह की वीभत्स ज्वाला में जलाया है । उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नही कर सकी ।"

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन से विह्वल राजी-मती ने हृदय के हार एवं कर-कंकणों को तोडकर टुकड़े २ कर डाला और अपने वक्षःस्थल पर अपने ही हाथो से प्रहार करने लगी ।

सखियों ने राजीमती की यह दशा देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा—"नही, नही, राजदुलारी ! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमिकुमार से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? उस मायावी से अब तुम्हें मतलब ही क्या है ? वह तो लोक-व्यवहार से विमुख, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति मे आ बसे वनवासी प्राणी की तरह है । सखि ! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो । यह तो खुशी की बात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये । यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो जाता तो तुम्हारी दशा अन्धकूप मे ढकेल देने जैसी हो जाती । सुभ्रू ! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ । तुम अभी तक कुमारी हो, क्योंकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल सकल्प मात्र से वाग्दान मे ही दी गई हो । प्रद्युम्न, शाम्ब आदि एक से एक बढकर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादवकुमार हैं, उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो ।"

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा बाघिनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी—"हमारे निष्कलंक कुल पर काला धब्बा लगाने जैसी तुम यह कैसी बात करती हो ? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट नररत्न है, भला बताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके ? क्षण भर के लिए मानलो अगर कोई है भी, तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक बार ही दी जाती है।"[१]

"वृष्णि कुमारों में से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है, और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूं, अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमिकुमार की पत्नी हो चुकी। तीनों लोकवासियों में सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नहीं किया है तो मैं भी आज से सब प्रकार के भोगों को तिलाञ्जलि देती हूं। उन्होंने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी।"

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप कर राजीमती अहर्निश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रंकों को राव बना रहे थे। उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगों के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था, फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निर्लिप्त रहे।

निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बड़े आनन्द और अलौकिक ठाठ-बाट के साथ सम्पन्न किया गया। उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिबिका पर भगवान नेमिनाथ आरूढ़ हुए। निष्क्रमणोत्सव में देवों का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया। सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे। शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चंवर-व्यजन कर रहे थे। माहेन्द्र हाथ में नग्न खड्ग धारण किये और ब्रह्मेन्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिये चल रहे थे। लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ में स्वस्तिक धारण

---

१ सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।

२ नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्ट कोऽन्यस्तत्सदृशो वर ।
सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादानं सकृत् खलु ॥२३१॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ९]

किये हुए और सहस्रार धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशो दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण-बलराम आदि चारो ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल जन-समूह राजपथ से होता हुआ जब राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूच्छित होकर गिर पड़ी।

देवों और मानवो के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयंत पर्वत के परम रमणीय सहस्राम्र उद्यान मे पहुचे और वहा अशोक वृक्ष के नीचे शिबिका से उतर कर उन्होने अपने सब आभरण उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सब आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय मे रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न मे चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियो से सुवासित कोमल आकुंचित केसो का स्वयमेव पंचमुष्टि लुञ्चन किया।[1] शक्र ने प्रभु के केसो को अपने उत्तरीय में लेकर तत्काल क्षीर समुद्र मे प्रवाहित किया। जब लुञ्चन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से सपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया, तब इन्द्र-आज्ञा से देवो एव मानवो का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषो के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मन.पर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा—"हे दमीश्वर! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे बढते रहे।"[2]

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशों दशार्ह, बलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

---

१ अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

२ वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा ॥२५॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

पारणा

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु नेमिनाथ ने सहस्राम्रवन-उद्यान से निकल कर 'गोष्ठ' मे 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहा अष्टम-तप का परमान्न से पारण किया। "अहो दान, अहो दानम्" की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओं ने दुन्दुभि बजाई, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और सोनैयो की वर्षा, इस तरह पाँच दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने अपने घातिक कर्मों का क्षय करने के दृढ सकल्प के साथ कठोर तप और सयम की साधना प्रारम्भ की और वहाँ से अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया।

रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह

अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने पर भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर मोहित हो गया और वह नित्य नई, सुन्दर वस्तुओ की भेंट लेकर राजीमती के पास जाने लगा। रथनेमि के मनोगत कलुषित भावो को नही जानते हुए राजीमती ने यही समझ कर निषेध नही किया—कि "भ्रातृ-स्नेह के कारण मेरे लिए देवर आदर से भेंट लाता है, तो मुझे भी इनका मान रखने के लिए इन वस्तुओ को ग्रहणकर लेना चाहिए।"

उन सौगातो की स्वीकृति का अर्थ रथनेमि ने यह समझा कि उस पर अनुराग होने के कारण ही राजीमती उसके हर उपहार को स्वीकार करती है। इस प्रकार उसकी दुराशा बलवती होने लगी और वह क्षुद्रबुद्धि प्रतिदिन राजीमती के घर जाने लगा। भावज होने के कारण वह रथनेमि के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार करती।

एक दिन एकान्त पा रथनेमि ने राजीमती से कहा—"मुग्धे! मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूं। इस अनुपम अमूल्य यौवन को व्यर्थ ही बरबाद मत करो। मेरे भैया भोगसुख से नितान्त अनभिज्ञ थे, इसी कारण उन्होने आप जैसी परम सुकुमार सुन्दरी का परित्याग कर दिया। खैर, जाने दो उस बात को। उनके द्वारा परित्याग करने से तुम्हारा क्या बिगड़ा, वे ही घाटे मे रहे कि भोगजन्य सुखो से पूर्णरूपेण वचित हो गये। उनमें और मुझमें नभ-पाताल जितना अन्तर है। एक ओर तो वे इतने अरसिक कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने पर भी उन्होने तुम्हारे साथ विवाह नही किया, दूसरी ओर मेरी गुण-ग्राहकता पर गम्भीरता से विचार करो कि मैं स्वयं तुम्हें अपनी प्राणेश्वरी, चिरप्रेयसी बनाने के लिए तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना कर रहा हूं।"[1]

---

१ प्रार्थ्यमानोऽपि माभूत्ते, स वरो वरवर्णिनि।
अहं प्रार्थयमानस्त्वामस्मि पश्यान्तरं महद् ॥२६४॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, सर्ग ९]

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती के हृदय पर बड़ा आघात लगा। क्षण भर के लिए वह अवाक् सी रह गई। उस सरल स्वभाव वाली विशुद्धहृदया राजीमती की समझ में अब आया कि वे सारे उपहार इस हीन भावना से ही भेंट किये गये थे। धर्मनिष्ठा राजीमती ने रथनेमि को अनेक प्रकार से समझाया कि यशस्वी हरिवंशीय कुमार के मन मे इस प्रकार के हीन विचारों का आना लज्जास्पद है, पर उस भ्रष्ट-बुद्धि रथनेमि पर राजीमती के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपनी दुरभिलाषा को इसलिए नही छोड़ा कि निरन्तर के प्रेमपूर्ण व्यवहार से एक न एक दिन वह राजीमती को अपनी ओर आकर्षित करने मे सफल हो सकेगा। इस प्रकार की आशा लिए उस दिन रथनेमि राजीमती से यह कह कर चला गया कि वह कल फिर आयेगा।

रथनेमि के चले जाने पर राजीमती सोचने लगी कि यह संसार का कुटिल काम-व्यापार कितना घृणित है। कामान्ध और पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए कोई न कोई प्रभावोत्पादक उपाय किया जाना चाहिए। वह बड़ी देर तक विचारमग्न रही और अन्त मे उसने एक अद्भुत उपाय ढूंढ ही निकाला।

राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के अपने यहां आने से पहले ही भरपेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदनफल को नासा-रन्ध्रों से छूकर सूंघा और रथनेमि से कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र मे वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ स्वर मे कहा—"देवर ! इस दूध को पी जाओ।"

रथनेमि ने हकलाते हुए कहा—"क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है, जो इस वमन किये हुए दूध को पीने के लिए कह रही हो ?"

राजीमती ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—"रथनेमि ! क्या तुम भी जानते हो कि यह वमन किया हुआ दूध पीने योग्य नही है ?"

रथनेमि ने उत्तर दिया—"वाह खूब ! केवल मैं ही क्या, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी वमन की हुई हर वस्तु को अग्राह्य, अपेय एव अभक्ष्य जानता और मानता है।"

राजीमती ने कठोर स्वर में कहा—"अरे रथनेमि ! यदि तुम यह जानते हो कि वमन की हुई वस्तु अपेय और अभोग्य है—खाने-पीने और उपभोग करने योग्य नही है, तो फिर मेरा उपभोग करना क्यो चाहते हो ? मैं भी तो वमन की हुई हूं। उन महान् अलौकिक पुरुष के भाई होकर भी तुम्हें अपनी इस

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजपुत्रियो ने भी प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने यक्षिणी आर्या को श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशों दशार्हों, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र व प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1]

महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओं ने प्रभु के पास श्राविका-धर्म स्वीकार किया।[2]

इस प्रकार प्रभु ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थ-स्थापना के कारण प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की प्रव्रज्या

उधर राजीमती अपने तन-मन की सुधि भूले रात-दिन नेमिनाथ के चिंतन मे ही डूबी रहने लगी। अपने प्रियतम के विरह में उसे एक-एक दिन एक-एक वर्ष के समान लम्बा लगता था।

बारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के बाद जब राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।[3] वह सोचने लगी—"धिक्कार है मेरे जीवन को, जो मैं प्राण-नाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हूँ। अब तो उन्ही के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अब मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।"

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एवं अपने सुन्दर-श्यामल बालों का स्वयमेव लुंचन कर धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ वह सयम-मार्ग पर बढ़ चली। लुंचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप में बोले—"हे कन्ये! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर

---

१ दशार्हा उग्रसेनश्च, वासुदेवश्च सामत्ती।
प्रद्युम्नाद्या कुमाराश्च, श्रावकत्व प्रपेदिरे ॥३७८॥

२ शिवा रोहिणीदेवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषित।
जगृहुः श्राविका-धर्ममन्याश्च स्वामिसन्निधौ ॥३७९॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

३ सोऊण रायवरकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा य णिराणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया ॥ [उत्तराध्ययन अ० २२, श्लो० २८]

को शीघ्रातिशीघ्र पार करना ।'[1] राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत सी राज-कुमारियों एवं अन्य सखियों को भी दीक्षा प्रदान की । शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थीं ।

भगवान् नेमिनाथ को चौवन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रैवताचल पर विराजमान थे, अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियो के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रैवतगिरि की ओर चल पड़ी । अकस्मात् आकाश मे उमड़-घुमड़ कर घटाएँ घिर आई और वर्षा होने लगी, जिससे मार्गस्थ साध्विया भीग गई । वर्षा से बचने के लिए सब साध्वियाँ इधर-उधर गुफाओं मे चली गई । राजीमती भी पास की एक गुफा मे पहुँची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते हैं । उसको यह ज्ञात नही था कि इस गुफा मे पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं । उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये ।

रथनेमि का आकर्षण

नग्नावस्था मे राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विचलित हो उठा । उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गई । उसको भयभीत और कांपती हुई देख कर रथनेमि बोले—"हे भद्रे ! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूँ । हे सुरूपे ! मुझे अब भी स्वीकार करो । हे चारुलोचने ! तुम्हे किसी प्रकार का कष्ट नही होगा । सयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है । आओ, जरा इन्द्रिय-सुखो का भोग करलें । मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है । अत भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे ।

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमो मे सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह बोली—"रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता मे नलकूबर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जायें तो भी मैं उन्हे नही चाहूँगी, क्योकि हम कुलवती है । नाग जाति मे अगंधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग मे गिरना स्वीकार करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नही लेते । फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयो को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हे इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नही आती ? रथनेमि तुम्हे धिक्कार है । इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है ।"[2]

---

१ ससार सायरं घोर, तर कन्ने लहु लहु । [उ० सू०, अ० २२]

२ धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो त जीविय कारणा ।
वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे ।।७।।

[दशवैकालिक सूत्र, अ० २] उत्त० २२

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म मे स्थिर हो गया। उन्होने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणो मे पहुँच कर, आलोचन-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि मे कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणो मे पहुँच कर वदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया।

अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनो के अन्तर्मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कुमार्ग पर लगे हुए असख्य लोगो को धर्म के सत्पथ पर आरूढ एव कनक-कामिनी और प्रभुता के मद मे अन्धे बने राजाओ, श्रेष्ठियो और गृहस्थो को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश मे मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिग आदि अनेक जनपदो मे विचरण कर भद्दिलपुर नगर में पधारे।

भद्दिलपुर मे भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत रिपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप मे बड़े लाड-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणो मे श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का बत्तीस २ इभ्य कन्याओ के साथ पाणिग्रहण करायागया था। वैभव का इनके पास कोई पार नही था[1] पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्दिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेक श्रमणो के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी अपने समस्त यादव-परिवार और अन्तःपुर आदि के साथ भगवान् के समवसरण मे आये। जिस प्रकार गगा और यमुना नदियाँ बड़े वेग से बढती हुई समुद्र मे समा जाती हैं, उसी तरह नर-नारियो की दो धाराओ के रूप मे द्वारिकापुरी की सारी प्रजा भगवान् के समवसरण-रूप सागर मे कुछ ही क्षणो मे समा गई। भगवान् की भवोदधितारिणी वाणी सुन कर अगणित लोगो ने अपने कर्मो के गुरुतर भार को हल्का किया।

अनेक भव्य-भाग्यवान् नर-नारियो ने दीक्षित हो प्रभु के चरणो की शरण ली। अनेक व्यक्ति श्रावक-धर्म स्वीकार कर मुक्ति-पथ के पथिक बने

---

१ अन्तगड दसा वर्ग ३ अ० १ से ६

और भवभ्रमण से विभ्रान्त अगणित व्यक्तियों के अन्तर में मिथ्यात्व के निबिड़-तम तिमिर को ध्वस्त करने वाले सम्यक्त्व सूर्य का उदय हुआ।

धर्म-परिषद् मे आये हुए श्रोताओं के देशनानन्तर यथास्थान चले जाने के पश्चात् छट्ठ २ भक्त की निरन्तर तपस्या के कारण कृशकाय वे अनीकसेन आदि छहो मुनि अर्हन्त अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर दो दिन के—छट्ठ तप के पारण हेतु दो-दो के सघाटक से, भिक्षार्थ द्वारिकापुरी की ओर अग्रसर हुए।

इन मुनियों का प्रथम युगल विभिन्न कुलो मे मधुकरी करता हुआ देवकी के प्रासाद मे पहुंचा। राजहंसों के समान उन मुनियों को देखते ही देवकी ने उन्हे भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध एषणीय आहार की भिक्षा दी। भिक्षा ग्रहण कर मुनि वहाँ से लौट पड़े।

मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल-ढाल को परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर देवकी ने रोहिणी से कहा—"दीदी! देखो, देखो, इस वय में दुष्कर कठोर तपस्या से शुष्क एवं कृशकाय इन युवा-मुनियों को! इनका रूप, सौन्दर्य, लावण्य और सहज प्रफुल्लित मुखड़ा कितना अद्भुत है? दीदी! वह देखो, इनके सुकुमार तन पर कृष्ण के समान ही श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है।"

देवकी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए शोकातिरेक से अवरुद्ध करुण स्वर में कहा—"दीदी! दैव दुर्विपाक से यदि बिना कारण शत्रु कंस ने मेरे छह पुत्रों को नही मारा होता तो वे भी आज इन मुनियों के समान वय और वपु वाले होते। धन्य है वह माता, जिसके ये लाल हैं।"

देवकी के नयनों से अनवरत अश्रुधाराएं बह रहीं थीं।

देवकी का अन्तिम वाक्य पूरा हो नही हो पाया था कि उसने मुनि-युगल के दूसरे सघाटक को आते देखा। यह मुनि-युगल भी दिखने में पूर्णरूपेण प्रथम मुनि-युगल के समान था। इस संघाटक ने भी कृतप्रणामा देवकी से भिक्षा की याचना की। वही पहले के मुनियो का सा कण्ठ-स्वर देवकी के कर्णरन्ध्रों मे गूंज उठा। वही नपे-तुले शब्द और वही कण्ठ-स्वर।

देवकी ने मन ही मन यह सोचते हुए कि पहले जो भिक्षा मे इन्हे दिया गया, वह इनके लिए पर्याप्त नही होगा, इसलिए पुनः लौटे हैं, उसने बड़े आदर और हर्षोल्लास से मुनियों को पुनः प्रतिलाभ दिया। दोनों साधु भिक्षा लेकर चले गये।

उन दोनो साधुओ के जाने पर सयोगवश छोटे बडे कुलो मे मधुकरी के लिए घूमता हुआ तीसरा मुनि-सघाटक भी देवकी के यहाँ आ पहुँचा । यह युगल-जोडी भी पूर्ण रूप से भिक्षार्थ-पहले आये हुए दोनो सघाटको के मुनि-युगल से मिलती-जुलती थी । देवकी ने पूर्ण श्रद्धा, सम्मान और भक्ति के साथ तृतीय सघाटक को भी विशुद्ध भाव से भिक्षा दी । अन्तगड दशा सूत्र के एतद्विषयक विशद वर्णन मे बताया गया है कि उस सघाटक को देवकी ने पूर्ण सम्मान और बडे प्रेम से भिक्षा दी । मुनियो को भिक्षा देने के कारण देवकी का अन्तर्मन असीम आनन्द का अनुभव करते हुए इतना पुलकित हो उठा था कि वह स्नेहातिरेक और परा भक्ति के उद्रेक से अपने आपको संभाल भी नही पा रही थी । फिर भी अन्तर मे उठे हुए एक कुतूहल और सन्देह का निवारण करते हेतु हर्षाश्रुओ से मुनि-युगल की ओर देखते हुए उसने कहा--"भगवन् ! मन्दभाग्य वाले लोगो के आँगन मे आप जैसे महान् त्यागियो के चरण-कमल दुर्लभ है । मेरा अहोभाग्य है कि आपने अपने पावन चरण-कमलो से इस आँगन को पवित्र किया, पर मेरी शका है कि द्वारिका मे हजारो गुणानुरागी, सन्तसेवी कुलो को छोडकर आप मेरे यहाँ तीन बार कैसे पधारे ?"

देवकी देवी द्वारा इस प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर वे मुनि उससे इस प्रकार बोले —"हे देवानुप्रिये ! ऐसी बात तो नही है कि कृष्ण वासुदेव की यावत् प्रत्यक्ष स्वर्ग के समान, इस द्वारिका नगरी मे श्रमण निर्ग्रन्थ उच्च-नीच-मध्यम कुलो मे यावत् भ्रमण करते हुए आहार-पानी प्राप्त नही करते और न मुनि लोग भी आहार-पानी के लिए उन एक बार स्पृष्ट कुलो मे दूसरी-तीसरी बार जाते है ।

वास्तव मे बात इस प्रकार है—"हे देवानुप्रिये ! भद्दिलपुर नगर मे हम नाग गाथापति के पुत्र और नाग की सुलसा भार्या के आत्मज छः सहोदर भाई है पूर्णत समान आकृति वाले यावत् नलकुबेर के समान । हम छहो भाइयो ने अरिहन्त अरिष्टनेमि के पास धर्म उपदेश सुनकर और उसे धारण करके ससार के भय से उद्विग्न एव जन्म-मरण से भयभीत हो मुण्डित होकर यावत् श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की । तदनन्तर हमने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की थी, उसी दिन अरिहन्त अरिष्टनेमि को वदन-नमन किया और वदन नमस्कार कर इस प्रकार का यह अभिग्रह धारण करने की आज्ञा चाही—"हे भगवन् ! आपकी अनुज्ञा पाकर हम जीवन पर्यन्त बेले-बेले की तपस्या पूर्वक अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरना चाहते है ।"

यावत् प्रभु ने कहा—"देवानुप्रियो ! जिससे तुम्हे सुख हो वैसा ही करो, प्रमाद न करो ।"

उसके बाद अरिहन्त अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त होने पर हम जीवन भर के लिए निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करते हुए विचरण करने लगे।

इस प्रकार आज हम छहों भाई—बेले की तपस्या के पारण के दिन प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करने के पश्चात्—प्रभु अरिष्टनेमि की आज्ञा प्राप्त कर यावत् तीन संघाटकों में भिक्षार्थ उच्च-मध्यम एवं निम्न कुलो मे भ्रमण करते हुए तुम्हारे घर आ पहुँचे हैं। अतः हे देवानुप्रिये ! ऐसी बात नही है कि पहले दो संघाटको मे जो मुनि तुम्हारे यहाँ आये थे वे हम ही हैं। वस्तुतः हम दूसरे हैं।"

उन मुनियों ने देवकी देवी को इस प्रकार कहा और यह कहकर वे जिस दिशा से आये थे उसी दिशा की ओर चले गये। इस प्रकार की बात कह कर मुनियों के लौट जाने के पश्चात् उस देवकी देवी को इस प्रकार का विचार यावत् चिन्तापूर्ण अध्यवसाय उत्पन्न हुआ :—

"पोलासपुर नगर मे अतिमुक्त कुमार नामक श्रमण ने मेरे समक्ष बचपन मे इस प्रकार भविष्यवाणी की थी कि हे देवानुप्रिये देवकी ! तुम परस्पर पूर्णतः समान आठ पुत्रों को जन्म दोगी, जो नलकूबर के समान होंगे। भरतक्षेत्र मे दूसरी कोई माता वैसे पुत्रो को जन्म नही देगी।"

पर यह भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई। क्योकि यह प्रत्यक्ष ही दिख रहा है कि भरतक्षेत्र मे अन्य माताओं ने भी सुनिश्चित रूपेण ऐसे पुत्रो को जन्म दिया है। मुनि की बात मिथ्या नही होनी चाहिये, फिर यह प्रत्यक्ष मे उससे विपरीत क्यो ? ऐसी स्थिति मे मैं अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् की सेवा मे जाऊं, उन्हे वदन नमस्कार करूँ और वंदन नमस्कार करके इस प्रकार के कथन के विषय में प्रभु से पूछूं, इस प्रकार सोचा। ऐसा सोचकर देवकी देवी ने आज्ञाकारी पुरुषो को बुलाया और बुलाकर ऐसा कहा—"लघु करण वाले (शीघ्रगामी) श्रेष्ठ अश्वों से युक्त रथ को उपस्थित करो।" आज्ञाकारी पुरुषो ने रथ उपस्थित किया। देवकी महारानी उस रथ मे बैठकर यावत् प्रभु के समवसरण मे उपस्थित हुई और देवानन्दा द्वारा जिस प्रकार भगवान् महावीर की पर्युपासना किये जाने का वर्णन है, उसी प्रकार महारानी देवकी भगवान् अरिष्टनेमि की यावत् पर्युपासना करने लगी।

तदनन्तर अर्हत् अरिष्टनेमि देवकी को सम्बोधित कर इस प्रकार बोले—"हे देवकी ! क्या इन छः साधुओ को देखकर वस्तुत तुम्हारे मन मे इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि पोलासपुर नगर मे अतिमुक्त कुमार ने तुम्हें आठ अप्रतिम पुत्रो को जन्म देने का जो भविष्य कथन किया था, वह मिथ्या सिद्ध हुआ। उस विषय मे पृच्छा करने के लिये तुम यावत् वन्दन को निकली और

निकलकर शीघ्रता से मेरे पास चली आई हो, हे देवकी ! क्या यह बात ठीक है ?"

देवकी ने कहा—"हाँ भगवन् ! ऐसा ही है ।" प्रभु की दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित हुई—"हे देवानुप्रिये ! उस काल उस समय मे भद्दिलपुर नगर मे नाग नाम का गाथापति रहा करता था, जो आढ्य (महान् ऋद्धिशाली) था । उस नाग गाथापति की सुलसा नामक पत्नी थी । उस सुलसा गाथापत्नी को बाल्यावस्था में ही किसी निमित्तज्ञ ने कहा—यह बालिका मृतवत्सा यानी मृत बालको को जन्म देने वाली होगी । तत्पश्चात् वह सुलसा बाल्यकाल से ही हरिणैगमेषी देव की भक्त बन गई ।

उसने हरिणैगमेषी देव की मूर्ति बनाई । मूर्ति बना कर प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके यावत् दुःस्वप्न निवारणार्थ प्रायश्चित्त कर गीली साडी पहने हुए बहुमूल्य पुष्पो से उसकी अर्चना करती । पुष्पों द्वारा पूजा के पश्चात् घुटने टिकाकर पाँचों अंग नवा कर प्रणाम करती, तदनन्तर आहार करती, निहार करती एवं अपनी दैनन्दिनी के अन्य कार्य करती ।

तत्पश्चात् उस सुलसा गाथापत्नी की उस भक्ति-बहुमान पूर्वक की गई सुश्रूषा से देव प्रसन्न हो गया । प्रसन्न होने के पश्चात् हरिणैगमेषी देव सुलसा गाथापत्नी पर अनुकम्पा करने हेतु सुलसा गाथापत्नी को तथा तुम्हे—दोनों को समकाल में ही ऋतुमती (रजस्वला) करता और तब तुम दोनो समकाल मे ही गर्भ धारण करती, समकाल में ही गर्भ का वहन करती और समकाल मे ही बालक को जन्म देती ।

प्रसवकाल में वह सुलसा गाथापत्नी मरे हुए बालक को जन्म देती ।

तब वह हरिणैगमेषी देव सुलसा पर अनुकम्पा करने के लिये उसके मृत बालक को दोनो हाथों मे लेता और लेकर तुम्हारे पास लाता । इधर उस समय तुम भी नव मास का काल पूर्ण होने पर सुकुमार बालक को जन्म देती ।

हे देवानुप्रिये ! जो तुम्हारे पुत्र होते उनको भी हरिणैगमेषी देव तुम्हारे पास से अपने दोनो हाथो मे ग्रहण करता और उन्हे ग्रहण कर सुलसा गाथापत्नी के पास लाकर रख देता (पहुँचा देता) ।

अतः वास्तव मे हे देवकी ! ये तुम्हारे पुत्र हैं, सुलसा गाथापत्नी के नही है । इसके अनन्तर उस देवकी देवी ने अरिहंत अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से इस प्रकार की यह रहस्यपूर्ण बात सुनकर तथा हृदयगम कर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्ल हृदया होकर अरिहन्त अरिष्टनेमि भगवान् को वदन-नमस्कार किया

और वंदन-नमस्कार करके जहाँ वे छहों मुनि विराजमान थे, वहाँ आई। आकर वह उन छहों मुनियो को वंदन-नमस्कार करने लगी।

उन अनगारों को देखकर पुत्र-प्रेम के कारण उसके स्तनों से दूध झरने लगा। हर्ष के कारण उसकी आँखो में आँसू भर आये एवं अत्यन्त हर्ष के कारण शरीर फूलने से उसकी कंचुकी की कसें टूट गई और भुजाओं के आभूषण तथा हाथ की चूड़ियाँ तंग हो गई। जिस प्रकार वर्षा की धारा के पड़ने से कदम्ब पुष्प एक साथ विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार उसके शरीर के सभी रोम पुलकित हो गये। वह उन छहों मुनियो को निर्निमेष दृष्टि से चिरकाल तक निरखती ही रही।

तत्पश्चात् उसने छहों मुनियों को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके जहाँ भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान हैं, वहाँ आई और आकर अर्हत् अरिष्टनेमि को तीन बार दक्षिण तरफ से प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया, तदनन्तर उसी धार्मिक श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ हो द्वारिका नगरी की ओर लौट गई।

'चउवन्न महापुरिस चरियं' मे इन छहों मुनियो के सम्बन्ध मे अन्तगड़ सूत्र के उपरिलिखित विवरण से कतिपय अंशो मे भिन्न, किन्तु बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :—

देवकी ने मुनि-युगल से कहा—"महाराज कृष्ण की देवपुरी सी द्वारिका नगरी में क्या श्रमण निर्ग्रन्थों को अटन करते भिक्षा-लाभ नही होता, जिससे उन्ही कुलो मे दूसरी तीसरी बार वे प्रवेश करते हैं ?"

देवकी की बात सुनकर मुनि समझ गये कि उनसे पूर्व उनके चारो भाइयो के दो संघाड़े भी यहाँ आ चुके हैं। उनमें से एक ने कहा—"देवकी ! ऐसी बात नही है कि द्वारिका नगरी के विभिन्न कुलो मे घूमकर भी भिक्षा नही मिलने से हम तीसरी बार तुम्हारे यहाँ भिक्षा को आये हैं। पर सही बात यह है कि हम एक ही माँ के उदर से उत्पन्न हुए छः भाई है। शरीर और रूप की समानता से हम सब एक से प्रतीत होते हैं। कस के द्वारा हम मार दिये जाते किन्तु हरिणैगमेषी देव ने भद्दिलपुर की मृतवत्सा सुलसा गाथापत्नी की भक्ति से प्रसन्न हो, हमे जन्म लेते ही सुलसा के प्रीत्यर्थ तत्काल उसके पुत्रों से बदल दिया[१]। सुलसा ने ही हमे पाल-पोषकर बड़ा किया और हम सब का पाणिग्रहण करवाया। बड़े होकर हमने भगवान् नेमिनाथ के मुखारविन्द से अपने कुल-परिवर्तन का

१ जन्मजात छः पुत्रो के परिवर्तन की बात देवकी को भगवान् अरिष्टनेमि से ज्ञात हुई, इस प्रकार का अन्तगड मे उल्लेख है।

पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म में दो कुलो मे उत्पन्न होने की घटना से हम छहों भाइयों को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है? यह समार असार है और विषयों का अन्तिम परिणाम घोर दुःख हैं—यह सोचकर हम छहों भाइयों ने भगवान् नेमिनाथ के चरणो मे दीक्षा ग्रहण करली।"

मुनि की बात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडी।

दासियो द्वारा शीतलोपचार से थोडी देर में देवकी फिर सचेत हुई और उस का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरें लेने लगा। मुनियों को देखकर उसके स्तनो से दूध की और आंखो से अश्रुओ की धाराएं एक साथ बहने लगी।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर मे कहने लगी—"अहो! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्दैव ने मुझसे इनको छीन लिया। मेरी पुत्र-प्राप्ति तो बिल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न में अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुबेर बन जाता है किन्तु जगने पर कंगाल का कंगाल। कितनी दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलो से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूब फली-फूली, किन्तु असमय में ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल—मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पड़े। परम भाग्यवती है वह नारी, जिसने बाललीला के कारण धूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओ के मुखकमल को अगणित बार बडे प्यार से चूमा है।"

देवकी के इस अन्तस्तलस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियों को छोड़ वहां उपस्थित अन्य सब लोगो की आंखें अश्रु-प्रवाहित करने लगी।[1]

बिजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका मे फैल गया। नागरिको के मुख से यह बात सुनकर वे चारो मुनि भी वहां लौट आये और छहो मुनि देवकी को समझाने लगे—"न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र। इस संसार मे सब प्राणी अपने-अपने कर्म-बन्धन से बंधे रहट मे मृत्तिका-पात्र (घटी-घडली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए भटक रहे हैं। प्राणी एक जन्म मे किसी का पिता होकर दूसरे जन्म में उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म मे पिता बन जाता है। इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म मे पुत्री, एक जन्म का

---

१ अन्तगड सूत्र में देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह बात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियो के दर्शन से वात्सल्य उमड पडा और उसके स्तनो से दूध छूटने लगा एवं हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गया।

स्वामी दूसरे जन्म में दास बन जाता है। एक जन्म की माँ दूसरे जन्म मे सिंहनी बनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मास से अपनी भूख मिटाने लग जाती है। एक जन्म में एक पिता अपने पुत्र को बड़े दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर मे उस पिता का भयकर शत्रु बनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट देता है। जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए पुत्र को अपने स्तनों का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माँ अपने उस पुत्र से अनंग-क्रीडा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। इसी तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीड़ा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है—ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस संसार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमे प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दुःखों को भोगता हुआ भी मोह एवं अज्ञानवश लाखों जीवों का घोर संहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दुःखानुबन्धी विषय-भोगों में निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निबिड़ कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह मकड़ी की तरह अपने ही बनाये हुए भयंकर कुटुम्ब-जाल में फँसकर जीवन भर तड़पता एवं दुःखों से बिलबिलाता रहता है तथा अन्त मे मर जाता है।"

"इस तरह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण व भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और संसार के इस दु.खदायक आवा-गमन के मूल कारण कर्म-बन्धनो को काटने मे सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।"[१]

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, बलराम और कृष्ण आदि भी वहाँ आ पहुंचे। वसुदेव अपने सात पुत्रों के बीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रों के साथ स्वयं चन्द्रमा ही वहां आ उपस्थित हो गया हो। सबकी आँखों से आँसुओं की मानो गंगा-यमुना पूर्ण प्रवाह से बह रही थी, सबके हृदयो में स्नेह-सागर हिलोरें ले रहा था, सब विस्फारित नेत्रो से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहों मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहों मुनि शान्त रागरहित निर्विकार सहज मुद्रा मे खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"हमारे इस अचिन्त्य, अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नही होगा? हा दुर्दैव! कंस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल में अब तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० ११६-११७

पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म में दो कुलो में उत्पन्न होने की घटना से हम छहों भाइयों को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है? यह समार असार है और विषयों का अन्तिम परिणाम घोर दु.ख हैं—यह सोचकर हम छहों भाइयों ने भगवान् नेमिनाथ के चरणो मे दीक्षा ग्रहण करली।"

मुनि की बात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडी।

दासियो द्वारा शीतलोपचार से थोडी देर मे देवकी फिर सचेत हुई और उस का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरे लेने लगा। मुनियो को देखकर उसके स्तनो से दूध की और आँखो से अश्रुओ की धाराएं एक साथ बहने लगी।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर मे कहने लगी—"अहो! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्दैव ने मुझसे इनको छीन लिया। मेरी पुत्र-प्राप्ति तो बिल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न में अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुबेर बन जाता है किन्तु जगने पर कगाल का कगाल। कितनी-दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलो से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूब फली-फूली, किन्तु असमय में ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल—मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पड़े। परम भाग्यवती है वह नारी, जिसने बाललीला के कारण धूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओ के मुखकमल को अगणित बार बड़े प्यार से चूमा है।"

देवकी के इस अन्तस्तलस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियों को छोड़ वहाँ उपस्थित अन्य सब लोगो की आँखें अश्रु-प्रवाहित करने लगी।[1]

बिजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका मे फैल गया। नागरिको के मुख से यह बात सुनकर वे चारो मुनि भी वहाँ लौट आये और छहो मुनि देवकी को समझाने लगे—"न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र। इस संसार मे सब प्राणी अपने-अपने कर्म-बन्धन से बँधे रहट मे मृत्तिका-पात्र (घटी-घडली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर मे निरन्तर परिभ्रमण करते हुए भटक रहे हैं। प्राणी एक जन्म मे किसी का पिता होकर दूसरे जन्म में उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म मे पिता बन जाता है। इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म मे पुत्री, एक जन्म का

१ अन्तगड सूत्र मे देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह बात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियो के दर्शन से वात्सल्य उमड पडा और उसके स्तनो से दूध झरने लगा एव हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गया।

स्वामी दूसरे जन्म में दास बन जाता है। एक जन्म की माँ दूसरे जन्म मे सिंहनी बनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मांस से अपनी भूख मिटाने लग जाती है। एक जन्म में एक पिता अपने पुत्र को बड़े दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर में उस पिता का भयंकर शत्रु बनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट देता है। जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए पुत्र को अपने स्तनों का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माँ अपने उस पुत्र से अनंग-क्रीडा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। इसी तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीडा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है—ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस संसार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमे प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दुःखों को भोगता हुआ भी मोह एवं अज्ञानवश लाखों जीवों का घोर संहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दुःखानुबन्धी विषय-भोगों में निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निविड कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह मकड़ी की तरह अपने ही बनाये हुए भयंकर कुटुम्ब-जाल मे फँसकर जीवन भर तड़पता एवं दुःखो से बिलबिलाता रहता है तथा अन्त मे मर जाता है।"

"इस तरह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण व भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और संसार के इस दुःखदायक आवागमन के मूल कारण कर्म-बन्धनों को काटने में सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।"[1]

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, बलराम और कृष्ण आदि भी वहाँ आ पहुंचे। वसुदेव अपने सात पुत्रो के बीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रों के साथ स्वयं चन्द्रमा ही वहां आ उपस्थित हो गया हो। सबकी आँखों से आँसुओं की मानो गगा-यमुना पूर्ण प्रवाह से बह रही थी, सबके हृदयों में स्नेह-सागर हिलोरें ले रहा था, सब विस्फारित नेत्रो से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहो मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहों मुनि शान्त रागरहित निर्विकार सहज मुद्रा में खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"हमारे इस अचिन्त्य, अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नहीं होगा? हा दुर्दैव! कंस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल में अब तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० ११६-११७

की राज्यश्री का उपभोग कर रहा हूँ और दूसरी ओर मेरे सहोदर छः भाई भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं।"[1]

"मेरे प्राणाधिक अग्रजो ! आज हम सबका नया जन्म हुआ है। आओ ! हम सातो सहोदर मिलकर इस अपार वैभव और राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करें।"

वसुदेव आदि सभी उपस्थित यादवों ने श्रीकृष्ण की बात का बड़े हर्ष के साथ अनुमोदन करते हुए उन मुनियों से राज्य-वैभव का उपभोग करने की प्रार्थना की।

मुनियो ने कहा—"व्याध के जाल मे एक बार फँसकर उस जाल से निकला हुआ हरिण जिस प्रकार फिर कभी जाल के पास नहीं फटकता, उसी तरह विषय-भोगो के दारुण जाल से निकलकर अब हम उसमें नहीं फँसना चाहते। जन्म लेकर, एक बार फिर मिले हुए मर कर बिछुड़ जाते हैं, तत्ववेत्ताओं के लिये यही तो वैराग्य का मुख्य कारण होता है, पर हमने तो एक ही जन्म मे दो जन्मो का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, फिर हमें क्यों नहीं विरक्ति होती ? सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों को काटना ही तो साधुओं का चरम लक्ष्य है। फिर हम लोग स्नेहपाश को दुःख मूल समझते हुए इन काटे हुए स्नेह-बन्धनों को पुनः जोड़ने का विचार ही क्यों करेंगे ? हम तो इस स्नेह-बन्धन से मुक्त हो चुके हैं।"

"कर्मवश भवार्णव में डूबे हुए प्राणी को पग-पग पर वियोग का दारुण दुःख भोगना पड़ता है। अज्ञानवश मोहजाल मे फँसा हुआ प्राणी यह नही सोचता कि इन्द्रियो के विषय भयंकर काले सर्प की तरह सर्वनाश करने वाले हैं। लक्ष्मी ओस-बिन्दु के समान क्षण विध्वंसिनी है, अगाध समुद्र में गिरे हुए रत्न की तरह यह मनुष्य-जन्म पुन. दुर्लभ है। अतः मनुष्य जन्म पाकर सब दुःखों के मूलभूत कर्मबन्ध को काटने का प्रत्येक समझदार व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये।"[2]

इस प्रकार अपने माता-पिता आदि को प्रतिबोध देकर वे छहों साधु भगवान् नेमिनाथ की सेवा में लौट गये।

शोकसंतप्त देवकी भगवान् के समवसरण मे पहुँची और त्रिकालदर्शी प्रभु नेमिनाथ ने कर्मविपाक की दारुणता बताते हुए अपने अमृतमय उपदेश से

---

१ केरिसा वा मह रिद्धिसमवये भिक्खा भोइणो तुम्हे ? किवा ममेइण रज्जेण ?
[चउप्पन्न महापुरिस चरिय पृ० १९७]

२ चउवन महापुरिस चरिय।

उसकी शोक-ज्वाला को शान्त किया।'[1]

अंतगड़ सूत्र से मिलता-जुलता हुआ वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है :—

सर्वज्ञ प्रभु के वचन सुनकर देवकी ने हर्षविभोर हो तत्काल उन छहों मुनियो को वन्दन करते हुए कहा—"मुझे प्रसन्नता है कि आखिर मुझे अपने पुत्रो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी मेरे लिये हर्ष का विषय है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुए एक पुत्र ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया है और शेष छहो पुत्रो ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त कराने वाली मुनि-दीक्षा ग्रहण की है। पर मेरा हृदय इस सताप की भीषण ज्वाला से सतप्त हो रहा है कि तुम सातो सुन्दर पुत्रो के शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्पमात्र भी अनुभव नही किया।"

देवकी को शान्त करते हुए करुणासागर प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा—"देवकी! तुम व्यर्थ का शोक छोड़ दो। अपने पूर्व-भव में तुमने अपनी सपत्नी के सात रत्नो को चुरा लिया था और उसके द्वारा बार-बार माँगने पर भी उसे नही लौटाया। अन्त में उसके बहुत कुछ रोने-धोने पर उसका एक रत्न लौटाया और शेष छः रत्न तुमने अपने पास ही रखे। तुम्हारे उसी पाप का यह फल है[2] कि तुम्हारे छः पुत्र अन्यत्र पाले गये और श्रीकृष्ण ही एक तुम्हारे पास हैं।

क्षमामूर्ति महामुनि गज सुकुमाल

भगवान् के समवसरण से लौटकर देवकी अपने प्रासाद मे आ गई। पर भगवान् के मुख से छः मुनियों के रहस्य को जान कर उसका अन्तर्मन पुत्र-स्नेह मे विकल हो उठा और उसके हृदय मे मातृ-स्नेह हिलोरें लेने लगा।

वह यह सोच कर चिन्तामग्न हो गई कि ७ पुत्रों की जननी होकर भी मैं कितनी हतभागिनी हूं कि एक भी स्तनधय पुत्र को गोद मे लेकर स्तनपान नही करा पाई, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर अपने एक भी शिशु पर मातृ-स्नेह नही उँडेल सकी और एक भी पुत्र की शैशवावस्था की तुतलाती हुई मीठी बोली का श्रवणो से पान कर आनन्दविभोर न हो सकी। इस प्रकार विचार करती हुई वह अथाह शोकसागर मे गोते लगाने लगी। उसने चिन्ता ही चिन्ता मे खाना-पीना छोड दिया।

---

१ तओ उमायण्णिऊण देवतीए वियलिओ सोयप्पसरो।

[चउवन महापुरिस चरिय, पृ० ११८]

२ सपत्न्या सप्त रत्नानि, त्वमाहार्षीः पुरा भवे।
रुदत्याश्चार्पित तस्या, रत्नमेक पुनस्त्वया॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०, श्लोक ११५]

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन में चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन द्वारा किया गया चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिणैगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा—"मैं अपना लघु भाई चाहता हूं।"

देव ने कहा—"देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप मे उत्पन्न होगा, पर बाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।"

कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने सोचा—"माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।"

प्रसन्न मुद्रा मे कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर में देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जागृत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। समय पर देवकी ने प्रशस्त-लक्षण सम्पन्न पुत्ररत्न को जन्म दिया। गजतालू के समान कोमल होने के कारण बालक का नाम गज सुकुमाल रखा गया। द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः सुखपूर्वक बढते हुए गज सुकुमाल तरुण एवं भोग-समर्थ हुए।

द्वारिका नगरी मे सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदाग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारों से विभूषित हो सोमा कन्या राजमार्ग के एक पार्श्व मे अवस्थित अपने भवन के क्रीडांगण मे स्वर्णकन्दुक से खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान मे पधारे हुए थे। अतः कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग में उन्होंने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषों को आदेश दिया—"जाओ सोमिल ब्राह्मण से मांग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्त:पुर मे पहुंचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।"

तदनन्तर श्रीकृष्ण नगरी के मध्य मध्यवर्ती राजमार्ग से सहस्राम्र उद्यान मे पहुंचे और प्रभु को वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण अपने राज प्रासाद की ओर लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त मन से चिन्तन करते रहे। गज सुकुमाल ने खड़े होकर भगवान से कहा—"जगन्नाथ! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा एवं प्रतीति करता हूं. मेरी इच्छा है कि माता-पिता से पूछ कर आपके पास श्रमण-धर्म स्वीकार करूं।" अर्हत् अरिष्टनेमि ने कहा—"हे देवानुप्रिय! जिसमे तुम्हे सुखानुभूति हो, वही करो। प्रमाद न करो।" प्रभु को वन्दन कर गज सुकुमाल द्वारका की ओर प्रस्थित हुए।

राजभवन में आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी के समक्ष प्रव्रजित होने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। देवकी अश्रुलपूर्ण अपने लिए इस वज्रकठोर वचन को सुन कर मूर्च्छित हो गई।

शात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद में लेकर बोले—"तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मै अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करता हूं। अतः अर्हंत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हे अभिषिक्त करता हू।

गज सुकुमाल ने कहा—"अम्म-तात! ये मनुष्य के काम-भोग मलवत् छोड़ने योग्य हैं। आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा। इसलिए मैं चाहता हूं कि आपकी अनुमति पाकर मै अरिहन्त अरिष्टनेमि के चरणो मे प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करूं।"

विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी जब गज सुकुमाल संसार के बन्धन में रहने को तैयार नहीं हुए, तब इच्छा न होते हुए भी माता-पिता और कृष्ण ने कहा—"वत्स! हम चाहते हैं कि अधिक नहीं तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य-लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर।"

श्री कृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे।

बड़े समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ। अर्हत अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार बन गये।

दीक्षित होकर उसी दिन दोपहर के समय वे अर्हत अरिष्टनेमि के पास आये और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर बोले—"भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूं।"

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्र वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल

श्मशान में आये, स्थंडिल की प्रतिलेखना की और फिर थोडा शरीर को झुका कर दोनो पैर संकुचित कर एक रात्रि की महाप्रतिमा में ध्यानस्थ हो गये।

उधर सोमिल ब्राह्मण, जो यज्ञ की समिधा—लकड़ी आदि के लिए नगर के बाहर गया हुआ था, समिधा, दर्भ, कुश और पत्ते लेकर लौटते समय महाकाल श्मशान के पास से निकला। सन्ध्या के समय वहां गज सुकुमाल मुनि को ध्यानस्थ देखते ही पूर्वजन्म के वैर की स्मृति से वह क्रुद्ध हुआ और उत्तेजित हो बोला—"अरे इस गज सुकुमाल ने मेरी पुत्री सोमा को बिना दोष के काल-प्राप्त दशा में छोडकर प्रव्रज्या ग्रहण की है, अतः मुझे गज सुकमाल से बदला लेना चाहिए।"

ऐसा सोच कर उसने चहुं ओर देखा और गीली मिट्टी लेकर गज सुकुमाल मुनि के सिर पर मिट्टी की पाज बांधकर जलती हुई चिता में से केसू के फूल के समान लाल-लाल ज्वाला से जगमगाते अंगारे मस्तक पर रख दिये।

पाप मानव को निर्भय नही रहने देता। सोमिल भी भयभीत होकर पीछे हटा और छुपता हुआ दबे पाँवों अपने घर चला गया।

गज सुकुमाल मुनि के शरीर मे उन अंगारों से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई जो असह्य थी, पर मुनि ने मन से भी सोमिल ब्राह्मण से द्वेष नहीं किया। शान्त मन से सहन करते रहे। ज्यो-ज्यों श्मशान की सनसनाती वायु से मुनि के मस्तक पर अग्नि की ज्वाला तेज होती गई और सिर की नाडियें, नसें तड-तडकर टूटने लगीं, त्यों-त्यों मुनि के मन की निर्मल ज्ञान-धारा तेज होने लगी। शास्त्रीय शब्दज्ञान अति अल्प होने पर भी मुनि का आत्मज्ञान और चरित्रबल उच्चतम था। दीक्षा के प्रथम दिन बिना पूर्वाभ्यास के ही भिक्षु प्रतिमा की इस कठोर साधना पर अग्रसर होना ही उनके उन्नत-मनोबल का परिचायक था। शुक्ल-ध्यान के चारित्र के सर्वोच्च शिखर पर चढकर उन्होंने वीतराग वाणी को पूर्णरूप से हृदयंगम कर लिया। वे तन्मय हो गये, स्व-पर के भेद को समझ लेने से उनका अन्तर्मन गूंज रहा था—"शरीर के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है, क्योंकि मै अजर, अमर, अविनाशी हूं। मुझे न अग्नि जला सकती, न शस्त्र काट सकते और न भौतिक सुख-दु.खो के ये झोके ही हिला सकते हैं। मैं सदा अच्छेद्य, अभेद्य और अदाह्य हूं। यह सोमिल जो अपना पुराना ऋण ले रहा है, वह मेरा कुछ नहीं बिगाडता, वह तो उल्टे मेरे ऋणमुक्त होने में सहायता कर रहा है। अत॰ ऋण चुकाने मे दु.ख, चिन्ता, क्षोभ और आनाकानी का कारण ही क्या है?"

कितना साहसपूर्ण विचार था! गज सुकुमाल चाहते तो सिर को थोडा-सा झुकाकर उस पर रखे अंगारो को एक हल्के झटके से ही नीचे गिरा सकते थे

पर वे महामुनि अर्हत् अरिष्टनेमि के उपदेश से जड़-चेतन के पृथक्त्व को समझ-कर सच्चे स्थितप्रज्ञ एवं अन्तर्द्रष्टा राजर्षि बन चुके थे। नमी राजर्षि ने मिथिला को जलते देखकर कहा था—

"मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचरणं"

परन्तु गज सुकुमाल ने तो अपने शरीर के उत्तमांग को जलते हुए देखकर भी निर्वात प्रदेश-स्थित दीपशिखा की तरह अचल-अकम्प ध्यान से अडोल रहकर बिना बोले ही यह बता दिया—

"डज्झमाणे सरीरम्मि, न मे डज्झइ किंचरणं"

धन्य है उस वीर साधक के अदम्य धैर्य और निश्चल मनोवृत्ति को! राग-द्वेष रहित होकर उसने उत्कृष्ट अध्यवसायों की प्रबल आग में समस्त कर्मसमूह को अन्तर्मुहूर्त में ही भस्मावशेष कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के साथ शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निरंकार, सच्चिदानन्द शिवस्वरूप की अवाप्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति करली। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्याओं से भी दुष्प्राप्य मोक्ष को उन्होंने एक दिन से भी कम की सच्ची साधना से प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि मानव की भावपूर्ण उत्कट साधना और लगन के सामने सिद्धि कोई दूर एवं दुष्प्राप्य नहीं है।

गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा

दूसरे दिन प्रातःकाल कृष्ण महाराज गज पर आरूढ़ हो भगवान् नेमि-नाथ को वन्दन करने निकले। वन्दन के पश्चात् जब उन्होंने गज सुकुमाल मुनि को नहीं देखा तो पूछा—"भगवन्! मेरा छोटा भाई गज सुकुमाल मुनि कहां है?"

भगवान् ने कहा—"कृष्ण! मुनि गज सुकुमाल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है।"

कृष्ण बोले—"भगवन्, यह कैसे?"

इस पर अरिहंत अरिष्टनेमि ने सारी घटना कह सुनाई। कृष्ण ने रोष में आकर कहा—"प्रभो! वह कौन है, जिसने गज सुकुमाल को अकाल में ही जीवन-रहित कर दिया?"

भगवान् ने कृष्ण को उपशान्त करते हुए कहा—"कृष्ण! तुम रोष मत करो, उस पुरुष ने गज सुकुमाल को सिद्धि प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है। द्वारवती से आते समय जैसे तुमने ईंट उठा कर वृद्ध ब्राह्मण की सहायता-

की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखो भवो के कर्मों को क्षय करने में सहायता प्रदान की है।"

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध मे जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा—"द्वारिका लौटते समय जो तुम्हे अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है।"

कृष्ण त्वरा मे भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पड़े।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एव वन्दन के लिए गये है, तो वह मारे भय के थर-थर कांपने लगा। उसने सोचा—"सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध मे पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध मे मुझे दारुण प्राणदण्ड देंगे।"

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला। संयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला, जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे। गजारूढ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतंकित हो भूमि पर गिर पड़ा और मारे भय के वह तत्काल वही पर मर गया।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया। गज सुकुमाल की सयमसाधना से यादव-कुल में व्यापक प्रभाव फैल गया और उसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारो ने धर्मवीर बनकर आत्म-साधना के मार्ग मे आदर्श प्रस्तुत किया।

नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-सघ मे यो तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे, तथापि उन सब मुनियो मे ढढण मुनि का स्थान स्वयं भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

वासुदेव श्री कृष्ण की 'ढढणा' रानी के आत्मज 'ढढण कुमार' भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये। उन्होने पूर्ण यौवन मे अपनी अनेक सद्य-परिणीता सुन्दर पत्नियो और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की। इनकी दीक्षा के समय श्री कृष्ण ने बड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया।

मुनि ढंढण दीक्षित होकर सदा प्रभु नेमिनाथ की सेवा मे रहे। सहज

विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोड़े ही दिनो मे सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये। कठिन संयम और तप की साधना करते हुए उन्होने शास्त्रो का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढंढण मुनि के पूर्व-संचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ। उस समय वे कही भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें किसी प्रकार की भिक्षा नहीं मिलती। उनका अन्तराय-कर्म इतनी उग्रता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओ को भी कही से भिक्षा प्राप्त नहीं होती और ढंढण मुनि एवं उनके साथ गये हुए साधुओ को खाली हाथ लौटना पड़ता। यह क्रम कई दिन तक चलता रहा।

एक दिन साधुओ ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा—"भगवन्! यह ढंढण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य है, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र हैं पर इन्हे इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियो, धर्मनिष्ठ श्रावकों एवं परम उदार गृहस्थो के यहां से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नही होती। इसका क्या कारण है?"

मुनियो के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा—"ढंढण अपने पूर्व भव मे मगध प्रान्त के 'धान्यपुर' ग्राम मे 'पारासर' नाम का ब्राह्मण था। वहा राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया। स्वभावत: कठोर होने से वह ग्रामीणो के द्वारा राज्य की भूमि मे खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी न देकर काम मे लगाये रखता। भूखे, प्यासे और थके हुए बैलो एव हालियो से पृथक्-२ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता। अपने उस दुष्कृत के फलस्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया। वही पारासर मर कर अनेक भवों मे भ्रमण करता हुआ ढंढण के रूप मे जन्मा है। पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलो मे चाहने पर भी भिक्षा नही मिलती।"

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुनकर ढंढण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह किया, "मैं अपने दुष्कर्म को स्वयं भोग कर काटूंगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नहीं करूंगा।"

अन्तराय के कारण ढंढण को कही से भिक्षा मिलती नही और दूसरों द्वारा लाया गया आहार उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नहीं, इसके परिणामस्वरूप ढंढण मुनि को कई दिनों की निरन्तर निराहार तपस्या हो गई। फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण मे ही पूछा—"भगवन्! आपके इन सभी महान् मुनियो मे कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि हैं?"

की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखो भवो के कर्मो को क्षय करने मे सहायता प्रदान की है ।"

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध मे जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा—"द्वारिका लौटते समय जो तुम्हे अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है ।"

कृष्ण त्वरा मे भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पड़े ।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एव वन्दन के लिए गये है, तो वह मारे भय के थर-थर कापने लगा । उसने सोचा—"सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध मे पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध मे मुझे दारुण प्राणदण्ड देगे ।"

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला । सयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला, जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे । गजारूढ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतकित हो भूमि पर गिर पड़ा और मारे भय के वह तत्काल वही पर मर गया ।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया । गज सुकुमाल की सयमसाधना से यादव-कुल में व्यापक प्रभाव फैल गया और उसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारो ने धर्मवीर बनकर आत्म-साधना के मार्ग मे आदर्श प्रस्तुत किया ।

नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-सघ मे यो तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे, तथापि उन सब मुनियो मे ढंढण मुनि का स्थान स्वयं भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है ।

वासुदेव श्री कृष्ण की 'ढंढणा' रानी के आत्मज 'ढढण कुमार' भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये । उन्होने पूर्ण यौवन मे अपनी अनेक सद्य.परिणीता सुन्दर पत्नियो और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की । इनकी दीक्षा के समय श्री कृष्ण ने बड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया ।

मुनि ढंढण दीक्षित होकर सदा प्रभु नेमिनाथ की सेवा मे रहे । सहज

विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोड़े ही दिनो में सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये। कठिन संयम और तप की साधना करते हुए उन्होने शास्त्रो का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढंढण मुनि के पूर्व-संचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ। उस समय वे कही भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें किसी प्रकार की भिक्षा नहीं मिलती। उनका अन्तराय-कर्म इतनी उग्रता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओ को भी कही से भिक्षा प्राप्त नहीं होती और ढंढण मुनि एवं उनके साथ गये हुए साधुओ को खाली हाथ लौटना पड़ता। यह क्रम कई दिन तक चलता रहा।

एक दिन साधुओ ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा—"भगवन्! यह ढंढण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य है, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र हैं पर इन्हे इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, धर्मनिष्ठ श्रावकों एवं परम उदार गृहस्थो के यहा से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नही होती। इसका क्या कारण है?"

मुनियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा—"ढंढण अपने पूर्व भव मे मगध प्रान्त के 'धान्यपुर' ग्राम मे 'पारासर' नाम का ब्राह्मण था। वहाँ राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया। स्वभावत: कठोर होने से वह ग्रामीणो के द्वारा राज्य की भूमि में खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी न देकर काम मे लगाये रखता। भूखे, प्यासे और थके हुए बैलो एव हालियो से पृथक्-२ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता। अपने उस दुष्कृत के फलस्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया। वही पारासर मर कर अनेक भवो में भ्रमण करता हुआ ढंढण के रूप में जन्मा है। पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलो में चाहने पर भी भिक्षा नही मिलती।"

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुनकर ढंढण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह किया, "मैं अपने दुष्कर्म को स्वयं भोग कर काटूंगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नही करूंगा।"

अन्तराय के कारण ढंढण को कही से भिक्षा मिलती नही और दूसरों द्वारा लाया गया आहार उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नही, इसके परिणामस्वरूप ढंढण मुनि को कई दिनों की निरन्तर निराहार तपस्या हो गई। फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण में ही पूछा—"भगवन्! आपके इन सभी महान् मुनियो में कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि हैं?"

भगवान् ने फरमाया—"हरे ! सभी मुनि कठोर साधना करने वाले है पर इन सबमें ढढरण दुष्कर करणी करने वाला है। उसने काफी लम्बा काल अलाभ-परिषह को समभाव से सहते हुए अनशन-पूर्वक बिताया है। उसके मन मे किंचिन्मात्र भी ग्लानि नही अतः यह सर्वोत्कृष्ट तपस्वी मुनि है।"

कृष्ण यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और देशना के पश्चात् भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर मन ही मन ढढरण मुनि की प्रशसा करते हुए अपने राज-प्रासाद की ओर लौटे। उन्होने द्वारिका मे प्रवेश करते ही ढढरण मुनि को गोचरी जाते हुए देखा। कृष्ण तत्काल हाथी से उतर पड़े और बड़ी भक्ति से उन्होने ढढरण ऋषि को नमस्कार किया।

एक श्रेष्ठी अपने द्वार पर खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। उसने सोचा कि धन्य है यह मुनि जिनको कृष्ण ने हाथी से उतर कर श्रद्धावनत हो बड़ी भक्ति के साथ वन्दन किया है।

सयोग से ढढरण भी भिक्षाटन करते हुए उस श्रेष्ठी के मकान मे भिक्षार्थ चले गये। सेठ ने बड़े आदर के साथ ढढरण मुनि के पात्र मे लड्डू बहराये। ढढरण मुनि भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा मे पहुँचे और वन्दन कर उन्होंने प्रभु से पूछा—"प्रभो ! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है, जिससे कि मुझे आज भिक्षा मिली है ?"

प्रभु ने फरमाया—"ढढरण मुने ! तुम्हारा अन्तराय कर्म अभी क्षीण नही हुआ है। हरि के प्रभाव से यह भिक्षा तुम्हें मिली है। हरि ने तुम्हे प्रणाम किया इससे प्रभावित हो श्रेष्ठी ने तुम्हे यह भिक्षा दी है।"

चिरकाल से उपोषित ढढरण ने अपने मन मे भिक्षा के प्रति राग का लेश भी पैदा नही होने दिया। "यह भिक्षा अपनी लब्धि नही अपितु पर-प्राप्ति है, अतः मुझे इसे एकान्त निर्जीव भूमि मे परिष्ठापित कर देना चाहिये" यह सोचकर ढढरण ऋषि स्थडिल भूमि मे उस भिक्षा को परठने चल पड़े। उन्होने एकान्त मे पहुँच कर भूमि को रजोहरण से परिमार्जित किया और वहाँ भिक्षान्न परठने लगे। उस समय उनके अन्तस्तल मे शुभ भावो का उद्रेक हुआ। वे स्थिर मन से सोचने लगे—"ओह ! उपार्जित कर्मों को क्षय करना कितना दुस्साध्य है। प्राणी मोह मे फँसकर दुष्कृत करते समय यह नही सोचता कि इन दुष्कृतो का परिणाम मुझे एक न एक दिन भोगना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार विचार करते २ उनका चिन्तन शुभ-ध्यान की उच्चकोटि पर पहुँच गया। शुक्ल-ध्यान की इस प्रक्रिया मे उनके चारो घातिक-कर्म नष्ट हो गये और उन्हे केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्क्षण गगनमण्डल देव दुन्दुभियो की ध्वनि से गूंज उठा।

समस्त लोकालोक को हस्तामलक के समान देखने वाले मुनि ढंढण स्थंडिल भूमि से प्रभु की सेवा में लौटे और भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर वे प्रभु की केवली-परिषद् में बैठ गये।

ढंढण मुनि ने केवल अन्तराय ही नहीं, चारों घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर सकल कर्म क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य

श्री कृष्ण का यादवों की ही तरह पाण्डवों के प्रति भी पूर्ण वात्सल्य था। वे सबके सुख-दु:ख में सहायक होकर सब की प्रतिपालना करते। श्री कृष्ण की छत्रछाया में पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में बड़े आनन्द से राज्यश्री का उपभोग कर रहे थे।

एक समय नेमिनारद इन्द्रप्रस्थ नगर में आये और महारानी द्रौपदी के भव्य प्रासाद में जा पहुँचे। पाण्डवों ने नारद का सत्कार किया, पर द्रौपदी ने नारद को अविरति समझ कर विशेष आदर-सत्कार नहीं दिया। नारद क्रुद्ध हो मन ही मन द्रौपदी का कुछ अनिष्ट करने की सोचते हुए वहाँ से चले गये।

वे यह भली प्रकार जानते थे कि पाण्डवों पर श्रीकृष्ण की असीम कृपा के कारण भरतखण्ड में कृष्ण के भय से कोई द्रौपदी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता, अत: द्रौपदी के लिये अनिष्टप्रद कुछ प्रपञ्च खड़ा करने की उधेड़-बुन में वे धातकी खण्ड द्वीप के भरतक्षेत्र की अमरकंका नगरी में स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा के राज-प्रासाद में पहुँचे।

राजा पद्म ने राजसिंहासन से उठकर नारद का बड़ा सत्कार किया और उन्हें अपने अन्त:पुर में ले गया। उसने वहाँ अपनी सात सौ (७००) परम सुन्दरी रानियों की ओर इंगित करते हुए नारद से गर्व सहित पूछा—"महर्षे! आपने विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों के राज-प्रासादों और बड़े-बड़े भूपतियों के अन्त:पुरों को देखा है, पर क्या कहीं इस प्रकार की चारुहासिनी, सर्वांगसुन्दरी स्त्रियों में रत्नतुल्य रमणियाँ देखी हैं?"

अपने अभीप्सित कार्य के सम्पादन का उचित अवसर समझ कर नारद बोले[1]—"राजन्! तुम कूपमण्डूक की तरह बात कर रहे हो। जम्बूद्वीपस्थ भरतखण्ड के हस्तिनापुराधिप पाण्डवों की महारानी द्रौपदी के सामने तुम्हारी ये सब रानियाँ दासियाँ सी लगती हैं।" यह कहकर नारद वहाँ से चल दिये।

द्रौपदी को प्राप्त करने हेतु पद्मनाभ ने तपस्यापूर्वक अपने मित्र देव की आराधना की और देव के प्रकट होने पर उससे द्रौपदी को लाने की

---

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा—"द्रौपदी पतिव्रता है। वह पांडवों के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नहीं चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूँ।"

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुँचा और अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलते ही सारी स्थिति देख कर द्रौपदी बड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा—"सुन्दरी! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूँ। तुम्हें अपनी पट्टमहिषी बनाने हेतु मैंने तुम्हें यहाँ मंगवाया है।"

द्रौपदी ने क्षणभर में ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और बड़ा दूरदर्शितापूर्ण उत्तर दिया—"राजन्! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहाँ नहीं आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार विचार करूँगी।"[1]

यहाँ किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात मान ली और द्रौपदी को कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया। वहाँ द्रौपदी आयंबिल तप करते हुए रहने लगी।[2]

प्रातःकाल होते ही पाण्डवों ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूंढने के सब प्रयास किये, पर द्रौपदी का कहीं पता न चला। लाचार हो उन्होंने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार में पड़ गये। उसी समय नारद स्वयं द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होंने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के रनिवास में द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की बात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एवं सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहाँ अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ—"कहिये! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?"

कृष्ण ने कहा—"पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।"

---

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

२ वही।

सुस्थित देव ने कहा—"पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहां से आपके पास ले आऊँ अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को सदलबल समुद्र में डुबो दूँ और द्रौपदी आपको सौंप दूँ।"

श्री कृष्ण ने कहा—"इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्बाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रबन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी को लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।"

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण के इच्छानुसार प्रबन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुँच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया[1] पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों के इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यबल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने पांचजन्य शंख का महाभयंकर घोष किया और शार्ङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर कांपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी बची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुँच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट बन्द कर दिये और रनिवास में आ छुपा।

इधर श्री कृष्ण ने नृसिंह रूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर बढ़ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमरकंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्री कृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में आ गिरा और प्राण भिक्षा माँगते हुए गिड़गिड़ा कर कहने लगा—"देवि! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।"

---

[1] ज्ञाता धर्म कथा १।१६

प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा—"द्रौपदी पतिव्रता है। वह पांडवों के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नही चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूं।"

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुँचा और अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलते ही सारी स्थिति देख कर द्रौपदी बड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा—"सुन्दरी ! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूं। तुम्हे अपनी पट्टमहिषी बनाने हेतु मैंने तुम्हें यहां मंगवाया है।"

द्रौपदी ने क्षणभर मे ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और बडा दूरदर्शितापूर्ण उत्तर दिया—"राजन् ! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहां नही आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार विचार करूंगी।"[1]

यहां किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात मान ली और द्रौपदी को कन्याओं के अन्तःपुर मे रख दिया। वहां द्रौपदी आयंबिल तप करते हुए रहने लगी।[2]

प्रातःकाल होते ही पाण्डवो ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूंढने के सब प्रयास किये, पर द्रौपदी का कही पता न चला। लाचार हो उन्होने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार में पड़ गये। उसी समय नारद स्वयं द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहां आ पहुंचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के रनिवास मे द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की बात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एवं सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहां अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ—"कहिये ! मैं आपकी क्या सेवा करूं ?"

कृष्ण ने कहा—"पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।"

---

१ ज्ञाता धर्म कथा, १।१६
२ वही।

सुस्थित देव ने कहा—"पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहां से आपके पास ले आऊं, अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को मदलबल समुद्र में डुबो दूं और द्रौपदी आपको सौंप दूं।"

श्री कृष्ण ने कहा—"इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्बाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रबन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी को लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।"

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण के इच्छानुसार प्रबन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुंच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया[1] पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों के इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यबल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्री कृष्ण ने पांचजन्य शंख का महाभयंकर घोष किया और शार्ङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर कांपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी बची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुंच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट बन्द कर दिये और रनिवास में जा छुपा।

इधर श्री कृष्ण ने नृसिंह रूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर बढ़ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमरकंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्री कृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में आ गिरा और प्राण भिक्षा मांगते हुए गिड़गिड़ा कर कहने लगा—"देवि! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूं, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।"

---

1 ज्ञाता धर्म कथा १।१६

द्रौपदी ने कहा—"यदि प्राणों की कुशल चाहते हो तो स्त्री के कपड़े पहन कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

भयकंपित पद्मनाभ ने तत्काल अबला नारी का वेष बनाया और द्रौपदी को आगे कर उसके पीछे-पीछे जा उसने श्री कृष्ण के चरणों मे नमस्कार किया। शरणागतवत्सल कृष्ण ने भी उसे अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवों के पास ले आये।[1]

तदनन्तर द्रौपदी सहित वे सब छह रथों पर आरूढ हो, जिस पथ से आये थे उसी पथ से लौट पड़े।

उस समय धातकीखण्ड की चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में वहाँ के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समवसरण मे बैठे हुए धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने कृष्ण द्वारा किये गये शंखनाद को सुन कर जिनेन्द्र प्रभु से प्रश्न किया—"प्रभो! मेरे शंखनाद के समान यह किसका शंखनाद कर्णगोचर हो रहा है?"

द्रौपदी-हरण का सारा वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वज्ञ प्रभु मुनिसुव्रत ने कहा—"कपिल! जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के त्रिखण्डाधिपति वासुदेव कृष्ण द्वारा किया हुआ यह शंख-निनाद है।"

कपिल ने कहा—"भगवन्! मुझे उस अतिथि का स्वागत करना चाहिए।"

भगवान् मुनिसुव्रत ने कहा—"कपिल जिस तरह दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती एक जगह नहीं मिल पाते, उसी प्रकार दो वासुदेव भी नहीं मिल सकते। हाँ तुम कृष्ण की श्वेत-पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।"[2]

भगवान् से यह सुन कर कपिल वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने की इच्छा लिये कृष्ण के रथ के पहियों का अनुसरण करता हुआ त्वरित गति से

---

१ साप्यूचे मां पुरस्कृत्य, स्त्रीवेशं विरचय्य च।
प्रयाहि शरणं कृष्णं, तथा जीवसि नान्यथा ॥६१॥
इत्युक्तः स तथा चक्रे, नमश्चक्रे च शार्ङ्गिणम्।
शरण्यो वासुदेवोऽपि, मा भैषीरित्युवाच तम् ॥६२॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ तए ण मुणि सुव्वए अरहा कविल वासुदेवं एवं वयासी, णो खलु देवाणुप्पिया एवं भूयं वा ३ जण्णं अरिहंता वा अरहंतं पासंति, चक्कवटी वा चक्कवट्टिं पासंति..............
...वासुदेवा वा वासुदेवं पासन्ति। तह वि य णं तुम कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झमज्झेणं वीईवयमाणस्स सेया पीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि।
[ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र १, अध्याय १६]

समुद्रतट की ओर बढ़ा और उसने समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की श्वेत और पीत वर्ण की ध्वजाओं के अग्रभाग देखे। उसने अपने शंख मे इस आशय की ध्वनि को पूरित कर शंखनाद किया—"यह मैं कपिल वासुदेव आपसे मिलने की उत्कंठा लिये आया हूं। कृपा कर लौटिये।"

श्रीकृष्ण ने भी शंख-निनाद से ही उत्तर दिया—"हम बहुत दूर निकल आये हैं। अब आप आने को कुछ न कहिये।"[1]

शंख-ध्वनि से कृष्ण का उत्तर पा कपिल अमरकंका नगरी पहुंचा। उसने पद्मनाभ की भर्त्सना कर उसे निर्वासित कर दिया एवं उसके पुत्र को अमरकंका के राजसिंहासन पर आसीन किया।

इधर लवण समुद्र पार कर कृष्ण ने पाण्डवों से कहा—"मैं सुस्थित देव को धन्यवाद देकर आता हूं, तब तक आप लोग गगा के उस पार पहुंच जाइये।"

पाण्डवों ने नाव में बैठ कर गंगा के प्रबल प्रवाह को पार किया और परस्पर यह कहते हुए कि आज श्रीकृष्ण के बल को देखेंगे कि वे गंगा के इस अतितीव्र प्रवाह को कैसे पार करते हैं, नाव को वहीं रख लिया।[2]

सुस्थित देव से विदा हो कृष्ण गंगा तट पर आये और वहां नाव न देख कर एक हाथ से घोड़ों सहित रथ को पकड़े दूसरे हाथ से जल में तैरते हुए गंगा को पार करने लगे। पर गंगा के प्रवाह के बीचोंबीच पहुंचते २ वे थक गये और सोचने लगे कि बिना नाव के पाण्डवों ने गंगा नदी पार कर ली, वे बड़े सशक्त हैं। कृष्ण के मन मे यह विचार उत्पन्न होते ही गगा के प्रवाह की गति धीमी पड़ गई और उन्होंने सहज ही गंगा को पार कर लिया।

गंगा के तट पर पहुंचते ही कृष्ण ने पाण्डवों से प्रश्न किया—"आप लोगो ने गंगा को कैसे पार कर लिया?"

पाण्डवों ने उत्तर दिया—"नाव से।"

कृष्ण ने पूछा—"फिर आप लोगो ने मेरे लिए नाव क्यों नही भेजी?"

---

१ कपिलो विष्णुरेषोऽहमुत्कस्त्वां द्रष्टुमागतः।
तद्वलस्वेत्यक्षराढ्य, शंख दध्मौ स शार्ङ्गभृत् ॥७२॥
आगमाम वय दूर त्वया वाच्यं न किंचन।
इति व्यक्ताक्षरध्वानं, शंखं कृष्णोऽप्यपूरयत् ॥७३॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ द्रक्ष्यामोऽद्य बलं विष्णोर्नौरत्रैव विधार्यताम्।
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ७६]

पाण्डवो ने हँसते हुए कहा—"आपके बल की परीक्षा करने के लिए।"

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले—"मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशिष्ट रह गई थी ? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमरकका की विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी आप लोगो को मेरा बल ज्ञात नही हुआ ?"

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवो के रथों को चकनाचूर कर डाला और उन्हें अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल पड़े और पाँचो पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये। उन्होने माता कुन्ती से सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी—"कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेगे ? क्योंकि इस भरतार्द्ध मे तो तिल रखने जितनी भूमि भी ऐसी नही है, जो तुम्हारी न हो।"

कृष्ण ने कहा—"दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा[1] नामक नया नगर बसा कर आपके पुत्र वहाँ रहे।

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवों ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा बसाई और वहाँ रहने लगे।[2]

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया।[3]

---

१ (क) त गच्छतु ण पच पडवा दाहिणिल्लवेयालिं तत्थ पडु महुरं निवेसतु.................

[ज्ञाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्यूचे दक्षिणाब्धे रोधस्यभिनवां पुरीम् ।
निवेश्य पाण्डुमथुरां, वसन्तु तव सूनवः ॥९१॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

२ ....पंडु महुर नगरं निवेसति ।

[ज्ञाता० १।१६]

३ कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम् ।...............

[त्रिषष्टि श पु. च., पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ९३]

जिस स्थान पर कृष्ण ने क्रुद्ध हो पाण्डवों के रथों को तोड़ा था, वहां कालान्तर में 'रथमर्दन' नामक नगर बसाया गया।[1]

द्वारिका का भविष्य

भगवान् अरिष्टनेमि भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में अपने अमोघ अमृतमय उपदेशों से भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर कृष्ण-बलराम अपने समस्त राज परिवार के साथ समवसरण में गये और भगवान् को वन्दन कर यथास्थान बैठ गये। द्वारिका और उसके आसपास की बस्तियों का जनसमूह भी समवसरण में उमड़ पड़ा।

देशना के पश्चात् कृष्ण ने सविधिवन्दन कर प्रांजलिपूर्वक भगवान् से पूछा[2]—"भगवन्! सुरपुर के समान इस द्वारिका का इस विशाल और समृद्ध यदुवंश का तथा मेरा अन्त कालवश स्वतः ही होगा अथवा किसी निमित्त से, किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ से होगा।"

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—"कृष्ण! घोर तपस्वी पराशर के पुत्र ब्रह्मचारी परिव्राजक द्वैपायन को शाम्ब आदि यादव-कुमार सुरापान से मदोन्मत्त हो निर्दयतापूर्वक मारेंगे। इससे क्रुद्ध हो द्वैपायन यादवों के साथ ही साथ द्वारिका को जलाने का निदान कर देव होगा और वह यादवों सहित द्वारिका नगरी को जला कर राख कर डालेगा। तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन में होगा।"[3]

त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के उत्तर को सुनकर सभी श्रोता स्तब्ध रह गये। सबकी घृणावृष्टि जराकुमार पर पड़ी। जराकुमार आत्मग्लानि से बड़ा खिन्न हुआ। उसने तत्काल उठ कर प्रभु को प्रणाम किया और अपने आपको इस घोर कलंकपूर्ण पातक से बचाने के लिए केवल धनुष-बाण ले द्वारिका से प्रस्थान कर वनवासी बन गया।

---

१ ....कोहवस्स परामुसइ पंचण्हं पंडवाणं रहे सूमूरेइ, निव्विसए आणवेइ..........तत्थ णं रहमद्दणे नामं कोट्टे निविट्ठे।

[ज्ञाता धर्म कथा, श्रु. १, अ. १६]

२ चउप्पन महापुरिस चरियं में बलदेव द्वारा प्रश्न किये जाने का उल्लेख है। यथा—"लद्धाव-सरेण य पुच्छिओ बलदेवेणं भयवं केच्चिरानकालाओ इमीए णयरीए अवसाणं भवि-स्सइ? कुओ वा सयासाओ वासुदेवस्स य?"

[चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ. १९८]

३ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ३ से ६

लोगों के मुख से प्रभु अरिष्टनेमि द्वारा कही गई बात सुन कर द्वैपायन परिव्राजक भी द्वारिका एवं द्वारिकावासियों के रक्षार्थ नगर से दूर वन में रहने लगा।

बलराम के सारथि व भाई सिद्धार्थ ने भावी द्वारिकादाह की बात सुन कर संसार से विरक्त हो प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। बलराम ने भी उसे यह कहते हुए दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति दी कि देव होने पर वह समय पर प्रतिबोध देने अवश्य आवे। मुनि-धर्म स्वीकार कर सिद्धार्थ ने छः मास की घोर तपस्या की और आयु पूर्ण कर देव हो गया।

द्वारिका के रक्षार्थ मद्य-निषेध

श्री कृष्ण ने भी द्वारिका, यादवों एवं प्रजाजनों के रक्षार्थ द्वारिका में कड़ी मद्य-निषेधाज्ञा घोषित करवाई कि जो भी कोई सुरापान करेगा उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा। "न रहेगा बांस, न बजेगी बाँसुरी" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने सुरा को सब अनर्थों का मूल समझ कर द्वारिका के समस्त मद्यपात्रों को द्वारिका से कुछ दूर कदम्ब वन में पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डों पर फिकवा दिया। प्रत्येक नागरिक के मन में द्वारिका के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, अतः उसे विनाश से बचाने के लिए समस्त प्रजाजन द्वारिका से सुरा का नाम तक मिटा देने का दृढ़ संकल्प लिए अगणित मद्यपात्रों को ले जाकर कादम्बरी गुफा की चट्टानों पर पटकने में जुट गये।

श्रीकृष्ण ने प्रमुख नागरिकों को और विशेषतः समस्त क्षत्रिय-कुमारों को इस निषेधाज्ञा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए सावधान किया कि वे जीवन भर कभी मद्यपान न करें, क्योंकि मद्य बुद्धि को विलुप्त करने वाला और सब अनर्थों का मूल है।

इस आज्ञा के साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करवा दी कि अलका सी इस सुन्दर द्वारिकापुरी का सुरा, अग्नि एवं द्वैपायन के निमित्त विनाश हो उससे पूर्व जो भी भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित होना चाहें, उन्हें वे सब प्रकार से हार्दिक सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हैं।

श्रीकृष्ण की इस उदार घोषणा से उत्साहित हो अनेक राजाओं, रानियों राजकुमारों एवं नागरिकों ने संसार को निस्सार और दुःख का आकर समझ-कर भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुनि-धर्म स्वीकार किया।

कुछ ही समय पश्चात् शाम्बकुमार का एक सेवक किसी कार्यवश कादम्बरी गुफा की ओर आ पहुंचा। वैशाख की कड़ी धूप के कारण प्यास

लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमे से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड मे पानी नही अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियों ने जो सुरापात्र वहां शिलाओ पर पटके थे वह सुरा बह कर उस शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुष्पो के कुण्ड में झड़कर गिरने से वह मदिरा बडी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्ब के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौटकर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्ब को भेंट की। शाम्ब सायंकाल में उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए बार-बार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहां से लाया है?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्ब दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्बरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारों ने उस कादम्बरी मदिरा को बड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे में झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर शाम्ब उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा—"यह स्वान हमारी प्यारी द्वारिका और प्राणप्रिय यादव कुल का नाश करेगा। अरे! इसे इसी समय मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा?"[1]

बस, फिर क्या था, वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका में आ अपने-अपने घरो मे जा घुसे।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरो से इस घटना का पता चला तो वे यदु-कुमारों के इस क्रूर कृत्य पर बड़े क्रुद्ध हुए। बलराम को साथ ले कृष्ण तत्काल द्वैपायन के पास पहुंचे और कुमारों की दुष्टता के लिए क्षमा मांगते हुए बार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नही हुआ। उसने कहा—"कुमार जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, उस समय मैं निदान कर चुका हू कि

---

[1] शाम्बो बभाषे स्वानित्यमयं मे नगरिं कुलम्।
हन्ता तदन्यतामेव, हनिष्यति हत. कथम् ॥२८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

तुम दोनों भाइयों को छोड़ कर सब यादवो और नागरिकों को द्वारिका के साथ ही जलाकर खाक कर दूंगा। तुम दोनो के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता तक भी नही बच पायेगा।"[1]

श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वारा द्वारिकावासियो सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर-घर में फैल गई। श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका मे घोषणा करवा दी.—"आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यों को करते हुए बितायें।

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यों मे जुट गये।

उन्ही दिनो भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे। श्रीकृष्ण और बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के प्रमुख नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनने के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड पडे। मोहान्धकार को मिटाने वाले भगवान् के प्रवचनो को सुनकर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक निसढ आदि अनेक यादव-कुमारों और रुक्मिणी जाम्बवती आदि अनेक स्त्रीरत्नो ने विरक्त हो प्रभु के चरणो मे श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया—"आज से बारहवें वर्ष मे द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।"

श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आंखो के सामने द्वारिकादाह का भावी वीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मंडराने लगा। वे सोचने लगे—'धनपति कुबेर की देखरेख मे विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एव मणि-माणिक्य, हीरो, पन्नो आदि अमूल्य रत्नों से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग-सा यह नगर आज से बारहवें वर्ष मे सुरों और सुररमणियो से स्पर्धा करने वाले समस्त नागरिको सहित जलाकर भस्मसात् कर दिया जायगा।"

---

१ तओ दीवायणेण भणियं-कण्ह! मया पइम्ममाणेण पइण्णा पडिवण्णा जहा-तुमे मोत्तूण पर दुवे वि ण अण्णस्स सुणयमेत्तस्स वि जन्तुणो मोक्खो,.........

[चउप्पन महापुरिस चरियं, पृष्ठ १९९]

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का अमिट चित्र अंकित हो गया। वे सोचने लगे—"धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि, जिन्होंने भोगों एवं भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हें अब द्वारिका-दाह का ज्वाला-प्रलय नहीं देखना पड़ेगा। ओफ्! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य में मूर्च्छित हूँ।"

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होंने कहा—"त्रिखण्डाधिप वासुदेव! निदान की लोहार्गला के कारण त्रिकाल में भी यह संभव नहीं कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है, अतः तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र में तुम भी मेरी तरह बारहवें तीर्थंकर बनोगे[1] और बलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।"

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द विभोर हो पुलकित हो उठे। बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होंने पुनः द्वारिका में घोषणा करवाई—"द्वारिका का दाह अवश्यंभावी है, अतः जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणों में प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है, वह अपने आश्रितों के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर बड़ी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालों को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितों के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कंधों पर लेता हूं।" उन्होंने द्वारिकावासियों को निरन्तर धर्म की आराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेक राज्य परिवार की महिलाओं, कई राजकुमारों और अन्य अनेकों स्त्री-पुरुषों ने प्रबुद्ध एवं विरक्त हो

---

१ (क) उस्सप्पिणी चउव्वीसाए तित्थकराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति तं
जहा सेणिए सुपासे........कण्हू......... [समवायांग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) भूत्वा भाव्यत्र भरते गंगाद्वार पुरेशितुः। जितशत्रोः सुतोऽर्हंस्त्वं द्वादशो नामतोऽममः॥
[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. १२]

(ग) अरहा अरिट्ठणेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी मा णं तुमं देवाणुप्पिया ओहय-जाव झियाहि.........तुमं......बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि.........
[अन्तगड दशा]

तुम दोनों भाइयों को छोड़ कर सब यादवो और नागरिकों को द्वारिका के साथ ही जलाकर खाक कर दूंगा। तुम दोनो के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता तक भी नही बच पायेगा।"[1]

श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वारा द्वारिकावासियों सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर-घर में फैल गई। श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका मे घोषणा करवा दी,—"आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कृत्यो को करते हुए बिताये।

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यो मे जुट गये।

उन्ही दिनो भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे। श्रीकृष्ण और बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के प्रमुख नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को सुनने के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड पड़े। मोहान्धकार को मिटाने वाले भगवान् के प्रवचनो को सुनकर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक निसढ आदि अनेक यादव-कुमारो और रुक्मिणी जाम्बवती आदि अनेक स्त्रीरत्नो ने विरक्त हो प्रभु के चरणो मे श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया—"आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।"

श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आंखो के सामने द्वारिकादाह का भावी बीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मंडराने लगा। वे सोचने लगे—'धनपति कुबेर की देखरेख मे विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एव मणि-माणिक्य, हीरो, पन्नो आदि अमूल्य रत्नो से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग-सा यह नगर आज से बारहवें वर्ष मे सुरों और सुररमणियो से स्पर्धा करने वाले समस्त नागरिको सहित जलाकर भस्मसात् कर दिया जायगा।"

---

१ तओ दीवायणेण भणियं-कण्ह ! मया पहम्ममाणेण पइण्णा पडिवण्णा जहा-तुमे मोत्तूण पर दुवे वि ण अण्णस्स सुणयमेत्तस्स वि अन्तुणो मोक्खो,..........

[चउप्पन महापुरिस चरियं, पृष्ठ १९९]

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का अमिट चित्र अंकित हो गया। वे सोचने लगे—"धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि, जिन्होंने भोगो एव भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हें अब द्वारिका-दाह का ज्वाला-प्रलय नहीं देखना पड़ेगा। ओफ्! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य में मूर्च्छित हूँ।"

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होंने कहा—"त्रिखण्डाधिप वासुदेव! निदान की लोहार्गला के कारण त्रिकाल में भी यह संभव नहीं कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है, अतः तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र मे तुम भी मेरी तरह बारहवें तीर्थंकर बनोगे[1] और बलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।"

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द विभोर हो पुलकित हो उठे। बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होंने पुनः द्वारिका में घोषणा करवाई—"द्वारिका का दाह अवश्यंभावी है, अतः जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणों में प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है, वह अपने आश्रितों के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर बड़ी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालों को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितों के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कंधों पर लेता हूं।" उन्होंने द्वारिकावासियों को निरन्तर धर्म की आराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेक राज्य परिवार की महिलाओं, कई राजकुमारों और अन्य अनेकों स्त्री-पुरुषों ने प्रबुद्ध एवं विरक्त हो

१ (क) एएसिणं चउव्वीसाए तित्थकराणं पुव्वभविया चउव्वीस नामधेज्जा भविस्सति तं
जहा सेणिए सुपास.........कण्ह......... [समवायांग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) च्युत्वा भाव्यत्र भरते गंगाद्वार पुरेशितुः। जितशत्रो. सुतोऽर्हंस्त्वं द्वादशो नामतोऽममः॥
[त्रिषष्टि श पु चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ५२]

(ग) अरहा अरिट्ठणेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी मा णं तुमं देवाणुप्पिया ओहय-जाव झियाहि.........तुमं......... बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि.........
[अतगड दशा]

प्रभु चरणों में दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण ने शासन और धर्म की अत्युत्कृष्ट भावना से सेवा की और इस तरह उन्होने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

इस प्रकार अनेक भव्य प्राणियों को मुक्तिपथ का पथिक बना प्रभु अरिष्टनेमि वहा से अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

उधर द्वैपायन निदानपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव हुआ और अपने वैर का स्मरण कर वह क्रुद्ध हो द्वारिका को भस्मसात् कर डालने की इच्छा से द्वारिका पहुँचा। पर उस समय सारी द्वारिका तपोभूमि बनी हुई थी। समस्त द्वारिकावासी आत्म-चिन्तन, धर्माराधन और प्रसिद्ध आयम्बिल (आचाम्ल) तप की साधना में निरत थे, अनेक नागरिक चतुर्थ भक्त, षष्टम भक्त और अष्टम भक्त किये हुए थे, अतः धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो वह द्वारिकावासियों का कुछ भी अनिष्ट नही कर सका और हताश हो लौट गया। द्वारिका को जलाने के लिए वह सदा छिद्रान्वेषण और उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा।

द्वैपायन द्वारा द्वारिकादाह

इस प्रकार द्वैपायन निरन्तर ग्यारह वर्ष तक द्वारिका को दग्ध करने का अवसर देखता रहा, पर द्वारिकावासियो की निरन्तर धर्माराधना के कारण ऐसा अवसर नहीं मिला।

इधर द्वारिकावासियों के मन में यह धारणा बलवती होती गई कि उनके निरन्तर धर्माराधन और कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्होंने द्वैपायन के प्रभाव को नष्ट कर उसे जीत लिया है, अतः अब काय-क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

इस विचार के आते ही कुछ लोग स्वेच्छापूर्वक सुरा, मांसादिक का सेवन करने लगे। "गतानुगतिको लोक" इस उक्ति के अनुसार अनेक द्वारिकावासी धर्माराधन एव तप-साधना के पथ का परित्याग कर अनर्थकर-पथ मे प्रवृत्त होने लगे।

द्वैपायन के जीव अग्निकुमार ने तत्काल यह रन्ध्र देख द्वारिका पर प्रलय ढाना प्रारम्भ कर दिया। अग्नि की भीषण वर्षा से द्वारिका मे सर्वत्र प्रचण्ड ज्वालाएँ भभक उठी। अशनिपात एव उल्कापात से धरती धूजने लगी। द्वारिका के प्राकार, द्वार और भव्य-भवन भूलुण्ठित होने लगे। कृष्ण और बलराम के चक्र व हल आदि सभी रत्न विनष्ट हो गये। समस्त द्वारिका देखते ही देखते ज्वाला का सागर बन गई। रमणियो, किशोरो, बच्चो और वृद्धो के करुण-क्रन्दन से आकाश फटने लगा। बड़े अनुराग और प्रेम से पोषित किये गये

सुगौर, सुन्दर और पुष्ट अगणित मानव-शरीर कपूर की पुतलियों की तरह जलने लगे। भागने का प्रयास करने पर भी कोई द्वारिकावासी भाग नहीं सका। अग्निकुमार द्वारा जो जहां था, वहीं स्तंभित कर दिया गया।

श्रीकृष्ण और बलराम ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को एक रथ में बिठाकर रथ चलाना चाहा, पर हजार प्रयत्न करने पर भी घोड़ों ने एक डग तक आगे नहीं बढ़ाया। हताश हो कृष्ण और बलदेव ने रथ को स्वयं खींचना प्रारम्भ किया, पर एक विशाल द्वार से कृष्ण और बलराम के निकलते ही वह द्वार भयंकर शब्द करता हुआ रथ पर गिर पड़ा।

द्वैपायन देव ने कहा—"कृष्ण-बलराम ! मैंने पहले ही कह दिया था कि आप दोनो भाइयों को छोड़कर और कोई बचा नहीं रह सकेगा।"

वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने कहा—"पुत्रो ! हमे बचाने का तुम पूरा प्रयास कर चुके हो, कर्मगति बलीयसी है, हम अब प्रभु-शरण लेते हैं। तुम दोनों भाई कुशलपूर्वक जाओ।"

कृष्ण और बलराम बड़ी देर तक वहां खड़े रहे। सब ओर से स्त्रियों की चीत्कारें, बच्चों एवं वृद्धों के करुण-क्रन्दन और जलते हुए नागरिकों की पुकारें उनके कानो के द्वार से हृदय में गूंज रही थी—"कृष्ण ! हमारी रक्षा करो, हलधर ! हमें बचाओ।" पर दोनों भाई हाथ मलते ही खड़े रह गये, कुछ भी न कर सके। संभवतः इन नरशार्दूलों ने अपने जीवन मे पहली ही बार विवशता का यह दुःखद अनुभव किया था।

सारी द्वारिका जल गई और भू-स्वर्ग-द्वारिका के स्थान पर धधकती आग का दरिया हिलोरे ले रहा था।

अन्ततोगत्वा असह्य अन्तर्व्यथा से संतप्त हो कृष्ण और बलदेव वहां से चल दिये।

शोकातुर कृष्ण ने बलराम से पूछा—"भैया ! अब हमे किस ओर जाना है ? प्रायः सभी नृपवर्ग अपने मन मे हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण भावना रखते हैं।"

बलराम ने कहा—दक्षिण दिशा मे पाण्डव-मथुरा की ओर।

श्रीकृष्ण ने कहा—"बलदाउ भैया ! मैंने पाण्डवो को निर्वासित कर उनका अपकार किया है।"

बलराम बोले—"उन पर तुम्हारे उपकार असीम हैं ? इसके अतिरिक्त पाण्डव बड़े सज्जन और हमारे सम्बन्धी हैं। इस विपन्नावस्था में हमें वे बड़े

स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेंगे।'

कृष्ण ने भी "अच्छा" कहते हुए अपने बड़े भाई के प्रस्ताव मे सहमति प्रकट की और दोनो भाइयो ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया।

शत्रु राजाओ से सघर्षों और मार्ग की अनेक कठिनाइयो का दृढतापूर्वक सामना करते हुए कई दिनो बाद दोनो भाई अत्यन्त दुर्गम कौशाम्बी वन मे जा पहुँचे। वहा पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई बलदेव से कहा—"आर्य! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे बढना मेरे लिए असभव है। कही से ठडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है।"

बलदेव तत्क्षण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया मे बैठाकर पानी लाने के लिए चल पड़े।

बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्बर ओढे बायें घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया मे लेटे हुए थे। उसी समय शिकार की टोह मे जराकुमार उधर से निकला और पीताम्बर ओढे लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम मे बाण चला दिया।[1] बाण कृष्ण के दाहिने पादतल मे लगा। कृष्ण ने ललकारते हुए कहा—"सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है? मेरे सामने आयें।"

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा—"मैं तुम्हारा हतभाग्य बडा भाई जराकुमार हू। तुम्हारे प्राणों की रक्षा हेतु बनवासी होकर भी दुर्दैव से मैं तुम्हारे प्राणो का ग्राहक बन गया।"

कृष्ण ने सक्षेप मे द्वारिकादाह, यादव-कुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा—"हमारे यादव-कुल मे केवल तुम्ही बचे हो, अत: पाण्डवो को यह मणि दिखाकर तुम उनके पास ही रहना। शोक त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ. बलराम आने ही वाले है। उन्होने यदि तुम्हे देख लिया तो तत्क्षण मार डालेगे।"

---

१ श्रीमद्भागवत मे जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल मे बाण का प्रहार करने का उल्लेख है —

मुसलावशेषाय:खण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं, विव्याध मृगशकया ।।३३।।

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० ३०]

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया ।

प्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण बलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये ।

थोड़ी ही देर में शीतल जल लेकर ज्योंही बलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हें निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे । बड़ी इन्तजार के बाद भी जब कृष्ण को जगते नही देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई ! जगो बहुत देर हो गई ।"

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होंने पीताम्बर हटाया । कृष्ण के पादतल में घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाड़ने लगे—"अरे कौन है वह दुष्ट, जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है ? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ ।"

बलदेव बड़ी देर तक जंगल में इधर-उधर घातक को खोजने लगे । पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कहीं पता न चलने पर वे पुनः कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए बार-बार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात मे कृष्ण के पास बैठे-बैठे करुण विलाप करते रहे ।

अन्त में सूर्योदय होने पर बलराम ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई ! उठो, महापुरुष होकर भी आज तुम साधारण पुरुष की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो ? उठो, सूर्योदय हो गया, अब यहाँ सोने से क्या होगा ? चलो आगे चलें ।"

यह कह कर बलराम ने अपने भाई के प्रति प्रबल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझकर अपने कन्धे पर उठाया और ऊबड़-खाबड़ दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्खलित होते हुए भी आगे की ओर चल पड़े । इस तरह वे बिना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए बीहड़ वनो मे निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे ।

बलराम को इस स्थिति मे देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हो सयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, बड़ा चिन्तित हुआ । उसने सोचा—"अहो ! कर्म की परिणति कैसी दुर्निवार है । त्रिखण्डाधिपति कृष्ण और बलराम की यह अवस्था ? मेरा कर्त्तव्य है कि मै बलदेव को जाकर समझाऊँ ।"

स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेंगे ।'

कृष्ण ने भी "अच्छा" कहते हुए अपने बडे भाई के प्रस्ताव मे सहमति प्रकट की और दोनो भाइयो ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया ।

शत्रु राजाओं से संघर्षों और मार्ग की अनेक कठिनाइयो का दृढतापूर्वक सामना करते हुए कई दिनो बाद दोनो भाई अत्यन्त दुर्गम कोशाम्बी वन मे जा पहुंचे । वहा पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई बलदेव से कहा—"आर्य! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे बढ़ना मेरे लिए असंभव है । कही से ठंडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है ।"

बलदेव तत्क्षरण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया मे बैठाकर पानी लाने के लिए चल पड़े ।

बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्बर ओढे बायें घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया मे लेटे हुए थे । उसी समय शिकार की टोह मे जराकुमार उधर से निकला और पीताम्बर ओढे लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम मे बाण चला दिया ।[1] बाण कृष्ण के दाहिने पादतल मे लगा । कृष्ण ने ललकारते हुए कहा—"सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है ? मेरे सामने आये ।"

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा—"मैं तुम्हारा हतभाग्य बडा भाई जराकुमार हूं । तुम्हारे प्राणो की रक्षा हेतु बनवासी होकर भी दुर्दैव से मैं तुम्हारे प्राणों का ग्राहक बन गया ।"

कृष्ण ने सक्षेप मे द्वारिकादाह, यादव-कुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा—"हमारे यादव-कुल मे केवल तुम्ही बचे हो, अत पाण्डवो को यह मणि दिखाकर तुम उनके पास ही रहना । शोक त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ, बलराम आने ही वाले हैं । उन्होने यदि तुम्हे देख लिया तो तत्क्षण मार डालेगे ।"

---

१ श्रीमद्भागवत मे जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल मे बाण का प्रहार करने का उल्लेख है –

मुसलावशेषाय:खण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकार तच्चरण, विव्याध मृगशङ्कया ।।३३।।

[श्रीमद्भागवत, स्कध ११, अ० ३०]

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया।

प्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण बलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये।

थोड़ी ही देर में शीतल जल लेकर ज्योंही बलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हें निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे। बड़ी इन्तजार के बाद भी जब कृष्ण को जगते नहीं देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई! जगो बहुत देर हो गई।"

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होंने पीताम्बर हटाया। कृष्ण के पादतल में घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाड़ने लगे—"अरे कौन है वह दुष्ट, जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ।"

बलदेव बड़ी देर तक जंगल में इधर-उधर घातक को खोजने लगे। पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कहीं पता न चलने पर वे पुनः कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए बार-बार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात में कृष्ण के पास बैठे-बैठे करुण विलाप करते रहे।

अन्त में सूर्योदय होने पर बलराम ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाई! उठो, महापुरुष होकर भी आज तुम साधारण पुरुष की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो? उठो, सूर्योदय हो गया, अब यहाँ सोने से क्या होगा? चलो आगे चलें।"

यह कह कर बलराम ने अपने भाई के प्रति प्रबल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझकर अपने कन्धे पर उठाया और ऊबड़-खाबड़ दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्खलित होते हुए भी आगे की ओर चल पड़े। इस तरह वे बिना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए बीहड़ वनों में निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे।

बलराम को इस स्थिति में देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हो संयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, बड़ा चिन्तित हुआ। उसने सोचा—"अहो! कर्म की परिणति कैसी दुर्निवार है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण और बलराम की यह अवस्था? मेरा कर्त्तव्य है कि मैं बलदेव को जाकर समझाऊँ।"

इस प्रकार सोचकर देव ने विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तों से बलराम को समझाने का प्रयत्न किया।

उसने बढ़ई का वेष बना कर, जिस पथ पर बलदेव जा रहे थे, उसी पथ में आगे बढ़ विकट पर्वतीय ऊँचे मार्ग को पार कर समतल भूमि में चकनाचूर हुए रथ को ठीक करने का उपक्रम प्रारम्भ किया। जब बलदेव उसके पास पहुँचे तो उन्होंने बढ़ई से कहा—"क्यों व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? दुर्लंघ्य पर्वतीय विकट मार्ग को पार करके जो रथ समतल भूमि में टूट गया, वह अब भला क्या काम देगा ?"

बढ़ई बने देव ने अवसर देख तत्काल उत्तर दिया—"महाराज ! जो कृष्ण तीन सौ साठ (३६०) भीषण युद्धों में नहीं मरे और अन्त मे बिना किसी युद्ध के ही मारे गये, वे जीवित हो जायेंगे तो मेरा यह विकट दुर्लंघ्य गिरि-पथों को पार कर समतल भूमि में टूटा हुआ रथ क्यों नहीं ठीक होगा ?"

"कौन कहता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई कृष्ण मर गया है ? यह तो प्रगाढ निद्रा में सोया हुआ है। तुम महामूढ़ हो।" बलदेव गरजकर बोले और पथ पर आगे की ओर बढ़ गये।

देव उसी पथ पर आगे पहुँच गया और माली का रूप बनाकर मार्ग में ही निर्जल भूमि की एक शिला पर कमल उगाने का उपक्रम करने लगा।

वहाँ पहुँचने पर बलदेव ने उसे देख कर कहा—"क्या पागल हो गये हो जो निर्जल स्थल मे और वह भी पाषाण-शिला पर कमल लगा रहे हो। भला शिला पर भी कभी कमल उगा है ?"

माली बने देव ने कहा—"महाराज ! मृत कृष्ण जीवित हो जायेंगे तो यह कमल भी इस शिला पर खिल जायगा।"

बलदेव क्रोधपूर्वक अपना उपर्युक्त उत्तर दोहराते हुए आगे बढ गये।

देव ने भी अपना प्रयास नहीं छोड़ा और वह राह पर आगे पहुँच कर जले हुए वृक्ष के अवशेष ठूंठ को पानी से सींचने लगा।

बलदेव ने जब उस जले हुए सूखे ठूंठ को पानी से सींचते हुए देखा तो कहने लगे—"अरे तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये हो, यह जला हुआ ठूंठ भी कहीं जल सींचने से हरा हो सकता है ?"

उस छद्म-वेषधारी देव ने कहा—"महाराज ! जब मरे हुए कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो यह जला हुआ वृक्ष क्यों नहीं हरा होगा ?"

बलराम भृकुटि-विभंग से उसे देखते हुए आगे बढ़ गये ।

देव भी आगे पहुँच गया और एक मृत बैल के मुंह के पास घास और पानी रख कर उसे खिलाने-पिलाने की चेष्टा करने लगा ।

जब बलदेव उस स्थान पर पहुँचे तो यह सब देख कर बोले—"भले मनुष्य ! तुम में कुछ बुद्धि भी है या नही ? मरा जानवर भी कही खाता पीता है ?"

किसान बने हुए उस देव ने कहा—"पृथ्वीनाथ ! मृत कृष्ण भोजन पानी ग्रहण करेंगे तो यह बैल भी अवश्य घास चरेगा और पानी पीयेगा ।"

इस पर बलराम कुछ नही बोले और मार्ग पर आगे बढ गए ।

इस प्रकार उस देव ने विविध उपायों से बलदेव को समझाने का प्रयास किया, तब अन्त में बलदेव के मन में यह विचार आया—"क्या सचमुच कंस-केशिनिषूदन केशव अब नहीं रहे ? क्या जरासन्ध जैसे प्रबल पराक्रमी शत्रु का प्राणहरण करने वाले मेरे भैया कृष्ण परलोकगमन कर चुके हैं, जिस कारण कि ये सब लोग एक ही प्रकार की बात कह रहे हैं ?"

उसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर देव अपने वास्तविक स्वरूप में बलदेव के समक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा—"बलदेव ! मैं वही आपका सारथि सिद्धार्थ हूं । भगवान् की कृपा से संयम-साधना कर मैं देव बना हूं । आपने मुझे मेरी दीक्षा के समय कहा था कि सिद्धार्थ ! यदि देव बन जाओ तो मुझे प्रतिबोध देने हेतु अवश्य आना । आपके उस वचन को याद करके आया हू । महाराज ! यह ध्रुव सत्य और ससार का अपरिवर्तनीय अटल नियम है कि जो जन्म ग्रहण करता है, वह एक न एक दिन अवश्य मरता है । सच बात यहं है कि श्रीकृष्ण अब नहीं रहे । आप जैसे महान् और समर्थ सत्पुरुष भी इस अपरिहार्य मृत्यु से विचलित हो मोह और शोक के शिकार हो जायेंगे तो साधारण व्यक्तियों की क्या स्थिति होगी ? स्मरण है आपको, प्रभु नेमिनाथ ने द्वारिकादाह के लिये पहले ही फरमा दिया था । वह भीषण लोमहर्षक काण्ड श्रीकृष्ण और आपके देखते-देखते हो गया ।"

"जो बीत चुका, उसका शोक व्यर्थ है । अब आप अणगार-धर्म को ग्रहण कर आत्मोद्धार कीजिए, जिससे फिर कभी प्रिय-वियोग का दारुण दुःख सहना ही नही पड़े ।

सिद्धार्थ की बातों से बलदेव का व्यामोह दूर हुआ । उन्होने ससम्मान श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार किया ।

उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि ने बलराम की दीक्षा ग्रहण करने की अन्तर्भावना जान कर अपने एक जंघाचारण मुनि को बलराम के पास भेजा। बलराम ने आकाश-मार्ग से आये हुए मुनि को प्रणाम किया और तत्काल उनके पास दीक्षा ग्रहण कर श्रमण धर्म स्वीकार किया[1] और कठोर तपस्या की ज्वाला मे अपने कर्मसमूह को इंधन की तरह जलाने लगे।

कालान्तर मे उन हलायुध मुनि ने परम संवेग और वैराग्य भाव से षष्ठम अष्टम, मासक्षमणादि तप करते हुए गुरु-आज्ञा से एकल विहार स्वीकार किया। वे ग्राम नगरादि मे विचरण करते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता वहीं रात भर के लिए निवास कर लेते।

किसी समय मासोपवास की तपस्या के पारण हेतु बलराम मुनि ने एक नगर मे भिक्षार्थ प्रवेश किया। उनका तप से शुष्क शरीर भी अप्रतिहत सौन्दर्ययुक्त था। धूलि-धूसरित होने पर भी उनका तन बड़ा मनोहर, कान्तिपूर्ण और लु चितकेश-सिर भी बडा मनोहर प्रतीत हो रहा था। बलराम के अद्भुत रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट नगर का सुन्दरी-मण्डल भिक्षार्थ जाते हुए महर्षि बलदेव को देख कुलमर्यादा को भूल कर उनके प्रति हाव-भाव बताने लगा। कूप-तट पर एक पुर-सुन्दरी ने तो मुनि की ओर एकटक देखते हुए कुए से जल निकालने के लिए कलश के बदले अपने शिशु के गले में ही रज्जु डाल दी। वह अपने शिशु को कुएं में डाल ही रही थी कि पास ही खड़ी एक अन्य स्त्री ने उसे—"अरे क्या अनर्थ कर रही है" यह कहकर सावधान किया।[2]

लोक-मुख से यह बात सुनकर महामुनि बलराम ने सोचा—"अहो कैसी मोह की छलना है, जिसके वशीभूत हो हमारे जैसे मुण्डित सिर वालों के पीछे भी ये ललनाएँ ऐसा कार्य करती हैं। पर इनका क्या दोष, मेरे ही पूर्वकृत कर्मों की परिणति से पुदगलों का ऐसा परिणमन है। ऐसी दशा में अब भिक्षा हेतु नगर या ग्राम में मुझे प्रवेश नही करना चाहिए। आज से मैं वन मे ही निवास करूंगा।"

ऐसा विचार कर मुनि बलराम बिना भिक्षा ग्रहण किए ही वन की ओर लौट गये और तुंगियागिरी के गहन वन मे जाकर घोर तपस्या करने लगे।

---

१ (क) ताव य गहगणाओ समुद्देस समागओ भयवओ सयासाओ एक्को विज्जाहर समणो। दट्ठूण य स⋯⋯पडिवण्णा रामेण तस्सन्तिए दिक्खा।

[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ २०४]

(ख) दीक्षा जिघृक्षु राम च, ज्ञात्वा श्री नेम्यपि द्रुतम्।
विद्याधरमुनिं प्रैषीदेकमेकं कृपालुषु ॥३६॥ त्रि. श पु च., ८।१२

२ ⋯⋯हा ! हयासि त्ति हयासे ! भणमाणीए संबोहिया [चउवन म. पु च., पृ २०८]

शत्रु राजाओं ने हलधर का एकाकी वनवास जान कर उन्हें मारने की तैयारी की, परन्तु सिद्धार्थ देव की रक्षा-व्यवस्था से वे वहां नहीं पहुँच सके।

मुनि बलराम वन में शान्त भाव से तप आराधन करने लगे।

उनके तपः प्रभाव से वन्य प्राणी सिंह और मृग परस्पर का वैर भूल उनके निकट बैठे रहते। एक दिन वे सूर्य की ओर मुंह किये कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े थे। उस समय कोई वन-छेदक वृक्ष काटने हेतु उधर आया और उसने मुनि को देखकर भक्ति सहित प्रणाम किया। तपस्वी मुनि को धन्य-धन्य कहते हुए पास के वृक्षों में से एक वृक्ष को काटने में जुट गया।

भोजन के समय अधकटे वृक्ष के नीचे छाया में वह भोजन करने बैठा। उसी समय अवसर देख मुनि शास्त्रोक्त विधि से चले। शुभ अध्यवसाय से एक हरिण भी यह सोच कर कि अच्छा धर्म-लाभ होगा, महामुनि का पारणा होगा, मुनि के आगे-आगे चला।

वृक्ष काटने वाले ने ज्योंही मुनि को देखा तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम के साथ मुनि को अपने भोजन में से भिक्षा देने लगा। 'काकतालीय' न्याय से उसी समय बड़े तीव्र वेग से वायु का झोंका आया और वह अधकटा विशाल वृक्ष मुनि बलराम, उस श्रद्धावनत सुथार और हरिण पर गिर पड़ा शुभ अध्यवसाय में मुनि बलराम, सुथार और हरिण तीनों एक साथ काल कर ब्रह्मलोक-पंचम कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए।

मुनि की तपस्या के साथ हरिण और सुथार की भावना भी बड़ी उच्च-कोटि की रही। मृग ने बिना कुछ दिये शुभ-भावना के प्रभाव से पंचम स्वर्ग की प्राप्ति कर ली।[1]

महामुनि थावच्चापुत्र

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुलों में थावच्चापुत्र का प्रमुख स्थान था। इनकी अल्पायु में ही इनके पिता के दिवंगत हो जाने के कारण कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी चलाती रही। उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक उसी प्रकार जमाये रखी जैसी कि श्रेष्ठी ने जमाई थी। थावच्चा गाथा-पत्नी की लोक में प्रसिद्धि होने के कारण उसके पुत्र की भी (थावच्चापुत्र की भी) थावच्चापुत्र के नाम से ही प्रसिद्धि हो गई।

---

१ (क) ......सुभभावणोवगयमाणसा य समुप्पण्णा बम्भलोयकप्पम्मि........

[चउप्पन महा. पु. चरिय. पृ. २०१]

(ख) ते अप्रमत्तरणा तेन, पतितेन हता मृता।
पद्मोत्तरविमानान्तर्ब्रह्मलोकेऽभवन् सुरा ॥७०॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, सर्ग ११]

गाथा-पत्नी ने बड़े लाड़-प्यार से अपने पुत्र थावच्चापुत्र का लालन-पालन किया और आठ वर्ष की आयु में उन्हे एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए रखा। कुशाग्रबुद्धि थावच्चापुत्र ने विनयपूर्वक अपने कलाचार्य के पास विद्याध्ययन किया और सर्वकलानिष्णात हो गये।

गाथा-पत्नी ने अपने इकलौते पुत्र का, युवावस्था में पदार्पण करते ही बड़ी धूमधाम से, बत्तीस इभ्यकुल की सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। थावच्चापुत्र पहले ही विपुल सम्पत्ति के स्वामी थे फिर कन्यादान के साथ प्राप्त सम्पदा के कारण उनकी समृद्धि और अधिक प्रवृद्ध हो गई। वे बड़े आनन्द के साथ गार्हस्थ्य जीवन के भोगो का उपभोग करने लगे।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि अठारह हजार श्रमण और चालीस हजार श्रमणियो के धर्मपरिवार सहित विविध ग्राम-नगरो को अपने पावन चरणो से पवित्र करते हुए रैवतक पर्वत के नन्दन-वन उद्यान मे पधारे।

प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद को पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी सुधर्म-सभा की कौमुदी घंटी बजवाई और द्वारिकावासियों को प्रभुदर्शन के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने की सूचना दी। तत्काल दशों दशार्ह, समस्त यादव परिवार और द्वारिका के नागरिक स्थानानन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो भगवान् के समवसरण में जाने के लिए कृष्ण के पास आये।

श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ हो दशो दशार्हों, परिजनों, पुरजनों, चतुरंगिणी सेना और वासुदेव की सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ द्वारिका के राजमार्गों पर अग्रसर होते हुए भगवान् के समवसरण में पहुँचे। थावच्चाकुमार भी इस विशाल जनसमुदाय के साथ समवसरण मे पहुँचा।

अत्यन्त प्रियदर्शी, नयनाभिराम एव मनोहारी भगवान् के दर्शन करते ही सबके नयन-कमल और हृदय-कुमुद विकसित हो गये। सबने बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया और यथोचित स्थान ग्रहण किया।

भगवान् की अघदलहारिणी देशना सुनने के पश्चात् श्रोतागण अपने-अपने आध्यात्मिक उत्थान के विविध सकल्पो को लिए अपने-अपने घर की ओर लौट गये।

थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दन कर अपनी माता के पास पहुँचा और माता को प्रणाम कर कहने लगा—"अम्बे! मुझे भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरी इच्छा संसार के विषय-भोगो से विरत हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनो से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने हेतु प्रभु के चरण-शरण मे प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।"

अपने पुत्र की बात सुन कर गाथा-पत्नी थावच्चा अवाक् रह गई, मानो उस पर अनभ्र वज्र गिरा हो। उसने अपने पुत्र को त्याग-मार्ग से आने वाले घोर कष्टों से अवगत कराते हुए गृहस्थ-जीवन मे रह कर ही यथाशक्ति धर्म-साधना करते रहने का आग्रह किया पर थावच्चा कुमार के अटल निश्चय को देख कर अन्त मे उसने अपनी आन्तरिक इच्छा नही होते हुए भी उसे प्रव्रज्या लेने की अनुमति प्रदान की।

गाथा-पत्नी ने बड़ी धूमधाम के साथ अपने पुत्र का अभिनिष्क्रमणोत्सव करने का निश्चय किया। वह अपने कुछ आत्मीयो के साथ श्रीकृष्ण के प्रासाद मे पहुँची और बहुमूल्य भेंट अर्पित कर उसने कृष्ण से निवेदन किया—"राज-राजेश्वर! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मेरी महती आकाक्षा है कि मैं बड़े ठाट के साथ उसका निष्क्रमण करूं। अतः आप कृपा कर छत्र चंवर और मुकुट प्रदान कीजिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"देवानुप्रिये! तुम्हे इसकी किंचित्मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही। मैं स्वय तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमणोत्सव करू गा।"

कृष्ण की बात से गाथा-पत्नी आश्वस्त हो अपने घर लौट आई। श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ हो चतुरगिणी सेना के साथ थावच्चा गाथा-पत्नी के भवन पर गये और थावच्चा पुत्र से बड़े मीठे वचनो मे बोले—"देवानुप्रिय! तुम मेरे बाहुबल की छत्रछाया मे बड़े आनन्द के साथ सासारिक भोगों का उपभोग करो। मेरी छत्रछाया मे रहते हुए तुम्हारी इच्छा के विपरीत सिवा वायु के तुम्हारे शरीर का कोई स्पर्श तक भी नही कर सकेगा। तुम सासारिक सुखो को ठुकरा कर व्यर्थ ही क्यो प्रव्रजित होना चाहते हो?"

थावच्चापुत्र ने कहा—"देवानुप्रिय! यदि आप मृत्यु और बुढापे से मेरी रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हो तो मैं दीक्षित होने का विचार त्याग कर बेखटके सासारिक सुखो को भोगने के लिए तत्पर हो सकता हूँ। वास्तव मे मैं इस जन्म-मरण से इतना उत्पीड़ित हो चुका हूँ कि गला फाड़ कर रोने की इच्छा होती है। त्रिखण्डाधिपते! क्या आप यह उत्तरदायित्व लेते है कि जरा और मरण मेरा स्पर्श नही कर सकेंगे?"

श्रीकृष्ण बड़ी देर तक थावच्चापुत्र के मुख की ओर देखते ही रहे और अन्त मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होने कहा—"जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार्य हैं। अनन्तबली तीर्थंकर और महान् शक्तिशाली देव भी इनका

निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही संभव है।"

थावच्चापुत्र ने कहा—"हरे! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलतः विनष्ट करना चाहता हूँ, वह बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के संभव नहीं, अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल द्वारिका में घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हों तो कृष्ण वासुदेव उन्हें सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते हैं।"

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवंशीय व इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वयं श्रीकृष्ण ने जलपूर्ण चांदी-सोने के घड़ों से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हजार दीक्षार्थियों का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक विशाल पालकी मे बिठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा में सबसे आगे विविध वाद्यों पर मन को मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादकों की कतारें, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा 'घर-घर' रव करती रथसेना, चिंघाड़ते हुए दीर्घ-दन्त, मदोन्मत्त हाथियो की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियों की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरों की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपथ पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढ़ा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें । ने भगवान् को वन्दन किया

एक हजार पुरुषों के साथ सब आभूषणों को उतार स्वयमेव पंचमुष्टि लुंचन कर प्रभु नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षित होकर थावच्चापुत्र ने भगवान् अरिष्टनेमि के स्थविरों के पास चौदह पूर्वों एवं एकादश अंगों का अध्ययन किया और चतुर्थ भक्तादि तपस्या से अपने कर्म-मल को साफ करने लगे।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने थावच्चाकुमार की आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि और हर तरह योग्यता देखकर उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियों को उनके शिष्य रूप में प्रदान किया और उन्हें भारत के विभिन्न जनपदों में विहार कर जन-कल्याण करने की आज्ञा दी। अणगार थावच्चापुत्र ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भारत के सुदूर प्रान्तों में अप्रतिहत विहार एवं धर्म का प्रचार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार किया।

अनेक जनपदों में विहार करते हुए थावच्चापुत्र अपने एक हजार शिष्यों के साथ एक समय शैलकपुर पधारे। वहाँ आपके तात्त्विक एवं विरक्तिपूर्ण उपदेश को सुनकर 'शैलक' जनपद के नरपति 'शैलक राजा' ने अपने पंथक आदि पाँच सौ मन्त्रियों के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार धर्मपथ से भूले-भटके अनेक लोगों को सत्पथ पर अग्रसर करते हुए थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पधारे।

सौगन्धिका नगरी में अणगार थावच्चापुत्र के पधारने से कुछ दिनों पहले वेद-वेदांग और सांख्यदर्शन के पारगामी गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान् परिव्राजकाचार्य आये थे। शुक के उपदेश से सौगन्धिका नगरी का सुदर्शन नामक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी बड़ा प्रभावित हुआ और शुक द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर वह शुक का उपासक बन गया था।

अणगार थावच्चापुत्र के सौगन्धिका नगरी में पधारने की सूचना मिलते ही सुदर्शन सेठ और सौगन्धिका नगरी के निवासी उनका धर्मोपदेश सुनने गये। उपदेश-श्रवण के पश्चात् सुदर्शन ने थावच्चापुत्र से धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये। थावच्चापुत्र के युक्तिपूर्ण और सारगर्भित उत्तर से सुदर्शन के सब संशय दूर हो गये और उसने थावच्चापुत्र से श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

किसी अन्य स्थान पर विचरण करते हुए शुक परिव्राजक को जब सुदर्शन के श्रमणोपासक बनने की सूचना मिली तो वे सौगन्धिका नगरी आये और सुदर्शन के घर पहुँचे।

निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही संभव है।"

थावच्चापुत्र ने कहा—"हरे! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलतः विनष्ट करना चाहता हूँ, वह बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के संभव नहीं, अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल द्वारिका मे घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हो तो कृष्ण वासुदेव उन्हे सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते हैं।"

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवंशीय व इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वयं श्रीकृष्ण ने जलपूर्ण चादी-सोने के घड़ों से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हजार दीक्षार्थियों का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक विशाल पालकी मे बिठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा मे सबसे आगे विविध वाद्यों पर मन को मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादकों की कतारें, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा 'घर-घर' रव करती रथसेना, चिघाडते हुए दीर्घदन्त, मदोन्मत्त हाथियो की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियो की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरो की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपथ पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें वन्दन किया। थावच्चापुत्र ने भगवान् को वन्दन किया और

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर सयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियो का कल्याण कर अन्त मे पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की सलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर मे पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियो से पीडित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे। पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे अन्त मे आठो कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहृत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया।

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नही रहे। उन्होने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नही चलता, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशत: द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनो की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन मे विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्य वैभव छोड़कर प्रभु के चरणो में प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी बार हिमवत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भाँति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्निया थी पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होने सब भोगो को ठुकरा दिया। बलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका मे ही हुई प्रतीत होती

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा।

सुदर्शन ने खड़े हो हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"विद्वन्! मैंने अरणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्वों का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है।"

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा—"तेरे वे धर्माचार्य कहाँ है?"

सुदर्शन ने उत्तर दिया—"वे नगर के बाहर नीलाशोक उद्यान मे विराजमान हैं।"

शुक ने कहा—"मैं अभी तुम्हारे धर्म-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्बन्धी और व्याकरण विषयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ। अगर उन्होने मेरे सब प्रश्नो का संतोषप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूँगा अन्यथा उन्हे अकाट्य युक्तियो और नय-प्रमाण से निरुत्तर कर दूंगा।"

यह कह कर परिव्राड्राज शुक अपने एक हजार परिव्राजको और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान मे अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुचे। उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे।

अरणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमारण, नय एवं युक्तिपूर्ण ढग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया। शुक को उन उत्तरो से पूर्ण संतोष के साथ वास्तविक बोध हुआ। उसने थावच्चापुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दे।

अरणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजको के साथ पंचमुष्टि-लुंचन कर उनके पास श्रमरण-दीक्षा स्वीकार की तथा अरणगार थावच्चापुत्र के पास चौदह पूर्व एवं एकादश अगो का अध्ययन कर स्वल्प समय मे ही आत्मविद्या का वह पारगामी बन गया। थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यो के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशो मे विचरण कर भव्य प्राणियो को धर्म-मार्ग पर आरूढ करे।

अपने गुरु थावच्चापुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अरणगारो के साथ अनेक प्रदेशों मे धर्म का प्रचार किया। थावच्चापुत्र के श्रमरणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभावित हो पंथक आदि अपने पाच सौ मन्त्रियो के साथ श्रमरण-दीक्षा स्वीकार की।

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर संयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियों का कल्याण कर अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की संलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियों से पीड़ित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे। पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे अन्त में आठों कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहंत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया।

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहे। उन्होंने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नहीं चलता, फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशतः द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनों की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्य वैभव छोड़कर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी बार हिमवत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भाँति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्नियां थी, पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होंने सब भोगों को ठुकरा दिया। बलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका में ही हुई प्रतीत होती

है। फिर वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालि, मयालि, उपयालि, पुरुषसेन, वारिषेण तथा कृष्ण के नन्दन प्रद्युम्न एवं जाम्बवती के पुत्र साम्बकुमार, वैदर्भी-कुमार अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय के सत्यनेमि, दृढनेमि ने तथा कृष्ण की अन्य रानियों ने भी द्वारिका मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। रानियों के अतिरिक्त मूलश्री और मूलदत्ता नाम की दो पुत्रवधुओं की दीक्षा भी द्वारिका में ही हुई थी। इन सबसे ज्ञात होता है कि कृष्ण वासुदेव के परिवार के सभी लोग भगवान् अरिष्ट-नेमि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे।

पाण्डवों का वैराग्य और मुक्ति

श्रीकृष्ण के अन्तिम आदेश का पालन करते हुए जब जराकुमार पाण्डवों के पास पाण्डव-मथुरा[1] मे पहुँचा तो उसने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त कौस्तुभ मणि पाण्डवों को दिखाई और रोते-रोते द्वारिकादाह, यदुवंश के सर्वनाश और अपने द्वारा हरिण की आशंका से चलाये गये बाण के प्रहार से श्रीकृष्ण के निधन आदि की सारी दुःखद घटनाओं का विवरण उन्हें कह सुनाया।

जराकुमार के मुख से हृदयविदारक शोक-समाचार सुन कर पाँचों पाण्डव और द्रौपदी आदि शोकाकुल हो विलख-विलख कर रोने लगे। अपने परम सहायक और अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण के निधन से तो उन्हें वज्रप्रहार से भी अधिक आघात पहुँचा। उन्हें सारा विश्व शून्य सा लगने लगा। उन्हें संसार के जंजाल भरे क्रिया-कलापों से सर्वथा विरक्ति हो गई।

घट-घट के मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु अरिष्टनेमि ने पाण्डवों की संयम-साधना की आन्तरिक इच्छा को जान कर तत्काल अपने चरमशरीरी चार ज्ञान के धारक स्थविर मुनि धर्मघोष को ५०० मुनियों के साथ पाण्डवमथुरा भेजा।[2] पाण्डवमथुरा में ज्योंही स्थविर धर्मघोष के आने का समाचार पाण्डवो ने सुना तो वे सपरिवार मुनि को वन्दन करने गये और उनके उपदेश से आत्मशुद्धि को ही सारभूत समझ कर युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों ने अपने पुत्र पाण्डुसेन[3] को पाण्डव-मथुरा का राज्य दे धर्मघोष के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

---

१ ....केणइ कालतरेण संपत्तो दाहिण महुर। [च. म. पु. च., पृ. २०५]

२ तान् प्रविव्रजिषून्ज्ञात्वा, श्रीनेमि. प्राहिणोन्मुनिम्।
धर्मघोष चतुर्ज्ञानि, मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥९२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १२]

३ (क) ज्ञाता धर्म कथा मे पाण्डुसेन को ही राज्य देने का उल्लेख है।
(ख) जारेय न्यस्य ते राज्ये........।
[त्रिषष्टि श पु. च, ८।१२, श्लोक ९३]
(ग) ...... सयलसामन्ताण समप्पियऊण णिवेसियो नियय रज्जे जराकुमारो।
[च. म. पु. च., पृष्ठ २०५]

महारानी द्रौपदी भी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित हो गई।

दीक्षित होने के पश्चात् पाँचों पाण्डवों और सती द्रौपदी ने क्रमश चौदह पूर्व और एकादश अंगों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़ी घोर तपस्याएं की। कठोर संयम और तप की तीव्र अग्नि में अपने कर्मसमूह को भस्मसात् करते हुए जिस समय युधिष्ठिर, भीम आदि पाँचों पाण्डव-मुनि ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि अरिहंत अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए विचर रहे हैं, तो पाचों मुनियों के मन मे भगवान् के दर्शन एवं वन्दन की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर सौराष्ट्र की ओर विहार किया। पाचों मुनि मास, अर्द्ध मास की तपस्या करते हुए सौराष्ट्र की ओर बढते हुए एक दिन उज्जयन्तगिरि से १२ योजन दूर हस्तकल्प[1] नगर के बाहर सहस्राम्रवन मे ठहरे।

युधिष्ठिर मुनि को उसी स्थान पर छोड कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मास-तप के पारण हेतु नगर में भिक्षार्थ गये। भिक्षार्थ घूमते समय उन्होंने सुना कि भगवान् नेमिनाथ उज्जयन्तगिरि पर एक मास की तपस्यापूर्वक ५३६ साधुओं के साथ चार अघाती कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। चारों मुनि यह सुन कर बड़े खिन्न हुए और तत्काल ही सहस्राम्रवन में लौट आये।

युधिष्ठिर के परामर्शानुसार पूर्वगृहीत आहार का परिष्ठापन कर पाँचों मुनि शत्रुंजय पर्वत पहुँचे और वहां उन्होने संलेखना की।

अनेक वर्षों की संयम-साधना कर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने २ मास की संलेखना से आराधना कर कैवल्य की उपलब्धि के पश्चात् अजरामर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

आर्या द्रौपदी भी अनेक वर्षों तक कठोर संयम-तप की साधना और एक मास की संलेखना में काल कर पंचम कल्प में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुई।[2]

धर्म-परिवार

भगवान् अरिष्टनेमि के संघ मे निम्न धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण　—　ग्यारह (११) वरदत्त आदि गणधर एव

---

१ अस्माद् द्वादशयोजनानि स गिरिर्नेमि प्रगे वीक्ष्य तद् ‥ ‥।

[त्रिषष्टि श पु च, ८।१२, श्लो० १२६]

२ ज्ञाता धर्म कथाग १।१६।

११ ही गण[1]

केवली	–	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	एक हजार (१,०००)
अवधिज्ञानी	–	एक हजार पाँच सौ (१,५००)
चौदह पूर्वधारी	–	चार सौ (४००)
वादी	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	अठारह हजार (१८,०००)
साध्वी	–	चालीस हजार (४०,०००)
श्रावक	–	एक लाख उनहत्तर हजार (१,६९,०००)
श्राविका	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३,३६०,००)'
अनुत्तरगति वाले	–	एक हजार छः सौ (१,६००)

एक हजार पाँच सौ (१५००) श्रमण और तीन हजार (३०००) श्रमणियां, इस प्रकार प्रभु के कुल चार हजार पाँच सौ अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

परिनिर्वाण

कुछ कम सात सौ वर्ष की केवलीचर्या के पश्चात् प्रभु ने जब आयुकाल निकट समझा तो उज्जयंतगिरि पर पाँच सौ छत्तीस साधुओं के[2] साथ एक मास का अनशन ग्रहण कर आषाढ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग मे मध्य-रात्रि के समय आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर निषद्या आसन से वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। अरिहन्त अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमार अवस्था मे रहे, चौवन दिनो तक छद्मस्थ रूप से साधनारत रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप मे विचरे। इस तरह प्रभु की कुल आयु एक हजार वर्ष की थी।

ऐतिहासिक परिपार्श्व

आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ को ही अब तक ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे, परन्तु कुछ वर्षों के तटस्थ एवं निष्पक्ष अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि अरिहन्त अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक

---

१ (क) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते।

[प्रवचन सारोद्धार, पूर्व भाग, द्वार १५, पृष्ठ ८६ (२)]

(ख) अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा, अट्ठारस गणहरा हुत्था ।।१७५।।

[कल्प० ७ स०]

२ आव० निर्युक्ति, गाथा ३३०, पृ. २१४ प्रथम।

पुरुष थे। प्रसिद्ध कोशकार डॉ० नरेन्द्रनाथ बसु, पुरातत्वज्ञ डॉ० फूहर्र प्रोफेसर बारनेट, कर्नल टॉड, मिस्टर करवा, डॉ० हरिसन, डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक विज्ञो ने धारणा व्यक्त की है कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[1] महाभारत में तार्क्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।[2] उन तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश दिया है[3] उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है। तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा—"सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है किन्तु धन, धान्य, पुत्र, कलत्र एवं पशु आदि में आसक्त मूढ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नही होता। जिसकी बुद्धि विषयो मे अनुरक्त एवं मन अशान्त है, ऐसे जनो की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह-बन्धन मे बँधा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नही है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है कि सगर के समय मे वैदिक लोग मोक्ष मे विश्वास नही करते थे, एतदर्थ यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नही हो सकता। ऋग्वेद मे भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके लिए विशेष पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। "लंकावतार" के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामों में अरिष्टनेमि का नाम भी आया है। वहाँ लिखा है कि एक ही वस्तु के अनेक नाम होने की तरह बुद्ध के भी असख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं। यह उल्लेख इससे पूर्व अरिष्टनेमि का होना प्रमाणित करता है। 'ऋषि-भासित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण-निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं, उनमे बीस अध्ययनो के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल मे हुए थे। उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थो मे भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है। इतना ही नही, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशो मे पहुँचा प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के शब्द है—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम "ओडिन" और चीनियों के प्रथम "फो" देवता थे।" धर्मानन्द कौशाम्बी ने घोर आंगिरस को नेमिनाथ माना है।

---

१ ऋग्वेद १।१४।८९।६।१।२४।१८०।१०।३।४।५३।१७।१०।१२।१७८।१। मथुरा १९६०
२ महाभारत का शान्ति पर्व २८८।४।।२८८।५।६।
३ सगर चक्रवर्ती से भिन्न, यह कोई अन्य राजा सगर होना चाहिए।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने अपने "वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास" में अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है, किन्तु उन्होंने इससे अधिक जैन ग्रन्थों में वरिणत अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त का कोई उल्लेख नही किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने ग्रन्थ में डॉ० राय चौधरी ने कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के सम्बन्ध मे उपलब्ध प्रमाणो का संकलन किया है। अतः उनकी दृष्टि उसी ओर सीमित रही है।[1]

प्रभास पुराण मे भी अरिष्टनेमि और कृष्ण से सम्बन्धित इस प्रकार का उल्लेख है।[2] यजुर्वेद मे स्पष्ट उल्लेख है—"अध्यात्मवेद को प्रकट करने वाले संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवो की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ अरिष्टनेमि के लिए आहुति समर्पित है।"[3]

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के माण्डूक्य प्रश्न और मुंडक में भी अरिष्टनेमि का नाम आया है।

महाभारत मे विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख है। उनमें "शूरः शौरिर्जनेश्वरः" पद व्यवहृत हुआ है।

इन श्लोकों का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में जयपुर में टोडरमल नामक एक जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" नामक अपने ग्रन्थ मे 'जनेश्वर' के स्थान पर 'जिनेश्वर' लिखा है। दूसरी बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को 'शौरिः' लिखा है। आगरा जिले में बटेश्वर के पास शोरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थों के अनुसार आरम्भ में यही पर यादवों की राजधानी थी। यहीं से यादवगण भाग कर द्वारिकापुरी पहुँचे थे। यही पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, अतः उन्हे 'शौरि' भी कहा है, और वे जिनेश्वर तो थे ही।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भगवान् अरिष्टनेमि निस्सदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अब तो आजकल के विद्वान् भी उन्हे ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

---

१ जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. १७० से।

२ अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वर. ॥५०॥
कालनेमिनिहा वीरः शूर. शौरिर्जनेश्वरः ॥८२॥

३ वाजस्यनु प्रसव बभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वत, स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ॥ [वाजसनेयि माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद सहिता अ० ६ मन्त्र २५। यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (वि० स० १६८४)]

वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन

संसार के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासज्ञों का अभिमत है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हो गये हैं। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के ताऊ के सुपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में कोई दो राय नहीं हो सकती और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की ही गुंजायश रहती है।

फिर भी आज तक यह प्रश्न इतिहासज्ञों के समक्ष अनबूझी पहेली की तरह उपस्थित रहा है कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में, जहां कि यादववंश का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, अरिष्टनेमि का कहीं उल्लेख है अथवा नहीं।

इस प्रहेलिका को हल करने के लिये इतिहास के विद्वानों ने समय-समय पर कई प्रयास किये पर उनकी शोध के केन्द्रबिन्दु सम्भवतः श्रीमद्भागवत और महाभारत ही रहे, अतः इस पहेली के समाधान में उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। फलतः अन्यत्र सूक्ष्म अन्वेषण एवं गहन गवेषणा के अभाव मे इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से संसार को वंचित ही रहना पड़ा।

इस तथ्य के सम्बन्ध में यह धूमिल एवं अस्पष्ट स्थिति हमें बहुत दिनों से खटकती रही है। हमने वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों मे इस पहेली के हल को ढूंढने का अनवरत प्रयास किया और अन्ततोगत्वा वेदव्यास प्रणीत 'हरिवंश' को गहराई से देखा तो यह उलझी हुई गुत्थी स्वतः सुलझ गई और भारतीय इतिहास का एक धूमिल तथ्य स्पष्टतः प्रकट हो गया।

हरिवंश में महाभारतकार वेदव्यास ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का चचेरे भाई होना स्वीकार किया है। इस विषय से सम्बन्धित 'हरिवंश' के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :—

> बभूवुस्तु यदोः पुत्राः, पंच देवसुतोपमाः।
> सहस्रदः पयोदश्च, क्रोष्टा नीलोऽञ्जिकस्तथा ॥१॥

[हरिवंश पर्व १, अध्याय ३३]

अर्थात् महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पांच पुत्र हुए।

गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः ।
गान्धारी जनयामास, अनमित्र महाबलम् ।।१।।

माद्री युधाजितं पुत्रं, ततोऽन्यं देवमीढुषम् ।।
तेषां वंशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ।।२।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए ।

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ।।३।।
[वही]

क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित् के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए । वृष्णि के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था ।

....।
अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिणः ।।११।।

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए ।

चित्रकस्याभवन् पुत्राः, पृथुर्विपृथुरेव च ।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपार्श्वकगवेषणौ ।।१५।।

अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्माधर्मभृत्तथा ।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ।।१६।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,[1] विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं ।

---

१ श्रीमद्भागवत मे वृष्णि के दो पुत्रो का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है । चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रो का नाम देते हुए 'पृथुर्विपृथु धन्याद्या' दूसरे पाठ मे 'पृथुविदूरथाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रो के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है ।
[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]

श्री अरिष्टनेमि के वंशवर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन भी 'हरिवंश' में वेदव्यास ने इस प्रकार किया है :

अश्मक्यां जनयामास, शूर वै देवमीढुष: ।
महिष्या जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश ।।१७।।
वसुदेवो महाबाहुः पूर्वमानकदुंदुभि. ।
....।।१८।।

देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः ।
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानथ गृंजिम: ।।२१।।
श्याम· शमीको गण्डूषः, पंच चास्य वरांगना: ।
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवा. ।।२२।।
राजाधिदेवी च तथा, पंचैते वीरमातर: ।
....।।२३।।

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३४]

वसुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशा: ।
....।।७।।

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३५]

अर्थात् यदु के क्रोष्टा, क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दश पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाँच पुत्रियां हुईं । वसुदेव की देवकी नाम की रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'हरिवंश' में दिये गये यादववंश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनो के परदादा युधाजित् और देवमीढुष सहोदर थे ।

दोनो परम्पराओ मे अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा के साहित्य मे अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा सहोदर माना गया है; जब कि 'हरिवश पुराण' मे चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है । संभव है कि चित्रक (श्रीमद्भागवत के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपर नाम रहा हो ।

पर दोनो परम्पराओं में श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को चचेरे भाई मानने मे कोई दो राय नही है ।

दोनों परम्पराओ के नामों की असमानता लम्बे अतीत में हुए ईति, भीति, दुष्काल, अनेक घोर युद्ध, गृह-कलह, विदेशी आक्रमण आदि अनेक कारणो से हो सकती है ।

गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः ।
गान्धारी जनयामास, अनमित्रं महाबलम् ।।१।।

माद्री युधाजित पुत्रं, ततोऽन्यं देवमीढुषम् ।।
तेषां वशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ।।२।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए ।

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णे, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ।।३।।
[वही]

क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित् के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए । वृष्णि के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था ।

....।
अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिण ।।११।।

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए ।

चित्रकस्याभवन् पुत्रा., पृथुर्विपृथुरेव च ।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपार्श्वकगवेषणौ ।।१५।।

अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्माधर्मभृत्तथा ।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ।।१६।।
[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,[1] विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं ।

---

१ श्रीमद्भागवत मे वृष्णि के दो पुत्रो का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है । चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रो का नाम देते हुए 'पृथुर्विपृथु धन्याद्या' दूसरे पाठ मे 'पृथुर्विदूरथाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रो के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है ।
[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]

वैदिक परम्परा
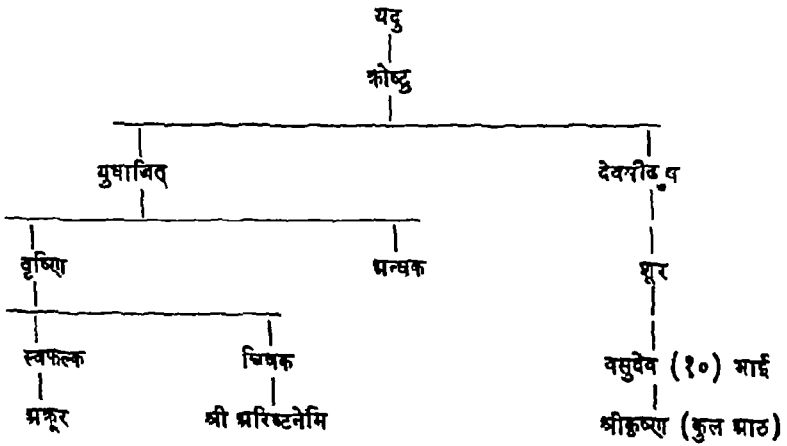
वैदिक परम्परा की ही दूसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष :—

हरिवंश

१. यदु
२. माधव
३. सत्वत
४. भीम
५. अन्धक
६. रैवत
७. विश्वगर्भ

किन्तु जैन साहित्य ने तीर्थंकरो के सम्बन्ध में जो विवरण आगमो और इतिहास-ग्रन्थो मे सजोये रखा है, उसे प्रामाणिक मानने मे कोई सन्देह की गुंजायश नही रहती।

इतना ही नही 'हरिवंश' मे श्रीकृष्ण की प्रमुख महारानी सत्यभामा की मझली बहिन व्रतिनी-दृढव्रता का भी उल्लेख है[1], जिसके विवाह होने का वहाँ कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। दृढव्रता, इस गुण-निष्पन्न नाम से, सम्भव है कि वह राजीमती के लिये ही संकेत हो, कारण कि राजीमती से बढ कर व्रतिनी अथवा दृढव्रता उस समय के कन्यारत्नों मे और कौन हो सकती है, जिसने केवल वाग्दत्ता होते हुए भी तोरण से अपने वर के लौट जाने पर आजीवन अविवाहिता रहने का प्रण कर दृढ़ता के साथ महाव्रतों का पालन किया।

इतिहासप्रेमियों के विचारार्थ व पाठको की सुविधा के लिये श्रीकृष्ण व श्री अरिष्टनेमि से सम्बन्धित यदुकुल के तुलनात्मक वंशवृक्ष यहाँ दिये जा रहे है।

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के जैन व वैदिक परम्परा के अनुसार वंशवृक्ष :—
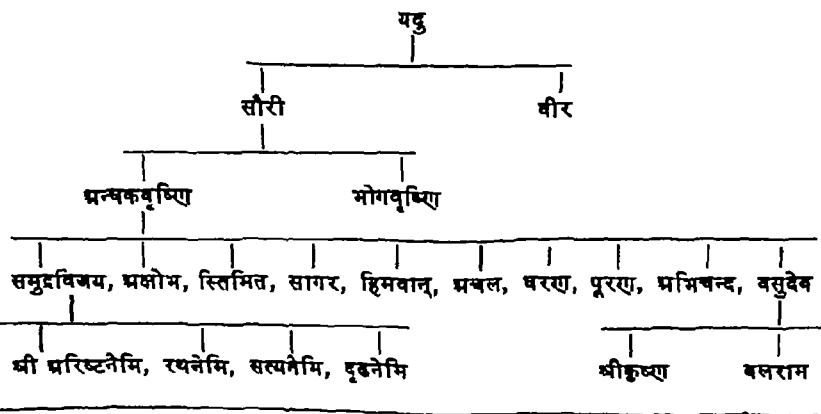
१ सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां, व्रतिनी च दृढव्रता।

[हरिवंश पर्व, अ० ३८, श्लोक ४७]

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[1]

१. यदु
२. क्रोष्टा
३. वृजिनिवान्
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६. शूर ....(छोटा पुत्र)
७. वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ....(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[2]

१. यदु

वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेवः सुतो विभुः ।
.... ॥२०॥
एष ते स्वस्य वंशस्य, प्रभवः संप्रकीर्तितः ।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ॥२२॥

[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३८]

१ बुधात् पुरूरवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति ।
नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ॥२७॥
यदुस्तस्मान्महासत्वाः, क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति ।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ॥२८॥
वृजिनिवतस्च भविता उषंगुरपराजितः ।
उषंगोर्भविता पुत्रः, शूरश्चित्ररथस्तथा ॥२९॥
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ।
.... ॥३०॥
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो, महावीर्यो महायशाः ।
स्ववंश विस्तरकरं, जनयिष्यति मानवः ॥३१॥
वसुदेव इति ख्यात, पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥३२॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

२ ययातेर्देवयान्यां तु, यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुत. ।
यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ इति स्मृत. ॥ ६ ॥
यादवस्तस्य तु सुत, शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
शूरस्य शौरिर्नृवरो, वसुदेवो महायशा. ॥ ७ ॥

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

८. वसु
|
९. वसुदेव
|
१०. श्रीकृष्ण[1]

---

१ आसीद् राजा मनोर्वंशे, श्रीमानिक्ष्वाकुसंभव.।
हर्यश्व इति विख्यातो, महेन्द्रसम विक्रम. ॥१२॥
तस्यैव च सुवृत्तस्य, पुत्रकामस्य धीमत.।
मधुमत्यां सुतो जज्ञे, यदुर्नाम महायशा ॥४४॥
[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३७]
स तासु नागकन्यासु, कालेन महता नृप.।
जनयामास विक्रान्तान्पच पुत्रान् कुलोद्वहान् ॥ १ ॥
मुचुकुन्द महाबाहु, पद्मवर्णं तथैव च।
माधव सारसं चैव, हरित चैव पार्थिवम् ॥ २ ॥
एवमिक्ष्वाकुवंशात्तु यदुवंशो विनि सृतः।
चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु, चतुर्भिर्भिद्यते पुनः ॥३५॥
स यदुर्माधवे राज्यं, विसृज्य यदुपु गवे।
त्रिविष्टप गतो राजा, देह त्यक्त्वा महीतले ॥३६॥
बभूव माधवसुत. सत्वतो नाम वीर्यवान्।
.... ॥३७॥
सत्वतस्य सुतो राजा, भीमो नाम महानभूत्।
.... ॥३८॥
....।
अन्धको नाम भीमस्य, सुतो राज्यमकारयत् ॥४३॥
अन्धकस्य सुतो जज्ञे, रैवतो नाम पार्थिवः।
ऋक्षोऽपि रैवताज्जज्ञे, रम्ये पर्वतमूर्धनि ॥४४॥
रैवतस्यात्मजो राजा, विश्वगर्भो महायशा.।
बभूव पृथिवीपालः पृथिव्यां प्रथित प्रभुः ॥४६॥
तस्य तिसृपु भार्यासु, दिव्यरूपासु केशव·।
चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा, लोकपालोपमाः शुभाः ॥४७॥
वसुर्बभ्रु. सुषेणश्च, सभाक्षश्चैव वीर्यवान्।
यदु प्रवीराः प्रख्याता, लोकपाला इवापरे ॥४८॥

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[1]

१. यदु
२. क्रोष्टा
३. वृजिनिवान्
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६. शूर ....(छोटा पुत्र)
७. वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ....(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[2]

१. यदु

वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेवः सुतो विभुः ।
.... ॥५०॥
एष ते स्वस्य वंशस्य, प्रभवः संप्रकीर्तितः ।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ॥५२॥

[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३८]

१ बुधात् पुरूरवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति ।
नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ॥२७॥
यदुस्तस्मान्महासत्वाः, क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति ।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ॥२८॥
वृजिनिवतश्च भविता उषंगुरपराजितः ।
उषंगोर्भविता पुत्र., शूरश्चित्ररथस्तथा ॥२९॥
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ।
.... ॥३०॥
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो, महावीर्यो महायशाः ।
स्ववंश विस्तरकरं, जनयिष्यति मानद. ॥३१॥
वसुदेव इति ख्यातं, पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ॥३२॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

२ ययातेर्देवयान्यां तु, यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुत. ।
यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ इति स्मृत ॥ ६ ॥
यादवस्तस्य तु सुत, शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
शूरस्य शौरिर्नृवरो, वसुदेवो महायशा. ॥ ७ ॥

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

२. ....(इनके वंश में देवमीढ़ नाम से विख्यात एक यादव हो गये हैं)[1]
३. देवमीढ़
४. शूर
५. वसुदेव
६. श्रीकृष्ण

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

भगवान् अरिष्टनेमि के निर्वाण के पश्चात् और भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व के मध्यकाल में अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-शासन मे इस अवसर्पिणी काल का भारतवर्ष का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। ब्रह्मदत्त का जीवन एक ओर अमावस्या की दुखद, बीभत्स अन्धेरी रात्रि की तरह भीषण दुःखो से भरपूर; और दूसरी ओर शरद पूर्णिमा की सुखद सुहावनी चटक-चांदनी से शोभायमान रात्रि की तरह सांसारिक सुखो से ओतप्रोत था। इसके साथ ही साथ ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती-जीवन के बाद के एवं पहले के भव दारुण से दारुणतम दुःखों के केन्द्र रहे।

ब्रह्मदत्त के ये भव भीषण भवाटवी के और भवभ्रमण की भयावहता के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

काम्पिल्य नगर के पांचालपति ब्रह्म की महारानी चुलनी ने गर्भधारण के पश्चात् चक्रवर्ती के शुभजन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। समय पर महारानी चुलनी ने तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाले परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

ब्रह्म नृपति को इस सुन्दर-तेजस्वी पुत्र का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण (आत्मरमण) के समान परम आनन्द की अनुभूति हुई इसलिये बालक का नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। माता-पिता और स्वजनों को अपनी बाललीलाओं से आनन्दित करता हुआ बालक ब्रह्मदत्त शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ने लगा।

काशी-नरेश कटक, हस्तिनापुर के राजा कणेरुदत्त, कोशलेश्वर दीर्घ और चम्पापति पुष्पचूलक ये चार नरेश्वर काम्पिल्याधिपति ब्रह्म के अन्तरंग मित्र थे। इन पाँचों मित्रो मे इतना घनिष्ठ प्रेम था कि वे पाँचों राज्यों की राजधानियो मे क्रमशः एक-एक वर्ष साथ ही रहा करते थे। निश्चित क्रम के अनुसार वे पाँचों मित्र वर्षभर साथ-साथ रहने के लिये काम्पिल्यपुर मे एकत्रित हुए। आमोद-प्रमोद के साथ पाँचों मित्रो को काम्पिल्यपुर मे रहते हुए काफी समय बीत गया।

---

१ इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः यहा एक, दो या इससे अधिक भी कुछ राजाओ का नामोल्लेख नही किया गया है। [सम्पादक]

एक दिन अचानक ही महाराजा ब्रह्म का देहावसान हो गया । शोक-सन्तप्त परिजन, पुरजन और काशीपति आदि चारों मित्र राजाओं ने ब्रह्म का अन्त्येष्टि-संस्कार किया । उस समय ब्रह्मदत्त की आयु केवल बारह वर्ष की थी, अतः काशीपति आदि चारों नृपतियों ने मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि जब तक ब्रह्मदत्त युवा नहीं हो जाय तब तक एक-एक वर्ष के लिए उन चारों मित्रों में से एक नरेश काम्पिल्यपुर में ब्रह्मदत्त का और काम्पिल्य के राज्य का अभिभावक अथवा प्रहरी की तरह संरक्षक बन कर रहे ।

इस सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिए कोशलनरेश दीर्घ को ब्रह्मदत्त और उसके राज्य का संरक्षक नियुक्त किया गया और शेष तीनों राजा अपनी २ राजधानी को लौट गये ।

कथा विभाग में कहा गया है कि कोशलपति दीर्घ बड़ा विश्वासघाती निकला । शनैः-शनैः उसने न केवल काम्पिल्य के कोष और राज्य पर ही अपना अधिकार किया, अपितु अपने दिवंगत मित्र की पत्नी चुलना को भी कामवासना के जाल में फँसा कर अपना मुंह काला कर लिया और कोशल एवं काम्पिल्य के यशस्वी राजवंशों के उज्ज्वल भाल पर कलंक का काला टीका लगा दिया ।

कुलशील को तिलांजलि दे कर दीर्घ और चुलना यथेप्सित कामकेलि करते हुए एक दूसरे पर पूर्ण आसक्त हो व्यभिचार के घृणित गर्त में उत्तरोत्तर गहरे डूबते गये ।

चतुर प्रधानामात्य धनु उन दोनों के पापपूर्ण आचरण से बड़ा चिन्तित हुआ । उसे यह आशंका हुई कि ये दोनों कामवासना के कीट किसी भी समय बालक ब्रह्मदत्त के प्राणों के ग्राहक बन सकते हैं । अतः उसने अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार ब्रह्मदत्त को पूर्ण सतर्क रहने की सलाह दी और अपने पुत्र को अहर्निश कुमार के साथ रहने की आज्ञा दी ।

मन्त्री-पुत्र वरधनु से अपनी माता के व्यभिचारिणी होने की बात सुनकर ब्रह्मदत्त वज्राहत सा तिलमिला उठा । सिंह-शावक की तरह अत्यन्त क्रुद्ध हो वह गुर्राने लगा । एक कोकिल और काक को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना के केलिसदन के द्वार पर जाकर बड़ी क्रोधपूर्ण मुद्रा में ब्रह्मदत्त बार-बार तीव्र स्वर में कहने लगा—"ओ नीच कौए ! तेरी यह धृष्टता कि इस कोकिल के साथ केलि कर रहा है ? तुम दोनों का प्राणान्त कर मैं तुम्हारी इस दुष्टता का तुम्हें दण्ड दूंगा ।"

कुमार की इस आक्रोशपूर्ण व्याजोक्ति को सुनकर दीर्घ उसके अन्तर्द्वन्द्व को भाँप गया । उसने चुलना से कहा—"देखा प्रिये ! यह कुमार मुझे कौआ और तुम्हें कोकिल बताकर हम दोनों को मारने की धमकी दे रहा है ?"

कामासक्ता चुलना ने यह कह कर बात टाल दी—"यह अभी निरा बालक है, इसकी बालचेष्टाओं से तुम्हें नहीं डरना चाहिये।"

बालक ब्रह्मदत्त के अन्तर में दीर्घ और अपनी माता के पापाचार के प्रति विद्रोह का ज्वालामुखी फट चुका था। वह बालक बालकेलियो को भूल रात-दिन उन दोनो को उनके दुराचार के लिये येन-केन-प्रकारेण सबक सिखाने की उधेड़-बुन मे लग गया।

दूसरे दिन ब्रह्मदत्त एक राजहंसिनी और बगुले को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना को दिखाते हुए आक्रोश भरे तीव्र स्वर में बार-बार कहने लगा—"यह महा अधम बगुला इस राजहंसिनी के साथ सहवास कर रहा है। इस निकृष्ट पापाचार को कोई भी कैसे सहन कर सकता है? मैं इन्हें अवश्य ही मौत के घाट उतारूंगा।"

कुमार ब्रह्मदत्त के इस इंगित और आक्रोशपूर्ण उद्गारों को सुनकर दीर्घ को पूर्ण विश्वास हो गया कि ब्रह्मदत्त की ये चेष्टाएं केवल बालचेष्टाएँ नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर मे प्रतिशोध की भीषण ज्वालाएँ भभक उठी हैं। उसने चुलना से कहा—"देवि! देख रही हो तुम्हारे इस पुत्र की करतूतें? यह तुम्हें हंसिनी और मुझे बगुला समझ कर हम दोनों को मारने का दृढ़ सकल्प कर चुका है। यह थोड़ा बड़ा हुआ नहीं कि हम दोनों का बड़ा प्रबल शत्रु और घातक हो जायगा। यह निश्चित समझो कि तुम्हारी मृत्यु के लिए साक्षात् काल ही तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, अतः तुम्हारा और मेरा इसी में हित है कि राजसिंहासनारूढ़ होने से पहले ही इस जहरीले काले नाग को कुचल दिया जाय। हम दोनो का वियोग नहीं होगा तो तुम और भी पुत्रों को जन्म दे सकोगी। अत. इस प्राणहारी पुत्र-मोह का परित्याग कर इसका प्राणान्त कर दो।"

अन्त मे कामान्धा चुलना पिशाचिनी की तरह अपने पुत्र के प्राणों की प्यासी हो गई। लोकापवाद से बचने के लिये उन दोनो ने कुमार ब्रह्मदत्त का विवाह कर सुहागरात्रि के समय वर-वधू को लाक्षागृह मे सुलाकर भस्मसात् कर डालने का षड्यन्त्र रचा।

ब्रह्मदत्त के लिए उसके मातुल पुष्पचूल नृपति की पुत्री पुष्पवती को वाग्दान मे प्राप्त किया गया और विवाह की बड़ी तेजी के साथ तैयारियां होने लगी।

प्रधानामात्य धनु पूर्ण सतर्क था और रात दिन दीर्घ और चुलना की हर गतिविधि पर पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसने इस गुप्त षड्यन्त्र का पता लगा लिया और वर-वधू के प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने लगा।

उसने दीर्घ नृपति से बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"महाराज ! मेरा पुत्र प्रधानामात्य के पदभार को सम्भालने के पूर्ण योग्य हो चुका है और मैं जराग्रस्त हो जाने के कारण राज्य-संचालन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों मे भी अब अपेक्षित तत्परता से दौड़धूप करने में असमर्थ हूं। मैं अब दान-धर्मादि पुण्य कार्यों मे अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहता हूं। अतः प्रार्थना है कि मुझे प्रधानामात्य के कार्यभार से कृपा कर मुक्त कीजिये।"

कुटिल दीर्घ ने सोचा कि यदि इस प्रत्युत्पन्नमती, अनुभवी, राजनीति-निष्णात को राज-कार्यों से अवकाश दे दिया गया तो यह कोई न कोई अचिन्त्य उत्पात खड़ा कर मेरी सभी दुरभिसन्धियों को चौपट कर देगा।

उसने प्रकट मे बड़े मधुर स्वर में कहा—"मन्त्रिवर ! आप जैसे विलक्षण बुद्धि वाले योग्य मंत्री के बिना तो हमारा राज्य एक दिन भी नही चल सकता, क्योंकि आप ही तो इस राज्य की धुरी है। कृपया आप मंत्रिपद पर बने रहकर दान आदि धार्मिक कृत्य करते रहिये।"

चतुर प्रधान मंत्री धनु ने दीर्घ के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए अजलिबद्ध हो उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और गंगा नदी के तट पर विशाल यज्ञमण्डप का निर्माण करवाया। राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को देखते हुए उसने गगातट पर अन्नदान का महान् यज्ञ प्रारम्भ किया। वह यज्ञमण्डप में प्रतिदिन हजारों लोगों को अन्न-पानादि से तृप्त करने लगा।

इस अन्नयाग के व्याज से उसने अपने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बडी तेजी से यज्ञमण्डप से लाक्षागृह तक एक सुरग का निर्माण करवा लिया और अपने गुप्तचर के द्वारा पुष्पचूल को दीर्घ और चुलना के भीषण षड्यंत्र से अवगत करा बड़ी चतुराई से चाल चलने की सलाह दी।

विवाह की तिथि से पूर्व ही कन्यादान की विपुल बहुमूल्य सामग्री के साथ बड़े समारोहपूर्वक कन्या काम्पिल्य नगर के राज-प्रासाद मे पहुंच गई।

अपूर्व महोत्सव और बड़ी धूमधाम के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह सम्पन्न हुआ। सुहागरात्रि के लिये देवमन्दिर की तरह सजाये गये लाक्षागृह मे वर-वधू को पहुंचा दिया गया।

स्वच्छन्द विषयानन्द लूटने के लोभ में कामान्ध बनी माँ ने अपने पुत्र को और अपनी समझ में अपने सहोदर की पुत्री को मौत के मुंह मे ढकेल कर—

ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः, माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥

इस सनातन नीति-श्लोक के द्वितीय चरण को चरितार्थ कर दिया ।

मन्त्री-पुत्र वरधनु भी शरीर की छाया की तरह राजकुमार के साथ ही उस लाक्षागृह में प्रविष्ट हो गया ।

धनु की दूरदर्शिता और नीति-निपुणता क कारण किसी को किंचित्‌मात्र भी शंका करने का अवसर नही मिला कि वधू वास्तव में राजा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नही, अपितु उसी के समान स्वरूप वाली सर्वतो अनुरूपिणी दासी पुत्री है ।

अन्त मे अर्द्ध रात्रि के समय दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि को कार्य-रूप मे परिणत किया गया । लाक्षागृह लपलपाती हुई लाल-लाल ज्वाला-मालाओ का गगनचुम्बी शिखर सा बन गया ।

ब्रह्मदत्त वरधनु द्वारा सारी स्थिति से अवगत हो उसके साथ सुरंग-द्वार में प्रवेश कर गगातट के यज्ञमण्डप मे जा पहुँचा । तीव्र गति वाले सजे-सजाये दो घोडो पर ब्रह्मदत्त एव वरधनु को बैठा अज्ञात सुदूर प्रदेश के लिए उन्हे विदा कर प्रधानामात्य धनु स्वय भी किसी निरापद स्थान को ओर पलायन कर गया ।

जो अतीत में बड़े लाड-प्यार से राजसी ठाट-बाट मे पला और जो भविष्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष के समस्त छहो खण्डो की प्रजा का पालक प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् बनने वाला है, वही ब्रह्मदत्त अपने प्राणो को बचाने के लिए घने, भया-वने, अगम्य अरण्यो मे, अर्द्ध रात्रि मे, अनाथ की तरह अज्ञात स्थान की ओर अन्धाधुन्ध भागा जा रहा था ।

पवन-वेग से निरन्तर सरपट भागते हुए घोडो ने काम्पिल्यपुर को पचास योजन पीछे छोड दिया, पर अनवरत तीव्र गति से इतनी लम्बी दौड़ के कारण दोनो घोडो के फेफड़े फट गये और वे धराशायी हो चिरनिद्रा मे सो गये ।

ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अब तक पराये पैरो पर भाग कर पचास योजन पथ पार किया था । अब वे अपने प्राणो को बचाने के लिए अपने पैरो के बल बेतहाशा भागने लगे । भागते-भागते उनके श्वास फूल गये, फिर भी, क्योंकि अपने प्राण सबको अति प्रिय हैं, अतः वे भागते ही रहे । अन्ततोगत्वा वे बड़ी कठिनाई से कोष्ठक नामक ग्राम के पास पहुँचे ।

वरधनु गाँव मे पहुँचा और एक हज्जाम को साथ लिए लौटा । ब्रह्मदत्त ने नाई से अपना सिर मुण्डित करवा काला परिधान पहन महान् पुण्य और प्रताप के द्योतक श्रीवत्स चिह्न को ढंक लिया । वरधन ने उसके गले मे अपना यज्ञो-पवीत डाल दिया ।

इस तरह वेश बदलकर वे ग्राम में घुसे। एक ब्राह्मण उन्हें अपने घर ले गया और बड़े सम्मान एवं प्रेम के साथ उसने उन्हें भोजन करवाया।

भोजनोपरान्त गृहस्वामिनी ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के मस्तक पर अक्षतो की वर्षा करती हुई अपनी परम सुन्दरी पुत्री को साथ लिये ब्रह्मदत्त के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी हो गई। दोनो मित्र एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये।

वरधनु ने कृत्रिम आश्चर्यद्योतक स्वर मे कहा—"देवि! इस अनाड़ी भिक्षुक को अप्सरा सी अपनी यह कन्या देकर क्यों गजब ढा रही हो! तुम्हारा यह कृत्य तो गौ को भेड़िये के गले मे बाधने के समान मूर्खतापूर्ण है।"

गृहस्वामी ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"सौम्य! भस्मी रमा लेने से भी कहीं भाग्य छुपाया जा सकता है? मेरी इस सर्वोत्तम गुण-सम्पन्ना पुत्री बन्धुमती का पति इन पुण्यशाली कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता क्योंकि इस कन्या के चक्रवर्ती की पत्नी होने का योग है। निमित्तज्ञों ने मुझे इस कन्या के वर की जो पहचान बताई है, उस महाभाग को मैंने आज सौभाग्य से प्राप्त कर लिया है। उन्होंने जो पहिचान बताई वह भी मैं आपको बताये देता हूँ। निष्णात-निमित्तज्ञों ने मुझे कहा था कि जो व्यक्ति अपने 'श्रीवत्स चिह्न' को वस्त्र से छुपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे, उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये यन्त्र से ढका होने पर भी यह श्रीवत्स का चिह्न चमक रहा है।"

दोनो मित्र आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्मदत्त का बन्धुमती के साथ विवाह हो गया। प्रलयानिल के दारुण दुखद अन्धड़ में उड़ने के पश्चात् मानो ब्रह्मदत्त ने मादक मन्द मलयानिल के मधुर झोंके का अनुभव किया, दम घोंट देने वाले दुखो की कालरात्रि के पश्चात् मानो पूर्णिमा की सुखद श्वेत चाँदनी उसकी आँखो के समक्ष थिरक उठी। एक रात्रि के सुख के पश्चात् पुनः दुःख का दरिया।

दिनमणि के उदय होते-होते दीर्घराज के दु:ख ने उसे फिर आ घर दबाया। दोनों कोष्ठक ग्राम से आगे पर देखा कि दीर्घ के सैनिक दानवों की तरह सब रास्तों को रोके खड़े हैं। यह देख दोनो मित्र वन्य मृगों की तरह प्राण बचाने के लिए घने वनों की झाड़ियो मे छुपते हुए भाग रहे थे। उस समय 'छिद्रेष्वनर्था: बहुली भवन्ति' इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मदत्त को जोर की प्यास लगी और मारे प्यास के उसके प्राण-पंखेरू उड़ने लगे।

ब्रह्मदत्त ने एक वृक्ष की ओट में बैठते हुए कहा—"वरधनु! मारे प्यास के अब एक डग भी नहीं चला जाता। कहीं न कहीं से शीघ्र ही पानी लाओ।"

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दौड़ा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुड़सवारों ने उसे आ घेरा और "कहां है ब्रह्मदत्त ? बता कहां है ब्रह्मदत्त ?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का संकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखो से पीड़ित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणो के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खड़े हैं। वह घने वृक्षो और झाड़ियों की ओट मे घुस कर भागने लगा। कांटों से बिंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणो के भय से पीडित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल मे पड़ जाने के शोक से पीडित, अथक थकान से केवल पाव ही नही रोम-रोम पीडित, कोई पारावर ही नही था पीडाओं का, फिर भी प्राणो के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त—क्योकि प्राण सबको सर्वाधिक प्रिय होते हैं।

जब निरन्तर तीन दिन तक भागते-भागते दुःख और पीड़ा चरम सीमा तक पहुंच चुके तो परिवर्तन अवश्यंभावी था।

अत्यन्त दुःखी अवस्था मे पहुंचे ब्रह्मदत्त ने वन मे एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम में कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के धूलिधूसरित तन की तेजस्विता और वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लांछन देख साश्चर्य उससे उस दशा में वन में आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा—"कुमार ! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बड़े आनन्द से यहां रहो।"

ब्रह्मदत्त वहां रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान् बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृषस्कन्ध, पुष्ट-मासल पेशियो से शरीर की सात धनुष ऊँचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियो के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जगल मे निकल पड़ा। वन मे प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी

के तुरन्त के पद-चिह्न देखे। यौवन का मद उस पर छा गया। हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे। तापसों द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियों से बहुत दूर निकल गया।

अन्ततोगत्वा उसने, अपनी सूंड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा। हाथी क्रोध से चिघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर झपटा। ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूंड ऊंची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौड़ा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दांतों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया।

इस प्रकार हाथी से वह बड़ी देर तक क्रीड़ाएँ करता रहा। उसी समय काली मेघ-घटाएँ घुमड़ पड़ीं और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिघाड़ कर भागा। प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया। वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएँ धुंधली हो चुकी थी।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा, पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन में निकल गया। इधर-उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया। उस नदी को भुजाओं से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजड़ा हुआ ग्राम देखा। ग्राम में आगे बढ़ते हुए उसने बांसों की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पड़ी देखी। उसकी मांसल भुजाएं अभी और श्रम करना चाहती थीं। उसने तलवार म्यान से बाहर कर बांसों की झाड़ी को काटना प्रारम्भ किया कि बांसों की झाड़ी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके सम्मुख तड़फड़ा रहे हैं। उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति बांस पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था। उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा तो उसने एक रमणीय उद्यान मे एक भव्य भवन देखा। कुतूहलवश वह उस भवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। ऊपर चढ़ते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष मे कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है। आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा—"सुन्दरी! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन मे एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा में क्यो बैठी हो?"

अचानक एक तेजस्वी युवक को सम्मुख देखते ही वह अबला भयविह्वल हो गई और भयाक्रान्त जिज्ञासा के स्वर मे बोली—"आप कौन है ? आपके यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?"

ब्रह्मदत्त ने उसे निर्भय करते हुए कहा—"सुभ्रु ! मैं पाँचाल-नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ…………।"

ब्रह्मदत्त अपना वाक्य पूरा भी नही कर पाया था कि वह कन्या उसके पैरो मे गिर कर कहने लगी—"कुमार ! मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामक पुत्री हूँ, जिसे वाग्दान मे आपको दिया गया था। मैं आपसे विवाह की बड़ी ही उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी कि नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपने विद्यावल से मेरा हरण कर मुझे यहाँ ले आया। वह दुष्ट मुझे अपने वश मे करने के लिए पास ही की बाँसो की झाडी मे किसी विद्या की साधना कर रहा है। मेरे चिर अभिलषित प्रिय ! अब मैं आपकी शरण मे हूँ। आप ही मेरी मझधार मे डूबती हुई जीवन-तरणी के कर्णधार हो।"

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—"वह विद्याधर अभी-अभी मेरे हाथो अज्ञान मे ही मारा गया है। अब मेरी उपस्थिति मे तुम्हे किसी प्रकार का भय नही है।"

तदनन्तर ब्रह्मदत्त और पुष्पवती गान्धर्व विधि से विवाह के सूत्र मे बँध गये और इस प्रकार चिर-दु ख के पश्चात् फिर सुख के झूले मे झूलने लगे।

मधु-बिन्दु के समान मधुर सुख की वह एक रात्रि मधुरालाप और प्रणयकेलि मे कुछ क्षणो के समान ही बीत गई। फिर प्रिय-वियोग की वेला आ पहुँची।

गगन मे घनरव के समान घोष को सुन कर पुष्पवती ने कहा—"प्रियतम ! विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा और विशाखा नाम की दो बहिने आ रही है। इन अबलाओं से तो कोई भय नही, पर अपने प्रिय सहोदर की मृत्यु का समाचार पा ये अपने विविध-विद्याओं से सशक्त विद्याधर बन्धुओं को ले आई तो अनर्थ हो जायगा। अत. आप थोडी देर के लिए छिप जाइये। मैं बातो ही बातो मे इन दोनो के अन्तर मे आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास करती हूँ। यदि उनकी क्रोधाग्नि को शान्त होते न देखा तो मैं श्वेत पताका को हिलाकार आपको यहाँ से भाग जाने का सकेत करूँगी और यदि वे मेरे द्वारा वर्णित आपके अलौकिक गुण सौन्दर्यादि पर आसक्त हो गई तो मैं लाल पताका को फहराऊँगी, उस समय आप निश्शक हो हमारे पास चले आना।"

यह कह कर पुष्पवती उन विद्याधर कन्याओं की अगवानी के लिए चली गई। कुमार एकटक उस ओर देखता रहा। उसने देखा कि संकट की सूचक श्वेत-पताका हिल रही है। ब्रह्मदत्त वहाँ से वन की ओर चल पड़ा।

एक विस्तीर्ण सघन वन को पार करने पर उसने स्वच्छ जल से भरे एक बड़े जलाशय को देखा। मार्ग की थकान मिटाने हेतु वह उसमें कूद पडा और जी भर जल-क्रीड़ा करने के उपरान्त तैरता हुआ दूसरे तट पर जा पहुँचा।

वहाँ उसने पास ही के एक लता-कुञ्ज मे फूल चुनती हुई एक अत्यन्त सुकुमार सर्वांग-सुन्दरी कन्या को देखा। ब्रह्मदत्त निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता ही रह गया क्योंकि उसने इतनी रूपराशि धरातल पर कभी नही देखी थी। वह अनुपम सुन्दरी भी तिरछी चितवन से उस पर अमृत वर्षा सी करती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा कि वह वनदेवी सी बाला उसी की ओर इंगित करते हुए अपनी सखी से कुछ कह रही है। उसने यह भी देखा कि उस पर विस्फारित नेत्रों से एकबारगी ही अमृत की दोहरी धारा बहा कर खुशी से मस्त मयूर सी नाचती हुई वह लता-कुञ्ज मे अदृश्य हो गई। उसे पुनः देखने के लिए ब्रह्मदत्त की आँखें बड़ी बेचैनी से उसी लता-कुञ्ज पर न मालूम कितनी देर तक अटकी रही, इसका उसे स्वयं को ज्ञान नही।

एकदम उसके पास ही में हुई नूपुर की झंकार से उसकी तन्मयता जब टूटी तो ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिए उस सुन्दरी की दासी को अपने संमुख खड़े पाया।

दासी ने कहा—"अभी थोड़ी ही देर पहले आपने जिन्हें देखा था उन राजकुमारीजी ने अपनी इष्ट सिद्धि हेतु ये चीजें आपके पास भेजी है और मुझे यह भी आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पिताजी के मन्त्री के घर पहुँचा दूँ।"

ब्रह्मदत्त वनों के वनचरो जैसे जीवन से ऊब चुका था, अतः प्रसन्न होते हुए वह दासी के पीछे-पीछे चल पड़ा।

राजकीय अतिथि के रूप में उसका खूब अतिथि-सत्कार हुआ और वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का उसके साथ बड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त एक बार फिर दुःखी से सुखी बन गया। वह वहाँ कुछ दिन बड़े आमोद-प्रमोद के साथ आनन्दमय जीवन बिताता रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था, पर गृह-कलह के कारण वह वहाँ से भाग कर चौर-पल्ली का राजा बन गया। वह लूट-पाट से अपने कुटुम्ब

वरधनु ने कहा—"कुमार ! मैं आपके लिए पानी ला रहा था, उस समय मुझे दीर्घ के सैनिकों ने निर्दयता से पीटना प्रारम्भ कर दिया और आपके बारे में पूछने लगे। मैंने रोते हुए कहा कि कुमार को तो सिंह खा गया है। इस पर उन्होंने जब उस स्थान को बताने को कहा तो मैंने उन्हे इधर से उधर भटकाते हुए आपको भाग जाने का संकेत किया। आपके भाग जाने पर मैं आश्वस्त हुआ और मैंने मौन ही साध ली। उन दुष्टों ने मुझे बड़ी निर्दयता से मारा और मैं अधमरा हो गया। मैं असह्य यातना से तिलमिला उठा और मौका पा मैंने उन लोगों की नजर बचा मूर्च्छित होने की गोली अपने मुंह मे रख ली। उस गोली के प्रभाव से मैं निश्चेष्ट हो गया और वे मुझे मरा हुआ समझ हताश हो लौट गये। उनके जाते ही मैंने अपने मुख में से उस गोली को निकाल लिया और आपको इधर-उधर ढूंढने लगा, पर आपका कही पता नही चला। पिताजी के एक मित्र से पिताजी के भाग निकलने और माता को दीर्घ द्वारा दुःख दिये जाने का वृत्तान्त सुन कर मैंने माता को काम्पिल्यपुर से किसी न किसी तरह ले आने का दृढ सकल्प किया। बड़े नाटकीय ढंग से मै माता को वहां से ले आया और उसे पिताजी के एक अन्तरग मित्र के पास छोड़ कर आपको इधर-उधर ढूंढने लगा। अन्त में मैंने आज महान् सुकृत के फल की तरह आपको पा ही लिया।"

ब्रह्मदत्त ने भी दीर्घकालीन दुःख के पश्चात् थोड़ी सुख की झलक, फिर घोर दुःख भरे अपने सुख-दुःख के घटनाचक्र का वृत्तान्त वरधनु को सुनाया।

ब्रह्मदत्त अपनी बात पूरी भी नही कह पाया था कि उन्हे दीर्घराज के सैनिको के बड़े दल के आने की सूचना मिली। वे दोनों अन्धेरे गिरि-गह्वरों की ओर दौड़ पड़े। अनेक विकट वनो और पहाड़ों मे भटकते २ वे दोनों कौशाम्बी नगरी पहुंचे।

कोशाम्बी के उद्यान में उन्होंने देखा कि उस नगर के सागरदत्त और बुद्धिल नामक दो बड़े श्रेष्ठी एक-एक लाख रुपये दाँव पर लगा अपने कुक्कुटो को लडा रहे हैं। दोनो श्रेष्ठियो के कुक्कुटों की बडी देर तक मनोरजक झड़पें होती रही पर अन्त मे अच्छी जाति का होते हुए भी सागरदत्त का मुर्गा बुद्धिल के मुर्गे से हार कर मैदान छोड़ भागा।

सागरदत्त एक लाख का दाँव हार चुका था। ब्रह्मदत्त को सागरदत्त के अच्छी नस्ल के कुक्कुट की हार से आश्चर्य हुआ। उसने बुद्धिल के कुक्कुट को पकड़ कर अच्छी तरह देखा और उसके पजो मे लगी सूई की तरह तीक्ष्ण लोहे की पतली कीलो को निकाल फेका।

दोनो कुक्कुट पुन. मैदान मे उतारे गये, पर इस बार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को कुछ ही क्षणो मे पछाड़ डाला।

हारे हुए दांव को जीत कर सागरदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन दोनों मित्रों को अपने घर ले गया। सागरदत्त ने अपने सहोदर की तरह उन्हे अपने यहाँ रखा।

बुद्धिल की बहिन रत्नवती उद्यान मे हुए कुक्कुट-युद्ध के समय ब्रह्मदत्त को देखते ही उस पर अनुरक्त हो गई। रत्नवती बड़ी ही चतुर थी। उसने अपने प्रियतम को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। पहले उसने ब्रह्मदत्त के नाम से अंकित एक कीमती हार अपने सेवक के साथ ब्रह्मदत्त के पास भेजकर उसके मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न करदी और तत्पश्चात् अपनी विश्वस्त वृद्धा परिचारिका के साथ अपनी प्रीति का सदेश भेजा।

ब्रह्मदत्त भी रत्नवती के अनुपम रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुन उनके पास जाने को व्याकुल हो उठा, पर दीर्घ के अनुरोध पर कौशाम्बी का राजा ब्रह्मदत्त और वरधनु की सारे नगर मे खोज करवा रहा था। इस कारण उसे अपने साथी वरधनु के साथ सागरदत्त के तलगृह मे छिपे रहना पड़ा।

अर्द्ध रात्रि के समय ब्रह्मदत्त और वरधनु सागरदत्त के रथ में बैठ कर कौशाम्बी से निकले। नगर के बाहर बडी दूर तक उन्हें पहुँचा कर सागरदत्त अपने घर लौट गया। ब्रह्मदत्त और वरधनु आगे की ओर बढे। वे थोडी ही दूर चले होगे कि उन्होने एक पूर्णयौवना सुन्दर कन्या को शस्त्रास्त्रों से सजे रथ मे बैठे देखा।

उस सुन्दरी ने सहज आत्मीयता के स्नेह से सने स्वर में पूछा--"आप दोनों को इतनी देर कहाँ हो गई? मै तो आपकी बड़ी देर से यहाँ प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

कुमार ने आश्चर्य से पूछा—"कुमारिके! हमने तुम्हें पहले कभी नही देखा, हम कौन हैं, यह तुम कैसे जानती हो?"

रथारूढा कुमारी ने अपना परिचय देते हुए कहा—"कुमार? मै बुद्धिल की बहिन रत्नवती हू। मैने बुद्धिल और सागरदत्त के कुक्कुट-युद्ध मे जिस दिन आपके प्रथम दर्शन किये तभी से मैं आपसे मिलने को लालायित थी—अब चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु यहाँ उपस्थित हू! इस चिर-विरहिणी अपनी दासी को अपनी सेवा में ग्रहण कर अनुगृहीत कीजिये।"

रत्नवती की बात सुनते ही दोनों मित्र उसके रथ पर बैठ गये। वरधन ने अश्वों की रास सम्हाल ली।

ब्रह्मदत्त ने रत्नावती से पूछा—"अब किस ओर चलना होगा?"

रत्नावती ने कहा—"मगधपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठी के घर।"

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढ़ाया। तरल तुरंगों की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशाम्बी को सीमा पार कर भीषण वन मे पहुँचा। मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटो के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह मे पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोडकर वह नगर में पहुँचा। राजगृह मे विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठी धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह मे रहने लगा, पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरधनु को ढूंढने मे किसी प्रकार को कोर-कसर नही रखो, पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कही पता नही चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणो को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणो के बीच आ पहुँचा और बोला—"मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा।

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खडा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश मे अकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला—"लो! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं वह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हँस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर मे ही सुख और आनन्द के वातावरण मे परिणत हो गया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया? वरधनु ने कहा—"दस्युओं के युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। उस समय कुछ लुटेरो ने रथ पर पुन. आक्रमण किया। मैने बाणो की बौछार कर उन्हे भगा दिया, पर वृक्ष की ओट मे छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा झाड़ियो मे छुप गया। चोरो के चले जाने पर झाडियो मे से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गाव मे आ पहुंचा जहाँ आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने मे स्वय आपकी सेवा मे उपस्थित हो गया।"

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे, पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले। सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में झूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओं से सजे खुशी से अठखेलियां करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान मे मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह शृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद मे झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान में आ पहुंचा। उपस्थित लोगो मे भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारों और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसने उसे अपनी सूंड में पकड़ लिया। सब के कलेजे धक् होगये।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर मे उसे ललकारने लगा।

हाथी उस कन्या को छोड़ अपनी लम्बी सूंड और पूंछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा। हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे मे डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दातो पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा।

हाथी थोड़ी देर तक चिंघाड़ता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा, पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ़ सांकेतिक अद्भुत शब्दों के उच्चारण से उसे वश में कर लिया।

वसंतोत्सव मे सम्मिलित हुए सभी नर-नारी, जो अब तक श्वास रोके चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश मे हुआ जानकर जयघोष करने लगे। तरुणों और तरुणियों ने अपने गलो में से फूलमालाएं उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय कुमार वसन्ती फूल और फूलमालाओ से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो।

रत्नावती ने कहा—"मगधपुर मे मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठी के घर।"

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढाया। तरल तुरंगो की वायुवेग सी गति से दौडता हुआ रथ कौशाम्बी की सीमा पार कर भीषण वन मे पहुँचा। मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि सकटो के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह मे पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोडकर वह नगर मे पहुँचा। राजगृह में विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठी धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह मे रहने लगा, पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरधनु को ढूंढने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी, पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कही पता नही चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणो को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणो के बीच आ पहुँचा और बोला—"मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा।

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश मे अकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला—"लो! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं वह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हँस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर मे ही सुख और आनन्द के वातावरण से परिणत हो गया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया? वरधनु ने कहा—"दस्युओं के युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ निद्रा मे सो गये। उस समय कुछ लुटेरो ने रथ पर पुन. आक्रमण किया। मैने बाणों की बौछार कर उन्हे भगा दिया, पर वृक्ष की ओट मे छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मै तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पडा तथा झाडियों मे छुप गया। चोरो के चले जाने पर झाड़ियो मे से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गाव मे आ पहुँचा जहाँ आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने मे स्वय आपकी सेवा मे उपस्थित हो गया।"

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे, पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले। सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में झूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओ से सजे खुशी से अठखेलिया करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान में मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह शृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद मे झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान मे आ पहुँचा। उपस्थित लोगो मे भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारो और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसने उसे अपनी सूंड में पकड लिया। सब के कलेजे धक् होगये।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर मे उसे ललकारने लगा।

हाथी उस कन्या को छोड अपनी लम्बी सूंड और पूंछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा। हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे में डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दातो पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा।

हाथी थोड़ी देर तक चिंघाडता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा, पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ सांकेतिक अद्भुत शब्दो के उच्चारण से उसे वश में कर लिया।

वसंतोत्सव मे सम्मिलित हुए सभी नर-नारी, जो अब तक श्वास रोके चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश मे हुआ जानकर जयघोष करने लगे। तरुणों और तरुणियो ने अपने गलों मे से फूलमालाएँ उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय कुमार वसन्ती फूल और फूलमालाओं से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो।

कुमार स्वेच्छानुसार हाथी को हांकता हुआ हस्तिशाला की ओर अग्रसर हुआ। हजारो हर्षविभोर युवक जयघोष करते हुए उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

कुमार ने उस हाथी को हस्तिशाला मे ले जाकर स्तम्भ से बांध दिया। गगनभेदी जयघोषो को सुनकर मगधेश्वर भी हस्तिशाला मे आ पहुँचे। सुकुमार देव के समान सुन्दर कुमार के अलौकिक साहस को देखकर मगधेश्वर अत्यन्त विस्मित हुआ और उसने अपने मन्त्रियो और राज्य सभा के सदस्यो की ओर देखते हुए साश्चर्य जिज्ञासा के स्वर मे पूछा—"सूर्य के समान तेजस्वी और शक्र के समान शक्तिशाली यह मनमोहक युवक कौन है ?"

नगरश्रेष्ठी धनावह से ब्रह्मदत्त का परिचय पाकर मगधपति बडा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का ब्रह्मदत्त के साथ बडे हर्षोल्लास, धूमधाम और ठाट-बाट से विवाह कर दिया।

राजगृही नगरी कई दिनों तक महोत्सवपुरी बनी रही। राजकीय दामाद के सम्मान में मन्त्रियो, श्रेष्ठियो और गण्य-मान्य नागरिको की ओर से भव्य-भोजो का आयोजन किया गया।

जिस कुमारी को वसन्तोत्सव के समय ब्रह्मदत्त ने हाथी से बचाया था, वह राजगृह के वैश्रवण नामक धनाढ्य श्रेष्ठी की श्रीमती नाम की पुत्री थी। श्रीमती ने उसी दिन प्रण कर लिया था कि जिसने उसे हाथी से बचाया है, उसी से विवाह करेगी अन्यथा जीवनभर अविवाहित रहेगी।

ब्रह्मदत्त को जब श्रीमती पर मां से भी अधिक स्नेह रखने वाली एक वृद्धा से श्रीमती के प्रण का पता चला तो उसने विवाह की स्वीकृति दे दी। वैश्रवण श्रेष्ठी ने बड़े समारोहपूर्वक अपनी कन्या श्रीमती का ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

मगधेश के मन्त्री सुबुद्धि ने भी अपनी पुत्री नन्दा का वरधनु के साथ विवाह कर दिया।

थोड़े ही दिनो में ब्रह्मदत्त की यशोगाथाएं भारत के घर-घर मे गाई जाने लगी। कुछ दिन राजगृह में ठहर कर ब्रह्मदत्त और वरधनु युद्ध के लिये तैयारी करने हेतु वाराणसी पहुंचे।

वाराणसी-नरेश ने जब अपने प्रिय मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुना तो वह प्रेम से पुलकित हो उसका स्वागत करने के लिये स्वयं ब्रह्मदत्त के सम्मुख आया और बड़े सम्मान के साथ उसे अपने राज-प्रासाद मे ले गया।

वाराणसी-पति कटक ने अपनी कन्या कटकवती का ब्रह्मदत्त के साथ विवाह कर दिया और दहेज में अपनी शक्तिशालिनी चतुरंगिणी सेना दी।

ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर के नृपति कणेरुदत्त, चम्पानरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ वाराणसी नगरी में आगये। सभी सेनाओं को सुसंगठित कर वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और ब्रह्मदत्त ने दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये सेना के साथ काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया।

दीर्घ ने सैनिक अभियान का समाचार सुनकर वाराणसी-नरेश कटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि वे दीर्घ के साथ अपनी बाल्यावस्था से चली आई अटूट मैत्री न तोड़ें।

भूपति कटक ने उस दूत के साथ दीर्घ को कहलवाया—"हम पाँचों मित्रों में सहोदरों के समान प्रेम था। स्वर्गीय काम्पिल्येश्वर ब्रह्म का पुत्र और राज्य तुम्हें धरोहर के रूप में रक्षार्थ सौंपे गये थे। सौंपी हुई वस्तु को डाकिनी भी नहीं खाती, पर दीर्घ तुमने जैसा घृणित और क्षुद्र पापाचरण किया है, वैसा तो अधम से अधम चाण्डाल भी नहीं कर सकता। अतः तेरा काल बनकर ब्रह्मदत्त आ रहा है, युद्ध या पलायन में से एक कार्य चुन लो।"

दीर्घ भी बड़ी शक्तिशाली सेना ले ब्रह्मदत्त के साथ युद्ध करने के लिये रणक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। दीर्घ की उस समय के रणनीति-कुशल शक्तिशाली योद्धाओं में गणना की जाती थी। उसने ब्रह्मदत्त और उसके सहायकों की सेनाओं को अपने भीषण प्रहारों से प्रारम्भ में छिन्न-भिन्न कर दिया। अपनी सेनाओं को भय-विह्वल देख ब्रह्मदत्त क्रुद्ध हो कृतान्त की तरह दीर्घ की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगा। ब्रह्मदत्त के असह्य पराक्रम के सम्मुख दीर्घ की सेना भाग खड़ी हुई। ब्रह्मदत्त ने दण्डनीति के साथ-साथ भेदनीति से भी काम लिया और दीर्घ के अनेक योद्धाओं को अपनी ओर मिला लिया।

अन्त में दीर्घ और ब्रह्मदत्त का द्वन्द्व-युद्ध हुआ। दोनों एक-दूसरे पर घातक से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रहार करते हुए बड़ी देर तक द्वन्द्व-युद्ध करते रहे, पर जय-पराजय का कोई निर्णय नहीं हो सका। दोनों ने एक-दूसरे के अमोघास्त्रों को अपने पास पहुँचने से पहले ही काट डाला। दोनों योद्धा एक-दूसरे के लिये अजेय थे।

एक पतित पुरुषाधम में भी इतना पौरुष और पराक्रम होता है, यह दीर्घ के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखकर दोनों ओर की सेनाओं के योद्धाओं को प्रथम

बार अनुभव हुआ। दोनों ओर के सैनिक चित्रलिखित से खडे दोनो विकट योद्धाओं का द्वन्द्व-युद्ध देख रहे थे।

दर्शकों को सहसा यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आषाढ की घनघोर मेघ-घटाओ के समान गम्भीर ध्वनि करता हुआ, प्रलयकालीन अनल की तरह जाज्वल्यमान ज्वालाओ को उगलता हुआ, भीषण उल्कापात-का-सा दृश्य प्रस्तुत करता हुआ, अपनी अदृष्टपूर्व तेज चमक से सबकी आंखो को चकाचौंध करता हुआ एक चक्ररत्न अचानक प्रकट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा कर उसके दक्षिण पार्श्व मे मुण्ड हस्त मात्र की दूरी पर आकाश में अधर स्थित हो गया।

ब्रह्मदत्त ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर चक्र को धारण कर घुमाया और उसे दीर्घ की ओर प्रेषित किया। क्षण भर मे ही घृणित पापाचरणों और भीषण षड्यन्त्रो का उत्पत्तिकेन्द्र दीर्घ का मस्तक उसके कालिमा-कलुषित धड़ से चक्र द्वारा अलग किया जाकर पृथ्वी पर लुढक गया।

पापाचार की पराजय और सत्य की विजय से प्रसन्न हो सेनाओ ने जय-घोषों से दिशाओं को कपित कर दिया।

बड़े समारोहपूर्वक ब्रह्मदत्त ने काम्पिल्यपुर मे प्रवेश किया।

चुलनी अपने पतित पापाचार के लिए पश्चात्ताप करती हुई ब्रह्मदत्त के नगर-प्रवेश से पूर्व ही प्रव्रजित हो अन्यत्र विहार कर गई।

प्रजाजनों और मित्र-राजाओ ने बड़े ही आनन्दोल्लास और समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न किया।

इस तरह ब्रह्मदत्त निरन्तर सोलह वर्ष तक कभी विभिन्न भयानक जगलो मे भूख-प्यास आदि के दु:ख भोगता हुआ और कभी भव्य-प्रासादो में सुन्दर रमणी-रत्नो के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ अपने प्राणों की रक्षा के लिए पृथ्वी-मण्डल पर घूमता रह कर अन्त मे भीषण सघर्षों के पश्चात् अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

काम्पिल्यपुर के राज्य सिंहासन पर बैठते ही उसने बन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवली, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती इन नवो ही अपनी पत्नियो को उनके पितृगृहो से बुला लिया।

ब्रह्मदत्त छप्पन्न वर्षों तक माण्डलिक राजा के पद पर रहकर राज्य-सुखों का उपभोग करता रहा और तदनन्तर बहुत बड़ी सेना लेकर भारत के छह

खण्डों की विजय के लिए निकल पड़ा। सम्पूर्ण भारत खण्ड की विजय के अभियान मे उसने सोलह वर्ष तक अनेक लड़ाइया लडी और भीषण संघर्षों के बाद वह सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर काम्पिल्यपुर लौटा।

वह चौदह रत्नों, नवनिधियों और चक्रवर्ती की सब समृद्धियो का स्वामी बन गया।

नवनिधियों से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की यथेप्सित भोग सामग्री इच्छा करते ही उपलब्ध हो जाती थी। देवेन्द्र मे समान सांसारिक भोगो का उपभोग करते हुए बड़े आनन्द के साथ उसका समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी रानियों, परिजनों एवं मंत्रियों से घिरा हुआ अपने रंगभवन में बैठा मधुर संगीत और मनोहारी नाटकों से मनोरंजन कर रहा था। उस समय एक दासी ने ब्रह्मदत्त की सेवा में एक बहुत ही मनोहर पुष्प-स्तवक प्रस्तुत किया, जिस पर सुगन्धित फूलो से हंस, मृग, मयूर, सारस, कोकिल आदि की बड़ी सुन्दर और सजीव आकृतियां गुंफित की हुई थी। उच्चकोटि की कलाकृति के प्रतीक परम मनोहारी उस पुष्प-कन्दुक को विस्मय और कौतुक से देखते-देखते ब्रह्मदत्त के हृदय में धुंधली सी स्मृति जागृत हुई कि इस तरह अलौकिक कलापूर्ण पुष्प-स्तवक पर अंकित नाटक उसने कहीं देखे हैं। ऊहापोह, एकाग्र चिन्तन, ज्ञानावरण कर्म के उपशम और स्मृति पर अधिक जोर देने से उसके स्मृति-पटल पर सौधर्मकल्प में पद्मगुल्म विमान के देव का अपना पूर्व-भव स्पष्टत. अंकित हो गया। उसे उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और अपने पूर्व के पाच भव यथावत् दिखने लगे। ब्रह्मदत्त तत्क्षण मूच्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यह देख साम्राज्ञियों, अमात्यो और आत्मीयों पर मानों वज्रपात सा हो गया। विविध शीतलोपचारो से बड़ी देर में ब्रह्मदत्त की मूर्च्छा टूटी, पर अपने पूर्व भवो को याद कर वह बार-बार मूर्च्छित हो जाता। आत्मीयो द्वारा मूर्च्छा का कारण बार-बार पूछने पर भी उसने अपने पूर्व भवो की स्मृति का रहस्य प्रकट नही किया और यही कहता रहा कि यो ही पित्तप्रकोप से मूर्च्छा आ जाती है।

ब्रह्मदत्त एकान्त में निरन्तर यही सोचता रहा कि वह अपने पूर्व भवो के सहोदर से कहां, कब और कैसे मिल सकता है। अन्त मे एक उपाय उसके मस्तिष्क मे आया। उसने अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक गांव और नगर मे घोषणा करवा दी कि जो इस गाथाद्वय के चतुर्थ पद की पूर्ति कर देगा उसे वह अपना आधा राज्य दे देगा। वे गाथाएं इस प्रकार थी :—

दासा दसण्णए ग्रासी, मिया कालिंजरे णगे ।
हंस मयंग तीराए, सोवागा कासिभूमिए ।।
देवा य देवलोयम्मि, ग्रासि ग्रम्हे महिड्ढिया ।
....

ग्राधे राज्य की प्राप्ति की ग्राशा में प्रत्येक व्यक्ति ने इस समस्या-पूर्ति का पूरा प्रयास किया ग्रौर यह डेढ़ गाथा जन-जन की जिह्वा पर मुखरित हो गई।

एक दिन चित्त नामक एक महान् तपस्वी श्रमण ग्राम नगरादि मे विचरण करते हुए काम्पिल्यनगर के मनोरम उद्यान में ग्राये ग्रौर एकान्त में कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्थित हो गये। ग्रपने कार्य मे व्यस्त उस उद्यान का माली उपर्युक्त तीन पंक्तियां बार-बार गुनगुनाने लगा। माली के कठ से इस डेढ गाथा को सुन कर चित्त मुनि के मन मे भी संकल्प-विकल्प व ऊहापोह उत्पन्न हुग्रा ग्रौर उन्हे भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे भी ग्रपने पूर्व-जन्म के पांच भवों को ग्रच्छी तरह से देखने लगे। उन्होने समस्या-पूर्ति करते हुए मालाकार को निम्नलिखित ग्राधी गाथा कण्ठस्थ करवा दी :—

इमा णो छट्ठिया जाई, ग्रण्णमण्णेहिं जा विणा ।

माली ने इसे कंठस्थ कर खुशी-खुशी ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर समस्यापूर्ति कर दोनो गाथाएं पूरी सुना दी। सुनते ही राजा पुनः मूर्च्छित हो गया। यह देख ब्रह्मदत्त के ग्रंगरक्षक यह समझकर कि इस माली के इन कठोर वचनों के कारण राजाधिराज मूर्च्छित हुए हैं, उस माली को पीटने लगे। राज्य पाने की ग्राशा से ग्राया हुग्रा माली ताड़ना पाकर स्तब्ध रह गया ग्रौर बार-बार कहने लगा—"मैं निरपराध हू, मैंने यह कविता नही बनाई है। मुझे तो उद्यान मे ठहरे हुए एक मुनि ने सिखाई है।"

थोड़ी ही देर मे शीतलोपचारों से ब्रह्मदत्त पुनः स्वस्थ हुग्रा। उसने राजपुरुषों को शान्त करते हुए माली से पूछा—"भाई! क्या यह चौथा पद तुमने बनाया है?"

माली ने कहा—"नही पृथ्वीनाथ! यह रचना मेरी नही। उद्यान मे ग्राये हुए एक तपस्वी मुनि ने यह समस्या-पूर्ति की है।"

ब्रह्मदत्त ने प्रसन्न हो मुकुट के ग्रतिरिक्त ग्रपने सब ग्राभूषण उद्यानपाल को पारितोषिक के रूप मे दे दिये ग्रौर ग्रपने ग्रन्त.पुर एवं पूर्ण ऐश्वर्य के साथ वह मनोरम उद्यान पहुंचा। चित्त मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त ने उनके चरणों पर मुकुट-मणियों से प्रकाशमान ग्रपना मस्तक झुका दिया। उसके साथ ही

साम्राज्ञियों, सामन्तो आदि के लाखों मस्तक भी झुक गये। पूर्व के अपने पांचो भवो का भ्रातृस्नेह ब्रह्मदत्त के हृदय मे हिलोरे लेने लगा। उसकी आंखो से अविरल अश्रुधाराए बहने लगी। पूर्व स्नेह को याद कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मुनि के अतिरिक्त सभी के विस्फारित नेत्र सजल हो गये। राजमहिषी पुष्पवती ने साश्चर्य ब्रह्मदत्त से पूछा—"प्राणनाथ ! चक्रवर्ती सम्राट् होकर आज आप सामान्य जन की तरह करुण विलाप क्यो कर रहे है ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महादेवि ! यह महामुनि मेरे भाई है।"

पुष्पवती ने साश्चर्य प्रश्न किया—"यह किस तरह महाराज ?"

ब्रह्मदत्त ने गद्गद स्वर मे कहा—"यह तो मुनिवर के मुखारविन्द से ही सुनो।"

साम्राज्ञियों के विनय भरे अनुरोध पर मुनि चित्त ने कहना प्रारम्भ किया—"इस ससार-चक्र मे प्रत्येक प्राणी कुम्भकार के चक्र पर चढे हुए मृत्पिण्ड की तरह जन्म, जरा और मरण के अनवरत क्रम से अनेक प्रकार के रूप धारण करता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी से माता, पिता, पुत्र, सहोदर, पति, पत्नी आदि स्नेहपूर्ण सम्बन्धों से बँधकर अनन्त बार बिछुड चुका है।"

"संक्षेप मे यही कहना पर्याप्त होगा कि यह संसार वास्तव मे सयोग-वियोग, सुख-दुःख और हर्ष-विषाद का सगमस्थल है। स्वयं अपने ही बनाये हुए कर्मजाल मे मकडी की तरह फँसा हुआ प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। कर्मवश नट की तरह विविध रूप बनाकर भव-भ्रमण में भटकते हुए प्राणी के अन्य प्राणियों के साथ इन विनाशशील पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धों का कोई पारावार ही नही है।"

"हम दोनों भी पिछले पाँच भवों मे सहोदर रहे हैं। पहले भव में श्रीदह ग्राम के शाण्डिल्यायन ब्राह्मण की जसमती नामक दासी के गर्भ से हम दोनो दास के रूप में उत्पन्न हुए। वह ब्राह्मण हम दोनों भाइयों से दिन भर कसकर श्रम करवाता। एक दिन उस ब्राह्मण ने कहा कि यदि कृषि की उपज अच्छी हुई तो वह हम दोनो का विवाह कर देगा। इस प्रलोभन से हम दोनों भाई और भी अधिक कठोर परिश्रम से बिना भूख-प्यास आदि की चिन्ता किये रात-दिन जी तोड कर काम करने लगे।"

"एक दिन शीतकाल मे हम दोनों भाई खेत में कार्य कर रहे थे कि अचानक आकाश काली मेघ-घटाओ से छा गया और मूसलाधार पानी बरसने

लगा। ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनो भाई खेत मे ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये। वर्षा थमने का नाम नही ले रही थी और चारो ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था। क्रमश: सूर्यास्त हुआ और चारो ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया। दिन भर के कठिन श्रम से हमारा-रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरो से ठिठुरे हुए हम दोनो भाइयो के दाँत बोलने लगे।"

"वटवृक्ष क कोटर मे सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे मे इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयकर विषधर ने हम दोनो को डस लिया। हम दोनो भाई एक-दूसरे से सटे हुए कीट-पतग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये।"

"तदनन्तर हम दोनो कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप मे उत्पन्न हुए। क्रमशः हम युवा हुए और दोनो भाई अपनी माँ के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे। एक दिन हम दोनों प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये। पानी मे मुँह भी नही दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बीध दिया। कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनो पञ्चत्व को प्राप्त हुए।"

"उसके पश्चात् हम दोनो मयग नदी के तट पर स्थित सरोवर मे एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप मे उत्पन्न हुए और सरोवर मे क्रीडा करते हुए हम युवा हुए। वहाँ पर भी एक पारधी ने हम दोनो को एक साथ जाल मे फँसा लिया और गर्दन तोड-मरोड़ कर हमें मार डाला।"

"हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बडे समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्निका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप मे उत्पन्न हुए। मेरा नाम चित्र और इन (ब्रह्मदत्त) का नाम सभूत रखा गया। बड़े लाड-प्यार से हम दोनो भाइयो का लालन-पालन किया गया। जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौपा।"

---

१ चउवन्न महापुरिस चरिय मे पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है।

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा—"यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रो को सम्पूर्ण कलाओ मे निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हे गृहतल मे प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा मे नही बच सकते।"

"अपने प्राणों के रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमे पढाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय मे पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनो भाइयो ने विद्या-अध्ययन के लोभ मे यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनो के अनुचित सम्बन्ध के विषय मे सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनो भाई सब कलाओं में निष्णात हो गये।"

"अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया, पर हम दोनो ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहाँ से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मन्त्री बन गया।"

"हम दोनो भाई वाराणसी के बाजारों, चौराहो और गलीकूचो मे लय-ताल पर मधुर संगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियो से पुर-जन विशेषत. रमणियां आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौडी चली आती। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिको ने काशीनरेश से कह कर हम दोनो भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनो भाइयो ने मन मसोस कर नगर मे जाना बन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर मे कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हँसी-खुशी के मादक वातावरण में झूम उठा। हम दोनों भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नही कर सके और लोगों की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े तथा हम दोनो ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयों के कण्ठों से अज्ञात में ही स्वरलहरियां निकल पड़ी। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रो मे हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनो भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारो ओर

लगा। ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनो भाई खेत मे ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये। वर्षा थमने का नाम नही ले रही थी और चारों ओर जल ही जल दृष्टिगोचर हो रहा था। क्रमश. सूर्यास्त हुआ और चारो ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया। दिन भर के कठिन श्रम से हमारा-रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरो से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दांत बोलने लगे।"

"वटवृक्ष क कोटर मे सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे मे इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयकर विषधर ने हम दोनो को डस लिया। हम दोनो भाई एक-दूसरे से सटे हु ए कीट-पतग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये।"

"तदनन्तर हम दोनो कालिजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप मे उत्पन्न हुए। क्रमशः हम युवा हुए और दोनो भाई अपनी माँ के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे। एक दिन हम दोनो प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये। पानी में मुँह भी नही दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बींध दिया। कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनों पञ्चत्व को प्राप्त हुए।"

"उसके पश्चात् हम दोनो मयग नदी के तट पर स्थित सरोवर मे एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप मे उत्पन्न हुए और सरोवर मे क्रीड़ा करते हुए हम युवा हुए। वहाँ पर भी एक पारधी ने हम दोनो को एक साथ जाल मे फँसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमे मार डाला।"

"हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अहिका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप मे उत्पन्न हुए। मेरा नाम चित्र और इन (ब्रह्मदत्त) का नाम सभूत रखा गया। बड़े लाड-प्यार से हम दोनो भाइयो का लालन-पालन किया गया। जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा।"

---

१ चउवन्न महापुरिस चरियं मे पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है।

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा—"यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हे गृहतल मे प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा मे नही बच सकते।"

"अपने प्राणो के रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमे पढाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय मे पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनो भाइयो ने विद्या-अध्ययन के लोभ मे यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय में सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनो भाई सब कलाओं मे निष्णात हो गये।"

"अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया, पर हम दोनो ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहाँ से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मन्त्री बन गया।"

"हम दोनो भाई वाराणसी के बाजारो, चौराहो और गलीकूचों मे लय-ताल पर मधुर सगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियो से पुर-जन विशेषतः रमणिया आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौडी चली आती। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिको ने काशीनरेश से कह कर हम दोनो भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनो भाइयों ने मन मसोस कर नगर मे जाना बन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर मे कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हँसी-खुशी के मादक वातावरण में झूम उठा। हम दोनो भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नही कर सके और लोगो की दृष्टि से छिपते हुए शहर मे घुस पड़े तथा हम दोनो ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयो के कण्ठों से अज्ञात मे ही स्वरलहरियां निकल पड़ी। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रो मे हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनो भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारो ओर

हजारो नर-नारी एकत्रित हो गये और हमारा मनमोहक संगीत सुनने लगे ।

"सहसा भीड़ में से किसी ने पुकार कर कहा—अरे ! ये तो वही चाण्डाल के छोकरे हैं, जिनका राजाज्ञा से नगर-प्रवेश निषिद्ध है ।"

"बस, फिर क्या था, हम दोनो भाइयों पर थप्पडों, लातो, मुक्को और भागने पर लाठियो व पत्थरो की वर्षा होने लगी । हम दोनों अपने प्राणो की रक्षा के लिए प्राण-प्रण से भाग रहे थे और नागरिको की भीड हमारे पीछे भागती हुई हम पर पत्थरों की इस तरह वर्षा कर रही थी मानो हम मानव-वेषधारी पागल कुत्ते हो ।"

"हम दोनो नागरिको द्वारा कुटते-पिटते शहर के बाहर आ गये । तब कही क्रुद्ध जनसमूह ने हमारा पीछा छोडा । फिर भी हम जगल की ओर बेतहाशा भागे जा रहे थे । अन्त मे हम एक निर्जन स्थान मे रुके और यह सोच-कर कि ऐसे तिरस्कृत पशुतुल्य जीवन से तो मर जाना अच्छा है, हम दोनो भाइयो ने पर्वत से गिर कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया ।"

"आत्महत्या का दृढ निश्चय कर हम दोनो भाई एक विशाल पर्वत के उच्चतम शिखर की ओर चढने लगे । पर्वत शिखर पर चढ कर हमने देखा कि एक मुनि शान्त मुद्रा मे ध्यानस्थ खडे है । मुनि के दर्शन करते ही हम दोनो ने शान्ति का अनुभव किया । हम मुनि के पास गये और उनके चरणों पर गिर पड़े ।"

"तपस्वी ने थोड़ी ही देर में ध्यान समाप्त होने पर आंखे खोली और हमें पूछा—"तुम कौन हो और इस गिरिशिखर पर किस प्रयोजन से आये हो ?"

"हमने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाते हुए कहा कि इस जीवन से ऊबे हुए हम पर्वतशिखर से कूद कर आत्महत्या करने के लिये यहाँ आये है ।"

"इस पर करुणार्द्र मुनि ने कहा—"इस प्रकार आत्महत्या करने से तो तुम्हारे ये पार्थिव शरीर ही नष्ट होगे । दु खमय जीवन के मूल कारण जो तुम्हारे जन्मान्तरो के अर्जित कर्म है, वे तो ज्यो के त्यो विद्यमान रहेगे । शरीर का त्याग ही करना चाहते हो तो सुरलोक और मुक्ति का सुख देने वाले तपश्चरण से अपने शरीर का पूरा लाभ उठा कर फिर शरीर-त्याग करो । तपस्या की आग मे तुम्हारे पूर्व-सचित अशुभ कर्म तो जल कर भस्म होगे ही, पर इसके साथ-साथ शुभ-कर्मो को भी तुम उपार्जित कर सकोगे ।"

"मुनि का हितपूर्ण उपदेश हमें बडा ही युक्तिसंगत तथा रुचिकर लगा और हम दोनों भाइयों ने तत्क्षण उनके पास मुनि धर्म स्वीकार कर लिया ।

दयालु मुनि ने मोक्षमार्ग के मूल सिद्धान्तों का हमें अध्ययन कराया। हमने षष्टम-अष्टम भक्त, मासक्षमण आदि तपस्याएं कर अपने शरीर को सुखा डाला।"

"विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए हम दोनों एक दिन हस्तिनापुर पहुंचे और नगर के बाहर एक उद्यान में कठोर तपश्चरण करने लगे।"

"एकदा मास-क्षमण के पारण के दिन संभूत मुनि भिक्षार्थ हस्तिनापुर नगर में गये। राजपथ पर नमूची ने संभूत मुनि को पहिचान लिया और यह सोच कर कि यह कहीं मेरे पापाचरण का भण्डाफोड़ न कर दे, मुनि को नगर से बाहर ढकेलने के लिए राजपुरुषों को आदेश दिया। नमूची का आदेश पाकर राजपुरुष घोर तपश्चरण से क्षीणकाय संभूत ऋषि पर तत्काल टूट पड़े और उन्हें निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।[1] मुनि शान्तभाव से उद्यान की ओर लौट पड़े। इस पर भी जब नमूची के सेवकों ने पीटना बन्द नहीं किया तो मुनि क्रुद्ध हो गये। उनके मुख से भीषण आग की लपटें उगलती हुई तेजोलेश्या प्रकट हुई। बिजली की चमक के समान चकाचौंध कर देने वाली अग्निज्वालाओं से सम्पूर्ण गगनमण्डल लाल हो गया।[2] सारे नगर में 'त्राहि-त्राहि' मच गई। झुण्ड के झुण्ड भयभीत नगरनिवासी आकर मुनि के चरणों में मस्तक झुका कर उन्हें शान्त होने की प्रार्थना करने लगे। पर मुनि का कोप शान्त नहीं हुआ। तेजोलेश्या की ज्वालाएं भीषण रूप धारण करने लगी।"

"सारे नभमण्डल को अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त देख कर मैं भी घटनास्थल पर पहुंचा और मैंने शीघ्र ही अपने भाई को शान्त किया।"

पश्चात्ताप के स्वर में संभूत ने कहा—"ओफ् ! मैंने बहुत बुरा किया[3] और वे मेरे पीछे-पीछे चल दिये। क्षण भर में ही अग्निज्वालाएं तिरोहित हो गईं।"

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरियं में स्वयं पुरोहित द्वारा मुनि को पीटने का उल्लेख है। यथा—
.........पुरोहियेण। 'अमंगल' ति कलिऊण दढं कसप्पहारेण ताडिओ।

[पृष्ठ २१६]

२ तेजोलेश्योल्ललासाथ, ज्वालापटलमालिनी।
तडिन्मण्डलसंकीर्णमिव द्यामभितन्वती ॥७२॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

३ 'अहो दुट्ठय कय' ति भणतो उट्ठिओ तप्पएसाओ।

[चउप्पन्न म. पुरिस च., पृ० २१६]

"हम दोनों भाई उद्यान मे लौटे और हमने विचार किया—इस नश्वर शरीर के पोषण हेतु हमे भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। हम निरीह-निर्मोही साधुओ को आहार एवं इस शरीर से क्या प्रयोजन है ? ऐसा विचार कर हम दोनो भाइयों ने संलेखना कर चारों प्रकार के आहार का जीवन भर के लिए परित्याग कर दिया।"

"उधर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपराधी का पता लगाने के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देते हुए कहा—"मेरे राज्य मे मुनि को कष्ट देने का किसने दुस्साहस किया ? इसी समय उसे मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय।"

"तत्क्षण नमूची अपराधी के रूप से प्रस्तुत किया गया।"

"सनत्कुमार ने क्रुद्ध हो कर्कश स्वर में कहा—"जो साधुओ की सत्कार-सम्मानादि से पूजा नही करता वह भी मेरे राज्य मे दण्डनीय है, इस दुष्ट ने तो महात्मा को ताड़ना देकर बड़ा कष्ट पहुँचाया है। इसे चोर की तरह रस्सों से बाध कर सारे नगर मे घुमाया जाय और मेरी उपस्थिति में मुनियो के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। मैं इसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा ताकि भविष्य में कोई भी इस प्रकार का अधर्मपूर्ण साहस न कर सके।"

"नमूची को रस्सो से बांध कर सारे नगर मे घुमाया गया। सनत्कुमार अपने अनुपम ऐश्वर्य के साथ हमारे पास आया और रस्सो से बंधे हुए नमूची को हमे दिखाते हुए बोला—"पूज्यवर ! आपका यह अपराधी प्रस्तुत है। आज्ञा दीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?"

"हमने चक्रवर्ती को उसे मुक्त कर देने को कहा। तदनुसार सनत्कुमार ने भी उसे तत्काल मुक्त कर अपने नगर से बाहर निकलवा दिया।"

"उसी समय सनत्कुमार की चौसठ हजार राजमहीषियों के साथ पट्टमहिषी सुनन्दा हमे वन्दन करने के लिए आई।[1] मुनि संभूत के चरणों में नमस्कार करते समय स्त्री-रत्न सुनन्दा के भौरों के समान काले-घुंघराले, सुगन्धित लम्बे बालों की सुन्दर लटी का सभूत के चरणों से स्पर्श हो गया।[2] विधिवत् वन्दन के पश्चात् चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार सहित लौट गया।"

---

१ चउप्पन्न महापुरिस चरिय मे किसी दूसरे मुनि को, जो उस उद्यान मे ठहरे हुए थे, चक्रवर्ती की रानियो का वन्दन हेतु आने का उल्लेख है। [पृष्ठ २१६]

२ तस्याश्चालकसस्पर्शं, सभूतमुनिरन्वभूत् ।
रोमांचितश्च सद्योऽभूच्छलान्वेषी हि मन्मथ ॥६६॥
[त्रिषष्टि श. पु च, पर्व ६, सर्ग १]

"हम दोनों साधु समाधिपूर्वक साथ-साथ ही अपनी आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प के नलिनी गुल्म (पद्मगुल्म) नामक विमान में देव हुए। वहां हम दोनों दिव्य सुखों का उपभोग करते रहे। देव आयु पूर्ण होने पर मैं पुरिमताल नगर के महान् समृद्धिशाली गरणपुञ्ज नामक श्रेष्ठी की पत्नी नन्दा के गर्भ से उत्पन्न हुआ और युवा होने पर भी विषय-सुखों में नही उलझा तथा एक मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गया। संयम का पालन करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं इस उद्यान में आया और उद्यान-पालक के मुख से ये गाथाएं सुनकर मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। इस छट्ठे जन्म में हम दोनों भाइयो का वियोग किस कारण से हुआ, इसका मुझे पता नही।"[1]

यह सुनकर सब श्रोता स्तब्ध रह गये और साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से कभी मुनिवर की ओर एवं कभी ब्रह्मदत्त की ओर देखने लगे।

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महामुने! इस जन्म में हम दोनो भाइयों के बिछुड़ जाने का कारण मुझे मालूम है। चक्रवर्ती सनत्कुमार के अद्भुत ऐश्वर्य और उसके सुनन्दा आदि स्त्रीरत्नो के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर मैंने तत्क्षण निदान कर लिया था कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मुझे भी चक्रवर्ती के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। मैंने अपने इस अध्यवसाय की अन्तिम समय तक आलोचना निन्दा नही की,[2] अतः सौधर्म देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर उस निदान के कारण मैं छह खण्ड का अधिपति बन गया और देवताओं के समान यह महान् ऋद्धि मुझे प्राप्त हो गई। मेरे इस विशाल राज्य एवं ऐश्वर्य को आप अपना ही समझिये। अभी आपकी इस युवावस्था में विषय-सुखो और सासारिक भोगो के उपभोग करने का समय है। आप मेरे पांच जन्मो के सहोदर हैं, अतः यह समस्त साम्राज्य आपके चरणो में समर्पित है। आइये! आप स्वेच्छापूर्वक सांसारिक सुखों का यथारुचि उपभोग कीजिये और जब

---

१ (क) ता ण याणामि छट्ठीए जातीए विओओ कहमम्ह जाओ त्ति।

[चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २१७]

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र मे संभूत द्वारा किये गये निदान का चित्त को उसी समय पता चल जाने और चित्त द्वारा संभूत को निदान न करने के सम्बन्ध मे समझाने का उल्लेख है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ की गाथा २८ और २९ से स्पष्ट है कि चित्त को संभूत के निदान का ज्ञान नही था।

२ हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठूण नरवइं महिड्ढियं
कामभोगेसु गिद्धे ण, नियाणमसुहं कडं ॥२८॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स, इम एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि ज धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३]

सुखोपभोग से सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जायं तब वृद्धावस्था मे सयम लेकर आत्म-कल्याण की साधना कर लेना। तपस्या से भी आखिर सब प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोग की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सहज उपस्थित है, फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है ? महान् पुण्यो के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए हैं। कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है।"

मुनि चित्त ने कहा—"चक्रवर्तिन् ! इस निस्सार संसार मे केवल धर्म ही सारभूत है। शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वंसी है। तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरंग शत्रुओ पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अगीकार कर काम-क्रोधादि अन्तरग शत्रुओ को भी जीत लो, जिससे कि तुम्हे मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके।"

"प्रगाढ स्नेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो, पर मैंने तो प्राप्त सपत्ति का भी सहर्ष परि-त्याग कर संयम ग्रहण किया है, क्योकि मैं समस्त विषय-सुखो को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ।"

"तुम स्वयं यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनो ने दास, मृग, हस और मातग के भवो मे कितने दारुण दुःख देखे एव तपश्चरण के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखों का उपभोग किया। पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए है। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना मे उपयोग नही किया तो और भी अधोगतियो मे असह्य दु.ख उठाते हुए तुम्हे भव-भ्रमण करना पडेगा।"

"इस आर्य धरा पर तुमने श्रेष्ठ कुल में मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखो मे व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ मे न उतार कर पैर धोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन् ! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दु:खदायी इन्द्रिय-सुख मे क्यो लुब्ध हो रहे हो ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—भगवन् ! जो आपने कहा है, वह शतप्रतिशत सत्य है। मैं भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दु खों की जननी और सब अनर्थों की मूल है, किन्तु जिस प्र ार गहरे दलदल मे फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नही निकल सकता, उसी प्रकार मैं भी निदान से प्राप्त इन कामभोगो के कीचड मे बुरी तरह फँसा हुआ हूँ, अत मैं सयम ग्रहण करने मे असमर्थ हूँ।"

चित्त ने कहा—"राजन् ! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से बीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियां दौड़ती हुई जा रही है। ये काम-भोग भी

जिनमे तुम फसे हुए हो सदा बने रहने वाले नही है। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोडकर चले जाते है, उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हें अवश्य छोड देंगे।"

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा—"राजन् ! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने में असमर्थ हो, पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यों मे तो संलग्न रहो, जिससे कि तुम्हे दिव्य सुख प्राप्त हो सके।"

यह कहकर मुनि चित्त वहां से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग में समस्त कर्मों को भस्मसात् कर अन्त मे शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियो और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा में सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार में प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोडे पर आरूढ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोडा बड़े वेग से दौडा। ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नही रुका और अनेक नदी, नालों एव वनो को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल में जा रुका।

उस वन में सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार पुरुष के साथ सभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चाबुक से धुनते हुए उनकी चमड़ी उधेड़ दी।

थोडी ही देर मे ब्रह्मदत्त के अगरक्षक अश्व के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वहाँ आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चाबुक की चोटो से लहूलुहान अपना तन अपने पति नागराज को बताते हुए करुण पुकार की—"नाथ ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियो के साथ वन-विहार एव जल-क्रीडा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पतिव्रत धर्म को नष्ठ करने के लिए उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयतापूर्वक चाबुक से पीटने लगा। मैंने बार-बार आपका नाम बताते हुए

सुखोपभोग से सब इन्द्रियाँ तृप्त हो जाय तब वृद्धावस्था मे सयम लेकर आत्म-कल्याण की साधना कर लेना। तपस्या से भी आखिर सब प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोग की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सहज उपस्थित है, फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है ? महान् पुण्यो के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए हैं। कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है।"

मुनि चित्त ने कहा—"चक्रवर्तिन् ! इस निस्सार ससार मे केवल धर्म ही सारभूत है। शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वसी है। तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अगीकार कर काम-क्रोधादि अन्तरग शत्रुओ को भी जीत लो, जिससे कि तुम्हे मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके।"

"प्रगाढ स्नेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो, पर मैंने तो प्राप्त सपत्ति का भी सहर्ष परित्याग कर संयम ग्रहण किया है, क्योकि मैं समस्त विषय-सुखो को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ।"

"तुम स्वयं यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनो ने दास, मृग, हंस और मातग के भवो मे कितने दारुण दुःख देखे एवं तपश्चरण के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखों का उपभोग किया। पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना मे उपयोग नही किया तो और भी अधोगतियो मे असह्य दुःख उठाते हुए तुम्हे भव-भ्रमण करना पडेगा।"

"इस आर्य धरा पर तुमने श्रेष्ठ कुल में मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखो मे व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ मे न उतार कर पैर धोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन् ! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दुःखदायी इन्द्रिय-सुख मे क्यो लुब्ध हो रहे हो ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—भगवन् ! जो आपने कहा है, वह शतप्रतिशत सत्य है। मैं भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दुःखों की जननी और सब अनर्थों की मूल है, किन्तु जिस प्र ार गहरे दलदल मे फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नही निकल सकता, उसी प्रकार मैं भी निदान से प्राप्त इन कामभोगो के कीचड मे बुरी तरह फँसा हुआ हूँ, अतः मैं सयम ग्रहण करने मे असमर्थ हूँ।"

चित्त ने कहा—"राजन् ! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से वीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियां दौड़ती हुई जा रही है। ये काम-भोग भी

जिनमे तुम फसे हुए हो सदा बने रहने वाले नही है। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोडकर चले जाते है, उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हे अवश्य छोड देगे।"

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा—"राजन् ! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने मे असमर्थ हो, पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यों मे तो संलग्न रहो, जिससे कि तुम्हे दिव्य सुख प्राप्त हो सके।"

यह कहकर मुनि चित्त वहा से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग मे समस्त कर्मों को भस्मसात् कर अन्त मे शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियो और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा में सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार में प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोडे पर आरूढ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोडा बड़े वेग से दौड़ा। ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नही रुका और अनेक नदी, नालों एव वनो को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल मे जा रुका।

उस वन में सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार पुरुष के साथ सभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चाबुक से धुनते हुए उनकी चमडी उधेड़ दी।

थोड़ी ही देर मे ब्रह्मदत्त के अगरक्षक अश्व के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वहाँ आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चाबुक की चोटों से लहूलुहान अपना तन अपने पति नागराज को बताते हुए करुण पुकार की—"नाथ ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियो के साथ वन-विहार एवं जल-क्रीड़ा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पतिव्रत धर्म को नष्ट करने के लिए उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयतापूर्वक चाबुक से पीटने लगा। मैंने बार-बार आपका नाम बताते हुए

उससे कहा कि मैं महान् प्रतापी नागराज की पतिव्रता प्रेयसी हूँ, पर वह अपने चक्रवर्तित्व के घमण्ड में आपसे भी नहीं डरा और मुझ पतिपरायणा अबला को तब तक पीटता ही रहा जब तक मैं अधमरी हो मूच्छित नहीं हो गई।"

यह सुन कर नागराज प्रकुपित हो ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर डालने के लिए प्रच्छन्न रूप से उसके शयनागार में प्रविष्ट हुआ। उस समय रात्रि हो चुकी थी और ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था।

उस समय राजमहिषी ने ब्रह्मदत्त से प्रश्न किया—"स्वामिन् ! आज आप अश्वारूढ़ हो अनेक अरण्यों में घूम आये हैं, क्या वहाँ आपने कोई आश्चर्यजनक वस्तु भी देखी ?"

उत्तर मे ब्रह्मदत्त ने नागकन्या के दुश्चरित्र और अपने द्वारा उसकी पिटाई किये जाने की सारी घटना सुना दी। यह त्रिया-चरित्र सुनकर छिपे हुए नागराज की आँखें खुल गईं।

उसी समय ब्रह्मदत्त शारीरिक शंका-निवारणार्थ शयन-कक्ष से बाहर निकला तो उसने कान्तिमान नागराज को साञ्जलि मस्तक झुकाये अपने सामने खड़े देखा।

अभिवादन के पश्चात् नागराज ने कहा—"नरेश्वर ! जिस पुंश्चली नागकन्या को आपने दण्ड दिया, उसका मैं पति हूँ। उसके द्वारा आप पर लगाये गये असत्य आरोप से क्रुद्ध हो मैं आपके प्राण लेने आया था पर आपके मुंह से वास्तविक तथ्य सुनकर आप पर मेरा प्रकोप परम प्रीति में परिवर्तित हो गया है। दुराचार का दमन करने वाली आपकी दण्ड-नीति से मैं अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हूँ, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूं ?"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"नागराज ! मैं यह चाहता हूँ कि मेरे राज्य में पर-स्त्रीगमन, चोरी और अकाल-मृत्यु का नाम तक न रहे।"

"ऐसा ही होगा", यह कहते हुए नागराज बोला—"भारतेश ! आपकी परोपकारपरायणता प्रशंसनीय है। अब आप कोई निज हित की बात कहिये।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"नागराज ! मेरी अभिलाषा है कि मैं प्राणिमात्र की भाषा को समझ सकूं।"

नागराज बोला—"राजन् ! मैं वास्तव में आप पर बहुत ही अधिक प्रसन्न हूँ, इसलिये यह अदेय विद्या भी आपको देता हूँ, पर इस विद्या के अटल और कठोर नियम को आप सदा ध्यान में रखें कि किसी प्राणी की बोली को

समझ कर यदि आपने किसी और के सम्मुख उसे प्रकट कर दिया तो आपके सिर के सात टुकड़े हो जायेंगे।"

ब्रह्मदत्त ने सावधानी रखने का आश्वासन देते हुए नागराज के प्रति आभार प्रकट किया और नागराज भी ब्रह्मदत्त का अभिवादन करते हुए तिरोहित हो गया।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी अतीव प्रिया महारानी के साथ प्रसाधन-गृह मे बैठा हुआ था। उस समय नर-घरोली और नारी-घरोली अपनी बोली मे बात करने लगे। गर्भिणी घरोली अपने पति से कह रही थी कि वह उसके दोहद की पूर्ति के लिए ब्रह्मदत्त का अंगराग ला दे। नर-घरोली उससे कह रहा था—"क्या तुम मुझसे ऊब चुकी हो, जो जानबूझ कर मुझे मौत के मुंह में ढकेल रही हो?"

ब्रह्मदत्त घरोली दम्पति की बात समझ कर सहसा अट्टहास कर हँस पड़ा। रानी ने अकस्मात् हँसने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त जानता था कि यदि उसने उस रहस्य को प्रकट कर दिया तो तत्काल मर जायगा, अतः वह बड़ी देर तक अनेक प्रकार की बाते बना कर उसे टालता रहा। रानी को निश्चय हो गया कि उस हँसी के पीछे अवश्य ही कोई बड़ा रहस्य छिपा हुआ है और उसके स्वामी उससे वह छिपा रहे हैं। रानी ने नारीहठ का आश्रय लेते हुए दृढ स्वर मे कहा—"महाराज! आप अपनी प्राण-प्रिया से भी कुछ छिपा रहे हैं, यह मुझे इस जीवन में पहली ही बार अनुभव हुआ है। यदि आप मुझे हँसी का सही कारण नही बतायेंगे तो मैं इसी समय अपने प्राण दे दूंगी।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"महारानी! मैं तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता पर केवल यही एक ऐसा रहस्य है कि यदि इसे मैंने प्रकट कर दिया तो तत्काल मेरे प्राण निकल जायेंगे।"

रानी ने ब्रह्मदत्त की बात पर अविश्वास करते हुए निश्चयात्मक स्वर में कहा—"यदि ऐसा हुआ तो आपके साथ ही साथ मैं भी अपने प्राण दे दूंगी, पर इस हँसी का कारण तो मालूम करके ही रहूँगी।"

रानी में अत्यधिक आसक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त ने रानी के साथ मरघट में जा चिता चुनवाई और रहस्य को प्रकट करने के लिए उद्यत हो गया।

नारी में आसक्ति के कारण अकाल-मृत्यु के लिए तैयार हुए ब्रह्मदत्त को समझाने के लिए उसकी कुलदेवी ने देवमाया से एक गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाया।

बकरी ने अपनी बोली मे बकरे से कहा— 'स्वामिन् ! राजा के घोड़े को चराने के लिए जो हरी-हरी जौ की पूलियाँ पडी हुई हैं, उनमे से एक पूली लाओ जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ ।"

बकरे ने कहा—"ऐसा करने पर तो मैं राज-पुरुषो द्वारा मार डाला जाऊँगा ।"

बकरी ने हठपूर्वक कहा—"यदि तुम जौ की पूली नही लाओगे तो मैं मर जाऊँगी ।"

बकरे ने कहा—"तू मर जायगी तो मैं दूसरी बकरी को अपनी पत्नी बना लूँगा ।"

बकरी ने कहा—"इस राजा के प्रेम को भी तो देखो कि अपनी पत्नी के स्नेह में जान-बूझ कर मृत्यु का आलिंगन कर रहा है ।"

बकरे ने उत्तर दिया—"अनेक पत्नियों का स्वामी होकर भी ब्रह्मदत्त एक स्त्री के हठ के कारण पतंगे की मौत मरने की मूर्खता कर रहा है, पर मैं इसकी तरह मूर्ख नही हूँ ।"

बकरे की बात सुन कर ब्रह्मदत्त को अपनी मूर्खता पर खेद हुआ और अपने प्राण बचाने वाले बकरे के गले में अपना अमूल्य हार डाल कर राजप्रासाद की ओर लौट गया तथा आनन्द के साथ राज्यश्री का उपभोग करने लगा ।

चक्रवर्ती की राज्यश्री का उपभोग करते हुए जब ५८४ वर्ष बीत चुके उस समय उसका पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण उसके पास आया । ब्रह्मदत्त ने परिचय पाकर ब्राह्मण को बडा आदर-सम्मान दिया ।

भोजन के समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त से कहा—"राजन् ! जो भोजन आपके लिए बना है, उसी भोजन को खाने की मेरी अभिलाषा है ।"

ब्रह्मदत्त ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह आपके लिए दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा ।"

ब्रह्महठ के सामने ब्रह्मदत्त को हार माननी पड़ी और उसने उस ब्राह्मण तथा उसके परिवार के सब सदस्यो को अपने लिए बनाया हुआ भोजन खिला दिया ।

रात्रि होते ही उस अत्यन्त गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन ने अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया । अदम्य कामाग्नि ब्राह्मण-परिवार के रोम-रोम से

प्रस्फुटित होने लगी। कामोन्माद में अन्धा ब्राह्मण परिवार माँ, बहिन, बेटी, पुत्रवधू, पिता, पुत्र, भाई आदि अगम्य सम्बन्ध को भूल गया। उस ब्राह्मण ने और उसके पुत्र ने अपने परिवार की सब स्त्रियों के साथ पशु की तरह कामक्रीड़ा करते हुए सारी रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते ही जब उस भोजन का प्रभाव कुछ कम हुआ तो ब्राह्मण-परिवार का कामोन्माद थोड़ा शान्त हुआ और परिवार के सभी सदस्य अपने घृणित दुष्कृत्य से लज्जित हो एक दूसरे से कतराते हुए अपना मुँह छुपाने लगे।

"अरे! इस दुष्ट राजा ने अपने दूषित अन्न से मेरे सारे परिवार को घोर पापाचार में प्रवृत्त कर पतित कर दिया।" यह कहता हुआ ब्राह्मण अपने पाशविक कृत्य से लज्जित हो नगर के बाहर चला गया।

वन में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते हुए ब्राह्मण ने देखा कि एक चरवाहा पत्थर के छोटे-छोटे ढेलों को गिलोल से फेंक कर वटवृक्ष के कोमल और कच्चे पत्ते पृथ्वी पर गिरा कर अपनी बकरियों को चरा रहा है।

गड़रिये की अचूक और अद्भुत निशानेबाजी को देख कर ब्राह्मण ने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से अपने वैर का बदला लिया जा सकता है। ब्राह्मण ने उस गड़रिये को धन दिया और कहा—"नगर में राजमार्ग पर श्वेत छत्र-चँवरधारी जो व्यक्ति हाथी की सवारी किये निकले उसकी आँखें एक साथ दो पत्थर की गोलियों के प्रहार से फोड़ देना।"

"अपने कृत्य के दुष्परिणाम का विचार किये बिना ही गड़रिये ने नगर मे जाकर, राजपथ से गजारूढ़ हो निकलते हुए ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें एक साथ गिलोल से दो गोलियाँ फेंक कर फोड डाली[1]।"

"तत्क्षण राजपुरुषों द्वारा गड़रिया पकड लिया गया। उससे यह ज्ञात होने पर कि इस सारे दुष्कृत्य का सूत्रधार वही ब्राह्मण है, जिसे गत दिवस भोजन कराया गया था, ब्रह्मदत्त बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने उस ब्राह्मण को परिवार सहित मरवा डाला। फिर भी अन्धे ब्रह्मदत्त का क्रोध शान्त नही हुआ। वह बार-बार सारी ब्राह्मण जाति को ही कोसने लगा एवं नगर के सारे ब्राह्मणों और अपने पुरोहितो तक को चुन-चुन कर उसने मौत के घाट उतार दिया।"

---

१ 'केण उण उवाएण पच्चु (पच्च) वयारो णरवइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण कओ वहूहि अ (उ) वयरियव्व विण्णासेहिं गुलियाधणुविक्खेवणिउणो वयसो। कयसक्का-वाइसयस्स य साहिओ णिययाहिप्पाओ। तेणावि पडिवण्ण सरहस।

[चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २४३]

अपने अन्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई। उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आँखे निकलवा कर बड़े थाल में उसके सम्मुख रख दी जायें। मंत्री ने आँखों के समान श्लेष्मपुंज चिकने लेसवा-लसोड़ा (गूंदे) के गुठली निकले फलो से बड़ा थाल भर कर अन्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया।[1] गूंदों को ब्राह्मणों की आँखें समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता—"ब्राह्मणों की आँखो से थाल को बहुत अच्छी तरह भरा गया है।"

वह एक क्षण के लिए भी उस थाल को अपने पास से नहीं हटाता। रात दिन बार-बार उसका स्पर्श कर परम संतोष का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान में बिताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर[2] अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवें नर्क में चला गया।

प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमों और ग्रन्थो से कतिपय अंशों में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवंश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएँ जिनके सन्बन्ध मे जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य मे समान मान्यता है, उन्हें तुलनात्मक विवेचन हेतु यहाँ दिया जा रहा है।

(१) ब्रह्मदत्त पांचाल जनपद के काम्पिल्यनगर में निवास करता था।
वैदिक परम्परा :—काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, स्वन्तःपुरनिवासिनी।
(महाभारत, शा० प०, अ० १३९, श्लो० ५)

---

१ मतिणा वि मुणिऊण तस्स कम्मधत्तणओ तिव्वमज्झवसायविसेस घेत्तूण लेसुडयतरुणो बहवे फलट्ठिया पक्खिविऊण थालम्मि णिवेइया पुरओ।

२ (क) यातेषु जन्मदिवसोऽस्य समा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद् ब्रुवाण।
हिंसानुबन्धिपरिणामफलानुरूपा, तां सप्तमीं नरकलोकमुव जगाम॥
[त्रिषष्टि श पु चरित्र, पर्व ९, सर्ग १, श्लो, ६००]

(ख) 'चउवन्न महापुरिस चरिय' मे ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु बताई गई है।
यथा—"...अट्ठक्कताइं कइवयदिणाणि सत्तवाससयाइ सोलसुत्तराइ।
[चउवन्न महापुरिस चरिय, पृष्ठ २४४]

ब्रह्मदत्तश्च पांचाल्यो, राजा बुद्धिमतां वरः।
(वहीं, अ० २२४, श्लो० २६)

जैन परम्परा :–

'अत्थि इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे णिरंतरं.......पंचालाहिहाणो जणवओ। तत्थ य.......कंपिल्लं णाम णयरं। तम्मि.......बम्भयत्तो णाम चक्कवट्टी।' (चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१०)

(२) ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में एक राजा की ऋद्धि देखकर यह निदान किया था—"यदि मैंने कोई सुकृत, नियम और तपश्चरण किया है तो उस सबके फलस्वरूप मैं भी ऐसा राजा बनूँ।"

वैदिक परम्परा :–

स्वतन्त्रश्च विहंगोऽसौ, स्पृहयामास तं नृपम्।
दृष्ट्वा यान्तं श्रियोपेतं, भवेयमहमीदृशः ॥४३॥
यद्यस्ति सुकृतं किंचित्तपो वा नियमोऽपि वा।
खिन्नोऽस्मि ह्युपवासेन, तपसा निष्फलेन च ॥४४॥
(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :–

'सलाहणीओ चक्कवट्टिविहवो ममंपि एस संपज्जउ त्ति जइ इमस्स तवस्स सामत्थमत्थि' त्ति हियएण चिंतिऊण कयं णियाणं त्ति। परिणायं छक्खंडभरहाहिवत्तण।

(चउवन्न महापुरिस चरियं पृ० २१७)

(३) ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण-ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हुआ, इसका दोनो परम्पराओं में निमित्तभेद को छोड़ कर समान वर्णन है।

वैदिक परम्परा :–

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद्, ब्रह्मदत्तो नराधिपः।
सचिवश्चास्य पाचाल्यः, कण्डरीकश्च भारत ॥२२॥
ततस्ते तत्सरः स्मृत्वा, योग समुपलभ्य च।
ब्राह्मण विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयम् ॥२५॥

जैन परम्परा :–

'समुप्पण्णो मणम्मि वियप्पो-अण्णाया वि मए एवं विहसंगीओवलक्खिया णाड़यविहि दिट्ठउव्वा, एयं च सिरिदामकुसुमगंड त्ति। एवं च परिभिंतयंतेण

अपने अन्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई। उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आँखें निकलवा कर बड़े थाल मे उसके सम्मुख रख दी जायें। मंत्री ने आँखों के समान श्लेष्मपुंज चिकने लेसवा-लसोडा (गूंदे) के गुठली निकले फलों से बड़ा थाल भर कर अन्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया।[1] गूंदों को ब्राह्मणों की आँखें समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता—"ब्राह्मणों की आँखों से थाल को बहुत अच्छी तरह भरा गया है।"

वह एक क्षण के लिए भी उस थाल को अपने पास से नहीं हटाता। रात दिन बार-बार उसका स्पर्श कर परम संतोष का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान में बिताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर[2] अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवें नर्क में चला गया।

प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमों और ग्रन्थों से कतिपय अंशों में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवंश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएँ जिनके सम्बन्ध मे जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य मे समान मान्यता है, उन्हे तुलनात्मक विवेचन हेतु यहाँ दिया जा रहा है।

(१) ब्रह्मदत्त पांचाल जनपद के काम्पिल्यनगर मे निवास करता था।
वैदिक परम्परा :—काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, त्वन्तःपुरनिवासिनी।
(महाभारत, शा० प०, अ० १३९, श्लो० ५)

---

१ मतिणा वि मुणिऊण तस्स कम्मवत्तरऊो सिव्वमज्झवसायविसेस घेत्तूण सेसुरुडयतरूणो बहुवे फलट्ठिया पक्खिविऊण थालम्मि णिवेइया पुरओ।

२ (क) यातेषु जन्मदिवसोऽथ समा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद् ब्रुवाण।
हिंसानुबन्धिपरिणामफलानुरूपा, तां सप्तमीं नरकलोकभुव जगाम॥
[त्रिषष्टि श. पु चरित्र, पर्व ९, सर्ग १, श्लो, ६००]

(ख) 'चउवन्न महापुरिस चरिय' मे ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु बताई गई है। यथा—""अइक्कताइं कइवयदिणाणि सत्तवाससयाइं सोलसुत्तराइं।
[चउवन्न महापुरिस चरिय, पृष्ठ २४४]

(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियो की भाषा समझता था, इस बात का उल्लेख दोनों परम्पराओं में है।

वैदिक परम्परा :–

ततः पिपीलिकारुतं, स शुश्राव नराधिपः।
कामिनी कामिनस्तस्य, याचत. क्रोशतो भृशम् ॥३॥
श्रुत्वा तु याच्यमाना ता, क्रुद्धा सूक्ष्मा पिपीलिकाम्।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ॥४॥
तथा श्लोक ७ से १०।

(हरिवंश, पर्व १, अ० २४)

जैन परम्परा :–

गृहगोलं गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय।
राज्ञोऽङ्गरागमेतं मे, पूर्यते येन दोहदः ॥५५२॥
प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्यं किं मम नात्मना।
भाषा ज्ञात्वा तयोरेवं, जहास वसुधाधिपः ॥५५३॥

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग १)

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा मे पूजनिका नाम की एक चिडिया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आंखे फोड डालने का उल्लेख है, तो जैन परम्परा के ग्रन्थों मे ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गड़रिये द्वारा स्वयं ब्रह्मदत्त की आंखें फोड़ने का उल्लेख है।

इन कतिपय समान मान्यताओं के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्बन्ध मे दोनों परम्पराओ के ग्रंथो मे बड़ा अन्तर है।

'हरिवश' में महाभारतकाल से बहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है,[1] पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थो मे पाण्डवो के निर्वाण के बहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है।

जैन परम्परा के आगमो और प्राचीन ग्रन्थों में प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सब का

---

१ प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिप।
पितामहस्य मे राजन्, बभूवेति मया श्रुतम् ॥११॥
ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजर्षिसत्तम।
रुतज्ञ. सर्वभूताना, सर्वभूतहिते रत. ॥१२॥

सोहम्मसुरकप्पे पउमगुम्मे विमाणे सुरविलासिणीकलिज्जमाणणाड़यविही दिट्ठा। सुमरिम्रो म्रत्तणो पुव्वभवो। तम्रो मुच्छावसमउलमाणलोयणो सुकुमार-तणणीसहवेविरसरीरो तक्खणं चेव धरायलम्मि णिवड़िम्रो त्ति।'

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २११)

(४) ब्रह्मदत्त के पूर्वभवों का वर्णन दोनो परम्परामों द्वारा एक दूसरे से काफी मिलता जुलता दिया गया है।

वैदिक परम्परा :–

सप्त व्याधाः दशार्णेषु, मृगा कालिंजरे गिरौ।
चक्रवाकाः शरद्वीपे, हंसा सरसि मानसे ॥२०॥
तेऽभिजाता कुरुक्षेत्रे, ब्राह्मणा वेदपारगाः।
प्रस्थिताः दीर्घमध्वान, यूयं किमवसीदथ ॥२१॥

(हरिवंश, पर्व १, अध्याय २५)

जैन परम्परा :–

दासा दसण्णे म्रासी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीराए सोवागा कासिभूमिए ॥६॥
देवा य देवलोयम्मि, आसी म्रम्हे महिड्ढिया।
इमा णो छट्ठिया जाई म्रन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, म्र० १३)

(५) ब्रह्मदत्त का विवाह एक ब्राह्मण कन्या के साथ हुम्रा था, इस सम्बन्ध मे भी दोनो परम्परामों की समान मान्यता है।

वैदिक परम्परा :–

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु, देवलस्यात्मजाभवत्।
म्रसितस्य हि दुर्धर्षा, सन्मतिर्नाम नामत. ॥२६॥

(हरिवंश, पर्व १, म्र० २३)

जैन परम्परा :—

ताव य एक दियवरमंदिराम्रो पेसिएण णिग्गतूण दासचेडएण भणिया म्रम्हे एह भुंजह त्ति।.........भोयणावसाणम्मि..
तम्रो तम्मि चेव दिणे जहाविहववित्थरेण वत्तं पाणिग्गहणं।

(चउवन्न महापुरिस चरिय, पृ० २२१)

(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियों की भाषा समझता था, इस बात का उल्लेख दोनों परम्पराओं मे है ।

वैदिक परम्परा :–

ततः पिपीलिकारुतं, स शुश्राव नराधिपः ।
कामिनी कामिनस्तस्य, याचत क्रोशतो भृशम् ।।३।।
श्रुत्वा तु याच्यमाना तां, क्रुद्धा सूक्ष्मा पिपीलिकाम् ।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ।।४।।
तथा श्लोक ७ से १० ।

(हरिवंश, पर्व १, अ० २४)

जैन परम्परा :–

गृहगोलं गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय ।
राज्ञोऽङ्गरागमेतं मे, पूर्यते येन दोहदः ।।५५२।।
प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्य किं मम नात्मना ।
भाषा ज्ञात्वा तयोरेव, जहास वसुधाधिपः ।।५५३।।

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग १)

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा मे पूजनिका नाम की एक चिड़िया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आँखें फोड डालने का उल्लेख है, तो जैन परम्परा के ग्रन्थों में ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गडरिये द्वारा स्वयं ब्रह्मदत्त की आँखें फोड़ने का उल्लेख है ।

इन कतिपय समान मान्यताओं के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्बन्ध मे दोनों परम्पराओ के ग्रंथों में बड़ा अन्तर है ।

'हरिवंश' में महाभारतकाल से बहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है,[1] पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थो मे पाण्डवों के निर्वाण के बहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है ।

जैन परम्परा के आगमो और प्राचीन ग्रन्थो में प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सब का

---

१ प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिप ।
पितामहस्य मे राजन्, बभूवेति मया श्रुतम् ।।११।।
ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजर्षिसत्तम ।
रुतज्ञः सर्वभूतानां, सर्वभूतहिते रतः ।।१२।।

काल उपलब्ध होता है। इसके साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन तिरेसठ श्लाघ्य पुरुषो का जो समय एक आगम मे दिया गया है, वही समय अन्य आगमो एव सभी प्राचीन ग्रन्थो में दिया हुआ है। अतः ऐसी दशा मे जैन परम्परा के साहित्य मे दिये गये इनके जीवनकाल के सम्बन्ध मे शंका के लिये अवकाश नही रह जाता।

भारतवर्ष की इन दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराओ के मान्य ग्रन्थों में जो अधिकांशतः समानता रखने वाला ब्रह्मदत्त का वर्णन उपलब्ध है, उसके सम्बन्ध मे इतिहासज्ञों द्वारा खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह भारतीय प्राचीन इतिहास की शृंखला को जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व नवीं-दशवी शताब्दी है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के ऐतिहासिक विषय के विद्वान् भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

मेजर जनरल फर्लांग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है—"उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप-प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म, अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्म संन्यास बाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती तट पर पहुँचने से पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके बाद पार्श्व हुए और उन्हे अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिए हुए पहले हो चुके थे। उन्हें उन अनेक धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा मे मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।[1]

डॉ० हर्मन जैकोबी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उन्होने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रकाश में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[2]

डॉ० हर्मन जैकोबी के प्रस्तुत कथन का समर्थन अन्य अनेक इतिहासविज्ञों ने भी किया है। डॉ० 'बासम' के अभिमतानुसार भगवान् महावीर बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में उट्टंकित किये गये है, एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नही रह जाता।[3]

---

१ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद, पृष्ठ १४१

2 The Sacred Books of the East Vol. XLV, Introduction, page 21 "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable........."

3 The Wonder that was India (A. L. Basham B.A, Ph. D, F. R. A S) Reprinted 1956, P. 287-288 :-

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt...Parswa was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthakaras (Ford makers) of the Jaina faith."

डॉ० चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है—"हमे इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप मे विद्यमान रह चुके हैं; एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होंगी।"[1]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलब्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ९वी सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मंडल की रचना हो चुकी थी। मंडल के नासदीय[2] सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त[3] तथा पुरुषसूक्त[4] प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश में तत्त्व-जिज्ञासाएँ उद्भूत होने लगी और उन पर गम्भीर चिंतन चलने लगे थे। उपनिषद्-काल मे ये जिज्ञासाएँ इतनी प्रबल हो चुकी थी कि उनके चिन्तन-मनन के लिए विद्वानों की सभाएँ की जाने लगी। उनमें राजा, ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमे जगत् के मूलभूत तत्त्वो के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, जिनको 'पराविद्या' कहा गया। उनमे गार्ग्यायण, जनक भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके विचारो मे विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन मे गति बढ़ने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड में रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए यज्ञ आदि क्रियाओं का किसी प्रकार का उपयोग नही है। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारकों को यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को 'अपराविद्या' और मोक्षदायक आत्मज्ञान को 'पराविद्या' [illegible] देकर 'अपराविद्या' से 'पराविद्या' को श्रेष्ठ बतलाया।

कठोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया कि :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्

[1] The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, Page 21 :—
"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older vira, his reputed predecessor P[illegible] having almost certainly existed person, and that consequently [illegible] ints of the original doctri[illegible] been codified long before Mah[illegible]

[2] ऋग्वेद १०।१२९

[3] वही १०।१२१

[4] वही १०।९०

इस प्रकार की विचारधाराएँ आगे बढ़ीं तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों मे ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिन्तन किया करते। ये अधिकांशतः मौन रहते, अतः मुनि कहलाये। वेदों में भी ऐसे वातरशना तत्व-चिन्तकों को ही मुनि[1] कहा गया है।

इन वनवासियों का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्[2] में श्री कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि बतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता[3] के अनुसार इन भावनाओं की उत्पत्ति ईश्वर (स्वयं आत्मदेव) से बताई गई है।

उस समय एक ओर इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था, तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढा कर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जब लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने में दिङ्मूढ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्व-नाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका करुणाकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहास-लेखकों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र बनाना पड़ा।[4] वास्तव में ऐसी बात नही है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था, फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं, किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।

पूर्वभव की साधना

अन्य सभी तीर्थंकरों के समान भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की

---

१ भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० १४-१५

२ छान्दोग्यपनिषद्, ३।१७।४-६

३ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा. भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

[गीता १०।५]

४ हिस्टोरिकल बिगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८।

डॉ० चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है—"हमे इन दो बातो का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप मे विद्यमान रह चुके हैं; एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होंगी।"[१]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलब्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ६वी सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मंडल की रचना हो चुकी थी। मंडल के नासदीय[२] सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त[३] तथा पुरुषसूक्त[४] प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश मे तत्त्व-जिज्ञासाएँ उद्भूत होने लगी और उन पर गम्भीर चिंतन चलने लगे थे। उपनिषद्-काल मे ये जिज्ञासाएँ इतनी प्रबल हो चुकी थी कि उनके चिन्तन-मनन के लिए विद्वानों की सभाएँ की जाने लगी। उनमें राजा, ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमें जगत् के मूलभूत तत्वों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, जिनको 'पराविद्या' कहा गया। उनमें गार्ग्यायण, जनक भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके विचारों मे विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन मे गति बढने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड मे रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए यज्ञ आदि क्रियाओं का किसी प्रकार का उपयोग नही है। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारकों को यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को 'अपराविद्या' और मोक्षदायक आत्मज्ञान को 'पराविद्या' की संज्ञा देकर 'अपराविद्या' से 'पराविद्या' को श्रेष्ठ बतलाया।

कठोपनिषद् मे तो यहाँ तक कहा गया कि :—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
> [१/२/२,३]

---

१ The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, Page 21.—
"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

२ ऋग्वेद १०।१२६

३ वही १०।१२१

४ वही १०।६०

इस प्रकार की विचारधाराएँ आगे बढ़ी तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों में ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिन्तन किया करते। ये अधिकांशतः मौन रहते, अतः मुनि कहलाये। वेदों में भी ऐसे वातरशना तत्व-चिन्तकों को ही मुनि[1] कहा गया है।

इन वनवासियों का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्[2] में श्री कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि बतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता[3] के अनुसार इन भावनाओं की उत्पत्ति ईश्वर (स्वयं आत्मदेव) से बताई गई है।

उस समय एक ओर इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था, तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ा कर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जब लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने में दिङ्मूढ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका करुणाकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहास-लेखकों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र बनाना पड़ा।[4] वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था, फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं, किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।

पूर्वभव की साधना

अन्य सभी तीर्थंकरों के समान भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की

---

१ भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १४-१६

२ छान्दोग्यपनिषद्, ३।१७।४-६

३ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

[गीता १०।५]

४ हिस्टोरिकल बिगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८।

साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर-पद की योग्यता प्राप्त की थी। कोई भी आत्मा एकाएक पूर्ण विकास नही कर लेता। जन्मजन्मान्तर की करनी और साधना से ही विशुद्धि प्राप्त कर वह मोक्ष योग्य स्थिति प्राप्त करता है। भगवान् पार्श्व का साधनारम्भकाल दश भव पूर्व से बतलाया गया है, जिसका विस्तृत परिचय 'चउवन महापुरिस चरियम्', 'त्रिषष्टि शलाका पुरिष चरित्र' आदि में द्रष्टव्य है। यहाँ उनका नामोल्लेख कर आठवें भव से, जहाँ तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध किया, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

प्रभु पार्श्वनाथ-के १० भव इस प्रकार हैं :—प्रथम मरुभूति और कमठ का भव, दूसरा हाथी का भव, तीसरा सहस्रार देव का, चौथा किरण देव विद्याधर का, पाँचवाँ अच्युत देव का, छठा वज्रनाभ का, सातवाँ ग्रैवेयक-देव का, आठवाँ स्वर्णबाहु का, नवाँ प्राणत देव का और दशवाँ पार्श्वनाथ का।

इन्होंने स्वर्णबाहु के (अपने आठवें) भव में तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित करने के बीस बोलों की साधना की और तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है :—

वज्रनाभ का जीव देवलोक से च्युत हो पूर्व-विदेह मे महाराज कुलिश-बाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना की कुक्षि से चक्रवर्ती के सब लक्षणो से युक्त सुवर्ण-बाहु के रूप मे उत्पन्न हुआ। सुवर्णबाहु के युवा होने पर महाराज कुलिशबाहु ने योग्य कन्याओं से उनका विवाह कर दिया और उन्हे राजपद पर अभिषिक्त कर वे स्वयं दीक्षित हो गये।

राजा होने के पश्चात् सुवर्णबाहु एक दिन अश्व पर आरूढ़ हो प्रकृति-दर्शन के लिए वन की ओर निकले। घोड़ा बेकाबू हो गया और उन्हे एक गहन बीहड़ वन मे ले गया। उनके सब साथी पीछे रह गये। एक सरोवर के पास घोड़े के खड़े होने पर राजा घोड़े से नीचे उतरे। उन्होने सरोवर मे जलपान किया और घोडे को एक वृक्ष से बाँधकर वन-विहार के लिए निकल पडे। घूमते हुए सुवर्णबाहु एक आश्रम के पास पहुँचे, जिसमें कि आश्रमवासी तापस रहते थे। राजा ने देखा कि उस आश्रम के कुसुम-उद्यान मे कुछ युवा कन्यायें क्रीडा कर रही हैं। उनमें से एक अति कमनीय सुन्दरी को देख कर सुवर्णबाहु का मन उस कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया और वे उस कन्या के सौन्दर्य को अपलक देखने लगे। कन्या के ललाट पर किये गये चन्दनादि के लेप और सुवासित हार से उसके मुख पर भौंरे मँडराने लगे। कन्या द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी भौंरे अधिकाधिक संख्या मे उसके मुखमण्डल पर मँडराने लगे, इससे घबडा कर कन्या सहसा चिल्ला उठी। इस पर सुवर्णबाहु ने अपनी चादर के छोर से भौंरो को हटा कर कन्या को भयमुक्त कर दिया।

सुवर्णबाहु के इस अयाचित साहाय्य से क्रीड़ारत सभी कन्याएँ प्रभावित हुई और राजकुमारी का परिचय देते हुए बोली—"यह राजा खेचरेन्द्र की राजकुमारी पद्मा हैं। अपने पिता के देहान्त के कारण राजमाता रत्नावली के साथ यह यहाँ गालव ऋषि के आश्रम में सुरक्षा हेतु आई हुई हैं। यहाँ कल एक दिव्यज्ञानी ने आकर रत्नावली से कहा—"तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी कन्या को चक्रवर्ती सुवर्णबाहु जैसे योग्य पति की प्राप्ति होगी। आज वह बात सत्य सिद्ध हुई है।"

आश्रम के आचार्य गालव ऋषि ने जब सुवर्णबाहु के आने की बात सुनी तो महारानी रत्नावली को साथ लेकर वे भी वहाँ आये और अतिथि सत्कार के पश्चात् सुवर्णबाहु के साथ पद्मा का गांधर्व-विवाह कर दिया। उस समय राजा सुवर्णबाहु का सैन्यदल और पद्मा के भाई पद्मोत्तर भी वहाँ आ गये। पद्मोत्तर के आग्रह से सुवर्णबाहु कुछ समय तक वहाँ रहे और फिर अपने नगर को लौट आये।

राज्य का उपभोग करते हुए सुवर्णबाहु के यहाँ चक्ररत्न प्रकट हुआ। उसके प्रभाव से षट्खंड की साधना कर सुवर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् बन गये।[1]

एक दिन पुराणपुर के उद्यान मे तीर्थंकर जगन्नाथ का समवशरण हुआ। सुवर्णबाहु ने सहस्रों नर-नारियों को समवशरण की ओर जाते देख कर द्वारपाल से इसका कारण पूछा और जब उन्हें तीर्थंकर जगन्नाथ के पधारने की बात मालूम हुई तो हर्षित होकर वे भी सपरिवार उन्हे वन्दन करने गये। तीर्थंकर जगन्नाथ के दर्शन और समवशरण में आये हुए देवों का बार बार स्मरण कर सुवर्णबाहु बहुत प्रभावित हुए और उन्हे वीतराग-जीवन की महिमा पर चिन्तन करते हुए जातिस्मरण हो आया।[2] फलतः पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षा ग्रहण की एवं उग्र तपस्या करते हुए गीतार्थ हो गये। मुनि सुवर्णबाहु ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जित करने के अर्हद्भक्ति आदि बीस साधनों मे से अनेक की सम्यक्रूप से आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया।[3] तपस्या के साथ-साथ उनकी प्रतिज्ञा बढ़ी चढ़ी-बढ़ी थी। एक बार वे विहार करते हुए क्षीरगिरि के पास क्षीरवर्ण नामक वन में आये और सूर्य के सामने दृष्टि रख कर कायोत्सर्गपूर्वक आतापना लेने खड़े हो गये। उस समय कमठ का जीव, जो सप्तम नर्क से निकल कर उस वन में सिंह रूप से उत्पन्न हुआ था, अपने सामने सुवर्णबाहु मुनि को खड़े देख कर क्रुद्ध हो गर्जना करता हुआ उन पर झपट पड़ा।

---

१ त्रिषष्टि शलाका पु० च० ९।२१

२ चउ. म. प. च., पृ. २५५

३ चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २५६

मुनि सुवर्णबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर संलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को चीरने लगा, पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे। समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि में दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप में उत्पन्न हुआ। नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यग् योनि मे अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा।

विविध ग्रन्थों में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उनके पिता का नाम वीतशोक डामर था। रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोयपण्णत्ती और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख था।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएं हैं।

उत्तरपुराण और पासनाह चरिउ मे पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्रायः समान है।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेईसवें अध्ययन मे भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में भी ग्रथित की गई है। श्वेताम्बर परम्परा मे पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने 'सिरि पासनाह चरिउं' के नाम से एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा है। उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवों का वर्णन प्रायः वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण मे उल्लिखित है। केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे भी स्वीकृत है। देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्नमन रहने लगे एव हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घर-बार, यहां तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे। इसके

परिणामस्वरूप उनकी पत्नी वसुन्धरी का कमठ नामक किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो गया। कमठ और अपनी पत्नी के पापाचरण की कहानी मरुभूति को कमठ की पत्नी वरुणा से ज्ञात हुई। मरुभूति ने इसकी सचाई को जानने के लिये नगर के बाहर जाने का ढोंग किया। रात्रि मे याचक के वेष में लौटकर उसी स्थान पर ठहरने की अनुमति पा ली। वहाँ उसने कमठ और वसुन्धरी को मिलते देखा।[1]

जन्म और मातापिता

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र मे स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोग कर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि मे मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता वामादेवी चौदह शुभ-स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्र-रत्न की सुरक्षा के लिए साव-धानीपूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल के पूर्ण होने पर पौष कृष्णा[2] दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर आरोग्ययुक्त माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। तिलोयपन्नत्ती मे भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ ५० वर्ष बीतने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म लिखा है।[3] प्रभु के जन्म से घर-घर में आमोद-प्रमोद का मंगलमय वातावरण प्रसरित हुआ और क्षणभर के लिए समग्र लोक में उद्योत हो गया।

समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति मे पार्श्व के पिता का नाम आससेण (अश्वसेन) तथा माता का नाम वामा लिखा है। उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थकारों ने भी यही नाम स्वीकृत किये हैं।

आचार्य गुणभद्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण में) पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र मे माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोयपन्नत्ती में पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया है। अश्वसेन का पर्यायवाची हयसेन नाम भी मिलता है। मौलिक रूप से देखा जाय तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुण, प्रभाव और बोलचाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम मे भिन्नता होना आश्चर्य की बात नही है।

---

१ पासनाह चरिउं, पद्मकीर्ति विरचित, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१

२ उत्तरपुराण में दशमी के स्थान पर एकादशी को विशाखा नक्षत्र में जन्म माना गया है।

३ पण्णासाधियछस्सयचुलसीदिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
णेमि जिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स। ति. प., ४।५७६।पृ. २१४

मुनि सुवर्णबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर संलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को चीरने लगा, पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे। समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि मे दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप में उत्पन्न हुआ। नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यंग् योनि मे अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा।

विविध ग्रन्थों में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उनके पिता का नाम वीतशोक डामर था। रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोयपण्णत्ती और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख था।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएँ हैं।

उत्तरपुराण और पासनाह चरिउ में पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्राय: समान है।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेईसवे अध्ययन में भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में भी ग्रथित की गई है। श्वेताम्बर परम्परा मे पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने 'सिरि पासनाह चरिउं' के नाम से एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा है। उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवों का वर्णन प्राय. वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण में उल्लिखित है। केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे भी स्वीकृत है। देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्नमन रहने लगे एव हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घर-बार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे। इसके

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा।[1]

बाललीला

नीलोत्पल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे। अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे। सर्प-लाञ्छन वाले पार्श्व कुमार बालभाव में अनेक राजकुमारों और देवकुमारो के साथ क्रीड़ा करते हुए उडुगण मे चन्द्र की तरह चमक रहे थे।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और उसके बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन मे प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी। आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :—

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा मे बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला—"कुशस्थल के भूपति नरवर्मा, जो बड़े धर्म-प्रेमी साधु-महात्माओ के परम उपासक थे, उन्होने ससार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का सचालन कर रहे हैं। उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप एव गुणो की महिमा सुनी, तभी से वह इन पर मुग्ध है। उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नही करूंगी।

माता-पिता भी कुमारी की इस पसद से प्रसन्न थे, किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना, तो उसने कुशस्थल पर चढाई की आज्ञा देते हुए भरी सभा मे यह घोषणा की—"मेरे रहते हुए प्रभावती को ब्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया। उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो। कुशस्थल

---

१ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम्।
पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वंश के सम्बन्ध मे समवायांग आदि मूल आगमो मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति मे कुछ संकेत मिलता है, वहाँ बाईस तीर्थंकरो को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे अश्वसेन भूप को इक्ष्वाकुवंशी[1] माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कही इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते है। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवंशीय कहा है।[2] तिलोयपन्नत्ती मे भी आपका वंश उग्रवंश बतलाया है और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवंशी भी कहते है।

नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी मे महाराज अश्वसेन ने दश दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एवं मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले—"बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अँधेरी रात मे भी पास (पार्श्व) मे चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया, अत. इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।" इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।[3]

---

१ तस्यामिक्ष्वाकुवंश्योऽभूदश्वसेनो महीपति। [त्रि०श०पु०च०, प. ६, स ३, श्लो० १४]

२ महापुराण--९४।२२।२३

३ (क) सामण्णे सव्वे जाणका पासका य सव्व भावाण, विसेसो माता अन्धारे सप्प पासति, रायाण भणति-हत्थ विसएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएण पलोइओ दिट्ठो।

[आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिञ्जननी, कृष्णनिश्यपि पार्श्वत.।
सर्पन्त सर्पमद्राक्षीत्, सद्य पत्यु शशस च॥
स्मृत्वा तदेव गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन्।
पार्श्व इत्यभिधा सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत्॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, श्लो. ४५]

(ग) पासोवसप्पेण सुविणयमि सप्प पलोइत्ता......

[सिरि पासनाह चरिउं, गाथा ११, प्र. ३ पृष्ठ १४०]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा ।[1]

बाललीला

नीलोत्पल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे । अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे । सर्प-लांछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव मे अनेक राजकुमारो और देवकुमारो के साथ क्रीडा करते हुए उडुगरा मे चन्द्र की तरह चमक रहे थे ।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और उसके बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे ।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन मे प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी । आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :—

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा मे बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला—"कुशस्थल के भूपति नरवर्मा, जो बड़े धर्म-प्रेमी साधु-महात्माओ के परम उपासक थे, उन्होने संसार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का सचालन कर रहे हैं । उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप एवं गुणो की महिमा सुनी, तभी से वह इन पर मुग्ध है । उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नही करूंगी ।

माता-पिता भी कुमारी की इस पसंद से प्रसन्न थे, किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना, तो उसने कुशस्थल पर चढाई की आज्ञा देते हुए भरी सभा मे यह घोषणा की—"मेरे रहते हुए प्रभावती को ब्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया । उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो । कुशस्थल

---

१ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।
पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

के महाराज प्रसेनजित बड़े असमंजस मे है । उन्होने मुझे सारी स्थिति से आपको अवगत करने के लिए आपकी सेवा मे भेजा है । अब आगे क्या करना है, इसमे देव ही प्रमाण है ।"

दूत की बात सुन कर महाराज अश्वसेन क्रोधावेश मे बोले—"अरे ! उस पामर यवनराज की यह हिम्मत जो मेरे होते हुए तुम पर आक्रमण करे । मैं कुशस्थल के रक्षण की अभी व्यवस्था करता हूँ ।"

यह कहकर महाराज अश्वसेन ने युद्ध की भेरी बजवा दी । क्रीडागण मे खेलते हुए पार्श्वकुमार ने जब रणभेरी की आवाज सुनी तो वे पिता के पास आये और प्रणाम कर पूछने लगे—"तात ! यह कैसी तैयारी है ? आप कहा जा रहे है ? मेरे रहते आपके जाने की क्या आवश्यकता है ? छोटे-मोटे शत्रुओ को तो मैं ही शिक्षा दे सकता हूँ । कदाचित् आप सोचते होगे कि यह बालक है, इसको खेल से क्यो वचित रखा जाय, परन्तु महाराज क्षत्रियपुत्र के लिए युद्ध भी एक खेल ही है । मुझे इसमे कोई विशेष श्रम प्रतीत नही होता ।"

पुत्र के इन साहस भरे वचनो को सुन कर महाराज अश्वसेन ने उन्हे सहर्ष कुशस्थल जाने की अनुमति प्रदान कर दी । पार्श्वकुमार ने गजारूढ हो चतुरगिणी सेना के साथ शुभमुहूर्त मे वहाँ से प्रयाण किया । प्रभु के प्रयाण करने पर शक्र का सारथि सहयोग हेतु आया और विनयपूर्वक नमस्कार कर बोला—"भगवन् ! क्रीडा की इच्छा से आपको युद्ध के लिए तत्पर देख कर इन्द्र ने मेरे साथ साग्रामिक रथ भेजा है । आपकी अपरिमित शक्ति को जानते हुए भी इन्द्र ने अपनी भक्ति प्रकट की है ।"

कुमार पार्श्वनाथ ने भी कृपा पर धरातल से ऊपर चलने वाले उस रथ पर आरोहण किया[1] और कुछ ही दिनो मे कुशस्थल पहुँच कर युद्ध की घोषणा करवा दी । उन्होने पहले यवनराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण की है । इसलिए कुशस्थल को घेराबन्दी से मुक्त कर दो, अन्यथा महाराज अश्वसेन के कोप-भाजन बनने मे तुम्हारा भला नही है ।

दूत की बात सुनकर यवनराज ने आवेश मे आकर कहा—"जाओ, अपने स्वामी पार्श्व को कह दो कि यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो बीच में न पड़े । ऐसा न हो कि हमारे क्रोध की आग मे पड़ने से उस बालक को असमय मे ही प्राण गँवाना पड़े ।"

दूत के मुख से यवनराज की बात सुनकर करुणासागर पार्श्वकुमार ने यवनराज को समझाने के लिये दूत को दूसरी बार और भेजा ।

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लोक ११७–१२० ।

दूत ने दुबारा जाकर यवनराज से फिर कहा—"स्वामी ने तुम पर कृपा करके पुनः मुझे भेजा है, न कि किसी प्रकार की कमजोरी के कारण। तुम्हारा इसी में भला है कि उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लो।"

दूत की बात सुनकर यवनराज के सैनिक उठे और जोर-जोर से कहने लगे—"अरे! अपने स्वामी के साथ क्या तुम्हारी कोई शत्रुता है, जिससे तुम उन्हे युद्ध मे ढकेल रहे हो?"

सैनिको को रोक कर वृद्ध मन्त्री बोला—"सैनिको! स्वामी के प्रति द्रोह यह दूत नही अपितु तुम लोग कर रहे हो। पार्श्व की महिमा तुम लोग नही जानते, वह देवो, दानवों और मानवो के पूजनीय एवं महान् पराक्रमी है। इन्द्र भी उनकी शक्ति के सामने सिर झुकाते हैं, अतः सबका हित इसी मे है कि पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर लो।"

मन्त्री की इस स्व-परहितकारिणी शिक्षा से यवनराज भी प्रभावित हुआ और पार्श्वनाथ का वास्तविक परिचय प्राप्त कर उनकी सेवा मे पहुँचा। विशाल सेना से युक्त प्रभु के अद्भुत पराक्रम को देखकर उसने सविनय अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। पार्श्वनाथ ने भी उसको अभय कर विदा कर दिया।

उसी समय कुशस्थल का राजा प्रसेनजित प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार के पास पहुँचा और बोला—"महाराज! जिस प्रकार आपने हमारे नगर को पावन कर दुष्टो के आक्रमण से बचाया है, उसी प्रकार हमारी प्राणाधिका पुत्री प्रभावती का पाणिग्रहण कर हमे अनुगृहीत कीजिये।"

इस पर पार्श्वनाथ बोले—"राजन्! मैं पिता की आज्ञा से आपके नगर की रक्षा करने के लिये आया हूँ न कि आपकी कन्या के साथ विवाह करने, अतः इस विषय मे वृथा आग्रह न करिये।"[1] यह कहकर पार्श्वनाथ अपनी सेना सहित वाराणसी की ओर चल पड़े।

प्रसेनजित भी अपनी पुत्री प्रभावती सहित पार्श्वकुमार के साथ-साथ वाराणसी आये और महाराज अश्वसेन को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए उन्होंने निवेदन किया—"आपकी छत्र-छाया मे हम सबका सब तरह से कुशल-मंगल है, केवल एक ही चिन्ता है और वह भी आपकी दया से ही दूर होगी।

---

१ ताताज्ञया त्रातुमेव, त्वामायाता. प्रसेनजित् ।
भवत. कन्यकामेतामुद्वोढु न पुनर्वयम् ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. १८५]

मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है, मेरी आग्रहपूर्ण प्रार्थना है कि उसे पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय।"

महाराज अश्वसेन ने कहा—"राजन्! कुमार सर्वदा ससार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले, फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दूगा।"

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले—"कुमार! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो।"

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले—"तात! मैं मूल से ही अपरिग्रही हो ससारसागर को पार करूंगा, अत ससार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करू ?"

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर मे कहा—"तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने संसारसागर पार कर ही लिया। वत्स! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना।"[1]

अत मे पिता के आग्रह को टालने में असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया।[2]

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरिय मे पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादीराजकृत पार्श्व चरित मे नही मिलता। देवभद्र कृत पासनाह चरिय और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन है, किन्तु पद्मकीर्ति ने विवाह का प्रसग उठाकर भी विवाह होने का प्रसग नही दिया है। वहा पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

---

१ ससारोऽपि त्वयोत्तीर्ण, एव यस्येदृश मन ।
कृतोद्वाहोऽपि तस्मात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०९॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, स० ३]

२ इत्य पितृवचः पार्श्वोऽप्युल्लघयितुमनीश्वरः ।
भोग्य कर्म क्षपयितुमुदुवाह प्रभावतीम् ॥२१०॥ [वही]

मूल आगम समवयाग और कल्पसूत्र मे विवाह का वर्णन नही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थों मे यह उल्लेख मिलता है कि वासुपूज्य, मल्ली, नेमि, पार्श्व और महावीर तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए और उन्नीस (१९) तीर्थंकरो ने राज्य किया। इसी आधार पर दिगम्बर परम्परा इन्हें अविवाहित मानती है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का मन्तव्य है कि कुमारकाल का अभिप्राय यहां युवराज अवस्था से है। जैसा कि शब्दरत्न-कोष और वैजयन्ती मे भी कुमार का अर्थ युवराज किया है।[1]

पार्श्व को विवाहित मानने वालों की दृष्टि मे वे पिता के आग्रह से विवाह करने पर भी भोग-जीवन से अलिप्त रहे और तरुण एवं समर्थ होकर भी उन्होंने राज्यपद स्वीकार नही किया। इसी कारण उन्हें कुमार कहा गया है। किन्तु दूसरे आचार्यों की दृष्टि में वे अविवाहित रहने के कारण कुमार कहे गये हैं। यही मतभेद का मूल कारण है।

नाग का उद्धार

लोकानुरोध से पार्श्वनाथ ने प्रभावती के साथ वन, उद्यान आदि की क्रीड़ा मे कितने ही दिन बिताये।[2]

एक दिन प्रभु पार्श्वनाथ राजभवन के झरोखे में बैठे हुए कुतूहल से वाराणसी पुरी की छटा निहार रहे थे। उस समय उन्होंने सहस्रो नर-नारियो को पत्र, पुष्पादि के रूप में अर्चा की सामग्री लिये बडी उमग से नगर के बाहर जाते देखा।

जब उन्होंने इस विषय में अनुचर से जिज्ञासा की तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन मे कमठ नाम के एक बहुत बडे तापस आये हुए हैं। वे बड़े तपस्वी हैं और सदा पंचाग्नि-तप करते हैं। यह मानव-समुदाय उन्ही की सेवा-पूजा के लिये जा रहा है।

अनुचर की बात सुनकर कुमार भी कुतूहलवश तापस को देखने चल पडे। वहाँ जाकर उन्होने देखा कि तापस धूनी लगाये पंचाग्नि-तप तप रहा है। उसके चारों ओर अग्नि जल रही है और मस्तक पर सूर्य तप रहा है। कुण्ड के

---

१ कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके।　　—शब्दरत्न समन्वय कोष, पृ० २९८
कुमारस्त्वाग्रहे बाले वरुणेऽश्वानुचारके ॥२८॥
युवराजे च....　　—वैजयन्ती कोष, पृ० २५६

२ जनोपरोधादुद्यानक्रीडा शैलादिषु प्रभुः।
रममाणस्तया सार्धं, वासरानत्यवाहयत् ॥२११॥
[त्रिषष्टि श० पु०, च०, पर्व ९, स० ३]

मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है, मेरी आग्रहपूर्ण प्रार्थना है कि उसे पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय।"

महाराज अश्वसेन ने कहा—"राजन्! कुमार सर्वदा ससार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले, फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दूंगा।"

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले—"कुमार! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो।"

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले—"तात! मैं मूल से ही अपरिग्रही हो ससारसागर को पार करूंगा, अत ससार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करू?"

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर मे कहा—"तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने संसारसागर पार कर ही लिया। वत्स! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना।"[1]

अत मे पिता के आग्रह को टालने मे असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया।[2]

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरिय मे पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादीराजकृत पार्श्व चरित मे नही मिलता। देवभद्र कृत पासनाह चरिय और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन है, किन्तु पद्मकीर्ति ने विवाह का प्रसग उठाकर भी विवाह होने का प्रसग नही दिया है। वहा पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

---

१ ससारोऽपि त्वयोत्तीर्ण, एव यस्येदृश मन ।
कृतोद्वाहोऽपि तज्जात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०९॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, स० ३]

२ इत्थ पितृवच: पार्श्वोऽप्युल्लघयितुमनीश्वर. ।
भोग्य कर्म क्षपयितुमुदुवाह प्रभावतीम् ॥२१०॥ [वही]

जाति के भवन वासी देवों में धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ ।[1]

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया । पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे ।

इस तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे । तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका । अन्त मे अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारो मे मेघमाली नाम का देव हुआ ।

वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयबुद्ध (स्वत. बोधप्राप्त) होते है, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यों ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य मे बाह्य कारणो का उल्लेख किया है । जैसे 'चउपन महापुरुष चरिय' के कर्ता आचार्य शीलांक, 'सिरि पास नाह चरिय' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व-चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगणि ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है । इनके अनुसार उद्यान मे घूमने गये हुए पार्श्व-कुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ । उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नही होती, क्योकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे । जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेंट भेजी । जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये । ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण[2] हो आया । यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी । महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है ।

---

१ तत्रैव दह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्मुनिः ।
अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यान च तत्क्षणम् ॥२२५॥
नाग समाहित सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धधी ।
वीक्ष्यमाणो भगवता, कृपामधुरया दृशा ॥२२६॥
नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च ।
विपद्य धरणो नाम, नागराजो बभूव स ॥२२७॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३]

२ शास्त्र मे तीर्थंकर के जन्मतः ३ बतलाये हैं । फिर जातिस्मरण का क्या उपयोग ?

कुण्ड भक्त लोग जाते हैं और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। तपस्वी के सिर की फैली हुई लम्बी जटाओ के बीच लाल-लाल आँखे डरावनी-सी प्रतीत हो रही थी।

पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धूनी में जो लक्कड पड़ा है, उसमे एक बडा नाग (उत्तरपुराण के अनुसार नाग-नागिन का जोडा) जल रहा है।[1] उसके जलने की घोर आशका से कुमार का हृदय दयावश द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे—"अहो! कैसा अज्ञान है, तप मे भी दया नही।"

पार्श्वकुमार ने कमठ से कहा—"धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने मे किस तरह सभव हो सकती है? क्योकि अग्नि प्रज्वलित करने से सब प्रकार के जीवो का विनाश होता है।[2] अहो! यह कैसा धर्म है, जिसमे कि धर्म की मूल दया ही नही? बिना जल के नदी की तरह दया-शून्य धर्म निस्सार है।"

पार्श्वकुमार की बात सुनकर तापस आग-बबूला हो उठा—"कुमार! तुम धर्म के विषय मे क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोडो से मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम मुनि लोग ही जानते है। इतनी बढकर बात करते हो तो क्या इस धूनी मे कोई जलता हुआ जीव बता सकते हो?"

यह सुनकर राजकुमार ने सेवको को अग्निकुण्ड मे से लक्कड निकालने की आज्ञा दी। लक्कड आग से बाहर निकालकर सावधानीपूर्वक चीरा गया तो उसमे से जलता हुआ एक साँप बाहर निकला। भगवान् ने सर्प को पीडा से तड़पते हुए देखकर सेवक से नवकार मन्त्र सुनवाया और पच्चक्खाण दिलाकर उसे आर्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान से बचाया। शुभ भाव से आयु पूर्ण कर नाग भी नाग

---

१ (क) तत्थ पुलइयो ईसीसि डज्झमाणो एको महाणागो।
तओ भयवयाणियपुरिसवयणेण दवाविओ से पचणमोक्कारो पच्चक्खाण च॥

[चउपन्न म० पु० चरिय, पृ० २६२]

(ख) नागी नागश्च तच्छेदात्, द्विधा खण्डमुपागतौ॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक १०३]

(ग) सुमहानुरगस्तस्माद् सहसा निर्जगाम च॥२२४॥

[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ९, सर्ग ३]

२ (क) धम्मस्स दयामूलं, सा पुण पज्जालणे कहं सिहिणो।

[सिरि पासनाह चरिउ, ३। १६६]

जाति के भवन वासी देवो मे धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ ।[1]

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया । पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगे ।

इस तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे । तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका । अन्त मे अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारो मे मेघमाली नाम का देव हुआ ।

वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध (स्वत: बोधप्राप्त) होते है, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यो ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य मे बाह्य कारणो का उल्लेख किया है । जैसे 'चउपन महापुरुष चरिय' के कर्ता आचार्य शीलाक, 'सिरि पास नाह चरिय' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व-चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगणि ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है । इनके अनुसार उद्यान मे घूमने गये हुए पार्श्व-कुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ । उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नही होती, क्योकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे । जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेट भेजी । जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये । ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण[2] हो आया । यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी । महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है ।

---

१ तत्रैवदह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्नृभि ।
अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यान च तत्क्षणम् ।।२२५।।
नाग समाहित. सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धधी ।
वीक्ष्यमाणो भगवता, कृपामधुरया दृशा ।।२२६।।
नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च ।
विपद्य धरणो नाम, नागराजो बभूव स. ।।२२७।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३]

२ शास्त्र मे तीर्थंकर के सम्मत: ३ बतलाये हैं । फिर जातिस्मरण का क्या उपयोग ?

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावतः ज्ञान भाव से विरक्त होना माना है।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी वही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र मे लोकान्तिक देवो द्वारा तीर्थंकरो से निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि संसार मे बोध पाने वालों की तीन श्रेणिया मानी गई है—(१) स्वयबुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमे तीर्थंकरो को स्वयबुद्ध कहा है—वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते हैं। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयबुद्ध होते है, अतः इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नही।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे काम-भोग मे आसक्त नही हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगो को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया, उस समय लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर प्रार्थना की—"भगवन्! धर्मतीर्थ को प्रकट करें।"[१] तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओ का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग मे देवों, असुरों और मानवो के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान मे पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहाँ भगवान् ने अपने ही हाथो आभूषणादि उतार कर पचमुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास अर्थात् अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषों के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया।

प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश में पधारे। वहा धन्य नामक गृहस्थ के यहा आपने परमान्न-खीर से

---

१ इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफल निजम्।
उपभुक्त हरिज्ञाय, प्रव्रज्याया दधौ मन ॥२३१॥
भावज्ञा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामरा.।
पार्श्वं विज्ञापयामासुर्नाथ तीर्थं प्रवर्त्तय ॥२३२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ६ सर्ग ३]

अष्टमतप का पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में गुल्मखेट नगर के राजा धन्य[1] के यहां अष्टम-तप का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-तप के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है, जो विचारणीय है।

अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उसे पूरे समय में शरीर से ममत्व हटा कर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग उपस्थित किये जायेंगे, उनको मैं अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

भ० पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी में विहार करते हुए उपर्युक्त अभिग्रहानुसार भगवान् शिव-पुरी नगर पधारे और कौशाम्बवन में ध्यानस्थ हो खड़े हो गये।[2] वहां पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये उसने भगवान् पर छत्र कर दिया।[3] कहते हैं उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिच्छत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुँचे और सायंकाल हो जाने के कारण वहीं एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला बिच्छू और सांप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने बीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से

---

१ गुल्मखेटपुरं कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धन्याख्य भूपाल. श्यामवर्णोऽष्ट मंगलै
प्रतिगृह्याशन शुद्ध, दत्त्वापत्तत्क्रियोचितम् ॥१३३॥ [उत्तरपुराण, पर्व ७३]

२ सिवनयरीए बहिया, कोसबवणे ठिओ य पडिमाए
[पासनाह चरिय, ३, पृ० १८७]

३ ......पहुणो उवरिं धरइ छत्त।
[वही पृ० १८८]

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति मे बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावतः ज्ञान भाव से विरक्त होना माना है।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी वही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र में लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थंकरो से निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि संसार मे बोध पाने वालो की तीन श्रेणिया मानी गई है—(१) स्वयबुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमे तीर्थंकरो को स्वयबुद्ध कहा है—वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नही होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते है। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयबुद्ध होते है, अतः इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नही।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहकर भी वे काम-भोग मे आसक्त नही हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगों को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया, उस समय लोकान्तिक देवो ने उपस्थित होकर प्रार्थना की—"भगवन् ! धर्मतीर्थ को प्रकट करे।"[1] तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओ का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग में देवों, असुरों और मानवो के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान मे पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहाँ भगवान् ने अपने ही हाथों आभूषणादि उतार कर पंचमुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास अर्थात् अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषो के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनःपर्यवज्ञान हो गया।

प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश में पधारे। वहा धन्य नामक गृहस्थ के यहा आपने परमान्न-खीर से

---

१ इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफल निजम्।
उपभुक्त हरिज्ञाय, प्रव्रज्यायां दधौ मन ॥२३१॥
भावज्ञा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामराः।
पार्श्वं विज्ञापयामासुर्नाथ तीर्थं प्रवर्तय ॥२३२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व, ६ सर्ग ३]

अष्टमतप का पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्यो की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' मे गुल्मखेट नगर के राजा धन्य[1] के यहा अष्टम-तप का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-तप के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है, जो विचारणीय है।

अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उसे पूरे समय मे शरीर से ममत्व हटा कर मै पूर्ण समाधिस्थ रहूंगा। इस अवधि मे देव, मनुष्य और पशु-पक्षियो द्वारा जो भी उपसर्ग उपस्थित किये जायेंगे, उनको मैं अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

भ० पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी मे विहार करते हुए उपर्युक्त अभिग्रहानुसार भगवान् शिव-पुरी नगर पधारे और कौशाम्बवन मे ध्यानस्थ हो खड़े हो गये।[2] वहा पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये उसने भगवान् पर छत्र कर दिया।[3] कहते है उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिच्छत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुँचे और सायकाल हो जाने के कारण वही एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला बिच्छू और सॉप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने वीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से

---

१ गुल्मखेटपुर कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धनाख्य भूपाल. श्यामवर्णोऽष्ट मगलै
प्रतिगृह्याशन शुद्ध, दत्वापत्तत्क्रियोचितम् ॥१३३॥ [उत्तरपुराण, पर्व ७३]

२ सिवनयरीए बहिया, कोसबवणे ट्ठिओ य पडिमाए
[पासनाह चरिय, ३, पृ० १८७]

३ ....पहुणो उवरिं धरइ छत्त।

[वी पृ० १८८]

डराने-धमकाने का प्रयास किया, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ पर्वतराज की तरह अडोल एवं निर्मम भाव से सब कुछ सहते रहे।

मेघमाली अपनी इन करतूतो की विफलता से और अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने वैक्रिय-लब्धि की शक्ति से घनघोर मेघघटा की रचना की। भयकर गर्जन और विद्युत की कडकडाहट के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। दनादन ओले गिरने लगे, वन्य-जीव भय के मारे त्रस्त हो इधर-उधर भागने लगे। देखते ही देखते सारा वन-प्रदेश जलमय हो गया। प्रभु पार्श्व के चारो ओर पानी भर गया और वह चढते-चढते घुटनो, कमर और गर्दन तक पहुँच गया। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का ध्यान भग नही हुआ।[1] जबकि थोड़ी ही देर मे भगवान् का सारा शरीर पानी मे डूबने ही वाला था, तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ।[2] उसने अवधिज्ञान से देखा तो, पता चला—"मेरे परम उपकारी भगवान् पार्श्वनाथ इस समय घोर कष्टो से घिरे हुए हैं।" यह देख कर वह बहुत ही क्षुब्ध हुआ और पद्मावती, वैरोट्या आदि देवियो के साथ तत्काल दौड-कर प्रभु की सेवा मे पहुँचा। धरणेन्द्र ने प्रभु को नमस्कार किया और उनके चरणो के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एव प्रभु के शरीर को सप्तफणो के छत्र[3] से अच्छी तरह ढक दिया। भगवान् देव-कृत उस कमलासन पर समाधिलीन राजहंस की तरह शोभा पा रहे थे।

वीतराग भाव मे पहुँचे भगवान् पार्श्वनाथ कमठासुर की उपसर्ग लीला और धरणेन्द्र की भक्ति, दोनो पर समदृष्टि रहे। उनके हृदय मे न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति अनुराग। वे मेघमाली के उपसर्ग से किंचिन्मात्र भी क्षुब्ध नही हुए। इतने पर भी मेघमाली क्रोधवश वर्षा करता रहा तब धरणेन्द्र को अवश्य रोष आया और वह गरज कर बोला—"दुष्ट ! तू यह क्या कर रहा है ? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहाँ पढा है ? जिन्होने तुम्हे अज्ञानगर्त से निकाल कर समुज्ज्वल सुमार्ग का दर्शन कराया, उनके प्रति कृतघ्न होकर उनको ही उपसर्ग-पीड़ा से पीडित करने का प्रयास

---

१ अवगण्णियासेसोवसग्गस्स य लग्ग नासियाविवर जाव सलिल।
[चउवन्न म. पु चरिय, पृ. २६७]

२ एत्थावसरम्मि य चलियमासण धरणराइणो।
[वही]

३ (क) सिरिपासणाह चरिय मे सात फणो का छत्र करने का उल्लेख है। यथा—.........
सससत्तफारफणाफल गमयं.......

(ख) चउवन्न महापुरिस चरिय मे सहस्रफण का उल्लेख है। यथा :—विरइयं भयवओ उवरि फणसहस्सायवत्तं। [पृ० २६७]

कर रहा है। तुम्हें नही मालूम कि ऐसी महान् आत्मा की अवज्ञा व अशातना अग्नि को पैर से दबाने के समान दुःखप्रद है। इनका तो कुछ भी नही बिगड़ेगा, किन्तु तेरा सर्वनाश हो जायगा। भगवान् तो दयालु है, पर मैं इस तरह सहन नही करूंगा।"

धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमाली भयभीत हुआ और प्रभु की अविचल शान्ति एव धरणेन्द्र की भक्ति से प्रभावित होकर उसने अपनी माया तत्काल समेट ली। प्रभु के चरणों मे सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। धरणेन्द्र भी भक्ति-विभोर ही पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहां से अपने स्थान को चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना मे रत रहे। इस तरह अनेक स्थलो का विचरण करते हुए प्रभु वाराणसी के बाहर आश्रमपद नामक उद्यान मे पधारे और उन्होने छद्मस्थकाल की तिरासी राते पूर्ण की।

केवलज्ञान

छद्मस्थ दशा की तिरासी रात्रियां[1] पूर्ण होने के पश्चात् चौरासीवे दिन प्रभु वाराणसी के निकट आश्रमपद उद्यान मे घातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़ हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण मे मोह कर्म का क्षय कर आपने सम्पूर्ण घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की।[2] जिस समय आपको केवलज्ञान हुआ उस समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र मे चन्द्र का योग था।

पद्मकीर्ति ने कमठ द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग के समय प्रभु के केवलज्ञान होना माना है, जबकि अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने कुछ दिनों बाद। तिलोयपण्णत्ती ने चार मास के बाद केवली होना माना है, पर सबने केवलज्ञान प्राप्ति का दिन चैत्र कृष्णा चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र ही मान्य किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि होने की सूचना पाकर महाराज अश्वसेन वन्दन करने आये और देव-देवेन्द्रो ने भी हर्षित मन से आकर केवलज्ञान की महिमा प्रकट की। उस समय सारे संसार मे क्षण भर के लिये प्रद्योत हो गया। देवों द्वारा समवसरण की रचना की गई।

देशना और संघ-स्थापना

केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भगवान् ने जगजीवों के हितार्थ धर्म-

---

१ दिगम्बर परम्परा मे प्रभु का छद्मस्थकाल चार मास और उपसर्गकर्त्ता का नाम शबर माना गया है। हेमचन्द्र ने 'दीक्षादिनादतिगतेषु तु दिनेषु चतुरशीतौ' ८४ दिन लिखा है।
—सम्पादक

२ कल्पसूत्र मे छट्ठ तप का उल्लेख है।

उपदेश दिया । आपने प्रथम देशना मे फरमाया—"मानवो ! अनादिकालीन इस ससार मे जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं । इनमें जड़ तो चेतनाशून्य होने के कारण केवल ज्ञातव्य है । उसका गुण-स्वभाव चेतन द्वारा ही प्रकट होता है । चेतन ही एक ऐसा द्रव्य है, जो ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता, एवं प्रमाता हो सकता है । यह प्रत्येक के स्वानुभव से प्रत्यक्ष है । कर्म के सम्बन्ध मे आत्म-चन्द्र की ज्ञान किरणे आवृत हो रही हैं, उनको ज्ञान-वैराग्य की साधना से प्रकट करना ही मानव का प्रमुख धर्म है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र ही आवरण-मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के भेद से दो प्रकार का है । कर्मजन्य आवरण और बन्धन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म-साधन है । विना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है, अतः धर्म की आराधना करो ।

चारित्र धर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है । चार महाव्रत रूप अनगार-धर्म मुक्ति का अनन्तर कारण है और देश-विरति रूप आगार-धर्म परम्परा से मुक्ति दिलाने वाला है । शक्ति के अनुसार इनका आराधन कर परम तत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है ।

इस प्रकार त्याग-वैराग्यपूर्ण प्रभु की वाणी सुन कर महाराज अश्वसेन विरक्त हुए और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये । महारानी वामा देवी, प्रभावती आदि कई नारियो ने भी भगवान् की देशना से प्रबुद्ध हो आर्हती-दीक्षा स्वीकार की । प्रभु के ओजपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो कर शुभदत्त आदि वेदपाठी विद्वान् भी प्रभु की सेवा मे दीक्षित हुए और पार्श्व प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान पाकर वे चतुर्दश पर्वो के ज्ञाता एव गणधर पद के अधिकारी बन गये । इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भावतीर्थंकर कहलाये ।

पार्श्व के गणधर

समवायाग और कल्पसूत्र मे पार्श्वनाथ के आठ गणधर बतलाये हैं[1] जबकि आवश्यक निर्युक्ति एव तिलोयपन्नत्ती आदि ग्रन्थों मे दश गणधरो का उल्लेख है ।[2] इस संख्याभेद के सम्बन्ध मे कल्पसूत्र के टीकाकार उपाध्याय

---

१ पासस्स ण अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठगणा, अट्ठ गणहरा हुत्था तजहा·
सुभेय, अज्जघोसेय, वसिट्ठे बमयारि य ।
सोमे सिरिहरे चेव, वीरभद्दे जसे विय ।।

२ आर्यदत्त, आर्यघोषो वशिष्ठो ब्रह्मनामकः ।
सोमश्च श्रीधरो वारिषेणो भद्रयशो जयः ।।
विजयश्चेति नामानो, दशैते पुरुषोत्तमाः । पास च ५।४३७।२८

श्री विनय विजय ने लिखा है कि दो गणधर अल्पायु वाले थे[1] अतः सूत्र मे आठ का ही निर्देश किया गया है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जब भगवान् का प्रथम समवसरण हुआ, सहस्रों नर-नारियो ने प्रभु की त्याग-वैराग्यपूर्ण वाणी को श्रवण कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उनमें आर्य शुभदत्त आदि विद्वानो ने प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर चौदह पूर्व की रचना की और गणनायक-गणधर कहलाये।

श्री पासनाह चरिउं के अनुसार गणधरो का परिचय निम्न प्रकार है :—

(१) शुभदत्त—ये भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर थे। इनकी जन्मस्थली क्षेमपुरी नगरी थी। पिता का नाम धन्य एव माता का नाम लीलावती था। सम्भूति मुनि के पास इन्होने श्रावकधर्म ग्रहण किया और माता-पिता के परलोकवासी होने पर ससार से विरक्त होकर बाहर निकल गये और आश्रम-पद उद्यान में आये, जहां कि भगवान् पार्श्वनाथ का प्रथम समवसरण हुआ। भगवान् की देशना सुनकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे प्रथम गणधर बन गये।

(२) आर्य घोष—पार्श्वनाथ के दूसरे गणधर का नाम आर्य घोष था। ये राजगृह नगर के निवासी अमात्यपुत्र थे। जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ, वे अपने स्नेही साथियो के साथ वहां आये और दीक्षा लेकर गणधर पद के अधिकारी हो गये।

(३) वशिष्ठ—भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे गणधर वशिष्ठ हुए। ये कम्पिलपुर के अधीश्वर महाराज महेन्द्र के पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि प्रव्रज्या ग्रहण करने की ओर रही। सयोग पाकर भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम समवसरण मे उपस्थित हुए और वही सयम ग्रहण करके तीसरे गणधर बन गये।

(४) आर्य ब्रह्म—भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे गणधर आर्यब्रह्म हुए। ये सुरपुर नगर के महाराजा कनककेतु के पुत्र थे। इनकी माता शान्तिमती थी। भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होने पर ये भी अपने साथियो सहित वदन करने उनके पास पहुंचे और देशना श्रवण कर प्रव्रजित हो गये।

(५) सोम—भगवान् पार्श्वनाथ के पांचवे गणधर सोम थे। क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के महाराजा महीधर के ये पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती

---

१ द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणाभोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम्।

[कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ ३८१]

था। युवावस्था प्राप्त होने पर "चम्पकमाला" नाम की कन्या के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। इनके हरिशेखर नाम का पुत्र हुआ, जो चार वर्ष की उम्र मे ही निधन को प्राप्त हो गया। पुत्र की मृत्यु एव पत्नी चम्पकमाला की लम्बी रुग्णता तथा निधन-लीला से इनको ससार से विरक्ति हो गई और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर सयममार्ग मे प्रव्रजित हो गये।

(६) आर्य श्रीधर—भगवान् पार्श्वनाथ के छठे गणधर आर्य श्रीधर हुए। इनके पिता का नाम नागबल एवं माता का महासुन्दरी था। युवावस्था प्राप्त होने पर महाराजा प्रसेनजित की पुत्री राजमती के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए उनको किसी दिन एक श्रेष्ठिपुत्र के द्वारा पूर्वजन्म की भगिनी के समाचार सुनाये गये। समाचार सुनकर इनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और ससार से विरक्ति हो गई। एक दिन वे अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का आग्रह कर रहे थे कि सहसा अन्त:पुर में कोलाहल मच गया। उन्हे अपने छोटे भाई के असमय में ही आकस्मिक निधन का समाचार मिला। इससे इनकी वैराग्यभावना और प्रबल हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ का सयोग पाकर ये भी दीक्षित हो गये

(७) वारिसेन—ये भगवान् के सातवे गणधर थे। ये विदेह राज्य की राजधानी मिथिला के निवासी थे। इनके पिता का नाम नमिराजा तथा माता का यशोधरा था। पूर्वजन्म के सस्कारो के कारण वारिसेन प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त थे। उनके अन्तर्मन मे प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रबल इच्छा जागृत हो रही थी। माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर वे अपने साथी राजपुत्रो के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में पहुंचे। वहाँ उनकी वीतरागता भरी देशना श्रवण की और प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर बन गये।

(८) भद्रयश—भगवान् के आठवें गणधर भद्रयश हुए। इनके पिता का नाम समरसिंह और माता का पद्मा था। किसी तरह मत्तकुंज नामक उद्यान मे गये। वहा उन्होने एक व्यक्ति को नुकीली कीलो से वेष्टित देखा। करुणा से द्रवित होकर उन्होने उसकी वे नुकीली कीलें शरीर से निकाली और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके भाई ने ही पूर्वजन्म के वैर के कारण उसकी यह दशा की है तो उनको ससार की इस स्वार्थपरता के कारण विरक्ति हो गई। वे अपने कई साथियो के साथ भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा मे दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

(९), (१०) जय एवं विजय—इसी तरह जय एवं विजय क्रमश. भगवान् के नवें एव दसवें गणधर के रूप मे विख्यात हुए। ये दोनों श्रावस्ती नगरी के रहने वाले सहोदर थे। इनमे परस्पर अत्यन्त स्नेह था। एक बार

उन्होंने स्वप्न देखा कि उनका आयुष्य अत्यल्प है। इससे विरक्त होकर दोनों भाई प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा मे पहुंचे और दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। तत्कालीन ऋजु एवं प्राज्ञजनो को लक्ष्य कर पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र-धर्म की दीक्षा दी, वह चातुर्याम—चार व्रत के रूप मे थी। यथा :–(१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण-हिंसा का त्याग, (२) सर्वथा मृषावाद विरमण–असत्य का त्याग, (३) सर्वथा अदत्तादान विरमण–चौर्य-त्याग और (४) सर्वथा बहिद्धादान विरमण अर्थात् परिग्रह-त्याग। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग बतलाया।

यम का अर्थ दमन करना कहा गया है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे नियन्त्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। इसमे हिंसा आदि चार पापो की विरति होती है। इन चारो में ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नही है। इसका मतलब यह नहीं कि पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा मे ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना कोई गौण मानी गई हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी और व्रतो की तरह परम प्रधान और अनिवार्य था, किन्तु पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे, अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिद्धादान मे ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि बहिद्धादान का अर्थ बाह्य वस्तु का आदान होता है। अतः धन-धान्य आदि की तरह स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से दोनों का बहिद्धादान में अन्तर्भाव माना गया है।

कुछ लेखक चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदों एवं उपनिषदों से बतलाते हैं पर वास्तव मे चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदों या उपनिषदो से बहुत पहले श्रमण संस्कृति में हो चुका था। इतिहास के विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी इस बात को मान्य किया है। उनके अनुसार चातुर्याम का मूल पहले के ऋषि-मुनियों का तपोधर्म माना गया है। वे ऋषि-मुनि संसार के दुःखों और मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले असद्व्यवहार से ऊबकर अरण्य मे चले जाते एवं चार प्रकार की तपश्चर्या करते थे। उनमें से एक तप अहिंसा या दया का होता था। पानी की एक बूंद को भी कष्ट न देने की साधना आखिर तपश्चर्या नही तो और क्या थी? उन पर असत्य बोलने का अभियोग लग ही नही सकता था, क्योंकि वे जनशून्य अरण्य में एकान्त, शान्त स्थान मे निवास करते तथा फल-मूलों द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। चोरी के लिये भी उन्हें न तो कोई आवश्यकता थी और न निकट सम्पर्क में चित्ताकर्षक परकीय सामग्री थी। अतः वे जगत् में रहकर भी

एक तरह से ससार से अलिप्त थे। वे या तो नग्न रहते थे या फिर इच्छा हुई तो वल्कल पहनते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे पूर्णरूपेण अपरिग्रह व्रत का पालन करते थे, परन्तु इन यामो का वे प्रचार नही करते थे, अत: ब्राह्मणो के साथ उनका विवाद कभी नही हुआ। परन्तु पार्श्व ने मधुकरी अंगीकार कर लोगो को इसकी शिक्षा दी, जिससे ब्राह्मणो के यज्ञ अप्रिय होने लगे।[1]

ब्राह्मण-सस्कृति मे अहिंसादि व्रतो का मूल नही है, क्योकि वैदिक परम्परा मे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता है। सन्यास परम्परा का वहाँ कोई प्रमुख स्थान नही है। अत. विशुद्ध अध्यात्म पर आधारित सन्यास-परम्परा, श्रवण-परम्परा की ही देन हो सकती है। आज वैदिक परम्परा के पुराणो, स्मृतियो तथा उपनिषदो मे जो व्रतो एव महाव्रतो के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सभी भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन है। इसलिये पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरकाल से प्रभावित कहना उचित नही। डॉ० हरमन जेकोबी ने भ्रांतिवश इनका स्रोत ब्राह्मण-सस्कृति को माना है, सभव है उन्होने बोधायन के आधार पर ऐसी कल्पना की है।

विहार और धर्म प्रचार

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ कहाँ-कहाँ विचर और किस वर्ष किस नगर मे चातुर्मास किया, इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता फिर भी सामान्य रूप से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर समझा जाता है कि महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ का भी सुदूर प्रदेशो मे विहार एवं धर्म प्रचार हुआ हो। काशी-कोशल से नेपाल तक प्रभु का विहार-क्षेत्र रहा है। भक्त, राजा और उनकी कथाओ से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, काशी, कोशल, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अग, बग, कलिंग, पान्चाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रो मे विहार किया।

दक्षिण कर्णाटक, कोकण, पल्लव और द्रविड आदि उस समय अनार्य क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनाय देश था परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ व उनकी निकट परम्परा के श्रमण वहाँ पहुचे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका मे है, वहाँ भी पार्श्व के अनुयायी थे।[2] महात्मा बुद्ध के काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे, जो शाक्य देश मे भगवान् का विहार होने से ही सभव हो सकता

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" धर्मानन्द कौशाम्बी, पृ० १७-१८
२ सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र २३, १८-१६/१५/७६-८५

है। सिकन्दर महान् और चीनी यात्री फाहियान, ह्वेनत्साग के समय मे उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त एव अफगानिस्तान मे विशाल सख्या में जैन मुनियो के पाये जाने का उल्लेख मिलता है, वह तभी सभव हो सकता है, जबकि वह क्षेत्र भगवान् पार्श्वनाथ का विहारस्थल माना जाय।[1]

सात सौ ई० मे चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने तथा उसके भी पूर्व सिकन्दर ने मध्य एशिया के "कियारिशि" नगर मे बहुसख्यक निर्ग्रन्थ संतो को देखा था। अत: यह अनुमान से सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के समरकन्द, बल्ल आदि नगरों मे जैन धर्म उस समय प्रचलित था। आधुनिक खोज से यह प्रमाणित हो चुका है कि पार्श्वनाथ के धर्म का उपदेश सम्पूर्ण आर्यावर्त मे व्याप्त था। पार्श्वनाथ एक बार ताम्रलिप्ति से चलकर कोपकटक पहुचे थे और उनके वहा आहार ग्रहण करने से वह धन्यकटक कहलाने लगा। आजकल वह "कोपारि" कहा जाता है। इन प्रदेशो मे भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता आज भी बनी हुई है। बिहार के राची और मानभूमि आदि जिलों मे हजारो मनुष्य आज भी केवल पार्श्वनाथ की उपासना करते है और उन्ही को अपना इष्टदेव मानते है। वे आज सराक (श्रावक) कहलाते है।

लगभग सत्तर (७०) वर्ष तक भगवान् पार्श्वनाथ ने देश-देशान्तर मे विचरण किया और जैन धर्म का प्रचार किया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यों से असदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है। जैन साहित्य ही नही, बौद्ध साहित्य से भी भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।

बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए डॉ० जेकोबी ने लिखा है—"यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एक से ही प्राचीन होते, जैसा कि बुद्ध और महावीर की समकालीनता तथा इन दोनो को इन दोनो सप्रदायो का सस्थापक मानने से अनुमान किया जाता है, तो हमे आशा करनी चाहिये कि दोनो ने ही अपने अपने साहित्य में अपने प्रतिद्वन्द्वी का अवश्य ही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नही है। बौद्धो ने तो अपने साहित्य मे, यहां तक कि त्रिपटकों में भी, निर्ग्रंथो का बहुतायत से उल्लेख किया है पर जैनों के आगमो में बौद्धो का कहीं उल्लेख नही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थों की धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वी

---

१ पार्श्वनाथ चरित्र सर्ग १५-७६-८५

की उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सप्रदाय नही था। यही मत पिटको का भी जान पड़ता है।[1]

मज्झिम निकाय के महासिंहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं :—'(१) तपस्विता, (२) रुक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूंद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारो तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के होते थे। स्वयं भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रन्थो के लिये इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय मे अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यो को चातुर्याम-युक्त कहलाया है। यथा :—

"भते! मैं निगन्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विषय मे पूछा। उन्होने चातुर्याम संवरद्वार बतलागा और कहा, निगण्ठ चार संवरो से युक्त होता है, यथा :—(१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरे, (२) सभी पापों का वर्जन करता है, (३) पापो के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन से लाभ रहता है।"

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पचमहाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होने महावीर के धर्म को भी उसी रूप में देखा है। हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानो को, श्रमरण भगवान् महावीर की परम्परा मे जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ, उसका पता न चला हो। बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे।[2]

बौद्ध वाङ्मय के प्रकाड पंडित धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है[3] :— निर्ग्रन्थो के श्रावक 'बप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश मे प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कही नही मिलता कि उस देश मे निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ

---

१ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १६०।

२ मज्झिम निकाय महासिंहनाद सुत्त, ह० ४८-५०।

३ चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्बी)

श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में आकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलारकालाम के श्रावक अधिक थे, क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम बोधिसत्त्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमतः आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़िया सिखाई। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी, परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ, क्योंकि उस समाधि से मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अन्त होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्त्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण-सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम-संवर ही विशेष पसंद आया, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण	—शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	—एक हजार [१,०००]
मनःपर्यवज्ञानी	—साढ़े सात सौ [७५०]
अवधिज्ञानी	—एक हजार चार सौ [१,४००]
चौदह पूर्वधारी	—साढ़े तीन सौ [३५०]
वादी	—छह सौ [६००]
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—एक हजार दो सौ [१,२००]
साधु	—आर्यदिन्न आदि सोलह हजार [१६,०००]
साध्वी	—पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार [३८,०००]
श्रावक	—सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार [१,६४,०००]
श्राविका	—नन्दिनी आदि तीन लाख सत्ताईस हजार [३,२७,०००][1]

---

१ कल्पसूत्र ...... सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि.श.पु.च. ९।४।३१५]

की उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सप्रदाय नही था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।[1]

मज्झिम निकाय के महासिहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये है, जो इस प्रकार हैं :—'(१) तपस्विता, (२) रुक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूंद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के होते थे। स्वयं भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रन्थो के लिये इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय मे अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यो को चातुर्याम-युक्त कहलाया है। यथा :—

"भते! मैं निगन्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विषय मे पूछा। उन्होंने चातुर्याम संवरद्वार बतलाया और कहा, निगण्ठ चार संवरो से युक्त होता है, यथा :—(१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरे, (२) सभी पापो का वर्जन करता है, (३) पापो के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापो के वर्जन से लाभ रहता है।"

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पचमहाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होने महावीर के धर्म को भी उसी रूप मे देखा है। हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानो को, श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा मे जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ, उसका पता न चला हो। बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे।[2]

बौद्ध वाङ्मय के प्रकाड पडित धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है[3] :— निर्ग्रन्थो के श्रावक 'बप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थो का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कही नही मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थो का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ

---

१ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १६०।

२ मज्झिम निकाय महासिहनाद सुत्त, ह० ४८-५०।

३ चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्बी)

श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलारकालाम के श्रावक अधिक थे, क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम बोधिसत्त्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमतः आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़ियां सिखाई। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी, परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ, क्योंकि उस समाधि से मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अन्त होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्त्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहां के श्रमण-सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम-संवर ही विशेष पसंद आया, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्त्तन किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण	—शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	—एक हजार [१,०००]
मन पर्यवज्ञानी	—साढ़े सात सौ [७५०]
अवधिज्ञानी	—एक हजार चार सौ [१,४००]
चौदह पूर्वधारी	—साढ़े तीन सौ [३५०]
वादी	—छह सौ [६००]
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—एक हजार दो सौ [१,२००]
साधु	—आर्यदिन्न आदि सोलह हजार [१६,०००]
साध्वी	—पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार [३८,०००]
श्रावक	—सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार [१,६४,०००]
श्राविका	—नन्दिनी आदि तीन लाख सत्ताईस हजार [३,२७,०००][1]

---

१ कल्पसूत्र...... सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि.श.पु.च. ९।४।३१५]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन मे एक हजार साधुओ और दो हजार साध्वियो ने सिद्धिलाभ किया। यह तो मात्र व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त करोड़ों नर-नारी सम्यग्दृष्टि बनकर प्रभु के भक्त बने।

परिनिर्वाण

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलचर्या से विचर कर जब भगवान् पार्श्वनाथ ने अपना आयुकाल निकट समझा, तब वे वाराणसी से आमलकप्पा होकर सम्मेतशिखर पधारे और तेतीस साधुओ के साथ एक मास का अनशन कर उन्होने शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का आरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र मे चन्द्र का योग होने पर योग-मुद्रा मे खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

श्रमण-परम्परा और पार्श्व

श्रमण-परम्परा भारतवर्ष की बहुत प्राचीन धार्मिक परम्परा है। मन और इन्द्रिय से तप करने वाले श्रमण कहलाते हैं। जैन आगमों एवं ग्रन्थों[1] में श्रमण पाँच प्रकार के बतलाये हैं, यथा—(१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गेरुआ और (५) आजीवक। इनमे जैन श्रमणों को निर्ग्रन्थ श्रमण कहा गया है। सुगतशिष्य-बौद्धो को शाक्य और जटाधारी वनवासी पाखण्डियो को तापस कहा गया है। गेरुए वस्त्र वाले त्रिदण्डी को गेरुक या परिव्राजक तथा गोशालकमती को आजीवक कहा गया है। ये पाँचो श्रमण रूप से लोक में प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रमण परम्परा की नीव ऋषभदेव के समय मे ही डाली गई थी, जिसका कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थो मे भी उल्लेख है।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् एव वाल्मीकि रामायण में भी[3] श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिपिटक साहित्य मे भी "निर्ग्रन्थ" शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। डॉ० हरमन जेकोबी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध के पूर्व निर्ग्रन्थ

---

१ निग्गथा, सक्क, तावस, गेरुय, आजीव पचहा समणा।
तम्मिय निग्गथा ते, जे जिणसासणभवा मुणिणो ॥३८॥
सक्काय सुगय सिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीता।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिणो गेरुया तेज ॥३९॥
जे गोसालकमयमणुसरति भन्नति तेउ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पच वि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥४०॥ [प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९४]

2 The Sacred book of the East Vol XXII, Introduction page 24 Jecovy

३ बालकाण्ड, सर्ग १४, श्लोक २२।

सम्प्रदाय विद्यमान था। "अंगुत्तर निकाय" मे "वप्प" नाम के शाक्य को निर्ग्रन्थ श्रावक बतलाया है, जो कि महात्मा बुद्ध का चाचा था। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध से पहले या उसके बाल्यकाल मे शाक्य देश मे निर्ग्रन्थ धर्म का प्रचार था। भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनको निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तक मानना युक्तिसंगत नही लगता। अतः यह प्रमाणित होता है कि इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ही श्रमण परम्परा के प्रवर्तक थे।

उपर्युक्त आधार से आधुनिक इतिहासकार पार्श्वनाथ को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते है। वास्तव मे निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन पार्श्वनाथ से भी पहले का है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने का प्रतिवाद करते हुए डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है :—

"यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नही है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के सस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आदि-सस्थापक) मानने मे सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा मे कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है, जो उन्हें (ऋषभ को) प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।"[1]

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से बहुत पहले भी था।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी मे करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामत जन-जन के मन पर उनकी वाणी का मगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे हजारो ही नही, लाखो लोग उनके अनन्य भक्त बन गये।

पार्श्वनाथ के कार्यकाल में तापस परम्परा का प्राबल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान-कष्ट चला रहे थे, प्रभु के उपदेश से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक संख्या मे लोगो ने आपके विवेकयुक्त तप से नवप्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

'पिप्पलाद' जो उस समय का एक मान्य वैदिक ऋषि था, उसके उपदेशो पर भी आपके उपदेश की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से झलकती है।[3] उसका कहना

1 Indian Antiqwary, Vol IX, page 163 :
But there is nothing to prove that Parsva was a founder of Jainism Jain tradition is unanimous in making Rishabh, the first Tirthankara, as the founder There may be some Historical tradition, which makes him the first Tirthankara

2 Indian Philosophy, Vol. I, Page 281, Radhakrishnan.

3 Cambridge History of India, part I, page 180

था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक् हो जाती है, तब वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के, पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचारधारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज', जिनका अस्तित्व बौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ-काल मे एक स्वतन्त्र मुण्डक सम्प्रदाय के नेता थे।[1] बौद्धो के अगुत्तर निकाय मे उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक के नाम से की गई है।[2] जैन 'राजवार्तिक' ग्रन्थ मे उन्हे क्रियावादी आस्तिक के रूप मे बताया गया है।[3] मुण्डक मत के लोग वन मे रहने वाले, पशु-यज्ञ करने वाले तापसो तथा गृहस्थ-विप्रो से अपने आपको पृथक् दिखाने के लिए सिर मुडा कर भिक्षावृत्ति से अपना उदर-पोषण करते थे, किन्तु वेद से उनका विरोध नहीं था।[4] उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान् ने उसकी परिगणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय में परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नही होती।

नचिकेता, जो कि उपनिषद्कालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारो पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पडती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान-यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता के मुख्य अग थे :—इन्द्रिय-निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् बोध। इसी तरह प्रवुद्ध कात्यायन, जो कि महात्मा बुद्ध से पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल में जीव मान कर उसके उपयोग को धर्मविरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएँ भी पार्श्वनाथ की मान्यताओ से मेल खाती हैं।

'अजितकेशकम्बल' भी पार्श्व-प्रभाव से अछूते दिखाई नही देते। यद्यपि उन्होने पार्श्व के सिद्धान्त को विकृत रूप से प्रकट किया था, फिर भी वे वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे।

भारत की तो बात ही क्या, इससे बाहर के देशों पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ई. पू. ५८० मे उत्पन्न यूनानी दार्शनिक

---

1 Bilongs of the Boudha, Part II, page 22.

२ बातरभनाह्मा..........

३ धर्मानुदर्शयितुकामो.............

४ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२

पाइथोगोरस, जो स्वयं महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इतना ही नही मासप्रेमी जातियों को भी वे सभी प्रकार की हिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे। यहाँ तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी वे धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानते थे। वे पूर्वजन्म के वृत्तान्त को भी स्मृति से बताने का दावा करते थे और आत्मा की तुलना मे देह को हेय और नश्वर समझते थे।

उपर्युक्त विचारों का बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से कोई सादृश्य नही, जबकि जैन धर्म के साथ उनका अद्भुत सादृश्य है। ये मान्यताएँ उस काल मे प्रचलित थी, जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचलन प्रारम्भ ही कर रहे थे। अतः पाइथोगोरस आदि दार्शनिक पार्श्वनाथ के उपदेशों से किसी न किसी तरह प्रभावित रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन-दर्शन से यह बात साफ झलकती है कि उन पर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ा था। शाक्य देश, जो कि नेपाल की उपत्यका मे है और जहाँ कि बुद्ध का जन्म हुआ था, वहाँ पार्श्वानुयायी संतों का आना-जाना बना रहता था। और तो क्या, उनके राजघराने पर भी पार्श्व की वाणी का स्पष्ट प्रभाव था। बुद्ध के चाचा भी पार्श्व-मतावलम्बी थे। इन सबसे सिद्ध होता है कि बचपन मे बुद्ध के कोमल अन्तःकरण मे संसार की असारता एव त्याग-वैराग्य के जो अकुर जमे, उनके बीज भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश रहे हो तो कोई आश्चर्य नही।

गृह-त्याग के पश्चात् बुद्ध की चर्या पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न स्थानो पर घूमते रहे, किन्तु उन्हें आत्मबोध या सच्ची शान्ति कही प्राप्त नही हुई। जब वे उद्रक-राम पुत्र का आश्रम छोड कर राजगृह आए तो वहाँ के निर्ग्रन्थ श्रमण सम्प्रदाय मे उन्हें निर्ग्रन्थो का चातुर्याम सवर अत्यधिक पसन्द आया। क्योंकि आगे चल कर उन्होंने जिस आर्य अष्टागिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमे चातुर्याम का समावेश किया गया है।[1]

आगे चल कर केवल चार यामो से ही काम चलने वाला नही, ऐसा जान कर उन्होंने उसमें समाधि एवं प्रज्ञा को भी जोड दिया। शीलस्कन्ध बुद्ध धर्म की नीव है। शील के बिना अध्यात्म-मार्ग में प्रगति पाना असम्भव है। पार्श्वनाथ

---

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" पृ० २८।

के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध में किया गया है और उस ही की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समाधित-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[1]

आकंखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि बुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारो यामो को पूर्णतया स्वीकार किया था। उन्होने उन यामों मे आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड़ दिया और उन यामों को तपश्चर्या एवं आत्मवाद से पृथक् कर दिया।

बुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया, जो कि उन दिनों साधु वर्ग में अत्यधिक प्रचलित थी, अतः लोग उन्हें और उनके शिष्यो को विलासी (मौजी) कहते थे। इस सम्बन्ध मे 'दीर्घनिकाय' के पासादिक सुत्त मे भगवान् बुद्ध चुन्द से कहते हैं—"अपन सब पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप मे आने वाले मौजो के बारे मे तुम आक्षेप करने वाले लोगों से कहना—"हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग)—ये चार मौजे हीन-गंवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं[2]—अर्थात् इनके विपरीत चतुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सब इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं।"

कहा जाता है कि बुद्ध के न सिर्फ विचारो पर ही जैन धर्म की छाप पड़ी थी बल्कि संन्यास धारण के बाद छः वर्षों तक जैन श्रमण के रूप मे उन्होने जीवन व्यतीत किया था।[3]

'दर्शनसार' के रचनाकार आचार्य देवसेन ने अपनी इस कृति में लिखा है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ मे सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर मे पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो बहुश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियों का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की—"फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस में भी जीव नही है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नही है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है, उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नही है।" इस प्रकार की घोषणा से उसने संसार में पाप-कर्म की परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता

१ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३०।
२ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१।
३ जैन सूत्र (एस बी.ई.), भाग १, पृ० २१।४१ और रत्नकरण्डक श्रावकाचार १।१०

है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगो को अपना अनुयायी बना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ ।[1]

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बडे-बडे राजा महाराजा भी प्रभावित हुए बिना नही रह सके। व्रात्य क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे। पार्श्वनाथ के समय मे कई ऐसे राज्य थे, जिनमे पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग-सत्ताएँ राजतन्त्रो अथवा गणतन्त्रो के रूप मे उदित हो चुकी थी और उन लोगो के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशो के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे। लिच्छवी आदि आठ कुलों मे विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिंग के शक्तिशाली राजा "करकंडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उस युग के उनके उपासक आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप मे उन्होने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है। इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागपति भी तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय

---

१ सिरि पासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलास णयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ।।६।।
तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पवज्जाओ परिब्भट्टो ।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टिय तेण एयं तं ।।७।।
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय, दुद्ध, सक्करए ।
तम्हा त वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ।।८।।
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एद ।
इदिलोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ।।९।।
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं ।
परिकप्पिऊण णूण वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ।।१०।। दर्शनसार ।

२ भारतीय इतिहास मे जैन धर्म का योगदान ।

के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध मे किया गया है और उस ही की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समाधित-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[1]

आकंखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि बुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारों यामों को पूर्णतया स्वीकार किया था। उन्होंने उन यामो मे आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड़ दिया और उन यामों को तपश्चर्या एवं आत्मवाद से पृथक् कर दिया।

बुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया, जो कि उन दिनो साधु वर्ग में अत्यधिक प्रचलित थी, अतः लोग उन्हें और उनके शिष्यों को विलासी (मौजी) कहते थे। इस सम्बन्ध में 'दीर्घनिकाय' के पासादिक सुत्त में भगवान् बुद्ध चुन्द से कहते हैं—"अपन सब पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप मे आने वाले मौजो के बारे में तुम आक्षेप करने वाले लोगों से कहना—"हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग)—ये चार मौजें हीन-गंवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं[2]—अर्थात् इनके विपरीत चतुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सब इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं।"

कहा जाता है कि बुद्ध के न सिर्फ विचारो पर ही जैन धर्म की छाप पड़ी थी बल्कि संन्यास धारण के बाद छः वर्षों तक जैन श्रमण के रूप मे उन्होंने जीवन व्यतीत किया था।[3]

'दर्शनसार' के रचनाकार आचार्य देवसेन ने अपनी इस कृति में लिखा है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर मे पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो बहुश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियों का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की—"फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस मे भी जीव नही है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नही है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है, उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नही है।" इस प्रकार की घोषणा से उसने संसार में पाप-कर्म की परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता

---

१ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३०।

२ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१।

३ जैन सूत्र (एस.बी.ई.), भाग १, पृ० ११।४१ और रत्नकरण्डक श्रावकाचार १।१०

है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगों को अपना अनुयायी बना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।[1]

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बड़े-बड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। व्रात्य क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे। पार्श्वनाथ के समय मे कई ऐसे राज्य थे, जिनमे पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग-सत्ताएँ राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप मे उदित हो चुकी थीं और उन लोगों के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशो के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे। लिच्छवी आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण मे तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिंग के शक्तिशाली राजा "करकंडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उस युग के उनके उपासक आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप मे उन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है। इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागाति भी तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय

---

१ सिरि पासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलास णयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुओ बुद्धकित्तिमुणी ॥६॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पवज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एय तं ॥७॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय, दुद्ध, सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥८॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं।
इदि लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥९॥
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥१०॥ दर्शनसार।

२ भारतीय इतिहास मे जैन धर्म का योगदान।

अध्ययनों मे क्रमशः ज्योतिषियों के इन्द्र, चन्द्र और सूर्य का तथा तृतीय अध्ययन मे शुक्र महाग्रह का वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

एक समय जब भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशिलक नामक उद्यान में पधारे हुए थे, उस समय ज्योतिष्चक्र का इन्द्र 'चन्द्र' भी प्रभुदर्शन के लिए समवसरण मे उपस्थित हुआ। प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् उसने प्रभु-भक्ति से आनन्दविभोर हो जिन-शासन की प्रभावना हेतु समवसरण में उपस्थित चतुर्विध-संघ एव अपार जनसमूह के समक्ष अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव-देवी समूहो को प्रकट कर बड़े मनोहारी, अत्यन्त सुन्दर एवं अत्यद्‌भुत अनेक दृश्य प्रस्तुत किये। अलौकिक नटराज के रूप में चन्द्र द्वारा प्रदर्शित आश्चर्य-जनक दृश्यो को देख कर परिषद् चकित हो गई।

चन्द्र के अपने स्थान को लौट जाने के अनन्तर गौतम गणधर ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! ये चन्द्रदेव पूर्वजन्म में कौन थे? इस प्रकार की ऋद्धि इन्हें किस कारण मिली है?"

भगवान् महावीर ने फरमाया—"पूर्वकाल मे श्रावस्ती नगरी का निवासी अगति नाम का एक सुसमृद्ध, उदार, यशस्वी-राज्य-प्रजा एवं समाज द्वारा सम्मानित गाथापति था।"

"किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे शुभागमन हुआ। विशाल जनसमूह के साथ अगति गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण मे पहुंचा और प्रभु के उपदेशामृत से आप्यायित एवं ससार से विरक्त हो प्रभु की चरणशरण मे श्रमण बन गया।"

"अगति अणगार ने स्थविरो के पास एकादश अंगो का अध्ययन कर कठोर तपश्चरण किया। उसने अनेक चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासार्द्ध एवं मासक्षमण आदि उग्र तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित किया।"

"सयम के मूल गुणो का उसने पूर्ण रूपेण पालन किया पर कभी बयालीस दोषो मे से किसी दोषसहित आहार-पानी का ग्रहण कर लेना, ईर्या आदि समितियों की आराधना मे कभी प्रमाद कर बैठना, अभिग्रह ग्रहण कर लेने पर उसका पूर्ण रूप से पालन न करना, शरीर चरण आदि का बार-बार प्रक्षालन करना इत्यादि संयम के उत्तर गुणों की विराधना के कारण अगति अणगार विराधित-चरित्र वाला बन गया।"

"उसने सयम के उत्तर गुणो के अतिचारो की आलोचना नहीं की और अन्त मे पन्द्रह दिन के संथारे से आयु पूर्ण होने पर वह अंगति अणगार

ज्योतिषियों का इन्द्र अर्थात् एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति वाला चन्द्रदेव बना। तप और संयम से प्रभाव से उन्हें यह ऋद्धि मिली है।"

गणधर गौतम ने पुन. प्रश्न किया—"भगवन्! अपनी देव-आयु पूर्ण होने पर चन्द्र कहाँ जायेंगे?"

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम! यह चन्द्रदेव आयुष्यपूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा।"

इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र के द्वितीय अध्ययन में ज्योतिर्मण्डल के इन्द्र सूर्य और उनके पूर्वभव का वर्णन किया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य मे भगवान् महावीर के पधारने पर सूर्य भी प्रभु के समवसरण मे उपस्थित हुआ।

चन्द्र की तरह सूर्य ने भी प्रभु-वन्दन के पश्चात् परिषद् के समक्ष वैक्रिय-शक्ति के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किये और अपने स्थान को लौट गया।

गौतम गणधर द्वारा सूर्य के पूर्वभव का वृत्तान्त पूछने पर भगवान् महावीर ने फरमाया कि श्रावस्ती नगरी का सुप्रतिष्ठ नामक गाथापति भी अगति गाथापति के ही समान समृद्धिशाली, उदार, राज्य तथा प्रजा द्वारा सम्मानित एवं कीर्तिशाली था।

सुप्रतिष्ठ गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावस्ती-आगमन पर धर्म-देशना सुनने गया और संसार से विरक्त हो प्रभु-चरणों में दीक्षित हो गया। उसने भी अंगति की ही तरह उग्र तपस्याएँ की, संयम के मूल गुणो का पूर्ण-रूपेण पालन किया, संयम के उत्तरगुणो की विराधना की और अन्त मे वह संयम के अतिचारो की आलोचना किये बिना ही सलेखनापूर्वक काल कर सूर्य-देव बना।

देवायुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण कर तप-संयम की साधना से सिद्धि प्राप्त करेगा।

श्रमणोपासक सोमिल

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के तीसरे अध्ययन मे शुक्र महाग्रह का निम्नलिखित कथानक दिया हुआ है—

"श्रमण भगवान् महावीर एक बार राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान मे पधारे। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर नर-नारियो का विशाल समूह बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् के समवसरण मे पहुँचा।

उस समय शुक्र भी वहाँ आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यो का धर्म परिषद् के समक्ष प्रदर्शन किया। तदनन्तर प्रभु को भक्ति-भाव से वन्दन-नमन कर अपने स्थान को लौट गया।"

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे वाराणसी नगरी में वेद-वेदाग का पारगत विद्वान् सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाराणसी नगरी के आम्रशाल वन में आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी बिना छात्रों को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे तथा अपने सब प्रश्नों का सुन्दर एव समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ से बोध पाकर श्रावक बन गया।

कालान्तर मे असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो बड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारों को साकार बनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर मे आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन मे तापस बनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रो और जातिबन्धुओं को अशनपानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसो को लोहे की कड़ाहियाँ, कलछू तथा ताम्बे के पात्रो का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसो के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोकपाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमशः वेदी का निर्माण, गंगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सब कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे किये।

एक रात्रि में अनित्य जागरण करते हुए उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि तापसो से पूछ कर उत्तर दिशा मे महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा मे मुँह बाँध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नही, अपितु वही पडा रहे।

प्रातःकाल तापसों से पूछ कर सोमिल ने अपने सकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल में वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ उसने बाँस की छाब रक्खी और मज्जन एवं वलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्ध रात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा—"सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है।"

सोमिल ने देव की बात का कोई उत्तर नही दिया। देव ने उपर्युक्त वाक्य दो तीन बार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी बात पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रहा। अन्त में देव वहाँ से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल मे क्रमशः सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपर्युक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एव काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनो रात्रियाँ व्यतीत की।

तीनों ही मध्यरात्रियो मे उपर्युक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपर्युक्त वाक्य "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है, दुष्प्रव्रज्या है" को दो तीन बार दोहराया।

सोमिल ने हर बार देव की बात पर कोई ध्यान नही दिया और मौनस्थ रहा।

उत्तर दिशा मे अग्रसर होते हुए सोमिल पाँचवे दिन की अन्तिम वेला में एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुँचा और वहाँ अपनी कावड़ रख, वेदीनिर्माण, गंगा-मज्जन, शरक एवं अरणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा में मुँह बाँध कर मौनस्थ हो गया।

मध्यरात्रि मे फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा—"सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

सोमिल फिर भी मौन रहा।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी बार अपनी बात दोहराई। इस वार भी सोमिल ने अपना मौन भंग नही किया।

उस समय शुक्र भी वहाँ आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यों का धर्म परिषद् के समक्ष प्रदर्शन किया। तदनन्तर प्रभु को भक्तिभाव से वन्दन-नमन कर अपने स्थान को लौट गया।"

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे वाराणसी नगरी मे वेद-वेदाग का पारगत विद्वान् सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाराणसी नगरी के आम्रशाल वन मे आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी बिना छात्रों को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे तथा अपने सब प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ से बोध पाकर श्रावक बन गया।

कालान्तर में असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो बड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारों को साकार बनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर मे आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन मे तापस बनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रो और जातिबन्धुओ को अशनपानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसो को लोहे की कड़ाहियाँ, कलछू तथा ताम्बे के पात्रो का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसो के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोकपाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमशः वेदी का निर्माण, गंगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सब कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे किये।

एक रात्रि मे अनित्य जागरण करते हुए उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि तापसों से पूछ कर उत्तर दिशा में महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा मे मुंह बांध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नही, अपितु वही पडा रहे।

प्रात:काल तापसों से पूछ कर सोमिल ने अपने संकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल में वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहां उसने बांस की छाब रक्खी और मज्जन एवं वलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मुंह बांधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्ध रात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा—"सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है।"

सोमिल ने देव की बात का कोई उत्तर नही दिया। देव ने उपर्युक्त वाक्य दो तीन बार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी बात पर कोई ध्यान नही दिया और मौन रहा। अन्त में देव वहाँ से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल मे क्रमश: सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपर्युक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एवं काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनों रात्रियाँ व्यतीत की।

तीनों ही मध्यरात्रियों मे उपर्युक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपर्युक्त वाक्य "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नही है, दुष्प्रव्रज्या है" को दो तीन बार दोहराया।

सोमिल ने हर बार देव की बात पर कोई ध्यान नही दिया और मौनस्थ रहा।

उत्तर दिशा मे अग्रसर होते हुए सोमिल पाँचवें दिन की अन्तिम वेला मे एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुँचा और वहाँ अपनी कावड़ रख, वेदीनिर्माण, गंगा-मज्जन, शरक एवं अरणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा मे मुंह बाँध कर मौनस्थ हो गया।

मध्यरात्रि में फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा—"सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

सोमिल फिर भी मौन रहा।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी बार अपनी बात दोहराई। इस बार भी सोमिल ने अपना मौन भंग नही किया।

देव ने तीसरी बार फिर कहा—"सोमिल ! तेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

इस पर सोमिल ने अपना मौन तोड़ते हुए देव से पूछा—"देवानुप्रिय ! आप बतलाइये कि मेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या किस प्रकार है ?"

उत्तर में देव ने कहा—"सोमिल ! तुमने अर्हत् पार्श्व के समक्ष पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, इस तरह बारह व्रत वाला श्रावकधर्म स्वीकार किया था। उनका तुमने त्याग कर दिया और दिशाप्रोक्षक तापस बन गये हो। यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है। मैंने बार-बार तुम्हें समझाया, फिर भी तुम नही समझे।"

सोमिल ने पूछा—"देव ! मेरी सुप्रव्रज्या कैसे हो सकती है ?"

"सोमिल ! यदि तुम पूर्ववत् श्रावक के बारह व्रत धारण करो तो तुम्हारी प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो सकती है।" यह कहकर देव सोमिल को नमस्कार कर तिरोहित हो गया।

तदनन्तर सोमिल देव के कथनानुसार स्वतः ही पूर्ववत् श्रावकधर्म स्वीकार कर बेला, तेला, चोला, अर्द्धमास, मास आदि की घोर तपश्चर्याओं के साथ श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता हुआ बहुत वर्षों तक विचरण करता रहा।

अन्त मे १५ दिन की संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत दुष्कृत की आलोचना किये बिना आयुष्य पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह रूप से देव हुआ। कठोर तप और श्रमणोपासकधर्म के पालन के कारण इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—"भगवन् ! यह शुक्रदेव आयुष्य पूर्ण होने पर कहाँ जायगा ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! देवायु पूर्ण होने पर यह शुक्र महाविदेह क्षेत्र मे जन्म ग्रहण करेगा और वहाँ प्रव्रजित हो सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेगा।"

यहाँ पर सोमिल का काष्ठमुद्रा से मुख बाँध कर मौन रहना विचारणीय एवं शोध का विषय है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों मे कही भी मुख बाँधने का विधान उपलब्ध नही होता। ऐसी स्थिति में निरयावलिका मे सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा से मुँह बाँधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय मे जैनेतर

धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बांधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुखवस्त्रिका बांधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठमुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता।

जहां तक हमारा अनुमान है, जैन साधु की मुखवस्त्रिका का तापस सम्प्रदाय पर भी अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। काष्ठमुद्रा से मुंह बांधने वाली परम्परा का परिचय देते हुए राजशेखर ने षड्दर्शन प्रकरण मे कहा है—

वोटेति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका।
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिश्वासरोधिका॥
घ्राणादनुप्रयातेन, श्वासेनैकेन जन्तवः।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना॥ श्लो.

ऐतिहासिक तथ्य की गवेषणा करने वाले विद्वानो को इस पर तटस्थ दृष्टि से गम्भीर विचार कर तथ्य प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही जो मुख-वस्त्रिका को अर्वाचीन और शास्त्र के पन्नों की थूंक से रक्षा के लिए ही मानते हैं, उन विद्वानों को तटस्थता से इस पर पुनर्विचार करना चाहिये।

बहुपुत्रिका देवी के रूप में पार्श्वनाथ की आर्या

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के चतुर्थ अध्याय में बहुपुत्रिका देवी के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है—

एक समय राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान मे भगवान् महावीर के पधारने पर विशाल जनसमुदाय प्रभु के दर्शन व वन्दन को गया। उस समय सौधर्मकल्प की ऋद्धिशालिनी बहुपुत्रिका देवी भी भगवान् को वन्दन करने हेतु समवसरण मे उपस्थित हुई। देशनाश्रवण एवं प्रभुवन्दन के पश्चात् उस देवी ने अपनी दाहिनी भुजा फैला कर १०८ देवकुमारों और बाईं भुजा से १०८ देवकुमारियो तथा अनेक छोटी-बड़ी उम्र के पोगण्ड एवं वयस्क अगणित बच्चे-बच्चियों को प्रकट कर बड़ी ही अद्भुत तथा मनोरंजक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर ने भगवान् महावीर स्वामी से साश्चर्य पूछा—"भगवन्! यह बहुपुत्रिका देवी पूर्वभव में कौन थी और इसने इस प्रकार की अद्भुत ऋद्धि किस प्रकार प्राप्त की है?"

भगवान् ने कहा—"पूर्व समय की बात है कि वाराणसी नगरी में भद्र नामक एक अतिसमृद्ध सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रा बड़ी सुन्दर और सुकुमार थी। अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन के सभी प्रकार के भोगों

का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सुभद्रा ने एक भी संतान को जन्म नही दिया क्योंकि वह बन्ध्या थी।

संतति के अभाव मे अपने आपको बड़ी अभागिन, अपने स्त्रीत्व और स्त्री-जीवन को निन्दनीय, अकिंचन और विडम्बनापूर्ण मानती हुई वह विचारने लगी कि वे माताएँ धन्य हैं, उन्ही स्त्रियों का स्त्री-जीवन सफल और सारभूत है, जिनकी कुक्षि से उत्पन्न हुए कुसुम से कोमल बच्चे कर्णप्रिय 'माँ' के मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए, संततिवात्सल्य के कारण दूध से भरे माताओ के स्तनो से दुग्धपान करते हुए, गोद, आँगन और घर भर को अपनी मनोमुग्ध-कारिणी बालकेलियो से सुशोभित और अपनी माताओं एवं परिजनो को हर्ष-विभोर कर देते हैं।

इस तरह सुभद्रा गाथापत्नी अपनी बन्ध्यत्व से अत्यन्त दुखित हो रात-दिन चिन्ता मे घुलने लगी।

एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्या आर्या सुव्रता की आर्याओ का एक संघाटक वाराणसी के विभिन्न कुलों मे मधुकरी करता हुआ सुभद्रा के घर पहुंचा। सुभद्रा ने बड़े सम्मान के साथ उन साध्वियों का सत्कार करते हुए उन्हें अपनी सन्ततिविहीनता का दुखड़ा सुना कर उनसे सन्तान उत्पन्न होने का उपाय पूछा।

आर्या ने उत्तर मे कहा—"देवानुप्रिये ! हम श्रमणियों के लिए इस प्रकार का उपाय बताना तो दूर रहा, ऐसी बात सुनना भी वर्जित है। हम तो तुम्हें सर्व-दुखनाशक वीतरागधर्म का उपदेश सुना सकती हैं। सुभद्रा द्वारा धर्मश्रवण की रुचि प्रकट किये जाने पर आर्या ने उसे सासारिक भोगोपभोगों की विडम्बना बताते हुए वीतराग द्वारा प्ररूपित त्यागमार्ग का महत्त्व समझाया।

आर्याओ के मुख से धर्मोपदेश सुन कर सुभद्रा ने संतोष एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हुए श्राविकाधर्म स्वीकार्य किया और अन्ततोगत्वा कालान्तर में संसार से विरक्त हो अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर वह आर्या सुव्रता के पास प्रव्रजित हो गई

साध्वी बनने के पश्चात् आर्या सुभद्रा कालान्तर में लोगो के बालकों को देख कर मोहोदय से उन्हें बड़े प्यार और दुलार के साथ खिलाने लगी। वह उन बालको के लिए अंजन, विलेपन, खिलौने, प्रसाधन एवं खिलाने-पिलाने की सामग्री लाती, स्नान-मंजन, अंजन, बिंदी, प्रसाधन आदि से उन बच्चों को सजाती, मोदक आदि खिलाती और उन बाल-क्रीड़ाओं को बड़े प्यार से देख कर अपने आपको पुत्र-पौत्रवती समझती हुई अपनी संततिलिप्सा को शान्त करने का प्रयास करती।

आर्या सुव्रता ने यह सब देख कर उसके इस आचरण को साधुधर्म के विरुद्ध बताते हुए उसे ऐसा न करने का आदेश दिया पर सुभद्रा अपने उस असाधु आचरण से बाज न आई। सुव्रता द्वारा और अधिक कहे जाने पर सुभद्रा अलग उपाश्रय में चली गई। वहाँ निरंकुश हो जाने के कारण वह पासत्था, पासत्थ-विहारिणी, उसन्ना, उसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशील-विहारिणी, ससत्ता, संसत्त-विहारिणी एवं स्वच्छन्दा, स्वच्छन्दविहारिणी बन गई।

इस प्रकार शिथिलाचारपूर्वक श्रामण्यपर्याय का बहुत वर्षों तक पालन करने के पश्चात् अंत में आर्या सुभद्रा मासार्द्ध की संलेखना से बिना आलोचना किये ही आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प में बहुपुत्रिका देवी रूप से उत्पन्न हुई।"

गौतम ने प्रश्न किया—"भगवन्! इस देवी को बहुपुत्रिका किस कारण कहा जाता है?"

भगवान् महावीर ने कहा—"यह देवी जब-जब सौधर्मेन्द्र के पास जाती है तो अपनी वैक्रियशक्ति से अनेक देवकुमारों और देवकुमारियों को उत्पन्न कर उनको साथ लिए हुए जाती है, अतः इसे बहुपुत्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! सौधर्म कल्प की आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् यह बहुपुत्रिका देवी कहाँ उत्पन्न होगी?"

भगवान् महावीर ने फरमाया—"सौधर्म कल्प से च्यवन कर यह देवी भारत के विभेल सन्निवेश मे सोमा नाम की ब्राह्मण पुत्री के रूप में उत्पन्न होगी। उसका पिता अपने भानजे राष्ट्रकूट नामक युवक के साथ सोमा का विवाह करेगा। पूर्वभव की अत्युत्कट पुत्रलिप्सा के कारण सोमा प्रतिवर्ष युगल बालक-बालिका को जन्म देगी और इस प्रकार विवाह के पश्चात् सोलह वर्षों में वह बत्तीस बालक-बालिकाओं की माता बन जायगी। अपने उन बत्तीस बालक-बालिकाओं के क्रंदन, चीख-पुकार, सार-सँभाल, मल-मूत्र-वमन को साफ करने आदि कार्यों से वह इतनी तंग आ जायगी कि बालक-बालिकाओं के मल-मूत्र से सने अपने तन-बदन एवं कपड़ों तक को साफ नहीं कर पायेगी।

जहाँ वह सुभद्रा सार्थवाहिनी के भव में संतान के लिए छटपटाती रहती थी वहाँ अपने आगामी सोमा के भव में संतति से ऊब कर बंध्या स्त्रियों को धन्य और अपने आपको हतभागिनी मानेगी।

कालान्तर मे सोमा सांसारिक जीवन को विडम्बनापूर्ण समझ कर सुव्रता नाम की किसी आर्या के पास प्रव्रजित हो जायगी और घोर तपस्या कर एक

मास की सलेखनापूर्वक काल कर शक्रेन्द्र के सामानिक देव रूप मे उत्पन्न होगी। देवभवपूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य होकर बहुपुत्रिका का जीव तप-सयम की साधना से निर्वाणपद प्राप्त करेगा।"

भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियाँ विशिष्ट देवियों के रूप मे

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से प्रभावित हो समय-समय पर २१६ जराजीर्ण कुमारिकाओं ने पार्श्व पभु की चरणशरण ग्रहण कर प्रव्रज्या ली, इस प्रकार के वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्म कथा सूत्रो में उपलब्ध होते है।

उन आख्यानो से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर, भगवान् पार्श्वनाथ की अत्यधिक लोकप्रियता और उनके नाम के साथ 'पुरुषादानीय' विशेषण प्रयुक्त किये जाने के कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतः उन उपाख्यानो को यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग मे श्री, ह्री, धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी नाम की दश देवियो के दश अध्ययन है।

प्रथम अ ययन मे श्रीदेवी के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि एक समय भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान मे पधारे। उस समय सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान की महती ऋद्धिशालिनी श्रीदेवी भी भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए समवशरण मे आयी।

श्रीदेवी ने अपने नाम-गोत्र का उच्चारण कर प्रभु को प्राजलिपूर्वक आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वन्दन कर समवशरण मे अपनी उच्चकोटि की वैक्रियलब्धि द्वारा अत्यन्त मनोहारी एव परम अद्भुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। तदनन्तर वह भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने देवलोक को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने श्रीदेवी का पूर्वजन्म बताते हुए फरमाया—"गौतम ! राजा जितशत्रु के राज्य-काल में सुदर्शन नामक एक समृद्ध गाथापति राजगृह नगर मे निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम प्रिया और इकलौती पुत्री का नाम भूता था। कन्या भूता का विवाह नही हुआ और वह जराजीर्ण हो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई। बुढ़ापे के कारण उसके स्तन और नितम्ब शिथिल हो गये थे।

एक समय पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व राजगृह नगर मे पधारे। नगरनिवासी हर्षविभोर हो प्रभुदर्शन के लिए गये। वृद्धकुमारिका भूता भी अपने माता-पिता

की आज्ञा लेकर भगवान् के समवशरण में पहुँची और पार्श्वनाथ के उपदेश को सुन कर एवं हृदयंगम करके बड़ी प्रसन्न हुई।

उसने वन्दन के पश्चात् प्रभु से हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभो ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ और उसके आराधन के लिए समुद्यत हूँ। अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ।"

प्रभु पार्श्वनाथ ने कहा—"देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो वैसा ही करो।"

घर लौट कर भूता कन्या ने अपने माता-पिता के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली।

सुदर्शन गाथापति ने बड़े समारोह के साथ दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया और एक हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली सुन्दर पालकी में भूता को बिठा कर दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली विविध वाद्यों की ध्वनि के बीच स्वजन-परिजन सहित शहर के मध्यभाग के विस्तीर्ण राजपथ से वह गुणशील चैत्य के पास पहुँचा।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिशयों को देखते ही भूता कन्या शिबिका से उतरी। गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया अपनी पुत्री भूता को आगे कर प्रभु के पास पहुँचे और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन, नमस्कार के पश्चात् कहने लगे—"भगवन् ! यह भूता दारिका हमारी इकलौती पुत्री है, जो हमें अत्यन्त प्रिय है। यह संसार के जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हो आपकी सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती है। अतः हम आपको यह शिष्यारूपी भिक्षा समर्पित करते हैं। प्रभो ! अनुग्रह कर आप इस भिक्षा को स्वीकार कीजिये।"

भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा—"देवानुप्रियो ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो।"

तदनन्तर वृद्धकुमारिका भूता ने हृष्टतुष्ट हृदय से ईशान कोण में जाकर आभूषण उतारे और वह पुष्पचूला आर्या के पास प्रव्रजित हो गई।

उसके बाद कालान्तर में वह भूता आर्या शरीरबाकुशिका (अपने शरीर की अत्यधिक सार-सम्हाल करने वाली) हो गई और अपने हाथों, पैरों, शिर, मुँह आदि को बार-बार धोती रहती। जहाँ कहीं, सोने, बैठने और स्वाध्याय आदि के लिए उपयुक्त स्थान निश्चित करती तो उस स्थान को पहले पानी से छिड़कती और फिर उस स्थान पर सोती, बैठती अथवा स्वाध्याय करती थी।

यह देख कर आर्या पुष्पचूला ने उसे बहुतेरा समझाया कि साध्वी के लिए शरीरबाकुशिका होना उचित नहीं है, अतः इस प्रकार के आचरण के लिए वह

आलोचना करे और भविष्य मे ऐसा कभी न करे, पर भूता आर्या ने पुष्पचूला की बात नही मानी। वह अकेली ही अलग उपाश्रय मे रहने लगी और स्वतन्त्र होकर पूर्ववत् शरीरबाकुशिका ही बनी रही।

तत्पश्चात् भूता आर्या ने अनेक चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तप कर के अपनी आत्मा को भावित किया और संलेखनापूर्वक, अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही, आयुष्य पूर्ण होने पर वह सौधर्म कल्प के श्री अवतसक विमान मे देवी हुई और इस प्रकार वह ऋद्धि उसे प्राप्त हुई।

देवलोक मे एक पल्योपम को आयुष्य भोग कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगी और वहाँ वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।

श्रीदेवी की ही तरह ह्री आदि ९ देवियो ने भी भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु समवशरण मे उपस्थित हो अपनी अत्यन्त आश्चर्यजनक वैक्रियलब्धि द्वारा मनोहारी दृश्यों का प्रदर्शन किया और प्रभु को वन्दन कर क्रमश. अपने स्थान को लौट गईं।

उन ९ देवियों के पूर्वभव सम्बन्धी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया कि वे ९ ही देवियाँ अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रियाँ थी। वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने तक उनका विवाह नही हुआ, अतः वे वृद्धा-वृद्धकुमारिका, जीर्णा-जीर्णकुमारिका के विशेषणों से सम्बोधित की गई है। उन सभी वृद्धकुमारिकाओ ने भूता वृद्ध-कुमारिका की तरह भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से प्रभावित हो प्रवर्तिनी पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण कर अनेक प्रकार की तपस्याएँ की, पर शरीर-बाकुशिका बन जाने के कारण सयम की विराधिकाएँ हुईं। अपनी प्रवर्तिनी पुष्पचूला द्वारा समझाने पर भी वे नही मानी और स्वतन्त्र एकलविहारिणी हो गईं। अन्त समय में संलेखना कर अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प मे ऋद्धिशालिनी देवियाँ हुईं। देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर ये सब महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होंगी और अन्त मे वहाँ निर्वाण प्राप्त करेंगी।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों मे कुल मिला कर २०६ जराजीर्ण वृद्धकुमारिकाओ द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के पास प्रव्र-जित होने का निम्न क्रम से उल्लेख है—

पथम वर्ग में चमरेन्द्र की पाँच (५) अग्रिमहिषियाँ।

दूसरे वर्ग में बलीन्द्र की पाँच (५) अग्रमहिषियाँ।

तीसरे वर्ग में नव निकाय के नौ दक्षिणेन्द्रो मे से प्रत्येक की छः-छः अग्र-महिषियों के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ।

चौथे वर्ग में उत्तर के नव निकायो के उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियाँ।

पाँचवें वर्ग में व्यन्तर के ३२ दक्षिणेन्द्रो की ३२ देवियाँ।

छठे वर्ग में व्यन्तर के ३२ उत्तरेन्द्रों की ३२ देवियाँ।

सातवें वर्ग में चन्द्र की ४ अग्रमहिषियाँ।

आठवें वर्ग में सूर्य की चार (४) अग्रमहिषियाँ।

नवें वर्ग में शकेन्द्र की ८ अग्रमहिषियां और

दशवें वर्ग में ईशानेन्द्र की आठ (८) अग्रमहिषियाँ।

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की काली, राई, रयरणी, विज्जू और मेघा इन ५ अग्रमहिषियों के कथानक दिये हुए हैं।

प्रथम काली देवी ने भगवान् महावीर को राजगृह नगर में विराजमान देख कर भक्तिपूर्वक सविधि वन्दन किया और फिर अपने देव-देवीगरण के साथ प्रभु की सेवा में आकर सूर्याभ देव की तरह अपनी वैक्रियशक्ति से नाट्यकला का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा उसके पूर्वभव की पृच्छा करने पर प्रभु ने फरमाया— "जम्बू द्वीप के भारतवर्ष की आमलकल्पा नाम की नगरी में काल नामक गाथापति की काल श्री भार्या की कुक्षि से काली बालिका का जन्म हुआ। वह वृद्ध वय की हो जाने तक भी कुमारी ही रही, इसलिए उसे वृद्धा-वृद्धकुमारी, जुन्ना-जुन्नकुमारी कहा गया है।

आमलकल्पा नगरी में किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का शुभागमन हुआ।

भगवान् का आगमन जान कर काली भी प्रभुवन्दन के लिए समवशरण में गई और वहाँ प्रभु के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्ति हो गई। उसने अपने घर लौट कर मातापिता के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और मातापिता की आज्ञा प्राप्त होने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित हो गई। स्वयं पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे पुष्पचूला आर्या को शिष्या रूप में सौंपा। आर्या काली एकादश अंगों की ज्ञाता होकर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टमभक्तादि तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी।

अन्यदा आर्या काली शरीरबाकुशिका होकर बार-बार अपने अंग-उपांगों को धोती और बैठने, सोने आदि के स्थान को पानी से छींटा करती। पुष्पचूला

आर्या द्वारा मना किये जाने पर भी उसने शरीर बाकुशिकता का शिथिलाचार नही छोडा और अलग उपाश्रय मे रह कर स्वतन्त्र रूप से विचरने लगी।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अलग रहने के कारण उसे पासत्था, पासत्थ विहारिणी, उसन्ना, उसन्न विहारिणी आदि कहा गया। वर्षो चारित्र का पालन कर एक पक्ष की सलेखना से अन्त मे वह बिना आलोचना किये ही काल कर चमरचचा राजधानी मे काली देवी के रूप में चमरेन्द की अग्रमहिषी हुई। चमरचचा से च्यव कर काली महाविदेह में उत्पन्न होगी और वहां अन्त मे मुक्ति प्राप्त करेगी।"

काली देवी की ही तरह रात्रि, रजनी, विद्युत और मेघा नाम की चमरेन्द्र की अग्रमहिषियो ने भी भगवान् महावीर के समवशरण मे उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् अपनी वैक्रियलब्धियो का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया।

गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए फरमाया कि ये चारो देवियां अपने पूर्वभव मे आमलकल्पा नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रियाँ थी और जराजीर्ण वृद्धाएं हो जाने तक भी उनका विवाह नही हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से विरक्त हो उन्होने कालो की तरह प्रव्रज्या ग्रहण की, विविध तपस्याएं की, शरीर बाकुशिका बनी, श्रमणी सघ से अलग हो स्वतन्त्र-विहारिणी बनी और अन्त में बिना अपने शिथिलाचार की आलोचना किये ही सलेखना कर वे चमरेन्द्र की अग्रमहिषियां बनी।

ये रात्रि आदि चारो देविया भी देवीआयुष्य पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र मे एक भव कर मुक्त होगी।

ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे वर्ग मे वर्णित शुभा, निशुभा, रभा, निरभा और मदना नाम की बलीन्द्र की पाँचों अग्रमहिषियो ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

उन देवियों ने अपने स्थान पर लौट जाने के अनन्तर गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव बताते हुए फरमाया कि वे सब अपने पूर्वभवों में सावत्थी नगरी मे अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थी।

तीसरे वर्ग में वर्णित नव निकायों के ६ ही दक्षिणेन्द्रों की छै-छै के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ—इला, सतेरा, सोयामणि आदि—अपने

पूर्वभव में वाराणसी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थी।

इसी प्रकार चौथे वर्ग मे उल्लिखित उत्तर के नव निकायों के ९ भूतानन्द आदि उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियां भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हुई। भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् क्रमशः उन्होंने भी काली देवी की तरह अपनी अद्‌भुत वैक्रियशक्ति का परिषद् के समक्ष अत्यद्‌भुत चमत्कार प्रदर्शित किया।

गणधर गौतम द्वारा उन ५४ देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने फरमाया—"गौतम ये ५४ ही उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियाँ अपने पूर्वजन्म मे चम्पा नगरी के निवासी अपने समान नाम वाले माता-पिताओ की रूपा, सुरूपा, रूपांसा, रूपकावती, रूपकान्ता, रूपप्रभा, आदि नाम की पुत्रियां थी। ये सभी वृद्धकुमारियां थी। जराजीर्ण हो जाने पर भी इन सबका विवाह नही हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के चम्पानगरी में पधारने पर इन सब वृद्धकुमारिकाओं ने उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रवर्तिनी सुव्रता के पास संयम ग्रहण किया। इन सबने कठोर तपस्या करके संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया। लेकिन शरीरबाकुशिका होकर संयम के उत्तर गुणों की यह सब विराधिकायें बन गईं। बहुत वर्षों तक संयम और तप की साधना से इन्होंने चरित्र का पालन किया और अन्त में संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अपने चारित्र के उत्तर गुणों के दोषों की आलोचना नहीं करने के कारण उत्तरेन्द्र की अग्रमहिषियां हुईं।

पचम वर्ग में दक्षिण के व्यन्तरेन्द्रों की ३२ अग्रमहिषियो का वर्णन है। कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भार्या, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, वडेंसा, केतुमती, वइरसेणा, रईप्रिया, रोहिणी, नमिया, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगावती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्सरा, सरस्वती, इन सब देवियो ने भी काली की ही तरह भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो अपनी वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

गौतम द्वारा इनके पूर्वभव के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करने पर भगवान् महावीर ने कहा—ये बत्तीसों देविया पूर्वभव में नागपुर निवासी अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रिया थी। ये भी जीवनभर अविवाहित रहीं। जब ये वृद्ध कन्यायें—जीर्ण कन्यायें हो चुकी थी, उस समय नागपुर मे भगवान् पार्श्वनाथ का आगमन सुन कर ये भी भगवान् के समवशरण में पहुँची और उनके उपदेश से विरक्त हो सुव्रता आर्या के पास प्रव्रजित हो गई। इन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन किया और अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें

की। किन्तु शरीरबाकुशिका हो जाने के कारण इन्होंने संयम के उत्तर गुणों की विराधना की और अन्त समय में बिना संयम के अतिचारों की आलोचना किये सलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रो की अग्रमहिषियां बनी।

षष्ट वर्ग मे निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रो की देविया अपने पूर्वभव में साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रियां थी। इन्होंने भी भगवान पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। अनेक वर्षों तक इन सबने संयम एवं तप की साधना की, किन्तु संयम के उत्तर गुणों की विराधिकाएं होने के कारण बिना आलोचना किये ही संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषिया बनी।

सप्तम वर्ग मे उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषिया अपने पूर्वभव से अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियाँ थीं।

अष्टम वर्ग मे वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव मे मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियो की पुत्रिया थी।

नवम वर्ग मे वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अंजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियों के पूर्वभव बताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अंजु हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रिया थीं।

दशम वर्ग से वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णराजि अग्रमहिषियाँ वाराणसी, रामा और रामरक्खिया राजगृह नगर, वसु एव वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुंधरा नाम की अग्रमहिषियां कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थी।

दूसरे वर्ग से दशम वर्ग तक मे वर्णित ये सभी २०१ देवियाँ अपने अपने पूर्वभव मे जीवन भर अविवाहित रही, जराजीर्ण वृद्धावस्था मे इन सभी वृद्ध-कुमारियो ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया। ग्यारह अगों की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएं की, पर कालान्तर मे ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणिया एव शिथिलाचारिणियां बन गईं और अन्त मे अपने अपने

शिथिलाचार की आलोचना किये विना ही संलेखनापूर्वक कालकवलिताएं हो उपरिवर्णित इन्द्रों एवं सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषियां वनीं ।

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणो की सब तीर्थंकरो में समानता होने पर भी संभव है, पार्श्वनाथ मे कोई विशेषता रही हो, जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मंत्रपदों से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य के नही हैं ।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओं एवं विद्वानों द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अगणित स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागों में प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरों का बाहुल्य, ये सब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढ़ियो से कृतज्ञ और श्रद्धावनत रहा है ।

आगमों मे अन्यान्य तीर्थंकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है । जैसे—'मल्ली अरहा', 'उसभेणं अरहा', 'सीयलेणं अरहा', 'संतिस्सणं अरहओ'[1] आदि । पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों मे लिखा गया है—'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणिअस्स' ।[2] इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी । अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता ।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य । महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगवं महावीरे' लिखा जाता है, वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग-शास्त्रो में 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है । अतः इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये ।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवो और देवियों के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो । देवियो एवं देवताओं की आश्चर्यजनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरों के विशाल

---

१ समवायाग व कल्पसूत्र आदि ।

२ समवायांग सूत्र, समवाय ३८ व कल्पसूत्र आदि ।

जनसमूहों ने जब उन देवताओं और देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध मे त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुखारविन्द से यह सुना कि ये सभी देव और देविया भगवान् पार्श्वनाथ के अन्तेवासी और अन्तेवासिनियां थी तो निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति उस समय के जनमानस मे प्रगाढ़ भक्ति और अगाध श्रद्धा का घर कर लेना सहज स्वाभाविक ही था।

इसके साथ ही साथ अपने नीरस नारी जीवन से ऊबी हुई उन दो सौ सोलह (२१६) वृद्धकुमारिकाओं ने भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा से महती दैवीऋद्धि प्राप्त की। अत. सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवियां बन कर उन्होंने निश्चित रूप से जिनशासन की प्रभावना के अनेक कार्य किये होंगे और उस कारण भारत का मानवसमाज निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ का विशिष्ट उपासक बन गया होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ के कृपाप्रसाद से ही तापस की धूनी मे जलता हुआ नाग और नागिन का जोड़ा धरणेन्द्र और पद्मावती बना तथा भगवान् पार्श्वनाथ के तीन शिष्य क्रमश. सूर्यदेव, चन्द्रदेव और शुक्रदेव बने।

श्रद्धालु भक्तों की यह निश्चित धारणा है कि इन देवियों, देवों और देवेन्द्रो ने समय-समय पर शासन की प्रभावना की है। इसका प्रमाण यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती के स्तोत्र आज भी प्रचलित हैं।

भद्रबाहु के समय मे सघ को संकटकाल मे पार्श्वनाथ का स्तोत्र ही दिया गया था। सिद्धसेन जैसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी पार्श्वनाथ की स्तुति से ही शासनप्रभावना की।

इन वृद्धकुमारिकाओं के आख्यानो से उस समय की सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन होता है कि सामाजिक रूढियो अथवा अन्य किन्ही कारणो से उस समय समृद्ध परिवारो को भी अपनी कन्याओं के लिये योग्य वरो का मिलना बड़ा दूभर था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जीवन से निराश ऐसे परिवारो के समक्ष साधना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को बड़ी राहत प्रदान की।

इन सब आख्यानो से सिद्ध होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने उस समय के मानवसमाज को सच्चे सुख की राह बताई एव उलझी हुई जटिल समस्याओं को सुलझा कर मानव समाज की अत्यधिक भक्ति और प्रगाढ प्रीति प्राप्त की और अपने अमृतोपम प्रभावशाली उपदेशों से जनमन पर ऐसी अमिट छाप लगाई कि हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परागत छाप आज के जनमानस पर भी स्पष्टतः दिखाई दे रही है।

इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण उनका प्रबल पुण्यातिशय एवं अधिष्ठाता देव-देवियो का सान्निध्य भी हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अपने दीर्घकाल के विहार मे अनार्य देशों मे भ्रमण कर अनार्यजनो को भी अधिकाधिक संख्या मे धर्मानुरागी बनाया हो, तो यह भी उनकी लोकप्रियता का विशेष कारण हो सकता है। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्रों के सम्बन्ध मे अनेक आचार्यों द्वारा किये गये वर्णनो से स्पष्ट प्रतीत होता है।

पार्श्व ने कुमारकाल में प्रसेनजित् की सहायता की और राजा यवन को अपने प्रभाव से झुकाया। सभव है कि यवनराज भी आगे चल कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशो से अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसके फलस्वरूप अनार्य कहे जाने वाले उस समय के लोग भी अधिकाधिक संख्या में धर्ममार्ग पर आरूढ हुए हों और इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ आर्य और अनार्य जगत् में अधिक आदरणीय और लोकप्रिय हो गये हो।

भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा

यह एक सामान्य नियम है कि किन्ही भी तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर द्वारा अपने धर्म-तीर्थ की स्थापना नही कर दी जाती तब तक पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही धर्म-शासन चलता रहता है और उनकी आचार्य परम्परा भी उस समय तक चलती रहती है।

इस दृष्टि से मध्यवर्ती तीर्थंकरो के शासन में असंख्य आचार्य हुए है, पर उन आचार्यों के सम्बन्ध मे प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही होने के कारण उनका परिचय नही दिया जा सका है।

तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्तमान जैन धर्म के इतिहास से बड़ा निकट का सम्बन्ध है और भगवान् महावीर के शासन से उनका अन्तरकाल भी २५० वर्ष का ही माना गया है तथा कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की जो दो प्रकार की अन्तकड भूमि बतलाई गई है, उसमे उनकी युगान्तकृत भूमि मे चौथे पुरुषयुग (आचार्य) तक मोक्ष-गमन माना गया है। अतः भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का उल्लेख यहाँ किया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है।

उपकेशगच्छ-चरितावली में भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का जो परिचय दिया गया है, वह संक्षेप मे इस प्रकार है :—

१. आर्य शुभदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। उन्होंने चौबीस वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए चतुर्विध संघ का बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया और धर्म का उपदेश करते रहे।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् आर्य हरिदत्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आर्य शुभदत्त मोक्ष पधारे।

२ आर्य हरिदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वितीय पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए। पार्श्वनिर्वाण संवत् २४ से ९४ तक आप आचार्यपद पर रहे।

श्रमण बनने से पूर्व हरिदत्त ५०० चोरों के नायक थे। गणधर शुभदत्त के शिष्य श्री वरदत्त मुनि को एक बार जंगल में ही अपने ५०० शिष्यों के साथ रुकना पड़ा। उस समय चोर-नायक हरिदत्त अपने ५०० साथी चोरों के साथ मुनियों के पास इस आशा से गया कि उनके पास जो भी धन-सम्पत्ति हो वह लूट ली जाय। पर वरदत्त मुनि के पास पहुँचने पर ५०० चोरों और चोरों के नायक को धन के स्थान पर उपदेश मिला। मुनि वरदत्त के उपदेश से हरिदत्त अपने ५०० साथियों सहित दीक्षित हो गये और इस तरह जो चोरों के नायक थे, वे ही हरिदत्त मुनिनायक और धर्मनायक बन गये।

गुरुसेवा में रह कर मुनि हरिदत्त ने बड़ी लगन के साथ ज्ञान-संपादन किया और अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण एकादशांगी के पारगामी विद्वान् हो गये। इनकी योग्यता से प्रभावित हो आचार्य शुभदत्त ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

आचार्य हरिदत्त अपने समय के बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। आपने "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" इस मत के कट्टर समर्थक और प्रबल प्रचारक, उद्भट विद्वान् लौहित्याचार्य को शास्त्रार्थ द्वारा राज्यसभा में पराजित कर 'अहिंसा परमो धर्मः' की उस समय के जनमानस पर धाक जमा दी थी।

सत्य के पुजारी लौहित्याचार्य अपने एक हजार शिष्यों सहित आचार्य हरिदत्तसूरि के पास दीक्षित हो गये और उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण में अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। आपने प्रतिज्ञा की कि जिस तरह अज्ञानवश उन्होंने हिंसा-धर्म का प्रचार किया था, उससे भी शतगुणित वेग से वे अहिंसाधर्म का प्रचार करेंगे। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को निरन्तर धर्मप्रचार द्वारा कार्यरूप में परिणत कर बताया।

कहा जाता है कि लौहित्याचार्य ने दक्षिण में लंका तक जैन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध भिक्षु धेनुसेन ने ईसा की पाँचवी शताब्दी में लंका के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला 'महावंश काव्य' नामक पाली भाषा का एक काव्य लिखा था। उस काव्य में ईस्वी सन् पूर्व ५४३ से ३०१ वर्ष तक की लंका की स्थिति का वर्णन करते हुए धेनुसेन ने लिखा है कि सिंहलद्वीप के राजा 'पनुगानय' ने लगभग ई० सन् पूर्व ४३७ में अपरी राजधानी अनुराधापुर में स्थापित की और वहा निर्ग्रंथ मुनियों के लिए 'गिरी' नामक एक स्थान खुला छोड़ रक्खा।

इससे सिद्ध होता है कि सुदूर दक्षिण में उस समय जैन धर्म का प्रचार और प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार आचार्य हरिदत्त के नेतृत्व मे उस समय जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रभाव फैल गया था।

आचार्य हरिदत्त ने ७० वर्ष तक धर्म का प्रचार कर समुद्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अन्त में पार्श्वनिर्वाण सवत् ६४ मे मुक्ति के अधिकारी हुए।

३ आर्य समुद्रसूरि

भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे पट्टधर आर्य समुद्रसूरि हुए। पार्श्व सं० ६४ से १६६ तक ये भी जिनशासन की सेवा करते रहे। इन्होंने विविध देशों में घूम-घूम कर धर्म का प्रचार किया। आप चतुर्दश पूर्वधारी और यज्ञवाद से होने वाली हिंसा के प्रबल विरोधी थे। आपके आज्ञानुवर्ती विदेशी नामक एक मुनि, जो बड़े प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् थे, एक बार विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। कहा जाता है कि आपके त्याग-विरागपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो उज्जयिनी के राजा जयसेन और रानी अनंग सुन्दरी ने अपने प्रिय पुत्र केशी के साथ जैन श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। उपकेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार बालर्षि केशी जातिस्मरण के साथ-साथ चतुर्दश पूर्व तक श्रुतज्ञान के धारक थे।

इन्ही केशी श्रमण ने आचार्य समुद्रसूरि के समय मे यज्ञवाद के प्रचारक मुकुन्द नामक आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

अन्त में आचार्य समुद्रसूरि ने अपना अन्तिम समय निकट देख केशी को आचार्यपद पर नियुक्त किया और पार्श्व स० १६६ में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

४. आर्य केशी श्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए, जो बड़े ही

प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे ।

कहा जाता है कि आपने बडी योग्यता के साथ श्रमणसघ के संगठन को सुदृढ बना कर विद्वान् श्रमणों के नेतृत्व मे पाँच-पाच सौ (५००-५००) साधुओं की ६ टुकडियों को पांचाल, सिन्धु-सौवीर, अंग-बंग, कलिग, तेलंग, महाराष्ट्र, काशी,कोशल, सूरसेन, अवन्ती, कोंकण आदि प्रान्तों मे भेज कर और स्वयं ने एक हजार साधुओ के साथ मगध प्रदेश मे रह कर सारे भारत में जैन धर्म का प्रचार और प्रसार किया । पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका आचार्य-काल बताया गया है ।

आपने ही अपने अमोघ उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया । राजा प्रदेशी ने आपके पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और अपने राज्य की आय का चतुर्थ भाग दान में देता हुआ वह सांसारिक भोगों से विरक्त हो छट्ठ-छट्ठ-भक्त की तपस्यापूर्वक आत्मकल्याण मे जुट गया ।

अपने पति को राज्य-व्यवस्था के कार्यो से उदासीन देख कर रानी सूरिकान्ता ने स्वार्थवश अपने पुत्र सूरिकान्त को राजा बनाने की इच्छा से महाराज प्रदेशी को उनके तेरहवे छट्ठ-भक्त के पारणे के समय विषाक्त भोजन खिला दिया । प्रदेशी ने भी विष का प्रभाव होते ही सारी स्थिति समझ ली, किन्तु रानी के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखते हुए समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग किया और सौधर्मकल्प मे ऋद्धिमान् सूर्याभ देव बना ।

आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्माण सवत् १६६ से २५० तक, अर्थात् चौरासी (८४) वर्ष तक आचार्यपद पर रहे और अन्त मे स्वयंप्रभ सूरि को अपना उत्तराधिकारी बना कर मुक्त हुए ।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों के समय में मुक्त हुए ।

अनेक विद्वान् आचार्य केशिकुमार और कुमार केशिश्रमण को, जिन्होने गौतम गणधर के साथ हुए सवाद से प्रभावित हो सावत्थी नगरी मे पंच महाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार किया, एक ही मानते हैं, पर उनकी यह मान्यता समीचीन विवेचन के पश्चात् सगत एव शास्त्रसम्मत प्रतीत नही होती ।

शास्त्र मे केशी नाम के दो मुनियो का परिचय उपलब्ध होता है । एक तो प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिश्रमण का और दूसरे गौतम के साथ सवाद के पश्चात् चातुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले

केशिकुमार श्रमण का। इन दोनों में से भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर कौनसे केशिश्रमण थे, यह यहां एक विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य राजेन्द्रसूरि ने अपने अभिधान राजेन्द्र-कोष में दो स्थानों पर केशिश्रमण का परिचय दिया है। उन्होंने इस कोष के भाग प्रथम, पृष्ठ २०१ पर 'अजणिय कण्णिया' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए केशिश्रमण के लिए निर्ग्रंथी पुत्र, कुमारावस्था में प्रव्रजित एवं युगप्रवर्तक आचार्य होने का उल्लेख किया है और आगे चल कर इसी कोष के भाग ३, पृष्ठ ६६६ पर 'केशी' शब्द की व्युत्पत्ति में उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हुए लिखा है :-

"केससंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निर्ग्रन्थी पुत्रे, (स च यथा जातस्तथा 'अजणिकन्निया' शब्दे प्रथम भागे १०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेव-जीव पूर्वभवे प्रदेशी नामानं राजानं प्रबोधयदिति। रा० नि०। ध० र०। (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते गोयमकेसिज्ज शब्दे गौतमेन सहास्य संवादो वक्ष्यते)"

इस प्रकार राजेन्द्रसूरि ने केशिश्रमण आचार्य को ही प्रदेशी प्रतिबोधक, चार ज्ञान का धारक और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला केशी बताकर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता प्रकट की है।

उपकेशगच्छ चरित्र से केशिकुमार श्रमण को उज्जयिनी के महाराज जयसेन व रानी अनग सुन्दरी का पुत्र, आचार्य समुद्रसूरि का शिष्य, पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा व चतुर्थ पट्टधर, प्रदेशी राजा का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ सवाद करने वाला बताया गया है।

एक ओर उपकेशगच्छ पट्टावली में निर्ग्रन्थीपुत्र केशी का कहीं कोई उल्लेख नही किया गया है, तो दूसरी ओर अभिधान राजेन्द्र-कोष में उज्जयिनी के राजा जयसेन के पुत्र केशी का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

पर दोनों ग्रन्थो मे केशिश्रमण को भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्थ पट्टधर आचार्य, प्रदेशी का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला मान कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता का प्रतिपादन किया है।

'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती पुस्तक के लेखक मुनि दर्शनविजय आदि ने भी समान नाम वाले दोनो केशिश्रमणों को अलग न मान कर एक ही माना है।

इसके विपरीत 'पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' नामक पुस्तक के दोनो केशश्रमणों का भिन्न-भिन्न परिचय नही देते हुए भी आचार्य केशी और

केशिकुमार श्रमण को अलग-अलग मान कर दो केशिश्रमणों का होना स्वीकार किया गया है।[1]

इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले आचार्य केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद के पश्चात् पंच महाव्रत-धर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में केशिश्रमण हुए हैं।

आचार्य केशी, जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और श्वेताम्बिका के महाराज प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गये हैं, उनका काल उपकेश-गच्छ पट्टावली के अनुसार पार्श्व--निर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है।

इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी मे दूसरे केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है।

इस प्रकार प्रथम केशिश्रमण का काल भगवान् महावीर के छद्मस्थकाल तक का और दूसरे केशिकुमार श्रमण का महावीर की केवलीचर्या के पन्द्रहवें वर्ष के पश्चात् तक ठहरता है।

इसके अतिरिक्त रायप्रसेणी सूत्र मे प्रदेशिप्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है[2] तथा जिन केशिकुमार श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उन केशिकुमार श्रमण को उत्तराध्ययन सूत्र मे तीन ज्ञान का धारक बताया गया है।[3]

ऐसी दशा मे प्रदेशिप्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशिश्रमण, जो महावीर के छद्मस्थकाल में हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तीन ज्ञानधारक के रूप मे गौतम के साथ मिलना किसी भी तरह युक्तिसंगत और सभव प्रतीत नहीं होता।

---

१ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध), पृ० ४८

२ इच्चेए णं पदेसी ! मह तव चउव्विहेण नाणेण इमेयारूवं अब्भत्थिय जाव समुप्पन्न जाणामि। [रायपसेणी]

३ तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरण पारगे ॥२॥
ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते, सावत्थि नगरिमागए ॥३॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३]

रायप्रसेणी और उत्तराध्ययन सूत्र में दिये गये दोनों केशिश्रमणों के परिचय के समीचीन मनन के अभाव में और समान नाम वाले इन दोनों श्रमणों के समय का सम्यक्‌रूपेण विवेचनात्मक पर्यवेक्षण न करने के कारण ही कुछ विद्वानों द्वारा दोनों को ही केशिश्रमण मान लिया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रदेशिप्रतिबोधक चार ज्ञानधारी केशिश्रमण आचार्य समुद्रसूरि के शिष्य एवं पार्श्वपरंपरा के मोक्षमार्गी चतुर्थ आचार्य थे, न कि गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले तीन ज्ञानधारक केशिकुमार श्रमण। दोनों एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। एक का निर्वाण पार्श्वनाथ के शासन में हुआ जबकि दूसरे का महावीर के शासन में।

□ □ □

भगवान् महावीर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे भरतक्षेत्र के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। घोरातिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहन कर प्रभु महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्‌भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया।

भगवान् महावीर न केवल एक महान् धर्मसंस्थापक ही थे अपितु वे महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथ-प्रदर्शक, विश्व-बन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणिमात्र के परमप्रिय हितचिन्तक भी थे।

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं' इस दिव्यघोष के साथ उन्होने न केवल मानव समाज को अपितु पशुओ तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढाया। धर्म के नाम पर यज्ञो में खुलेआम दी जाने वाली क्रूर पशुबली के विरुद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्तप्राय कर असख्य प्राणियों को अभयदान दिया।

यही नही, भगवान् महावीर ने रूढिवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्णभेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त मे गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होने प्रगाढ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव-हृदयों मे अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव-समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्‌ज्ञान, सम्यग्‌दर्शन और सम्यक्‌चारित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समतावाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखा कर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।

भगवान् महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना गया है, जो कि विश्व के सास्कृतिक एव धार्मिक इतिहास मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ई० पूर्व छठी शताब्दी मे, जबकि भारत मे भगवान् महावीर ने और उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश देकर धार्मिक एवं सास्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लगभग उसी समय चीन मे लाओत्से और कांग्फ्यूत्सी

यूनान मे पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान मे जरथुष्ट, फिलिस्तीन मे जिरेमिया और इजकिल आदि महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र मे सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार बने।

रूढिवाद और अन्धविश्वासो का विरोध कर उन सभी महापुरुषो ने जनता को सही दिशा मे बढ़ने का मार्ग-दर्शन किया और उन्हे शुद्ध चिन्तन की प्रबल प्रेरणा दी। समाज की तत्कालीन कुरीतियों में युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर वे सही अर्थ मे युगपुरुष बने। इस सम्बन्ध मे उन्होने अपने ऊपर आने वाली आपदाओ का डटकर मुकाबला किया और प्रतिशोधात्मक परीषहो के आगे वे रत्ती भर भी नही झुके।

भगवान् महावीर का उपर्युक्त युगपुरुषो मे सबसे उच्च, प्रमुख और बहुत ही सम्माननीय स्थान है। विश्वकल्याण के लिये उन्होने धर्ममयी मानवता का जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह अनुपम और अद्वितीय है।

महावीरकालीन देश-दशा

भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् श्री महावीर[1] चौबीसवे तीर्थंकर के रूप में भारत-वसुधा पर उत्पन्न हुए। उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। खास कर धर्म के नाम पर सर्वत्र आडबर का ही बोलबाला था। पार्श्वकालीन तप, सयम और धर्म के प्रति रुचि मंद पड़ गई थी। ब्राह्मण सस्कृति के बढते हुए वर्चस्व मे श्रमण सस्कृति दबी जा रही थी। यज्ञ-याग और बाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म का प्रमुख रूप माना जाने लगा था। यज्ञ मे घृत, मधु ही नही अपितु प्रकट रूप में पशु भी होमे जाते और उसमे अधर्म नही, धर्म माना जाता था। डके की चोट कहा जाता था कि भगवान् ने यज्ञ के लिये ही पशुओ की रचना की है।[2] वेदविहित यज्ञ मे की जाने वाली हिंसा, हिसा नही प्रत्युत अहिंसा है।[3]

धार्मिक क्रियाओं और संस्कृति-संरक्षण का भार तथाकथित ब्राह्मणों के ही अधीन था। वे चाहे विद्वान् हो या अविद्वान्, सदाचारी हों या दुराचारी,

१ (क) "पास जिणाओ य होइ वीरजिणो, अड्ढाइज्जसयेहिं गयेहिं चरिमो समुप्पन्नो।
आवश्यक निर्युक्ति (मलय), पृ० २४१, गाथा १७
(ख) आवश्य चूर्णि, गा० १७, पृ० २१७

२ यज्ञार्थं पशव सृष्टा। मनुस्मृति ५।२२।३६

३ यज्ञार्थं पशव· सृष्टा, स्वयमेव स्वयभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवध॥
या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिश्चराचरे।
अहिंसामेव ता विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥ [मनुस्मृति, ५।२२।३९।४४]

अग्नि के समान सदा पवित्र और पूजनीय माने जाते थे ।[1] मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्ध जोड़ने की सारी शक्ति उन्ही के अधीन समझी जाती थी । वे जो कुछ कहते, वह अकाट्य समझा जाता और इस तरह हिंसा भी धर्म का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा । वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के बन्धन मे मानव-समाज इतना जकड़ा हुआ और उलझा हुआ था कि निम्नवर्ग के व्यक्तियों को अपनी सुख-सुविधा और कल्याण-साधन मे भी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही थी ।

समाज में यद्यपि अमीर और गरीब का वर्ग-संघर्ष नही था, फिर भी गरीबों के प्रति अमीरों की वत्सलता का स्रोत सूखता जा रहा था । ऊंच-नीच का मिथ्याभिमान मानवता को व्यथित और क्षुब्ध कर रहा था । जाति-पूजा और वेष-पूजा ने गुण-पूजा को भुला रखा था ।

निम्नवर्ग के लोग उच्चजातीय लोगों के सामने अपने सहज मानवीय भाव भी भलीभाँति व्यक्त नहीं कर पाते थे । कई स्थानों पर तो ब्राह्मणों के साथ शूद्र चल भी नही सकते थे । शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्र-श्रवण पर द्विजातिवर्ग का एकाधिपत्य था । शूद्र लोग वेद की ऋचाएं न सुन सकते थे, न पढ़ सकते थे और न बोल ही सकते थे । स्त्रीसमाज को भी वेद-पठन का अधिकार नही था ।[2] शूद्रों के लिए वेद सुनने पर कानों में शीशा भरने, बोलने पर जीभ काटने और ऋचाओं को कण्ठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था । इतना ही नही, उनके लिए प्रार्थना की जाती कि उन्हे बुद्धि न दे, यज्ञ का प्रसाद न दे और व्रतादि का उपदेश भी नहीं दें ।[3] स्त्री जाति को प्रायः दासी मान कर हीन दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें किसी भी स्थिति में स्वतन्त्रता का अधिकार नही था ।[4]

---

१ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवत महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवत महत् ।।
श्मशानेष्वपि तेजस्वी, पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु, भूय एवाभिवर्द्धते ।।
एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणा पूज्याः, परम दैवतं हि तत् ।। [मनुस्मृति, ९।३१७।३१८।३१९]

२ न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम् ।

३ (क) वेदमुपशृण्वतस्तस्य त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र. प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेद. । [गौतम धर्म सूत्र, पृ० १६५]

(ख) न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्टं नहविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य, व्रतमादिशेत् ।। [वशिष्ठ स्मृति १८।१२।१३]

४ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।

[वशिष्ठ स्मृति]

राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल का था। उसमें स्थिरता व एकरूपता नहीं थी। कई स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे, जिनमे नियमित रूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था। जो प्रतिनिधि राज्य-मंडल या संथागार के सदस्य होते, वे जनता के व्यापक हितों का भी ध्यान रखते थे। तत्कालीन गणराज्यों मे लिच्छवी गणराज्य सबसे प्रबल था। इसकी राजधानी वैशाली थी। महाराजा चेटक इस गणराज्य के प्रधान थे। महावीर स्वामी की माता त्रिशला इन्हीं महाराज चेटक की बहिन थी। काशी और कौशल के प्रदेश भी इसी गणराज्य मे शामिल थे। इनकी व्यवस्थापिका-सभा "वज्जियन राज-संघ" कहलाती थी।

लिच्छवी गणराज्य के अतिरिक्त शाक्य गणराज्य का भी विशेष महत्त्व था। इसकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी। इसके प्रधान महाराजा शुद्धोदन थे, जो गौतम बुद्ध के पिता थे। इन गणराज्यों के अलावा मल्ल गणराज्य, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी, कोल्य गणराज्य, आम्लकप्पा के बुलिगण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि कई छोटे-मोटे गणराज्य भी थे। इन गणराज्यों के अतिरिक्त मगध, उत्तरी कोशल, वत्स, अवन्ति, कलिंग, अंग, बंग आदि कतिपय स्वतन्त्र राज्य भी थे।[1] इन गणराज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस तरह उस समय विभिन्न गण एवं स्वतन्त्र राज्यो के होते हुए भी तथाकथित निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त चिन्तनीय बनी हुई थी। ब्राह्मण-प्रेरित राजन्यवर्गों के उत्पीड़न से जनसाधारण में क्षोभ और विषाद का प्राबल्य था।

इन सब परिस्थितियो का प्रभाव उस समय विद्यमान पार्श्वनाथ के संघ पर भी पड़े बिना नहीं रहा। श्रमणसंघ की स्थिति प्रतिदिन क्षीण होने लगी। मति-बल मे दुर्बलता आने लगी तथा अनुशासन की अतिशय मृदुता से आचार-व्यवस्था मे शिथिलता दिखाई देने लगी। फिर भी कुछ विशिष्ट मनोबल वाले श्रमण इस विषम स्थिति मे भी अपने मूलस्वरूप को टिकाये हुए थे। वे याज्ञिकी हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार भी करते थे, पर उनका बल पर्याप्त नहीं था। फिर साधना का लक्ष्य भी बदला हुआ था। धर्म-साधना का हेतु निर्वाण-मुक्ति के बदले मात्र अभ्युदय-स्वर्ग रह गया था। यह चतुर्थकाल की समाप्ति का समय था। फलत. जन-मन में धर्म-भाव की रुचि कम पड़ती जा रही थी। ऐसे विषम समय में जन-समुदाय को जागृत कर, उसमे सही भावना भरने और सत्यमार्ग बताने के लिए ज्योतिर्धर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

पूर्वभव की साधना

जैन धर्म यह नहीं मानता कि कोई तीर्थंकर या महापुरुष ईश्वर का अंश

---

१ मि० ह्रीस डेविड्स-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २३

होकर अवतार लेता है। जैन शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखती है और विशिष्ट क्रिया के माध्यम से उसका तीर्थंकर या भगवान् रूप से उत्तर-जन्म होता है। किन्तु ईश्वर कर्ममुक्त होने के कारण पुनः मानव रूप मे अवतार-जन्म नही लेते। हाँ, स्वर्गीय देव मानवरूप मे अवतार ले सकते है। मानव सत्कर्म से भगवान् हो सकता है। इस प्रकार नर का नारायण होना अर्थात् ऊपर चढना यह उत्तार है। अतः जैन धर्म अवतार-वादी नही उत्तारवादी है। भगवान् महावीर के जीव ने नयसार के भव मे सत्कर्म का बीज डाल कर क्रमश. सिंचन करते हुए तीर्थंकर-पद की प्राप्ति की, जो इस प्रकार है—

किसी समय प्रतिष्ठानपुर का ग्रामचिन्तक नयसार, राजा के आदेश से वन में लकडियो के लिये गया हुआ था। एकदा मध्याह्न मे वह खाने बैठा ही था कि उसी समय वन मे मार्गच्युत कोई तपस्वी मुनि उसे दृष्टिगोचर हुए। उसने भूख-प्यास से पीड़ित उन मुनि को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार-प्रदान किया और उन्हें गाँव का सही मार्ग बतलाया। मुनि ने भी नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। फलस्वरूप उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर भव-भ्रमण को परिमित कर लिया।

दूसरे भव मे वह सौधर्म कल्प में देव हुआ और तीसरे भव मे भरत-पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ। चौथे भव में ब्रह्मलोक मे देव, पांचवे भव मे कौशिक ब्राह्मण, छठे भव मे पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवे भव मे सौधर्म देव, आठवे भव में अग्निद्योत, नवें भव मे द्वितीय कल्प का देव, दशवे भव मे अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव मे सनत्कुमार देव, बारहवे भव मे भारद्वाज, तेरहवे भव मे महेन्द्रकल्प का देव, चौदहवें भव मे स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवे भव मे ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव में युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। ससार की कपट-लीला देखकर उन्हे विरक्ति हो गई। मुनि बनकर उन्होने घोर तपस्या की और अन्त मे अपरिमित बलशाली बनने का निदान कर काल किया। सत्रहवाँ भव महाशुक्र देव का कर इन्होने अठारहवे भव मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप से जन्म ग्रहण किया।

एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति के पास प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का सन्देश आया कि शाली-क्षेत्र पर शेर के उपद्रव से कृषको की रक्षा करने के लिये उनको वहाँ जाना है। महाराज प्रजापति कृषको की रक्षा के लिये प्रस्थान कर ही रहे थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आकर कहा—"पिताजी! हम लोगो के रहते आपको कष्ट करने की आवश्यकता नही। उस अकिंचन शेर के लिये तो हम बच्चे ही पर्याप्त हैं।" इस तरह त्रिपृष्ठ कुमार राजा की आज्ञा लेकर उपद्रव के स्थान पर पहुँचे और खेत के रखवालो से बोले—"भाई! यहाँ कैसे और कब तक रहना है?"

रक्षकों ने कहा—"जब तक शालि-धान्य पक नहीं जाता तब तक सेना सहित घेरा डाल कर यहीं रहना है[1] और शेर से रक्षा करनी है।"

इतने समय तक यहाँ कौन रहेगा, ऐसा विचार कर त्रिपृष्ठ ने शेर के रहने का स्थान पूछा और सशस्त्र रथारूढ़ हो गुफा पर पहुँच कर गुफास्थित शेर को ललकारा। सिंह भी उठा और भयंकर दहाड़ करता हुआ अपनी मांद से बाहर निकला।

उत्तम पुरुष होने के कारण त्रिपृष्ठ ने शेर को देख कर सोचा—"यह तो पैदल और शस्त्ररहित निहत्था है, फिर मैं रथारूढ़ और शस्त्र से सुसज्जित हो इस पर आक्रमण करूं, यह कैसे न्यायसंगत होगा? मुझे भी रथ से नीचे उतर कर बराबरी से मुकाबला करना चाहिये।"

ऐसा सोच कर वह रथ से नीचे उतरा और शस्त्र फेंक कर सिंह के सामने तन कर खड़ा हो गया। सिंह ने ज्यों ही उसे बिना शस्त्र के सामने खड़ा देखा तो सोचने लगा—"अहो! यह कितना धृष्ट है, रथ से उतर कर एकाकी मेरी गुफा पर आ गया है। इसे मारना चाहिये। ऐसा सोच सिंह ने आक्रमण किया। त्रिपृष्ट ने साहसपूर्वक छलांग भर कर शेर के जबड़े दोनों हाथों से पकड़ लिये और जीर्ण वस्त्र की तरह शेर को अनायास ही चीर डाला। दर्शक, कुमार का साहस देख कर स्तब्ध रह गये और कुमार के जय-घोषों से गगन गूँज उठा।[2]

अश्वग्रीव ने जब कुमार त्रिपृष्ठ के अद्भुत शौर्य की यह कहानी सुनी तो उसे कुमार के प्रबल शौर्य से बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने कुमार को अपने पास बुलवाया और उसके न आने पर नगर पर चढ़ाई कर दी। दोनो मे खूब जम-कर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ की शक्ति के सम्मुख अश्वग्रीव ने जब अपने शस्त्रों को निस्तेज देखा तो उसने चक्र-रत्न चलाया, किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र-रत्न को पकड़ कर उस ही के द्वारा अश्वग्रीव का शिर काट डाला और स्वयं प्रथम वासुदेव बना।

एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल में कुछ संगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होंने श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। राजा ने सोते समय शय्यापालको से कहा—"मुझे जब नीद आ जाय तो गाना बन्द करवा देना।" किन्तु शय्यापालक संगीत की माधुरी से इतने प्रभावित हुए कि

---

१ त्रि श पु. च, १ प०, १० स०, श्लोक १४०

२ ...नेन पाणिनोर्ध्वोष्ठमपरेणाधरं पुनः। धृत्वा त्रिपृष्ठस्त सिंह जीर्णवस्त्रमिवाद्दुणान्। पुष्पाभरण वस्त्राणि......। त्रि० श० पु० च० १०।१।१४१-१५०

राजा के सो जाने पर भी वे संगीत को बन्द नही करा सके। रात के अवसान पर जब राजा की नींद भंग हुई तो उसने संगीत को चालू देखा।

क्रोध में भर कर त्रिपृष्ठ शय्यापालक से बोले—"गाना बन्द नही करवाया?" उसने कहा—"देव! संगीत की मीठी तान मे मस्त होकर मैंने गायक को नही रोका।" त्रिपृष्ठ ने आज्ञाभंग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानो में शीशा गरम करवा कर डाल दिया।

इस घोर कृत्य से उस समय त्रिपृष्ठ ने निकाचित कर्म का बन्ध किया और मर कर सप्तम नरक में नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ।[1] यह महावीर के जीव का उन्नीसवां भव था। बीसवे भव में सिंह और इक्कीसवें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ। तदनन्तर अनेक भव कर पहली नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ की आयु पूर्ण कर बाईसवें प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घ-काल तक राज्यशासन करके पोट्टिलाचार्य के पास संयम स्वीकार किया और करोड़ वर्ष तक तप-संयम की साधना की। तेईसवें भव में महाशुक्र कल्प मे देव हुआ और चौबीसवें भव में नन्दन राजा के भव में तीर्थंकरगोत्र का बंध किया, जो इस प्रकार है :—

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। चौबीस लाख वर्ष तक इन्होने संसार में भोग-जीवन बिताया और फिर एक लाख वर्ष की संयम पर्याय मे निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर बनने की कहावत चरितार्थ की। इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होंने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमण किये। सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनों का हुआ। तप-संयम और अर्हत् आदि बीसो ही बोलों की उत्कट आराधना करते हुए इन्होने तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया एव अन्त मे दो मास का अनशन कर समाधिभाव मे आयु पूर्ण की। पच्चीसवे भव मे प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुए।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्द की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ, इसे भगवान् का छब्बीसवां भव और देवा-नन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि में शक्राज्ञा से हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया, इसे भगवान् का सत्ताईसवा भव माना गया है। क्रमशः दो गर्भों मे आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है।

---

१ त्रि० श० पु० च० १०।१।१७८ से १८१

इस सम्बन्ध में समवायांग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहणे एगं वास कोडिं सामण्ण परियाग......"

[समवायाग, समवाय १३४, पत्र ६८ (१)]

"समणेत्यादि यतो भगवान् प्रोट्टिलाभिधान राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्या पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः, तत्र वर्षलक्षं सर्वथा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्याया कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थकरतया च जातः इति षष्ठः, उक्तभवग्रहणं हि विनानान्य-द्भव-ग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भव-ग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति ।"

[समवायांग, अभयदेववृत्ति, पत्र ६८]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुणचन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरियं, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति मे पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले बाईसवा भव मानव के रूप मे उत्पन्न होने का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ मे उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ मे सहारण इन दोनों को भगवान् महावीर का सत्ताईसवा भव माना है। पर मूल आगम समवायाग के उपर्युक्त उद्धरण के समक्ष इस प्रकार की अन्य किसी मान्यता को स्वीकार करने का कोई प्रश्न पैदा नही होता ।

दिगम्बर परम्परा मे भगवान् महावीर के ३३ भवों का वर्णन है ।[१]

इतिहास-प्रेमियो की सुविधा हेतु एवं पाठको की जानकारी के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनो परम्पराओं की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के भव यहां दिये जा रहे हैं :—

---

१ गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण, पर्व ७४, पृ० ४४४

राजा के सो जाने पर भी वे सगीत को बन्द नही करा सके। रात के अवसान पर जब राजा की नीद भंग हुई तो उसने संगीत को चालू देखा।

क्रोध में भर कर त्रिपृष्ठ शय्यापालक से बोले—"गाना बन्द नही करवाया ?" उसने कहा—"देव! संगीत की मीठी तान में मस्त होकर मैंने गायक को नही रोका।" त्रिपृष्ठ ने आज्ञाभंग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानो में शीशा गरम करवा कर डाल दिया।

इस घोर कृत्य से उस समय त्रिपृष्ठ ने निकाचित कर्म का बन्ध किया और मर कर सप्तम नरक में नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ।[1] यह महावीर के जीव का उन्नीसवां भव था। बीसवे भव में सिंह और इक्कीसवें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ। तदनन्तर अनेक भव कर पहली नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ की आयु पूर्ण कर बाईसवें प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घ-काल तक राज्यशासन करके पोट्टिलाचार्य के पास संयम स्वीकार किया और करोड़ वर्ष तक तप-संयम की साधना की। तेईसवें भव में महाशुक्र कल्प मे देव हुआ और चौबीसवे भव में नन्दन राजा के भव में तीर्थंकरगोत्र का बंध किया, जो इस प्रकार है :—

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। चौबीस लाख वर्ष तक इन्होंने ससार में भोग-जीवन बिताया और फिर एक लाख वर्ष की संयम पर्याय में निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर बनने की कहावत चरितार्थ की। इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होंने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमण किये। सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैंतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनो का हुआ। तप-संयम और अर्हत् आदि बीसो ही बोलों की उत्कट आराधना करते हुए इन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया एव अन्त मे दो मास का अनशन कर समाधिभाव मे आयु पूर्ण की। पच्चीसवें भव मे प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुए।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्द की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ, इसे भगवान् का छब्बीसवां भव और देवा-नन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि में शक्राज्ञा से हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया, इसे भगवान् का सत्ताईसवा भव माना गया है। क्रमश: दो गर्भों मे आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है।

---

१ त्रि० श० पु० च० १०।१।१७८ से १८१

इस सम्बन्ध में समवायांग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहणे एगं वास कोडि सामण्ण परियाग......"

[समवायांग, समवाय १३४, पत्र ६८ (१)]

"समणेत्यादि यतो भगवान् प्रोट्टिलाभिधान राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्या पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः, तत्र वर्षलक्षं सर्वथा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्याया कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थंकरतया च जातः इति षष्ठः, उक्तभवग्रहणं हि विनानान्य-द्भव-ग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भव-ग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति ।"

[समवायांग, अभयदेववृत्ति, पत्र ६८]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुणचन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरियं, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति मे पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले बाईसवां भव मानव के रूप मे उत्पन्न होने का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ में उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ में संहरण इन दोनों को भगवान् महावीर का सत्ताईसवां भव माना है। पर मूल आगम समवायांग के उपर्युक्त उद्धरण के समक्ष इस प्रकार की अन्य किसी मान्यता को स्वीकार करने का कोई प्रश्न पैदा नही होता।

दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के ३३ भवो का वर्णन है।[1]

इतिहास-प्रेमियो की सुविधा हेतु एवं पाठको की जानकारी के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनो परम्पराओ की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के भव यहां दिये जा रहे हैं :—

---

१ गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण, पर्व ७४, पृ० ४८४

श्वेताम्बर मान्यता	दिगम्बर मान्यता
१. नयसार ग्राम चिन्तक	१ पुरुरवा भील
२. सौधर्मदेव	२. सौधर्म देव
३ मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव	४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव)	५ जटिल ब्राह्मण
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण	६. सौधर्म स्वर्ग का देव
७. सौधर्मदेव	७ पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. अग्निद्योत	८ सौधर्म स्वर्ग का देव
९. द्वितीय कल्प का देव	९ अग्निसह ब्राह्मण
१०. अग्निभूति ब्राह्मण	१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
११. सनत्कुमारदेव	११. अग्निमित्र ब्राह्मण
१२. भारद्वाज	१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१३. महेन्द्रकल्प का देव	१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४. स्थावर ब्राह्मण	१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव त्रस स्थावर योनि के असंख्य भव
१५. ब्रह्मकल्प का देव	१५ स्थावर ब्राह्मण
१६ विश्वभूति	१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१७ महाशुक्र का देव	१७. विश्वनन्दी
१८. त्रिपृष्ठ नारायण	१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९. सातवी नरक	१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सिंह	२० सातवी नरक का नारकी
२१. चतुर्थ नरक (अनेक भव, अन्त में पहली नरक का नेरिया)	२१. सिंह
२२ पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती	२२ प्रथम नरक का नारकी
२३ महाशुक्रकल्प का देव	२३. सिंह
२४. नन्दन	२४. प्रथम स्वर्ग का देव
२५. प्राणत देवलोक	२५. कनकोज्वल राजा
२६. देवानन्दा के गर्भ में	२६. लान्तक स्वर्ग का देव
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर	२७. हरिषेण राजा
	२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव

२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा
३२. अच्युत स्वर्ग का देव
३३. भगवान् महावीर

दोनों परम्पराओं में भगवान् के पूर्वभवों के नाम एवं संख्या में भिन्नता होने पर भी इस मूल एवं प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभाव से नयसार का जीव अभ्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दुष्कृतपूर्ण कर्मबन्ध से उसे पुनः एक बहुत लम्बे काल तक भवाटवी में भटकना पड़ा और अन्त में नन्दन के भव में उत्कृष्ट चिन्तन, मनन एवं भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, संयम, वैराग्य, भक्ति और वैयावृत्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवों की जो यह संख्या दी गई है, उसमें नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नहीं आये हैं। दोनों परम्पराओं की मान्यता इस सम्बन्ध में समान है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवों के बीच में भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवों में भ्रमण किया।

भ० महावीर के कल्याणक

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दशम स्वर्ग से च्यवन कर उसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में वे देवानन्दा के गर्भ में आये। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही उनका देवानन्दा के गर्भ से महारानी त्रिशलादेवी के गर्भ में साहरण किया गया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भ० महावीर का जन्म हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर मुण्डित हो सागार से अरणगार बने और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही प्रभु महावीर ने कृत्स्न (समग्र), प्रतिपूर्ण, अव्याघात, निरावरण अनन्त और अनुत्तर केवलज्ञान एवं केवलदर्शन एक साथ प्राप्त किया। स्वाति नक्षत्र में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

च्यवन और गर्भ में आगमन

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुष्षम नामक

---

१ आचारांग सूत्र, श्रु० २, तृतीया चूला, भावना नामक १५वां अध्ययन का प्रारम्भिक सूत्र।

तीन आरको के व्यतीत हो जाने पर और दुष्षम-सुषम नामक चौथे आरक का बहुत काल व्यतीत हो जाने पर जब कि उस चौथे आरक के केवल ७५ वर्ष और सार्द्ध आठ मास ही शेष रहे थे, उस समय ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवे पक्ष मे आषाढ शुक्ला छट्ठ की रात्रि मे चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग होने पर भ० महावीर (नन्दन राजा का जीव) महाविजय सिद्धार्थ-पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक वर्द्धमान नामक महा विमान मे सागरोपम की देव-आयु पूर्ण कर देवायु, देवस्थिति और देवभव का क्षय होने पर उस दशवे स्वर्ग से च्यवन कर इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध भरत के दक्षिण ब्राह्मण-कुण्ड पुर सन्निवेश मे कुडाल गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या जालन्धर गोत्रीया ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि मे, गुफा मे प्रवेश करते हुए सिंह के समान गर्भ रूप मे उत्पन्न हुए।[1]

श्रमण भ० महावीर के जीव ने जिस समय दशवे स्वर्ग से च्यवन किया, उस समय वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञानो से युक्त था। मैं दशवें स्वर्ग से च्यवन करूँगा—यह वे जानते थे। स्वर्ग से च्यवन कर मैं गर्भ मे आ गया हूँ, यह भी वे जानते थे, किन्तु मेरा इस समय च्यवन हो रहा है, इस च्यवन-काल को वे नही जानते थे, क्योंकि वह च्यवनकाल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है।[2] वह काल केवल केवलीगम्य ही होता है, छद्मस्थ उसे नही जान सकता।

आषाढ शुक्ला षष्ठी की अर्द्धरात्रि मे भगवान् महावीर गर्भ मे आये और उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सुखपूर्वक सोयी हुई देवानन्दा ने अर्द्ध जागृत और अर्द्ध सुप्त अवस्था मे चौदह महान् मगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महास्वप्नो को देखने के पश्चात् तत्काल देवानन्दा उठी। वह परम प्रमुदित हुई। उसने उसी समय अपने पति ऋषभदत्त के पास जा कर उन्हे अपने चौदह स्वप्नो का विवरण सुनाया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की बात सुनकर ऋषभदत्त बोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने बहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं। ये स्वप्न शिव और मंगलरूप है। विशेष बात यह है कि नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीतने पर तुम्हे पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणो से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जब वह बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारंगत विद्वान्, बडा

---

१ समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए .... देवाणंदाए माहणीए जालंधर-स्सगुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते।

२ समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामिति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते। आचाराग, श्रु० २, अ० १५।

शूरवीर और महान् पराक्रमी होगा। ऋषभदत्त के मुख से स्वप्नफल सुन कर देवानन्दा बड़ी प्रसन्न हुई तथा योग्य आहार-विहार और अनुकूल आचार से गर्भ का परिपालन करने लगी।

इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना

उसी समय देवपति शक्रेन्द्र ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को अवधिज्ञान से देखते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए देखा। वे प्रसन्न होकर सिंहासन पर से उठकर पादपीठ से नीचे उतरे और मणिजटित पादुकाओं को उतार कर बिना सिले एक शाटक-वस्त्र से उत्तरासन (मुँह की यतना) किये और अंजलि जोड़े हुए तीर्थंकर के सम्मुख सात आठ पैर आगे चले तथा बायें घुटने को ऊपर उठाकर एवं दाहिने घुटने को भूमि पर टिका कर उन्होंने तीन बार सिर झुकाया और फिर कुछ ऊँचे होकर, दोनों भुजाओं को सकोच कर, दशों अंगुलियाँ मिलाये अंजलि जोड़कर वंदन करते हुए वे बोले—"नमस्कार हो अर्हन्त भगवान् ! यावत् सिद्धिगति नाम स्थान प्राप्त को। फिर नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर ! धर्मतीर्थ की आदि करने वाले चरम-तीर्थंकर को।" इस प्रकार भावी तीर्थंकर को नमस्कार करके इन्द्र पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर बैठ गये।[1]

इन्द्र की चिन्ता और हरिणैगमेषी को आदेश

इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से देवानन्दा की कुक्षि में भगवान् महावीर के गर्भरूप से उत्पन्न होने की बात जानी तो उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—"अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव सदा उग्रकुल आदि विशुद्ध एवं प्रभावशाली वंशों में ही जन्म लेते आये हैं, कभी अंत, प्रान्त, तुच्छ या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं हुए और न भविष्य में होंगे। चिरन्तन काल से यही परम्परा रही है कि तीर्थंकर आदि उग्रकुल, भोगकुल प्रभृति प्रभावशाली वीरोचित कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्राक्तन कर्म के उदय से श्रमण भगवान् महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए हैं, यह अनहोनी और आश्चर्यजनक बात है। मेरा कर्त्तव्य है कि तथाविध अन्त आदि कुलों से उनका उग्र आदि विशुद्ध कुल-वंश में साहरण करवाऊँ।" ऐसा सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाया और उसे श्रमण भगवान् महावीर को सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ में साहरण करने का आदेश दिया।[2]

---

१ (क) आव० भाष्य०, गा० ५८,५६ पत्र २५६

(ख) कल्पसूत्र, सू० ६१।

तीन आरको के व्यतीत हो जाने पर और दुष्षम-सुषम नामक चौथे आरक का बहुत काल व्यतीत हो जाने पर जब कि उस चौथे आरक के केवल ७५ वर्ष और सार्द्ध आठ मास ही शेष रहे थे, उस समय ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष में आषाढ शुक्ला छट्ठ की रात्रि मे चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग होने पर भ० महावीर (नन्दन राजा का जीव) महाविजय सिद्धार्थ-पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक वर्द्धमान नामक महा विमान मे सागरोपम की देव-आयु पूर्ण कर देवायु, देवस्थिति और देवभव का क्षय होने पर उस दशवे स्वर्ग से च्यवन कर इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध भरत के दक्षिण ब्राह्मण-कुण्ड पुर सन्निवेश मे कुडाल गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या जालन्धर गोत्रीया ब्राह्मणी देवानन्दा की कुक्षि मे, गुफा मे प्रवेश करते हुए सिंह के समान गर्भ रूप मे उत्पन्न हुए।[1]

श्रमण भ० महावीर के जीव ने जिस समय दशवे स्वर्ग से च्यवन किया, उस समय वह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञानो से युक्त था। मैं दशवें स्वर्ग से च्यवन करूंगा—यह वे जानते थे। स्वर्ग से च्यवन कर मैं गर्भ मे आ गया हूँ, यह भी वे जानते थे, किन्तु मेरा इस समय च्यवन हो रहा है, इस च्यवन-काल को वे नही जानते थे, क्योंकि वह च्यवनकाल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है।[2] वह काल केवल केवलीगम्य ही होता है, छद्मस्थ उसे नही जान सकता।

आषाढ शुक्ला षष्ठी की अर्द्धरात्रि में भगवान् महावीर गर्भ मे आये और उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखपूर्वक सोयी हुई देवानन्दा ने अर्द्धजागृत और अर्द्धसुप्त अवस्था मे चौदह महान् मगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महास्वप्नों को देखने के पश्चात् तत्काल देवानन्दा उठी। वह परम प्रमुदित हुई। उसने उसी समय अपने पति ऋषभदत्त के पास जा कर उन्हे अपने चौदह स्वप्नो का विवरण सुनाया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की बात सुनकर ऋषभदत्त बोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने बहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं। ये स्वप्न शिव और मगलरूप है। विशेष बात यह है कि नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस वीतने पर तुम्हे पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यञ्जन, सद्गुणों से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जब वह बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारगत विद्वान्, बड़ा

---

१ समणे भगव महावीरे इमाए ओसप्पिणीए.......... .....देवाणंदाए माहणीए जालंधर-स्सगुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कते।

२ समणे भगव महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामिति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते। आचाराग, श्रु० २, अ० १५।

शूरवीर और महान् पराक्रमी होगा। ऋषभदत्त के मुख से स्वप्नफल सुन कर देवानन्दा बड़ी प्रसन्न हुई तथा योग्य आहार-विहार और अनुकूल आचार से गर्भ का परिपालन करने लगी।

इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना

उसी समय देवपति शक्रेन्द्र ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को अवधिज्ञान से देखते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए देखा। वे प्रसन्न होकर सिंहासन पर से उठकर पादपीठ से नीचे उतरे और मणिजटित पादुकाओं को उतार कर बिना सिले एक शाटक-वस्त्र से उत्तरासन (मुँह की यतना) किये और अंजलि जोड़े हुए तीर्थंकर के सम्मुख सात आठ पैर आगे चले तथा बायें घुटने को ऊपर उठाकर एवं दाहिने घुटने को भूमि पर टिका कर उन्होंने तीन बार सिर झुकाया और फिर कुछ ऊँचे होकर, दोनों भुजाओं को सकोच कर, दशों अंगुलियाँ मिलाये अंजलि जोड़कर वंदन करते हुए वे बोले—"नमस्कार हो अर्हन्त भगवान्! यावत् सिद्धिगति नाम स्थान प्राप्त को। फिर नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर! धर्मतीर्थ की आदि करने वाले चरम-तीर्थंकर को।" इस प्रकार भावी तीर्थंकर को नमस्कार करके इन्द्र पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर बैठ गये।[1]

इन्द्र की चिन्ता और हरिणैगमेषी को आदेश

इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से देवानन्दा की कुक्षि मे भगवान् महावीर के गर्भरूप से उत्पन्न होने की बात जानी तो उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—"अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव सदा उग्रकुल आदि विशुद्ध एवं प्रभावशाली वंशो मे ही जन्म लेते आये हैं, कभी अंत, प्रान्त, तुच्छ या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नही हुए और न भविष्य मे होगे। चिरन्तन काल से यही परम्परा रही है कि तीर्थंकर आदि उग्रकुल, भोगकुल प्रभृति प्रभावशाली वीरोचित कुलो मे ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्राक्तन कर्म के उदय से श्रमण भगवान् महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि मे उत्पन्न हुए हैं, यह अनहोनी और आश्चर्यजनक बात है। मेरा कर्त्तव्य है कि तथाविध अन्त आदि कुलो से उनका उग्र आदि विशुद्ध कुल-वंश मे साहरण करवाऊँ।" ऐसा सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाया और उसे श्रमण भगवान् महावीर को सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ मे साहरण करने का आदेश दिया।[1]

---

१ (क) आव० भाष्य०, गा० ५८,५६ पत्र २५६
(ख) कल्पसूत्र, सू० २१।

हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहार

इन्द्र का आदेश पाकर हरिणैगमेषी प्रसन्न हुआ और "तथास्तु देव !" कह कर उसने विशेष प्रकार की क्रिया से कृत्रिम रूप बनाया। उसने ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में आकर देवानन्दा को निद्रावश करके बिना किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा के महावीर के शरीर को करतल में ग्रहण किया एवं त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में लाकर रख दिया तथा त्रिशला का गर्भ लेकर देवानन्दा की कूख में बदल दिया[1] और उसकी निद्रा का अपहरण कर चला गया।

आचारांग सूत्र के भावना अध्ययन में कब और किस तरह गर्भपरिवर्तन किया, इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत में, दक्षिण ब्राह्मणकुडपुर सन्निवेश में कोडालसगोत्रीय उसभदत्त ब्राह्मण की जालधर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंहअर्भक की तरह भगवान् महावीर गर्भरूप से उत्पन्न हुए। उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान के धारक थे। श्रमण भगवान् महावीर को हितानुकम्पी देव ने जीतकल्प समझ कर, वर्षाकाल के तीसरे मास, अर्थात् पाँचवें पक्ष में, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को जब चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग था, बयासी अहोरात्रियाँ बीतने पर नियासीवीं रात्रि में दक्षिण ब्राह्मणकुडपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञात-क्षत्रिय, काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों के साथ गर्भ रूप में रखा और जो त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ था उसको दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कूख में स्थापित किया।[2]

गर्भापहार-विधि

इस प्रकार ८२ रात्रियों तक देवानन्दा के गर्भ में रहने के पश्चात् ८३वीं रात्रि में जिस समय हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ रूप में रहे हुए भगवान् महावीर का महारानी- त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया—"हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस समय वे भगवान् तीन ज्ञान से युक्त थे। मेरा देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया जायगा, इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है और देवानन्दा की कुक्षि से मेरा साहरण त्रिशलादेवी की कुक्षि में कर दिया गया है—ये तीनों ही बातें भगवान् महावीर जानते थे।"[3]

---

१ आचारांग सूत्र

२ आचारांग सूत्र

३ समणे भगव महावीरे ति[illegible] हरिस्सामि[illegible] त्ति जाणइ, साहरि[illegible] ज्जमाणे वि जाणइ.

देवकृत साहरण का कार्य च्यवन काल के समान अत्यन्त सूक्ष्म नही होता, अतः तीन ज्ञान के धनी भ० महावीर साहरण की भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही क्रियाओं को जानते थे। कल्पसूत्र में जो उल्लेख है कि "इस समय मेरा साहरण किया जा रहा है, यह भ० महावीर नही जानते थे", वह उल्लेख ठीक नही है। कल्पसूत्र के टीकाकार विनय विजयजी ने "साहरिज्जमाणे वि जाणइ" इस प्रकार के प्राचीन प्रति के पाठ को प्रामाणिक माना है।

भगवती सूत्र में हरिणैगमेषी द्वारा जिस प्रकार गर्भ-परिवर्तन किया जाता है, उसकी चर्चा की गई है। इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा करते हुए भगवान् महावीर से पूछा—"प्रभो ! हरिणैगमेषी देव जो गर्भ का परिवर्तन करता है, वह गर्भ से गर्भ का परिवर्तन करता है या गर्भ से लेकर योनि द्वारा परिवर्तन करता है अथवा योनिद्वार से निकाल कर गर्भ मे परिवर्तन करता है या योनि से योनि मे परिवर्तन करता है ?"

उत्तर मे कहा गया—"गौतम ! गर्भाशय से लेकर हरिणैगमेषी दूसरे गर्भ में नही रखता किन्तु योनि द्वारा निकाल कर बाधा-पीड़ा न हो, इस तरह गर्भ को हाथ मे लिए दूसरे गर्भाशय मे स्थापित करता है। गर्भपरिवर्तन मे माता को पीडा इस कारण नही होती कि हरिणैगमेषी देव में इस प्रकार की लब्धि है कि वह गर्भ को सूक्ष्म रूप से नख या रोमकूप से भी भीतर प्रविष्ट कर सकता है।" जैसा कि कल्पसूत्र मे कहा है :—

"हरिणैगमेषी ने देवानन्दा ब्राह्मणी के पास आकर पहले श्रमण भगवान् महावीर को प्रणाम किया और फिर देवानन्दा को परिवार सहित निद्राधीन कर अशुभ पुद्गलों का अपहरण किया और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर प्रभु की अनुज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर को बाधा-पीडा रहित दिव्य प्रभाव से करतल मे लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे गर्भ रूप से साहरण किया।"

[कल्पसूत्र, सू० २७]

गर्भापहार असंभव नहीं, आश्चर्य है

वास्तव में ऐसी घटना अद्भुत होने के कारण आश्चर्यजनक हो सकती है, पर असंभव नही। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—"गर्भपरिवर्तन जैसी घटना लोक में आश्चर्यभूत है जो अनन्त अवसर्पिणी काल और अनन्त उत्सर्पिणी काल व्यतीत होने पर कभी-कभी होती है।"

दिगम्बर परम्परा ने गर्भापहरण के प्रकरण को विवादास्पद समझ कर मूल से ही छोड दिया है। पर श्वेताम्बर परम्परा के मूल सूत्रों और टीका चूर्णि आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आचार्यों का कहना

है कि तीर्थंकर का गर्भहरण आश्चर्यजनक घटना हो सकती है, पर असंभव नही। समवायांग सूत्र के ८३ वें समवाय में गर्भपरिवर्तन का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र के पांचवे स्थान-मे भी भगवान् महावीर के पंचकल्याणको में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे गर्भपरिवर्तन का स्पष्ट उल्लेख है। स्थानाग सूत्र के १०वे स्थान में दश आश्चर्य गिनाये गये हैं। उनमें गर्भ-हरण का दूसरा स्थान है। वे आश्चर्य इस प्रकार है :-

उवसग्ग,[1] गब्भहरणं[2] इत्थीतित्थं[3] अभाविया-परिसा[4]।
कण्हस्स अवरकंका,[5] उत्तरणं चंद-सूराणं[6]॥
हरिवसकुलुप्पत्ती[7] चमरुप्पातो[8] य अट्ठसयसिद्धा[9]।
अस्संजतेसु[10] पूआ, दस वि अणंतेण कालेण॥

[स्थानांग भा. २ सूत्र ७७७, पत्र ५२३-२]

१. उपसर्ग :—श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्मीभूत कर दिया। भगवान् पर भी तेजोलेश्या का उपसर्ग किया। यह प्रथम आश्चर्य है।

२. गर्भहरण :—तीर्थंकर का गर्भहरण नही होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। यह दूसरा आश्चर्य है। जैनागमो की तरह वैदिक परम्परा मे भी गर्भ-परिबर्तन की घटना का उल्लेख है। वसुदेव की संतानो को कस जब नष्ट कर देता था तब विश्वात्मा विष्णु योगमाया को आदेश देते है कि देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर मे रखा जाय। विश्वात्मा के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ को रोहिणी के उदर मे स्थापित किया।[1]

३ स्त्री-तीर्थंकर :—सामान्य रूप से तीर्थंकरपद पुरुष ही प्राप्त करते है, स्त्रियाँ नही। वर्तमान अवसर्पिणी काल मे १९वे तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री रूप से उत्पन्न हुए, अत. आश्चर्य है।

४ अभाविता परिषद् :—तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे श्रवण कर भोगमार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते

---

१ गच्छ देवि व्रज भद्रे, गोपगोभिरलंकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य, भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कससविग्ना, विवरेषु वसन्ति हि॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं, शेषाख्य धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या, उदरे सन्निवेशय॥८॥

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १०, अध्याय २]

हैं। किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने चारित्र स्वीकार नहीं किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन :—द्रौपदी की गवेषणा के लिए श्रीकृष्ण धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहाँ के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतया चक्रवर्ती एवं वासुदेव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाते, पर कृष्ण गये, यह आश्चर्य की बात है।

६. चन्द्र-सूर्य का उतरना :—सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते हैं, पर मूल विमान से नहीं। किन्तु कौशाम्बी में भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये।[1] महावीर चरियं के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवसरण मे आये, जबकि सती मृगावती भी वहाँ बैठी थी। रात होने पर भी उसे प्रकाश के कारण ज्ञात नही हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने में वही बैठी रही। चन्द्र-सूर्य के जाने पर जब वह अपने स्थान पर गई तब चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया। मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया।[2] यह भगवान् की केवली-चर्या के चौबीसवे वर्ष की घटना है।

७ हरिवंश कुलोत्पत्ति :—हरि और हरिणीरूप युगल को देखकर एक देव को पूर्वजन्म के वैर की स्मृति हो आई। उसने सोचा "ये दोनो यहाँ भोग-भूमि मे सुख भोग रहे है और आयु पूर्ण होने पर देवलोक मे जायेंगे। अत: ऐसा यत्न करूँ कि जिससे इनका परलोक दुःखमय हो जाय।" उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊँचाई को सौ धनुष कर दिया,[3] आयु भी घटाई और दोनो को भरतक्षेत्र की चम्पानगरी मे लाकर छोड़ दिया। वहाँ के भूपति

---

१ आव० निर्युक्ति मे प्रभु की छद्मस्थावस्था मे संगम देव द्वारा घोर परीषह देने के बाद कौशाम्बी मे चन्द्र-सूर्य का मूल विमान से आगमन लिखा है। कोसंबि चंद सूरो अरण···· ····। आव नि० दी०, गा० ५१८, पत्र १०५।

२ साहाविचाइ पच्चक्ख दिस्समाणाणि णाहेवण।
ओयरिया भत्तीए वंदणवडियाए ससिसूरा ॥९॥
तेसि विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयणे।
जाय निसिपि लोगो अवियाणतो सुणइ धम्म ॥१०॥
नवर नाउ समय चंदणबाला पवत्तिणी नमिउ।
सामि समणीहिं सम नियमावास गया सहसा ॥११॥
सा पुण मिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा धणिय।
एगागिणी चियट्ठिया दिणति काऊण ओसरणे ॥१२॥
[महावीर चरियं (गुणचन्द्र), प्रस्ताव ८, पत्र १७५]

३ कुणतिय से दिव्वप्पभावेण धणुसय उच्चत्त ॥ वसु० हिं०, पृ० ३५७

का वियोग होने से 'हरि' को अधिकारियो द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनों ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनो मरकर नरक मे उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक मे नही जाते पर ये दोनों हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।

८. चमर का उत्पात :—पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इन्द्र बनने के पश्चात् उसने अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य-भोगो का उपभोग करते हुए देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिए। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देवलोक मे उत्पात मचाया। इस पर शक्रेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका। चमरेन्द्र भयभीत हो भगवान् के चरणों मे गिरा। शक्रेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण मे जानकर बड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड़ कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहंत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है।

९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध :—भगवान् ऋषभदेव के समय मे ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानुसार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो[1] ही एक साथ सिद्ध होने चाहिये, पर ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय में साथ सिद्ध[2] हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१०. असंयत पूजा :—संयत ही वंदनीय-पूजनीय होते हैं, पर नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के शासन में श्रमण-श्रमणी के अभाव में असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।

वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार

भारतीय साहित्य में वर्णित गर्भापहार जैसी कितनी ही बातों को लोग अब तक अविश्वसनीय मानते रहे हैं, पर विज्ञान के अन्वेषण ने उनमें से बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया है। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी द्वारा प्रकाशित "जीवन विज्ञान" (पृष्ठ ४३) में एक आश्चर्यजनक घटना प्रकाशित की गई है, जो इस प्रकार है :—

---

१ उक्कोसोगाहणाए य सिज्झते जुगव दुवे। उ० ३६, गा० ५४

२ रिसहो रिसहस्स सुया, भरहेण विवज्जिया नवनवई।
अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एग समयम्मि॥

"एक अमेरिकन डॉक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का ऑपरेशन करना था। वह गर्भवती थी, अतः डॉक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डिब्बे मे रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ में डाल दिया। औरत का ऑपरेशन कर चुकने के बाद डॉक्टर ने पुनः औरत का बच्चा औरत के पेट मे रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर मे बकरी और स्त्री ने जिन बच्चों को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।"

'नवनीत की तरह अन्य पत्रो मे भी इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं, जिनसे गर्भापहरण की बात सभव और साधारण सी प्रतीत होती है।

त्रिशला के यहाँ

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जिस समय हरिणैगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा से महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला की कुक्षि मे साहरण किया, उस समय वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पाँचवें पक्ष का आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। देवानन्दा के गर्भ मे बयासी (८२) रात्रियाँ बिता चुकने के पश्चात् तियासीवी रात्रि मे चन्द्र के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग के समय भगवान् महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि मे साहरण किया गया।

गर्भसाहरण के पश्चात् देवानन्दा यह स्वप्न देखकर कि उसके चौदह मगलकारी शुभस्वप्न उसके मुखमार्ग से बाहर निकल गये हैं, तत्क्षण जाग उठी। वह शोकाकुल हो बारम्बार विलाप करने लगी कि किसी ने उसके गर्भ का अपहरण कर लिया है।[1]

उधर त्रिशला रानी को उसी रात उन चौदह महामंगलप्रद शुभस्वप्नो के दर्शन हुए। वह जागृत हो महाराज सिद्धार्थ के पास गई और उसने अपने स्वप्न सुनाकर बड़ी मृदु-मजुल वाणी मे उनसे स्वप्नफल की पृच्छा की।

महाराज सिद्धार्थ ने निमित्त-शास्त्रियो को ससम्मान बुलाकर उनसे उन चौदह स्वप्नों का फल पूछा।

निमित्तज्ञो ने शास्त्र के प्रमाणो से बताया—"इस प्रकार के मांगलिक शुभस्वप्नो मे से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता चौदह महास्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात महास्वप्न, बलदेव की माता चार महास्वप्न तथा

१ (क) महावीर चरित्रम् (गुणचन्द्र सूरि), पत्र २१२ (२)।
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २७ और २८।

माण्डलिक की माता एक शुभस्वप्न देखकर जागृत होती है। महारानी त्रिशला देवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे हैं, अतः इनको तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे किसी महान् भाग्यशाली पुत्ररत्न का लाभ होगा। निश्चित रूप से इनके ये स्वप्न परम प्रशस्त और महामंगलकारी हैं।"

स्वप्नपाठकों की बात सुनकर महाराज सिद्धार्थ परम प्रमुदित हुए और उन्होंने उनको जीवनयापन योग्य प्रीतिदान देकर सत्कार एवं सम्मान के साथ विदा किया। महारानी त्रिशला भी योग्य आहार-विहार और मर्यादित व्यवहारों से गर्भ का सावधानीपूर्वक प्रतिपालन करती हुई परमप्रसन्न मुद्रा में रहने लगी।

महारानी त्रिशलादेवी ने जिस समय भगवान् महावीर को अपने गर्भ में धारण किया, उसी समय से तृजृंभक देवों ने इन्द्र की आज्ञा से पुरातन निधियाँ लाकर महाराज सिद्धार्थ के राज्य-भण्डार को हिरण्य-सुवर्ण आदि से भरना प्रारंभ कर दिया और समस्त ज्ञातकुल की विपुल धन-धान्यादि ऋद्धियों से महती अभिवृद्धि होने लगी।[1]

महावीर का गर्भ में अभिग्रह

भगवान् महावीर जब त्रिशला के गर्भ में थे, तब उनके मन में विचार आया कि उनके हिलने-डुलने से माता अतिशय कष्टानुभव करती है। यह विचार कर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। किन्तु गर्भस्थ जीव के हलन-चलनादि क्रिया को बन्द देख कर माता बहुत घबराई। उनके मन में शंका होने लगी कि उनके गर्भ का किसी ने हरण कर लिया है अथवा वह मर गया है या गल गया है। इसी चिन्ता में वह उदास और व्याकुल रहने लगी। माता की उदासी से राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया। गर्भस्थ महावीर ने अवधिज्ञान द्वारा माँ की यह करुणावस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो वे पुनः अपने अंगोपांग हिलाने-डुलाने लगे जिससे माँ का मन फिर प्रसन्नता से नाच उठा और राजभवन में हर्ष का वातावरण छा गया। माँ के इस प्रबल स्नेहभाव को देख कर महावीर ने गर्भकाल मे ही यह अभिग्रह धारण किया—"जब तक

१ जहिवसं च भयव..........तिसला देवीए उयरकमलमइगओ तद्दिवसाओऽवि सुरवइवयणेण तिरियजंभगा देवा चिरिहाइं महानिहाणाइं सिद्धत्थनरिंदभुवणंमि मुज्जो-मुज्जो परिक्खिवंति, तपि नायकुल धणेणं धन्नेणं..........वाढमभिवड्ढइ..........

[महावीर चरिय (गुणचन्द्र), पत्र ११४ (१)]

मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं मुंडित होकर दीक्षा-ग्रहण नहीं करूंगा।"[1]

जन्म-महिमा

प्रशस्त दोहद और मंगलमय वातावरण में गर्भकाल पूर्ण कर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में त्रिशला क्षत्रियाणी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्मकाल में सभी ग्रह उच्च स्थान मे आये हुए थे। समस्त दिशाएँ परम सौम्य, प्रकाशपूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थीं। धन-धान्य की समृद्धि एवं सुख-सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन बड़ा प्रमोदपूर्ण था। गगनमण्डल से देवों ने पंचदिव्यों की वर्षा की।

प्रभु के जन्म लेते ही समस्त लोक मे अलौकिक उद्योत और शान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया। प्रभु का मंगलमय जन्ममहोत्सव मनाने वाले देव-देवियों के आगमन से सम्पूर्ण गगनमण्डल एवं भूमण्डल एक अपूर्व उद्योत से प्रकाशमान् और मृदु-मंजुल रव से मुखरित हो उठा।

जिस रात्रि में क्षत्रियाणी माता त्रिशलादेवी ने प्रभु महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि मे बहुत से देवों और देवियों ने अमृतवृष्टि, मनोज्ञ सुगन्धित गन्धों की वृष्टि, सुगन्धित चूर्णों की वृष्टि, सुन्दर सुगन्धित पंच वर्ण पुष्पों की वृष्टि, हिरण्य की वृष्टि, स्वर्ण की वृष्टि और रत्नो की वृष्टि—इस प्रकार सात प्रकार की विपुल वृष्टियां कीं।[2]

भगवान् महावीर का जन्म होते ही ५६ दिक्कुमारियों और ६४ देवेन्द्रों के आसन डोलायमान हुए। अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ है तो अपने पद के त्रिकालवर्ती जीताचार के परिपालनार्थ उन सब ने अपने-अपने आभियोगिक देवों को अतीव मनोहर-विशाल एवं विस्तीर्ण अनुपम विमानों की विकुर्वणा करने और सभी देवी-देवियों को अपनी सम्पूर्ण दिव्य देवर्द्धि के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाने हेतु प्रस्थान करने के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने का आदेश दिया।

सबसे पहले अधोलोक निवासिनी भोगंकरा आदि आठ दिक्कुमारियां अपनी दिव्य ऋद्धि और विशाल देव-देवी परिवार के साथ एक विशाल विमान

---

१ (क) आव० भाष्य० गा० ५८।५९, पत्र २५६

(ख) कल्पसूत्र, सूत्र ९१

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६० से ६४

में बैठ क्षत्रिय कुण्डनगर में आई। उन्होने महाराज सिद्धार्थ के राजप्रासाद की तीन बार प्रदक्षिणा करके अपने विमान को ईशान कोण मे भूमि से चार अंगुल ऊपर ठहराया और उससे उतर कर वे सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ प्रभु के जन्म गृह मे आई। उन्होने माता और प्रभु दोनो को प्रणाम करने के पश्चात् त्रिशला महारानी से सविनय मृदु-मजुल स्वर मे निवेदन किया—"हे त्रैलोक्यैकनाथ तीर्थेश्वर की त्रिलोकवन्दनीया मातेश्वरी ! आप धन्य है, जो आपने त्रिभुवन-भास्कर जगदेकबन्धु जगन्नाथ को पुत्र रूप मे जन्म दिया है। जगदम्ब ! हम अधोलोक की आठ दिवकुमारिकाएँ अपने देव-देवी परिवार के साथ इन निखिलेश जिनेश्वर का जन्मोत्सव मनाने आई हैं, अत. आप किसी प्रकार के भय का विचार तक मन मे न आने दें।" वे प्रभु के जन्म भवन मे और उसके चारो ओर चार-चार कोस तक भूमि को साफ-सुथरी और स्वच्छ बनाने के पश्चात् माता त्रिशलादेवी के चारो ओर खडी हो सुमधुर स्वर मे विविध वाद्ययन्त्रो की ताल एवं तान के साथ मगलगीत गाती है।

तत्पश्चात् उर्ध्वलोक-वासिनी मेघंकरा आदि आठ दिवकुमारियाँ भी उसी प्रकार प्रभु के जन्मगृह मे आ वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन आदि के उपरान्त जन्म-गृह और उसके चारो ओर चार-चार कोस तक जलवृष्टि, गन्धवृष्टि और पुष्प-वृष्टि कर समस्त भूमिभाग को सुखद-सुन्दर-सुरम्य बना माँ त्रिशला महारानी के चारों ओर खडी हो विशिष्टतर मगल गीत गाती है।

ऊर्ध्वलोक निवासिनी दिवकुमारियो के पश्चात् पूर्वीय रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ हाथो मे दर्पण लिए, दक्षिणी रुचक कूट-गिरि निवासिनी समाहारा आदि आठ दिवकुमारियाँ झारियाँ हाथ मे लिए, पश्चिमी रुचक-कूट-निवासिनी इलादेवी आदि आठ दिशाकुमारियाँ हाथो मे सुन्दर तालवृन्तो से व्यजन करती हुई और उत्तरी रुचक कूट वासिनी अलम्बुषा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ तीर्थंकर माता त्रिशला और नवजात प्रभु महावीर को श्वेत चामर ढुलाती हुई मधुर स्वर मे मंगलगीत गाती है।

तदनन्तर चित्रा, चित्रकनका, सतेरा और सुदामिनी नाम्नी विदिशा के रुचक-कूट पर रहने वाली चार दिशाकुमारिकाएँ वन्दन-नमन-स्तुति निवेदन के पश्चात् जगमगाते प्रदीप हाथो मे लिए माता त्रिशला के चारो ओर चारो विदिशाओ मे खडी हो मगल गीत गाती हैं।

ये सब कार्य दिव्य द्रुत गति से शीघ्र ही सम्पन्न हो जाते है। उसी समय रूपा, रूपाशा, सुरूपा और रूपकावती नाम की, मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली चार महत्तरिका दिशाकुमारियाँ वहाँ आ वन्दन आदि के पश्चात् नाभि के ऊपर चार अगुल छोड़ कर नाल को काटती हैं। प्रासाद के प्रागण मे गड्ढा खोद कर उसमे नाल को गाड कर रत्नो और रत्नो के चूर्ण से उस खड्डे को

भरती हैं। तदनन्तर तीन दिशाओं में तीन कदलीघर, प्रत्येक कदलीगृह मे एक-एक चतुश्शाल और प्रत्येक चतुश्शाल के मध्यभाग मे एक-एक अति सुन्दर सिंहासन की विकुर्वणा करती हैं। ये सब कार्य निष्पन्न करने के पश्चात् वे माता त्रिशला के पास आ नवजात शिशु प्रभु को करतल में ग्रहण कर और माता त्रिशला को बाहुओं में समेटे दक्षिणी कदलीगृह की चतुश्शाला मे सिंहासन पर बिठा शतपाक, सहस्रपाक तैल से मर्दन और उबटन कर उसी प्रकार पूर्वीय कदलीगृह की चतुःशाला मे ला सिंहासन पर बिठाती हैं। वहां माता और पुत्र दोनो को क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान करा वस्त्रालंकारो से विभूषित कर उत्तरी कदलीगृह की चतु शाला के मध्यस्थ सिंहासन पर प्रभु की माता और प्रभु को आसीन करती हैं। आभियोगिक देवों से गौशीर्ष चन्दन मंगवा अरणी से आग उत्पन्न कर हवन करती है। हवन के पश्चात् उन चारों दिक्कुमारिकाओं ने भूतिकर्म किया, रक्षा पोटलिका बांधी और प्रभु के कर्णमूल में मणिरत्नयुक्त दो छोटे-छोटे गोले इस प्रकार लटकाये जिससे कि वे टन-टन शब्द करते रहें। तदनन्तर वे देवियां तीर्थंकर प्रभु को उसी प्रकार करतल में लिये और माता को बाहुओं मे समेटे जन्मगृह मे लाईं और उन्हें शय्या पर बिठा दिया। वे सब दिक्कुमारियां माता की शय्या के चारों ओर खड़ी हो प्रभु की और प्रभु की माता की पर्युपासना करती हुई मंगल गीत गाने लगी।

उसी समय सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र अपनी सम्पूर्ण दिव्य ऋद्धि और परिवार के साथ प्रभु के जन्मगृह की प्रदक्षिणा आदि के पश्चात् माता त्रिशला देवी के पास आ उन्हें वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन के पश्चात् अवस्वापिनी विद्या से निद्राधीन कर दिया। प्रभु के दूसरे स्वरूप की विकुर्वणा कर शक्र ने उसे माता के पास रखा। तदनन्तर वैक्रिय शक्ति से शक्र ने अपने पांच स्वरूप बनाये। एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल मे लिया, एक शक्र ने प्रभु पर छत्र किया, दो शक्र प्रभु के पार्श्व में चामर ढुलाते हुए चलने लगे और पांचवां शक्र का स्वरूप हाथ में वज्र धारण किये प्रभु के आगे-आगे चलने लगा। चारों जाति के देवो और देवियों के अति विशाल समूह से परिवृत शक्र जयघोष एवं विविध देव-वाद्यो के तुमुल निर्घोष से गगनमण्डल को गुंजाता हुआ दिव्य देवगति से चल कर मेरुपर्वत पर पण्डक वन में अभिषेक-शिला के पास पहुंचा। शेष ६३ इन्द्र भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ देव-देवियों के अति विशाल परिवार से परिवृत हो उसी समय अभिषेक-शिला के पास पहुंचे। शक्र ने प्रभु महावीर को अभिषेक-शिला पर पूर्वाभिमुख कर बिठाया और ६४ इन्द्र प्रभु की पर्युपासना करने लगे।

अच्युतेन्द्र की आज्ञा से स्वर्ण, रजत, मणि, स्वर्णरौप्य, स्वर्णमणि, स्वर्ण-रजतमणि, मृत्तिका और चन्दन इन प्रत्येक के एक-एक हजार और आठ-आठ कलश, इन सब के उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरण्ड,

मे बैठ क्षत्रिय कुण्डनगर मे आई। उन्होने महाराज सिद्धार्थ के राजप्रासाद की तीन बार प्रदक्षिणा करके अपने विमान को ईशान कोण में भूमि से चार अंगुल ऊपर ठहराया और उससे उतर कर वे सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ प्रभु के जन्म गृह मे आई। उन्होने माता और प्रभु दोनों को प्रणाम करने के पश्चात् त्रिशला महारानी से सविनय मृदु-मजुल स्वर मे निवेदन किया—"हे त्रैलोक्यैकनाथ तीर्थेश्वर की त्रिलोकवन्दनीया मातेश्वरी! आप धन्य है, जो आपने त्रिभुवन-भास्कर जगदेकबन्धु जगन्नाथ को पुत्र रूप मे जन्म दिया है। जगदम्ब! हम अधोलोक की आठ दिवकुमारिकाएँ अपने देव-देवी परिवार के साथ इन निखिलेश जिनेश्वर का जन्मोत्सव मनाने आई हैं, अत आप किसी प्रकार के भय का विचार तक मन मे न आने दें।" वे प्रभु के जन्म भवन मे और उसके चारो ओर चार-चार कोस तक भूमि को साफ-सुथरी और स्वच्छ बनाने के पश्चात् माता त्रिशलादेवी के चारो ओर खडी हो सुमधुर स्वर मे विविध वाद्ययन्त्रो की ताल एवं तान के साथ मगलगीत गाती है।

तत्पश्चात् उर्ध्वलोक-वासिनी मेघंकरा आदि आठ दिवकुमारियाँ भी उसी प्रकार प्रभु के जन्मगृह में आ वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन आदि के उपरान्त जन्म-गृह और उसके चारो ओर चार-चार कोस तक जलवृष्टि, गन्धवृष्टि और पुष्प-वृष्टि कर समस्त भूमिभाग को सुखद-सुन्दर-सुरम्य बना माँ त्रिशला महारानी के चारों ओर खडी हो विशिष्टतर मगल गीत गाती है।

ऊर्ध्वलोक निवासिनी दिवकुमारियो के पश्चात् पूर्वीय रुचक कूट पर रहने वाली नन्दुत्तरा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ हाथो मे दर्पण लिए, दक्षिणी रुचक कूट-गिरि निवासिनी समाहारा आदि आठ दिवकुमारियाँ भारियाँ हाथ मे लिए, पश्चिमी रुचक-कूट-निवासिनी इनादेवी आदि आठ दिशाकुमारियाँ हाथो मे सुन्दर तालवृन्तों से व्यजन करती हुई और उत्तरी रुचक कूट वासिनी अलम्बुषा आदि आठ दिवकुमारिकाएँ तीर्थंकर माता त्रिशला और नवजात प्रभु महावीर को श्वेत चामर ढुलाती हुई मधुर स्वर मे मगलगीत गाती हैं।

तदनन्तर चित्रा, चित्रकनका, सतेरा और सुदामिनी नाम्नी विदिशा के रुचक-कूट पर रहने वाली चार दिशाकुमारिकाएँ वन्दन-नमन-स्तुति निवेदन के पश्चात् जगमगाते प्रदीप हाथो मे लिए माता त्रिशला के चारो ओर चारो विदिशाओ में खडी हो मगल गीत गाती है।

ये सब कार्य दिव्य द्रुत गति से शीघ्र ही सम्पन्न हो जाते है। उसी समय रूपा, रूपाशा, सुरूपा और रूपकावती नाम की, मध्य रुचक पर्वत पर रहने वाली चार महत्तरिका दिशाकुमारियाँ वहाँ आ वन्दन आदि के पश्चात् नाभि के ऊपर चार अगुल छोड़ कर नाल को काटती हैं। प्रासाद के प्रागण मे गड्ढा खोद कर उसमे नाल को गाड कर रत्नो और रत्नो के चूर्ण से उस खड्डे को

भरती हैं। तदनन्तर तीन दिशाओं में तीन कदलीघर, प्रत्येक कदलीगृह मे एक-एक चतुश्शाल और प्रत्येक चतुश्शाल के मध्यभाग मे एक-एक अति सुन्दर सिंहासन की विकुर्वणा करती हैं। ये सब कार्य निष्पन्न करने के पश्चात् वे माता त्रिशला के पास आ नवजात शिशु प्रभु को करतल में ग्रहण कर और माता त्रिशला को बाहुओं मे समेटे दक्षिणी कदलीगृह की चतुश्शाला मे सिंहासन पर बिठा शतपाक, सहस्रपाक तैल से मर्दन और उबटन कर उसी प्रकार पूर्वीय कदलीगृह की चतुःशाला मे ला सिंहासन पर बिठाती हैं। वहाँ माता और पुत्र दोनो को क्रमशः गन्धोदक, पुष्पोदक और शुद्धोदक से स्नान करा वस्त्रालंकारो से विभूषित कर उत्तरी कदलीगृह की चतु शाला के मध्यस्थ सिंहासन पर प्रभु की माता और प्रभु को आसीन करती है। आभियोगिक देवो से गोशीर्ष चन्दन मंगवा अरणी से आग उत्पन्न कर हवन करती हैं। हवन के पश्चात् उन चारो दिक्कुमारिकाओ ने भूतिकर्म किया, रक्षा पोटलिका बांधी और प्रभु के कर्णमूल में मणिरत्नयुक्त दो छोटे-छोटे गोले इस प्रकार लटकाये जिससे कि वे टन-टन शब्द करते रहें। तदनन्तर वे देवियां तीर्थंकर प्रभु को उसी प्रकार करतल मे लिये और माता को बाहुओ मे समेटे जन्मगृह में लाई और उन्हें शय्या पर बिठा दिया। वे सब दिक्कुमारियां माता की शय्या के चारों ओर खड़ी हो प्रभु की और प्रभु की माता की पर्युपासना करती हुई मंगल गीत गाने लगी।

उसी समय सौधर्मेन्द्र देवराज शक्र अपनी सम्पूर्ण दिव्य ऋद्धि और परिवार के साथ प्रभु के जन्मगृह की प्रदक्षिणा आदि के पश्चात् माता त्रिशला देवी के पास आ उन्हें वन्दन-नमन-स्तुति-निवेदन के पश्चात् अवस्वापिनी विद्या से निद्राधीन कर दिया। प्रभु के दूसरे स्वरूप की विकुर्वणा कर शक्र ने उसे माता के पास रखा। तदनन्तर वैक्रिय शक्ति से शक्र ने अपने पांच स्वरूप बनाये। एक शक्र ने प्रभु को अपने करतल में लिया, एक शक्र ने प्रभु पर छत्र किया, दो शक्र प्रभु के पार्श्व में चामर डुलाते हुए चलने लगे और पांचवां शक्र का स्वरूप हाथ में वज्र धारण किये प्रभु के आगे-आगे चलने लगा। चारो जाति के देवों और देवियों के अति विशाल समूह से परिवृत शक्र जयघोष एवं विविध देव-वाद्यो के तुमुल निर्घोष से गगनमण्डल को गुंजाता हुआ दिव्य देवगति से चल कर मेरुपर्वत पर पण्डक वन मे अभिषेक-शिला के पास पहुँचा। शेष ६३ इन्द्र भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ देव-देवियो के अति विशाल परिवार से परिवृत हो उसी समय अभिषेक-शिला के पास पहुँचे। शक्र ने प्रभु महावीर को अभिषेक-शिला पर पूर्वाभिमुख कर बिठाया और ६४ इन्द्र प्रभु की पर्युपासना करने लगे।

अच्युतेन्द्र की आज्ञा से स्वर्ण, रजत, मणि, स्वर्णरौप्य, स्वर्णमणि, स्वर्णरजतमणि, मृत्तिका और चन्दन इन प्रत्येक के एक-एक हजार और आठ-आठ कलश, इन सब के उतने ही लोटे, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिका, चित्रक, रत्नकरण्ड,

पुष्पाभरणादि की चंगेरियाँ, सिंहासन, छत्र, चामर आदि-आदि अभिषेक योग्य महार्घ्य विपुल सामग्री आभियोगिक देवों ने तत्काल प्रस्तुत की। सभी कलशों को क्षीरोदक, पुष्करोदक, भरत-एरवत क्षेत्रों के मागधादि तीर्थों और गंगा आदि महानदियों के जल से पूर्ण कर उन पर क्षीरसागर के सहस्रदल कमलपुष्पों के पिधान लगा आभियोगिक देवों द्वारा वहाँ अभिषेक के लिए प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम अच्युतेन्द्र ने और तदनन्तर शेष सभी इन्द्रों ने उन कलशों और सभी प्रकार की अभिषेक योग्य महर्द्धिक, महार्घ्य सामग्री से प्रभु महावीर का महाजन्माभिषेक किया।[1] देवदुन्दुभियों के निर्घोषों, जयघोषों, सिंहनादों, आस्फोटनों और विविध विद्युध वाद्ययन्त्रों के तुमुल निनाद से गगन, गिरीन्द्र वसुन्धरातल एक साथ ही गुंजरित हो उठे। देवों ने पंच दिव्यों की वृष्टि की, अद्भुत नाटक किये और अनेक देवगण आनन्दातिरेक से नाचते-नाचते झूम उठे।

इस प्रकार असीम हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु महावीर का जन्माभिषेक करने के पश्चात् देवराज शक्र जिस प्रकार प्रभु को जन्म गृह से लाया था उसी प्रकार पूरे ठाठ के साथ जन्म-गृह में ले गया। शक्र ने प्रभु को माता के पास सुला कर प्रभु के विकुर्वित कृत्रिम स्वरूप को हटाया। प्रभु तदनन्तर देवराज शक्र ने प्रभु के सिरहाने क्षोमयुगल और कुण्डलयुगल रख त्रिशलादेवी की अवस्वापिनी निद्रा का हरण किया और तत्काल वह वहाँ से तिरोहित हो गया।

सौधर्मेन्द्र शक्र की आज्ञा से कुबेर ने जृम्भक देवों को आदेश दे महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों को बत्तीस-बत्तीस कोटि हिरण्य-मुद्राओं, स्वर्णमुद्राओं, रत्नों तथा अन्यान्य भण्डारों को नन्द नामक वृत्तासनों, भद्रासनों एवं सभी प्रकार की प्रसाधन-सामग्रियों से भरवा दिया।

---

१ मेरु पर्वत पर इन्द्रों द्वारा अभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने *त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र* में निम्नाशय का उल्लेख किया है :

इन्द्र ने प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर जन्म-महोत्सव किया, उस समय शक्र के मन में शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुसुम सा सुकोमल व नन्हा सा वपु अभिषेक कलशों के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?

भ० महावीर ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वाम पाव के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुंग शिखर झंझावात से झकझोरे गये वेत्रवन की तरह प्रकम्पित हो उठे।

शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है, तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६०-६४

महाराजा सिद्धार्थ के कोशागारों और भण्डारों को इस प्रकार भरपूर करवा कर देवराज शक्र ने कुण्डनपुर नगर के सभी बाह्याभ्यन्तर भागो, शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों आदि में अपने आभियोगिक देवो से निम्नाशय की घोषणा करवाई :—

"चार जाति के देव-देवियों में यदि कोई भी देवी अथवा देव तीर्थंकर की माता अथवा तीर्थंकर के प्रति किसी भी प्रकार का अशुभ विचार करेगा तो उसका मस्तक आम्र-मंजरी की भाँति शतधा तोड़ दिया जायगा।"

इस प्रकार की घोषणा करवाने के पश्चात् शक्र और सभी देवेन्द्रो ने नन्दीश्वर द्वीप मे जा कर तीर्थंकर भगवान् का अष्टाह्निक जन्म-महोत्सव मनाया। बड़े हर्षोल्लास के साथ अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के पश्चात् सभी देव और देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थान को लौट गये।[1]

देवियों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भ० महावीर का शुचि-कर्म और तीर्थंकराभिषेक किये जाने के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में जो सार रूप मे उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

"क्षत्रियाणी त्रिशलादेवी ने जिस रात्रि मे भ० महावीर को जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवो और देवियों ने भ० महावीर का शुचिकर्म और तीर्थंकराभिषेक किया।"[2]

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरियम्' मे[3] और दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' मे[4] यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के पश्चात् तृजृंभक देवों द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को विपुल

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पाँचवाँ वक्षस्कार।

२ जण्णं रयणिं तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं पसूया तण्णं रयणिं भवणवइ-वाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवियो य समणस्स भगवओ महावीरस्स सुइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु। आचारांग, श्रु० २, अ० १५

३ छम्मासेण जिणवरो, होही गब्भम्मि चवणकालाओ।
पाडेइ रयणवुट्ठी, धणओ मासाणि पण्णरस॥ [पउम चरिउ, ३ श्लोक ६७]

४ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टिं दिवो देवा., पातयामासुरादरात्॥ [आदि पुराण. १२, श्लोक ८४]

निधियों से परिपूर्ण करने और उनके जन्म के समय रत्नादि की वृष्टि करने का उल्लेख किया है।

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के बन्दियों को कारागार से मुक्त किया और याचकों एवं सेवकों को मुक्तहस्त से प्रीतिदान दिया। दस दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया गया। समस्त नगर मे बहुत दिनो तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।

जन्मस्थान

महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ विद्वानों मे मतभेद है। कुछ विद्वान् आगम साहित्य में उल्लिखित 'वेसालिय' शब्द को देख कर इनकी जन्मस्थली वैशाली मानते है। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'विशालायां भवः' इस अर्थ में छ प्रत्यय होकर 'वेसालिय' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—वैशाली में उत्पन्न होने वाला।

कुछ विद्वानों के मतानुसार भगवान् का जन्मस्थान 'कुंडनपुर' है तो कुछ के अनुसार क्षत्रियकुंड। क्षत्रियकुंड के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नही है। कुछ इसे मगध देश मे मानते है तो कुछ इसे विदेह में। आचारांग और कल्पसूत्र मे महावीर को विदेहवासी कहा गया है।[1] डॉ० हर्मनजेकोबी ने विदेह का अर्थ विदेहवासी किया है।[2] परन्तु 'विदेह जच्चे' का अर्थ 'देह मे श्रेष्ठ' होना चाहिये, क्योंकि 'जच्चे' जात्यः का अर्थ उत्कृष्ट होता है। कल्पसूत्र के बंगला अनुवादक बसतकुमार चट्टोपाध्याय ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो से भी इसी धारणा का समर्थन होता है। वहाँ कुंडपुर-क्षत्रियकुंड की अवस्थिति जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विदेह के अन्तर्गत मानी है।[4]

---

१ नाए नायपुत्ते, नायकुलचन्दे, विदेहे-विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे [कल्पसूत्र, सू० ११०]

२ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सैक्ट २२. पृ० २५६

३ बसतकुमार लिखते हैं—दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श रूपवान्, आलीन, भद्रक, विनीत, ज्ञात, ज्ञातीपुत्र, ज्ञाती कुलचन्द्र, विदेह, विदेह दत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेह सुकुमार श्रमण भगवान् महावीर त्रिंश वत्सर विदेह देशे काटाइयाँ, माता पितार देवत्व प्राप्ति हइले गुरुजन ओ महत्तर गरणेर अनुमति लइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त करिया छिलेन। कल्प सू० अ० व० कलकत्ता वि० वि० १९५३ ई०

४ (क) विक्रमी पाँचवी सदी के आचार्य पूज्यपाद दशभक्ति मे लिखते है . 'सिद्धार्थनृपति तनयो, भारतवास्ये विदेह कुंडपुरे। पृ० ११६

(ख) विक्रमी आठवी सदी के आचार्य जिनसेन हरिवंश पुराण, खण्ड १, सर्ग २ मे लिखते हैं :

भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।

राज्ञ. कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत् पृथु ॥ २५१।२५२। उत्तरार्द्ध

शास्त्र में 'वेसालिय' शब्द होने के कारण वैशाली से भगवान् का सम्बन्ध प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने माना है, किन्तु उस सम्बन्ध का अर्थ जन्मस्थान मानना ठीक नहीं। मुनि कल्याण विजयजी ने कुंडपुर को वैशाली का उपनगर लिखा है, जबकि विजयेन्द्रसूरि के अनुसार कुंडपुर वैशाली का उपनगर नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र नगर माना गया है। मालूम होता है, दोनों ने दृष्टिभेद से ऐसा उल्लेख किया हो और इसी दृष्टि से ब्राह्मणकुंडग्राम नगर और क्षत्रियकुंडग्राम नगर लिखा गया हो। ये दोनों पृथक्-पृथक् बस्ती के रूप मे होकर भी इतने नजदीक थे कि उनको कुंडपुर के सन्निवेश मानना भी अनुचित नही समझा गया।

दोनों की स्थिति के विषय में भगवती सूत्र के नवें उद्देशगत प्रकरण से अच्छा प्रकाश मिलता है। वहाँ ब्राह्मणकुंड ग्राम से पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंड ग्राम और दोनों के मध्य में बहुशाल चैत्य बतलाया गया है।[1] जैसाकि—

एक बार भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड के बहुशाल चैत्य में पधारे, तब क्षत्रियकुंड के लोग सूचना पाकर वंदन करने को जाने लगे। लोगों को जाते हुए देखकर राजकुमार जमालि भी वंदन को निकले और क्षत्रियकुंड के मध्य से होते हुए ब्राह्मणकुण्ड के बहुशाल चैत्य मे, जहाँ भगवान् महावीर थे, वहाँ पहुँचे। उनके साथ पाँच सौ क्षत्रियकुमारो के दीक्षित होने का वर्णन बतलाता है कि वहाँ क्षत्रियों की बड़ी बस्ती थी। संभव है, बढ़ते हुए विस्तार के कारण ही इनको ग्राम-नगर कहा गया हो।

डॉ० हारनेल ने महावीर का जन्मस्थान कोल्लाग सन्निवेश होना लिखा है, पर यह ठीक नहीं। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् महावीर का जन्मस्थान कुंडपुर के अन्तर्गत क्षत्रियकुंड ग्राम है, मगध या अंग देश नही। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का जन्म मगध या अंग देश मे न हो कर विदेह में हुआ था।

कुछ विद्वानों का कहना है कि महावीर के जन्मस्थान के सम्बन्ध मे शास्त्र के जो उल्लेख हैं, उनमे कुंडपुर शब्द ही आया है, क्षत्रियकुंड नही। आवश्यक निर्युक्ति में कुंडपुर या कुंडग्राम का उल्लेख है[2] और आचारांग सूत्र मे

---

१ (क) तस्सरण माहणकुंडग्गामस्स रणयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थणं खत्तियकुंडग्गामे नामं नयरे होत्था। भ० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१

(ख) जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झमज्झेणं निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव माहणकुंडगामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए।

भ० श० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१।

२ (क) अह चेत्तसुद्ध पक्खस्स, तेरसी पुव्वरत्त कालम्मि
हत्थुत्तराहिं जाओ, कुंडग्गामे महावीरो ॥६१ भा.॥ आ. नि. पृ. २५६

(ख) आवश्यक नि० ३१४।१८०

क्षत्रियकुंडपुर भी आता है। वास्तव में बात यह है कि दोनों स्थानो मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुंड और दक्षिण भाग को ब्राह्मणकुंड कहा गया है। आचारांग सूत्र से भी यह प्रमाणित होता है कि वहाँ दक्षिण में ब्राह्मणकुंड सन्निवेश और उत्तर में क्षत्रियकुंडपुर सन्निवेश था।[1] क्षत्रियकुंड में "ज्ञातृ" क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों में "ज्ञातिक" अथवा "नातिक" नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञातियों की बस्ती होने से इसको ज्ञातृग्राम भी कहा गया है। "ज्ञातृक" की अवस्थिति 'वज्जी' देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुंडपुर क्षत्रियकुंड अथवा "ज्ञातृक" वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था। महापरिनिव्वान सुत्त के चीनी संस्करण मे इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहाँ इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १३/४ मील दूर बताया गया है।[2]

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन में 'वनियां वसाढ' के नाम से प्रसिद्ध है और वसाढ के निकट जो वासुकुंड है, वहाँ पर प्राचीन कुंडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों और ऐतिहासिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुंडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश मे हुआ था। यह 'कुंडपुर' वैशाली का उपनगर नही, किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

महावीर के मातापिता

ज्ञातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थी। डॉ० हार्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा न मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते हैं, जो कि शास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर उपयुक्त नही जंचता। शास्त्रो मे भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिए नही किया जाता।

---

१ दाहिण माहणकुंडपुर सन्निवेसाओ उत्तर खत्तिय कुंडपुर सन्निवेसंसि नायाण खत्तियाण सिद्धत्थस्स....।।आचा० भावना अ० १५

२ (क) Sino Indian Studies vol I, part 4, page 195, July 1945.
(ख) Comparative studies "The parinivvan Sutta and its Chinese version, by Faub
(ग) ली, दूरी मापने का एक पैमाना है। कनिंघम के अनुसार १ ली १।५ मील के बराबर होती है। एन्सियेन्ट जोग्राफी ऑफ इण्डिया।

शास्त्रों में आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नहीं, क्योंकि कल्पसूत्र मे "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उसको राजा भी कहा गया है। इतना ही नहीं, उनके बारे में बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" थे। "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिंदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य अथवा लोक व्यवहार मे नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिए न होकर राजा के लिए ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियों का होना भी शास्त्रों में उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते हैं।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नहीं, अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि मे लिखा है :—क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः' ।[1]

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के लिए, जो क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :—

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र',
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।'

वस्तुत. विपत्ति से बचाने वाले के लिए रूढ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नहीं।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने मे जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओ की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नहीं था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बड़े या छोटे जो भी हो, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनो से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप मे किसी को प्राप्त हो सकते हैं। इस तरह सिद्धार्थ को राजा मानना उचित ही है, इसमे किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार उठने वाली शका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर

---

१ अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

क्षत्रियकुंडपुर भी आता है। वास्तव में बात यह है कि दोनों स्थानो मे कोई मौलिक अन्तर नही है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुंड और दक्षिण भाग को ब्राह्मणकुंड कहा गया है। आचारांग सूत्र से भी यह प्रमाणित होता है कि वहां दक्षिण में ब्राह्मणकुंड सन्निवेश और उत्तर में क्षत्रियकुंडपुर सन्निवेश था।[1] क्षत्रियकुंड में "ज्ञातृ" क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों में "ज्ञातिक" अथवा "नातिक" नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञातियों की बस्ती होने से इसको ज्ञातृग्राम भी कहा गया है। "ज्ञातृक" की अवस्थिति 'वज्जी' देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुंडपुर क्षत्रियकुंड अथवा "ज्ञातृक" वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था। महापरिनिव्वान सुत्त के चीनी संस्करण में इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहां इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १३ मील दूर बताया गया है।[2]

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन में 'वनियां बसाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है और बसाढ के निकट जो वासुकुंड है, वहां पर प्राचीन कुंडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों और ऐतिहासिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुंडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश मे हुआ था। यह 'कुंडपुर' वैशाली का उपनगर नही, किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

महावीर के मातापिता

ज्ञातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थी। डॉ० ह्यर्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा न मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते हैं, जो कि शास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर उपयुक्त नही जंचता। शास्त्रो में भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिए नही किया जाता।

---

१ दाहिण माहणकुंडपुर सन्निवेसाओ उत्तर खत्तिय कुंडपुर सन्निवेससि नायाण खत्तियाण सिद्धत्थस्स....।।आचा० भावना अ० १५

२ (क) Sino Indian Studies vol. I, part 4, page 195, July 1945.

(ख) Comparative studies "The parinivvan Sutta and its Chinese version, by Faub

(ग) ली, दूरी मापने का एक पैमाना है। कनिंघम के अनुसार १ ली १।५ मील के बराबर होती है। एन्सियेन्ट जोग्राफी आफ इण्डिया।

शास्त्रों में आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नही, क्योंकि कल्पसूत्र में "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उसको राजा भी कहा गया है। इतना ही नही, उनके बारे में बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" थे। "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिंदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य अथवा लोक व्यवहार मे नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिए न होकर राजा के लिए ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियों का होना भी शास्त्रों मे उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते हैं।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नही, अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि में लिखा है :—'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः' ।[1]

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के लिए, जो क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :—

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र',
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।'

वस्तुत. विपत्ति से बचाने वाले के लिए रूढ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नही।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने मे जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओं की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नही था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बड़े या छोटे जो भी हो, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनो से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप मे किसी को प्राप्त हो सकते है। इस तरह सिद्धार्थ को राजा मानना उचित ही है, इसमे किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नही देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार उठने वाली शंका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर

१ अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

दिया गया हो, यह नितान्त असंभव सा प्रतीत होता है। क्षत्रियाणी की तरह श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो परम्परा के ग्रन्थों मे देवी रूप में भी त्रिशला का उल्लेख किया गया है। अतः उसे रानी समझने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महावीर चरियं[1], त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[2] और दशभक्ति ग्रन्थ[3] इसके लिए द्रष्टव्य हैं।

सिद्धार्थ को इक्ष्वाकुवंशी और गोत्र से काश्यप कहा गया है। कल्पसूत्र और आचाराग मे सिद्धार्थ के तीन नाम बताये गये हैं: (१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयास और (३) यशस्वी।[4] त्रिशला वासिष्ठ गोत्रीया थी, उनके भी तीन नाम उल्लिखित हैं—(१) त्रिशला, (२) विदेहदिन्ना और (३) प्रियकारिणी। वैशाली के राजा चेटक की बहिन होने से ही इसे विदेहदिन्ना कहा गया है।

नामकरण

नामकरण के सम्बन्ध मे आचारांग मे निम्नलिखित उल्लेख है—निव-त्तदसाहसि वुक्कंतसि सुइभूयंसि विपुल असणपाणखाइमसाइम उवक्खडाविंति २ त्ता मित्तनाइसयणसंबधिवग्ग उवनिमतंति, मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणिमगाहिं भिच्छुडग पडरगाईण विच्छड्डंति विग्गोविंति विस्साणिंति, दायारेसु दाणं, पज्जभाइंति, विच्छड्डित्ता......मित्तनाइसयण-संबंधिवग्गं भुंजाविंति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इमेयारूवं नामधिज्जं कारविंति-जओ णं पभिइ इमे कुमारे तिसलाए ख० कुच्छिसि गब्भे आहूए तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेण हिरण्णेणं सुवण्णेणं धणेण धन्नेण माणिक्केण मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं, अईव अईव परिवड्ढइ, ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे।[5]

दश दिन तक जन्म-महोत्सव मनाये जाने के बाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रों और बन्धुजनों को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उन सबका सत्कार करते हुए कहा—"जब से यह शिशु हमारे कुल में आया है तबसे धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनो मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई

१ (क) तस्स घरे त साहर, तिसला देवीए कुच्छिसि ।५१। [महावीर चरिय, पृ. २८]
(ख) सिद्धत्थो य नरिंदो, तिसला देवी य रायलोओ य ।६८। [महावीर चरिय ३३]

२ दधार त्रिशला देवी, मुदिता गर्भमद्भुतम् ।३३।
देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूप निधाय स ।५५।
उवाच त्रिशला देवी, सदने नस्त्वमागम. ।१४१। [त्रिषष्टि शलाका, प० १०, सर्ग २]

३ देव्या प्रियकारिण्या सुस्वप्नान् सप्रदर्श्य विभु ।४। [दशभक्ति, पृ० ११६]

४ कल्पसूत्र, १०५।१०६ सूत्र। आचाराग भावनाध्ययन

५ (अ) कल्पसूत्र, सूत्र १०३। आचाराग सूत्र, श्रु० २, अ० १५

है, अतः मेरी सम्मति में इसका 'वर्द्धमान'[1] नाम रखना उपयुक्त जँचता है।" उपस्थित लोगो ने राजा की इच्छा का समर्थन किया। फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया। आपके बाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवों ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा।

त्याग-तप की साधना में विशिष्ट श्रम करने के कारण शास्त्र मे आपको 'श्रमण' भी कहा गया है। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न होने से 'भगवान्' और ज्ञातृकुल मे उत्पन्न होने से 'ज्ञातपुत्र' आदि विविध नामो से भी आपका परिचय मिलता है। भद्रबाहु ने कल्पसूत्र मे आपके तीन नाम बताये हैं, यथा :—माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान', सहज प्राप्त सद्बुद्धि के कारण 'समण' अथवा शारीरिक व बौद्धिक शक्ति से तप आदि की साधना में कठिन श्रम करने से 'श्रमण' और परीषहो में निर्भय-अचल रहने से देवों द्वारा 'महावीर' नाम रखा गया।[2]

शिशु जिनेश्वर भ० महावीर के लालन-पालन के लिए पाँच सुयोग्य धाय माताओं को नियुक्त किया गया, एक दूध पिलाने वाली, दूसरी प्रभु को स्नान-मज्जन कराने वाली, तीसरी उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने वाली, चौथी उन्हे क्रीडा कराने वाली और पाँचवी प्रभु को एक गोद से दूसरी गोद में बाल-लीलाएँ करवाने वाली धाय। माता त्रिशला महारानी और इन पाँच धाय माताओ के प्रगाढ दुलार से ओतप्रोत लालन-पालन और सतर्क देख-रेख मे प्रभु महावीर शुक्ल पक्षीया द्वितीया के चन्द्र के समान निर्विघ्न रूप से उत्तरोत्तर इस कारन अभिवर्द्धित होने लगे, मानो गगनचुम्बी गिरिराज की सुरम्य गहन गुहा मे पनपा हुआ कल्पवृक्ष का पौधा बढ रहा हो। तीन ज्ञान के धनी शिशु महावीर इस प्रकार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होते हुए स्वतः एक व्यवहार ज्ञान को सँजो लौकिक ज्ञान-विज्ञान मे निष्णात हो क्रमश. बाल वय से किशोर वय मे और किशोर वय से युवावस्था मे प्रविष्ट हुए और अतीव सुखद-सुन्दर शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पाँच प्रकार के मानवीय उत्तम भोगोपभोगो का निस्संग भाव से उपभोग करते हुए विचरण करने लगे।[3]

संगोपन और बालक्रीड़ा

महावीर का लालन-पालन राजपुत्रोचित सुसम्मान के साथ हुआ। इनकी

---

१ कल्पसूत्र, सूत्र १०३

२ कल्पसूत्र, १०४

३ तओ ण समणे भगव महावीरे पंचधाइपरिवुडे..........विण्णाय-परिणय (मित्ते) विणियत बालभावे अप्पुस्सुयाइ उरालाइ माणुस्सगाइ पचलक्खणाइ कामभोगाइ सद्द फरिसरसरूवगन्धाइ परियारेमाणे एव च ण विहरेइ।

[आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५]

सेवा-शुश्रूषा के लिए पाँच परम दक्ष धाइयाँ नियुक्त की गईं, जो कि अपने-अपने काय को यथासमय विधिवत् निष्ठापूर्वक संपादित करती। उनमे से एक का काम दूध पिलाना, दूसरी का स्नान-मंडन कराना, तीसरी का वस्त्रादि पहनाना, चौथी का क्रीडा कराना और पाँचवी का काम गोद में खिलाना था।

बालक महावीर की बालक्रीड़ाएँ केवल मनोरजक ही नही अपितु शिक्षा-प्रद एवं बलवर्द्धक भी होती थी। एक बार आप समवयस्क साथियों के साथ राजभवन के उद्यान मे 'संकुली' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इनकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी, पर साहस और निर्भयता में आपकी तुलना करने वाला कोई नही था।

कुमार की निर्भयता देख कर एक बार देवपति शक्र ने देवों के समक्ष उनकी प्रशसा करते हुए कहा—"भरत क्षेत्र मे बालक महावीर बाल्यकाल मे ही इतने साहसी और पराक्रमी है कि देव-दानव और मानव कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।"

इन्द्र के इस कथन पर एक देव को विश्वास नही हुआ और वह परीक्षा के लिए महावीर के क्रीड़ा-प्रांगण में आया।

संकुली खेल की यह रीति है कि किसी वृक्ष-विशेष को लक्षित कर सभी क्रीड़ारत बालक उस ओर दौडते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ कर उतर आता है, वह विजयी माना जाता है और पराजित बालक के कन्धे पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती है।

परीक्षक देव विकट विषधर सर्प का रूप बना कर वृक्ष के तने पर लिपट गया और फूत्कार करने लगा। महावीर उस समय पेड़ पर चढ़े हुए थे। उस भयकर सर्प को देखते ही सभी बालक डर के मारे इधर-उधर भागने लगे, किन्तु महावीर तनिक भी विचलित नही हुए। उन्होंने भागने वाले साथियो से कहा—"तुम सब भागते क्यों हो? यह छोटा सा प्राणी अपना क्या बिगाड़ने वाला है? इसके तो केवल मुँह ही है, हम सब के पास तो दो हाथ, दो पैर, एक मुख, मस्तिष्क और बुद्धि आदि बहुत से साधन हैं। आओ, इसे पकड कर अभी दूर फेंक आयें।"

यह सुन कर सभी बच्चे एक साथ बोल उठे—"महावीर, भूल से भी इसको छूना नहीं, इसके काटने से आदमी मर जाता है।" ऐसा कह कर सब बच्चे वहाँ से भाग गये। महावीर ने निःशंक भाव से बायें हाथ से सर्प को पकडा और रज्जु की तरह उठा कर उसे एक ओर डाल दिया।[1]

---

१ (क) चेडरूवेहिं सम सुंकलिकडएण अभिरमति। [आ. चू., पृ. २४९ पूर्वभाग]
(ख) स्मित्वा रज्जुमिवोत्क्षिप्य, तं चिक्षेप क्षितौ विभु। त्रि. पु. च., १०।२।१०७ श्लो.

महावीर द्वारा सर्प के हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहाँ चले आये और तिंदुसक खेल खेलने लगे। यह खेल दो-दो बालकों में खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते हैं और दोनों में से जो वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता है। इस खेल का नियम है कि विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।[1] परीक्षार्थी देव भी बालक का रूप बना कर खेल की टोली में सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड़ में पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप में उपस्थित होना पड़ा। महावीर उस पर आरूढ़ होकर नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और उनका अपहरण करने के लिए सात ताड़ के बराबर ऊँचा और भयावह शरीर बना कर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देख कर सभी बालक घबरा गये परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय चलते रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वंचना करना चाहता है। ऐसा सोच कर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की तरह उसका फूला हुआ शरीर दब कर वामन हो गया।[2] उस देव का मिथ्याभिमान चूर-चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा—"वर्द्धमान! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव में आप वीर ही नहीं, महावीर हैं।" इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बाल्यावस्था से ही अनुपम थी।

तीर्थंकर का अतुल बल

भगवान् महावीर जन्म से ही अतुल बली थे। उनके बल की उपमा देते हुए कहा गया है कि—बारह सुभटों का बल एक वृषभ में, वृषभ से दश गुना बल एक अश्व में, अश्व से बारह गुना बल एक महिष में, महिष से पन्द्रह गुना बल एक गज में, पाँच सौ गजों का बल एक केशरीसिंह में, दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में, दस लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव में, वासुदेव से द्विगुणित बल एक चक्रवर्ती में, चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नागेन्द्र में, नागेन्द्र से करोड़ गुना बल एक इन्द्र में और इन्द्र से अनन्त गुना अधिक बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकर के बल की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनका बल

१ तस्स तेसु रुक्खेसु जो पढमं विलग्गति, जो पढम ओलुगति सो चेड रूवाणि वाहेति ॥
आव० चू० भा० १, पत्र २४६

२ (क) स अमरस्तीर्थनाथ, यावत्तावन्महौजसा।
फाहत्य मुष्टिना पृष्ठे, स्वामिना वामनीकृतः। त्रि पु. च.. १०।२ श्लो. २१७
(ख) आव. चू. १ भा., पृ. २४६

जन्म-जन्मान्तर की करणी से सचित होता है। उनका शारीरिक संहनन वज्र-ऋषभनाराच और संस्थान समचतुरस्र होता है।

महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्म-सिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नही था। उन्होने परम्परा-नुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास ले जाया जा रहा है तो उन्हे आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी पंडित क्या पढायेगा।

उसी समय वे निमेषार्ध मे विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे वहाँ प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरो को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पंडित ने भी अपनी कुछ शकाएँ वालक महावीर के सामने रखी और उनका सम्यक् समाधान पा कर वह अवाक् रह गया।

जब पंडित बालक वर्द्धमान की ओर साश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा—"पडितजी ! यह साधारण बालक नही, विद्या का सागर और सकल शास्त्रो का पारगत महापुरुष है।" जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान होने के कारण ये सव विद्याए जानते हैं। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्काल प्रश्नोत्तरो का सग्रह कर 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।[1]

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर का इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और बोले—"हमे पता नही था कि हमारा कुमार इस प्रकार का 'गुरूणां गुरु' है।"

यशोदा से विवाह

वाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्द्धमान युवावस्था मे आये तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान-महावीर के मित्रो के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नही चाहते थे क्योंकि वे सहज-विरक्त थे। अत. पहले तो उन्होंनें इस प्रस्ताव का विरोध किया

---

१ अन्नया अधितअट्ठवासजातं.........तप्पभिति च ण ऐंद्र व्याकरण सवृत्तं,
[आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४८]

और अपने मित्रों से कहा—"प्रिय मित्रो ! तुम विवाह के लिये जो आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग मे रोग का भय भी भुलाने की वस्तु नही है। माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो, इसलिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षा नही ले रहा हूँ।"

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रो में परस्पर इस प्रकार की बात हो ही रही थी तभी माता त्रिशलादेवी वहा आ पहुची। भगवान् ने खडे होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया। माता त्रिशला ने कहा—"वर्द्धमान ! मैं जानती हूं कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रवल इच्छा है कि तुम एक बार योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततोगत्वा माता-पिता के अनवरत प्रबल आग्रह के समक्ष महावीर को झुकना पड़ा और वसतपुर के महासामन्त समरवीर की सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री यशोदा[1] के साथ शुभ-मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। सच है, भोग-कर्म तीर्थंकर को भी नहीं छोडते।

गर्भकाल में ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नही करेंगे। माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर का विवाह-बन्धन में बंधना पड़ा।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शकाशील है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति आदि सभी ग्रन्थों में विवाह होने का उल्लेख है। पर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे यह स्वीकृत नही है, पर माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओं द्वारा अपनी कन्याओ के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थो मे भी मिलता है। भगवान् महावीर विवाहित थे या नहीं, इस शंका का आधार शास्त्र में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द है। उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है। दोनो परम्पराओं मे वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरो को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और

---

१ उम्मुक्क बालभावो कमेण अह जोव्वण अणुपत्तो।
भोगसमत्थ णाउं, अम्मापियरो उ वीरस्स। ७८
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामंत कुलप्पसूयाए।
कारेन्ति पाणिग्गहणं, जसोयवर रायकण्णाए। ७६

[आ० नि० भा०, पृ० २५६]

जन्म-जन्मान्तर की करणी से संचित होता है। उनका शारीरिक संहनन वज्र-ऋषभनाराच और संस्थान समचतुरस्र होता है।

महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्म-सिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नहीं था। उन्होंने परम्परानुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेंट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास ले जाया जा रहा है तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी पंडित क्या पढ़ायेगा।

उसी समय वे निमेषार्ध मे विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे वहाँ प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरो को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पंडित ने भी अपनी कुछ शकाएँ बालक महावीर के सामने रखीं और उनका सम्यक् समाधान पा कर वह अवाक् रह गया।

जब पंडित बालक वर्द्धमान की ओर साश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा—"पंडितजी ! यह साधारण बालक नही, विद्या का सागर और सकल शास्त्रो का पारगत महापुरुष है।" जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान होने के कारण ये सब विद्याए जानते है। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्काल प्रश्नोत्तरो का सग्रह कर 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।[1]

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर की इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और बोले—"हमे पता नही था कि हमारा कुमार इस प्रकार का 'गुरूणा गुरु' है।"

यशोदा से विवाह

बाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्द्धमान युवावस्था मे आये तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान—महावीर के मित्रो के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नही चाहते थे क्योंकि वे सहज-विरक्त थे। अत. पहले तो उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया

---

१ अम्मया अधितमट्ठवासजाते······ तप्पभिति च ण ऐंद्र व्याकरण सवृत्त,
[आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४८]

और अपने मित्रों से कहा—"प्रिय मित्रो ! तुम विवाह के लिये जो आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग मे रोग का भय भी भुलाने की वस्तु नही है। माता-पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो, इसलिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षा नही ले रहा हूं।"

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रो मे परस्पर इस प्रकार की बात हो ही रही थी तभी माता त्रिशलादेवी वहां आ पहुंची। भगवान् ने खड़े होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया। माता त्रिशला ने कहा—"वर्द्धमान ! मैं जानती हू कि तुम भोगो से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रबल इच्छा है कि तुम एक बार योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततोगत्वा माता-पिता के अनवरत प्रबल आग्रह के समक्ष महावीर को झुकना पड़ा और वसतपुर के महासामन्त समरवीर की सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री यशोदा[1] के साथ शुभ-मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। सच है, भोग-कर्म तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ते।

गर्भकाल मे ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेगे, वे दीक्षा ग्रहण नही करेगे। माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर को विवाह-बन्धन मे बँधना पड़ा।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शकाशील हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति आदि सभी ग्रन्थों में विवाह होने का उल्लेख है। पर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे यह स्वीकृत नही है, पर माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओ द्वारा अपनी कन्याओं के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थो मे भी मिलता है। भगवान् महावीर विवाहित थे या नही, इस शंका का आधार शास्त्र में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द है। उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है। दोनो परम्पराओं मे वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरो को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और

---

1 उम्मुक्क बालभावो कमेण अह जोव्वण अणुपत्तो।
भोगसमत्थ णाउ, अम्मापियरो उ वीरस्स। ७८
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामत कुलप्पसूयाए।
कारेन्ति पाणिग्गहण, जसोयवर रायकण्णाए। ७९

[आ० नि० भा०, पृ० २५९]

अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एक एकविंशतिस्थान प्रकरण[1] की टीका में लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण[2] मे भी पांच तीर्थंकरो के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरो के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश मे स्पष्ट रूप मे लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नही थे, अत. उन्होने बिना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[3]

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुंआरा-अविवाहित नही होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है[4] इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिआभिसेया, कुमार वासमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास मे प्रव्रज्या लेना माना है।

माता-पिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार में रहकर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके संसार-वास का प्रमुख कारण था—कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था—माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया। दोषों से दूर हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया। डाभ के सथारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार के

---

१ एकविंशतिस्थान प्रकरण में कहा है . 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्ज काउ सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था मे प्रव्रजित हुए। शेष तीर्थंकरो ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

२ कुमाराः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ॥ पद्म० पु०, २०।६७

३ अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाही, कृतोद्वाहापरे जिना·।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

४ (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके। शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८
(ख) युवराज. कुमारो भर्तृदारक.। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६
(ग) कुमार-सन, बॉय, यूथ, ए बॉय बिलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे सस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।
(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक ॥ अमरकोष, काड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

त्याग क साथ उन्होने संथारा ग्रहण किया और तत्पश्चात् अपश्चिम मरणान्तिक सलेखना से भूषित शरीर वाले वे काल के समय मे काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) मे देव रूप से उत्पन्न हुए।[1] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह मे उत्पन्न होगे और सिद्धि प्राप्त करेगे।

भ० महावीर के माता-पिता के स्वर्गारोहण के सम्बन्ध मे आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वे अध्ययन में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइ वासाइ समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिकम्मित्ता अहारिह उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारग दुरूहिता भत्त पच्चक्खायति २ अपच्छिमाए मारणतियाए संलेहणाए झूसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा त सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना,, तओ ण आउक्खएण, भवक्खएणं, टिइक्खएणं चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेण उस्सासेण सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमतं करिस्संति।

त्याग की ओर

माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनो के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुनकर बहुत दु खी हुए और बोले—"भाई! अभी माता-पिता के वियोगजन्य दु ख को तो हम भूल ही नही पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः कुछ काल के लिए ठहरो. फिर प्रव्रज्या लेना। तब तक हम गत-शोक हो जायं।"[2]

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि उन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय उनके प्रव्रजित होने पर वे सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड़ देंगे। ऐसा सोच कर उन्होने कहा—"अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा?" इस पर स्वजनो ने कहा—"कम से कम अभी दो वर्ष तक तो

---

१ समणस्सण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।.........अच्चुएकप्पे देवताए उववण्णा।.........महाविदेहवासे चरिमेण।

[आवश्यक चू., १ भा पृ. २४९]

२ अच्छह कंचिकालं, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा. २।१५। (भावना)

अविवाहित दोनो मान लिया जाय जैसा कि एक एकविंशतिस्थान प्रकरण[1] की टीका मे लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण[2] मे भी पांच तीर्थंकरो के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरो के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश मे स्पष्ट रूप मे लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नही थे, अतः उन्होने विना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[3]

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुआरा-अविवाहित नही होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है[4] इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिअभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नही करने से कुमारवास मे प्रव्रज्या लेना माना है।

माता-पिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार मे रहकर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके संसार-वास का प्रमुख कारण था—कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था—माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया। दोषों से दूर हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया। डाभ के सथारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार के

---

१ एकविंशतिस्थान प्रकरण मे कहा है . 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्ज काउ सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था मे प्रव्रजित हुए। शेष तीर्थंकरो ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

२ कुमारा. निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ॥ पद्म० पु०, २०।६७

३ अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाही, कृतोद्वाहापरे जिनाः।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

४ (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके। शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८
(ख) युवराज. कुमारो भर्तृदारक.। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६
(ग) कुमार-सन, बॉय, यूथ, ए बॉय बिलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे संस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।
(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक ॥ अमरकोष, काड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

त्याग क साथ उन्होने सथारा ग्रहण किया और तत्पश्चात् अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना से भूषित शरीर वाले वे काल के समय मे काल कर अच्युत कल्प (बारहवे स्वर्ग) मे देव रूप से उत्पन्न हुए।[1] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह मे उत्पन्न होगे और सिद्धि प्राप्त करेगे।

भ० महावीर के माता-पिता के स्वर्गारोहण के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५ वे अध्ययन मे जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावचिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइ वासाइ समणोवासगपरियाग पालइत्ता छण्ह जीवनिकायाण सारक्खणनिमित्त आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिकम्मित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरूहित्ता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए सलेहणाए झूसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा त सरीर विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना,, तओ ण आउक्खएण, भवक्खएण, टिइक्खएणं चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेण सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्व-दुक्खाणमत करिस्संति।

त्याग की ओर

माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुनकर बहुत दु:खी हुए और बोले—"भाई! अभी माता-पिता के वियोगजन्य दु:ख को तो हम भूल ही नही पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अत. कुछ काल के लिए ठहरो. फिर प्रव्रज्या लेना। तब तक हम गत-शोक हो जाय।"[2]

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि उन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय उनके प्रव्रजित होने पर वे सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड देंगे। ऐसा सोच कर उन्होंने कहा—"अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा?" इस पर स्वजनो ने कहा—"कम से कम अभी दो वर्ष तक तो

---

१ समणस्सणं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।..........अच्चुएकप्पे देवत्ताए उववण्णा।..........महाविदेहवासे चरिमेण।
[आवश्यक चू., १ भा. पृ. २४९]

२ अच्छह कंचिकाल, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा. २।१५। (भावना)

ठहरना ही चाहिए।" महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले—"इस अवधि मे मैं आहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा।" स्वजनो ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर मे रहे, पर उन्होने सचित्त जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नहीं किया। ब्रह्मचर्य का भी पालन किया।[1] टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि मे प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएं भी अचित्त जल से ही करते थे। भूमि-शयन करते एव क्रोधादि से रहित हो एकत्व भाव मे लीन रहते।[2] इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान करते हुए उन्होने वर्ष भर मे तीन अरब अठ्यासी करोड एव अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओ का दान किया।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई। उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे—"भगवन्! मुनि दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवो के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।"

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की। नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषो को आदेश दिया—"एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि कलश तैयार करो।"

आचाराग सूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियो के समूह अपने-अपने विमानो से सम्पूर्ण ऋद्धि और कान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश मे उतरे। वहाँ उन्होने वैक्रियशक्ति से सिंहासन की रचना की। सबने मिल कर महावीर को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। उन्होने शतपाक एव सहस्रपाक तेल से महावीर का अभ्यगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन

१ (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खते, अफासुग आहारं राइभत्तं च अणाहारेंतो अविसाहिए दुते वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खते [आव. चूर्णि पृ. २४९]
(ख) आचा., प्र. ९, अ. ११।

२ (क) आचा. प्र. टीका, पृ २७५। समिति
(ख) बभयारी असजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेण विण्हातो, हत्थपादसोयण तु फासुगेण आयमण च।…… एग बंभचेरहिं अतिणेह कतव। आव. चू १, पृ २४९

कराया। गन्धकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछा और गोशीर्ष चन्दन का लेपन किया। भार मे हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण पहनाये। कल्पवृक्ष की तरह समलंकृत कर देवो ने वर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका मे आरूढ किया। मनुष्यो, इन्द्रो और देवों ने मिल कर शिविका को उठाया।

राजा नंदिवर्धन गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे। प्रभु की पालकी के आगे घोड़े, दोनो ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग मे होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान मे आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। आभूषणो एव वस्त्रो को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पंच-मुष्टि लोच किया। वैश्रमण देव ने हंस के समान श्वेत वस्त्र मे महावीर के वस्त्रालंकार ग्रहण किये। शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल में प्रभु के लुंचित केश ग्रहण किये तथा "अनुजानासि" कह कर तत्काल क्षीर सागर मे उनका विसर्जन किया।

दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। ऐसे शुभ समय में निर्जल बेले की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसंग पर बजने वाले वाद्य भी बन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

प्रभु ने देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के समक्ष सिद्धों को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की—"सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं"। अब से मेरे लिए सब पाप-कर्म अकरणीय हैं, अर्थात् मैं आज से किसी भी प्रकार के पाप-कार्य में प्रवृत्ति नहीं करूंगा। यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। उन्होने प्रतिज्ञा की—"करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"। आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं।"

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की, उस समय देव-मनुष्यों की सम्पूर्ण परिषद् चित्रलिखित सी रह गई। सभी देव और मनुष्य शान्त एवं निर्निमेष-नेत्रों से उस नयनाभिराम एवं अन्तस्तलस्पर्शी दृश्य को देख रहे थे, जो राग पर त्याग की विजय के रूप में उन सबके सामने प्रत्यक्ष था।

---

१ (क) दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेण।
णिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ॥१॥ आवा. भा.।
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २६२

ठहरना ही चाहिए ।" महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले—"इस अवधि मे मैं आहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा ।" स्वजनों ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की ।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर मे रहे, पर उन्होंने सचित्त जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नहीं किया । ब्रह्मचर्य का भी पालन किया ।[1] टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि मे प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था । वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाए भी अचित्त जल से ही करते थे । भूमि-शयन करते एव क्रोधादि से रहित हो एकत्व भाव मे लीन रहते ।[2] इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया । प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान करते हुए उन्होने वर्ष भर मे तीन अरब अठ्यासी करोड एवं अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओ का दान किया ।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई । उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे —"भगवन् ! मुनि दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवो के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये ।"

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की । नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषो को आदेश दिया—"एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि कलश तैयार करो ।"

आचाराग सूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियो के समूह अपने-अपने विमानो से सम्पूर्ण ऋद्धि और कान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश मे उतरे । वहाँ उन्होने वैक्रियशक्ति से सिहासन की रचना की । सबने मिल कर महावीर को सिहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया । उन्होंने शतपाक एव सहस्रपाक तेल से महावीर का अभ्यगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन

---

१ (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खते, अफासुग आहारं राइभत्तं च अणाहारेंतो अविसाहिए दुते वासे, सीतोद अभोच्चा णिक्खते [आव. चूणि. पृ.२४९]

(ख) आचा., अ. ९, अ, ११ ।

२ (क) आचा. प्र. टीका, पृ २७५ । समिति

(ख) बभयारी असंजमवावाररहितो ठिम्रो, ण य फासुगेण विण्हातो, हत्थपादसोयण तु फासुगेण आयमण च ।.........णय बधवेहिवि अतिणेह कतव । आव. चू १, पृ २४९

कराया। गन्धकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछा और गोशीर्ष चन्दन का लेपन किया। भार मे हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण पहनाये। कल्पवृक्ष की तरह समलंकृत कर देवो ने वर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका मे आरूढ़ किया। मनुष्यों, इन्द्रो और देवो ने मिल कर शिविका को उठाया।

राजा नंदिवर्धन गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे। प्रभु की पालकी के आगे घोड़े, दोनो ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग में होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान में आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। आभूषणों एव वस्त्रों को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पंच-मुष्टि लोच किया। वैश्रमण देव ने हंस के समान श्वेत वस्त्र मे महावीर के वस्त्रालंकार ग्रहण किये। शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल में प्रभु के लुंचित केश ग्रहण किये तथा "अनुज्ञानासि" कह कर तत्काल क्षीर सागर में उनका विसर्जन किया।

दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। ऐसे शुभ समय में निर्जल बेले की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसंग पर बजने वाले वाद्य भी बन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

प्रभु ने देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के समक्ष सिद्धों को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की—"सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं"। अब से मेरे लिए सब पाप-कर्म अकरणीय हैं, अर्थात् मैं आज से किसी भी प्रकार के पाप-कार्य में प्रवृत्ति नहीं करूंगा। यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की—"करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"। आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं।"

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की, उस समय देव-मनुष्यों की सम्पूर्ण परिषद् चित्रलिखित सी रह गई। सभी देव और मनुष्य शान्त एवं निर्निमेष-नेत्रों से उस नयनाभिराम एवं अन्तस्तलस्पर्शी दृश्य को देख रहे थे, जो राग पर त्याग की विजय के रूप में उन सबके सामने प्रत्यक्ष था।

---

१ (क) दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेणं।'
खिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ॥१॥ आवा. भा.।
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २६२

महावीर के सामने सुख-साधनो की कोई कमी नही थी और न कमी थी चाहने वालों की, प्यार और सत्कार करने वालो की, फिर भी सब कुछ ठुकरा कर वे साधना के कटकाकीर्ण पथ पर वढ चले। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान् को मन.पर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियो के मनोगत भावो को महावीर जानने लगे।

महावीर का अभिग्रह और विहार

सबको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :—

"आज से साढे बारह वर्ष पर्यन्त, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक मैं देह की ममता छोड कर रहूंगा, अर्थात् इस बीच मे देव, मनुष्य या तिर्यंच जीवो की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्रूपेण सहन करू गा।[1] अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहाँ उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए को तब तक देखता रहा, जब तक कि वे उनकी आंखों से ओझल नही हो गये। भगवान् सध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कुर्मारग्राम पहुचे,[2] तथा वहाँ ध्यानावस्थित हो गये।

कई आचार्यों की मान्यता है कि साधना मार्ग मे प्रविष्ट होकर जब भगवान् ने विहार किया तो मार्ग मे एक वृद्ध ब्राह्मण मिला, जो वर्षीदान के समय नही पहुच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कंधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र मे से आधा फाड़ कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र मे आधा वस्त्र फाडकर देने का उल्लेख नही है। आचारांग और कल्पसूत्र मे १३ मास के बाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर ब्राह्मण को आधा देने का उल्लेख नही है। हां, चूर्णि टीका आदि मे ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुर्मारग्राम के बाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खडे थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलो सहित वहाँ आया। उसने महावीर के

---

१ बारस वासाई वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जति, त जहा, दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे सम्म सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ॥ आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३९१।

२ तओ णं समणस्स भगवओ........दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगाम समणुपत्ते।

[आचारांग भावना]

पास बैलो को चरने के लिये छोड दिया ग्रौर गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गांव मे चला गया। पशु-स्वभाव के ग्रनुसार बैल चरते-चरते वहां से बहुत दूर कही निकल गये। कुछ समय बाद जब ग्वाला लौट कर वहां ग्राया, तो बैलों को वहां न देख कर उसने पास खडे महावीर से पूछा—"कहो, हमारे बैल कहा गये ?' घ्यानस्थ महावीर की ग्रोर से कोई उत्तर नही मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूंढने के लिये जगल की ग्रोर चला गया। संयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे बैल नही मिले।

कालान्तर में बैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास ग्राकर बैठ गये। बैल नही मिलने पर उद्विग्न ग्वाला प्रातःकाल वापिस महावीर के पास ग्राया ग्रौर ग्रपने बैलों को वहां बैठे देख कर ग्राग बबूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर बैलों को कही छिपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हें बैल बांधने की रस्सी से मारने दौडा।

इन्द्र, जो भगवान् की प्राथमिक चर्या को जानना चाहता था, उसने जब यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है, तो वह भगवान् के रक्षार्थ निमेषार्ध मे ही वहां ग्रा पहुंचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट होकर कहा—"ग्रो मूर्ख! तू क्या कर रहा है? क्या तू नही जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान महावीर हैं? ग्रात्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना मे लीन हैं।"[1]

इस घटना के बाद इन्द्र भगवान् से ग्रपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा—"ग्रर्हन्त केवलज्ञान ग्रौर सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नही लेते जिनेन्द्र ग्रपने बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।" फिर भी इन्द्र ने ग्रपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया ग्रौर स्वयं भगवान् को वन्दन कर चला गया।[2]

दूसरे दिन भगवान् वहां से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में ग्राये ग्रौर वहां बहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी ग्रौर शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर)

---

१ त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

२ (क) ग्राव० चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।

(ख) नापेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः पर साहायिकं क्वचित्। २६

केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।

स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्। ३१।

त्रि० श० पु० च०, १०।३।२६ से ३३।

से उन्होने छट्ठ तप का प्रथम पारणा किया ।[1] 'अहो दानमहो दानम्' के दिव्यघोष के साथ देवगण ने नभामण्डल से पंच-दिव्यो की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की ।

भगवान् महावीर की साधना

आचारांगसूत्र और कल्पसूत्र मे महावीर की साधना का बहुत विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षित होकर महावीर ने अपने पास देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नही रखा । लगभग तेरह मास तक वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर रहा । तत्पश्चात् उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्णरूपेण अचेल हो गये ।

अपने साधनाकाल मे वे कभी निर्जन झोंपडी, कभी कुटिया, कभी धर्मशाला या प्याऊ में निवास करते थे । शीतकाल मे भयंकर से भयंकर ठंड पडने पर भी वे कभी बाहुओ को नही समेटते थे । वे नितान्त सहज मुद्रा में दोनों हाथ फैलाये विचरते रहे । शिशिरकाल मे जब जोर-जोर से सनसनाता हुआ पवन चलता, कड़कड़ाती सर्दी जब शरीर को ठिठुरा कर असह्य पीड़ा पहुंचाती, उस समय दूसरे साधक शीत से बचने हेतु गर्म स्थान की गवेषणा करते, गर्म वस्त्र बदन पर लपेटते और तापस आग जला कर सर्दी से बचने का प्रयत्न करते, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ऐसे समय मे भी खुले स्थान मे नगे खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नही करते ।[2]

खुले शरीर होने के कारण सर्दी-गर्मी के अतिरिक्त उनको दंश, मशक आदि के कष्ट एवं अनेक कोमल तथा कठोर-स्पर्श भी सहन करने पड़ते । निवास-प्रसंग मे भी, जो प्राय: शून्य स्थानों में होता, प्रभु को विविध उपसर्गों का सामना करना पडता । कभी सर्पादि विषैले जन्तु और काक, गीध आदि तीक्ष्ण चञ्चु वाले पक्षियो के प्रहार भी सहन करने पड़ते ।

कभी-कभी साधनाकाल में दुष्ट लोग उन्हें चोर समझ कर उन पर शस्त्रों से प्रहार करते, एकान्त मे पीटते और अत्यधिक तिरस्कार करते । कामातुर नारियां उन्हे भोग-भावना से विमुख देख विविध उपसर्ग देती, किन्तु उन सारी बाधाओ और उपसर्गों के बीच भी प्रभु समभाव से अचल, शान्त और समाधिस्थ रहते, कभी किसी प्रकार से मन मे उद्वेग नही लाते और रात-दिन समाधिभाव

---

१ (ग) आचारांग द्वितीय भावना ।।

(ख) बीय दिवसे छट्ठ पारणए कोल्लाए सन्निवेसे घयमहुसजुत्तेण परमन्नेण बहुलेण माहणेण पडिलाभितो, पच दिव्वा । आव० चू०, २७० पृ० ।

२ आ० प्र०, ९।१।४५

से ध्यान करते रहते । जहाँ भी कोई स्थान छोडने के लिये कहता, सहर्ष वहाँ से हट जाते थे । साधनाकाल मे महावीर ने प्राय: कभो नीद नही ली, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जब उन्हे निद्रा सताती तो वे खडे हो जाते अथवा रात्रि मे कुछ समय चंक्रमण कर नीद को भगा देते थे । इस प्रकार प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रह कर वे निरन्तर ध्यान, चिन्तन और कायोत्सर्ग मे रमण करते ।

विहार के प्रसंग मे प्रभु कभी अगल-बगल मे या मुड़कर पीछे की ओर भी नही देखते । मार्ग मे वे किसी से बोलते नही थे । क्षुधा-शान्ति के लिये वे कभी आधाकर्मी या अन्य सदोष आहार ग्रहण नही करते थे । लाभालाभ मे समभाव रखते हुए वे घर-घर भिक्षाचर्या करते । महल, झोपडी या धनी-निर्धन का उनकी भिक्षाचर्या मे कोई भेद-भाव नही होता था । साथ ही आहार के लिये वे कभी किसी के आगे दीन-भाव भी नही दिखाते थे । सुस्वादु पदार्थो की आकांक्षा न करते हुए अवसर पर जो भी रूखा-सूखा ठंडा-बासी, उडद, सूखा भात, यथु-बोर की कुट्टी आदि आहार मिल जाता उसे वे निस्पृह भाव से ग्रहण कर लेते ।[१]

शरीर के प्रति महावीर की निर्मोह भावना बडी आश्चर्योत्पादक थी । वे न सिर्फ शीतातप की ही उपेक्षा करते थे बल्कि रोग उत्पन्न होने पर भी कभी औषधसेवन नहीं करते थे । आँख में रज-कण आदि के पड जाने पर भी वे उसे निकालने की इच्छा नही रखते थे । कारणवश शरीर खुजलाने तक का भी वे प्रयत्न नही करते थे । इस तरह देह के ममत्व से अत्यन्त ऊपर उठ कर वे सदेह होते हुए भी देह मुक्त से, विदेहवत् पतीत होते थे ।

दीक्षा के समय जो दिव्य सुगन्धित वस्त्र और विलेपन उनके शरीर पर थे, उनकी उत्कट सुवास-सुगन्ध से आकृष्ट होकर चार मास तक भ्रमर आदि सुरभिप्रेमी कीट उनके शरीर पर मॅंडराते रहे और अपने तीक्ष्ण दंश से पीड़ा पहुंचाते रहे, मास को नोचते रहे, कीड़े शरीर का रक्त पीते रहे, पर महावीर ने कभी उफ् तक नही किया और न उनका निवारण ही किया । वस्तुत: साधना की ऐसी अनुपम सहिष्णुता का उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है ।

साधना का प्रथम वर्ष

'कोल्लाग' सन्निवेश से विहार कर भगवान् महावीर 'मोराक' सन्निवेश पधारे । वहाँ का 'दूइज्जतक' नाम के पाषंडस्थों के आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था । महावीर को आते देख कर वह स्वागतार्थ सामने आया

---

१ अविसूइयं वा, सुक्कं वा सीयपिंड पुराण कुम्मास । अदुबुक्कस पुलाग वा,
[आचाराग आ० ४]

और उनसे वहाँ ठहरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना को मान देकर महावीर ने रात्रिपर्यन्त वहाँ रहना स्वीकार किया।[1]

दूसरे दिन जब महावीर वहाँ से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने भावपूर्ण आग्रह के साथ कहा—"यह आश्रम दूसरे का नहीं, आपका ही है, अतः वर्षाकाल में यही रहें तो बहुत अच्छा रहेगा।" कुलपति की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् कुछ समय के लिये आसपास के ग्रामों में घूम कर पुनः वर्षावास के लिये वहीं आ गये और वहीं एक पर्णकुटी में रहने लगे।

महावीर के हृदय मे प्राणिमात्र के लिये मैत्री-भावना थी। किसी का कष्ट देख कर उनका मन दया से द्रवित हो जाता था। यथासंभव किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना, यह उनका अटल संकल्प था। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त रूप से वर्षा नहीं होने के कारण कृषि तो दरकिनार, घास, दूब, वल्लरी, पत्ते आदि तक भी अंकुरित नहीं हुए। परिणामतः भूखों मरती गायें आश्रम की झोंपड़ियों के तृण खाने लगी। अन्यान्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजक गायों को भगा कर अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते, पर महावीर सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी और निःस्पृह होने के कारण सहज भाव से ध्यान में खड़े रहे। उनके मन मे न कुलपति पर राग था और न गायों पर द्वेष। वे पूर्ण निर्मोही थे। किसी को पीड़ा पहुंचाना उनके साधु-हृदय को स्वीकार नहीं हुआ। अतः वे इन बातो की ओर ध्यान न देकर रात-दिन अपने ध्यान में ही निमग्न रहे।

जब दूसरे तापसों ने कुलपति से कुटी की रक्षा न करने के सम्बन्ध में महावीर की शिकायत की तो मधुर उपालम्भ देते हुए कुलपति ने महावीर से कहा—"कुमार ! ऐसी उदासीनता किस काम की ? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करता है, फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। क्या आप अपनी झोंपड़ी भी नहीं सँभाल सकते ?" महावीर को कुलपति की बात नहीं जँची। उन्होने सोचा—"मेरे यहां रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है, कुटी की रक्षा का प्रश्न तो एक बहाना मात्र है। सचेतन प्राणियों की रक्षा को भुला कर क्या मैं अचेतन कुटी के संरक्षण के लिए ही साधु बना हूं ? महल छोड़ कर पर्णकुटीर मे बसने का क्या मेरा यही उद्देश्य है कि आपद्ग्रस्त जीवों को जीने में बाधा दूं ? और ऐसा न कर सकूं तो अकर्मण्य तथा अनुपयोगी सिद्ध होऊं। मुझे अब यहाँ नहीं रहना चाहिये।" ऐसा सोच कर उन्होंने वर्षाऋतु के पन्द्रह दिन बीत

---

१ (क) ताहे सामी विहरमाणो गतो मोरागं सन्निवेस, तत्थ दूइज्जतगाणाम पासंडत्था....
आव. चू उपोद्घात नि., पृ० २७१

(ख) अन्यदा विहरन् स्वामी मोराके सन्निवेशके।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।४९ से]

जाने पर वहाँ से विहार कर दिया। उस समय प्रभु ने पाँच प्रतिज्ञाएं[1] ग्रहण की। यथा :—

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नही रहूँगा।
(२) सदा ध्यान मे ही रहूँगा।
(३) मौन रखूंगा, किसी से नही बोलूंगा।
(४) हाथ में ही भोजन करूंगा और
(५) गृहस्थो का कभी विनय नही करूंगा।

मूल शास्त्र मे इन प्रतिज्ञाओं का कही उल्लेख नही मिलता। परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक प्राय: मौन माने गये हैं। आचाराग के अनुसार महावीर ने कभी परपात्र मे भोजन नही किया।[2] परन्तु मलयगिरि ने प्रतिज्ञा से पूर्व भगवान् का गृहस्थ के पात्र मे आहार ग्रहण करना स्वीकार किया है।[3] यह शास्त्रीय परम्परा से विचारणीय है।

अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव

आश्रम से विहार कर महावीर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचते-पहुँचते उनको सध्या का समय हो गया। वहाँ प्रभु ने एकान्त स्थान की खोज करते हुए नगर के बाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन मे ठहरने की अनुमति ली। उस समय ग्रामवासियों ने कहा—"महाराज! यहाँ एक यक्ष रहता है, जो स्वभाव से क्रूर है। रात्रि में वह यहाँ किसी को नही रहने देता। अत: आप कही अन्य स्थान मे जाकर ठहरें तो अच्छा रहेगा। पर भगवान् ने परीषह

---

१ (क) इमेण तेण पच अभिग्गहा गहिया ···

[आ मलय नि., पत्र २६८(१)]

(ख) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिता··· ··

[आवश्यक चू., पृ० २७१]

(ग) नाप्रीतिमद् गृहे वास., स्थेय प्रतिमया सह।
न गेहिविनय कार्यो, मौन पाणौ च भोजनम्॥

[कल्पसूत्र सुबोधा०, पृ० २८८]

२ नो सेवई य परवत्थ, परपाए वि से त भु जित्था

[आचा., १।६।१, गा० १६]

३ (क) प्रथम पारणक गृहस्थपात्रे बभूव, ततः पाणिपात्रभोजिना मया भवितव्यमित्यभिग्रहो गृहीत।

[आव. म. टी, पृ. २६८ (२)]

(ख) भगवया पढम पारणगे परपत्तमि भुत्त ॥महावीर चरियं॥

सहने और यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए वहीं ठहरना स्वीकार किया। भगवान् वहाँ एक कोने में ध्यानावस्थित हो गये।[1]

संध्या के समय पूजा के लिए पुजारी इन्द्रशर्मा यक्षायतन में आया। उसने पूजा के बाद सब यात्रियों को वहाँ से बाहर निकाला और महावीर से भी बाहर जाने को कहा, किन्तु वे मौन थे। इन्द्रशर्मा ने वहाँ होने वाले यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी, फिर भी महावीर वहीं स्थिर रहे। आखिर इन्द्रशर्मा वहाँ से चला गया।

रात्रि में अंधकार होने के पश्चात् यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को ध्यानस्थ देख कर वह बोला—"विदित होता है, लोगों के निषेध करने पर भी यह नहीं माना। संभवतः इसे मेरे पराक्रम का पता नहीं है।" इस विचार से उसने भयंकर अट्टहास किया, जिससे सारा वन-प्रदेश कांप उठा। किन्तु महावीर सुमेरु की तरह अडिग बने रहे। उसने हाथी का रूप बना कर महावीर को दाँतों से बुरी तरह गोदा और पैरों से रौंदा तथापि प्रभु किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। तत्पश्चात् पिशाच का रूप बना कर उसने तीक्ष्ण नखों व दाँतों से महावीर के शरीर को नोचा, सर्प बन कर डसा, फिर भी महावीर ध्यान में स्थिर रहे। बाद में उसने महावीर के आँख, कान, नासिका, शिर, दाँत, नख और पीठ इन सात स्थानों में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की[2] कि साधारण प्राणी तो छटपटा कर तत्काल प्राण ही छोड़ देता, पर महावीर सभी प्रकार के कष्टों को शान्त भाव से सहते रहे। परिणामस्वरूप यक्ष हार कर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए[3] प्रणाम कर वहाँ से चला गया। रात्रि के अन्त में उसके उपसर्ग बन्द हुए।

प्रथम वर्षावास में अस्थिग्राम के बाहर शूलपाणि ने उपसर्ग दिये, ४ पहर कुछ कम मुहूर्त भर निद्रा, १० स्वप्न—आव० मल० और चूर्णि।

भगवती सूत्र में छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि में दश स्वप्नों को देखकर जागृत होना लिखा है, वहां का पाठ इस प्रकार है—'समणे भ० म० छउमत्थ-

---

१ अथ ग्राम्यैरनुज्ञातो, बोधार्हं व्यन्तरं विदन्। तदायतनैककोणे, तस्थौ प्रतिमया प्रभुः।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।२१७]

२ ओभेउ ताहे पभायसमए सत्तविह वेयणं करेति।

[आव चू., १ भाग, पृ० २७४]

३ चक्रे सर्पे सुधाभूते, भूतराट् सप्तवेदना। ।........

एकापि वेदना मृत्युकारणं प्राकृते नरे।

अधिसेहे तु ताः स्वामी, सप्ताऽपियुगपद्भवाः।

[त्रि श पु च., १०।३।१३१ से]

कलियाए अतिमराइयंसि इमे दस० छद्मस्थकालिकाया अंतिमरात्रौ, जिसका अर्थ छद्मस्थकाल की अतिम रात्रि होता है।

सं० भगवती सूत्र के अनुसार छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि मे ये दशमहास्वप्न देखना प्रमाणित होता है। जैसा कि सूत्र मे कहा है—समणे भगव महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिम राइयसि इमे दस सुमिणा पासित्ताणं पडिबुद्धे.....। मूल आगम की भावना को देखते हुए आव० चूर्णि एव कल्पसूत्र मे कथित उपर्युक्त अस्थिग्राम में प्रभु का स्वप्न-दर्शन मेल नही खाता। सभव है, आचार्यो ने शूलपाणि के रात भर उवसर्ग के बाद निद्रा की वात लिखते 'छउमत्थ कालियाए' पाठ ध्यान में नही रखा है। ना ऐसी कोई उनके सामने परपरा है। भग० १६।६ उ० सू० १६।

निद्रा और स्वप्न-दर्शन

मुहूर्त भर रात्रि शेष रहते-रहते महावीर को क्षण भर के लिए निद्रा आई। प्रभु के साधनाकाल मे यह प्रथम तथा अन्तिम निद्रावस्था थी। इस समय प्रभु ने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे :—

(१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथों पछाड़ते देखा।

(२) श्वेत पुंस्कोकिल (उनकी) सेवा मे उपस्थित हुआ।

(३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा।

(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएँ देखी।

(५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा।

(६) विकसित पद्म-कमल का सरोवर देखा।

(७) अपनी भुजाओं से महासमुद्र को तैरते हुए देखा।

(८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र-किरण-सूर्य को देखा।

(९) वैदूर्य-वर्ण सी अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।

(१०) अपने आपको मेरु पर आरोहण करते देखा।

स्वप्न-दर्शन के पश्चात् तत्काल भगवान् की निद्रा खुल गई, क्योंकि निद्रा-ग्रहण के समय भगवान् खड़े ही थे। उन्होने निद्रावरोध के लिए निरन्तर योग का मोर्चा लगा रखा था, फिर भी उदय के जोर से क्षण भर के लिए निद्रा आ ही गई। साधनाकालीन यह प्रथम प्रसग था, जब क्षण भर भगवान् को नीद आई।[1] यह भगवान् के जीवनकाल की अन्तिम निद्रा थी।

---

१ (क) तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो,
पभायकाले मुहुत्तमेत्त निद्दापमाय गतो।

[आव म. प० २७०।१]

निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन

उस गांव में उत्पल नाम का एक निमित्तज्ञ रहता था। वह पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण था, किन्तु संयोगवश श्रमण-जीवन से च्युत हो गया था। उसने जब भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने की वात सुनी तो अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय हिल उठा।

प्रातःकाल वह भी पुजारी के साथ यक्षायतन मे पहुँचा। वहां पर उसने भगवान् को ध्यानावस्था मे अविचल खड़े देखा तो उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। उसने रात में देखे हुए स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में प्रभु से निम्न विचार व्यक्त किये :—

(१) पिशाच को मारने का फल :—आप मोह कर्म का अन्त करेंगे।

(२) श्वेत कोकिल-दर्शन का फल :—आपको शुक्लध्यान प्राप्त होगा।

(३) विचित्र कोकिल-दर्शन से आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे।

(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखने के स्वप्न का फल निमितज्ञ नही जान सका।

(५) श्वत गोवर्ग देखने से आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे।

(६) पद्म-सरोवर विकसित देखने से चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।

(७) समुद्र को तैर कर पार करने से आप संसार-सागर को पार करेंगे।

(८) उदीयमान सूर्य को विश्व मे आलोक करते देखा। इससे आप केवलज्ञान प्राप्त करेगे।

(९) आँतों से मानुषोत्तर पर्वत वेष्टित करने से आपकी कीर्ति सारे मनुष्य लोक मे फैलेगी।

(१०) मेरु-पर्वत पर चढ़ने से आप सिंहासनारूढ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का फल निमितज्ञ नही जान सका, इसका फल भगवान् ने स्वयं बताया—"दो रत्नमालाओं को देखने का फल यह है कि मैं दो प्रकार के धर्म, साधु धर्म और श्रावक धर्म का कथन करूंगा।" भगवान् के वचनों को सुनकर निमित्तज्ञ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अस्थिग्राम के इस वर्षाकाल मे फिर भगवान् को किसी प्रकार का उपसर्ग

प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने शान्तिपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास आठ बार किये। इस प्रकार यह प्रथम वर्षावास शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ।[1]

साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिग्राम का वर्षाकाल समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने मोराक सन्निवेश की ओर विहार किया। मोराक पधार कर आप एक उद्यान में विराजे। वहाँ अच्छंदक नाम का एक अन्यतीर्थी पाखंडी रहता था, जो ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

सिद्धार्थ देव ने प्रभु की महिमा बढाने के लिए मोराक ग्राम के अधिकारी से कहा—"यह देवार्य तीन ज्ञान के धारक होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सब बातें जानते है।"

सिद्धार्थ देव की यह बात सब जगह फैल गई और लोग बडी संख्या में उस उद्यान में आने लगे, जहा पर कि प्रभु ध्यान में तल्लीन थे। सिद्धार्थ आये हुए लोगों को उनके भूत-भविष्यत् काल की बातें बताता। उससे लोग बड़े प्रभावित हुए और इसके परिणामस्वरूप सिद्धार्थ देव सदा लोगो से घिरा रहता।

उन लोगों मे से किसी ने सिद्धार्थ देव से कहा—"यहाँ अच्छंदक नामक एक अच्छा ज्योतिषी रहता है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने उत्तर दिया—"वह कुछ भी नही जानता। वास्तव में देवार्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सच्चे जानकार हैं।"

सिद्धार्थ व्यन्तरदेव ने अच्छदक द्वारा किये गये अनेक गुप्त पापों को प्रकट कर दिया। लोगों द्वारा छानबीन करने पर सिद्धार्थ देव द्वारा कही गई सब बातें सच्ची सिद्ध हुई। इस प्रकार अच्छंदक की 'सारी' पोपलीला की कलई खुल गई और लोगों पर जमा हुआ उसका प्रभाव समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के उज्ज्वल तप से प्रभावित जन-समुदाय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक संख्या मे प्रभु की सेवा में आने लगा।

अच्छंदक इससे बड़ा उद्विग्न हुआ। अन्य कोई उपाय न देख कर वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा और करुण स्वर मे प्रार्थना करने लगा— "भगवन्! आप तो सर्वशक्तिमान् और निःस्पृह हैं। आपके यहां विराजने से मेरी आजीविका समाप्तप्राय हो रही है। आप तो महान् परोपकारी हैं, फिर मेरा वृत्तिछेद, जो कि वधतुल्य ही माना गया है—वह आप कभी नही कर सकते। अतः आप मुझ पर दया कर अन्यत्र पधार जायें।"

---

१ आव० चू० पृ० २७४-२७५

भगवान् अच्छंदक के अन्तर के मर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये।[1]

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे। सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र कांटो मे उलझ कर गिर पड़ा। प्रभु ने थोडा सा मुड कर देखा कि वह वस्त्र कही अस्थान मे तो नही गिर पड़ा है। कांटो मे उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यों को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होगे। तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वही वोसिरा दिया और स्वयं अचेल हो गये। तत्पश्चात् प्रभु जीवन भर अचेल रहे।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया[2] और वह अपने घर लौट आया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर बढते हुए कनखमल नामक आश्रम पर पहुँचे। उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुँचने के दो मार्ग थे। एक मार्ग आश्रम के बीच से होकर और दूसरा बाहर से जाता था। भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े। मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले और उन्होने प्रभु से निवेदन किया—"भगवन् ! जिस मार्ग पर आप बढ रहे हैं, उसमे प्राणापहारी संकट का भय है। इस पथ पर आगे की ओर वन मे चण्डकौशिक नामक दृष्टिविष वाला भयंकर सर्प रहता है, जो पथिकों को देखते ही अपने विष से भस्मसात् कर डालता है। उसकी विषैली फूत्कारो से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पडते है। वह इतना भयंकर है कि किसी को देखते ही जहर बरसाने लगता है। उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूंठ बन चुके है। अत अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे बाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारें।"

भगवान् महावीर ने उन ग्वालो की बात पर न कोई ध्यान ही दिया और न कुछ उत्तर ही। अकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प भव्य प्राणी है, अतः वह प्रतिबोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा। चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर संकटपूर्ण पथ पर बढ़ चले।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७७

१ तत्थ सुवण्णकूलाए वुलिणे त वत्थ कंटियाए लग्ग, ताहे त पित त एतेण पितुवतस-धिज्जातितेण गहित। [आवश्यक चूर्णि, पत्र २७७]

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव मे एक तपस्वी था। एक बार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकला। भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा मे उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दब गई। यह देख कर शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! आपके पैर से दब कर मेंढकी मर गई।"

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग में दबी हुई एक दूसरी मेंढकी की ओर अपने शिष्य का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"क्या इस मेंढकी को भी मैंने मारा है?"

शिष्य ने सोचा कि सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे।

सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाएं कर के बैठ गये और उस मेंढकी के अपने पैर के नीचे दब जाने के पाप की आलोचना उन्होंने नही की। शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं, अपने गुरु को स्मरण दिलाते हुए कहा—"गुरुदेव! मण्डुकी आपके पैर के नीचे दब कर मर गई, उसकी आलोचना कीजिए।" एक बार में नही सुना तो उसने दूसरी व तीसरी बार कहा—"महाराज? मेंढकी की आलोचना कीजिए।"

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे। क्रोधावेश मे ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया। इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति मे देव रूप मे उत्पन्न हुए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसो के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से बालक के रूप मे उत्पन्न हुआ। बालक का नाम कौशिक रखा गया। कौशिक बाल्यकाल से ही बहुत चण्ड प्रकृति का था। उस आश्रम मे कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति बन गया। उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ ममता थी। वह तापसो को उस वन से फल नही लेने देता था, अतः तापस उस आश्रम को छोड़ कर इधर-उधर चले गये।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता। एक बार पास की नगरी 'सेयविया' के राजपुत्रों ने वहा आकर वनप्रदेश को आकर नष्ट कर दिया। गोपालको ने चण्डकौशिक के बाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी। चन्द्रकौशिक लकड़ियां डाल कर

परशु हाथ मे लिए क्रुद्ध हो कुमारो के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारो के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पडा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन मे दृष्टिविष सर्प के रूप मे उत्पन्न हुआ। 'वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन मे किसी को नही आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे, वे भी उस आश्रम को छोड कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड मे इधर से उधर चक्कर लगाता रहता था और पक्षी तक को भी वन मे देखता तो उसे तत्काल अपने भयकर विष से जला डालता था।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन मे पहुँचे। उन्होने बिना किसी भय और संशय के उस वन मे स्थित यक्षगृह के मण्डप मे ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गगा बह रही थी और विमल दृष्टि मे अमृत का सागर हिलोरें ले रहा था।

प्रभु के मन मे सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नही था। उनके मन में तो चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा मे महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचिन्मात्र भी प्रभाव नही हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश मे आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दष्ट्राघात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एव अडोल खडे ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत और मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव मे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। देखा जाता है कि पुत्रवती माँ के मन मे एक बालक के प्रति प्रगाढ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा में त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम में प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो, उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? इसके उपरान्त तीर्थंकर प्रभु के शरीर का यह एक विशिष्ट अतिशय होता है कि उनका रक्त और मांस गोदुग्ध के समान श्वेत वर्ण का ही होता है।

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सौम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा। उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस बरस रहा है। चण्डकौशिक के विषमय दंष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोष ही प्रकट किया। चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से बुझे दावानल की तरह शान्त हो गया।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले– "उवसम भो चण्डकोसिया ! हे चण्डकौशिक ! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान में कहाँ भटक रहा है ? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है। अब भी सँभलो तो भविष्य नही बिगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव में भ्रमण करना पड़ेगा।"

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनों को सुन कर 'चण्डकौशिक' जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन मे विवेक की ज्योति जल उठी। पूर्वजन्म की सारी घटनाएं चल-चित्र की भांति एक-एक कर उसके नेत्रों के सामने नाचने लगी।[1] वह अपने कृत-कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल, विमल करुणा के आगे उसका पाषाणहृदय भी पिघल कर पानी बन गया। उसने शुद्ध मन से संकल्प किया—"अब मैं किसी को भी नही सताऊंगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूंगा।"

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे, किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नही पड़ा देख कर वे धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये। चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये। सर्प बिल मे मुंह डाल कर पड़ गया। लोगो ने कंकर मार-मार कर उसको उत्तेजित करने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले-डुले ज्यों का त्यो पड़ा रहा। उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप मे बदल चुका था। नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुन कर आबाल वृद्ध नर-नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे। कोई उसे दूध शक्कर चढाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता। इस तरह मिठास के कारण

१ न रही चिता-सरण ओइस कोवाहि आमोर्ऊं। [आव. नि., गा. ४६७]

परशु हाथ मे लिए क्रुद्ध हो कुमारों के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ मे लिए उन कुमारों के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पडा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन मे दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन मे किसी को नही आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे, वे भी उस आश्रम को छोड कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड मे इधर से उधर चक्कर लगाता रहता था और पक्षी तक को भी वन मे देखता तो उसे तत्काल अपने भयकर विष से जला डालता था।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन मे पहुँचे। उन्होने बिना किसी भय और संशय के उस वन मे स्थित यक्षगृह के मण्डप मे ध्यान लगाया। उनके मन मे विश्वप्रेम की विमल गगा बह रही थी और विमल दृष्टि में अमृत का सागर हिलोरें ले रहा था।

प्रभु के मन मे सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नही था। उनके मन में तो चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा मे महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचिन्मात्र भी प्रभाव नही हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश मे आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दष्ट्राघात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एव अडोल खडे ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत और मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव मे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। देखा जाता है कि पुत्रवती माँ के मन मे एक बालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा मे बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—'पंडित ! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नही, धर्म-चक्रवर्ती है, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।' पुष्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहाँ प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे।-मंखलिपुत्र गोशालक भी उस समय वहाँ वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहाँ हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध[2] किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिए मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास खमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—"हे तपस्वी ! मुझे आज भिक्षा मे क्या मिलेगा ?" सिद्धार्थ ने कहा—"कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।"[4]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलो में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नही मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहाँ उसको खट्टी छाछ,

---

१ आ० चू० १, पृ० २८२।

२ विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे, देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाई पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

३ तच्च मासक्खमण पारणगंसि तंतुवाय सालाओ......

[भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

४ सिद्धार्थः स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्लं कोद्रवकूरमेकं कूटं च रूप्यकम्। [त्रि० श० पु० च०, १०।३।३१३ श्लो०]

थोड़े ही समय में बहुत सी चीटिया आ-आ कर नाग के शरीर से चिपट गईं और काटने लगी, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।[१] भगवान् के उद्बोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल बनाया। उसका उद्धार हो गया।

विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहाँ उनका नागसेन के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहाँ से विहार कर प्रभु श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहाँ के राजा प्रदेशी ने भगवान् का स्र्— भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गगा पार करने के लिए प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्यों ही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा—"बड़ा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे।"[२] थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आँधी के प्रबल झोंकों मे पड़ कर नौका भँवर में पड़ गई। कहा जाता है कि त्रिपुष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसी के जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के पश्चात् तूफान खड़ा किया। यात्रीगण घबराये, पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त में प्रभु की कृपा से आँधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्बल और शम्बल नाम के नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे 'स्थूणाक' सन्निवेश पधारे और वहाँ ध्यान-मुद्रा मे खड़े हो गये। गाँव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान् के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ—"इन चिह्नों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। संभव है, सकट में होने से वह अकेला घूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करूं।" इन्ही विचारों से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ बड़ी आशा से भगवान् के पास पहुँचा। किन्तु भिक्षुकरूप में भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वह समझ नही पाया

---

१ अट्ठमासत्त कालगतो सहस्सारे उववन्नो। [आ. चू. १, पृ. २७१]
२ आ० चू० पूर्वभाग. पृ० २८०

कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा में बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा—"पंडित! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नहीं, धर्म-चक्रवर्ती हैं, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।" पुष्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का प्रभु-सेवा में आगमन

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहाँ प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे। मंखलिपुत्र गोशालक भी उस समय वहाँ वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहाँ हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध[2] किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिए मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास क्षमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहाँ क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा—"हे तपस्वी! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा?" सिद्धार्थ ने कहा—"कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।"[4]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलों में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नहीं मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहाँ उसको खट्टी छाछ,

---

१ आ० चू० १, पृ० २८२।

२ विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे, देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाइं पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

३ तच्चं मासक्खमण पारणगंसि तंतुवाय सालाओ......

[भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

४ सिद्धार्थ. स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्लं कोद्रवकूरमेकं कूटं च रूपकम्।
[त्रि० श० पु० च०, १०।३।२२१ श्लो०]

बासी भात और दक्षिणा मे एक रुपया प्राप्त हुआ जो बाजार में नकली सिद्ध हुआ। गोशालक के मन पर इस घटना का यह प्रभाव पड़ा कि वह नियतिवाद का भक्त बन गया। उसने निश्चय किया कि जो कुछ होने वाला है, वह पहले से ही नियत होता है। भगवती सूत्र मे उपर्युक्त भविष्यवाणी का उल्लेख नही मिलता।

इधर चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृही के नालन्दा से विहार किया और 'कोल्लाग' सन्निवेश मे जाकर 'बहुल ब्राह्मण' के यहाँ अन्तिम मास-खमण का पारणा किया। गोशालक उस समय भिक्षा के लिये बाहर गया हुआ था। जब वह लौट कर तन्तुवायशाला मे आया और भगवान् को नही देखा तो सोचा कि भगवान् नगर मे कही गये होगे। वह उन्हे नगर मे जाकर ढूँढने लगा। पर भगवान् का कही पता नही चला तो निराश होकर लौट आया और वस्त्र, कुंडिका, चित्रफलक आदि अपनी सारी वस्तुएँ ब्राह्मणो को देकर तथा शिर मुंडवा कर भगवान् की खोज मे निकल पडा।[1]

प्रभु को ढूँढते हुए वह कोल्लाग सन्निवेश पहुँचा और लोगो के मुख से बहुल ब्राह्मण की दान-महिमा सुनकर विचारने लगा कि अवश्य ही यह मेरे धर्माचार्य की महिमा होनी चाहिये। दूसरे का ऐसा तप: प्रभाव नही हो सकता। 'कोल्लाग सन्निवेश', के बाहर प्रणीत-भूमि मे उसने भगवान् के दर्शन किये। दर्शनानन्तर भाव-विभोर हो उसने प्रभु को वन्दन किया और बोला—'आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।'-उसके ऐसा बारम्बार कहने से भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[2] रागरहित भी भगवान् ने भाविभाव को जानते हुए उसके वचन को स्वीकार किया।[3] इसके बाद छह वर्ष तक गोशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

साधना का तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर प्रभु गोशालक के साथ स्वर्णखल पधारे। मार्ग मे उनको खीर पकाते हुए कुछ ग्वाले मिले। गोशालक का मन खीर देखकर मचल उठा। उसने महावीर से कहा—"भगवन्! कुछ देर ठहरें तो खीर खाकर चलेंगे।" सिद्धार्थ ने कहा—"खीर खाने को नही मिलेगी, क्योकि हँडिया फूटने के कारण खीर पकने से पूर्व ही मिट्टी मे मिल जायेगी।"

---

१ साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओ य चित्तफलग च माहणे आयामेति आयामेत्ता सउत्तरोट्ठ मुंड करोति.....। [भगवती श० १५।१ सू० ५४१ पृ० १२१७]
(ख) आ० चू० १, पृ० २८३।

२ गोसालस्स मखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि। [भगवती शतक, १५।१ सूत्र ५४१]

३ नीरागोऽपि अभ्यर्थार्य, सद्भाव च विदन्नपि। तद्वच: प्रत्यपादीशो, महान्त: क्व न वत्सला।
[त्रि० श० पु० च०, १०।३।४१२]

नियतिवाद

पर गोशालक ग्वालों को सन्केत कर स्वय खीर के लिए रुका रहा। भगवान् आगे प्रयाण कर गये। सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी चावलो के फूलने से हँडिया फूट गई और खीर धूल मे मिल गई। गोशालक निराश होकर नन्हा सा मुँह लिए महावीर के पास पहुँचा। उसे इस वार दृढ विश्वास हो गया कि होनहार कभी टलता नही। इस तरह वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक बन गया।

कालान्तर मे वहाँ से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मणगाँव' पधारे। ब्राह्मण-गाँव दो भागो में विभक्त था—एक 'नन्दपाटक' और दूसरा 'उपनन्दपाटक'। नन्द और उपनन्द नाम के दो प्रसिद्ध पुरुषो के नाम पर गाँव के भाग इन नामो से पुकारे जाते थे। भगवान् महावीर 'नन्दपाटक' मे नन्द के घर पर भिक्षा को पधारे। वहाँ उनको दही मिश्रित भात मिला। गोशालक 'उपनन्दपाटक' मे उपनन्द के घर गया था वहाँ उपनन्द की दासी उसको बासी भात देने लगी किन्तु गोशालक ने दुर्भाव से उसे अस्वीकार कर दिया। गोशालक के इस अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध हो उपनन्द दासी से बोला—"यदि यह भिक्षा नही ले तो इसके सिर पर फेंक देना।" दासी ने स्वामी की आज्ञा से वैसा ही किया। इस घटना से गोशालक बहुत कुपित हुआ और उसके घर वालो को शाप देकर वहाँ से चल दिया।

आवश्यक चूर्णिकार के मतानुसार गोशालक ने उपनन्द को उसका घर जल जाने का शाप दिया। भगवान् के तप की महिमा असत्य प्रमाणित न हो इस दृष्टि से निकटवर्ती व्यन्तरो के द्वारा घर जलाया गया और उसका शाप सच्चा ठहरा।[1]

ब्राह्मणगाँव से विहार कर भगवान् चम्पा पधारे और वही पर तृतीय वर्षाकाल पूर्ण किया। वर्षाकाल मे दो-दो मास के उत्कट तप के साथ प्रभु ने विविध आसन व ध्यानयोग की साधना की। प्रथम द्विमासीय तप का पारणा चपा मे और द्वितीय द्विमासीय तप का पारणा चपा के बाहर किया।[2]

साधना का चतुर्थ वर्ष

अंग देश की चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् 'कालाय' सन्निवेश पधारे। वहाँ गोशालक के साथ एक सूने घर मे ध्यानावस्थित हुए। गोशालक वहाँ द्वार के पास छिप कर बैठ गया और पास आयी हुई 'विद्युन्मती' नाग की

१ आव० चू० पूर्व भाग, पृ० २८४ वाणमतरेहि मा भगवतो अलिय भवतुत्ति त घर दड्ढ।
२ अ चरिम दो मासियपारणयं तं बाहि पारेति। [आव. चू., १।२८४]

दासी के साथ हँसी-मजाक करने लगा। दासी ने गाँव मे आकर मुखिया से शिकायत की और इसके परिणामस्वरूप मुखिया के पुत्र पुरुषसिंह द्वारा गोशालक पीटा गया।

कालाय सन्निवेश से प्रभु 'पत्तकालय' पधारे। वहाँ भी एक शून्य स्थान देख कर भगवान् ध्यानारूढ हो गये। गोशालक वहाँ पर भी अपनी विकृत भावना और चंचलता के कारण जनसमुदाय के क्रोध का शिकार बना।

गोशालक का शाप-प्रदान

'पत्तकालय' से भगवान् 'कुमारक सन्निवेश' पधारे।[1] वहाँ चंपगरमणीय नामक उद्यान मे ध्यानावस्थित हो गये। वहाँ के कूपनाय नामक कुम्भकार की शाला में पार्श्वनाथ के संतानीय आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के सग ठहरे हुए थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को गच्छ का मुखिया बना कर स्वयं जिनकल्प स्वीकार कर रखा था। गोशालक ने भगवान् को भिक्षा के लिए चलने को कहा किन्तु प्रभु की ओर से सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि आज इन्हे नही जाना है।

गोशालक अकेला भिक्षार्थ गाँव मे गया और वहाँ उसने रंग-बिरगे वस्त्र पहने पार्श्व-परम्परा के साधुओ को देखा। उसने उनसे पूछा—"तुम सब कौन हो?" उन्होने कहा—"हम सब पार्श्व परम्परानुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।" इस पर गोशालक ने कहा—"तुम सब कैसे निर्ग्रन्थ हो? इतने सारे रंग-बिरगे वस्त्र और पात्र रख कर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं और त्याग-तप के साक्षात् रूप हैं। पार्श्व संतानीय ने कहा—"जैसा तू, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी, स्वयंगृहीतलिंग होंगे।"[2] इस पर गोशालक क्रुद्ध होकर बोला—"अरे! मेरे धर्माचार्य की तुम निन्दा करते हो। यदि मेरे धर्माचार्य के दिव्य तप और तेज का प्रभाव है तो तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।" यह सुन कर पार्श्वापत्यो ने कहा—"तुम्हारे जैसों के कहने से हमारे उपाश्रय जलने वाले नही हैं।"

यह सुन कर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—"आज मैंने सारंभी और सपरिग्रही साधुओ को देखा। उनके द्वारा आपके अपवाद करने पर मैंने कहा—"धर्माचार्य के दिव्य तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय, किन्तु उनका उपाश्रय जला नही, इसका क्या कारण है?" सिद्धार्थ देव ने कहा—"गोशालक! वे पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु हैं। साधुओ के तपस्तेज उपाश्रय जलाने के लिए नही होता।"

---

१ ततो कुमाराय सनिवेस गता। [आव. चू., १। पृ० २८५]

२ आव चू., पृ० २८५

उधर आचार्य मुनिचन्द्र उपाश्रय के बाहर खड़े हो ध्यानमग्न हो गये। अर्द्ध रात्रि के समय कूपनय नामक कुम्भकार अपनी मित्रमण्डली मे सुरापान कर अपने घर की ओर लौटा। उपाश्रय के बाहर ध्यानमग्न मुनि को देख कर मद्य के नशे में मदहोश उस कुम्भकार ने उन्हें चोर समझ कर अपने दोनों हाथों से मुनि का गला धर दबाया। असह्य वेदना होने पर भी मुनिचन्द्र ध्यान में अडोल खड़े रहे। समभाव से शुक्लध्यान में स्थित होने के कारण मुनिचन्द्र को तत्काल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

देवों ने पुष्पादि की वर्षा कर केवलज्ञान की महिमा की। जब गोशालक ने देवों को आते-जाते देखा तो उसने समझा कि उन साधुओं का उपाश्रय जल रहा है।

गोशालक ने भगवान् से कहा—"उन विरोधियों का उपाश्रय जल रहा है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने कहा—"उपाश्रय नहीं जल रहा है। आचार्य को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है, इसलिए देवगण महिमा कर रहे हैं।"

गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा देख कर गोशालक को बड़ा हर्ष हुआ। वह उपाश्रय में जाकर मुनिचन्द्र के शिष्यों से कहने लगा—"अरे! तुम लोगों को कुछ भी पता नहीं है, खाकर अजगर की तरह सोये पड़े हो। तुम्हें अपने आचार्य के काल-कवलित हो जाने का भी ध्यान नहीं है। गोशालक की बात सुन कर साधु उठे और अपने आचार्य को कालप्राप्त समझ कर प्रगाढ पश्चात्ताप और अपने आपकी निन्दा करते रहे। गोशालक ने भी अवसर देख कर उन्हें जी भर भला-बुरा कहा।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मुनिचन्द्र को उस समय अवधिज्ञान हुआ और उन्होंने स्वर्गगमन किया।[2]

कूमारक से विहार कर भगवान् 'चोराक सन्निवेश'[3] पधारे। वहाँ पर चोरों का अत्यधिक भय था। अतः वहाँ के पहरेदार अधिक सतर्क रहते थे। भगवान् उधर पधारे तो पहरेदारों ने उनसे परिचय पूछा, पर मौनस्थ होने के कारण प्रभु की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। पहरेदार उनके इस आचरण से सशंक और बड़े क्रुद्ध हुए। फलतः प्रभु को गुप्तचर या चोर समझ कर उन्होंने उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं। जब इस बात की सूचना ग्रामवासी 'उत्पल' निमित्तज्ञ की बहिनों, 'सोमा और जयंती' को मिली तो वे घटना-स्थल पर

---

१ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८६

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०।३।४७० से ४७७

३ गोरखपुर जिले मे स्थित चौराचौरी

[तीर्थंकर महावीर, पृ० १८७]

उपस्थित हुई और रक्षक पुरुषों को उन्होने महावीर का सही परिचय दिया। परिचय प्राप्त कर आरक्षकों ने महावीर को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की ।

चौराक से भगवान् महावीर 'पृष्ठ चंपा' पधारे और चतुर्थ वर्षाकाल वही बिताया। वर्षाकाल में चार मास का दीर्घ तप और अनेक प्रकार की प्रतिमाओं से ध्यान-मुद्रा मे कायोत्सर्ग करते रहे। चार मास की तप-समाप्ति के बाद भगवान् ने चम्पा बाहिरिका में पारणा किया।

साधना का पंचम वर्ष

पृष्ठ चम्पा का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् 'कयगला' पधारे।[1] वहाँ 'दरिद्द थेर' नामक पाषडी के देवल मे कायोत्सर्ग-स्थित हो कर रहे।

कयगला से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और नगर के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। कडकडाती सर्दी पड रही थी, फिर भी भगवान् उसकी परवाह किये बिना रात भर ध्यान मे लीन रहे। गोशालक सर्दी नही सह सका और रात भर जाड़े के मारे ठिठुरता-सिसकता रहा। उधर देवल में धार्मिक उत्सव होने से बहुत से स्त्री-पुरुष मिल कर नृत्य-गान में तल्लीन हो रहे थे। गोशालक ने उपहास करते हुए कहा—"अजी ! यह कैसा धर्म, जिसमे स्त्री और पुरुष साथ-साथ लज्जारहित हो गाते व नाचते है ?"

लोगो ने उसे धर्म-विरोधी समझ कर वहाँ से बाहर धकेल दिया। वह सर्दी में ठिठुरते हुए बोला—"अरे भाई ! सच वोलना आजकल विपत्ति मोल लेना है। लोगो ने दया कर फिर उसे भीतर बुलाया। पर वह तो आदत से लाचार था। अतः अनर्गल प्रलाप के कारण वह दो-तीन बार बाहर निकाला गया और युवकों के द्वारा पीटा भी गया।

तदनन्तर जब जन-समुदाय को यह ज्ञात हुआ कि यह देवार्य महावीर का शिष्य है, तो सोचा कि इसे यहाँ रहने देने मे कोई हानि नही है। वृद्धो ने जोर-जोर से बाजे बजवाने शुरू किये, जिससे उसकी बाते न सुनी जा सकें। इस प्रकार रात कुशलता से बीत गई।

प्रातःकाल महावीर वहाँ से विहार कर श्रावस्ती नगरी मे पधारे। वहाँ पर 'पितृदत्त' गाथापति की पत्नी ने अपने बालक की रक्षा के लिए किसी निमित्तज्ञ के कथन से किसी एक गर्भ के मांस से खीर बनाई और तपस्वी को देने के विचार से गोशालक को दे डाली। उसने भी अनजाने ले ली। सिद्धार्थ ने पहले

---

१ आव. चू., पृ० २८८

ही इसकी सूचना कर दी थी। जब गोशालक ने इसे झुठलाने का प्रयत्न किया तो सिद्धार्थ ने कहा—वमन कर। वमन करने पर असलियत प्रकट हो गई। पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गोशालक पक्का नियतिवादी हो गया।

सावत्थी से विहार कर प्रभु 'हलेदुग' पधारे। गाँव के पास ही 'हलेदुग' नाम का एक विशाल वृक्ष था। भगवान् ने उस स्थान को ध्यान के लिए उपयुक्त समझा और वहीं रात्रि-विश्राम किया। दूसरे अनेक पथिक भी रात्रि में वहाँ विश्राम करने को ठहरे हुए थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए रात में आग जलाई और प्रातःकाल बिना आग बुझाये ही वे लोग चले गये। इधर सूखे घास के संयोग से हवा का जोर पा कर अग्नि की लपटें जलती हुई महावीर के निकट आ पहुँची और उनके पैर आग की लपटों से झुलस गये फिर भी ध्यान से चलायमान नहीं हुए।[1]

मध्याह्न में ध्यान पूर्ण होने पर भगवान् महावीर ने आगे प्रयाण किया और 'नांगला' होते हुए 'आवर्त' पधारे। वहाँ बलदेव के मंदिर में ध्यानावस्थित हो गये। भगवान् के साथ रहते हुए भी गोशालक अपने चचल स्वभाव के कारण लोगों के बच्चों को डराता और चौंकाता था जिसके कारण वह अनेक बार पीटा गया।

आवर्त से विहार कर प्रभु अनेक क्षेत्रों को अपनी चरणरज से पवित्र करते हुए 'चोराक सन्निवेश' पधारे। वहाँ भी गुप्तचर समझ कर लोगों ने गोशालक को पीटा। गोशालक ने रुष्ट होकर कहा—"अकारण यहाँ के लोगों ने मुझे पीटा है, अतः मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज का प्रभाव हो तो यह मंडप जल जाय" और संयोगवश मंडप जल गया।

उसके इस उपद्रवी स्वभाव से भगवान् विहार कर 'कलबुका' पधारे। वहाँ निकटस्थ पर्वतीय प्रदेश के स्वामी 'मेघ' और 'कालहस्ती' नाम के दो भाइयों में से कालहस्ती की महावीर से मार्ग में भेंट हुई। 'कालहस्ती' ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो ?" महावीर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हें पकड़ कर खूब पीटा, फिर भी महावीर नहीं बोले।

कालहस्ती ने इस पर महावीर को अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने महावीर को एक बार पहले गृहस्थाश्रम में कुंडग्राम में देखा था, अतः देखते ही वह उन्हें पहचान गया। उसने उठ कर प्रभु का सत्कार किया और उन्हें मुक्त ही नहीं किया अपितु अपने भाई द्वारा किये गये अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा-याचना भी की।[2]

---

१ आव० चू० पृ० २८८।

२ आव० चू०, पृ० २६०।

मेघ से मुक्त होने पर भगवान् ने सोचा—"मुझे अभी बहुत से कर्म क्षय करने हैं। यदि परिचित प्रदेश में ही घूमता रहा तो कर्मों का क्षय विलम्ब से होगा। यहाँ कष्ट से बचाने वाले परिचित एवं प्रेमी भी मिलते रहेंगे। अतः मुझे ऐसे अनार्य प्रदेश में विचरण करना चाहिये, जहाँ मेरा कोई परिचित न हो।" ऐसा सोच कर भगवान् लाढ़ देश की ओर पधारे। लाढ़ या राढ देश, जो उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था, उस ओर सामान्यतः मुनियों का विचरण नहीं होता था। कदाचित् कोई जाते तो वहाँ के लोग उनकी हीलना-निन्दा करते और कष्ट देते। उस प्रान्त के दो भाग थे—एक वज्र भूमि और दूसरा शुभ्र भूमि। इनको उत्तर राढ और दक्षिण राढ के नाम से कहा जाता था। उनके बीच अजय नदी[1] बहती थी। भगवान् ने उन स्थानों मे विहार किया और वहाँ के कठोरतम उपसर्गों को समभाव से सहन किया।

अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग

लाढ़ देश मे भगवान् को जो भयंकर उपसर्ग उपस्थित हुए, उनका रोमांचकारी वर्णन आचाराग सूत्र में आर्य सुधर्मा ने निम्नरूप से किया है :—

"वहाँ उनको रहने के लिये अनूकूल आवास प्राप्त नही हुए। रूखा-सूखा बासी भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता। वहां के कुत्ते दूर से ही भगवान् को देखकर काटने को दौडते किन्तु उन कुत्तो को रोकने वाले लोग वहाँ बहुत कम संख्या मे थे। अधिकाश तो ऐसे थे जो छुछुकार कर कुत्तों को काटने के लिये प्रेरित करते।[2] रूक्षभोजी लोग वहाँ लाठी लेकर विचरण करते। पर भगवान् तो निर्भय थे, वे ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियो पर भी दुर्भाव नही करते, क्योकि उन्होने शारीरिक ममता को शुद्ध मन से त्याग दिया था। कर्म-निर्जरा का हेतु समझ कर ग्रामकंटको-दुर्वचनो को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते। वे मन मे भी किसी के प्रति हिंसा भाव नही लाते।

जैसे संग्राम मे शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना गजराज आगे बढता जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी लाढ़ देश के विभिन्न उपसर्गों को किंचिन्मात्र भी परवाह किये बिना विचरते रहे।[3] वहाँ उन्हें ठहरने के लिये कभी दूर-दूर तक गाँव भी उपलब्ध नही होते। भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास करना पडता। कभी गाँव के निकट पहुँचते ही लोग उन्हे मारने लग जाते और दूसरे गाँव जाने को बाध्य कर देते। अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा ढेलो से प्रहार करते और इस कार्य से प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगते।

---

१ आचा० चू०, पृ० २८७।

२ अह लूहा देसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु णिवइंसु। [आचा० ६।३ पृ० ८३।८४—]

३ आचा०, ६।३।८७।८८। गा० १३

वहाँ के लोगों की दुष्टता असाधारण स्तर की थी। उन्होंने विविध प्रहारों से भगवान् के सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। उन्हे अनेक प्रकार के असहनीय भयकर परीषह दिये। उन पर धूल फेंकी तथा उन्हें ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटका। आसन पर से धकेल कर नीचे गिरा दिया। हर तरह से उनके ध्यान को भग करने का प्रयास किया। फिर भी भगवान् शरीर से ममत्व रहित होकर, बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकांक्षा के संयम-साधना में स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करते रहे।"[1]

इस प्रकार उस अनार्य प्रदेश मे समभावपूर्वक भयकर उपसर्गों को सहन कर भगवान् ने विपुल कर्मों की निर्जरा की। वहाँ से जब वे आर्य देश की ओर चरण बढा रहे थे कि पूर्णकलश नाम के सीमाप्रान्त के ग्राम मे उन्हे दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश मे चोरी करने जा रहे थे। सामने से भगवान् को आते देख कर उन दोनों ने अपशकुन समझा और तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिये लपके। इस घटना का पता ज्योंही इन्द्र को चला, इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करों को वहाँ से दूर हटा दिया।[2]

भगवान् आर्य देश में विचरते हुए मलय देश पधारे और उस वर्ष का वर्षावास मलय की राजधानी 'भद्दिला नगरी' में किया। प्रभु ने चातुर्मास में विविध आसनों के साथ ध्यान करते हुए चातुर्मासिक तप की आराधना की और चातुर्मास पूर्ण होने पर नगरी के बाहर तप का पारणा कर 'कदली समागम' और 'जंबू संड' की ओर प्रस्थान किया।

साधना का छठा वर्ष

'कदली समागम' और 'जंबू संड' में गोशालक ने दधिकूर का पारणा किया। वहाँ भी उसका तिरस्कार हुआ। भगवान् 'जंबू संड' से 'तंबाय' सन्निवेश पधारे। उस समय पार्श्वापत्य स्थविर नन्दिषेण वहाँ पर विराज रहे थे। गोशालक ने भी उनसे विवाद किया।[3] फिर वहाँ से प्रभु ने 'कूविय' सन्निवेश की ओर विहार किया, जहाँ वे गुप्तचर समझ कर पकड़े गये और मौन रहने के कारण बंदी बना कर पीटे गये। वहाँ पर विजया और प्रगल्भा नाम की दो परिव्राजिकाएं, जो पहले पार्श्वनाथ की शिष्यायें थीं, इस घटना का पता पाकर लोगों के बीच आयीं और भगवान् का परिचय देते हुए बोलीं—"दुरात्मन्! नहीं जानते हो कि यह चरम तीर्थंकर महावीर हैं। इन्द्र को पता चला तो वह

---

१ आचा०, ९।३। पृ० ९२

२ छिन्नत्थेण ते मसी तेसिं चेव उवरि छूढो, तेसिं चीसाणि छिन्नाणि। अन्ने भणंति-सक्केण ओहिणा आभोइत्ता दोवि वज्जेण हता। [आव. चू. १, पृ० २९०]

३ आव चू., पृ० १९१

तुम्हे दण्डित करेगा।" परिव्राजिकाओं की बातें सुन कर उन लोगों ने प्रभु को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।[1]

वहा से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए। कुविय सन्निवेश से प्रभु ने जिस ओर चरण बढाये, वहाँ दो मार्ग थे। गोशालक ने प्रभु से कहा– "आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पडते हैं और आप मेरा बचाव भी नही करते। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करूं।" इस पर सिद्धार्थ बोले[3] –"जैसी तेरी इच्छा।" वहाँ से महावीर वैशाली के मार्ग पर बढ़े और गोशालक राजगृह की ओर चल पडा।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की 'कम्मशाला' में अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छै मास से काम बन्द कर रखा था। भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अत. औजार लेकर शुभ मुहूर्त में यंत्रालय पहुंचा। भगवान् को यत्रालय में खड़े देख कर उसने अमगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योंही वह हथोडा लेकर आगे बढा त्योंही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार बेकार हो गया।[4]

वैशाली से विहार कर भगवान् 'ग्रामक सन्निवेश' पधारे और 'विभेलक' यक्ष के स्थान में ध्यानस्थ हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित होकर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा।[4]

व्यंतरी का उपद्रव और विशिष्टावधि लाभ

'ग्रामक सन्निवेश' से विहार कर भगवान् 'शालि शीर्ष' के रमणीय उद्यान में पधारे। माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। मनुष्य घरों में गर्म वस्त्र पहने हुए भी कांप रहे थे। परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान में खड़े थे। वन मे रहने वाली 'कटपूतना' नाम की व्यन्तरी ने जब भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वैर जागृत हो उठा और उसके क्रोध का पार नही रहा। वह परिव्राजिका के रूप मे बिखरी जटाओं से मेघ-धाराओ की तरह जल बरसाने लगी और भगवान् के कंधो पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी। कड़कडाती सर्दी में वह बर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण कांटो से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भग-

---

१ आव चू., पृ० २९२

२ सिद्धार्थोऽप्यावदत्तुभ्यं, रोचते यत्कुरुष्व तत्। [त्रि श. पु च., १०।३।५६४]

३ सक्केण तस्स उवरि पणो पावियो तह चेव मतो। [आव. चू, पृ० २९२]

४ आव० चू०, पृ० २९२

वान् ध्यान मे अडोल रहे और मन में भी विचलित नही हुए । समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को विशिष्टावधि ज्ञान प्राप्त हुआ । वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे ।[1] भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई ।

'शालिशीर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'[2] नगरी पधारे । वहाँ चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होंने छठा वर्षाकाल बिताया । छः मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुनः वहाँ आ पहुचा और भगवान् की सेवा में रहने लगा । वर्षाकाल समाप्त होने पर प्रभु ने नगर के बाहर पारण किया और मगध की ओर चल पड़े ।[3]

साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागों में घूमते हुए प्रभु ने आठ मास बिना उपसर्ग के पूर्ण किये । फिर चातुर्मास के लिये 'आलभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवाँ चातुर्मास वहाँ पूर्ण किया । चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारण कर 'कंडाग' सन्निवेश और 'मद्दणा' नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मंदिर में ठहरे । गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगों द्वारा पीटा गया । 'मद्दणा' से निकल कर भगवान् 'बहुसाल' गाँव गये और गाँव के बाहर सालवन उद्यान में ध्यानस्थ हो गये । यहाँ शालार्या नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये, किन्तु प्रभु के विचलित नहीं होने से अन्त मे थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई ।

साधना का अष्टम वर्ष

'मद्दणा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे । 'लोहार्गला के पड़ौसी राज्यों में उस समय संघर्ष होने से वहाँ के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियो से पूर्ण सतर्क रहते थे । परिचय के बिना किसी का राजधानी में प्रवेश संभव नही था । भगवान् से भी परिचय पूछा गया । उत्तर नहीं मिलने पर

---

१ वेयण अहियासतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्व-लोग पासिउमारद्धो । आ० चू०, पृ० २९३ ।

२ "भद्दिया" अग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर ग्राम है, वही पहले भद्दिया थी । तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६ ।

३ बाहि पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ठ मासे उ [आव० चू०, पृ० २९३]

तुम्हें दण्डित करेगा।" परिव्राजिकाओं की बातें सुन कर उन लोगों ने प्रभु को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।[1]

वहा से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए। कुविय सन्निवेश से प्रभु ने जिस ओर चरण बढाये, वहाँ दो मार्ग थे। गोशालक ने प्रभु से कहा— "आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं और आप मेरा बचाव भी नही करते। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करूं।" इस पर सिद्धार्थ बोले[3] —"जैसी तेरी इच्छा।" वहाँ से महावीर वैशाली के मार्ग पर बढ़े और गोशालक राजगृह की ओर चल पड़ा।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की 'कम्मशाला' में अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छः मास से काम बन्द कर रखा था। भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अत. औजार लेकर शुभ मुहूर्त में यन्त्रालय पहुंचा। भगवान् को यन्त्रालय में खड़े देख कर उसने अमंगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योंही वह हथोडा लेकर आगे बढा त्योंही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार बेकार हो गया।[4]

वैशाली से विहार कर भगवान् 'ग्रामक सन्निवेश' पधारे और 'विभेलक' यक्ष के स्थान में ध्यानस्थ हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित होकर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा।[5]

व्यंतरी का उपद्रव और विशिष्टावधि लाभ

'ग्रामक सन्निवेश' से विहार कर भगवान् 'शालि शीर्ष' के रमणीय उद्यान मे पधारे। माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी पड रही थी। मनुष्य घरों में गर्म वस्त्र पहने हुए भी कांप रहे थे। परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान में खड़े थे। वन मे रहने वाली 'कटपूतना' नाम की व्यन्तरी ने जब भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वैर जागृत हो उठा और उसके क्रोध का पार नही रहा। वह परिव्राजिका के रूप में बिखरी जटाओं से मेघधाराओ की तरह जल बरसाने लगी और भगवान् के कंधो पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी। कड़कड़ाती सर्दी में वह बर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण कांटों से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भग-

---

१ आव चू, पृ० २९२

२ सिद्धार्थोऽप्यवदत्तुभ्यं, रोचते यत्कुरुष्व तत्। [त्रि. श. पु च., १०।३।५९४]

३ सक्केण तस्स उवरि बणो पाबियो तह चेव मतो। [आव. चू, पृ० २९२]

४ आव० चू०, पृ० २९२

वान् ध्यान में अडोल रहे और मन में भी विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को विशिष्टावधि ज्ञान प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।[1] भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई।

'शालिशीर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'[2] नगरी पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होंने छठा वर्षाकाल बिताया। छः मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुनः वहाँ आ पहुंचा और भगवान् की सेवा में रहने लगा। वर्षाकाल समाप्त होने पर प्रभु ने नगर के बाहर पारण किया और मगध की ओर चल पड़े।[3]

साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागों में घूमते हुए प्रभु ने आठ मास बिना उपसर्ग के पूर्ण किये। फिर चातुर्मास के लिये 'आलभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवाँ चातुर्मास वहाँ पूर्ण किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक-तप का पारण कर 'कंडाग' सन्निवेश और "मद्दणा' -नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मंदिर मे ठहरे। गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगों द्वारा पीटा गया। 'मद्दणा' से निकल कर भगवान् 'बहुसाल' गाँव गये और गांव के बाहर सालवन उद्यान में ध्यानस्थ हो गये। यहाँ शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये, किन्तु प्रभु के विचलित नहीं होने से अन्त में थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई।

साधना का अष्टम वर्ष

'मद्दणा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे। 'लोहार्गला के पड़ौसी राज्यों मे उस समय संघर्ष होने से वहाँ के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के बिना किसी का राजधानी में प्रवेश संभव नहीं था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया। उत्तर नहीं मिलने पर

१ वेयरण अहियासतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्वं-लोयं पासिउमारद्धो। आ० चू०, पृ० २९३।

२ "भद्दिया" अंग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर दक्षिण मे भदरिया ग्राम है, वही पहले भद्दिया थी। तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६।

३ बाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ठ मासे उडुबद्धिए। [आव० चू०, पृ० २९३]

उनको पकड कर अधिकारी राज-सभा में 'जितशत्रु' के पास ले गये। वहाँ 'अस्थिक' गाँव का नैमित्तिक उत्पल आया हुआ था। उसने जब भगवान् को देखा तो उठ कर त्रिविध वंदन किया और बोला—"यह कोई गुप्तचर नहीं है, यह तो सिद्धार्थ-पुत्र, धर्म-चक्रवर्ती महावीर हैं।" परिचय पाकर राजा जितशत्रु ने भगवान् की वदना की और उन्हे सम्मानपूर्वक विदा किया।[1]

लोहार्गला से प्रभु ने 'पुरिमताल' की ओर प्रयाण किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' उद्यान मे वे ध्यानावस्थित रहे। 'पुरिमताल' से फिर 'उन्नाग' और 'गौभूमि' को पावन करते हुए प्रभु राजगृह पधारे। वहाँ चातुर्मासिक तपस्या ग्रहण कर विविध आसनो और अभिग्रहो के साथ प्रभु ध्यानावस्थित रहे। इस प्रकार आठवाँ वर्षाकाल पूर्ण कर प्रभु ने नगर के बाहर पारणा ग्रहण किया।

साधना का नवम वर्ष

भगवान् महावीर ने सोचा कि आर्य देश में जन-मन पर अंकित सुसंस्कारों के कारण कर्म की अत्यधिक निर्जरा नही होती, इसलिये इस सम्बन्ध मे कुछ उपाय करना चाहिये। जैसे किसी कुटुम्बी के खेत मे शालि उत्पन्न होने पर पथिको से कहा जाता है कि कटाई करो, इच्छित भोजन मिलेगा, फिर चले जाना। इस बात से प्रभावित होकर, जैसे लोग उसका धान काट देते हैं वैसे ही उन्हें भी बहुत कर्मों की निर्जरा करनी है। इस कार्य में सफलता अनार्य देश में ही मिल सकती है। इस विचार से भगवान् फिर अनार्य भूमि की ओर पधारे और पहले की तरह इस बार भी लाढ और शुभ्र-भूमि के अनार्य खण्ड में जाकर उन्होने विविध कष्टो को सहन किया, क्योंकि वहाँ के लोग अनुकम्पारहित व निर्दयी थे। योग्य स्थान नही मिलने से वहाँ वृक्षो के नीचे, खण्डहरो में तथा घूमते-घामते वर्षाकाल पूर्ण किया। छः मास तक अनार्यदेश में विचरण करने के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए भी भगवान् को इस बात का हर्ष था कि उनके कर्म कट रहे हैं। इस तरह अनार्य देश का प्रथम चातुर्मास समाप्त कर प्रभु फिर आर्य देश मे पधारे।[2]

साधना का दशम वर्ष

अनार्य प्रदेश से विहार कर भगवान् 'सिद्धार्थपुर' से 'कूर्मग्राम' की ओर पधार रहे थे, तब गोशालक भी साथ ही था। उसने मार्ग में सात पुष्प वाले एक तिल के पौधे को देख कर प्रभु से जिज्ञासा की—"भगवन्! यह पौधा फलयुक्त होगा क्या?" उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"हाँ पौधा फलेगा और सातों फूलों के जीव इसकी एक ही फली मे उत्पन्न होंगे।"

---

१ आव० चू०, पृ० २९४।

२ आव. चू., पृ २९६-"तइव नियोगेण सेहुडो भासी वसही वि न-लब्भति।"

गोशालक ने भगवान् के वचन को मिथ्या प्रमाणित करने की दृष्टि से उस पौधे को उखाड कर एक किनारे फेंक दिया। सयोगवश उसी समय थोडी वर्षा हुई और तिल का उखड़ा हुआ पौधा पुन. जम कर खडा हो गया।[1] फिर भगवान् 'कूर्मग्राम'[2] आये। वहाँ गाँव के बाहर 'वैश्यायन' नाम का तापस प्राणायाम-प्रव्रज्या से सूर्यमंडल के सम्मुख दृष्टि रख कर दोनों हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। धूप से सतप्त हो कर उसकी बड़ी बड़ी जटाओ से यूकाए नीचे गिर रही थी और वह उन्हे उठा कर पुन. जटाओ मे रख रहा था। गोशालक ने देखा तो कुतूहलवश वह भगवान् के पास से उठकर तपस्वी के पास आया और बोला—"अरे! तू कोई तपस्वी है या जू ओ का शय्यातर (घर)?" तपस्वी चुप रहा। जब गोशालक बार बार इस बात को दुहराता रहा तो तपस्वी को क्रोध आ गया। आतापना भूमि से सात आठ पग पीछे जाकर उसने जोश मे तपोबल से प्राप्त अपनी तेजो-लब्धि गोशालक को भस्म करने के लिये छोड़ दी। अब क्या था! गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणो मे आकर छिप गया। दयालु प्रभु ने उस समय गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतल लेश्या से उस तेजो लेश्या को शान्त किया। गोशालक को सुरक्षित देख-कर तापस ने महावीर की शक्ति का रहस्य समझा और विनम्र शब्दो मे बोला—"भगवन्! मैं इसे आपका शिष्य नही जानता था, क्षमा कीजिये।"[3]

कुछ समय पश्चात् भगवान् ने पुन 'सिद्धार्थपुर' की ओर प्रयाण किया। तिल के खेत के पास आते ही गोशालक को पुरानी बात याद आ गई। उसने महावीर से कहा—"भगवन्! आपकी वह भविष्यवाणी कहाँ गई?" प्रभु बोले—"बात ठीक है। वह बाजू मे लगा हुआ पौधा ही पहले वाला तिल का पौधा है, जिसको तूने उखाड फेंका था।" गोशालक को इस पर विश्वास नही हुआ। वह तिल के पौधे के पास गया और फली को तोड कर देखा तो महावीर के कथनानुसार सात ही तिल निकले। इस घटना से वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। उस दिन से उसको दृढ मान्यता हो गई कि सभी जीव मर-कर पुनः अपनी ही योनि मे उत्पन्न होते हैं। वहा से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड़ दिया और वह अपना मत चलाने की बात सोचने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। नगर के बाहर भगवान् को ध्यान-मुद्रा मे देख कर अबोध बालकों ने उन्हें पिशाच समझा और अनेक प्रकार की यातनाएं दी। सहसा उस मार्ग से राजा सिद्धार्थ के स्नेही मित्र शख भूपति

---

१ तेण असद्दहतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाडितो एगते य एडिओ ....कुट्ठ। ....

[आव. चू., पृ. २६७]

२ भगवती मे कूर्मग्राम के स्थान पर कुंडग्राम लिखा है।

३ भ श श १५, उ १, सू. ५४३ समिति।

निकले। उन्होने उन उपद्रवी बालको को हटाया और स्वय प्रभु की वंदन कर आगे बढ़े।[१]

वैशाली से भगवान् 'वाणियगाम' की ओर चले। मार्ग में गंडकी नदी पार करने के लिए उन्हे नाव मे बैठना पडा। पार पहुँचने पर नाविक ने किराया मांगा पर भगवान् मौनस्थ रहे। नाविक ने क्रुद्ध होकर किराया न देने के कारण भगवान् को तवे सी तपी हुई रेत पर खड़ा कर दिया। सयोगवश उस समय 'शख' राजा का भगिनी-पुत्र 'चित्र' वहाँ आ पहुँचा। उसने समझा कर नाविक से प्रभु को मुक्त करवाया।[२]

आगे चलते हुए भगवान् 'वाणियग्राम' पहुंचे। वहाँ 'आनन्द' नामक श्रमणोपासक को अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी। वह बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करता था। उसने तीर्थंकर महावीर को देख कर वंदन किया और बोला—"आपका शरीर और मन वज्र सा दृढ़ है, इसलिए आप कठोर से कठोर कष्टो को भी मुस्कुराते हुए सहन कर लेते हैं। आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है।" यह उपासक 'आनन्द' पार्श्वनाथ की परम्परा का था, भगवान् महावीर का अन्तेवासी 'आनन्द' नही।

'वाणियग्राम' से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और विविध प्रकार की तपस्या एव योग-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ पर दशवाँ चातुर्मास पूर्ण किया।[३]

साधना का ग्यारहवाँ वर्ष

'सावत्थी' से भगवान् ने 'सानुलट्ठिय' सन्निवेश की ओर विहार किया। वहाँ सोलह दिन के निरन्तर उपवास किये और भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा एव सर्वतोभद्र प्रतिमाओं द्वारा विविध प्रकार से ध्यान की साधना करते रहे। भद्र आदि प्रतिमाओ मे प्रभु ने निम्न प्रकार से ध्यान की साधना की।

भद्र प्रतिमा मे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे चार-चार प्रहर ध्यान करते रहे। दो दिन की तपस्या का बिना पारणा किये प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अगीकार की। इसमे प्रति दिशा मे एक-एक अहोरात्र पर्यंत ध्यान किया। फिर इसका बिना पारणा किये ही सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना प्रारम्भ की। इसमे दश दिशाओ के क्रम से एक-एक अहोरात्र ध्यान करने से दस दिन हो

---

१ आव चू, २६६

२ आव चू, पृ० २६६

३ आव चू पृ० ३००

गये। इस प्रकार सोलह दिन के उपवासों में तीनो प्रतिमाओ की ध्यान-साधना भगवान् ने पूर्ण की।

प्रतिमाएं पूर्ण होने पर प्रभु 'आनन्द' गाथापति के यहाँ पहुचे। उस समय आनन्द की 'बहुला' दासी रसोईघर के बर्तनों को खाली करने के लिए रात्रि का अवशेष दोषीण अन्न डालने को बाहर आयी थी। उसने स्वामी को देख कर पूछा—"क्या चाहिए महाराज!" महावीर ने हाथ फैलाया तो दासी ने बड़ी श्रद्धा से अवशेष बासी भोजन भगवान् को दे डाला। भगवान् ने निर्दोष जान-कर उसी बासी भोजन से सहज भाव से पारणा किया। देवो ने पंच-दिव्य प्रकटाये और दान की महिमा से दासी को दासीत्व से मुक्त कर दिया।[1]

संगम देव के उपसर्ग

वहाँ से प्रभु ने 'दृढ भूमि' की ओर प्रयाण किया। नगरी के बाहर 'पेढाल' नाम के उद्यान में 'पोलास' नाम का एक चैत्य था। वहा अष्टम तप कर भगवान् ने थोड़ा सा देह को झुकाया और एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गये। फिर सब इन्द्रियो का गोपन कर दोनो पैरों को संकोच कर हाथ लटकाये, एक रात की पड़िमा मे स्थित हुए। उस समय देव-देवियो के विशाल समूह के बीच सभा मे बैठे हुए देवराज शक्र ने भगवान् को अवधिज्ञान से ध्यानस्थ देख कर नमस्कार किया और बोले—"भगवान् महावीर का धैर्य और साहस इतना अनूठा है कि मानव तो क्या, शक्तिशाली देव और दानव भी उनको साधना से विचलित नही कर सकते।"

सब देवो ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया किन्तु संगम नामक एक देव के गले यह बात नही उतरी। उसने सोचा—"शक्र यों ही झूठी-मूठी प्रशंसा कर रहे है। मैं अभी जाकर उनको विचलित कर देता हूँ।" ऐसा सोच कर वह जहाँ भगवान् ध्यानस्थ खड़े थे, वहा आया। आते ही उसने एक-से एक बढ़ कर उपसर्गों का जाल बिछा दिया। शरीर के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। फिर भी जब भगवान् प्रतिकूल उपसर्गो से किंचिन्मात्र भी चलायमान नही हुए तो उसने अनुकूल उपसर्ग आरम्भ किये। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य उपस्थित किये। गगनमंडल से तरुणी व सुन्दर अप्सराए उतरी और हाव-भाव आदि करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगी। पर महावीर पर उनका कोई असर नही हुआ, वे सुमेरु की तरह ध्यान मे अडोल खडे रहे।

संगम ने एक रात मे निम्नलिखित बीस भयंकर उपसर्ग उपस्थित किये—

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३०१।

(२) वज्रमुखी चीटियाँ उत्पन्न की, जिन्होंने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।

(३) डाँस और मच्छर छोड़े, जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।

(४) दीमक उत्पन्न की- जो शरीर को काटने लगी।

(५) बिच्छुओं द्वारा डक लगवाये।

(६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

(७) भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पों से कटवाया।

(८) चूहे उत्पन्न किये, जो शरीर को काट-काट कर ऊपर पेशाब कर जाते।

(९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनको सू डो से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दाँतो से प्रभु पर प्रहार करवाये।

(११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा।

(१२) बाघ बन कर प्रभु को नखो से विदारण किया।

(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बना कर करुणविलाप करते दिखाया।

(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरो के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की।

(१५) चाण्डाल का रूप बना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियो के पिंजर लटकाये जो चोंचों और नखो से प्रहार करने लगे।

(१६) आँधी का रूप खड़ा कर कई बार भगवान् के शरीर को उठाया।

(१७) कलकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया।

(१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन मे धँस गये।

(१९) देव रूप से विमान मे बैठ कर आया और बोला—"कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष) ? और

(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया; किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नहीं हुए।

रात भर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा। महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर

'वालुका' की ओर विहार किया ।[1] भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर संगम लज्जित हुआ । उसे स्वर्ग मे आते लज्जा आने लगी । इतने पर भी उसका जोश ठडा नही हुआ । उसने पाँच सौ चोरों को मार्ग में खड़ा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा । 'वालुका' मे भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेत्ता', 'मलभ' और हस्तिशीर्ष आदि गाँवो मे जहाँ भी पधारे वहाँ संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा ।[2]

एक बार भगवान् 'तोसलि गाँव' के उद्यान में ध्यानस्थ विराजमान थे, तब संगम साधु-वेष बना कर गाँव के घरों मे सेंध लगाने लगा । लोगो ने चोर समझ कर जब उसको पकडा और पीटा तो वह बोला—"मुझे क्यों पीटते हो ? मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है । यदि तुम्हें असली चोर को पकडना है तो उद्यान में जाओ, जहाँ मेरे गुरु कपट रूप में ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकडो ।" उसकी बात पर विश्वास कर तत्क्षण लोग उद्यान मे पहुँचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्सियों से जकड कर गाँव की ओर ले जाने लगे । उस समय 'महाभूतिल' नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया, क्योंकि उसने पहले 'कुण्डग्राम' मे भगवान् महावीर को देखा था । उसने लोगों को समझा कर महावीर को छुड़ाया और कहा—"यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं, चोर नही ।" ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगो ने प्रभु से क्षमायाचना की । झूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले संगम को लोग खोजने लगे तो उसका कही पता नही चला । इस पर लोगो ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है ।[3]

इसके पश्चात् भगवान् 'मोसलि-ग्राम' पधारे । संगम ने यहाँ पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया । भगवान् को पकड़-कर राज्य-सभा मे ले जाया गया । वहाँ 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुड़ा दिया । यहाँ भी संगम लोगों की पकड मे नहीं आया और भाग गया । फिर भगवान् लौट कर 'तोसलि' आये और गाँव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये । संगम ने यहाँ भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हें फँसाने की भावना से ला रखे और स्वयं कहीं जाकर सेंध लगाने लगा । पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया । अधिकारियों ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फाँसी की सजा सुना दी । ज्योंही प्रभु को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा कर उनकी गर्दन मे फंदा डाला और नीचे तख्ती हटाई कि गले का फंदा टूट गया । पुनः फंदा लगाया और वह भी टूट गया । इस प्रकार सात बार फाँसी पर चढाने पर

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

२ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११ ।

३ आवश्यक चूर्णि, पृ ३१२

(२) वज्रमुखी चीटियां उत्पन्न की, जिन्होने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।

(३) डांस और मच्छर छोड़े, जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।

(४) दीमक उत्पन्न की- जो शरीर को काटने लगी।

(५) बिच्छुओ द्वारा डंक लगवाये।

(६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

(७) भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पो से कटवाया।

(८) चूहे उत्पन्न किये, जो शरीर को काट-काट कर ऊपर पेशाब कर जाते।

(९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनको सूंडों से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दांतो से प्रभु पर प्रहार करवाये।

(११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा।

(१२) बाघ बन कर प्रभु को नखों से विदारण किया।

(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बना कर करुणविलाप करते दिखाया।

(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरों के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की।

(१५) चाण्डाल का रूप बना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियो के पिंजर लटकाये जो चोंचो और नखो से प्रहार करने लगे।

(१६) आंधी का रूप खडा कर कई बार भगवान् के शरीर को उठाया।

(१७) कलकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया।

(१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन मे धंस गये।

(१९) देव रूप से विमान मे बैठ कर आया और बोला—"कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष)? और

(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया, किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नही हुए।

रात भर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा। महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर

'वालुका' की ओर विहार किया।[1] भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर संगम लज्जित हुआ। उसे स्वर्ग मे जाते लज्जा आने लगी। इतने पर भी उसका जोश ठंडा नही हुआ। उसने पाँच सौ चोरो को मार्ग में खड़ा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा। 'वालुका' मे भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेत्ता', 'मलय' और हस्तिशीर्ष आदि गाँवो में जहाँ भी पधारे वहाँ संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा।[2]

एक बार भगवान् 'तोसलि गाँव' के उद्यान में ध्यानस्थ विराजमान थे, तब संगम साधु-वेष बना कर गाँव के घरों में सेंध लगाने लगा। लोगो ने चोर समझ कर जब उसको पकड़ा और पीटा तो वह बोला—"मुझे क्यों पीटते हो? मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हें असली चोर को पकड़ना है तो उद्यान में जाओ, जहाँ मेरे गुरु कपट रूप में ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकड़ो।" उसकी बात पर विश्वास कर तत्क्षण लोग उद्यान मे पहुँचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्सियों से जकड़ कर गाँव की ओर ले जाने लगे। उस समय 'महाभूतिल' नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया, क्योंकि उसने पहले 'कुण्डग्राम' मे भगवान् महावीर को देखा था। उसने लोगो को समझा कर महावीर को छुड़ाया और कहा—"यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र है, चोर नही।" ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगो ने प्रभु से क्षमायाचना की। झूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले संगम को लोग खोजने लगे तो उसका कही पता नही चला। इस पर लोगों ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है।[3]

इसके पश्चात् भगवान् 'मोसलि-ग्राम' पधारे। संगम ने वहाँ पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया। भगवान् को पकड़-कर राज्य-सभा मे ले जाया गया। वहाँ 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुड़ा दिया। यहाँ भी संगम लोगों की पकड़ मे नही आया और भाग गया। फिर भगवान् लौट कर 'तोसलि' आये और गाँव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। संगम ने यहाँ भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हें फँसाने की भावना से ला रखे और स्वयं कही जाकर सेंध लगाने लगा। पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया। अधिकारियो ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फाँसी की सजा सुना दी। ज्योंही प्रभु को फाँसी के तख्ते पर चढा कर उनकी गर्दन मे फंदा डाला और नीचे तख्ती हटाई कि गले का फंदा टूट गया। पुनः फंदा लगाया और वह भी टूट गया। इस प्रकार सात बार फाँसी पर चढाने पर

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११।

२ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११।

३ आवश्यक चूर्णि, पृ ३१२

भी फांसी का फंदा टूटता ही रहा तो दर्शक एवं अधिकारी चकित हो गये। अधिकारी पुरुषों ने प्रभु को महापुरुष समझ कर मुक्त कर दिया।[1]

यहाँ से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहाँ भी संगम देव ने महावीर पर चोरी का आरोप लगा कर उन्हें पकड़वाया, किन्तु कौशिक नाम के एक अश्व-व्यापारी ने पहचान कर भगवान को मुक्त करवा दिया।[2]

भगवान् वहाँ से व्रजगाँव पधारे, वहाँ पर उस दिन कोई महोत्सव था। अतः सब घरों में खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषरणा' कर दी। भगवान् इसे संगमकृत उपसर्ग समझ कर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार लगातार छः मास तक अगणित कष्ट देने पर भी जब संगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे हैं, तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् के पास आया और बोला—"भगवन् ! देवेन्द्र ने आपके विषय में जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो ! मेरे अपराध क्षमा करो। सचमुच आपकी प्रतिज्ञा सच्ची है और आप उसके पारगामी हैं। अब आप भिक्षा के लिए जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होगा।"

संगम की बात सुन कर महावीर बोले—"संगम ! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा—ग्रहण करता हूं। मुझे किसी के आश्वासन की अपेक्षा नहीं है।" दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्ण कर भगवान् उसी गाँव में भिक्षार्थ पधारे और 'वत्सपालक' बुढ़िया के यहाँ परमान्न से पारणा किया। दान की महिमा से वहाँ पर पंच-दिव्य प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।

संगम देव के सम्बन्ध में आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति और आवश्यक चूर्णि में निम्नलिखित उल्लेख किये हैं :—

"छम्मासे अणुबद्धं, देवो कासी य सो उ उवसग्गं।
दट्ठूण वयग्गामे वंदिय वीरं पडिनियत्तो ॥५१२॥

एवं सोऽभविकः संगमक नामा देवः षण्मासान् अनुबद्ध—सन्ततं उपसर्ग-मकार्षीत् इति दृष्ट्वा च व्रजग्रामे गोकुले गो परिणाममभग्न उपशान्तो वीरं—महावीरं वन्दित्वा प्रतिनिवृत्तः।

१ आवश्यक चूर्णि, पृ ३१३
२ आवश्यक चू., पृ० ३१३

इतो य—सोहम्मे कप्पे सव्वे देवा तद्दिवसं उव्विग्गमणा अच्छंति, संगमतो य सोहम्म गतो, तत्थ सक्को तं दट्ठूण परम्मुहो ठितो भणइ—देवे भो। सुणह, एस दुरप्पा, न एएण ममवि चित्तरक्खा कया, नवि अन्नेसिं देवाणं, जतो तित्थगरो आसातितो, न एएण अम्हं कज्जं, असंभासो, निव्विसतो उकी रउ। ततो निच्छूढो सह देवीहिं, सेसा देवा इंदेण वारिया।

देवो चुतो पहिड्ढी, सो मंदरचूलियाए सिहरंमि।
परिवारितो सुरबहूहिं, तस्स य अयरोवमं सेसं ॥५१३॥

स संगमकनामा महर्द्धिको देवः स्वर्गात् च्युतः—भ्रष्टः सन् परिवारितः सुरवधूभिर्गृहीताभिर्मन्दरचूलिकायाः शिखरे—उपरितनविभागे यानकेन विमानेनागत्य स्थितः. तस्य एकमतरोपमं आयुषः शेषम्।"[1]

अर्थात्—छह मास तक निरन्तर भ० महावीर को घोरतर उपसर्ग देने के पश्चात् भी संगम देव ने देखा कि प्रभु किसी भी दशा मे, किसी भी उपाय द्वारा ध्यान से विचलित नही किये जा सकते तो भ० महावीर से व्रजग्राम मे क्षमा मांग कर और उन्हें वन्दन कर वह सौधर्म देवलोक मे लौट गया। सौधर्मकल्प मे सभी देव उस दिन उद्विग्नावस्था मे बैठे थे। संगम देव को देखते ही देवराज शक्र ने उसकी ओर से अपना मुख मोड लिया और देवों को सम्बोधित करते हुए कहा—हे देवो। सुनो, यह संगम देव बड़ा दुरात्मा-दुष्ट है। इसने तीर्थंकर प्रभु की आसातना कर मेरे मन को भी गहरी चोट पहुँचाई है और अन्य सब देवो के चित्त को भी। अब यह अपने काम का नही है। वस्तुतः यह संगम संभाषण करने योग्य भी नही है। अतः देवलोक से इसे निष्कासित किया जाय। उसे तत्काल उसकी देवियो के साथ सौधर्मकल्प से जीवन भर के लिये निष्कासित कर दिया गया। उसके आभियोगिक शेष देवो को शक्र ने उसके साथ आने से रोक कर सौधर्मकल्प मे ही रखा। सौधर्मकल्प से भ्रष्ट हो वह संगम अपनी देवियों के साथ एक विमान में बैठ मन्दरगिरि के शिखर पर आया और वहां रहने लगा। उस समय उसकी एक सागर आयु शेष थी।

निखिल विश्वैकबन्धु भ० महावीर को निरन्तर घोर उपसर्ग दे कर संगम देव ने प्रगाढ दुष्कर्मों का बन्ध किया। उन दुष्कर्मों का अति कटु फल भवान्तर मे ही तो उसे मिलेगा ही परन्तु अपने वर्तमान के देवभव में भी वह शक्र द्वारा सौधर्म देवलोक से निष्कासित कर दिया गया। दिव्य सुखों से ओतप्रोत सौधर्म स्वर्ग से मक्खी की तरह फेंका जाकर मर्त्यलोक के मन्दरगिरि पर रहने के लिये बाध्य कर दिया गया।

इन्द्र के सामानिक देव को भी, उसके द्वारा केवल परीक्षा के लिये किये

[1] आवश्यक मलय वृत्ति, पूर्वभाग, पत्र २६३

गये दुष्कार्यों का इस प्रकार का कटु फल भोगना पड़ रहा है तो जान बूझ कर किसी के अहित की भावना से किये गये पापो का कितना तीव्रतम कटु फल भोगना पड़ेगा, उसका संगम के उदाहरण से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

व्रज गाँव से 'आलंभिया', 'श्वेताम्बिका', 'सावत्थी', 'कोशाम्बी,, 'वाराणसी', 'राजगृह' और मिथिला आदि को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान मे बलदेव के मन्दिर में चातुर्मासिक तप अंगीकार कर ध्यानस्थ हुए । इस वर्ष का वर्षाकाल वही पूर्ण हुआ ।

जीर्ण सेठ की भावना

वैशाली में जिनदत्त नामक एक भावुक एवं श्रद्धालु श्रावक रहता था । आर्थिक स्थिति क्षीण होने से उसका घर पुराना हो गया और लोग उसको जीर्ण सेठ कहने लगे । वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था । भगवान् की पद-रेखाओ के अनुसंधान मे वह उस उद्यान मे गया और प्रभु को ध्यानस्थ देख कर परम प्रसन्न हुआ ।

प्रीतिवश वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि के लिए भावना करता । इस तरह निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाह करने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नही हो सकी ।

चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने संकल्प के अनुसार गवेषणा करते हुए 'अभिनव' श्रेष्ठी के द्वार पर खड़े रहे । यह नया धनी था, इसका मूल नाम पूर्ण था । प्रभु को देख कर सेठ ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया और चम्मच भर कुलत्थ बहराये । भगवान् ने उसी से चार मास की तपस्या का पारणा किया । पंच-दिव्य वृष्टि के साथ देव-दुन्दुभि बजी । उधर जीर्ण सेठ भगवान् के पधारने की प्रतिक्षा में उत्कट भावना के साथ प्रभु को पारणा कराने की प्रतीक्षा मे खड़ा रहा, वह भावना की अत्यन्त उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुका था । इसी समय देव दुन्दुभि का दिव्य घोष उसके कर्णरन्ध्रों मे पड़ा और इस प्रकार उसकी प्रतीक्षा केवल प्रतीक्षा ही बनी रही । इस उत्कट-उज्ज्वल भावना से जीर्ण सेठ ने बारहवें स्वर्ग का बन्ध किया । कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नही सुन पाता तो भावना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता ।

साधना का बारहवाँ वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वहाँ से 'सुंसुमार' पधारे । यहाँ 'भूतानन्द' ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया—"कुछ समय में आपको केवल-

ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होगी। भूतानन्द की बात सुन कर प्रभु मौन ही रहे।

'सुंसुमारपुर' मे चमरेन्द्र के उत्पात की घटना और शरण-ग्रहण का भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन है, जो इस प्रकार है :—

भगवान् ने कहा—"जिस समय मैं छद्मस्थचर्या के ग्यारह वर्ष बिता चुका था उस समय की बात है कि छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारणा करते हुए मैं सुंसुमारपुर के वनखण्ड मे आया और अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यानावस्थित हो गया। उस समय चमरचचा में 'पूरण' बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ। उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोग भोगते देखा। यह देख कर उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ—"यह मृत्यु को चाहने वाला लज्जारहित कौन है जो मेरे ऊपर पैर किये इस तरह दिव्य भोग भोग रहा है?" चमरेन्द्र को सामानिक देवों ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेन्द्र हैं, सदा से ये अपने स्थान को भोग रहे हैं। चमरेन्द्र को इससे संतोष नही हुआ। वह शक्रेन्द्र की शोभा को नष्ट करने के विचार से निकला और मेरे पास आकर बोला—"भगवन्! मैं आपकी शरण लेकर स्वयं ही देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।" इसके बाद वह वैक्रिय रूप बना कर सौधर्म देवलोक मे गया और हुंकार करते हुए बोला—कहाँ है? देवराज शक्रेन्द्र कहाँ है? चौरासी हजार सामानिक देव और करोड़ो अप्सरायें कहाँ हैं, उन सब को मैं अभी नष्ट करता हूँ।"

चमरेन्द्र के रोषभरे अप्रिय शब्द सुन कर देवपति शक्रेन्द्र को क्रोध आया और वे भृकुटि चढाकर बोले—"अरे हीन-पुण्य! असुरेन्द्र! असुरराज! तू आज ही मर जायेगा।" ऐसा कह कर शक्रेन्द्र ने सिंहासन पर बैठे-बैठे ही वज्र हाथ मे ग्रहण किया और चमरेन्द्र पर दे मारा। हजारो उल्काओ को छोड़ता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र भयभीत हो गया और सिर नीचा व पद ऊपर कर के भागते हुए तेज गति से मेरे पास आया एवं अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"भगवन्! आप ही शरणाधार हो" और यह कहते हुए वह मेरे पाँवो के बीच गिर पड़ा।

उस समय शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि चमर अपने बल से तो इतना साहस नही कर सकता, इसके पीछे कोई पीठ-बल होना चाहिए। विचार करते हुए उसने अवधिज्ञान से मुझे देखा और जान लिया कि भगवान् महावीर की

---

१ ममं च ण चउरगुलमसपत्त वज्जं पडिसाहरइ।

[भगवती शतक, ३।२।सू १४५।३०२]

शरण लेकर यह यहाँ आया है। अतः ऐसा न हो कि मेरे छोड़े हुए वज्र से भगवान् को पीडा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड़ लिया।

भगवान् की चरण-शरण मे होने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय प्रदान किया, और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुन्सुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नन्दिग्राम' होते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पधारे। वहाँ ग्वालो ने उन्हे अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

कठोर अभिग्रह

मेढिया ग्राम से भगवान् कोशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होने एक विकट-अभिग्रह धारण किया, जो इस प्रकार है :—

"द्रव्य से उड़द के बाकले[1] सूप के कोने मे हों[2]; क्षेत्र मे देहली के बीच खड़ी हो[3], काल से भिक्षा समय बीत चुका हो[4], भाव मे राजकुमारी दासी बनी हो[5], हाथ मे हथकड़ी[6] और पैरों मे बेड़ी हो[7], मुंडित हो[8], आंखो में आंसू[9] और तेले की तपस्या किये हुए[10] हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नही।"[1]

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्बी मे पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन की दृष्टि से उच्च, नीच एवं मध्यम सब प्रकार के कुलो मे जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरों लौट आते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नही पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यो ही लौट क्यों जाते है। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये, किन्तु अभिग्रह पूर्ण नहीं होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का संयोग प्राप्त नही हुआ। नगर भर में यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नही चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर मे कौनसी ऐसी बुराई या कमी है, जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

उपासिका नन्दा को चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देने उठी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बड़ा दु:ख हुआ।

---

१ आव. चू., प्रथम भाग, पृ. ३१६–३१७

उस समय दासियो ने कहा—"देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते है।" तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली—"भगवान् महावीर चार महीनों से इस नगर मे बिना कुछ लिए ही लौट जाते है, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि, जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सके ?" सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसग पर राजा की प्रतिहारी 'विजया' भी उपस्थित थी, उसने राजभवन में जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दु.खी हुई और राजा से बोली—"महाराज ! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सके।" राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने 'तथ्यवादी' नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नहीं सका। फिर राजा ने मंत्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा—"राजन् ! अभिग्रह अनेक प्रकार के होते है, पर किसके मन मे क्या है, यह कहना कठिन है।" उन्होंने साधुओ के आहार-पानी लेने-देने के नियमो की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नही ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पाँच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु 'धन्ना' श्रेष्ठी के घर गये, जहाँ राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए अपने धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुंडित कर, हथकड़ी पहनाये तलघर मे बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया, किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता मे कुछ न्यूनता देख कर वहाँ से लौटने लगे, तो चन्दना के नयनों से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट कर बहुमूल्य आभूषणो मे बदल गई। आकाश मे देव-दुन्दुभि बजी, पंच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीड़ित-मलिन मुख सहसा चमक उठा। पाँच महिने पच्चीस दिन के बाद भगवान् का पारणा हुआ।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

जनपद में विहार

'कौशाम्बी' से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेत्ता, पालक प्रभृति गाँवो में

शरण लेकर यह यहाँ आया है। अतः ऐसा न हो कि मेरे छोड़े हुए वज्र से भगवान् को पीड़ा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड़ लिया।

भगवान् की चरण-शरण में होने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय प्रदान किया, और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुन्सुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नंदिग्राम' होते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पधारे। वहाँ ग्वालो ने उन्हे अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

कठोर अभिग्रह

मेढ़िया ग्राम से भगवान् कोशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होंने एक विकट-अभिग्रह धारण किया, जो इस प्रकार है :—

"द्रव्य से उड़द के बाकले[1] सूप के कोने मे हो[2]; क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो[3], काल से भिक्षा समय बीत चुका हो[4], भाव से राजकुमारी दासी बनी हो[5], हाथ में हथकड़ी[6] और पैरों मे बेड़ी हो[7], मुंडित हो[8], आँखों में आँसू[9] और तेले की तपस्या किये हुए[10] हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नही।"[1]

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्बी मे पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन की दृष्टि से उच्च, नीच एवं मध्यम सब प्रकार के कुलों में जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरों लौट आते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नहीं पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यों ही लौट क्यो जाते हैं। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये, किन्तु अभिग्रह पूर्ण नहीं होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का संयोग प्राप्त नही हुआ। नगर भर में यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर में कौनसी ऐसी बुराई या कमी है, जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

उपासिका नन्दा की चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देने उठी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बड़ा दु:ख हुआ।

---

१ आव. चू., प्रथम भाग, पृ. ३१६–३१७

उस समय दासियो ने कहा—"देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते है।" तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली—"भगवान् महावीर चार महीनो से इस नगर मे बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि, जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सके?" सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसंग पर राजा की प्रतिहारी 'विजया' भी उपस्थित थी, उसने राजभवन मे जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुई और राजा से बोली—"महाराज! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सके।" राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने 'तथ्यवादी' नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नहीं सका। फिर राजा ने मंत्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा—"राजन्! अभिग्रह अनेक प्रकार के होते है, पर किसके मन मे क्या है, यह कहना कठिन है।" उन्होने साधुओं के आहार-पानी लेने-देने के नियमो की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नही ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पाँच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु 'धन्ना' श्रेष्ठी के घर गये, जहाँ राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए अपने धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुंडित कर, हथकडी पहनाये तलघर मे बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया, किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता मे कुछ न्यूनता देख कर वहाँ से लौटने लगे, तो चन्दना के नयनो से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट कर बहुमूल्य आभूषणों मे बदल गई। आकाश मे देव-दुन्दुभि बजी, पंच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीडित-मलिन मुख सहसा चमक उठा। पाँच महिने पच्चीस दिन के बाद भगवान् का पारणा हुआ।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

जनपद में विहार

'कोशाम्बी' से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेता, पालक प्रभृति गाँवों में

होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वही 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला मे बारहवां चातुर्मास पूर्ण किया ।[1]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे। यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं, जो देव इनकी सेवा में आते हैं। ऐसा सोच-कर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है?[2] भगवान् ने कहा—"'मैं' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।" स्वातिदत्त ने कहा—"'मैं' शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते है? आत्मा का स्वरूप क्या है?" प्रभु बोले—"आत्मा इन अग-उपागो से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूपी होने के कारण इन्द्रियां आत्मा को ग्रहण नही कर पाती। अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है।" फिर स्वातिदत्त ने कहा—"क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है?" भगवान् बोले—"ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[3] के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ।

ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहां से विहार कर प्रभु 'जभियग्राम'[4] पधारे। वहां कुछ समय रहने के पश्चात् प्रभु मेढियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[5] ग्राम गये और गांव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। सध्या के समय एक ग्वाला वहां आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड कर कार्य हेतु गांव मे चला गया। लौटने पर उसे बैल नही मिले तो उसने महावीर से पूछा, किन्तु महावीर मौन थे। उनके उत्तर नही देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनो कानो मे कास नामक घास की शलाकाएँ डाली और पत्थर से ठोक कर कान के बराबर कर दी। भगवान् को इस

१ आव० चू०, पृ० ३२०।
२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष ।
३ आव० चू०, पृ० ३२०—
४ आव० चू०, पृ० ३२१।
५ छम्माणि मगध देश मे था,

शलाका-बेधन से अति वेदना हो रही थी, तदुपरान्त भी वे इस वेदना को पूर्व-संचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[1] पधारे और भिक्षा के लिए 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहाँ से चल कर गाँव के बाहर उद्यान में आये और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान में पहुँचे। उन्होंने भगवान् के शरीर की तेल से खूब मालिश की और फिर सडासी से कानों की शलाकाएँ खींच कर बाहर निकाली। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली, जिससे कि सारा उद्यान गूँज उठा। फिर वैद्य खरक ने सरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े।

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने[2] का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और सगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुमार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की

१ आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १६८।
२ कल्पसूत्र, ११६।

होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वहीं 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला मे बारहवां चातुर्मास पूर्ण किया।[1]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे। यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं, जो देव इनकी सेवा में आते हैं। ऐसा सोचकर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है ?[2] भगवान् ने कहा—"'मैं' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।" स्वातिदत्त ने कहा—"'मैं' शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ?" प्रभु बोले—"आत्मा इन अंग-उपांगो से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूपी होने के कारण इन्द्रियाँ आत्मा को ग्रहण नही कर पाती। अतः शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है।" फिर स्वातिदत्त ने कहा—"क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है ?" भगवान् बोले—"ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[3] के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ।

ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहाँ से विहार कर प्रभु 'जंभियग्राम'[4] पधारे। वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् प्रभु मेढियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[5] ग्राम गये और गाँव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। संध्या के समय एक ग्वाला वहाँ आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड कर कार्य हेतु गाँव मे चला गया। लौटने पर उसे बैल नही मिले तो उसने महावीर से पूछा, किन्तु महावीर मौन थे। उनके उत्तर नही देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनो कानो मे कास नामक घास की शलाकाएँ डाली और पत्थर से ठोक कर कान के बराबर कर दी। भगवान् को इस

---

१ आव० चू०, पृ० ३२०।

२ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१०।

३ आव० चू०, पृ० ३२०–३२१

४ आव० चू०, पृ० ३२१।

५ छम्माणि मगध देश मे था, बौद्ध ग्रन्थों मे इसका नाम खाणुमत प्रसिद्ध है।
[वीर विहार मीमासा हिन्दी, पृ० २८]

शलाका-वेधन से अति वेदना हो रही थी, तदुपरान्त भी वे इस वेदना को पूर्व-सचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[1] पधारे और भिक्षा के लिए 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहाँ से चल कर गाँव के बाहर उद्यान में आये और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान मे पहुँचे। उन्होने भगवान् के शरीर को तेल से खूब मालिश की और फिर सडासी से कानो की शलाकाएँ खींच कर बाहर निकालीं। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली, जिससे कि सारा उद्यान गूँज उठा। फिर वैद्य खरक ने संरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े।

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने[2] का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और सगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों मे भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल मे भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की

१ आ० मलय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १६८।
२ कल्पसूत्र, ११६।

ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया। उनकी कठोर साधना और उग्र तपस्या बेजोड़ थी।

भगवान् महावीर ने अपनी तपःसाधना मे कई बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी ग्रहण नहीं किया। कभी वे दो-दो महीने और अधिक छै-छै महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात दिन निःस्पृह होकर विचरते रहे। पारणे मे भी वे नीरस आहार पाकर सन्तोष मानते। उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है :—

(१) एक छमासी तप।
(२) एक पाँच दिन कम छमासी तप।
(३) नौ [९] चातुर्मासिक तप।
(४) दो त्रैमासिक तप।
(५) दो [२] सार्धद्वैमासिक तप।
(६) छै [६] द्वैमासिक तप।
(७) दो [२] सार्धमासिक तप।
(८) बारह [१२] मासिक तप।
(९) बहत्तर पाक्षिक तप।
(१०) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की।
(११) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की।
(१२) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की।
(१३) दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
(१४) बारह अष्टम भक्त।
(१५) तीन सौ उनचास दिन पारणा।
(१६) एक दिन दीक्षा का।[१]

आचाराग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्याये भी प्रभु ने की थी। इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा महावीर की तपःसाधना उत्कृष्ट मानी गई है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी। कहा जाता है कि उनके संचित कर्म भी अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक थे।

महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र मे निम्न उपमाओ से बताई गई है। वे :—

[१] कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप,
[२] शंख की तरह निरंजन राग-रहित,
[३] जीव की तरह अप्रतिहत गति,
[४] गगन की तरह आलम्बन रहित,
[५] वायु की तरह अप्रतिबद्ध,
[६] शरद् ऋतु के स्वच्छ जल के समान निर्मल,
[७] कमलपत्र के समान भोग मे निर्लेप,

१ कल्पसूत्र, ११७।

[८] कच्छप के समान जितेन्द्रिय,

[९] गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित-एकाकी,

[१०] पक्षी की तरह अनियत विहारी,

[११] भारण्ड की तरह अप्रमत्त,

[१२] उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर,

[१३] वृषभ के समान पराक्रमी,

[१४] सिंह के समान दुर्द्धर्ष,

[१५] सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल,

[१६] सागर की तरह गंभीर,

[१७] चन्द्रवत् सौम्य।

[१८] सूर्यवत् तेजस्वी,

[१९] स्वर्ण की तरह कान्तिमान,

[२०] पृथ्वी के समान सहिष्णु और

[२१] अग्नि की तरह जाज्वल्यमान-तेजस्वी थे।

केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष पूर्ण हो गये। तेरहवें वर्ष के मध्य मे ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एवं चतुर्थ पक्ष में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर बढ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर में, जृंभिकाग्राम नगर के बाहर, ऋजुबालुका नदी के किनारे जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र मे, शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होने क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की उपलब्धि की। अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये और देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर, सहित सम्पूर्ण लोक की त्रिकालवर्ती पर्याय को जानने तथा देखने वाले, सब जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी बन गये।

प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यो की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये। देवताओ ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की। यह जानते हुए भी कि यहाँ सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नही है, भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया। वहाँ मनुष्यों की उपस्थिति नही होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नही किया। तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नही जाता, किन्तु महावीर

ओर तनिक भी ध्यान नही दिया। जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया। उनकी कठोर साधना और उग्र तपस्या बेजोड़ थी।

भगवान् महावीर ने अपनी तप:साधना मे कई वार पन्द्रह-पन्द्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी ग्रहण नही किया। कभी वे दो-दो महीने और अधिक छै-छै महीने तक पानी नही पीते हुए रात दिन नि:स्पृह होकर विचरते रहे। पारणे मे भी वे नीरस आहार पाकर सन्तोष मानते। उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है:—

(१) एक छमासी तप।
(२) एक पाँच दिन कम छमासी तप।
(३) नौ [९] चातुर्मासिक तप।
(४) दो त्रैमासिक तप।
(५) दो [२] सार्धद्वैमासिक तप।
(६) छै [६] द्वैमासिक तप।
(७) दो [२] सार्धमासिक तप।
(८) बारह [१२] मासिक तप।
(९) वहत्तर पाक्षिक तप।
(१०) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की।
(११) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की।
(१२) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दस दिन की।
(१३) दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
(१४) बारह अष्टम भक्त।
(१५) तीन सौ उनचास दिन पारणा।
(१६) एक दिन दीक्षा का।[1]

आचाराग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्यायें भी प्रभु ने की थीं। इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर की तप:साधना उत्कृष्ट मानी गई है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी। कहा जाता है कि उनके संचित कर्म भी अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा अधिक थे।

महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई है। वे:—

[१] कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप,
[२] शंख की तरह निरंजन राग-रहित,
[३] जीव की तरह अप्रतिहत गति,
[४] गगन की तरह आलम्बन रहित,
[५] वायु की तरह अप्रतिबद्ध,
[६] शरद् ऋतु के स्वच्छ जल के समान निर्मल,
[७] कमलपत्र के समान भोग में निर्लेप,

१ कल्पसूत्र, ११७।

[८] कच्छप के समान जितेन्द्रिय,

[९] गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित-एकाकी,

[१०] पक्षी की तरह अनियत विहारी,

[११] भारण्ड की तरह अप्रमत्त,

[१२] उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर,

[१३] वृषभ के समान पराक्रमी,

[१४] सिंह के समान दुर्द्धर्ष,

[१५] सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल,

[१६] सागर की तरह गंभीर,

[१७] चन्द्रवत् सौम्य।

[१८] सूर्यवत् तेजस्वी,

[१९] स्वर्ण की तरह कान्तिमान,

[२०] पृथ्वी के समान सहिष्णु और

[२१] अग्नि की तरह जाज्वल्यमान-तेजस्वी थे।

केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढे बारह वर्ष पूर्ण हो गये। तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एवं चतुर्थ पक्ष मे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर बढ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर मे, जृंभिकाग्राम नगर के बाहर, ऋजुबालुका नदी के किनारे जीर्ण उद्यान के पास, श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र मे, शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होने क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण मे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग मे केवलज्ञान एव केवल दर्शन की उपलब्धि की। अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये और देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर, सहित सम्पूर्ण लोक की त्रिकालवर्ती पर्याय को जानने तथा देखने वाले, सब जीवो के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी बन गये।

प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यों की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये। देवताओं ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की। यह जानते हुए भी कि यहाँ सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नही है, भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया। वहाँ मनुष्यों की उपस्थिति नहीं होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नही किया। तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नही जाता, किन्तु महावीर

की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा, जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम साहित्य मे, और शीलांकाचार्य के 'चउवन्न महापुरिस चरिउ' को छोडकर प्राय: सभी आगमेतर साहित्य मे भी यह सर्व-सम्मत मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि भगवान् महावीर की प्रथम देशना अभाविता परिषद् के समक्ष हुई। उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों की प्रथम देशना से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओ ने सर्वविरति महाव्रत अंगीकार किये, उस प्रकार भगवान् महावीर की प्रथम देशना से एक भी व्यक्ति ने सर्वविरति महाव्रत धारण नही किये।

इस सन्दर्भ मे श्री हेमचन्द्र आदि प्राय: सभी आचार्यो का यह अभिमत ध्वनित होता है कि भगवान् की प्रथम देशना के अवसर पर समवशरण मे एक भी भव्य मानव उपस्थित नही हो सका था।

पर आचार्य गुणचन्द्र ने अपने 'महावीर चरियम्' मे भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की परिषद् को अभाविता-परिषद् स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस परिषद् मे मनुष्य भी उपस्थित हुए थे।[1]

शीलाक जैसे उच्च कोटि के विद्वान् और प्राचीन आचार्य ने अपने 'चउवन्न महापुरिस चरियम्' मे 'अभाविता-परिषद्' का उल्लेख तक भी नही करते हुए 'ऋजुबालुका' नदी के तट पर हुई भगवान् महावीर की प्रथम देशना मे ही इन्द्र-भूति आदि ग्यारह विद्वानो के अपने-अपने शिष्यों सहित उपस्थित होने, उनकी मनोगत शकाओ का भगवान् द्वारा निवारण करने एव प्रभुचरणों मे दीक्षित हो गणधर-पद प्राप्त करने आदि का विवरण दिया है।[2]

मध्यमापावा में समवशरण

यहाँ से भगवान् 'मध्यमापावा' पधारे। वहाँ पर 'आर्य सोमिल' द्वारा एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमे कि उच्च कोटि के अनेक विद्वान् निमन्त्रित थे। भगवान् ने वहाँ के विहार को बडा लाभ का कारण समझा। जब 'जंभिय गाँव' से आप पावापुरी पधारे तब देवो ने अशोक वृक्ष

---

१ ताहे तिलायनाहो थुव्वन्तो देवनरनरिंदेहिं।
सिंहासणे निसीयइ, तित्थपणाम पकाऊण ।।४।।
जइविहु एरिसनाणेण जिणवरो मुणइ जोग्गयारहिय।
कप्पोत्ति तहवि साहइ, खणमेत्त धम्मपरमत्थ ।।५।।
[महावीर चरियम् (आचार्य गुणचन्द्र), प्रस्ताव ७]

२ चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २९९ से ३०३।

आदि महाप्रातिहार्यों[1] से प्रभु की महती महिमा की। देवों द्वारा एक भव्य और विराट् समवशरण की रचना की गई। वहाँ देव-दानव और मानवों आदि की विशाल सभा मे भगवान् उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए।[2] मेघ-सम गम्भीर ध्वनि मे महावीर ने अर्धमागधी भाषा मे देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तो के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर भावविभोर हो उठे।

इन्द्रभूति का आगमन

समवशरण मे आकाश-मार्ग से देव-देवियो के समुदाय आने लगे। यज्ञ-स्थल के पण्डितो ने देवगण को बिना रुके सीधे ही आगे निकलते देखा तो उन्हे आश्चर्य हुआ। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति को जब मालूम हुआ कि नगर के बाहर सर्वज्ञ महावीर आये है और उन्ही के समवशरण मे ये देवगण जा रहे है, तो उनके मन मे अपने पाण्डित्य का दर्प जागृत हुआ। वे भगवान् महावीर के अलौकिक ज्ञान की परख करने और उन्हे शास्त्रार्थ मे पराजित करने की भावना से समवशरण मे आये। उनके साथ पाँच सौ छात्र और अन्य विद्वान् भी थे।

समवशरण में आकर इन्द्रभूति ने ज्योंही महावीर के तेजस्वी मुख-मण्डल एव छत्रादि अतिशयों को देखा तो अत्यन्त प्रभावित हुए और महावीर ने जब उन्हे "इन्द्रभूति गौतम" कहकर सम्बोधित किया तो वे चकित हो गये। इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा—"मेरी ज्ञान विषयक सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण इन्होने नाम से पुकार लिया है। पर जब तक ये मेरे अंतरग सशयो का छेदन नही कर दे, मैं इन्हे सर्वज्ञ नही मानूँगा।"

इन्द्रभूति का शंका-समाधान

गौतम के मनोगत भावो को समझकर महावीर ने कहा—"गौतम! मालूम होता है, तुम चिरकाल से आत्मा के विषय में शकाशील हो।" इन्द्रभूति अपने अन्तर्मन के निगूढ प्रश्न को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होने कहा—"हाँ मुझे यह शंका है। 'श्रुतियो मे', विज्ञान-घन आत्मा भूत-समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी मे पुन' तिरोहित हो जाती है, अतः परलोक की सत्ता नही, ऐसा कहा गया है। जैसे—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य सञ्ज्ञास्ति।' इसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतो से पृथक् पुरुष का अस्तित्व कैसे संभव हो सकता है?"

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासन च।
भामण्डल दुन्दुभिरातपत्र, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य॥

२ आवश्यक, गा० ५३९।

इन्द्रभूति का प्रश्न सुनकर प्रभु महावीर ने शान्तभाव से उत्तर देते हुए—कहा—।'इन्द्रभूति ! तुम विज्ञानघन....' इस श्रुतिवाक्य का जिस रूप में अर्थ समझ रहे हो, वस्तुतः उसका वैसा अर्थ नही है। तुम्हारे मतानुसार विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतनापिण्ड है, पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञान-पर्यायो से है। आत्मा मे प्रतिपल नवीन ज्ञानपर्यायो का आविर्भाव और पूर्व-कालीन ज्ञानपर्यायो का तिरोभाव होता रहता है। जैसे कि कोई व्यक्ति एक घट को देख रहा है, उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा मे घट विषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। इस स्थिति को घट विषयक ज्ञानपर्याय कहेगे। कुछ समय के बाद वही मनुष्य जब घट को छोड़कर पट आदि पदार्थों को देखने लगता है तब उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है और पहले का घट-सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानघन हैं। यहाँ भूत शब्द का अर्थ पृथ्वी आदि पच महाभूत से न होकर जड़-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नही, पर पूर्व पर्याय की सत्ता नही, यह समझना चाहिये। इस प्रकार जब पुरुष मे उत्तरकालीन ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है, तब पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय सत्ताहीन हो जाता है। क्योकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय की सत्ता नही रह सकती। अतः 'न प्रेत्य सज्ञास्ति' कहा गया है।"

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस तर्क-प्रधान विवेचना को सुनकर इन्द्रभूति के हृदय का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये ही इन्द्रभूति आगे चलकर भगवान् महावीर के शासन मे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

दिगम्बर-परम्परा की मान्यता

इस सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि भगवान् महावीर को केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर देवो ने पच-दिव्यो की वृष्टि की और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही समवशरण की रचना कर दी। भगवान् महावीर ने पूर्वद्वार से समवशरण मे प्रवेश किया और वे सिंहासन पर विराजमान हुए।

भगवान् का उपदेश सुनने के लिये उत्सुक देवेन्द्र अन्य देवों के साथ हाथ जोड़े अपने प्रकोष्ठ मे प्रभु के समक्ष बैठ गये। पर प्रभु के मुखारविन्द से दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित नही हुई। निरन्तर कई दिनो की प्रतीक्षा के बाद भी जब प्रभु ने उपदेश नही दिया तो इन्द्र ने चिन्तित हो सोचा कि आखिर भगवान् के उपदेश न देने का कारण क्या है।

अवधिज्ञान से इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गणधर के अभाव में भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है, तो वे उपयुक्त पात्र की खोज में लगे और विचार करते करते उन्हें उस समय के प्रकाण्ड पण्डित इन्द्रभूति का ध्यान आया।

देवराज शक्र तत्काल शिष्य का छद्मवेश बना कर इन्द्रभूति के पास पहुँचे और सादर अभिवादन के पश्चात् बोले—"विद्वन् ! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ में अच्छी तरह नहीं आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए हैं, अतः आप कृपा कर मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।"

उत्तर में इन्द्रभूति ने कहा—"मैं तुम्हें गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ में आ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाने की प्रतिज्ञा करो।"

छद्मवेशधारी इन्द्र ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके सम्मुख यह गाथा प्रस्तुत की :—

पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य॥

[षट्खण्डागम, पु० ६, पृ० १२६]

इन्द्रभूति उक्त गाथा को पढ़ते ही असमंजस में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि पंच अस्तिकाय, षड्जीवनिकाय और अष्ट प्रवचन माताएँ कौन-कौन सी हैं। गाथा में उल्लिखित 'छज्जीवणिकाया' इस शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये, क्योंकि जीव के अस्तित्व के विषय में उनके मन में शंका घर किये हुए थी। उनके मन में विचारों का प्रवाह उमड़ पड़ा।

हठात् अपने विचार-प्रवाह को रोकते हुए इन्द्रभूति ने आगन्तुक से कहा—"तुम मुझे तुम्हारे गुरु के पास ले चलो। उनके सामने ही मैं इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा।"

अपने अभीप्सित कार्य को सिद्ध होता देख इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लिये भगवान् के समवशरण में पहुँचा।

गौतम के वहाँ पहुँचते ही भगवान् महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र के साथ सम्बोधित करते हुए कहा—"अहो गौतम इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के विषय में शंका है कि वास्तव में जीव है या नहीं। तुम्हारे अन्तर में जो इस प्रकार का विचार कर रहा है, वही निश्चित रूप से जीव है। उस जीव का सर्वदा अभाव न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही।"

भगवान् के मुखारविन्द से कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं की हुई अपने मन की शंका एवं उस शंका का समाधान सुन कर इन्द्रभूति श्रद्धा तथा भक्ति के उद्रेक से प्रभुचरणो पर अवनत हो प्रभु के पास प्रथम शिष्य के रूप से दीक्षित हो गये। इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर केवलज्ञान होने के ६६ दिन पश्चात् श्रावण-कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर ने प्रथम उपदेश दिया। यथा :—

वासस्स पढममासे, सावरणरणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजीरणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ।।

[तिलोयपण्णत्ती, १६८]

तीर्थ स्थापना

इन्द्रभूति के पश्चात् अग्निभूति आदि अन्य दस पण्डित भी क्रमशः आये और भगवान् महावीर से अपनी शंकाओं का समाधान पा कर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् महावीर ने उनको "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा, धुवेइ वा" इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानो ने द्वादशांग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की[1] और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागमयी वाणी श्रवण कर एक ही दिन में उनके इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पांच के पांच-पांच सौ, छठे और सातवे के साढे तीन तीन सौ, और शेष अन्तिम चार पण्डितों के तीन-तीन सौ छात्र थे। इस तरह कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म संघ मे राजकुमारी चन्दनबाला प्रथम साध्वी बनी। शख शतक आदि ने श्रावक धर्म और सुलसा आदि ने श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार 'मध्यमपावा' का वह 'महासेन वन' और वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा दे कर साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और स्वयं भावतीर्थंकर कहलाये।

महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्धमागधी भाषा मे किया था।[2] भगवान् की भाषा को आर्य-अनार्य सभी सरलता से समझ लेते थे।[3] जर्मन

---

१ उप्पन्न विगम धुमपय तियम्मि कहिए जिणेण तो तेहिं।
सव्वेहिं विय बुद्धीहिं बारस अगाइ रइयाइ ।। १५६४, महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित)

२ (क) समवा०, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, सू० ३४, पृ० १४६।

३ (क) समवायाग, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, पृ० १४६

विद्वान् रिचार्ड पिशल ने इसके अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है।[1] निशीथ चूर्णि में मगध के अर्द्ध भाग मे बोली जाने वाली अठारह देशी भाषाओं[2] मे नियत भाषा को अर्धमागधी[3] कहा है। नवांगी टीकाकार अभयदेव के मतानुसार इस भाषा को अर्धमागधी कहने का कारण यह है कि इसमे कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाते हैं।[4]

तीर्थ-स्थापना के पश्चात् पुनः भगवान् 'मध्यमापावा' से राजगृही को पधारे और इस वर्ष का वर्षावास वही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का प्रथम वर्ष

मध्यमपावा से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् साधु परिवार के साथ 'राजगृह' पधारे। राजगृह में उस समय पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ रहती थीं। भगवान् नगर के बाहर गुणशील चैत्य मे विराजे। राजा श्रेणिक को भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे राजसी शोभा में अपने अधिकारियों, अनुचरों और पुत्रों आदि के साथ भगवान् की वन्दना करने को निकले और विधिपूर्वक वन्दन कर सेवा करने लगे। उपस्थित सभा को लक्ष्य कर प्रभु ने धर्म-देशना सुनाई। श्रेणिक ने धर्म सुन कर सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।[5]

---

१ हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ३३।

२ (क) बृहत्कल्प भाष्य १ प्र० की वृत्ति १२३१ मे मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटिक, गौड, विदर्भ आदि देशो की भाषाओं को देशी भाषा कहा है।

(ख) उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में, गोल्ल, मगध, कर्णाटिक, अन्तरवेदी, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताइय (ताजिक), कोसल, मरहट्ठ और आन्ध्र प्रदेशो की भाषाओं का देशी भाषा के रूप से सोदाहरण उल्लेख किया है।

[डॉ० जगदीशचन्द्र जैन—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७-४२८]

३ मगहद्ध विसय भासा, निबद्ध अद्धमागहं अहवा अट्ठारह देसी भासा णियतं अद्धमागहं ११, ३६१८ निशीथ चूर्णि

४ (क) व्याख्या प्र० ५।४ सूत्र १९१ की टीका, पृ० २२१

(ख) औपपातिक, सू० ५६ टी०, पृ० १४८

५ (क) एमाइ धम्मकहं सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।
समत्तं पडिवन्ना केई पुण देस विरयाई॥ १२९४

[नेमिचन्द्र कृत महावीर चरियं]

(ख) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मं त्वभय-कुमाराद्या. प्रपेदिरे।३७६

[त्रि० श०, प० १०, स० ६]

नन्दिषेण की दीक्षा

राजकुमार मेघकुमार और नन्दिषेण ने धर्मदेशना सुन कर उस दिन भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है :—

महावीर प्रभु की वाणी सुनकर नन्दिषेण ने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही। श्रेणिक ने भी धर्मकार्य समझकर उसको अनुमति प्रदान की। अनुमति प्राप्त कर ज्योंही नन्दिषेण घर से चला कि आकाश से एक देवता ने कहा—"वत्स! अभी तुम्हारे चारित्रावरण का प्राबल्य है, अतः कुछ काल घर मे ही रहो, फिर कर्मों के हल्का हो जाने पर दीक्षित हो जाना।" नन्दिषेण भावना के प्रवाह मे बह रहा था, अतः वह बोला—"अजी! मेरे भाव पक्के हैं तथा मैं सयम मे लीन हूँ फिर मेरा चारित्रावरण क्या करेगा?" इस प्रकार कह कर वह भगवान् के पास आया और प्रभु-चरणो मे उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थविरो के पास ज्ञान सीखा और विविध प्रकार की तपस्या के साथ आतापना आदि से वह आत्मा को भावित करता रहा। कुछ काल के पश्चात् जब देव ने मुनि को विकट तप करते हुए देखा तो उसने फिर कहा—"नन्दिषेण! तुम मेरी बात नही मान रहे हो, सोच लो, बिना भोग-कर्म को चुकाये ससार से त्राण नही होगा, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यो न करो।"

देव के बार-बार कहने पर भी नन्दिषेण ने उस पर ध्यान नही दिया। एक बार बेले की तपस्या के पारण के दिन वे अकेले भिक्षार्थ निकले और कर्म-दोष से वेश्या के घर पहुँच गये। ज्यो ही उन्होने धर्मलाभ की बात कही तो वेश्या ने कहा—"यहाँ तो अर्थ-लाभ की बात है" और फिर हँस पड़ी। उसका हँसना मुनि को अच्छा नही लगा। उन्होने एक तृण खीच कर रत्नों का ढेर कर दिया और "ले यह अर्थ लाभ" कहते हुए घर से बाहर निकल पडे। रत्न-राशि देख आश्चर्याभिभूत हुई वेश्या, मुनि नन्दिषेण के पीछे-पीछे दौड़ी और बोली—"प्राणनाथ! जाते कहाँ हो? मेरे साथ रहो, अन्यथा मैं अभी प्राण-विसर्जन कर दूगी।" उसके अतिशय अनुरोध एव प्रेमपूर्ण आग्रह को कर्माधीन नन्दिषेण ने स्वीकार कर लिया, किन्तु उन्होने एक शर्त रखी—"प्रतिदिन दस मनुष्यो को प्रतिबोध दूगा तब भोजन करूगा और जिस दिन ऐसा नही कर सकूंगा, उस दिन मैं पुन गुरु-चरणो मे दीक्षित हो जाऊगा।"

देव-वाणी का स्मरण करते हुए और वेश्या के साथ रहते हुए भी मुनि प्रतिदिन दस व्यक्तियो को प्रतिबोध देकर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये भेजने के पश्चात् भोजन करते। अन्ततोगत्वा एक दिन भोग्य-कर्म क्षीण हुए। नन्दिषेण ने नौ व्यक्तियो को प्रतिबोध देकर तैयार किया, परन्तु दसवां सोनी प्रतिबोध पा कर भी दीक्षार्थ तैयार नही हुआ। भोजन का समय आ गया। अतः वेश्या बार-बार भोजन के लिये बुलावा भेज रही थी। पर अभिग्रह

पूर्ण नही होने के कारण नदिषेण नही उठे। कुछ देर बाद वेश्या स्वयं आयी और भोजन के लिये आग्रहपूर्वक कहने लगी। पर नन्दिषेण ने कहा—"दसवां तैयार नही हुआ, तो अब मैं ही दसवां होता हूं।" ऐसा कह कर वे वेश्यालय से बाहर निकल पड़े और भगवच्चरणों मे पुन. दीक्षा ले कर विशुद्ध रूप से सयम-साधना मे तत्पर हो गये।[1]

इस प्रकार अनेक भव्य-जीवो का कल्याण करते हुए प्रभु ने तेरहवां वर्षाकाल राजगृह मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष

राजगृही में वर्षाकाल पूर्ण कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वे 'ब्राह्मण कुण्ड' पहुँचे और पास मे 'बहुशाल' चैत्य में विराजमान हुए। भगवान् के आने का शुभ समाचार सुन कर पण्डित ऋषभदत्त देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वन्दनार्थ समवसरण की ओर प्रस्थित हुआ और पाँच नियमो के साथ भगवान् की सेवा मे पहुँचा।

ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध

भगवान् को देखते ही देवानन्दा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्दमग्न एवं पुलकित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। नेत्र हर्षाश्रु से डब-डबा आये। गौतम के पूछने पर भगवान् ने कहा—"यह मेरी माता है, पुत्र-स्नेह के कारण इसे रोमाञ्च हो उठा है।"[2] भगवान् की वाणी सुन कर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनो ने ११ अगो का अध्ययन किया एवं विचित्र प्रकार के तप, व्रतो से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।[3]

राजकुमार जमालि की दीक्षा

ब्राह्मणकुण्ड के पश्चिम में क्षत्रियकुण्ड नगर था। वहाँ के राजकुमार जमालि ने भी भगवान् के चरणों में उपस्थित पाँच सौ क्षत्रिय-कुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वे विविध प्रकार के

---

१ त्रिषष्टि श० पु० च०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ४०८ से ४३१।

२ गोयमा ! देवाणंदा माहणी ममं अम्मगा, अह णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए, तए णं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समूसवियरोमकूवा
[भ, श ९, उ. ३३, सू ३८०]

३ जाव तमट्ठं आराहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।
[भ., श. ९, उ. ६, सू ३८२]

तप कर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।[1] राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियो के साथ दीक्षा ग्रहण की ।[2] इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली मे पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कौशाम्बी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य मे विराजमान हुए । कोशाम्बी मे राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था । यहाँ उदयन की बुआ एव शतानीक की बहिन जयती श्रमणोपासिका थी । भगवान् के पधारने की बात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी । जयंती श्राविका ने प्रभु की देशना सुनकर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठको के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते है ।

जयती विवाहिता थी या अविवाहिता—साधार विचार ।

जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा—"भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है ? उत्तर मे प्रभु ने कहा—'जयंती ! अठारह पाप—(१) हिंसा, (२) मृषावाद-झूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक ससार मे भ्रमण करता है और इन प्राणातिपात आदि १८ पापो की विरति-निवृत्ति से ही जीव ससार को घटाता है, अर्थात् हल्का होकर ससार-सागर को पार करता है ।"

"भगवन् ! भव्यपन अर्थात् मोक्ष की योग्यता, जीव में स्वभावतः होती है या परिणाम से ?" जयंती ने दूसरा प्रश्न पूछा ।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—"मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं ।"

---

१ भ., श. ९, उ ३३, सू ३८४

२ भगवती—श ९, ३।६

(क) त्रिप, १०।८ श्लो ३९

(ख) महावीर च, २ प्र प २९२

"क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?" यह तीसरा प्रश्न जयती ने किया।

भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले हैं।"

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया—"भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवो से खाली, शून्य हो जायेगा ?"

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"जयंती ! नहीं, जैसे सर्व आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियों से घिरी हो, एक परमाणु जितना खंड प्रति समय निकालते हुए अनन्त काल में भी खाली नही होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहे, तब भी ससार के भव्य कभी खत्म नहीं होगे, वे अनन्त हैं।"

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहाँ दिया है। यथा—मिट्टी मे घड़े बनने की और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नही हो सकता कि सबके घड़े और मूर्तिया बन जायं और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहें। बीज मे पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नही होता कि कोई भी बीज सीझे बिना न रहे। वैसा ही भव्यों के बारे मे भी समझना चाहिए।

जयन्ती ने जीवन से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार है :–

"भगवन् ! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे। जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण मे ही रँगे रहते है, उनका सोया रहना अच्छा। वे सोने की स्थिति मे बहुत से प्राणभूत जीव और सत्वो के लिए शोक एव परिताप के कारण नही बनते। उनके द्वारा स्व-पर की अधर्मवृत्ति नही बढ पाती, अतः उनका सोना ही अच्छा है। किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार मे रत रहने वाले हैं, उनका जगना अच्छा है। ऐसे लोग जगते हुए किसी के दु:ख और परिताप के कारण नही होते। उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य मे लगाने का कारण होता है।"

इसी प्रकार सबल-निर्बल और दक्ष एवं आलसी के प्रश्नों पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और बुरा बताया गया। इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनो का अच्छापन एवं बुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है।

भगवान् के युक्तियुक्त उत्तरो से सतुष्ट होकर उपासिका जयन्ती ने भी संयम-ग्रहण कर आत्म-कल्याण कर लिया ।[1]

भगवान् का विहार और उपकार

कोशाम्बी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आए । यहाँ 'सुमनोभद्र' और 'सुप्रतिष्ठ' ने दीक्षा ग्रहण की । वर्षों संयम का पालन कर अन्त समय में 'सुमनोभद्र' ने 'राजगृह' के विपुलाचल पर अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्ति की । इसी प्रकार सुप्रतिष्ठित मुनि ने भी सत्ताईस वर्ष सयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की ।[2]

तदनन्तर विचरते हुए प्रभु 'वाणियगाँव' पधारे और 'आनन्द' गाथापति को प्रतिबोध देकर उन्हे श्रावक-धर्म मे दीक्षित किया । फिर इस वर्ष का वर्षावास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणियग्राम से मगध की ओर विहार किया । ग्रामानुग्राम उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह के 'गुण शील' चैत्य मे पधारे । प्रभु ने वहा के जिज्ञासुजनो को शालि आदि धान्यो को योनि एवं उनकी स्थिति-अवधि का परिचय दिया । वहाँ के प्रमुख श्रेष्ठी 'गोभद्र' के पुत्र शालिभद्र ने भगवान् का उपदेश सुनकर ३२ रमणियो और भव्य भोगो को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की ।

शालिभद्र का वैराग्य

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता 'गोभद्र', जो प्रभु के पास दीक्षित होकर देवलोकवासी हुए थे[3] वे स्नेहवश स्वर्ग से शालिभद्र और अपनी पुत्र-वधुओं को नित नये वस्त्राभूषण एवं भोजन पहुँचाया करते थे । शालिभद्र की माता भद्रा भी इतनी उदारमना थी कि व्यापारी से जिन रत्न-कम्बलों को राजा श्रेणिक भी नही खरीद सके, नगरी का गौरव रखने हेतु वे सारी रत्न-कम्बलें उन्होने खरीद ली और उनके टुकड़े कर, वधुओं को पैर पोछने को दे दिये ।

भद्रा के वैभव और औदार्य से महाराज श्रेणिक भी दग थे । शालिभद्र के घर का आमन्त्रण पाकर जब राजा वहा पहुँचा, तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गया । राज-दर्शन के लिये भद्रा ने जब शालिभद्र कुमार को बुलाया

१ भग, श. १२, उ. २, सू. ४४३ ।

२ अंत० अणुत्तरो, एम. वी. वैद्य सम्पादित ।

३ त्रि० श० पु०, १६ प०, १० स०, ८४ श्लो०

(ख) उ० माला, गा० २० भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति ।

तो वह अपने अलबेलेपन में बोला—"माता ! मेरे आने की क्या जरूरत है, जो भी मूल्य हो, देकर भंडार मे रख लो।" इस पर भद्रा बोली—"पुत्र ! कोई किराणा नही, यह तो अपना नाथ हैं, आओ, शीघ्र दर्शन करके चले जाना।" नाथ शब्द सुनते ही शालिभद्र चौका और सोचने लगा—"अहो, मेरे ऊपर भी कोई नाथ है। अवश्य ही मेरी करणी मे कसर है। अब ऐसी करणी करूं कि सदा के लिये यह पराधीनता छूट जाय।"

शालिभद्र माता के परामर्शानुसार धीरे-धीरे त्याग की साधना करने लगा और इसके लिये उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री छोडने की प्रतिज्ञा की। धन्ना सेठ को जब शालिभद्र की बहिन सुभद्रा से पता चला कि उसका भाई एक-एक स्त्री प्रतिदिन छोड़ते हुए दीक्षित होना चाहता है, तो उसने कहा, छोडना है तो एक-एक क्या छोड़ता है ? यह तो कायरपन है। सुभद्रा अपने भाई की न्यूनता-कमजोरी की बात सुनकर बोल उठी—"पतिदेव ! कहना जितना सरल है, उतना करना नही।" बस, इतना सुनते ही चाबुक की मार खाये उच्च जातीय अश्व की तरह धन्ना स्नान-पीठ से उठ बैठे। नारियो का अनुनय विनय सब व्यर्थ रहा, उन्होने तत्काल जाकर शालिभद्र को साथ लिया और साला-बहनोई दोनो भगवान् के चरणो मे दीक्षित हो गये। विभिन्न प्रकार की तप:साधना करते हुए अन्त मे दोनों ने 'वैभार गिरि' पर अनशन करके काल प्राप्त किया और सर्वार्थ सिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए।[1]

इस प्रकार सहस्रो नर-नारियो को चारित्र-धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए प्रभु ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह मे पूर्ण किया।

केवलीचर्या का पंचम वर्ष

राजगृह का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और 'पूर्णभद्र यक्षायतन' मे विराजमान हुए। भगवान् के आगमन की बात सुन कर नगर का अधिपति महाराज 'दत्त' सपरिवार वन्दन को आया। भगवान् की अमोघ देशना सुनकर राजकुमार 'महाचन्द्र' प्रतिबुद्ध हुआ। उसने प्रथम श्रावकधर्म ग्रहण किया और कुछ काल पश्चात् भगवान् के पुन: पधारने पर राज-ऋद्धि और पाँच सौ रानियो को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[2]

संकटकाल में भी कल्पस्थार्थ कल्पनीय तक का परित्याग

कुछ समय के पश्चात् भगवान् चम्पा से 'वीतभया' नगरी की ओर पधारे। वहाँ का राजा 'उद्रायण' जो व्रती श्रावक था, पौषधशाला मे बैठकर

१ त्रि० श०, १० प० १० स०, श्लो० १४६ से १८१।
२ विपाक सू०, २ श्रु० ६ अध्याय।

धर्म-जागरण किया करता था। उद्रायण के मनोगत भावों को जानकर भगवान् ने 'वीतभय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग मे साधुओं को बड़े कष्ट झेलने पड़े। कोसो दूर-दूर तक बस्ती का अभाव था। जब भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यो के संग विहार कर रहे थे, तब उनको तिलो से लदी गाड़ियाँ नजर आयी। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालो ने कहा—"इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।" पर भगवान् ने साधुओ को लेने की अनुमति नही दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के ह्रद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओ को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नही दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव बने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति में लिया जाने लगा तो कालान्तर मे अग्राह्य-ग्रहण मे भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार मुनि धर्म की व्यवस्था मे नियन्त्रण नही रहेगा। अतः छद्मस्थ के लिए कहा है कि निश्चय से निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नही करना चाहिये।[1] वीतभय नगरी मे भगवान् के विराजने के समय वहाँ के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयो ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहाँ से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम मे वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहाँ के 'कोष्ठक चैत्य' मे विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वंदन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चुल्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावको मे गिने जाते है। इस तरह प्रभु के उपदेशो से उस समय के समाज का अत्यधिक उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलभिया' पधारे और 'शंखनाद' उद्यान मे शिष्य-मण्डली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिए प्रभु की सेवा मे आये।

पुद्गल परिव्राजक का बोध

शंखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

---

१ बृहत्कल्प भा० वृ० भा० २, गा० ६६७ से ६६६, पृ० ३१४-१५।

एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन मे विचार हुआ कि देवो की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव है और न उनकी स्थिति ही। उसने घूम-घूम कर सर्वत्र इस बात का प्रचार किया। फलत. भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् के चरणो मे आकर पूछा तो प्रभु ने कहा—"गौतम ! यह कहना ठीक नही। दोनों की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तक है।" पुद्गल ने कर्ण-परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शकित हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुँचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा मे दीक्षित होकर उसने तप-सयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।[1] इसी विहार मे 'चुलशतक' ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

आलभिया से विभिन्न स्थानो में विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ 'मकाई', 'किंकत', अर्जुनमाली एव काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति 'वरदत्त' ने भी यहीं सयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक सयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।[2] इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह मे व्यतीत हुआ। 'नंदन' मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

केवलीचर्या का सातवाँ वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढी के रूप मे एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छीक आई तो उसने कहा—"जल्दी मरो।" और जब श्रेणिक को छीक आई तो उसने कहा—"चिरकाल तक जीओ।" अभय छीका तो वह बोला—"जीवो या मरो।" 'कालशौकरिक' के छीकने पर उसने कहा—"न जीओ न मरो।" इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के छीकने पर भिन्न-भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिए 'मरो' कहने मे महाराज श्रेणिक रुष्ट हुए। उनकी मुखाकृति बदलते ही सेवक पुरुष उस कोढ़ी को मारने उठे किन्तु तब तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढी एवं उसके कहे हुए शब्दों के बारे में भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया—"राजन् ! वह कोई कोढी नही, देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तब तक सुख है, फिर नर्क मे दुःख भोगना होगा, इसलिए तुम्हे कहा—खूब जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे हैं और कालशौकरिक के दोनो

---

[1] भगवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।

[2] अन्त कृतदशासूत्र, ६।६, ४, ८। पृ. १०४-१०५। (जयपुर)

बुरे, उसके लिए न जीने मे लाभ और न मरने में सुख, अत. कहा—न जीओ, न मरो।"[1]

यह सुनकर श्रेणिक ने पूछा—"भगवन् ! मैं किस उपाय से नारकीय दु.ख से बच सकता हूँ, यह फरमाये।" इस पर प्रभु ने कहा—"यदि काल-शौकरिक से हत्या छुड़वा दे या 'कपिला' ब्राह्मणी दान दो तो तुम नरक गति से छूट सकते हो।" श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया, पर न तो कसाई ने हत्या छोडी और न 'कपिला' ने ही दान देना स्वीकार किया। इससे श्रेणिक बड़ा दु:खी हुआ, किन्तु प्रभु ने कहा—"चिन्ता मत कर, तू भविष्य मे तीर्थंकर होगा।"[2]

समय पाकर राजा श्रेणिक ने यह घोषणा करवाई—"जो कोई भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहयोग दूंगा, पीछे के परिवार की सँभाल करूंगा।"[3] घोषणा से प्रभावित हो अनेक नागरिको के साथ—[१] जालि, [२] मयालि, [३] उपालि, [४] पुरुषसेन, [५] वारिषेण, [६] दीर्घदत्, [७] लष्टदत, [८] वेहल्ल, [९] वेहास, [१०] अभय, [११] दीर्घसेन, [१२] महासेन, [१३] लष्टदत, [१४] गूढदत, [१५] शुद्धदत, [१६] हल्ल, [१७] द्रुम, [१८] द्रुमसेन, [१९] महाद्रुमसेन, [२०] सिंह, [२१] सिंहसेन, [२२] महासिंहसेन और [२३] पूर्णसेन इन तेईस[4] राजकुमारो ने तथा [१] नदा, [२] नदमती, [३] नंदोत्तरा, [४] नंदिसेणिया, [५] मरुया, [६] सुमरिया, [७] महामरुता, [८] मरुदेवा, [९] भद्रा, [१०] सुभदा, [११] सुजाता, [१२] सुमना और [१३] भूतदत्ता, इन तेरह रानियो ने दीक्षित होकर भगवान् के सघ मे प्रवेश किया।[5] आर्द्रक मुनि भी भगवान् को वन्दन करने यही आये। इस प्रकार इस वर्ष प्रभु ने अनेक उपकार किये। सहस्रो लोगो को सत्पथ पर लगाया और इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह मे व्यतीत किया।

केवलीचर्या का आठवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् कुछ दिन तक राजगृह मे विराजकर भगवान् आलभिया' नगरी मे ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और 'मृगावती' को सकटमुक्त किया। क्योकि मृगावती के रूपलावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी

---

१ आवश्यक चू०, उत्तर०, पृ० १६९।

२ महावीर चरिय, गुणचन्द्र, पत्र ३३४।

३ अणुत्तरोववाई।

४ अतगड।

५ २३–१३ सा०।

रानी बनाने के लिए कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदयन की लघु वय होने के कारण उस समय चण्डप्रद्योत को भुलावे मे डाल कर रानी मृगावती ही राज्य का सचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर वह वन्दन करने गई तथा त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुन कर प्रव्रज्या लेने को उत्सुक हुई और बोली—"भगवन्! चण्डप्रद्योत की आज्ञा ले कर मैं श्री चरणो मे प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" उसने वही पर चण्डप्रद्योत से जा कर अनुमति के लिए कहा। प्रद्योत भी सभा मे लज्जावश मना नही कर सका[1] और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील-संकट सदा के लिए टल गया। इस वर्ष भगवान् का वर्षावास वैशाली मे व्यतीत हुआ।

केवलीचर्या का नवम वर्ष

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् मिथिला होते हुए 'काकंदी' पधारे और सहस्राम्र उद्यान में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन का समाचार सुन कर राजा जितशत्रु भी सेवा में वन्दन करने गया। 'भद्रा' सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी प्रभु की सेवा मे पहुँचा। प्रभु का उपदेश सुन कर काकंदी का धन्यकुमार बड़ा प्रभावित हुआ और माता की अनुमति ले कर विशाल वैभव एवं ३२ कुलीन सुन्दर भार्याओं को छोड़ कर भगवान् के चरणो में दीक्षित हो गया।

राजा जितशत्रु इतने धर्म प्रेमी थे कि उन्होने यह घोषणा करवा दी—"जो लोग जन्म-मरण का बन्धन काटने हेतु भगवान् महावीर के पास दीक्षित होना चाहते हों, वे प्रसन्नता से दीक्षा ग्रहण करें, मैं उनके सम्बन्धियो के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेता हूँ।" महाराज जितशत्रु ने बड़ी धूम-धाम से धन्यकुमार की दीक्षा करवाई। दीक्षित हो कर धन्यकुमार ने स्थविरो के पास ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

धन्यकुमार ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से प्रभु की अनुमति पा कर उसने प्रतिज्ञा की—"मुझे आजीवन छट्ठ-छट्ठ की तपस्या करते हुए विचरना, दो दिन के छट्ठ तप के पारणे मे भी आयंबिल करना एवं उज्झित भोजन ग्रहण करना है।" इस प्रकार की घोर तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर सूख कर हड्डियों का ढांचा मात्र शेष रह गया, फिर भी वे मन में किञ्चिन्मात्र भी खिन्न नही हुए। उनके अध्यवसाय इतने उच्च थे कि भगवान् महावीर ने चौदह हजार साधुओं में धन्यकुमार मुनि को सबसे बढ कर दुष्कर करणी करने वाला बतलाया और श्रेणिक के सम्मुख उनकी प्रशंसा की। नव मास की साधु-

---

1 आव० चू०, प्र० १, पृ० ९१।

पर्याय मे धन्य मुनि ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया और वे सर्वार्थसिद्ध विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुए ।[1]

'सुनक्षत्रकुमार' भी इसी प्रकार भगवान् के पास दीक्षित हुए और अनशन कर सर्वार्थसिद्ध मे उत्पन्न हुए ।

काकंदी से विहार कर भगवान् कंपिलपुर, पोलासपुर होते हुए वाणिज्य-ग्राम पधारे । कपिलपुर मे कुंडकौलिक ने श्रावकधर्म ग्रहण किया और पोलास-पुर मे सद्दालपुत्र ने बारह व्रत स्वीकार किये । इनका विस्तृत विवरण उपासक दशा सूत्र मे उपलब्ध होता है । वाणिज्यग्राम भगवान् विहार कर वैशाली पधारे और इस वर्ष का वर्षावास भी वैशाली मे पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का दशम वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् भगवान् मगध की ओर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे । वहाँ भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर 'महाशतक' गाथापति ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया । पार्श्वापत्य स्थविर भी यहाँ पर भगवान् के सम-वशरण में आये और भगवान् महावीर से अपनी शका का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुए । उन्होने महावीर को सर्वज्ञ माना और उनकी वन्दना की एवं चतुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर विचरने लगे ।[2]

उस समय रोहक मुनि ने भगवान् से लोक के विषय मे कुछ प्रश्न किये जो उत्तर सहित इस प्रकार है :—

(१) लोक और अलोक मे पहले पीछे कौन है ?

भगवान् ने कहा—"अपेक्षा से दोनो पहले भी है और पीछे भी है । इनमें कोई नियत क्रम नही है ।

(२) जीव पहले है या अजीव पहले ?

भगवान् ने फरमाया—"लोक और अलोक की तरह जीव और अजीव तथा भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक और सिद्ध व असिद्ध मे भी पहले पीछे का कोई नियत क्रम नही है ।"

(३) संसार के आदिकाल की दृष्टि से रोहक ने पूछा—"प्रभो ! अडा पहले हुआ या मुर्गी पहले ?"

---

१ अणुत्तरो०, ३।१० ।
२ भग० श० ५, उ० ९ ।

भगवान् ने कहा—"अंडा किससे उत्पन्न हुआ ? मुर्गी से। मुर्गी कहां से आई ? तो कहना होगा अंडे से उत्पन्न हुई। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन पहले और कौन पीछे। इनमे शाश्वतभाव है, यह अनादि परम्परा है अत. पहले पीछे का क्रम नही कह सकते।" इस प्रकार भगवान् ने रोहक की अन्य शकाओ का भी उचित समाधान किया।[1]

इसी प्रसंग मे अधिक स्पष्टीकरण के लिए गौतम ने लोक की स्थिति के बारे मे पूछा—"भगवन् ! ससार और पृथ्वी किस पर ठहरी हुई है, इस विषय में विविध कल्पनाएँ प्रचलित है, कोई पृथ्वी को शेषनाग पर ठहरी हुई कहता है तो कोई वराह के पृष्ठ पर ठहरी हुई बतलाते है। वस्तुस्थिति क्या है, कृपया स्पष्ट कीजिये।"

महावीर ने कहा—"गौतम ! लोक की स्थिति और व्यवस्था आठ प्रकार की है, जो इस प्रकार है—

(१) आकाश पर वायु है।

(२) वायु के आधार पर पानी है।

(३) पानी पर पृथ्वी टिकी हुई है।

(४) पृथ्वी के आधार से त्रस-स्थावर जीव है।

(५) अजीव जीव के आश्रित हैं।

(६) जीव कर्म के आधार से विविध पर्यायों में प्रतिष्ठित है।

(७) मन-भाषा आदि के अजीव पुद्गल जीवो द्वारा संगृहीत है।

(८) जीव कर्म द्वारा संगृहीत हैं।

इसको समझाने के लिए भगवान् ने एक दृष्टान्त बतलाया, जैसे किसी मशक को हवा से भरकर मुँह बन्द कर दिया जाय और फिर बीच से बाँधकर मुँह खोल दिया जाय तो ऊपर खाली हो जायेगी। उसमे पानी भरकर मशक खोल दी जाय तो पानी ऊपर ही तैरता रहेगा। इसी प्रकार हवा के आधार पर पानी समझना चाहिये।

हवा से मशक को भरकर कोई अपनी कमर मे बांधे और जलाशय मे घुसे तो वह ऊपर तैरता रहेगा। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी पानी मे गिरी हुई सछिद्र नौका जैसा बतलाया। जिस तरह नौका के बाहर-भीतर पानी है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर बँधे हुए है।[1]

१ (क) यथा नौश्च ह्रदोदकं चान्योन्यावगाहेन वर्तेते एव जीवश्च पुद्गलाश्चेति भावना।
—भगवती श०, १।६।सू० ५५। टीका।

(ख) भगवती सूत्र, २।१।सू० ५५।

इस प्रकार ज्ञान की गंगा बहाते हुए भगवान् ने यह चातुर्मास राजगृह में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का ग्यारहवाँ वर्ष

भगवान् महावीर की देशना में जो विश्वमैत्री और त्याग-तप की भावना थी, उससे प्रभावित होकर वेद परम्परा के अनेक परिव्राजकों ने भी प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। राजगृह से विहार कर जब प्रभु 'कृतंगला-कयगला' नगरी पधारे तो वहाँ के 'छत्रपलाश' उद्यान में समवशरण हुआ।

उस समय कयंगला के निकट श्रावस्ती नगर में "स्कंदक" नाम का परिव्राजक रहता था जो कात्यायन गोत्रीय 'गर्दभाल' का शिष्य था। वह वेद-वेदांग का विशेषज्ञ था। वहाँ एक समय पिंगल नाम के एक निर्ग्रंथ से उसकी भेंट हुई। स्कंदक के आवास की ओर से निकलते हुए पिंगल ने स्कंदक से पूछा—"हे मागध ! लोक अन्त वाला है या अन्तरहित ? इसी प्रकार जीव, सिद्धि और सिद्ध अंत वाले हैं या अंतरहित ? और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता अथवा बढ़ता है ? इन चार प्रश्नों का उत्तर दो।"

स्कंदक बहुत बार सोच कर भी निर्णय नहीं कर सका कि उत्तर क्या दिया जाय ? वह शंकित हो गया। उस समय उसने 'छत्रपलाश' में भगवान् के पधारने की बात सुनी तो उसने विचार किया कि क्यों नहीं भगवान् महावीर के पास जाकर हम शंकाओं का निराकरण करलें। वह मठ में आया और त्रिदण्ड, कुंडिका, गेरुआ वस्त्र आदि धारण कर कयंगला की ओर चल पड़ा।

उधर महावीर ने गौतम को सम्बोधन कर कहा—"गौतम ! आज तुम अपने पूर्व-परिचित को देखोगे।"

गौतम ने प्रभु से पूछा—"भगवन् ! वह कौन पूर्व-परिचित है, जिसे मैं देखूँगा।"

प्रभु ने स्कंदक परिव्राजक का परिचय दिया और बतलाया कि वह थोड़े ही समय बाद यहाँ आने वाला है।

गौतम ने जिज्ञासा की—"भगवन् ! क्या वह आपके पास शिष्यत्व ग्रहण करेगा ?"

महावीर बोले—"हाँ गौतम ! स्कंदक निश्चय ही मेरा शिष्यत्व स्वीकार करने वाला है।"

स्कंदक के प्रश्नोत्तर

गौतम और महावीर स्वामी के बीच इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा

था कि परिव्राजक स्कंदक भी आ पहुँचा। गौतम ने स्वागत करते हुए पूछा—"स्कंदक! क्या यह सच है कि पिंगल नियंठ ने तुमसे कुछ प्रश्न पूछे और उनके उत्तर नही दे सकने से तुम यहाँ आये हो?"

गौतम की बात सुनकर स्कंदक बड़ा चकित हुआ और बोला—"गौतम! ऐसा कौन ज्ञानी है, जिसने हमारी गुप्त बात तुम्हे बतला दी?"

गौतम ने भगवान् की सर्वज्ञता की महिमा बतलाई। स्कंदक परिव्राजक ने बड़ी श्रद्धा से भगवान् को वन्दन कर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

भगवान् ने लोक के विषय मे कहा—"स्कंदक! लोक चार प्रकार का है, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। द्रव्य से लोक एक और सान्त है, क्षेत्र से लोक असंख्य कोटिकोटि योजन का है, वह भी सान्त है। काल से लोक की कभी आदि नहीं और अन्त भी नही। भाव से लोक वर्णादि अनन्त-अनन्त पर्यायों का भंडार है, इसलिये वह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त भी है और वर्णादि पर्यायों का अन्त नही होने से अनन्त भी है।

जीव, सिद्धि और सिद्ध भी इसी तरह द्रव्य से एक और अन्त वाले है। क्षेत्र से सीमित क्षेत्र में हैं, अतः सान्त हैं। काल एवं भाव से कभी जीव या सिद्ध नहीं था, ऐसा नही है और अनन्त-अनन्त पर्यायों के आधार हैं, अतः अनन्त हैं।

मरण विषय मे पूछे गये प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—बाल-मरण और पण्डित-मरण के रूप मे मरण दो प्रकार का है। बाल-मरण से संसार बढ़ता है और पण्डित के ज्ञानपूर्वक समाधि-मरण से संसार घटता है। बाल-मरण के बारह प्रकार हैं। क्रोध, लोभ या मोहादि भाव में अज्ञानपूर्वक असमाधि से मरना बाल-मरण है।"[1]

उपर्युक्त रीति से समाधान पाकर स्कन्दक ने प्रभु के चरणों मे प्रव्रजित होने की अपनी इच्छा एवं आस्था प्रकट की। स्कन्दक को योग्य जानकर भगवान् ने भी प्रव्रज्या प्रदान की तथा श्रमण-जीवन की चर्या से अवगत किया।

दीक्षा ग्रहण कर स्कन्दक मुनि बन गया। उसने बारह वर्ष तक साधु-धर्म का पालन किया और भिक्षु प्रतिमा व गुण-रत्न-संवत्सर आदि विविध तपो से आत्मा को भावित कर अंत मे 'विपुलाचल' पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया।

कयंगला से सावत्थी होते हुए प्रभु 'वाणिय ग्राम' पधारे और वर्षा काल यही पर पूर्ण किया।

---

१ भगवती सूत्र २।१। सू० ९१।

केवलीचर्या का बारहवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणिय ग्राम से विहार किया और ब्राह्मणकुंड के 'बहुशाल' चैत्य में आकर विराजमान हुए। जमालि अनगार ने यहीं पर भगवान् से अलग विचरने की अनुमति मांगी और उनके मौन रहने पर अपने पाँच सौ अनुयायी साधुओं के साथ वह स्वतन्त्र विहार को निकल पड़ा।

प्रभु भी वहाँ से 'वत्स' देश की ओर विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे। यहाँ चन्द्र और सूर्य अपने मूल विमान से वन्दना को आये थे।[1] आचार्य शीलांक ने चन्द्र सूर्य का अपने मूल विमानों से राजगृह में आगमन बताकर इसे आश्चर्य बताया है।[2] कौशाम्बी से महावीर राजगृह पधारे और 'गुणशील' चैत्य में विराजमान हुए। यहां 'तुंगिका' नगरी के श्रावकों की बड़ी ख्याति थी। एक बार तुंगिका में पार्श्वापत्य आनन्दादि स्थविरों ने श्रावकों के प्रश्न का उत्तर दिया। जिसकी चर्चा चल रही थी। भगवान् गौतम ने भिक्षा के समय नगर में सुनी हुई चर्चा का 'निर्णय' प्रभु से चाहा तो भगवान् बोले—"गौतम ! पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो तप संयम का फल बताया, वह ठीक है। मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ।"[3] फिर भगवान् ने तथारूप श्रमण, माहण की पर्युपासना के फल बताते हुए कहा—"श्रमणों की पर्युपासना का प्रथम फल अपूर्वज्ञान श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चक्खाण अर्थात् त्याग, पच्चक्खाण से संयम, संयम से कर्मास्रव का निरोध, अनास्रव से तप, तप से कर्मनाश, कर्मनाश से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धिफल प्राप्त होता है।" इसी वर्ष प्रभु के शिष्य 'वेहास' और 'अभय' आदि ने विपुलाचल पर अनशन कर देवत्व प्राप्त किया। इस बार का वर्षाकाल राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का तेरहवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् फिर चम्पा पधारे और वहाँ के 'पूर्णभद्र' उद्यान में विराजमान हुए। चम्पा में उस समय 'कौणिक' का राज्य था। भगवान् के आने की बात सुनकर कौणिक बड़ी सज-धज से वन्दन करने को गया। कौणिक ने भगवान के प्रवृत्ति-वृत्त (कुशल समाचार) जानने की बड़ी व्यवस्था कर रक्खी थी। अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् के विहार-वृत्त सुन कर ही वह प्रतिदिन भोजन करता था। भगवान् ने कौणिक आदि

१ त्रिषष्टिशलाकापुरुष, प० १०, स० ८, श्लोक ३३७-३५३

२ तः पच्छा दोवि दिणाहिव तारयाहिवइणो सविमाणा चेव भयवओ समीव। ओइण्णा णियपव्वएसाओ ।। च० म० पु. च., पृ. ३०५

३ भगवती शतक (घासीलालजी), श०, उ० ५, मू, सूत्र १४, पृ. ९३७।

४ औपपातिक सूत्र ११ से २१

उपस्थित जनों को धर्म देशना दी। देशना से प्रभावित हो अनेक गृहस्थो ने मुनि धर्म अंगीकार किया। उनमें श्रेणिक के पद्म १, महापद्म २, भद्र ३, सुभद्र ४, महाभद्र ५, पद्मसेन ६, पद्मगुल्म ७, नलिनीगुल्म ८, आनन्द ९ और नन्दन १०, ये दस पौत्र प्रमुख थे।[1] इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमणधर्म अंगीकार किया। यही पर पालित जैसे बड़े व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था। इस वर्ष का चातुर्मास चम्पा में ही हुआ।

केवलीचर्या का चौदहवाँ वर्ष

चम्पा से भगवान् ने विदेह की ओर विहार किया। बीच में काकन्दी नगरी मे गाथा-पति 'खेमक' और 'धृतिधर' ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। १६ वर्षों का संयम पाल कर दोनों विपुलाचल पर सिद्ध हुए। विहार करते हुए प्रभु मिथिला पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

फिर वर्षाकाल के पश्चात् प्रभु विहारक्रम से अंगदेश होकर चम्पानगरी पधारे और 'पूर्णभद्र' नामक चैत्य मे समवशरण किया। प्रभु के पधारने का समाचार पाकर नागरिक लोग और राजघराने की राजरानिया वन्दन करने को गईं। उस समय वैशाली में युद्ध चल रहा था। एक ओर १८ गणराजा और दूसरी ओर कौणिक तथा उसके दस भाई अपने दल-बल सहित जूझ रहे थे।

देशना समाप्त होने पर काली आदि रानियो ने अपने पुत्रों के लिए भगवान् से जिज्ञासा की—"भगवन्! हमारे पुत्र युद्ध मे गए है। उनका क्या होगा? वे कब तक कुशलपूर्वक लौटेंगे?"

काली आदि रानियों को बोध

उत्तर में भगवान् द्वारा पुत्रो का मरण सुनकर काली आदि रानियों को अपार दुःख हुआ।[2] पर प्रभु के वचनो से संसार का विनश्वरशील स्वभाव समझ कर वे विरक्त हुईं और कौणिक की अनुमति से भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गईं।

आर्या चन्दना की सेवा में काली १, सुकाली २, महाकाली ३, कृष्णा ४, सुकृष्णा ५, महाकृष्णा ६, वीरकृष्णा ७, रामकृष्णा ८, पितृसेनकृष्णा ९ और महासेनकृष्णा १०, इन सबने दीक्षित होकर ग्यारह अगों का अध्ययन किया। आर्या चन्दना की अनुमति से काली ने रत्नावली, सुकाली ने कनकावली, महा-

---

१ निरयावलिका २

२ निरयावलिका, अध्ययन १

काली ने लघुसिंह निष्क्रीड़ित, कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीड़ित, सुकृष्णा ने सप्त-सप्तति भिक्षु प्रतिमा, महाकृष्णा ने लघुसर्वतोभद्र, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा और महासेनकृष्णा ने आयंबिल-वर्धमान तप किया। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिभाव से काल कर सब ने सब दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

कुछ काल तक चम्पा में ठहरकर भगवान् फिर मिथिला नगरी पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पन्द्रहवां वर्ष

फिर चातुर्मास समाप्त कर प्रभु ने वैशाली के पास होकर श्रावस्ती की ओर विहार किया। कौणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल, जिनके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था, किसी तरह वहां से भगवान् के पास आ पहुंचे और प्रभु चरणों में श्रमण[2] धर्म की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण एवं आत्मोद्धार में निरत हुए।

श्रावस्ती पहुंचकर भगवान् 'कोष्ठक' चैत्य मे विराजमान हुए। मंखलि-पुत्र गोशालक भी उन दिनो श्रावस्ती में ही था। भगवान् महावीर से पृथक् होने के पश्चात् वह अधिकांश समय श्रावस्ती के आसपास ही घूमता रहा। श्रावस्ती मे 'हालाहला' कुम्हारिन और अयंपुल गाथापति उसके प्रमुख भक्त थे। गोशालक जब कभी आता, हालाहला की भांडशाला में ठहरता। अब वह 'आजीवक' मत का प्रचारक बनकर अपने को तीर्थंकर बतला रहा था। जब भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम ने नगरी मे यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती मे दो तीर्थंकर विचर रहे हैं, एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलि गोशालक, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् के चरणों में पहुंचकर इसकी वास्तविकता जाननी चाही और भगवान् से पूछा—"प्रभो! यह कहां तक ठीक है?"

गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने गोशालक का प्रारम्भ से सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा—"गौतम! गोशालक जिन नहीं, पर जिनप्रलापी है।" नगर मे सर्वत्र गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी।

गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना

मंखलिपुत्र गोशालक, जो उस समय नगर के बाहर आतापना ले रहा था,

---

१ अंतगड सूत्र, सप्तम व अष्टमवर्ग।

२ (क) तेवि कुमारा सामिस्स सीसत्ति वोसिरन्ति, देवताए हरिता।

[आव नि जिनदास, दूसरा भाग, पृ० १७४]

(ख) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००

उसने जब लोगों से यह बात सुनी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना भूमि से 'हालाहला' कुम्हारिन की भाण्डशाला में आया और अपने आजीवक संघ के साथ क्रोधावेश मे बात करने लगा। उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द अनगार भिक्षाचर्या में घूमते हुए उधर से जा रहे थे। वे सरल और विनीत थे तथा निरन्तर छट्ठ तप किया करते थे। गोशालक ने उन्हें देखा तो बोला—"आनन्द! इधर आ, जरा मेरी बात तो सुन।" आनन्द के पास आने पर गोशालक ने अपनी बात इस प्रकार कहनी आरम्भ की :—

"पुराने समय की बात है, कुछ व्यवसायी व्यापार के लिए अनेक प्रकार का किराना और विविध सामान गाड़ियों मे भरकर यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में ग्राम-रहित, निर्जल, दीर्घ अटवी में प्रविष्ट हुए। कुछ मार्ग पार करने पर उनका साथ में लाया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से आकुल लोग परस्पर सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उनके सामने बड़ी विकट समस्या थी। वे चारो ओर पानी की गवेषणा करते हुए एक घने जंगल में जा पहुँचे। वहां एक विशाल वल्मीक था। उसके चार ऊंचे-ऊंचे शिखर थे। प्यास-पीड़ित लोगों ने उनमें से एक शिखर को फोड़ा। उससे उन्हें स्वच्छ, शीतल, पाचक और उत्तम जल प्राप्त हुआ। प्रसन्न हो उन्होने पानी पिया, बैलो को पिलाया और मार्ग के लिए बर्तनो में भरकर भी साथ ले लिया। फिर लोभ से दूसरा शिखर भी फोड़ा। उसमें उनको विशाल स्वर्ण-भंडार प्राप्त हुआ। उनका लोभ बढ़ा, उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ डाला, उसमे मणि रत्न प्राप्त हुए। अब तो उन्हें और अधिक प्राप्त करने की इच्छा हुई और उन्होंने चौथा शिखर भी फोड़ने का विचार किया। उस समय उनमे एक अनुभवी और सर्वहितैषी वणिक् था। वह बोला—"भाई! हमको चौथा शिखर नहीं फोड़ना चाहिए। हमारी आवश्यकता पूरी हो गई, अब चतुर्थ शिखर का फोड़ना कदाचित् दुःख और संकट का कारण बन जाय, अतः हमको इस लोभ का संवरण करना चाहिए।"

व्यापारियों ने उसकी बात नहीं मानकर चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमें से महा भयंकर दृष्टिविष कृष्ण सर्प निकला। उसकी विषमय उग्र दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गये। केवल वह एक व्यापारी बचा जो चौथा शिखर फोड़ने को मना कर रहा था। उसको सामान सहित सर्प ने घर पहुँचाया।

आनन्द! तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण भगवान् महावीर ने भी इसी तरह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव-मनुष्यों में उनकी प्रशंसा होती है किन्तु वे मेरे सम्बन्ध में यदि कुछ भी कहेंगे तो मैं अपने तेज से उनको व्यापा-

रियो की तरह भस्म कर दूंगा। अतः उनके पास जाकर तू यह बात सुना दे।"

आनन्द मुनि का भ० से समाधान

गोशालक की बात सुनकर आनन्द सरलता के कारण बहुत भयभीत हुए और महावीर के पास आकर सारा वृत्तान्त उन्होंने कह सुनाया तथा पूछा—"क्या गोशालक तीर्थंकर को भस्म कर सकता है ?"

महावीर ने कहा—"आनन्द ! गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भी एक बार में भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नहीं जला सकता, कारण कि गोशालक में जितना तपस्तेज है, अनगार का उससे अनन्त गुना तेज है। अनगार क्षमा द्वारा उस क्रोध का निरोध करने में समर्थ हैं। अनगार के तपस्तेज से स्थविर का तप अनन्त गुना विशिष्ट है। सामान्य स्थविर के तप से अरिहन्त का तपोबल अनन्त गुना अधिक है क्योंकि उसकी क्षमा अतुल है, अतः कोई उनको नहीं जला सकता। हां, परिताप-कष्ट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए तुम जाओ और गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों से यह कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेषवश म्लेच्छ की तरह दुर्भाव मे है। इसलिए उसकी बातों का कोई कुछ भी उत्तर न दे। यहा तक कि उसके साथ कोई धर्मचर्चा भी न करे और न धार्मिक प्रेरणा ही दे।"

गोशालक का आगमन

आनन्द ने प्रभु का सन्देश सबको सुनाया ही था कि इतने में गोशालक अपने आजीवक संघ के साथ महावीर के पास कोष्ठक उद्यान मे आ पहुँचा। वह भगवान् से कुछ दूर हटकर खड़ा हो गया और थोड़ी देर के बाद बोला—"काश्यप ! तुम कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य है। बात ठीक है। पर, तुमको पता नही कि वह तुम्हारा शिष्य मृत्यु प्राप्त कर देवलोक मे देव हो चुका है। मैं मंखलिपुत्र गोशालक से भिन्न कौडिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। गोशालक का शरीर मैंने इसलिए धारण किया है कि वह परीषह सहने मे सक्षम है। यह मेरा सातवां शरीरान्तर प्रवेश है।"

"हमारे धर्म सिद्धान्त के अनुसार जो भी मोक्ष गए हैं, जाते हैं और जाएंगे, वे सब चौरासी लाख महाकल्प के उपरात सात दिव्य सयूथ-निकाय, सात सन्निगर्भ और सात प्रवृत्त परिहार करके पांच लाख साठ हजार छः सौ तीन (५६०६०३) कर्मांशो का अनुक्रम से क्षय करके मोक्ष गए, जाते हैं और जाएंगे।"

महाकल्प का कालमान समझाने हेतु जैन सिद्धान्त के पल्य और सागर के

समान आजीवक मत में सर और महाकल्प का प्रमाण बतलाया है। एक लाख सत्तर हजार छः सौ उनचास (१७०६४९) गंगाओं का एक सर मानकर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालुका निकालते हुए जितने समय में सब खाली हो उसको एक सर माना है। वैसे तीन लाख सर खाली हों तब महाकल्प माना गया है।[1]

गोशालक ने प्रभु को पुनः सम्बोधित करते हुए कहा :—

"आर्य काश्यप ! मैंने कुमार की प्रव्रज्या मे बालवय से ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की इच्छा की और प्रव्रज्या स्वीकार की। मैंने निम्न प्रकार से सात प्रवृत्त-परिहार किए, यथा ऐणेयक, मल्लाराम, मंडिक, रोहक, भारद्वाज, अर्जुन गौतम-पुत्र और गोशालक मंखलिपुत्र।"

"प्रथम शरीरान्तरप्रवेश राजगृह के बाहर मंडिकुक्षि चैत्य में उदायन कौण्डिन्यायन गोत्री के शरीर का त्यागकर ऐणेयक के शरीर में किया। बाईस वर्ष वहां रहा। द्वितीय शरीरान्तरप्रवेश उद्दण्डपुर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य मे ऐणेयक के शरीर का त्याग कर मल्लराम के शरीर मे किया। २१ वर्ष तक उसमे रह कर चपानगरी के बाहर अंग मन्दिर चैत्य मे मल्लराम का शरीर छोड़ कर मंडिक के देह मे तीसरा शरीरान्तर प्रवेश किया। वहा बीस वर्ष तक रहा। फिर वाराणसी नगरी के बाहर काम महावन चैत्य में मंडिक के शरीर का त्याग कर रोहक के शरीर मे चतुर्थ शरीरान्तर प्रवेश किया। वहां २९ वर्ष रहा। पाँचवें मे आलंभिका नगरो के बाहर प्राप्त-काल चैत्य मे रोहक का शरीर छोड़कर भारद्वाज के शरीर मे प्रवेश किया। उसमे १८ वर्ष रहा। छठी बार वैशाली के बाहर कुंडियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर छोड़कर गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। वहां सत्रह वर्ष तक रहा। वहां से इस बार श्रावस्ती मे हालाहला कुम्हारिन के कुंभकारापण मे गौतमपुत्र का शरीर त्यागकर गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। इस प्रकार आर्य काश्यप ! तुम मुझको अपना शिष्य मंखलिपुत्र बतलाते हो, क्या यह ठीक है ?"

गोशालक की बात सुन कर महावीर बोले—"गोशालक ! जैसे कोई चोर बचाव का साधन नही पाकर तृण की आड़ में अपने को छिपाने की चेष्टा करता है, किन्तु वह उससे छिप नही सकता, फिर भी अपने को छिपा हुआ मानता है। उसी प्रकार तू भी अपने आपको शब्दजाल से छिपाने का प्रयास कर रहा है। तू गोशालक के सिवाय अन्य नही होते हुए भी अपने को अन्य बता रहा है, तेरा ऐसा कहना ठीक नही, तू ऐसा मत कह।"

भगवान् की बात सुनकर गोशालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आक्रोशपूर्ण वचनों से गाली बोलने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाते हुए तिरस्कारपूर्ण

---

[1] भग० श० १५, उ० १, सूत्र ५५०

शब्दों में बोला—"काश्यप ! तुम आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट हो जाओगे। आज तुम्हारा जीवन नहीं रहेगा। अब मुझसे तुमको सुख नहीं मिलेगा।"

सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष

भगवान् महावीर वीतराग थे। उन्होंने गोशालक की तिरस्कारपूर्ण बात सुनकर भी रोष प्रकट नहीं किया। अन्य मुनि लोग भी भगवान् के सन्देश से चुप थे। पर भगवान् के एक शिष्य 'सर्वानुभूति' अनगार, जो स्वभाव से सरल एवं विनीत थे, उनसे यह नहीं सहा गया। वे भगवद्भक्ति के राग से उठकर गोशालक के पास आए और बोले—"गोशालक ! जो गुणवान् श्रमण माहण के पास एक भी धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उनको वन्दन-नमन और उनकी सेवा करता है। तो क्या, तुम भगवान् से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण कर उनके साथ ही मिथ्या एवं अनुचित व्यवहार करते हो ? गोशालक ! तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है। आवेश में आकर विवेक मत छोड़ो।"

सर्वानुभूति की बात सुनकर गोशालक तमतमा उठा। उसने क्रोध में भर-कर तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से सर्वानुभूति अणगार को जलाकर भस्म कर दिया और पुनः भगवान् के बारे में निन्दा वचन बोलने लगा। प्रभु के अन्य अन्तेवासी स्थिति को देखकर मौन थे, किन्तु अयोध्या के 'सुनक्षत्र' मुनि ने, जो उसके अपलाप सुने, तो उनसे भी नहीं रहा गया। उन्होंने गोशालक को कटु-वचन बोलने से मना किया। इससे रुष्ट होकर गोशालक ने सुनक्षत्र मुनि पर भी उसी प्रकार तेजोलेश्या का प्रहार किया। इस बार लेश्या का तेज मन्द हो गया था। पीड़ा की भयंकरता देखकर सुनक्षत्र मुनि श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और वन्दना कर भगवान् के चरणों में आलोचनापूर्वक उन्होंने पुन. महाव्रतों में आरोहण किया और फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमा-याचना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया।

गोशालक फिर भी भगवान् महावीर को अनर्गल कटुवचन कहता रहा। कुछ काल के बाद भगवान् महावीर ने सर्वानुभूति की तरह गोशालक को समझाया, पर मूर्खों के प्रति उपदेश क्रोध का कारण होता है, इस उक्ति के अनुसार गोशालक प्रभु की बात से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने उनको भस्म करने के लिए सात आठ कदम पीछे हटकर तेजोलेश्या का प्रहार किया। किन्तु महावीर के अमित तेज के कारण गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या उन पर असर नहीं कर सकी। वह भगवान् की प्रदक्षिणा करके एक बार ऊपर उछली और गोशालक के शरीर को जलाती हुई, उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई।

गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से पीड़ित होकर श्रमण भगवान् महावीर से बोला—"काश्यप ! यद्यपि अभी तुम बच गए हो किन्तु मेरी इस तेजोलेश्या से

पराभूत होकर तुम छः मास की अवधि मे ही दाह-पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में काल प्राप्त करोगे। इस पर भगवान् ने कहा—"गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक तीर्थंकर पर्याय से विचरण करूंगा पर तुम अपनी तेजोलेश्या से प्रभावित एवं पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ भाव से काल प्राप्त करोगे।"[१]

तेजोलेश्या के पुनः पुनः प्रयोग से गोशालक निस्तेज हो गया और उसका तपस्तेज उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। महावीर ने निर्ग्रन्थो को बुलाकर कहा—"श्रमणो ! जिस प्रकार अग्नि से जलकर तृण या काष्ठ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार गोशालक मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर अब तेज भ्रष्ट हो गया है। तुम लोग उसके विचारों का खण्डन कर अब प्रश्न और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर सकते हो।"

निर्ग्रन्थों ने विविध प्रश्नोत्तरों से उसको निरुत्तर कर दिया। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी गोशालक निर्ग्रन्थों को कुछ भी पीड़ा नही दे सका।

इधर श्रावस्ती नगरी के त्रिकमार्ग और राजमार्ग में सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आलाप-संलाप कर रहे हैं। एक कहता है तुम पहले काल प्राप्त करोगे तो दूसरा कहता है पहले तुम्हारी मृत्यु होगी। इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा है ? प्रभु की अलौकिक महिमा से परिचित, नगर के प्रमुख व्यक्ति कहने लगे—"श्रमण भगवान् महावीर सम्यग्वादी हैं और गोशालक मिथ्यावादी।"[२]

गोशालक की अन्तिम चर्या

अपनी अभिलाषा की सिद्धि में असफलता के कारण गोशालक इधर-उधर देखता, दीर्घ निश्वास छोड़ता, दाढ़ी के बालों को नोचता, गर्दन खुजलाता, पांवों को पछाड़ता, हाय मरा-हाय मरा ! चिल्लाता हुआ आजीवक समूह के साथ 'कोष्ठक-चैत्य' से निकल कर 'हालाहला' कुम्हारिन के कुम्भकारापण में पहुँचा। वहाँ वह अपनी दाह-शान्ति के लिए कभी कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता और बार-बार गाता-नाचता एवं कुम्हारिन को हाथ जोड़ता हुआ मिट्टी के भांड में रखे हुए शीतल जल से गात्र का सिंचन करने लगा।

---

१ नो खलु अहं गोसाला। तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करिस्सामि, अहन्नं अन्नाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तुमं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सयेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि।

२ भग. श. १५, सूत्र ५५३, पृ० ६७८।

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को आमन्त्रित कर कहा—"आर्यो ! मंखलि-पुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था, वह (१) अंग, (२) बंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अबाध और (१६) संभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने, नष्ट करने तथा भस्म करने में समर्थ थी। अब वह कुम्भकारा-पण में कच्चा आम चूसता हुआ यावत् ठंडे पानी से शरीर का सिंचन कर रहा है। अपने दोषों को छिपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हैं, जैसे—(१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अंजलिकर्म, (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गंध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और [८] चरम तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप मे अपना सिद्ध होना।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरों को बुला कर कहा—"मैं मर जाऊँ तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोंछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलंकारों से भूषित करना और शिविका में बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि।"[१]

किन्तु सातवी रात्रि मे गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई। उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने सोचा—"मैंने जिन नही होकर भी अपने को जिन घोषित किया है। श्रमणों का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है। श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव मे सच्चे जिन हैं।"

ऐसा सोच कर उसने स्थविरों को बुलाया और कहा—"स्थविरो ! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है, ऐसा कह कर मैंने तुम लोगों से वंचना की है। अत. अब मेरी मृत्यु के पश्चात् प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाएं पैर में डोरी बांध कर, तुम मेरे मुँह पर तीन बार थूकना और श्रावस्ती के राजमार्गों मे यह कहते हुए मेरे शव को खींच कर ले जाना कि गोशालक जिन नही था, जिन तो महावीर ही हैं।" उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरो को शपथ दिलायी और सातवी रात्रि मे ही उसकी मृत्यु हो गई।

---

१ भग. श. १५, पृ० ६८२, सू. ५५४।

गोशालक के भक्त और स्थविरों ने सोचा—"आदेशानुसार यदि नगरी मे पैर बांध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी और ऐसा नही करने से आज्ञा-भंग होगी। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?" उन्होंने एक उपाय निकाला—"हालाहला कुम्हारिन के घर में ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करें। उसमें घुमा लेने से आज्ञा-भंग और बदनामी दोनो से ही बच जायेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार बंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर मे धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण में तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसंग से सहज शंका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की तो तेजोलेश्या से रक्षा की पर समवशरण मे गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रहार किये जाने पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यों नहीं बचाया? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था में व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यंभावी था, ऐसा प्रभु मे जान रखा था। दूसरी बात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते, इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय में भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हद तक पूर्णत: रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नही था। उस समय शरणागत का रक्षण नहीं करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय में प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर गोशालक द्वारा प्रहार किये जाने के समय गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे बात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बड़ी भूल की। यदि ऐसा नही करते तो कुमत का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थ-माला नहीं बढ़ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से बिना भेद के हर एक का हित करते हैं। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेबाजी उनमें नहीं होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नहीं किया, जैसा कि आचारांग सूत्र मे स्पष्ट निर्देश है—'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइंपि कुव्वित्था।'[1]

---

[1] आचा., श्रु. १, अध्ययन ९, उद्देशा ४, गा. १५

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को आमन्त्रित कर कहा—"आर्यो! मंखलि-पुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था, वह (१) अंग, (२) बंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अबाध और (१६) संभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने, नष्ट करने तथा भस्म करने में समर्थ थी। अब वह कुम्भकारा-पण में कच्चा आम चूसता हुआ यावत् ठंडे पानी से शरीर का सिंचन कर रहा है। अपने दोषों को छिपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हैं, जैसे—(१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अंजलिकर्म, (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गंध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और [८] चरम तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप में अपना सिद्ध होना।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरों को बुला कर कहा—"मैं मर जाऊं तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोंछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलंकारों से भूषित करना और शिविका मे बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि।"[1]

किन्तु सातवीं रात्रि मे गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई। उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने सोचा—"मैंने जिन नहीं होकर भी अपने को जिन घोषित किया है। श्रमणों का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है। श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव मे सच्चे जिन हैं।"

ऐसा सोच कर उसने स्थविरों को बुलाया और कहा—"स्थविरो! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है, ऐसा कह कर मैंने तुम लोगों से वंचना की है। अत: अब मेरी मृत्यु के पश्चात् प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाएं पैर में डोरी बांध कर, तुम मेरे मुंह पर तीन बार थूकना और श्रावस्ती के राजमार्गों मे यह कहते हुए मेरे शव को खींच कर ले जाना कि गोशालक जिन नहीं था, जिन तो महावीर ही हैं।" उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरों को शपथ दिलायी और सातवीं रात्रि में ही उसकी मृत्यु हो गई।

---

१ भग. श. १५, पृ० ६८२, सू. ५५४।

गोशालक के भक्त और स्थविरों ने सोचा–"आदेशानुसार यदि नगरी में पैर बांध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी और ऐसा नहीं करने से आज्ञा-भंग होगी। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?" उन्होंने एक उपाय निकाला–"हालाहला कुम्हारिन के घर में ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करें। उसमें घुमा लेने से आज्ञा-भंग और बदनामी दोनों से ही बच जायेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार नंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर में धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण में तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसंग से सहज शंका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की तो तेजोलेश्या से रक्षा की पर समवशरण मे गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रहार किये जाने पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यों नहीं बचाया? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था में व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यंभावी था, ऐसा प्रभु ने जान रखा था। दूसरी बात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते, इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय में भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हद तक पूर्णतः रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नहीं था। उस समय शरणागत का रक्षण नहीं करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय में प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर गोशालक द्वारा प्रहार किये जाने के समय गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे बात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बड़ी भूल की। यदि ऐसा नहीं करते तो कुमत का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थ-माला नहीं बढ़ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से बिना भेद के हर एक का हित करते हैं। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेबाजी उनमे नहीं होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नहीं किया, जैसा कि आचारांग सूत्र मे स्पष्ट निर्देश है—'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइंपि कुव्वित्था।'[1]

---

1 आचा., श्रु. १, अध्ययन ६, उद्देशा ४, गा. १५

भगवान् का विहार

श्रावस्ती के 'कोष्ठक चैत्य' से विहार कर भगवान् महावीर ने जनपद की ओर प्रयाण किया। विचरते हुए प्रभु 'मेढियाग्राम' पहुंचे और ग्राम के बाहर 'सालकोष्ठक चैत्य' मे पृथ्वी शिला-पट्ट पर विराजमान हुए। भक्तजन दर्शन-श्रवण एवं वंदन करने आये। भगवान् ने धर्म-देशना सुनाई।

जिस समय भगवान् साल कोष्ठक चैत्य मे विराज रहे थे, गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के निमित्त से भगवान् के शरीर मे असाता का उदय हुआ, जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीडा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की बाधा भी हो रही थी। पर वीतराग भगवान् इस विकट वेदना में भी शान्तभाव से सब कुछ सहन करते रहे। उनके शरीर की स्थिति देख कर लोग कहने लगे कि गोशालक की तेजोलेश्या से पीडित भगवान् महावीर छह माह के भीतर ही छद्मस्थभाव में कही मृत्यु न प्राप्त कर जायं। उस समय सालकोष्ठक के पास मालुयाकच्छ मे भगवान् का एक शिष्य 'सीहा' मुनि, जो भद्र प्रकृति का था, बेले की तपस्या के साथ ध्यान कर रहा था। ध्यानावस्था में ही उसके मन में यह विचार हुआ कि मेरे धर्माचार्य को विपुल रोग उत्पन्न हुआ है और वे इसी दशा में कही काल कर जायेंगे तो लोग कहेंगे कि ये छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर गये और इस तरह हम सब की हँसी होगी। इस विचार से सीहा अनगार फूट-फूट कर रोने लगा।

घट-घट के अन्तर्यामी त्रिकालदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने तत्काल निर्ग्रन्थो को बुला कर कहा—"आर्यो! मेरा अन्तेवासी सीहा अनगार, जो प्रकृति का भद्र है, मालुयाकच्छ मे मेरी बाधा-पीड़ा के विचार से तेज स्वर मे रुदन कर रहा है, अत. जाकर उसे यहां बुला लाओ।" प्रभु के सदेश से श्रमण-निर्ग्रन्थ मालुयाकच्छ गए और सीहा अनगार को भगवान् द्वारा बुलाये जाने की सूचना दी। सीहा मुनि भी निर्ग्रंथो के साथ भगवान् महावीर के पास आये और वन्दना नमस्कार कर उपासना करने लगे। सीहा मुनि को सम्बोधित कर प्रभु ने कहा—"सीहा! ध्यानान्तरिका मे तेरे मन मे मेरे अनिष्ट की कल्पना हुई और तुम रोने लगे, क्या यह ठीक है?" सीहा द्वारा इस तथ्य को स्वीकृत किये जाने पर प्रभु ने कहा—"सीहा! गोशालक की तेजोलेश्या से पीडित हो कर मैं छह महीने के भीतर मृत्यु प्राप्त करूंगा, ऐसी बात नही है। मैं सोलह वर्ष तक जिनचर्या से सुहस्ती की तरह और विचरूंगा। अत. हे आर्य! तुम मेढियाग्राम मे "रेवती" गाथापत्नी के घर जाओ और उसके द्वारा मेरे लिये तैयार किया हुआ आहार न लेकर अन्य जो बासी बिजोरा पाक है, वह ले आओ। व्याधि मिटाने के लिये उसका प्रयोजन है।"

भगवान् की आज्ञा पा कर सीहा अनगार बहुत प्रसन्न हुए और प्रभु को

वन्दन कर अचपल एवं असंभ्रान्त भाव से गौतम स्वामी की तरह शाल कोष्ठक चैत्य से निकल कर, मेढ़ियाग्राम के मध्य में होते हुए, रेवती के घर पहुँचे। रेवती ने सीहा अनगार को विनयपूर्वक वन्दना की और आने का कारण पूछा। सीहा मुनि ने कहा—"रेवती! तुम्हारे यहाँ दो औषधियाँ हैं, उनमें से जो तुमने श्रमण भगवान् महावीर के लिये तैयार की हैं, मुझे उससे प्रयोजन नहीं, किन्तु अन्य जो बिजोरापाक है, उसकी आवश्यकता है।"

भगवान् की रोग-मुक्ति

सीहा मुनि की बात सुन कर रेवती आश्चर्य-चकित हुई और बोली—"मुने! ऐसा कौनसा ज्ञानी या तपस्वी है, जो मेरे इस गुप्त रहस्य को जानता है?" सीहा अनगार ने कहा—"श्रमण भगवान् महावीर, जो चराचर के ज्ञाता व द्रष्टा हैं, उनसे मैंने यह जाना है।" फिर तो रेवती श्रद्धावनत एवं भाव-विभोर हो भोजनशाला मे गई और बिजोरा-पाक लेकर उसने मुनि के पात्र में वह सब पाक बहरा दिया। रेवती के यहाँ से प्राप्त बिजोरापाक रूप आहार के सेवन से भगवान् का शरीर पीड़ारहित हुआ और धीरे-धीरे वह पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा। भगवान् के रोग-निवृत्त होने से श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका वर्ग ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों तक को हर्ष हुआ। सुरासुर और मानव लोक मे सर्वत्र प्रसन्नता की लहर सी दौड़ गई।[1]

रेवती ने भी इस अत्यन्त विशिष्ट भावपूर्वक दिये गये उत्तम दान से देव-गति का आयुबन्ध एवं तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जीवन सफल किया।

कुतर्कपूर्ण भ्रम

सीहा अरणगार को भगवान् महावीर ने रेवती के घर औषधि लाने के लिये भेजा, उसका उल्लेख भगवती सूत्र के शतक १५, उद्देशा १ मे इस प्रकार किया गया है:

"...अहं णं अण्णाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, तं गच्छह णं तुमं सीहा। मिंढियागाम णयरं रेवतीए गाहावयणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अण्णे पारिआसोमज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तएणं...."

इस पाठ को लेकर ई० सन् १८८४ से अर्थात् लगभग ८७ वर्ष से पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क चल रहे हैं। जैन परम्परा से अनभिज्ञ कुछ विद्वानों की धारणा कुछ और ही तरह की रही है कि

---

१ भग. श. १५, सू ५५७।

इस पाठ में भगवान् महावीर के मांसभक्षण का संकेत मिलता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। पाठ में आये हुए शब्दों का सही अर्थ समझने के लिये हमे प्रसंग और तत्कालोन परिस्थिति में होने वाले शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य में लेकर ही अर्थ करना होगा। उसके लिये सबसे पहले इस बात को ध्यान में रखना होगा कि रेवती श्रमण भगवान् महावीर की परम भक्त श्रमणोपासिका एवं सती जयती तथा सुश्राविका मृगावती की प्रिय सखी थी। अतः मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नही सकता। रेवती ने परम उत्कृष्ट भावना से इस औषधि का दान देकर देवायु और महामहिम तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था।

भगवती सूत्र के पाठ मे आये हुए खास विचारणीय शब्द "कवोयसरीर", "मज्जारकडए कुक्कुडमंसए" शब्द हैं। जिनके लिये भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि ने क्रमश कुष्माड फल और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिये बिजोरा (बीजपूरक कटाह) अर्थ किया है।

विक्रम संवत् ११२० मे अभयदेव ने स्थानांग सूत्र की टीका बनाई। उस टीका में उन्होने अन्य मत का उल्लेख तक नही किया है और उन्होंने स्पष्टतः निश्चित रूप से "कवोयसरीर" का अर्थ कुष्मांडपाक और "मज्जारकडए कुक्कुड-मंसए" का अर्थ मार्जार नामक वायु के निवृत्त्यार्थ बीजपूरक कटाह अर्थात् बिजौरापाक किया है। अभयदेव द्वारा की गई स्थानांग सूत्र की व्याख्या में किंचित्मात्र ध्वनि तक भी प्रतिध्वनित नही होती कि इन शब्दो का अर्थ मासपरक भी हो सकता है। जैसा कि स्थानाग की टीका के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है .

"भगवाश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान्—हे सिंह ! यत् त्वया व्यकल्पि न तद्भावि, यत इतोऽहं देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलिपर्यायं पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्व नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कुष्मांडफल-शरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनम् तथान्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमासकं बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्,......."

स्थानाग सूत्र की टीका का निर्माण करने के ८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ११२८ मे अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका का निर्माण किया। उसमे उन्होने भगवती सूत्र के पूर्वोक्त मूल पाठ की टीका करते हुए लिखा है :

"दुवेकवोया" इत्यादे. श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहु.—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते. कुष्माडे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव

घूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतक शरीरे-कुष्मांड फले·····परिआसिए त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः, 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृत-संस्कृतं मार्जारकृतम्, अपरे त्वाहुः- मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा किं तत् इति ? आह 'कुकुंटक मासकं बीजपूरक कटाहम्·····।"

[भगवती सूत्र अभयदेवकृत टीका, शतक १५, उ० १]

इसमें अभयदेव ने अन्य मत का उल्लेख किया है पर उनकी निजी निश्चित मान्यता इन शब्दों के लिये मासपरक अर्थ वाली किसी भी दशा में नहीं कही जा सकती।

अर्थ का अनर्थ करने को कुचेष्टा रखने वाले लोगों को यह बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिये कि सामान्य जैन साधु का जीवन भी 'अमज्जमसासिणो' विशेषण के अनुसार मद्यमांस का त्यागी होता है, तब महावीर के लिये मांस-भक्षण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके साथ ही साथ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी सदा ध्यान मे रखना होगा कि भगवान् महावीर ने अपनी देशना में नरक गति के कारणो का प्रतिपादन करते हुए मासाहार को स्पष्ट शब्दों में नरक गति का कारण बताया है।[१]

आचारांग सूत्र में तो श्रमण को यहां तक निर्देश दिया गया है कि भिक्षार्थ जाते समय साधु को यदि यह ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ के घर पर मद्य-मासमय भोजन मिलेगा तो उस घर मे जाने का साधु को विचार तक नहीं करना चाहिए।[२]

भगवान् महावीर की पित्तज्वर की व्याधि को देखते हुए भी मांस अर्थ अनुकूल नही पड़ता किन्तु बिजौरे का गिरभाग जो मास पद से उपलक्षित है, वही हितकर माना गया है। जैसा कि सुश्रुत से भी प्रमाणित होता है—

---

१ (क) ठाणाग सूत्र, ठा० ४, उ० ४, सू० ३७३

(ख) गोयमा ! महारंभायाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं पंचिन्दियवहेण·······
नेरइयाउयकम्मा-सरीर जाव पयोग बधे।

[भगवती सू०, शतक ८, उ० ६, सू० ३५०]

(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति·····कुणिमाहारेणं।

[औपपातिक सूत्र, सू० ५६]

२ से भिक्खू वा. जाव समाणे से ज पुण जाणेज्जा मसाइ व मच्छाइ मस खल व मच्छ खल वा मच्छो खल नो अभिसंधारिज्ज गमणाए

·······[आचारांग, श्रु २, अ. १, उ. ४, सू २४५]

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुंगमुदाहृतम् ।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ।।
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित् ।
मेध्यं शूलानिलछर्दिकफारोचक नाशनम् ।।

निघण्टु मे भी बिजौरा के गुण इस प्रकार बताये गये हैं :—

रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम् ।
श्वासकासारुचिहर हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ।।१३२।।
बीजपूरो परः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ।
मधुकर्कटिका स्वादी रोचनी शीतला गुरुः ।।१३३।।
रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा ।।१३४।।

[भावप्रकाश निघण्टु]

वैजयन्ती कोष में बीजपूरक को मधुकुक्कुटी के नाम से उल्लिखित किया गया है। यथा :—

देविकायां महाशल्का दूष्यांगी मधुकुक्कुटी ।
अथात्ममूला मातुलुंगी पूति पुष्पी वृकाम्लिका ।

[वैजयन्ती कोष, भूमिकाण्ड, वनाध्याय, श्लोक ३३—३४]

पित्तज्वर के उपशमन में बीजपूरक ही हितावह होता है, इसलिए यहां पर कुक्कुडमस शब्द से मधुकुक्कुटी अर्थात् बिजौरे का गिर ही समझना चाहिए ।

जिस सस्कृति मे जीवन निर्वाह के लिए अत्यावश्यक फल, मूल एवं सचित्त जल का भी भक्ष्याभक्ष्य रूप से विचार किया गया है, वहां पर स्वयं उस सस्कृति के प्रणेता द्वारा मांस जैसे महारम्भी पदार्थ का ग्रहण, कभी मानने योग्य नही हो सकता ।

जिन भगवान् महावीर ने कौशाम्बी पधारते समय प्राणान्त सकट की स्थिति में भी क्षुधा एव तृषा से पीड़त मुनिवर्ग को वन-प्रदेश मे सहज अचित्त जल को सम्मुख देख कर भी पीने की अनुमति नही दी, वे परम दयालु महामुनि स्वयं की देह-रक्षा के लिए मांस जैसे अग्राह्य पदार्थ का उपयोग करें, यह कभी बुद्धिगम्य नहीं हो सकता । अतः बुद्धिमान् पाठको को शब्दो के बाहरी कलेवर की ओर दृष्टि न रख कर उनके प्रसंगानुकूल सही अर्थ, अर्थात् बिजोरापाक को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए ।

साधु को किस प्रकार का आहार त्याज्य है, इस सम्बन्ध मे आचारांग सूत्र के उदाहरणपरक मूल पाठ 'बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण'

को लेकर सर्वप्रथम डॉक्टर हर्मन जैकोबी को भ्रम उत्पन्न हुआ और उन्होंने आचारांग के अंग्रेजी अनुवाद मे यह मत प्रकट करने का प्रयास किया कि इन शब्दों का अर्थ मांस ही प्रतिध्वनित होता है। जैन समाज द्वारा हर्मन जैकोबी की इस मान्यता का डट कर उग्र विरोध किया गया और अनेक शास्त्रीय प्रमाण उनके समक्ष रखे गये। उन प्रमाणो से हर्मन जैकोबी की शंका दूर हुई और उन्होंने अपने दिनांक २४-२-२८ के पत्र मे अपनी भूल स्वीकार करते हुए आचारांग सूत्र के उक्त पाठ को उदाहरणपरक माना। श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने 'हिस्ट्री आफ कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज' मे डॉक्टर जैकोबी के उक्त पत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

> There he has said that 'बहु अट्ठिएण मसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण' has been used in the metaphorical sense as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a Vartika at Panini (III, 3, 9) and from Vachaspati's com. oh Nyayasutra (iv, 1, 54) He has concluded "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which *only a part can be* eaten and a greater part must be rejected,"

जिस भक्ष्य पदार्थ का बहुत बड़ा भाग खाने के काम मे न आने के कारण त्याग कर डालना पड़े उसके साथ नान्तरीयकत्व भाव धारण करने वाली वस्तु के रूप मे उदाहरणपरक मत्स्य शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि मत्स्य के कांटो को बाहर ही डालना पड़ता है। डॉ० हरमन जैकोबी ने नान्तरीयकत्व भाव के रूप मे उपर्युक्त पाठ को माना है।

आचारांग सूत्र के उपर्युक्त पाठ का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर स्टेन कोनो ने डॉक्टर वाल्थेर शूब्रिंग द्वारा जर्मन भाषा मे लिखी गई पुस्तक 'दाई लेह्र देर जैनाज' की आलोचना मे लिखा था .—

> "I shall mention only *one detail*, because the common European view has here been largely resented by the Jainas The mention of *Bahuasthiyamansa* and *Bahukantaka-machha* meat' or 'fish' with many bones in Acharanga has usually been interpreted so as to *imply that* it was in olden times, allowed to eat meat *and fish, and this* interpretation is given on p. 137, in the Review of Philosophy and Religion,

१ देखिये—भगवान् महावीर का सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभया नगरी की ओर विहार।

Vol. IV-2, Poona 1933, pp. 75 Prof. Kapadia has, however, published a letter from Prof. Jacoby on the 14th February, 1928 which in my opinion settles the matter. Fish of which the flesh may be eaten, but scales and bones must be taken out was a school example of an object containing the substance which is wanted in intimate conexion with much that must be rejected. The words of the Acharanga are consequently technical terms and do not imply that 'meat' and 'fish' might be eaten."[1]

ओस्ली के विद्वान् डॉक्टर स्टेन कोनो ने जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी को लिखे गये पत्र में डॉ० हर्मन जैकोबी के स्पष्टीकरण की सराहना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पूर्ण अहिंसावादी और आस्तिक जैनों में कभी मांसाहार का प्रचलन रहा हो, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पत्र इस प्रकार है :—

"Prof. Jacoby has done a great service to scholars in clearing up the much discussed question about meat eating among Jainas. On the face of which, it has always seemed incredible to me that it had at any time, been allowed in a religion where Ahimsa and also Ascetism play such a prominent role...." Prof. Jacoby's short remarks on the other hand make the whole matter clear. My reason for mentioning it was that I wanted to bring his explanation to the knowledge of so many scholars as possible. But there will still, no doubt, be people who stick to the old theory. It is always difficult, to do away with false ditthi but in the end truth always prevails."

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने वाले जैन धर्म में मांस-भक्षण को सर्वथा त्याज्य और नर्क में पतन का कारण माना गया है। इस पर भी जो लोग कुतर्कों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैन आगमों में मांस-भक्षण का उल्लेख है, उनके लिए हम इस नीति पद को दोहराना पर्याप्त समझते हैं :—

"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति।"

---

१ तीर्थंकर महावीर भाग, २, (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि) पृ० १८२

गौतम की जिज्ञासा का समाधान

एक दिन गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—"भदन्त ! आपका अन्तेवासी सर्वानुभूति अनगार, जो गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म कर दिया गया है, यहाँ कालधर्म को प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न हुआ और उसकी क्या गति होगी ?"

भगवान् ने उत्तर मे कहा—"गौतम ! सर्वानुभूति अनगार आठवें स्वर्ग में अठारह सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है और वहां से च्यवन होने पर महाविदेह-क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होगा।"

इसी तरह सुनक्षत्र के बारे में भी गौतम द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने फरमाया—"सुनक्षत्र अनगार बारहवें अच्युत कल्प मे बाईस सागर की देवायु भोग कर महाविदेह-क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और वहां उत्तम करणी करके सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

गौतम ने फिर पूछा—"भगवन् ! आपका कुशिष्य मंखलिपुत्र गोशालक काल प्राप्त कर कहाँ गया और कहाँ उत्पन्न हुआ !"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम ! गोशालक भी अन्त समय की परिणाम शुद्धि के फलस्वरूप छद्मस्थदशा में काल कर बारहवे स्वर्ग मे बाईस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ है। वहाँ से पुनः जन्म-जन्मान्तर करते हुए वह सम्यग्दृष्टि प्राप्त करेगा। अन्त समय में दृढ़-प्रतिज्ञ के रूप से वह संयम धर्म का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा और कर्मक्षय कर सर्व दुःखो का अन्त करेगा।[1]

मेढ़ियग्राम से विहार करते हुए भगवान् महावीर मिथिला पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया। इसी वर्ष जमालि मुनि का भगवान् महावीर से मतभेद हुआ और साध्वी सुदर्शना ढंक कुम्हार द्वारा प्रतिबोध पाकर फिर भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गई।[2]

केवलीचर्या का सोलहवाँ वर्ष

मिथिला का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने हस्तिनापुर की ओर विहार किया। उस समय गौतम स्वामी कुछ साधु समुदाय के साथ विचरते हुए श्रावस्ती

---

१ भग. श., १५, सू ५६० पृ० ५६५

२ पियदंसणा वि पइणोऽणुरागओ तमाय चिय पवण्णा।
ढंकोवहियामणिदड्ढचरय देसा त भणइ ॥

[विशेषावश्यक, गाथा २३२५ से]

आये और कोष्ठक उद्यान में विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' में पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मण्डल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था में ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनों ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।[1]

श्रावस्ती मे केशी और गौतम दोनो के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचर रहे थे, किन्तु दोनों के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनों समुदाय के श्रमणों के मन शंकाशील थे। दोनो श्रमण-समुदायों के मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा ? हमारी और इनकी आचार-विधि में इतना अन्तर क्यों है ? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पंच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यों ? एक लक्ष्य के लिए चलने वालो के आचार में इस विभेद का कारण क्या है ?

केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनों ने अपने-अपने शिष्यों के मनोगत भावों को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मंडली सहित स्वयं 'तिंदुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होंने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिए प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनों एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानो सूर्य-चन्द्र की जोड़ी हो।

दोनों स्थविरों के इस अभूतपूर्व सगम के रम्य दृश्य को देखने के लिए बहुत से व्रती, कुतूहली और सहस्रो गृहस्थ भी आ पहुँचे। अदृश्य देवादि का भी बडी सख्या मे समागम था। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा— "महाभाग ! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले—"पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है ?"

उत्तर मे गौतम बोले—"महाराज ! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय लोगो की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय में लोग सरल और जड थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय में लोग वक्र और जड हैं। पूर्व वर्णित

---

१ उत्तराध्ययन, २३।३

लोगों को समझाना कठिन था और पश्चात् वर्णित लोगों के लिये धर्म का पालन करना कठिन है, अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थंकरों के समय मे लोग सरल प्रकृति और बुद्धिमान् होने के कारण थोड़े में समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते थे। अतः पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें। यही चातुर्याम और पंच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।"

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूसरी शंका वेष के विषय में प्रस्तुत की और बोले—"गौतम ! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन में विपर्यय नही होता ?"

गौतम ने कहा—"लोगों के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिए नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है, अतः लोक में बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव में सद्भूत मोक्ष की साधना मे ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही निश्चय लिंग हैं। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद के तत्त्वाभिमुख-गमन में संशय करने की आवश्यकता नही रहती।"

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! आप सहस्रों शत्रुओं के मध्य में खड़े हैं, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं ?"

गौतम स्वामी बोले—"एक शत्रु के जीतने से पाँच जीते गये और पाँच की जीत से दश तथा दश शत्रुओं को जीतने से मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।"

केशिकुमार बोले—"वे शत्रु कौनसे हैं ?"

गौतम ने कहा—"हे महामुने ! नहीं जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है, एवं चार कषाय तथा ५ इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जय से ये सभी वश में हो जाते हैं। जिससे मैं इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नही करते।"

(४) केशिकुमार ने पुनः पूछा—"गौतम ! संसार के बहुत से जीव पाश-बद्ध देखे जाते हैं, परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?"

आये और कोष्ठक उद्यान मे विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' मे पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मण्डल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था में ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनो ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।[1]

श्रावस्ती- मे केशी और गौतम दोनो के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचर रहे थे, किन्तु दोनो के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनों समुदाय के श्रमणो के मन शंकाशील थे। दोनो श्रमण-समुदायों के मन मे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा ? हमारी और इनकी आचार-विधि मे इतना अन्तर क्यो है ? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पंच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यों ? एक लक्ष्य के लिए चलने वालों के आचार मे इस विभेद का कारण क्या है ?

केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनों ने अपने-अपने शिष्यो के मनोगत भावों को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मंडली सहित स्वयं 'तिंदुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिए प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनों एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानो सूर्य-चन्द्र की जोड़ी हो।

दोनों स्थविरों के इस अभूतपूर्व संगम के रम्य दृश्य को देखने के लिए बहुत से व्रती, कुतूहली और सहस्रों गृहस्थ भी आ पहुँचे। अदृश्य देवादि का भी बड़ी संख्या मे समागम था। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा—"महाभाग ! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले—"पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पंचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है ?"

उत्तर मे गौतम बोले—"महाराज ! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय लोगो की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय मे लोग सरल और जड़ थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय में लोग वक्र और जड़ हैं। पूर्व वर्णित

[1] उत्तराध्ययन, २३।३

लोगों को समझाना कठिन था और पश्चात् वर्णित लोगो के लिये धर्म का पालन करना कठिन है, अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थंकरो के समय मे लोग सरल प्रकृति और बुद्धिमान् होने के कारण थोड़े में समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते थे। अतः पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें। यही चातुर्याम और पच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।"

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने दूसरी शंका वेष के विषय में प्रस्तुत की और बोले—"गौतम ! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान'वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन में विपर्यय नहीं होता ?"

गौतम ने कहा—"लोगों के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिए नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है, अतः लोक में बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव में सद्भूत मोक्ष की साधना में ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही निश्चय लिंग हैं। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद के तत्त्वाभिमुख-गमन में संशय करने की आवश्यकता नही रहती।"

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! आप सहस्रों शत्रुओ के मध्य में खड़े हैं, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं ?"

गौतम स्वामी बोले—"एक शत्रु के जीतने से पांच जीते गये और पांच की जीत से दश तथा दश शत्रुओं को जीतने से मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।"

केशिकुमार बोले—"वे शत्रु कौनसे हैं ?"

गौतम ने कहा—"हे महामुने ! नही जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है, एवं चार कषाय तथा ५ इन्द्रियां भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जय से ये सभी वश में हो जाते हैं। जिससे मैं इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नही करते।"

(४) केशिकुमार ने पुनः पूछा—"गौतम ! संसार के बहुत से जीव पाश-बद्ध देखे जाते हैं, परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?"

गौतम स्वामी ने कहा—"महामुने ! राग-द्वेष रूप स्नेह-पाश को मैंने उपाय पूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ।"

(५) केशिकुमार बोले—"गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है। आपने उसका मूलोच्छेद कैसे किया है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैंने समूल उखाड़ कर फेंक दिया है, अतः मैं निश्शंक होकर विचरता हूँ।"

(६) केशिकुमार बोले—"गौतम ! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायाग्नि, जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ। अध्यात्म-क्षेत्र मे कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एवं तप ही जल है। अतः श्रुत-जल की धारा से परिषिक्त कषाय की अग्नि हमको नही जलाती है।"

(७) केशिकुमार बोले—"गौतम ! एक साहसी और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग मे किस कारण नही गिरते ?"

गौतम ने कहा—"श्रमणवर ! दौड़ते हुए अश्व का मैं श्रुत की लगाम से निग्रह करता हूँ। अतः वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही चलाता है। आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोड़ा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो। इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है, जिस पर मैं बैठा हूँ। धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूँ।"

(८) केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार में बहुत से कुमार्ग हैं जिनमें लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते है, मार्गच्युत कैसे नही होते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महाराज ! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनों को ही जानता हूँ, इसलिये मार्ग-च्युत नहीं होता। मैंने समझ लिया हैं कि कुप्रवचन के व्रती सब उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है।"

(९) केशिकुमार बोले—"गौतम ! जल के प्रबल वेग मे जग के प्राणी

बहे जा रहे हैं, उनके लिए आप शरण गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! उस पानी में एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिस पर पानी नहीं पहुँच पाता । इसी प्रकार संसार के जरा-मरण के वेग मे वहते हुए जीवों के लिए धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है । यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है ।"

(१०) केशी बोले—"गौतम ! बड़े प्रवाह वाले समुद्र मे नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे ?"

गौतम ने कहा—"केशी महाराज ! नौका दो तरह की होती है : (१) सच्छिद्र और (२) छिद्ररहित । जो नौका छिद्र वाली है वह पार नही करती, किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुँचाती है । आप कहेंगे कि संसार में नाव क्या है, तो उत्तर है—शरीर नौका और जीव नाविक है । आस्रवरहित शरीर से महर्षि संसार-समुद्र को पार कर लेते है ?"

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अंधकार मे भटक रहे हैं, लोक मे इन सब प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

गौतम ने कहा—"लोक में विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवों को प्रकाश-दान करेगा । सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर है, जो तमसावृत संसार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते हैं ।"

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया—"संसार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखो से पीड़ित हैं, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?"

इस पर गौतम ने कहा—"लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीड़ा नही होती । वह स्थान सबको सुलभ नही है । उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एवं शिवस्थान आदि नाम से कहते हैं । उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं ।"

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं संशयातीत कह, उनका अभिवादन करने लगे । फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नवा कर गौतम के पास पंच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया ।

गौतम स्वामी ने कहा—"महामुने ! राग-द्वेष रूप स्नेह-पाश को मैंने उपाय पूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ ।"

(५) केशिकुमार बोले—"गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है। आपने उसका मूलोच्छेद, कैसे किया है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैंने समूल उखाड़ कर फेंक दिया है, अतः मैं निश्शंक होकर विचरता हूँ ।"

(६) केशिकुमार बोले—"गौतम ! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायाग्नि, जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ । अध्यात्म-क्षेत्र मे कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एव तप ही जल है । अत. श्रुत-जल की धारा से परिषिक्त कषाय की अग्नि हमको नही जलाती है ।"

(७) केशिकुमार बोले—"गौतम ! एक साहसी और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग में किस कारण नही गिरते ?"

गौतम ने कहा—"श्रमणवर ! दौड़ते हुए अश्व का मैं श्रुत की लगाम से निग्रह करता हूँ । अतः वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही बढ़ाता है । आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोड़ा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो । इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है, जिस पर मैं बैठा हूँ । धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूँ ।"

(८) केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार में बहुत से कुमार्ग हैं जिनमें लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते हैं, मार्गच्युत कैसे नही होते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महाराज ! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनो को ही जानता हूँ, इसलिये मार्ग-च्युत नहीं होता । मैंने समझ लिया है कि कुप्रवचन के व्रती सब उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है ।"

(९) केशिकुमार बोले—"गौतम ! जल के प्रबल वेग मे जग के प्राणी

बहे आ रहे हैं, उनके लिए आप शरण गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते हैं ?"

गौतम ने कहा—"महामुने ! उस पानी में एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिस पर पानी नहीं पहुँच पाता। इसी प्रकार संसार के जरा-मरण के वेग मे बहते हुए जीवों के लिए धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है। यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है।"

(१०) केशी बोले—"गौतम ! बड़े प्रवाह वाले समुद्र मे नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे ?"

गौतम ने कहा—"केशी महाराज ! नौका दो तरह की होती है : (१) सच्छिद्र और (२) छिद्ररहित। जो नौका छिद्र वाली है वह पार नही करती, किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुँचाती है। आप कहेंगे कि संसार में नाव क्या है, सो उत्तर है—शरीर नौका और जीव नाविक है। आस्रवरहित शरीर से महर्षि संसार-समुद्र को पार कर लेते है ?"

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा—"गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अंधकार में भटक रहे है, लोक में इन सब प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

गौतम ने कहा—"लोक में विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवों को प्रकाश-दान करेगा। सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर है, जो तमसावृत ससार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते हैं।"

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया—"संसार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखों से पीड़ित है, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?"

इस पर गौतम ने कहा—"लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीड़ा नही होती। वह स्थान सबको सुलभ नही है। उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एव शिवस्थान आदि नाम से कहते हैं। उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।"

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं संशयातीत कह, उनका अभिवादन करने लगे। फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नवा कर गौतम के पास पंच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर मे उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे—"अहो! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हूँ। वर्तमान मे शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिए भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशसनीय नही होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कडाह, कड़च्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिव-भद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करूँ और स्वयं गगातटवासी, दिशापोषक वान-प्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।"

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होने सेवकजनों को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया। तदनन्तर लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर उन्होंने मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एव उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—"मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनो बाहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूँगा।" प्रातःकाल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया मे आये और कठिन संकायिका-बांस की छाब को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले—"पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिए अनुज्ञा प्रदान करें।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहां से पत्रादि छाब मे भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन सयामिका को रखकर प्रथम उन्होंने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिए गंगा पर गये। वहाँ स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुँचे। वहाँ विधि-पूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सकथा, वल्कल,

स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-बलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन मे प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे—"मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर मे जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा—"सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा—"क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा—"इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।"

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, सकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा—"अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राम्रवन पहुँचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले—"भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होंने तापसी उपकरणों का परित्याग किया और भगवच्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग में प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने

[1] भग० शतक ११, उ० ६, सू० ४१८।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन मे अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर मे उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे—"अहो! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हूँ। वर्तमान में शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिए भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशंसनीय नही होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कड़ाह, कड़च्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिव-भद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करूँ और स्वयं गगातटवासी, दिशापोषक वान-प्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ।"

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होने सेवकजनो को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया। तदनन्तर लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर उन्होने मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एव उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी-दीक्षा ग्रहण कर उन्होने यह प्रतिज्ञा की—"मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनों बाहे उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूँगा।" प्रातःकाल होने पर उन्होने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहने तपोभूमि से कुटिया में आये और कठिन संकायिका-बाँस की छाब को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले—"पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिए अनुज्ञा प्रदान करें।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहाँ से पत्रादि छाब मे भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन संयामिका को रखकर प्रथम उन्होने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिए गंगा पर गये। वहाँ स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुँचे। वहाँ विधि-पूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सकथा, वल्कल,

स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-बलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन में प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे—"मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर में जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा—"सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुर आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर मे भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा—"क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा—"इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।"

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, संकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा—"अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राम्रवन पहुँचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले—"भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होंने तापसी उपकरणों का परित्याग किया और भगवच्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग मे प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने

[1] भग० शतक ११, उ० ९, सू० ४१८।

एकादश अंग का अध्ययन किया और अन्त में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

भगवान् के पीयूषवर्षी अमोघ उपदेशो से सत्पथ को पहिचान कर यहाँ कई धर्मार्थियो ने मुनि-धर्म की दीक्षा ली, उनमें पोट्टिल अनगार का नाम उल्लेखनीय है। कुछ काल पश्चात् महावीर हस्तिनापुर से 'मोका' नगरी होते हुए फिर वाणियग्राम पधारे और वही पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का सत्रहवाँ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह के 'गुणशील' चैत्य मे समवशरण किया। राजगृह में उस समय निर्ग्रन्थ प्रवचन को मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी, फिर भी अन्य मतावलम्बियो का भी अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक और अन्यान्य सम्प्रदायों के श्रमण एवं गृहस्थ भी अच्छी संख्या मे वहाँ रहते थे। वे समय-समय पर एक-दूसरे की मान्यताओं पर विचार-चर्चा भी किया करते थे।

एक समय इन्द्रभूति गौतम ने आजीवक भिक्षुओं के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा—"प्रभो! आजीवक, स्थविरों से पूछते हैं कि यदि तुम्हारे श्रावक का, जब वह सामायिक व्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूर्ण कर वह उसकी तलाश करता है या नही? यदि तलाश करता है तो वह अपने भांड की तलाश करता है या पराये की?"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"गौतम! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नही। सामायिक और पोषधोपवास से उसका भाण्ड, अभाण्ड नही होता है। केवल जब तक वह सामायिक आदि व्रत मे रहता है, तब तक उसका भाण्ड उसके लिए अभाण्ड माना जाता है। आगे चलकर प्रभु ने श्रावक के उनचास भंगों का परिचय देते हुए श्रमणोपासक और आजीवक का भेद बतलाया।

आजीवक अरिहन्त को देव मानते और माता-पिता की सेवा करने वाले होते हैं। वे गूलर, बड़, बोर, शहतूत और पीपल—इन पाँच फलों और प्याज-लहसुन आदि कंद के त्यागी होते हैं। वे ऐसे बैलों से काम लेते हैं, जिनको बधिया नही किया जाता और न जिनका नाक ही बेधा जाता। जब आजीवक उपासक भी इस प्रकार निर्दोष जीविका चलाते हैं तो श्रमणोपासकों का तो

---

१ भग० श० ११, उ० १, सूत्र ४१८।

कहना ही क्या ? श्रमणोपासक पन्द्रह कर्मादानों के त्यागी[1] होते है, क्योंकि अंगार-कर्म आदि महा हिंसाकारी खरकर्म श्रावक के लिए त्याज्य कहे गये है।

इस वर्ष बहुत से साधुओं ने राजगृह के विपुलाचल पर अनशन कर आत्मा का कार्य सिद्ध किया। भगवान् का यह वर्षाकाल भी राजगृही में सम्पन्न हुआ।

केवलीचर्या का अठारहवाँ वर्ष

राजगृह का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और उसके पश्चिम भाग, पृष्ठचम्पा नामक उपनगर में विराजमान हुए। प्रभु के विराजने की बात सुनकर पृष्ठचम्पा का राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुना और शाल-राजा ने संसार से विरक्त होकर प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म स्वीकार करना चाहा। जब उन्होंने युवराज महाशाल को राज्य सम्भालने की बात कही तो उसने उत्तर दिया— "जैसे आप संसार से विरक्त हो रहे है, वैसे मैं भी प्रभु के उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।" इस प्रकार दोनों के विरक्त हो जाने पर शाल ने अपने भानजे 'गांगली' नामक राजकुमार को बुलाया और उसे राज्यारूढ कर दोनों ने प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

पृष्ठचम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। भगवान् महावीर के पदार्पण की शुभसूचना पाकर वहाँ के प्रमुख लोग वन्दन करने को गये। श्रमणोपासक कामदेव, जो उन दिनों अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार संभलाकर विशेष रूप से धर्मसाधना में तल्लीन था, वह भी प्रभु के चरण-वन्दन हेतु पूर्ण-भद्र उद्यान में आया और देशना श्रवण करने लगा।

धर्म-देशना पूर्ण होने पर प्रभु ने कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहा— "कामदेव ! रात में किसी देव ने तुमको पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बनाकर विविध उपसर्ग दिये और तुम अडोल रहे, क्या यह सच है ?"

कामदेव ने विनयपूर्वक कहा—"हाँ भगवन् ! यह ठीक है।"

भगवान् ने श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा—"आर्यो ! कामदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए दिव्य मानुषी और पशु सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन किये हैं।[2] श्रमण निर्ग्रन्थों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिये।" श्रमण-

---

१ भगवती सूत्र, श० ८, उ० ५।

२ उपासक दशा सूत्र, २ अ० सू० ११४।

श्रमणियों ने भगवान् का वचन सविनय स्वीकार किया। चम्पा में इस प्रकार प्रभु ने बहुत उपकार किया।

दशार्णभद्र को प्रतिबोध

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ का महाराजा प्रभु महावीर का बड़ा भक्त था। उसने बड़ी धूमधाम से प्रभु-वंदन की तैयारी की और चतुरंग सेना व राज-परिवार सहित सजधज कर वन्दन को निकला। उसके मन मे विचार आया कि उसकी तरह उतनी बड़ी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए कौन आया होगा? इतने मे सहसा गगनमंडल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर दृष्टि पड़ी तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्क्षण दीक्षा ग्रहण की और श्रमण-संघ मे स्थान पा लिया। देवेन्द्र, जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ[1] और उनका अभिवादन कर स्वर्गलोक की ओर चला गया।

सोमिल के प्रश्नोत्तर

दशार्णपुर से विदेह प्रदेश में विचरण करते हुए प्रभु वाणियग्राम पधारे। वहाँ उस समय 'सोमिल' नाम का ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का जानकार और पाँच सौ छात्रों का गुरु था। नगर के 'दूति पलाश' उद्यान में महावीर का आगमन सुनकर उसकी भी इच्छा हुई कि वह महावीर के पास जाकर कुछ पूछे। सौ छात्रों के साथ वह घर से निकला और भगवान् के पास आकर खड़े-खड़े बोला—"भगवन्! आपके विचार से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार का क्या स्वरूप है? तुम कैसी यात्रा मानते हो?"

महावीर ने कहा—"सोमिल! मेरे मत में यात्रा भी है, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है। हम तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि क्रियाओं मे यतनापूर्वक चलने को यात्रा कहते हैं। शुभ योग मे यतना ही हमारी यात्रा है।"[2]

सोमिल ने फिर पूछा—"यापनीय क्या है?"

महावीर ने कहा—"सोमिल यापनीय दो प्रकार का है, इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय को वश मे

---

१ (क) उत्तराध्ययन १८ अ० की टीका. (ख) त्रिष०, १० प०, १० स०।

२ भगवती सू०, १८ श०, उ० १०, सू० ६४६ ॥

रखना मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ को जागृत नही होने देना एव उन पर नियन्त्रण रखना मेरा नो-इन्द्रिय यापनीय है।"

सोमिल ने फिर पूछा—भगवन् ! आपका अव्याबाध क्या है ?"

भगवान् बोले—"सोमिल ! शरीरस्थ वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य विविध रोगातंकों को उपशान्त करना एवं उनको प्रकट नही होने देना, यही मेरा अव्याबाध है।"

सोमिल ने फिर प्रासुक विहार के लिये पूछा तो महावीर ने कहा—"सोमिल ! आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्त्री, पशु-पण्डक रहित बस्तियों मे प्रासुक एवं कल्पनीय पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक स्वीकार कर विचरना ही मेरा प्रासुक विहार है।"

उपर्युक्त प्रश्नों में प्रभु को निरुत्तर नही कर सकने की स्थिति में सोमिल ने भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी कुछ अटपटे प्रश्न पूछे—"भगवन् ! सरिसव आपके भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा—"सोमिल ! सरिसव को मैं भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी। वह ऐसे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों मे 'सरिसव' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक सदृशवय और दूसरा सर्षप याने सरसों। इनमें से समान वय वाले मित्त-सरिसव श्रमण निर्ग्रन्थो के लिये अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव जिसे सर्षप कहते हैं, उसके भी सचित्त और अचित्त, एषणीय-अनेषणीय याचित-अयाचित और लब्ध-अलब्ध, ऐसे दो-दो प्रकार होते है। उनमें हम अचित्त को ही निर्ग्रन्थों के लिये भक्ष्य मानते हैं, वह भी उस दशा में कि यदि वह एषणीय, याचित और लब्ध हो। इसके विपरीत सचित्त, अनेषणीय और अयाचित आदि प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। इसलिये मैंने कहा कि सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य दोनो मानता हूँ।"

सोमिल ने फिर दूसरा प्रश्न रखा—"मास आपक लिये भक्ष्य है या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा—"सोमिल ! सरिसव के समान 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। वह इस तरह कि ब्राह्मण ग्रन्थो में मास दो प्रकार के कहे गये हैं, एक द्रव्य मास और दूसरा काल मास। काल मास जो श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, वे अभक्ष्य हैं। रही द्रव्य मास को बात, वह भी अर्थ मास और धान्य मास के भेद से दो प्रकार का है। अर्थ मास—सुवर्ण मास और रौप्य मास श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। अब रहा धान्य मास, उसमे भी शस्त्र परिणत-अचित्त, एषणीय, याचित और लब्ध ही श्रमणो के लिये भक्ष्य है। शेष सचित्त आदि विशेषणवाला धान्य मास अभक्ष्य है।"

सरिसव और मास के संतोषजनक उत्तर पाने के बाद सोमिल ने पूछा—"भगवन् ! कुलत्था आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य ?"

महावीर ने कहा—"सोमिल ! कुलत्था भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी। भक्ष्याभक्ष्य उभयरूप कहने का कारण इस प्रकार है—"शास्त्रो मे 'कुलत्था' के अर्थ कुलीन स्त्री और कुलथी धान्य दो किये गये है। कुल-कन्या, कुल-वधू और कुल-माता ये तीनो 'कुलत्था' अभक्ष्य हैं। धान्य कुलत्था जो अचित्त, एषरणीय, निर्दोष, याचित और लब्ध है, वे भक्ष्य हैं। शेष सचित्त, सदोष, अयाचित और अलब्ध कुलत्था निर्ग्रन्थो के लिये अभक्ष्य है।"

अपने इन अटपटे प्रश्नो का संतोषजनक उत्तर पा लेने के बाद महावीर की तत्वज्ञता को समझने के लिये उसने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे—"भगवन् ! आप एक है अथवा दो ? अक्षय, अव्यय और अवस्थित है अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान के अनेक रूपधारी है ?

महावीर ने कहा—"मैं एक भी हूं और दो भी हूं। अक्षय हूं, अव्यय हूं और अवस्थित भी हूं। फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूं।"

अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा—"द्रव्यरूप से मैं एक आत्म-द्रव्य हूं। उपयोग गुण की दृष्टि से ज्ञान, उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूं। आत्म प्रदेशो मे कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिये अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूं। पर परिवर्तनशील उपयोग-पर्यायो की अपेक्षा भूत, भविष्य एव वर्तमान का नाना रूपधारी भी हूं।"[1]

सोमिल ने अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे वर्षों चर्चा करने पर भी न सुलझाने वाले दर्शन के प्रश्न रखे, पर महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त से उनका क्षणभर में समाधान कर दिया इससे सोमिल बहुत प्रभावित हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् की देशना सुनी, श्रावकधर्म स्वीकार किया और उनके चरणो मे वन्दना कर अपने घर चला गया। सोमिल ने श्रावकधर्म की साधना कर अन्त मे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया और स्वर्गगति का अधिकारी बना।

भगवान् का यह चातुर्मास 'वारिणयग्राम' मे ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का उन्नीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कोशल देश के साकेत, सावत्थी आदि

---

१ भग०, १८ शतक, १० उ०, सूत्र ६४७।

नगरों को पावन करते हुए पांचाल की ओर पधारे और कंपिलपुर के बाहर सहस्राम्रवन में विराजमान हुए। कम्पिलपुर मे अम्बड़ नाम का एक ब्राह्मण परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ रहता था। जब उसने महावीर के त्याग-तपोमय जीवन को देखा और वीतरागतामय निर्दोष प्रवचन सुने, तो वह शिष्य-मंडली सहित जैनधर्म का उपासक बन गया। परिव्राजक सम्प्रदाय की वेष-भूषा रखते हुए भी उसने जैन देश-विरति धर्म का अच्छी तरह पालन किया।

एक दिन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने अम्बड़ के लिये सुना कि अम्बड़ संन्यासी कम्पिलपुर में एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता और सौ ही घरों मे दिखाई देता है।

गौतम ने जिज्ञासापूर्ण स्वर में विनयपूर्वक भगवान् से पूछा—"भगवन्! अम्बड़ के विषय में लोग कहते है कि वह एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता है। क्या यह सच है?" प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम! अम्बड़ परिव्राजक विनीत और प्रकृति का भद्र है। निरन्तर छट्ठ तप—बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करते हुए उसको शुभ-परिणामों से वीर्यलब्धि और वैक्रिय-लब्धि के साथ अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ है। अतः लब्धिबल से वह सौ रूप बना कर सौ घरों में दिखाई देता और सौ घरों में आहार ग्रहण करता है, यह ठीक है।"

"गौतम ने पूछा—"प्रभो! क्या वह आपकी सेवा में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करेगा?"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"गौतम! अम्बड़ जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक है। वह उपासक जीवन में ही आयु पूर्ण करेगा। श्रमणधर्म ग्रहण नहीं करेगा।"

अम्बड़ की चर्या

भगवान् ने अम्बड़ की चर्या के सम्बन्ध में कहा—"गौतम! यह अम्बड़ स्थूल हिंसा, झूठ और अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी होकर विचरता है। वह यात्रा में चलते हुए मार्ग में आए पानी को छोड़कर अन्यत्र किसी नदी, कूप या तालाब आदि मे नही उतरता। रथ, गाड़ी, पालकी आदि यान अथवा हाथी, घोड़ा आदि वाहनों पर भी नहीं बैठता। मात्र चरण-यात्रा करता है। खेल, तमाशे, नाटक आदि नही देखता और न राजकथा, देशकथा आदि कोई विकथा ही करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श भी नहीं करता। पात्र में तुम्बा, काष्ठ-पात्र और मृत्तिका-भाजन के

अतिरिक्त तांबा, सोना और चांदी आदि किसी धातु के पात्र नहीं रखता। गेरुआ चादर के अतिरिक्त किसी अन्य रंग के वस्त्र धारण नहीं करता है। एक ताम्रमय पवित्रक को छोड़ कर किसी प्रकार का आभूषण धारण नहीं करता। एक कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का पुष्पहार आदि का उपयोग भी नहीं करता। शरीर पर केसर, चन्दन आदि का विलेपन नहीं करता, मात्र गंगा की मिट्टी का लेप चढ़ाता है। आहार में वह अपने लिये बनाया हुआ, खरीदा हुआ और अन्य द्वारा लाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करता। उसने स्नान और पीने के लिये जल का भी प्रमाण कर रखा है। वह पानी भी छाना हुआ और दिया हुआ ही ग्रहण करता है। बिना दिया पानी स्वयं जलाशय से नहीं लेता।"

अनेक वर्षों तक इस तरह साधना का जीवन व्यतीत कर अम्बड़ संन्यासी अन्त में एक मास के अनशन की आराधना कर ब्रह्मलोक-स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

अम्बड़ के शिष्यों ने भी एक बार जंगल में जल देने वाला नहीं मिलने से तृषा-पीड़ित हो गंगा नदी के तट पर बालुकामय संथारे पर आजीवन अनशन कर प्राणोत्सर्ग कर दिया और ब्रह्मकल्प में बीस सागर की स्थिति वाले देवरूप से उत्पन्न हुए। विशेष जानकारी के लिये औपपातिक सूत्र का अम्बड़ प्रकरण द्रष्टव्य है।

कम्पिलपुर से विचरते हुए भगवान् वैशाली पधारे और यहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का बीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर अनेक भूभागों में विचरण करते हुए प्रभु पुनः एक बार वाणिग्रयाम पधारे। वाणियग्राम के दूतिपलाश चैत्य में जब भगवान् धर्म-देशना दे रहे थे, उस समय एक दिन पार्श्व सन्तानीय 'गांगेय' मुनि वहाँ आये और दूर खड़े रहकर भगवान् से निम्न प्रकार बोले—

"भगवन्! नारक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?"

भगवान् ने कहा—"गांगेय! नारक अन्तर से भी उत्पन्न होते हैं और बिना अन्तर के निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं।"

इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों के भी समुचित उत्तर पाकर गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप से स्वीकार किया और तीन बार प्रदक्षिणा एवं वन्दना कर उसने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। वे महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[1]

---

[1] भग०, ६ श, ५ उ०।

तदनन्तर अन्यान्य स्थानों में विहार करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और वहाँ पर दूसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

केवलीचर्या का इक्कीसवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर प्रस्थान किया। वे अनेक क्षेत्रों में धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पधारे और गुणशील उपवन में विराजमान हुए। गुणशील उद्यान के पास अन्यतीर्थ के बहुत से साधु रहते थे। उनमें समय-समय पर कई प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहते थे। अधिकांशतः वे स्वमत का मंडन और परमत का खण्डन किया करते। गौतम ने उनकी कुछ बातें सुनी तो उन्होंने भगवान् के सामने जिज्ञासाएं प्रस्तुत कर शंकाओं का समाधान प्राप्त किया। भगवान् ने, श्रुतसम्पन्न और शीलसम्पन्न में कौन श्रेष्ठ है, यह बतलाया और जीव तथा जीवात्मा को भिन्न मानने की लोक-मान्यता का भी विरोध किया। उन्होने कहा—"जीव और जीवात्मा भिन्न नहीं, एक ही है।"

एक दिन तैर्थिकों में पंचास्तिकाय के विषय में भी चर्चा चली। वे इस पर तर्क-वितर्क कर रहे थे। उस समय भगवान् के आगमन की बात सुनकर राजगृह का श्रद्धाशील श्रावक 'मद्दुक' भी तापसाश्रम के पास से प्रभु-वन्दन के लिये जा रहा था। कालोदायी आदि तैर्थिक, जो पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे, मद्दुक श्रावक को जाते देखकर आपस में बोले—"अहो अर्हद्भक्त मद्दुक इधर से जा रहा है। वह महावीर के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता है। क्यो नही प्रस्तुत विषय पर उसकी भी राय ले ली जाय।"

ऐसा सोचकर वे लोग पास आये और मद्दुक को रोककर बोले—"मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं। उनमे एक को जीव और चार को अजीव तथा एक को रूपी और पाँच को अरूपी बतलाते हैं। इस विषय मे तुम्हारी क्या राय है तथा अस्तिकायों के विषय में तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?"

उत्तर देते हुए मद्दुक ने कहा—"अस्तिकाय अपने-अपने कार्य से जाने जाते हैं। संसार मे कुछ पदार्थ दृश्य और कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान एव कार्य से जाने जाते हैं।

तीर्थिक बोले—"मद्दुक! तू कैसा श्रमणोपासक है, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को जानता-देखता नही, फिर उनको मानता कैसे है?"

मद्दुक ने कहा—"तीर्थिको! हवा चलती है, तुम उसका रंग रूप देखते हो?"

तीर्थिकों ने कहा—"सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नहीं जाता।"

इस पर मद्दुक ने पूछा—"गंध के परमाणु, जो घ्राणेन्द्रिय के तीन विषय होते हैं, क्या तुम सब उनका रूप-रंग देखते हो ?"

"नहीं, गंध के परमाणु भी सूक्ष्म होने से देखे नहीं जाते", तीर्थिकों ने कहा।

मद्दुक ने एक और प्रश्न रखा—"अरणिकाष्ठ में अग्नि रहती है, क्या तुम सब अरणि में रही हुई आग के रंग-रूप को देखते हो ? क्या देवलोक में रहे हुए रूपों को तुम देख पाते हो ? नहीं, तो क्या तुम जिनको नहीं देख सको, वह वस्तु नहीं है ? दृष्टि में प्रत्यक्ष नहीं आने वाली वस्तुओं को यदि अमान्य करोगे तो तुम्हें बहुत से इष्ट पदार्थों का भी निषेध करना होगा। इस प्रकार लोक के अधिकतम भाग और भूतकाल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

मद्दुक की युक्तियों से तीर्थिक अवाक् रह गये और उन्हें मद्दुक की बात माननी पड़ी। अन्य तीर्थियों को निरुत्तर कर जब मद्दुक भगवान् की सेवा में पहुँचा तब प्रभु ने मद्दुक के उत्तरों का समर्थन करते हुए उसकी शासन-प्रीति का अनुमोदन किया। ज्ञातृपुत्र भ० महावीर के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर मद्दुक बहुत प्रसन्न हुआ और ज्ञानचर्चा कर अपने स्थान की ओर लौट गया।

गौतम को मद्दुक श्रावक की योग्यता देखकर जिज्ञासा हुई और उन्होंने प्रभु से पूछा—"प्रभो ! क्या मद्दुक श्रावक आगार-धर्म से अनगार-धर्म ग्रहण करेगा ? क्या यह आपका श्रमण शिष्य होगा ?"

प्रभु ने कहा—"गौतम ! मद्दुक प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। यह गृहस्थधर्म में रह कर ही देश-धर्म की आराधना करेगा और अन्तिम समय समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर 'अरुणाभ' विमान में देव होगा और फिर मनुष्य भव में संयमधर्म की साधना कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त होगा।"

तत्पश्चात् विविध क्षेत्रों में धर्मोपदेश देते हुए अन्त में राजगृह में ही भगवान् ने वर्षाकाल व्यतीत किया। प्रभु के विराजने से लोगों का बड़ा उपकार हुआ।

केवलीचर्या का बाईसवां वर्ष

राजगृह से विहार कर भगवान् हेमन्त ऋतु में विभिन्न स्थानों में विचरण करते एवं धर्मोपदेश देते हुए पुनः राजगृह पधारे तथा गुणशील चैत्य में विराजमान हुए।

एक बार जब इन्द्रभूति राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील उद्यान की ओर आ रहे थे, तो मार्ग मे कालोदायी शैलोदायी आदि तैथिक पंचास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे पास आये और बोले-"गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र महावीर धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकायो की प्ररूपणा करते है, इसका मर्म क्या है और इन रूपी-अरूपी कायों के सम्बन्ध मे कैसा क्या समझना चाहिये? तुम उनके मुख्य शिष्य हो, अत. कुछ स्पष्ट कर सको तो बहुत अच्छा हो।"

गौतम ने संक्षेप में कहा-"हम अस्तित्व मे 'नास्तित्व' और 'नास्तित्व' में अस्तित्व नहीं कहते। विशेष इस विषय में तुम स्वयं विचार करो, चिन्तन से रहस्य समझ सकोगे।"

गौतम तीर्थिकों को निरुत्तर कर भगवान् के पास आये, पर कालोदायी आदि तीर्थिकों का इससे समाधान नही हुआ। वे गौतम के पीछे-पीछे भगवान् के पास आये। भगवान् ने भी प्रसग पाकर कालोदायी को सम्बोधित कर कहा-"कालोदायी! क्या तुम्हारे साथियों मे पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा चली?"

कालोदायी ने स्वीकार करते हुए कहा-"हाँ महाराज! जब से हमने आपके सिद्धान्त सुने हैं, तब से हम इस पर तर्क-वितर्क किया करते हैं।

भगवान् ने उत्तर मे कहा-"कालोदायी! यह सच है कि इन पंचास्तिकायों पर कोई सो, बैठ या चल नही सकता, केवल पुद्गलास्तिकाय ही ऐसा है जिस पर ये क्रियायें हो सकती हैं।

कालोदायी ने फिर पूछा-"भगवन्! जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पापकर्म पुद्गलास्तिकाय में किये जाते हैं या जीवास्तिकाय मे?"

महावीर ने कहा-"कालोदायी! पुद्गलास्तिकाय मे जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पाप नही किये जाते, किन्तु वे जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं। पाप ही नही सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही होते हैं। जड़ होने से अन्य धर्मास्तिकाय आदि कायों मे कर्म नही किये जाते।"

इस प्रकार भगवान् के विस्तृत उत्तरों से कालोदायी की शंका दूर हो गई। उसने भगवान् के चरणों मे निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने की अभिलाषा व्यक्त की। अवसर देख कर भगवान् ने भी उपदेश दिया। उसके फलस्वरूप कालोदायी निर्ग्रन्थ मार्ग मे दीक्षित हो कर मुनि बन गया। क्रमश: ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वह प्रवचन-रहस्य का कुशल ज्ञाता हुआ।[1]

---

[1] भग० सू०, ७।१०।३०५।

उदक पेढाल और गौतम

राजगृह के ईशान कोण मे नालंदा नाम का एक उपनगर था। वहाँ 'लेव' नामक गाथापति निर्ग्रन्थ-प्रवचन का अनुयायी और श्रमणों का बड़ा भक्त था। 'लेव' ने नालदा के ईशान कोण मे एक शाला का निर्माण करवाया जिसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। कहा जाता है कि गृहनिर्माण से बचे हुए द्रव्य से वह शाला बनाई गई थी, अतः उसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। उसके निकटवर्ती 'हस्तियाम' उद्यान मे एक समय भगवान् महावीर विराजमान थे। वहाँ पेढालपुत्र 'उदक', जो पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण थे, इन्द्रभूति-गौतम से मिले और उनसे बोले—"आयुष्मन् गौतम ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूं।" गौतम की अनुमति पा कर उदक बोले—"कुमार पुत्र श्रमण ! अपने पास नियम लेने वाले उपासक को ऐसी प्रतिज्ञा कराते हैं—'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ या चोर को बाँधने के अतिरिक्त किसी त्रस जीव की हिंसा नही करू गा।'[1] ऐसा पच्चक्खाण दुपच्चक्खाण है, यानी इस तरह के प्रत्याख्यान करना-कराना प्रतिज्ञा में दूषण रूप हैं। क्योंकि संसारी प्राणी स्थावर मर कर त्रस होते और त्रस मर कर स्थावर रूप से भी उत्पन्न होते है। इस प्रकार जो जीव त्रस रूप मे अघात्य थे, वे ही स्थावर रूप मे उत्पन्न होने पर घात-योग्य हो जाते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में इस प्रकार का विशेषण जोड़ना चाहिये कि 'त्रसभूत जीवों की हिंसा नही करू ंगा। भूत विशेषण से यह दोष टल सकता है। हे गौतम ! तुम्हे मेरी यह बात कैसी जँचती है ?"

उत्तर मे गौतम ने कहा—"आयुष्मन् उदक ! तुम्हारी बात मेरे ध्यान मे ठीक नहीं लगती और मेरी समझ से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा कराने वालो को दुपच्चक्खाण कराने वाला कहना भी उचित नही, क्योकि यह मिथ्या आरोप लगाने के समान है। वास्तव में त्रस और त्रसभूत का एक ही अर्थ है। हम जिसको त्रस कहते हैं, उस ही को तुम त्रसभूत कहते हो। इसलिये त्रस की हिंसा त्यागने वाले को वर्तमान त्रस पर्याय की हिंसा का त्याग होता है, भूतकाल में चाहे वह स्थावर रूप से रहा हो या त्रस रूप से, इसकी अपेक्षा नही है। पर जो वर्तमान में त्रस पर्यायधारी है, उन सबकी हिंसा उसके लिये वर्ज्य होती है।[2]

त्यागी का लक्ष्य वर्तमान पर्याय से है, भूत पर्याय किसी की क्या थी, अथवा भविष्यत् मे किसी की क्या पर्याय होने वाली है यह ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अतः जो लोग सम्पूर्ण हिंसा त्यागरूप श्रामण्य नही स्वीकार कर पाते वे मर्यादित प्रतिज्ञा करते हुए कुशल परिणाम के ही पात्र माने जाते हैं। इस प्रकार त्रस हिंसा के त्यागी श्रमणोपासक का स्थावर-पर्याय की हिंसा से व्रत-भंग नही होता।"

---

१ सूत्र कृतांग, २।७।७२ सूत्र, (नालंदीयाध्ययन)

२ सूत्र कृताग सू०, २।७, सूत्र ७३-७४। (नालंदीयाध्ययन)

गौतम स्वामी और उदक-पेढाल के बीच विचार-चर्चा चल रही थी कि उसी समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख कर गौतम ने कहा—"उदक ! ये पार्श्वापत्य स्थविर आये है, लो इन्ही से पूछ लें।"

गौतम ने स्थविरो से पूछा—"स्थविरो ! कुछ लोग ऐसे होते है, जिनको जीवनपर्यन्त अनगार-साधु नही मारने की प्रतिज्ञा है। कभी कोई वर्तमान साधु पर्याय में वर्षों रह कर फिर गृहवास मे चला जाय और किसी अपरिहार्य कारण से वह साधु की हिंसा त्यागने वाला गृहस्थ उसकी हिंसा कर डाले तो उसे साधु की हिंसा का पाप लगेगा क्या ?"

स्थविरों ने कहा—"नही, इससे प्रतिज्ञा का भंग नही होता।"

गौतम ने कहा—"निर्ग्रन्थो ! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी गृहस्थ भी स्थावर की हिंसा करता हुआ अपने पच्चक्खाण का भंग नही करता।"

इस प्रकार अन्य भी अनेक दृष्टान्तो से गौतम ने उदक-पेढाल मुनि की शंका का निराकरण किया और समझाया कि त्रस मिट कर सब स्थावर हो जायें या स्थावर सब के सब त्रस हो जायें, यह संभव नही।

गौतम के युक्तिपूर्ण उत्तर और हित-वचनों से मुनि उदक ने समाधान पाया और सरलभाव से बिना वन्दन के ही जाने लगा तो गौतम ने कहा—"आयुष्मन् उदक ! तुम जानते हो, किसी भी श्रमण-माहण से एक भी आर्य-धर्म युक्त वचन सुन कर उससे ज्ञान पाने वाला मनुष्य देव की तरह उसका सत्कार करता है।"

गौतम की इस प्रेरणा से उदक समझ गया और बोला—"गौतम महाराज ! मुझे पहले इसका ज्ञान नही था, अतः उस पर विश्वास नही हुआ। अब आपसे सुनकर मैंने इसको समझा है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।"

गौतम द्वारा प्रेरित हो निर्ग्रन्थ उदक ने पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की और भगवान् के चरणों में आकर विनयपूर्वक चातुर्याम परम्परा से पंच महाव्रत रूप धर्म-परम्परा स्वीकार की। अब ये भगवान् महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये।[1]

इधर-उधर कई क्षेत्रों मे विचरण करने के पश्चात् प्रभु ने इस वर्ष का चातुर्मास भी नालन्दा में व्यतीत किया।

---

१ सूत्र कृ० २।७ नालंदीय, ८१ सू०।

केवलीचर्या का तेईसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालन्दा से विहार कर विदेह की राजधानी के पास वाणिज्यग्राम पधारे। उन दिनों वाणिज्यग्राम व्यापार का एक अच्छा केन्द्र था। वहाँ के विभिन्न धनपतियो में सुदर्शन सेठ एक प्रमुख व्यापारी था। जब भगवान् वाणियग्राम के 'दूति पलाश' चैत्य मे पधारे तो दर्शनार्थ नगरवासियो का तांता सा लग गया। हजारो नर-नारी भगवान् को वन्दन करने एवं उनकी अमृतमयी वाणी को सुनने के लिये वहाँ एकत्र हुए। सुदर्शन भी उनके बीच सेवा में पहुँचा। सभाजनों के चले जाने पर सुदर्शन ने वन्दन कर पूछा—"भगवन् ! काल कितने प्रकार का है ?"

प्रभु ने उत्तर में कहा—"सुदर्शन ! काल चार प्रकार का है .

(१) प्रमाणकाल, (२) यथायुष्क-निवृत्तिकाल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।"[१]

सुदर्शन ने फिर पूछा—"प्रभो ! पल्योपम और सागरोपम काल का भी क्षय होता है या नही ?"

सुदर्शन को पल्योपम का काल-मान समझाते हुए भगवान् ने उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् के मुख से अपने बीते जीवन की बात सुनकर सुदर्शन का अन्तर जागृत हुआ और चिन्तन करते हुए उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के स्वरूप को देखकर वह गद्गद् हो गया। हर्षाश्रु से पुलकित हो उसने द्विगुणित वैराग्य एवं उल्लास से भगवान् को वन्दन किया। श्रद्धावनत हो उसने तत्काल वही पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणो में श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। फिर क्रमशः एकादशांगी और चौदह पूर्वों का अध्ययन कर उसने बारह वर्ष तक श्रमण-धर्म का पालन किया और अन्त में कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[२]

गौतम और आनन्द श्रावक

एक बार गणधर गौतम भगवान् की आज्ञा से वाणिज्यग्राम में भिक्षा के लिये पधारे। भिक्षा लेकर जब वे 'दूति पलाश' चैत्य की ओर लौट रहे थे तो मार्ग में 'कोल्लाग सन्निवेश' के पास उन्होंने आनन्द श्रावक के अनशन ग्रहण की बात सुनी। गौतम के मन में विचार हुआ कि आनन्द प्रभु का उपासक शिष्य है और उसने अनशन कर रखा है, तो जाकर उसे देखना चाहिये। ऐसा विचार कर वे 'कोल्लाग सन्निवेश' मे आनन्द के पास दर्शन देने पधारे।

---

१ भगवती सूत्र, शतक ११, उ० ११, सूत्र ४२४।

२ भग० श०, श० ११, उ० ११, सूत्र ४३२।

गौतम को पास आये देख कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक बोले—"भगवन् ! अब मेरी उठने की शक्ति नहीं है, अतः जरा चरण मेरी ओर बढ़ायें, जिससे कि मैं उनका स्पर्श और वन्दन कर लूँ ।" गौतम के समीप पहुँचने पर आनन्द ने वन्दन किया और वार्तालाप के प्रसंग से वे बोले—"भगवन् ! घर मे रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान होता है क्या ?"

गौतम ने कहा—"हाँ"

आनन्द फिर बोले—"मुझे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है । मैं लवण समुद्र मे तीनों ओर ५००-५०० योजन तक, उत्तर मे चुल्ल हिमवंत पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे 'लोलच्चुम' नरकावास तक के रूपी पदार्थों को जानता और देखता हूँ ।"

इस पर गौतम सहसा बोले—"आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, पर इतनी दूर तक का नही होता । अतः तुमको इसकी आलोचना करनी चाहिए ।"

आनन्द बोला—"भगवन् ! जिन-शासन में क्या सच कहने वालों को आलोचना करनी होती है ?"

गौतम ने कहा—"नहीं, सच्चे को आलोचना नही करनी पड़ती ।"

यह सुन कर आनन्द बोला—"भगवन् ! फिर आपको ही आलोचना करनी चाहिए ।"

आनन्द की बात से गौतम का मन शंकित हो गया । वे शीघ्र ही भगवान् के पास 'दूति पलाश' चैत्य में आये । भिक्षाचर्या दिखाकर आनन्द की बात सामने रखी और बोले—"भगवन् ! क्या आनन्द को इतना अधिक अवधिज्ञान हो सकता है ? क्या वह आलोचना का पात्र नहीं है ?"

भगवान् ने उत्तर मे कहा—"गौतम ! आनन्द श्रावक ने जो कहा, वह ठीक है । उसको इतना अधिक अवधिज्ञान हुआ है यह सही है, अतः तुमको ही आलोचना करनी चाहिये ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर बिना पारणा किये ही गौतम आनन्द के पास गये और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर, आनन्द से क्षमायाचना की ।[1]

ग्राम नगरादि मे विचरते हुए फिर भगवान् वैशाली पधारे और वहीं पर इस वर्ष का वर्षावास पूर्ण किया ।

---

१ उपास० १, गाथा ८४ ।

केवलीचर्या का चौबीसवां वर्ष

वैशाली का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् कोशल भूमि के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए साकेतपुर पधारे। साकेत कोशल देश का प्रसिद्ध नगर था। वहां का निवासी जिनदेव श्रावक दिग्यात्रा करता हुआ 'कोटिवर्ष' नगर पहुंचा। उन दिनो वहां म्लेच्छ का राज्य था। व्यापार के लिये आये हुए जिनदेव ने 'किरातराज' को बहुमूल्य रत्न आभूषणादि भेंट किये। अदृष्ट पदार्थों को देखकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"ऐसे रत्न कहां उत्पन्न होते हैं ?"

जिनदेव बोला—"राजन् ! हमारे देश मे इनसे भी बढ़िया रत्न उत्पन्न होते हैं।"

किरातराज ने उत्कण्ठा भरे स्वर में कहा—"मैं चाहता हूं कि तुम्हारे यहां चलकर उन रत्नो को देखूं, पर तुम्हारे राजा का डर लगता है।"

जिनदेव ने कहा—"महाराज ! राजा से डर की कोई बात नहीं है। फिर भी आपकी शंका मिटाने हेतु मैं उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता हूं।"

ऐसा कह कर जिनदेव ने राजा को पत्र लिखा और उनसे अनुमति प्राप्त कर ली। किरातराज भी अनुमति प्राप्त कर साकेतपुर आये और जिनदेव के यहां ठहर गये। सयोगवश उस समय भगवान् महावीर साकेतपुर पधारे हुए थे। नगर मे महावीर के पधारने के समाचार पहुंचते ही महाराज शत्रुंजय प्रभु को वन्दन करने निकल पड़े। नागरिक लोग भी हजारों की संख्या मे भगवान् की सेवा में पहुंचे। नगर मे दर्शनार्थियो की बड़ी हलचल थी।

किरातराज ने जनसमूह को देखकर जिनदेव से पूछा—"सार्थवाह ! ये लोग कहां जा रहे हैं ?" जिनदेव ने कहा—"महाराज ! रत्नों का एक बड़ा व्यापारी आया है, जो सर्वोत्तम रत्नो का स्वामी है। उसी के पास ये लोग जा रहे हैं।"

किरातराज ने कहा—"फिर तो हमको भी चलना चाहिये।" यह कह कर वे जिनदेव के साथ धर्म-सभा की ओर चल पड़े। तीर्थंकर के छत्रत्रय और सिंहासन आदि देखकर किरातराज चकित हो गये। किरातराज ने महावीर के चरणों में वन्दन कर रत्नों के भेद और मूल्य के सम्बन्ध मे पूछा।

महावीर बोले—"देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के हैं, एक द्रव्यरत्न और दूसरा भावरत्न। भावरत्न के मुख्य तीन प्रकार हैं :—(१) दर्शन रत्न, (२) ज्ञान रत्न और (३) चारित्र रत्न।" भावरत्नों का विस्तृत वर्णन करके प्रभु ने कहा—"यह ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं, जो धारक की प्रतिष्ठा बढ़ाने के अतिरिक्त

उसके लोक और परलोक दोनों का सुधारते हैं। द्रव्यरत्नों का प्रभाव परिमित है। वे वर्तमान काल में ही सुखदायी होते हैं पर भावरत्न भव-भवान्तर मे भी सद्‌गतिदायक और सुखदायी होते हैं।"

भगवान् का रत्न-विषयक प्रवचन सुनकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला—"भगवन्! मुझे भावरत्न प्रदान कीजिये।" भगवान् ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका दिलवाये जिनको किरातराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वे भगवान् के श्रमण-संघ में दीक्षित हो गये।[1]

फिर साकेतपुर से विहार कर भगवान् पाचाल प्रदेश के कम्पिलपुर में पधारे। प्रभु ने वहाँ से सूरसेन देश की ओर प्रस्थान किया। फिर मथुरा, सौरिपुर, नन्दीपुर आदि नगरो में भ्रमण करते हुए प्रभु पुन. विदेह की ओर पधारे और इस वर्ष का वर्षाकाल आपने मिथिला मे ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पच्चीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर प्रयाण किया। गाँव-गाँव मे निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह पधारे और वहाँ के 'गुणशील' चैत्य में विराजमान हुए। गुणशील चैत्य के पास अन्य तीर्थियों के बहुत से आश्रम थे। एक बार धर्म-सभा समाप्त होने पर कुछ तैर्थिक वहाँ आये और स्थविरों से बोले—"आर्यो! तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत हो, अविरत हो, यावत् बाल हो।"

अन्य तीर्थिकों की ओर से इस तरह के आक्षेप सुनकर स्थविरों ने उन्हे शान्तभाव से पूछा—"हम असयत और बाल कैसे हैं? हम किसी प्रकार भी अदत्त नही लेकर दीयमान ही लेते है।" इत्यादि प्रकार से तैर्थिको के आक्षेप का शान्ति के साथ युक्तिपूर्वक उत्तर देकर स्थविरों ने उनको निरुत्तर कर दिया। वहाँ पर गति प्रपात अध्ययन की रचना की गई।[2]

कालोदायी के प्रश्न

कालोदायी श्रमण ने एक बार भगवान् को वन्दना कर प्रश्न किया—"भगवन्! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वय कैसे करता है?"

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—"कालोदायी! जैसे कोई दूषित पक्वान्न या मादक पदार्थ का भोजन करता है, तब वह बहुत रुचिकर लगता है। खाने

---

१ "कोडीवरिस चिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणाय।" आवश्यक निर्युक्ति, दूसरा भाग, गा० १३०५ की टीका देखिये।

२ भगवती, श० ८, उ० ७, सूत्र ३३७।

वाला स्वाद में लुब्ध हो तज्जन्य हानि को भूल जाता है किन्तु परिणाम उसका दुखदायी होता है। भक्षक के शरीर पर कालान्तर में उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जब जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष आदि पापो का सेवन करता है, तब तत्काल ये कार्य सरल व मनोहर प्रतीत होने के कारण अच्छे लगते हैं, परन्तु इनके विपाक परिणाम बड़े अनिष्टकारक होते हैं, जो करने वालों को भोगने पड़ते हैं।"

कालोदायी ने फिर शुभ कर्मों के विषय में पूछा—"भगवन्! जीव शुभ कर्मों को कैसे करता है?"

भगवान् महावीर ने कहा—"जैसे औषधिमिश्रित भोजन तीखा और कड़वा होने से खाने में रुचिकर नही लगता, तथापि बलवीर्य-वर्द्धक जान कर बिना मन भी खाया एव खिलाया जाता है और वह लाभदायक होता है। उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियाँ मन को मनोहर नही लगती, प्रारम्भ में वे भारी लगती है। वे दूसरे की प्रेरणा से प्राय: बिना मन, की जाती हैं, परन्तु उनका परिणाम सुखदायी होता है।"[1]

कालोदायी ने दूसरा प्रश्न हिंसा के विषय में पूछा—"भगवन्! समान उपकरण वाले दो पुरुषों मे से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा बुझाता है तो इन जलाने और बुझाने वालो में अधिक आरम्भ और पाप का भागी कौन होता है?"

भगवान् ने कहा—कालोदायी! आग बुझाने वाला अग्नि का आरम्भ तो अधिक करता है, परन्तु पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है, होने वाली हिंसा को घटाता है। इसके विपरीत जलाने वाला पृथ्वी, जल, वायु वनस्पति और त्रस की हिंसा अधिक और अग्नि की कम करता है। अत: आग जलाने वाला अधिक आरम्भ करता है और बुझाने वाला कम। अत: आग जलाने वाले से बुझाने वाला अल्पपापी कहा गया है।"[2]

अचित्त पुद्गलों का प्रकाश

फिर कालोदायी ने अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में पूछा तो प्रभु ने कहा—"अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। जब कोई तेजोलेश्याधारी मुनि तेजोलेश्या छोड़ता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते हैं, वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला

---

१ भग०, श० ७, उ० १०, सू० ३०६।

२ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०७।

और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते हैं।"[1]

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट होकर कालोदायी भगवान् को वन्दन करता हुआ और छट्ठ, अट्ठमादि तप करता हुआ अन्त में अनशनपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

गणधर प्रभास ने भी एक मास का अनशन कर इसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया।[2] इस प्रकार विविध उपकारों के साथ इस वर्ष भगवान् का चातुर्मास राजगृह में पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का छब्बीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विविध ग्रामों में विचरण कर प्रभु पुनः 'गुणशील' चैत्य में पधारे। गौतम ने यहाँ प्रभु से विविध प्रकार के प्रश्न किये, जिनमें परमाणु का संयोग-वियोग, भाषा का भाषापन और दुःख की अकृत्रिमता आदि प्रश्न मुख्य थे। भगवान् ने अन्य तीर्थ के क्रिया सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"एक समय में जीव एक ही क्रिया करता है ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नहीं करता।[3] देखना, बोलना जैसी दो क्रियाएँ एक साथ हों, इसमें आपत्ति नहीं है, आपत्ति एक समय में दो उपयोग होने में है।"

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेतार्य गणधरों ने भी अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालंदा में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का सत्ताईसवाँ वर्ष

नालन्दा से विहार कर भगवान् ने विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। विदेह के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए प्रभु मिथिला पधारे। यहाँ राजा जितशत्रु ने प्रभु के आगमन का समाचार सुना तो वे नगरी के बाहर मणिभद्र चैत्य में वन्दन करने को आये। महावीर ने उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश दिया। लोग वन्दन एवं उपदेश-श्रवण कर यथास्थान लौट गये।

अवसर पाकर इन्द्रभूति-गौतम ने विनयपूर्वक सूर्य चन्द्रादि के विषय में प्रभु से प्रश्न किये। जिनमें सूर्य का मंडल-भ्रमण, प्रकाश-क्षेत्र, पौरुषी छाया,

---

१ भग० सू०, ७।१०, सू० ३०८।

२ भगवान् महावीर—कल्याणविजय।

३ भग० श० १, उ० १०, सू० ८१।

संवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहों का उपपात एवं च्यवन, चन्द्रादि की ऊँचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य हैं।

इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का अट्ठाईसवां वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह में विचर कर अनेक श्रद्धालुओं को श्रमण-धर्म में दीक्षित किया और अनेक भव्यों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। संयोगवश इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का उनतीसवां वर्ष

वर्षाकाल के बाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान में विराजमान हुए। उन दिनो नगरी में महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना के लिए अनशन कर रखा था। उसको अनशन मे अध्यवसाय की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारों दिशाओं मे दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियों में 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन बेभान हो कर वह, जहाँ महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहाँ पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा, पर जब वह सिर के बाल बिखेर कर अभद्र चेष्टाओं के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नही सँभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से बहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा—"रेवती! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यों कर रही है? असत्कर्मों का फल ठीक नही होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव मे आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क मे जाने वाली है।"

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी—"अहो! आज सचमुच ही पतिदेव मुझ ऊपर क्रुद्ध हैं। न जाने मुझे क्या दण्ड देंगे?" वह धीरे-धीरे वहाँ से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्य कथन अन्ततोगत्वा उसके लिये सत्य सिद्ध हुआ और वह दुर्भाव मे मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी बनी।

अन्तर्यामी भगवान् महावीर को महाशतक की विचलित मन:स्थिति तत्काल विदित हो गई। उन्होंने गौतम से कहा—"गौतम! राजगृह में मेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला मे अनशन करके विचर रहा है।

उसको रेवती ने दो-तीन बार उन्मादपूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक में उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नहीं कल्पता। इसके लिए उसको आलोचना करनी चाहिये।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने आकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनय-पूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।[1]

महावीर ने गौतम के पूछने पर 'वैभार गिरि' के 'महा-तपस्तीर प्रभव' जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होंने कहा—"उसमें उष्ण योनि के जीव जन्मते और मरते रहते हैं तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।"[2] फिर भगवान् ने बताया कि एक जीव एक समय में एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक आयु-भोग के समय परभव की आयु नहीं भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नहीं भोगता। इहभविक या परभविक[3] दोनों आयु सत्ता में रह सकती हैं।"

"सुख-दुःख बताये क्यों नहीं जा सकते"—अन्य तीर्थिकों की इस शंका के समाधानार्थ भगवान् ने कहा—"केवल राजगृह के ही नहीं, अपितु समस्त संसार के सुख-दुःखों को भी यदि एकत्र करके कोई बताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नहीं बता सकता।"

प्रसंग को सरलता से समझाने के लिए प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया—"जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगंध का एक डिब्बा लेकर जम्बूद्वीप के चारों ओर चक्कर काटता हुआ चारों दिशाओं में सुगन्धि बिखेर दे, तो वे गन्ध के पुद्गल जम्बूद्वीप में फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गन्ध-पुद्गलों को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण में भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुःख के लिए भी समझना चाहिये।"[4] इस प्रकार अनेक प्रश्नों का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो गणधरों ने इसी वर्ष राजगृह में अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातु-र्मास भी राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

---

१ उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।

२ भग० २।५ सू० ११३।

३ भग० ५।३ सूत्र १८३।

४ भग० ६।१० सूत्र २५३।

संवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहों का उपपात एवं च्यवन, चन्द्रादि की ऊँचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य हैं।

इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का अट्ठाईसवां वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह मे विचर कर अनेक श्रद्धालुओं को श्रमण-धर्म में दीक्षित किया और अनेक भव्यों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। संयोगवश इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला मे ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का उनतीसवां वर्ष

वर्षाकाल के बाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान में विराजमान हुए। उन दिनो नगरी में महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना के लिए अनशन कर रखा था। उसको अनशन में अध्यवसाय की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारों दिशाओं मे दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियों में 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन बेभान हो कर वह, जहाँ महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहाँ पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा, पर जब वह सिर के बाल बिखेर कर अभद्र चेष्टाओं के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नहीं संभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से बहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा—"रेवती! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यों कर रही है? असत्कर्मों का फल ठीक नही होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव मे आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क में जाने वाली है।"

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी—"अहो! आज सचमुच ही पतिदेव मुझ ऊपर क्रुद्ध हैं। न जाने मुझे क्या दण्ड देंगे?" वह धीरे-धीरे वहाँ से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्य कथन अन्ततोगत्वा उसके लिये सत्य सिद्ध हुआ और वह दुर्भाव मे मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी बनी।

अन्तर्यामी भगवान् महावीर को महाशतक की विचलित मनःस्थिति तत्काल विदित हो गई। उन्होंने गौतम से कहा—"गौतम! राजगृह मे मेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला मे अनशन करके विचर रहा है।

उसको रेवती ने दो-तीन बार उन्मादपूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक में उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नहीं कल्पता। इसके लिए उसको आलोचना करनी चाहिये।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने जाकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनय-पूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।[1]

महावीर ने गौतम के पूछने पर 'वैभार गिरि' के 'महा-तपस्तीर प्रभव' जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होंने कहा—"उसमें उष्ण योनि के जीव जन्मते और मरते रहते हैं तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।"[2] फिर भगवान् ने बताया कि एक जीव एक समय में एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक आयु-भोग के समय परभव की आयु नहीं भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नहीं भोगता। इहभविक या परभविक[3] दोनों आयु सत्ता में रह सकती हैं।"

"सुख-दुःख बताये क्यों नहीं आ सकते"—अन्य तीर्थिकों की इस शंका के समाधानार्थ भगवान् ने कहा—"केवल राजगृह के ही नही, अपितु समस्त संसार के सुख-दुःखों को भी यदि एकत्र करके कोई बताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नही बता सकता।"

प्रसंग को सरलता से समझाने के लिए प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया—"जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगंध का एक डिब्बा लेकर जम्बूद्वीप के चारों ओर चक्कर काटता हुआ चारों दिशाओं में सुगन्धि बिखेर दे, तो वे गन्ध के पुद्गल जम्बूद्वीप में फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गन्ध-पुद्गलों को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण में भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुःख के लिए भी समझना चाहिये।"[4] इस प्रकार अनेक प्रश्नों का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो गणधरों ने इसी वर्ष राजगृह में अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातु-र्मास भी राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

---

१ उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।

२ भग० २।५ सू० ११३।

३ भग० ५।३ सूत्र १८३।

४ भग० ६।१० सूत्र २५३।

केवलीचर्या का तीसवाँ वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर में विराजे रहे। इसी समय में उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मंडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान में एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—"भगवन् ! दुषमा-दुषम काल में जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी ?"

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक मे आगे दिया आ रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य, अलौकिक आलोक से असंख्य आत्मार्थी भव्य जीवों के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचों को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने अमोघ उपदेशों के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रों में मानवता का महामंत्र फूंक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे।[1] प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा में हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरण की महिमा की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय हैं। मृत्यु, दुःख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय हैं। अतः प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिए प्रतिकूल समझता है, वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है, वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्खलित हुआ प्राणी दिग्विमूढ़ हो भवाटवी में भटकता फिरता है।

---

१ त्रिषष्टि श. पु. च., १०।१२। श्लोक ४४०।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि वन्दन कर पूछा—"प्रभो ! गत रात्रि के अवसानकाल में मैंने हाथी, बन्दर, क्षीरद्रु, (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पद्म, बीज और कुंभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे हैं। करुणाकर ! मैं बड़ा चिन्तित हूँ कि कहीं ये स्वप्न किसी भावी अमंगल के सूचक तो नहीं हैं।"

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा—"राजन् ! प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है, वह इस भावी का सूचक है कि अब भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन में हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेंगे। भयंकर से भयंकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन में नहीं लायेंगे। जो गृह त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसंगति में फँसकर या तो संयम का परित्याग कर देंगे या अच्छी तरह संयम का पालन नहीं करेंगे। विरले ही संयम का दृढ़ता से पालन कर सकेंगे।"

दूसरे स्वप्न में कपि-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"स्वप्न में जो तुमने बन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य में बड़े-बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर की तरह चंचल प्रकृति के, स्वल्पपराक्रमी और व्रता-चरण में प्रमादी होंगे। जो आचार्य या साधु विशुद्ध, निर्दोष संयम एवं व्रतों का पालन करेंगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेंगे, उनको अधिकांश दुराचाररत लोगों द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उड़ाई जा कर धर्मशास्त्रों की उपेक्षा ही नहीं, अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी। इस प्रकार भविष्य में अधिकांश लोग बन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एवं चंचल स्वभाव वाले होंगे।"

तीसरे स्वप्न में क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"राजन् ! कालस्वभाव से अब आगामी काल में शुभ्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे। पाखण्डियों की प्रवंचना में फँसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओं को शृगालों की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओं को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे। यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण बबूल वृक्ष की तरह पाखण्डियों का पृथ्वी पर बाहुल्य होगा।"

चौथे स्वप्न में काक-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने फरमाया—"भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन एवं साधु-मर्यादाओं का परि-त्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्ड पूर्ण पंथों का आश्रय ले मत परिवर्तन करते रहेंगे। वे लोग कौवे के 'काँव-काँव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशकों का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे।"

अपने पाँचवें स्वप्न में राजा पुण्यपाल ने जो सिंह को विपन्नावस्था में देखा, उसका फल बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भविष्य में सिंह के समान तेजस्वी वीतराग-प्ररूपित जैन धर्म निर्बल होगा, धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग हीन सत्व, साधारण श्वानादि पशुओं के समान मिथ्या मतावलम्बी साधु वेषधारियों की प्रतिष्ठा करने मे तत्पर रहेगे। आगे चलकर जैन धर्म के स्थान पर विविध मिथ्या-धर्मो का प्रचार-प्रसार एवं सम्मान अधिक होगा।"

छठे स्वप्न मे कमलदर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा—"समय के प्रभाव से आगामी काल मे सुकुलीन व्यक्ति भी कुसगति में पड़ कर धर्ममार्ग से विमुख हो पापाचार में प्रवृत्त होगे।"

राजा पुण्यपाल के सातवें स्वप्न का फल सुनाते हुए भगवान् ने फरमाया—"राजन्! तुम्हारा बीज-दर्शन का स्वप्न इस भविष्य का सूचक है कि जिस प्रकार एक अविवेकी किसान अच्छे बीज को ऊसर भूमि में और घुन से बींदे हुए खराब बीज को उपजाऊ भूमि मे वो देता है, उसी प्रकार गृहस्थ श्रमणोपासक आगामी काल मे सुपात्र को छोड़ कर कुपात्र को दान करेंगे।"

भगवान् महावीर ने राजा पुण्यपाल के आठवें व अन्तिम स्वप्न का फल सुनाते हुए फरमाया—"पुण्यपाल! तुमने अपने अन्तिम स्वप्न में कुंभ देखा है, वह इस आशय का द्योतक है कि भविष्य में तप, त्याग एवं क्षमा आदि गुण-सम्पन्न, आचारनिष्ठ महामुनि विरले ही होगे। इसके विपरीत शिथिलाचारी, वेषधारी, नाममात्र के साधुओ का बाहुल्य होगा। शिथिलाचारी साधु निर्मल चारित्र वाले साधुओ से द्वेष रखते हुए सदा कलह करने के लिये उद्यत रहेंगे। ग्रह-ग्रस्त की तरह प्रायः सभी गृहस्थ तत्त्वदर्शी साधुओं और वेशधारी साधुओं के भेद से अनभिज्ञ, दोनो को समान समझते हुए व्यवहार करेगे।"

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों के फल के रूप में भावी विषम स्थिति को सुनकर राजा पुण्यपाल को संसार से विरक्ति हो गई। उसने तत्काल राज्यलक्ष्मी और समस्त वैभव को ठुकरा कर भगवान् की चरण-शरण में श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और तप-सयम की सम्यक् रूप से आराधना कर वह कालान्तर में समस्त कर्म-बन्धनो से विनिर्मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त हुआ।

कालचक्र का वर्णन

कुछ काल पश्चात् भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने प्रभु के चरण-कमलो में सिर झुकाकर कालचक्र की पूर्ण जानकारी के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की।

कालचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रभु ने फरमाया—"गौतम ! काल चक्र के मुख्य दो भाग हैं, अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है और क्रमिक उत्कर्षोन्मुख काल उत्सर्पिणीकाल। इनमे से प्रत्येक दश कोड़ाकोडी सागर का होता है और इस तरह अवसर्पिणी एव उत्सर्पिणी को मिलाकर बीस कोड़ाकोडी सागर का एक कालचक्र होता है।

अवसर्पिणी काल के क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल को छः विभागों मे बाँटा जाकर उन छः विभागो को षट् आरक की सज्ञा दी गई है। उन छः आरो का निम्नलिखित प्रकार से गुणदोष के आधार पर नामकरण किया गया है—

१. सुषमा—सुषम २. सुषम
३. सुषमा—दुषम ४. दुषमा—सुषम
५. दुषम ६. दुषमा-दुषम

प्रथम आरक सुषमा-सुषम एकान्ततः सुखपूर्ण होता है। चार कोडाकोडी सागर की अवस्थिति वाले सुषमा-सुषम नामक इस प्रथम आरे में मानव की आयु तीन पल्योपम की व देह की ऊँचाई तीन कोस की होती है। उस समय के मानव का शरीर २५६ पसलियों से युक्त वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र सस्थानमय होता है। उस समय मे माता, पुत्र और पुत्री को युगल रूप मे एक साथ जन्म देती है। उस समय के मानव परम दिव्य रूप सम्पन्न, सौम्य भद्र, मृदुभाषी, निर्लिप्त, स्वल्पेच्छा वाले अल्पपरिग्रही, पूर्णरूपेण शान्त, सरल स्वभावी, पृथ्वी-पुष्प-फलाहारी और क्रोध, मान, मोह, मद, मात्सर्य आदि से अल्पता वाले होते हैं। उनका आहार चक्रवर्ती के सुस्वादु पौष्टिक षट्रस भोजन से भी कही अधिक सुस्वादु और बल-वीर्यवर्द्धक होता है।

उस समय चारों ओर का वातावरण अत्यन्त मनोरम, मोहक, मधुर, सुखद, तेजोमय, शान्त, परम रमणीय, मनोज्ञ एव आनन्दमय होता है। उस प्रथम आरक मे पृथ्वी का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त सम्मोहक, प्राणिमात्र को आनन्दविभोर करने वाला एव अत्यन्त सुखप्रद होता है। उस समय पृथ्वी का स्वाद मिश्री से कही अधिक मधुर होता है।

भोगयुग होने के कारण उस समय के मानव को जीवनयापन के लिये किंचिन्मात्र भी चिन्ता अथवा परिश्रम की आवश्यकता नही पड़ती, क्योंकि दश प्रकार के कल्पवृक्ष उनकी सभी इच्छाए पूर्ण कर देते है। मतगा नामक कल्पवृक्षो से अमृततुल्य मधुर फल, भिगा नामक कल्पवृक्षो से स्वर्णरत्नमय भोजनपात्र, तुडियगा नामक कल्पवृक्षों से उन्हे उनचास प्रकार के ताल-लयपूर्ण मधुर संगीत, जोई नामक कल्पवृक्षो से अद्भुत आनन्दप्रद तेजोमय प्रकाश, जिसके

कारण कि प्रथम आरक से लेकर तृतीय आरक के तृतीय चरण के लम्बे समय तक चन्द्र-सूर्य तक के दर्शन नहीं होते, दीव नामक कल्पवृक्षों से उन्हें प्रकाश-स्तम्भों के समान दिव्य रंगीन रोशनी, चितंगा नामक कल्पवृक्षों से मनमोहक सुगन्धिपूर्ण सुन्दर पुष्पाभरण, चित्तरसा नामक कल्पवृक्षों से अठारह प्रकार के सुस्वादु भोजन, मणीयंगा नामक कल्पवृक्ष से स्वर्ण, रत्नादि के दिव्य आभूषण, बयालीस मंजिले भव्य प्रासादों की प्राकृति वाले गेहागारा नामक कल्पवृक्षों से आवास की स्वर्गोपम सुख-सुविधा और अनिगणा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें अनुपम सुन्दर, सुखद, अमूल्य वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है।

जीवनोपयोगी समस्त सामग्री की यथेप्सित रूप से सहज प्राप्ति हो जाने के कारण उस समय के मानव का जीवन परम सुखमय होता है। उस समय के मानव को तीन दिन के अन्तर से भोजन करने की इच्छा होती है।

प्रथम आरक के मानव छः प्रकार के होते हैं :

(१) पद्मगंधा—जिनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती रहती है।
(२) मृगगन्धा—जिनके शरीर से कस्तूरी के समान मादक महक निकलकर चारों ओर फैलती रहती है।
(३) अममा=जो ममतारहित हैं
(४) तेजस्तलिन:=तेजोमय सुन्दर स्वरूप वाले।
(५) सहा=उत्कट साहस करने वाले।
(६) शनैश्चारिण:=उत्सुकता के अभाव में सहज शान्तभाव में चलने वाले।

उनका स्वर अत्यन्त मधुर होता है और उनके श्वासोच्छ्वास से भी कमलपुष्प के समान सुगन्ध निकलती है।

उस समय के युगलिकों की आयु जिस समय छः महीने अवशिष्ट रह जाती है, उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ४६ दिन प्रतिपालना किये जाने के पश्चात् वे नव-युगल पूर्ण युवा हो दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करते हुए यथेच्छ विचरण करते हैं।

तीन पल्योपम की आयुष्य पूर्ण होते ही एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और इस तरह युगल दम्पति तत्काल एक साथ बिना किसी प्रकार की व्याधि, पीड़ा अथवा परिताप के जीवनलीला समाप्त कर देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। उनके शवों को क्षेत्राधिष्ठायक देव तत्काल क्षीरसमुद्र में डाल देते हैं।

सुषमा नामक दूसरा आरक तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसमें प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय की अनन्त गुनी हीनता हो जाती है। इस आरक के मानव की आयु दो पल्योपम, देहमान दो कोस और पसलियाँ १२८ होती हैं। दो दिन के अन्तर से उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आरक में पृथ्वी का स्वाद घटकर शक्कर तुल्य हो जाता है।

इस दूसरे आरक में भी मानव की सभी इच्छाएं उपर्युक्त १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण की जाती हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। जिस समय युगल दम्पति की आयु छै महीने अवशेष रह जाती है, उस समय युगलिनी, पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ६४ दिन तक प्रतिपालित होने के बाद ही नवयुगल, दम्पति के रूप में सुखपूर्वक यथेच्छ विचरण करने लग जाता है।

दूसरे आरे में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। यथा :

(१) एका (२) प्रचुरजंघा
(३) कुसुमा (४) सुशमना

आयु की समाप्ति के समय इस आरक के युगल को भी छींक एवं उबासी आती है और वह युगल दम्पति एक साथ काल कर देवगति में उत्पन्न होता है।

सुषमा-दुषम नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर के काल प्रमाण का होता है। इस तृतीय आरक के प्रथम और मध्यम त्रिभाग में दूसरे आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस आरे के मानव वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, २००० धनुष की ऊंचाई, एक पल्योपम की आयु और ६४ पसलियों वाले होते हैं। उस समय के मनुष्यों को एक दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। उस समय पृथ्वी का स्वाद गुड़ के समान होता है। मृत्यु से ६ मास पूर्व युगलिनी एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल के रूप में जन्म देती है। उन बच्चों का ७९ दिन तक माता-पिता द्वारा पालन-पोषण किया जाता है। तत्पश्चात् वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो दम्पति के रूप में स्वतन्त्र और स्वेच्छा-पूर्वक आनन्दमय जीवन बिताते हैं। उनके जीवन की समस्त आवश्यकताएं दश प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण कर दी जाती हैं। अपने जीवन-निर्वाह के लिये उन्हें किसी प्रकार का कार्य अथवा श्रम नहीं करना पड़ता, अतः वह युग भोगयुग कहलाता है। अंत समय में युगल स्त्री-पुरुष को एक साथ एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और उसी समय वे एक साथ आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग के मनुष्यों का छै प्रकार का संहनन, छै प्रकार का सस्थान, कई सौ धनुष की ऊँचाई, जघन्य संख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यों में से अनेक नरक में, अनेक तिर्यंच योनि मे, अनेक मनुष्य योनि मे, अनेक देव योनि में और अनेक मोक्ष मे जाने वाले होते है।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने मे जब एक पल्योपम का आठवां भाग अवशेष रह जाता है, उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः १५ कुलकर[1] उत्पन्न होते है।

उस समय कालदोष से कल्पवृक्ष उस समय के मानवों के लिये जीवनोपयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा मे देना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे उनमें शनैः-शनैः आपसी कलह का सूत्रपात हो जाता है। कुलकर उन लोगो को अनुशासन में रखते हुए मार्गदर्शन करते है। प्रथम पाँच कुलकरो के काल में हाकार दण्डनीति, छट्ठे से १०वे कुलकर तथा 'माकार' नीति और ग्यारहवें से १५वें कुलकर तक 'धिक्कार' नीति से लोगो को अनुशासन मे रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने में जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढे आठ मास अवशेष थे, उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याएं सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणी काल मे सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने मे तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे, तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस आरे में तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायो की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक में मनुष्यो के छहो प्रकार के सहनन, छहो प्रकार के संस्थान, बहुत से धनुष की ऊँचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पाँचों प्रकार की गति मे जाते है।

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे भगवान् ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप मे भी माना गया है।

चतुर्थ आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होते हैं।

"गौतम! यह भरतक्षेत्र तीर्थंकरो के समय मे सुन्दर, समृद्ध, बड़े-बड़े ग्रामों, नगरों तथा जनपदो से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है। तीर्थंकरकाल मे यहाँ का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है। उस समय के आचार्य शरद्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं। उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रवण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं। उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माता के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती है। तीर्थंकरो के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एवं पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं। तीर्थंकर काल मे विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। न तीर्थंकरों के समय में डाकुओं, आततायियो और अन्य राजाओं द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही। तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते है और तीर्थंकरों के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किंचित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नही करती।"

भगवान् ने पंचम आरक की भीषण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—"गौतम! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढे आठ मास पश्चात् दुषम नामक पांचवां आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा। लेकिन पांचवें आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, त्यों-त्यो लोको मे धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य, ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणो का क्रमिक ह्रास और अधर्म-बुद्धि का क्रमशः अभ्युत्थान होता जायगा। पंचम आरक में ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीड़ास्थली तुल्य प्रतीत होगे। उस समय के नागरिक क्रीतदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुःख-दायी होंगे।"

पंचम आरक की राजनीति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा—"गौतम ! जिस प्रकार छोटी मछलियो को मध्यम आकार-प्रकार की मछलियाँ और मध्यम स्थिति की मछलियो को वृहदाकार वाली मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार पंचम आरक में सर्वत्र 'मत्स्यन्याय' का बोलबाला होगा, राज्याधिकारी प्रजाजनों को लूटेंगे और राजा लोग राज्याधिकारियो को। उस समय सब प्रकार की व्यवस्थाए अस्त-व्यस्त हो जायेंगी। सब देशो की स्थिति भीषण तूफान में फँसी नाव के समान डाँवाडोल हो जायगी।"

उस समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा—"गौतम ! प्रजा को एक ओर तो चोर पीड़ित करेंगे और दूसरी ओर कमरतोड़ करों से राज्य। उस समय मे व्यापारीगण प्रजा को दुष्ट ग्रह की तरह पीड़ित कर देंगे और अधिकारीगण बड़ी-बड़ी रिश्वतें लेकर प्रजाजनो का सर्वस्व हरण करेंगे। आत्मीयजनों में परस्पर सदा गृहकलह घर किये रहेगा। प्रजाजन एक दूसरे से द्वेष व शत्रुता का व्यवहार करेंगे। उनमे परोपकार, लज्जा, सत्यनिष्ठा और उदारता का लवलेश भी अवशेष नही रहेगा।

शिष्य गुरुभक्ति को भूल कर अपने-अपने गुरुजनो की अवज्ञा करते हुए स्वच्छन्द विहार करेंगे और गुरुजन भी अपने शिष्यो को ज्ञानोपदेश देना बन्द कर देंगे और अन्ततोगत्वा एक दिन गुरुकुलव्यवस्था लुप्त ही हो जायगी। लोगों में धर्म के प्रति रुचि क्रमशः बिल्कुल मन्द हो जायगी। पुत्र अपने पिता का तिरस्कार करेंगे, बहुएँ अपनी सासो के सामने काली नागिनों की तरह हर समय फूत्कार करती रहेंगी और सासे भी अपनी बहुओ के लिये भैरवी के समान भयानक रूप धारण किये रहेंगी। कुलवधुओं में लज्जा का नितान्त अभाव होगा। वे हास-परिहास, विलास-कटाक्ष, वाचालता और वेश-भूषा में वेश्याओं से भी बढी-चढी निकलेंगी। इस सबके परिणामस्वरूप उस समय किसी को साक्षात् देवदर्शन नही होगा।"

उस समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए वीर प्रभु ने कहा—"गौतम ! ज्यो-ज्यो पंचम आरे का काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसंघ क्रमशः क्षीण होता जायगा। झूठ और कपट का सर्वत्र साम्राज्य होगा। धर्म-कार्यों मे भी कूटनीति, कपट और धृष्टता का बोलबाला होगा। दुष्ट और दुर्जन लोग आनन्दपूर्वक यथेच्छ विचरण करेंगे पर सज्जन पुरुषो का जीना भी दूभर हो जायगा।"

पंचम आरक में सर्वतोमुखी ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा—"गौतम ! पंचम आरे मे रत्न, मणि, माणिक्य, धन-सम्पत्ति, मंत्र, तंत्र, औषधि, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, पत्र, पुष्प, फल, रस, रूप-सौन्दर्य, बल-वीर्य,

समस्त सुखद-सुन्दर वस्तुओं और शारीरिक शक्ति एवं स्थिति का क्रमशः ह्रास ही ह्रास होता चला जायगा। असमय में वर्षा होगी, समय पर वर्षा नहीं होगी। इस प्रकार के ह्रासोन्मुख, क्षीणपुण्य वाले कालप्रवाह में जिन मनुष्यों की रुचि धर्म में रहेगी, उन्हीं का जीवन सफल होगा।"

भगवान् ने फिर फरमाया—"इस दुषमा नामक पंचम आरे के अन्त में दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चारों का चतुर्विध संघ शेष रहेगा। इस भारतवर्ष का अन्तिम राजा विमल वाहन और अन्तिम मंत्री सुमुख होगा।"

"इस प्रकार पंचम आरे के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ की ऊँचाई वाला होगा और मानव की अधिकतम आयु बीस वर्ष की होगी। दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका के समय में बड़े से बड़ा तप बेला (षष्ठभक्त) होगा। उस समय में दशवैकालिक सूत्र को जानने वाला चतुर्दश पूर्वधर के समान ज्ञानवान् समझा जायगा। आचार्य दुःप्रसह अन्तिम समय तक चतुर्विध संघ को प्रतिबोध करते रहेंगे। अन्तिम समय में आचार्य दुःप्रसह संघ को सूचित करेंगे कि अब धर्म नहीं रहा, तो संघ उन्हें संघ से बहिष्कृत कर देगा। दुःप्रसह बारह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहेंगे और आठ वर्ष तक मुनिधर्म का पालन कर तेले के अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प में देवरूप से उत्पन्न होंगे।"

पंचम आरक की समाप्ति के दिन गणधर्म, पाखण्डधर्म, राजधर्म, चारित्र-धर्म और अग्नि का विच्छेद हो जायगा। पूर्वाह्न में चारित्र धर्म का, मध्याह्न में राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का इस भरतक्षेत्र की धरा से समूलोच्छेद हो जायगा।"[1]

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया[2]—"गौतम! पंचम आरक की समाप्ति के बाद वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के अनन्त पर्यवों के ह्रास को लिये हुए २१००० वर्ष का दुषमा-दुषम नामक छट्ठा आरक प्रारम्भ होगा। उस छट्ठे आरे में दशों दिशाएँ हाहाकार, भांय-भांय (भंभाकार) और कोलाहल से व्याप्त होंगी। समय के कुप्रभाव के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, कठोर, धूलिमिश्रित, नितान्त असह्य एवं व्याकुल कर देने वाली भयंकर आंधियाँ एवं तृण काष्ठादि को उड़ा देने वाली संवर्तक हवाएँ चलेंगी। समस्त दिशाएँ निरन्तर

---

१ स्थानांग और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर।

२ भ० श०, श० ७, उ० ६।

चलने वाले अन्धड़ों व तूफानों के कारण धूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेंगी। समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता।"

"तदनन्तर रसरहित-अरस मेघ, विपरीत रस वाले-विरस मेघ, क्षार-मेघ, विष मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एवं पीड़ाएँ बढ़ाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो बड़ी तीव्र एवं तीक्ष्ण धाराओं से वर्षा करेंगे। इस प्रकार की तीव्र एवं प्रचुर अतिवृष्टियों के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेड़े, कब्बड़, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गाँवों और वनों के अनेक प्रकार के द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, प्रवाल, अंकुर, तृण-वनस्पति, बादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषध और वैताढ्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वत, गिरि, डूंगर, टीबे, गंगा और सिन्धु को छोड़कर सब नदियाँ, झरने, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे। भूमि सम हो जायगी।"

"उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अंगारमय, चिनगारियों के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई बालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी। धूलि, रेणु, पंक एवं धसान वाले दल-दलों के बाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर बड़ी कठिनाई से चल-फिर सकेंगे।"

छट्ठे आरक में मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुखद रस एवं स्पर्श वाले अनिष्ट, चिन्तन मात्र से दुखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय-अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, झूठ-कपट-कलह, वध-बन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने में सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलांग, बढ़े हुए रूक्ष नख, केश, दाढ़ी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलूटे, फटी हुई दाड़िम के समान ऊबड़-खाबड़ सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए बालों वाले, मांसपेशियों से रहित व चर्मरोगों के कारण विरूप, प्रथम आयु में ही बुढ़ापे से घिरे हुए, सिकुड़ी हुई सलदार चमड़ी वाले, उड़े हुए बाल और टूटे हुए दांतों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विषम आँखों वाले, टेढ़ी नाक, भौंहें व नेत्र आदि के कारण बीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उधड़ी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखों से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घावों से परिपूर्ण विकृत शरीर वाले, ऊबड़-खाबड़ अस्थिसंधियों एवं असम अंगों के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्बल, कुसंहनन, कुप्रमाण एवं हीन संस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियों से पीड़ित, स्खलित विह्वल गति वाले,

निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टा वाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एवं कठोर वायु से पीड़ित, धूलिधूसरित मलिन अंग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह वाले, दुखानुबन्धी दुःख के भोगी, अधिकांशतः धर्म-श्रद्धा एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।"

"उन मनुष्यों का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के बराबर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, बहुत से पुत्रों, न्यातियों और पौत्रों आदि के परिवार के स्नेहपाश में वे लोग प्रगाढ रूप से बँधे रहेंगे।"

'वैताढ्य गिरि के उत्तर-दक्षिण में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ७२ बिलों में, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत में गंगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ बिलों में तथा उसी प्रकार वैताढ्य गिरि के दक्षिण में अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ३६ बिलो मे केवल बीज रूप में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेंगे।"

"उस समय गंगा एवं सिन्धु नदियों का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के बराबर होगी। दोनों नदियों के पानी मे मछलियों और कछुओं का बाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त बेला मे वे लोग बिलों के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेंगे। इन नदियों मे से मछलियों और कछुओं को पकड़ कर तटवर्ती बालू मिट्टी में गाड़ देंगे। रात्रि की कड़कड़ाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप में वे मिट्टी में गाड़ी हुई मछलियां और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेंगे।

"इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे में मनुष्य केवल मछलियों और कछुओं से अपना उदर-भरण करेंगे।"

"उस समय के निश्शील, निर्व्रत, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्रायः मांसभक्षी मनुष्य प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों मे उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार उस समय के सिंह व्याघ्रादि पशु और ढंक, कंक आदि पक्षी भी प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों मे उत्पन्न होंगे।"[1]

उत्सर्पिणीकाल

"अवसर्पिणीकाल के दुषमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल में अवसर्पिणी-काल की तरह छै आरे प्रतिलोम रूप से (उल्टे क्रम से) होंगे।"

---

१ भगवती शतक, शतक ७, उद्देशा ६।

चलने वाले अन्धड़ो व तूफानों के कारण धूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेंगी। समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता।"

"तदनन्तर रसरहित–अरस मेघ, विपरीत रस वाले–विरस मेघ, क्षार–मेघ, विष मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एवं पीडाएँ बढ़ाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो बड़ी तीव्र एवं तीक्ष्ण धाराओं से वर्षा करेंगे। इस प्रकार की तीव्र एव प्रचुर अतिवृष्टियों के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेडे, कब्बड़, मडब, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गाँवों और वनों के अनेक प्रकार के द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, प्रवाल, अंकुर, तृण-वनस्पति, बादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषध और वैताढ्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वत, गिरि, डूगर, टीबे, गगा और सिन्धु को छोडकर सब नदियाँ, झरने, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे। भूमि सम हो जायगी।"

"उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अंगारमय, चिनगारियों के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई बालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी। धूलि, रेणु, पक एवं चसान वाले दल-दलों के बाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर बड़ी कठिनाई से चल-फिर सकेंगे।"

छट्ठे आरक में मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुःखद रस एवं स्पर्श वाले अनिष्ट, चिन्तन मात्र से दुःखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय-अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, झूठ-कपट-कलह, वध-बन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने मे सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलांग, बढ़े हुए रूक्ष नख, केश, दाढी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलूटे, फटी हुई दाड़िम के समान ऊबड़-खाबड सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए बालों वाले, मासपेशियों से रहित व चर्मरोगों के कारण विरूप, प्रथम आयु में ही बुढ़ापे से घिरे हुए, सिकुड़ी हुई सलदार चमड़ी वाले, उड़े हुए बाल और टूटे हुए दांतों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विषम आँखों वाले, टेढ़ी नाक, भौंहें व नेत्र आदि के कारण बीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उधड़ी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखों से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घावों से परिपूर्ण विकृत शरीर वाले, ऊबड़-खाबड़ अस्थिसंधियों एवं असम अंगों के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्बल, कुसंहनन, कुप्रमाण एवं हीन संस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियों से पीड़ित, स्खलित विह्वल गति वाले,

निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टा वाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एवं कठोर वायु से पीड़ित, धूलिधूसरित मलिन अंग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह वाले, दुखानुबन्धी दुःख के भोगी, अधिकांशतः धर्म-श्रद्धा एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।"

"उन मनुष्यों का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के बराबर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, बहुत से पुत्रों, न्यातियों और पौत्रों आदि के परिवार के स्नेहपाश में वे लोग प्रगाढ़ रूप से बंधे रहेंगे।"

'वैताढ्य गिरि के उत्तर-दक्षिण में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ७२ बिलों में, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत में गंगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ बिलों मे तथा उसी प्रकार वैताढ्य गिरि के दक्षिण में अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत मे गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ३६ बिलों मे केवल बीज रूप में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेंगे।"

"उस समय गंगा एवं सिन्धु नदियों का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के बराबर होगी। दोनों नदियों के पानी में मछलियों और कछुओं का बाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त बेला मे वे लोग बिलो के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेंगे। इन नदियों मे से मछलियों और कछुओं को पकड़ कर तटवर्ती बालू मिट्टी में गाड़ देंगे। रात्रि की कड़कड़ाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप में वे मिट्टी में गाड़ी हुई मछलियां और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेंगे।

"इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे में मनुष्य केवल मछलियों और कछुओं से अपना उदर-भरण करेंगे।"

"उस समय के निश्शील, निर्व्रत, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्रायः मांसभक्षी मनुष्य प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार उस समय के सिंह व्याघ्रादि पशु और ढंक, कंक आदि पक्षी भी प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे।"[1]

उत्सर्पिणीकाल

"अवसर्पिणीकाल के दुषमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल में अवसर्पिणी-काल की तरह छै आरे प्रतिलोम रूप से (उल्टे क्रम से) होंगे।"

---

१ भगवती शतक, शतक ७, उद्देशा ६।

"उत्सर्पिणी काल का दुषमा-दुषम नामक प्रथम आरक अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे की तरह २१ हजार वर्ष का होगा। उसमे सब स्थिति उसी प्रकार की रहेगी जिस प्रकार की कि अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे मे रहती है।"

"उस प्रथम आरक की समाप्ति पर जब २१ हजार वर्ष का दुषम नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होगा, तब शुभ समय का श्रीगणेश होगा। पुष्कर सवर्तक नामक मेघ निरन्तर सात दिन तक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर मूसलाधार रूप मे बरस कर पृथ्वी के ताप का हरण करेगा और फिर अन्यान्य मेघो से धान्य एवं औषधियों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पुष्करमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ और रसमेघ सात-सात दिनो के अन्तर से अनवरत बरस कर सूखी धरती की तपन एवं प्यास बुझा कर उसे हरी भरी कर देंगे।"

"भूमि की बदली हुई दशा देखकर गुफावासी मानव गुफाओं से बाहर आयेंगे और हरियाली से लहलहाती सस्यश्यामला धरती को देखकर हर्षविभोर हो उठेंगे। वे लोग आपस मे विचार-विमर्श कर मासाहार का परित्याग कर शाकाहारी बनेंगे। वे लोग अपने समाज का नवगठन करेंगे और नये सिरे से ग्राम, नगर आदि बसायेंगे। शनैः-शनैः ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प आदि की अभिवृद्धि होगी।"[1]

२१ हजार वर्ष की अवधि वाले दुषम नामक द्वितीय आरक की समाप्ति पर दुषमा-सुषम नामक तीसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोड़ी सागर का होगा। उस आरक के तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर का जन्म होगा।

उस तृतीय आरक मे २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होगे। उत्सर्पिणीकाल के इस दुषमा-सुषम नामक आरे मे अवसर्पिणीकाल के दुःषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरे के समान सभी स्थिति होगी। अन्तर केवल इतना ही होगा कि अवसर्पिणीकाल मे वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, आयु, उत्सेध, बल, वीर्य आदि अनुक्रमशः अपकर्षोन्मुख होते है और उत्सर्पिणी मे उत्कर्षोन्मुख।

उत्सर्पिणीकाल का सुषमा-दुःषम नामक चतुर्थ आरक दो कोडाकोडी सागर का होगा। इस आरक के प्रारम्भ मे उत्सर्पिणीकाल के चौबीसवें तीर्थंकर और बारहवे चक्रवर्ती होगे।[2]

---

१ दूसरे आरे मे ७ कुलकर होगे, इस प्रकार का उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' के '२१ अपापा बृहत्कल्प' मे है। स्थानाग मे भी प्रथम तीर्थंकर को कुलकर का पुत्र बताया है।

२ एक मान्यता यह भी है कि उत्सर्पिणीकाल के चतुर्थ आरक के प्रारम्भ मे कुलकर होते हैं। यथा

"अण्णे पढति। तिस्सेए समाए पढमे तिभाये इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जिस्सति........
[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष० २, प० १६४, शान्तिचन्द्र गणि]

इस चतुर्थ आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ अधिक समय बीत जाने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होंगे और तब यह भरतभूमि पुनः भोगभूमि बन जायगी।

उत्सर्पिणीकाल के सुषम और सुषमा-सुषम नामक क्रमश. पांचवें और छट्ठे आरो मे अवसर्पिणी के प्रथम दो आरो के समान ही समस्त स्थिति रहेगी।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छः-छः आरों को मिलाकर कुल बीस कोडाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।

गौतम गणधर ने भगवान् से एक और प्रश्न किया—"भगवन्! आपके निर्वाण के पश्चात् मुख्य-मुख्य घटनाएँ क्या होंगी?"

उत्तर में प्रभु ने फरमाया—"गौतम! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढे आठ मास पश्चात् दु.षम नामक पाँचवाँ आरा लगेगा। मेरे निर्वाण के चौसठ (६४) वर्ष पश्चात् अन्तिम केवली जम्बू सिद्ध गति को प्राप्त होंगे। उसी समय मन.पर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान और मुक्तिगमन इन बारह स्थानों का भरतक्षेत्र से विलोप हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के पश्चात् मेरे शासन में पचम आरे के अन्त तक २००४ युगप्रधान आचार्य होंगे। उनमे प्रथम आर्य सुधर्मा और अन्तिम दुःप्रसह होंगे।"

"मेरे निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर अन्तिम चार वर्ष पूर्व, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन और महाप्राणध्यान इन चार चीजो का भरतक्षेत्र से उच्छेद हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य आर्य वज्र के समय में दसवाँ पूर्व और प्रथम सहनन-चतुष्क समाप्त हो जायँगे।"

"मेरे मोक्षगमन के अनन्तर पालक, नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के अवसान के पश्चात्, अर्थात् मेरे निर्वाण के ४७० वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य नामक राजा होगा। पालक का राज्यकाल ६० वर्ष, (नव) नन्दों का राज्यकाल १५५ वर्ष, मौर्यों का १०८ वर्ष, पुष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र व भानुमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष, नरवाहन का ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष, शक का राज्यकाल ४ वर्ष और उसके पश्चात् विक्रमादित्य का शासन होगा। सज्जन और स्वर्णपुरुष विक्रमादित्य पृथ्वी का निष्कटक राज्य कर अपना संवत् चलायेगा।"

"मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा।"[1]

"विशेष क्या कहा जाय, बहुत से साधु भांडों के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम बना-बना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशंसा और परनिन्दा मे निरत रहेंगे। विपुल आत्मबल वालों की कोई पूछ नही रहेगी और आत्मबलविहीन लोग पूजनीय बनेंगे।"[2]

"इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस संसारचक्र में धर्माराधन करने वाले ही वस्तुतः कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे।"

भगवान् के द्वारा इस तरह संसार-भ्रमण और दुखों की भयंकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि आदि अनेक भव्य आत्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ[3] और अनेक भव्यात्माओ ने निर्ग्रन्थ-धर्म की श्रमण-दीक्षाएँ स्वीकार की।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथे महीने में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल 'रज्जुग सभा'[4] में भगवान् के मुखारविन्द से अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी। सभा में काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एवं अठारह गणराजा भी उपस्थित थे।

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अंजलि जोड़कर बोला—"भगवन्! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह संक्रान्त होने वाला है, जो कि जन्म-नक्षत्र

---

१ तह गद्दभिल्लरज्जस्सुच्छायगो कालगायरियो होही।
तेवण्णा चउसएहिं, गुणसयकलिओ सुपपउत्तो॥

२ तिथिग दी० क०, २० कल्प, अभिधान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१।

३ महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत।

४ रज्जुगा-लेहगा, तेसिं सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला।
—कल्पसूत्र, पृ० १२२। (टीका)

पर दो हजार वर्ष तक रहेगा। अतः उसके संक्रमणकाल तक आप आयु को बढ़ा लें तो वह निष्फल हो जायेगा।"

भगवान् ने कहा—"इन्द्र! आयु के घटाने-बढ़ाने की किसी में शक्ति नहीं है।[1] यह तो केवल आगामी काल में शासन की जो गति होने वाली है, उसके दिग्दर्शक मात्र हैं।" इस प्रकार इन्द्र की शंका का समाधान कर भगवान् ने उसे संतुष्ट कर दिया।

परिनिर्वाण

भगवान् महावीर का कार्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में निर्वाण हुआ, उस समय तक सोलह प्रहर जितने दीर्घकाल पर्यंत प्रभु अनन्त बली होने के कारण बिना खेद के प्रवचन करते रहे। प्रभु ने अपनी इस अन्तिम देशना में पुण्यफल के पचपन अध्ययनों का और पापफल विपाक के पचपन अध्ययनों का कथन किया[2], जो वर्तमान में सुख विपाक और दुःख विपाक नाम से विपाक सूत्र के दो खंडों में प्रसिद्ध हैं। भगवान् महावीर ने इस अन्तिम देशना में अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन भी कहे[3], जो वर्तमान में उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में प्रख्यात हैं। सैंतीसवाँ प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन फरमाते-फरमाते भगवान् पर्यंकासन में स्थिर हो गये।[4] भगवान् ने बादर काययोग में स्थित रह क्रमशः बादर मनोयोग और बादर वचनयोग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थित रह बादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्लध्यान के सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम के चौथे चरण में पहुँच अ, इ, उ, ऋ, और लृ इन पाँच अक्षरों को उच्चारण करें,

---

१ (क) भयवं कुणह पसायं, खिवमह एयंपि ताव खणमेक्कं।
जावेस भासरासिस्स, मूणमुवमो अवक्कमइ ॥१॥ महावीर च०, प्रस्ता० ८, प० ३३८।

(ख) अह जय गुरुणा भणियं सुरिंद, तीयाइतिविहकालेऽवि।
नो भूयं न भविस्सइ न हवइ णूणं इमं कज्जं।
जं आउकम्म विगमेऽवि, कोऽवि अच्छेज्ज समयमेत्तमवि
अच्चतार्णतविसिद्धसत्तिपब्भारजुत्तोऽवि।

२ (क) समवा०, ५५वाँ समवाय
(ख) कल्पसूत्र, १४७ सू०

३ (क) कल्पसूत्र, १४७ सू०
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३।

४ पर्यंकासन निसण्णो......। समवायांग।

"मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा।"[1]

"विशेष क्या कहा जाय, बहुत से साधु भांडों के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम बना-बना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशंसा और परनिन्दा में निरत रहेंगे। विपुल आत्मबल वालों की कोई पूछ नहीं रहेगी और आत्मबलविहीन लोग पूजनीय बनेंगे।"[2]

"इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस संसारचक्र में धर्माराधन करने वाले ही वस्तुतः कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे।"

भगवान् के द्वारा इस तरह संसार-भ्रमण और दुखों की भयंकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि आदि अनेक भव्य आत्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ[3] और अनेक भव्यात्माओं ने निर्ग्रन्थ-धर्म की श्रमण-दीक्षाएं स्वीकार की।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथे महीने में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल 'रज्जुग सभा'[4] में *भगवान् के मुखारविन्द से* अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी। सभा में काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एवं अठारह गणराजा भी उपस्थित थे।

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अंजलि जोड़कर बोला—"भगवन्! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह संक्रान्त होने वाला है, जो कि जन्म-नक्षत्र

---

१ तह गद्दभिल्लरज्जस्सुच्छेयगो कालगायरियो होही।
तेवण्ण चउसएहिं, गुणसयकलिओ सुयपउत्तो॥

२ तित्थोगाली प०, २० कल्प, अभिधान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१।

३ महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत।

४ रज्जुगा-लेहगा, तेसिं सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला।

—कल्पसूत्र, सू० १२२। (टीका)

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा –"गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह है । अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे हैं । यहाँ से आयु पूर्ण कर हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नहीं होंगे । मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है । स्नेहराग के क्षीण होने पर तुम्हे केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी ।"

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे ।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण में उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा–"अहो ! आज संसार से वस्तुतः भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे ।"

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था । दिन का नाम 'अग्निवेश्म' या 'उपशम' था । देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था । मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था । नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति-नक्षत्र के योग में जब भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे, सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो गये ।

देवाविकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र, सहस्रों देव-देवियाँ एवं स्थान-स्थान से नरेन्द्रादि सभी वर्गों के अपरिमेय अनौघ उद्वेलित समुद्र के समान पावापुरी में राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा की ओर उमड़ पड़े और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पार्थिव शरीर को शिविका में विराजमान कर चितास्थान पर ले गये । वहाँ देवनिर्मित गोशीर्ष चन्दन की चिता में प्रभु के शरीर को रखा गया । अग्निकुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायुकुमार ने वायु संचारित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की । फिर मेघकुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की ।

निर्वाणकाल में उपस्थित अठारह गण-राजाओं ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु- निर्वाणानन्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से संस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया, यह और ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और डगर-डगर में घर-घर दीप जला कर प्रभु द्वारा लोक में केवलज्ञान द्वारा किये गये अनिर्वचनीय उद्योत की स्मृति

जितने काल तक शैलेशी–दशा में रहकर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये।[1]

उस समय वर्षाकाल का चौथा मास और सातवाँ पक्ष अर्थात् कार्तिक कृष्ण पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी।

निर्वाणकाल मे प्रभु महावीर छट्ठभक्त (बेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे।[2] देशना के मध्य में कई प्रश्न और चर्चाएँ भी हुईं।

प्रभु महावीर ने अपना निर्वाण-समय सन्निकट जान प्रथम गणधर इन्द्रभूति को, देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया। अपने चिर-अन्तेवासी गौतम को दूर भेजने का कारण यह था कि भगवान् के निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हों। इन्द्रभूति ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार देव शर्मा को प्रतिबोध दिया। प्रतिबोध देने के पश्चात् वे प्रभु के पास लौटना चाहते थे पर रात्रि हो जाने के कारण लौट नही सके। अर्द्ध रात्रि के पश्चात् उन्हें भगवान् के निर्वाण का संवाद मिला। भगवान् के निर्वाण को सुनते ही इन्द्रभूति अति खिन्न हो गये और स्नेह-विह्वल हो कहने लगे–"भगवन्! यह क्या? आपने मुझे इस अन्तिम समय में अपने से दूर क्यों किया! क्या मैं आपको मोक्ष जाने से रोकता था, क्या मेरा स्नेह सच्चा नही था अथवा क्या मैं आपके साथ होकर मुक्ति मे आपका स्थान रोकता? अब मैं किसके चरणों में प्रणाम करूँगा और कहाँ अपनी मनोगत शंकाओं का समाधान प्राप्त करूँगा? प्रभो! अब मुझे "गौतम" "गौतम" कौन कहेगा?" इस प्रकार भावना-प्रवाह मे बहते-बहते गौतम ने स्वय को सम्हाला और विचार किया—"अरे! यह मेरा कैसा मोह? भगवान् तो वीतराग हैं, उनमे कैसा स्नेह! यह तो मेरा एकपक्षीय मोह है। क्यों नही मैं भी प्रभु चरणो का अनुगमन करूँ, इस नश्वर जगत् के दृश्यमान पदार्थों मे मेरा कौन है?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए गौतम ने उसी रात्रि के अन्त मे घाती कर्मों का क्षय कर क्षण भर मे केवलज्ञान के अक्षय आलोक को प्राप्त कर लिया।[3] वे त्रिकालदर्शी हो गये।

गौतम के लिए कहा जाता है कि एक बार अपने से छोटे साधुओ को केवलज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन मे बडी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हें अभी तक केवलज्ञान किस कारण से प्राप्त नही हुआ है।

---

१ कल्पसूत्र, सू० १४७।

२ सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा सग्रह, पृ० १००। "षोडश प्रहरान् यावद् देशना दत्तवान्।"

३ ज रयणिं च ण समणे भगव महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्ख पहीणे त रयणिं च ण जेट्ठस्स गोयमस्स इंदभूइस्स.......केवलवरनाणदसणे समुप्पन्ने।

[कल्पसूत्र, सूत्र १२६—सिवाना सस्करण]

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा—"गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ स्नेह है। अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे हैं। यहाँ से आयु पूर्ण कर हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नहीं होंगे। मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है। स्नेहराग के क्षीण होने पर तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी।"

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण में उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा—"अहो ! आज संसार से वस्तुतः भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे।"

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था। दिन का नाम 'अग्निवेश्म' या 'उपशम' था। देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था। मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था। नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति-नक्षत्र के योग में जब भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे, सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो गये।

देवाविकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र, सहस्रों देव-देवियाँ एवं स्थान-स्थान से नरेन्द्रादि सभी वर्गों के अपरिमेय जनौघ उद्वेलित समुद्र के समान पावापुरी में राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा की ओर उमड़ पड़े और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पावन शरीर को शिबिका में विराजमान कर चितास्थान पर ले गये। वहाँ देवनिर्मित गोशीर्ष चन्दन की चिता में प्रभु के शरीर को रखा गया। अग्निकुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायुकुमार ने वायु संचारित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की। फिर मेघकुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की।

निर्वाणकाल में उपस्थित अठारह गण-राजाओं ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु-निर्वाणानन्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से सस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया, वहाँ और ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और डगर-डगर में घर-घर दीप जला कर प्रभु द्वारा लोक में केवलज्ञान द्वारा किये गये अनिर्वचनीय उद्योत की स्मृति

मे दीप-महोत्सव के रूप में जनगण ने द्रव्योद्योत किया। उस दिन जब दीप जला कर प्रकाश किया गया तभी से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय मे साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में प्रभु मुक्त हुए। समवायांग मे भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग मे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय मे रहे।[3] पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम मे प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छः (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी में दो, आलंभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी मे एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :—

गणधर एवं गण—गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

---

१ (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो ॥ कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)

(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।

—त्रि०, १० प० १३ छ० १४८ श्लो० (हरिवंश)

(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तस्सि दिणे सयलं महीमण्डलं पदट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धि गओ। च. म., पृ. ३३४।

२ समवायांग, समवाय ७२

३ स्थानांग, ९ स्था० ३ उ० सू० ६९१। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्खा छउमत्थ० ॥ (अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित, पृष्ठ ८१९)

केवली	—	सात सौ (७००)
मन:पर्यवज्ञानी	—	पाँच सौ (५००)
अवधिज्ञानी	—	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	—	तीन सौ (३००)
वादी	—	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	—	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—	आठ सौ (८००)
साधु	—	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	—	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	—	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५६,०००)
श्राविकाएं	—	सुलसा, रेवती प्रभृति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचल-भ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[1] ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहां के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा मे आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ समवायांग, समवाय ११।

१. इन्द्रभूति

प्रथम गणधर इन्द्रभूति मगध देश के अन्तर्गत 'गोवर' ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम पृथ्वी था। ये वेद-वेदान्त के पाठी थे। महावीर स्वामी के पास आत्मा विषयक संशय की निवृत्ति पाकर ये पाँच सौ छात्रों के साथ दीक्षित हुए।

दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इनका शरीर सुन्दर, सुडौल और सुगठित था। महावीर के चौदह हजार साधुओं में मुख्य होकर भी आप बड़े तपस्वी थे। आपका विनय गुण भी अनुपम था। भगवान् के निर्वाण के बाद आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीस वर्ष तक छद्मस्थ-भाव रहने के पश्चात् फिर बारह वर्ष केवली-पर्याय मे विचरे। आयुकाल निकट देखकर अन्त मे अपने गुणशील चैत्य मे एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया। इनकी पूर्ण आयु बाणवें वर्ष की थी।

२. अग्निभूति

दूसरे गणधर अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले सहोदर थे। 'पुरुषाद्वैत' की शका दूर होने पर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रो के साथ ४६ वर्ष की अवस्था में श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में मुनि-धर्म स्वीकार किया और बारह वर्ष तक छद्मस्थ-भाव में रह कर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवली-पर्याय मे रहकर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल मे ही गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की। इनकी पूर्ण आयु चौहत्तर वर्ष की थी।[1]

३. वायुभूति

तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के छोटे सहोदर थे। इन्द्रभूति की तरह इन्होने भी 'तज्जीव तच्छरीर-वाद' को छोड़ कर भगवान् महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का बोध पाकर पाँच सौ छात्रो के साथ प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उस समय इनकी अवस्था बयालीस वर्ष की थी। दश वर्ष छद्मस्थभाव मे साधना करके इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और ये अठारह वर्ष तक केवली रूप से विचरते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पहले एक मास के अनशन से इन्होने भी सत्तर [७०] वर्ष की अवस्था मे गुण-शील चैत्य में सिद्धि प्राप्त की।

४. आर्य व्यक्त

चौथे गणधर आर्य व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था। इन्हें शंका

---

१ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६५६, पृ० १२३ (१)

थी कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। भगवान् महावीर से अपनी शंका का सम्यक् समाधान पाकर इन्होंने भी पाँच सौ छात्रों के साथ पचास वर्ष की वय में प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ साधना करके इन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवली-पर्याय मे रहकर भगवान् के जीवनकाल में ही एक मास के अनशन से गुणशील चैत्य मे अस्सी वर्ष की वय में सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

५. सुधर्मा

पंचम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होंने भी जन्मान्तर विषयक संशय को मिटाकर भगवान् के चरणों में पांच सौ छात्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्य हुए। ये वीर निर्वाण के बीस वर्ष बाद तक संघ की सेवा करते रहे। अन्यान्य सभी गणधरों ने दीर्घजीवी समझ कर इनको ही अपने-अपने गण सँभला दिये थे। आप ५० वर्ष गृहवास में एवं ४२ वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में रहे और ७ वर्ष केवली रूप से धर्म का प्रचार कर १०० वर्ष की पूर्ण आयु में राजगृह नगर में मोक्ष पधारे।

६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया देवी था। भगवान् महावीर से आत्मा का संसारित्व समझ कर इन्होंने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास ३५० छात्रों के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल मे इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सड़सठ [६७] वर्ष की अवस्था मे इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण-पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवली-पर्याय मे रह कर तिरासी [८३] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य मे अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की।

७. मौर्यपुत्र

सातवें गणधर मौर्यपुत्र मौर्य सन्निवेश के काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देव-लोक सम्बन्धी शंका की निवृत्ति होने पर इन्होंने भी तीन सौ पचास [३५०] छात्रों के साथ पैंसठ वर्ष की वय मे श्रमण दीक्षा स्वीकार की। १४ वर्ष छद्मस्थ भाव मे रहकर उन्हासी [७६] वर्ष की अवस्था मे इन्होंने तपस्या से केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष तक केवली पर्याय मे रहकर भगवान् के सामने ही

पचानवे [९५] वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

८. अकम्पित

आठवें गणधर अकम्पित मिथिला के रहने वाले, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी संशय-निवृत्ति के बाद इन्होंने भी अड़तालीस वर्ष की अवस्था में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। ९ वर्ष तक छद्मस्थ रहकर सत्तावन वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष केवली-पर्याय में रह कर प्रभु के जीवन के अन्तिम वर्ष में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन पूर्ण कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

९. अचलभ्राता

नवें गणधर अचलभ्राता कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वसु था। पुण्य-पाप सम्बन्धी अपनी शंका निवृत्ति के बाद इन्होंने भी छियालीस वर्ष की अवस्था में तीन सौ छात्रों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तप एवं ध्यान कर अट्ठावन वर्ष की अवस्था में आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर बहत्तर वर्ष की वय में एक मास का अनशन कर गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

१०. मेतार्य

दसवें गणधर मेतार्य वत्स देशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के रहने वाले कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वरुणा देवी और पिता का नाम दत्त था। इनको पुनर्जन्म सम्बन्धी शंका थी। भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। दश वर्ष की साधना के बाद छियालीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर भगवान् के जीवनकाल में ही बासठ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

११. प्रभास

ग्यारहवें गणधर प्रभास राजगृह के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'अतिभद्रा' और पिता का नाम बल था। मुक्ति विषयक शंका का प्रभु महावीर द्वारा समाधान हो जाने पर इन्होंने भी तीन सौ

शिष्यों के साथ सोलह वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। आठ वर्ष बाद चौबीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर चालीस वर्ष की वय में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन कर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया। सबसे छोटी आयु में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ये ही एक गणधर हैं।

ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे व इन सबका संहनन वज्र ऋषभ नाराच तथा समचतुरस्र संस्थान था। दीक्षित होकर सबने द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त किया, अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी एवं विशिष्ट लब्धियों के धारक थे।[1]

दिगम्बर परम्परा में गौतम आदि का परिचय

दिगम्बर परम्परा के मंडलाचार्य धर्मचन्द्र ने अपने ग्रन्थ "गौतम चरित्र" में प्रभु महावीर के प्रथम तीन गणधरों का परिचय दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

इन्द्रभूति

मगध प्रदेश के ब्राह्मणनगर ग्राम में शाण्डिल्य नामक एक विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण रहता था। शाण्डिल्य के स्थंडिला और केसरी नाम की दो धर्मपत्नियाँ थीं, जो रूप-लावण्य-गुणसम्पन्ना एवं पतिपरायणाएं थीं।

एक समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुखप्रसुप्ता स्थण्डिला ने शुभ स्वप्न देखे और पंचम देवलोक का एक देव देवायु पूर्ण कर उसके गर्भ में आया। गर्भ-काल पूर्ण होने पर माता स्थण्डिला ने एक अति सौम्य एवं प्रियदर्शी पुत्र को जन्म दिया। बालक महान् पुण्यशाली था, उसके जन्म के समय सुखद, शीतल, मन्द-मन्द सुगन्धित पवन प्रवाहित हुआ, दिशाएँ निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण हो गई और दिव्य जयघोषों से गगन गुंजरित हो उठा। विद्वान् ब्राह्मण शाण्डिल्य ने पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में बड़े हर्षोल्लास के साथ मुक्तहस्त हो याचकों को यथेप्सित दान दिया। नवजात शिशु की जन्म-कुण्डली देख भविष्यवाणी की कि यह बालक आगे चल कर चौदह विद्याओं का निधान एवं सकल शास्त्रों का पारगामी विद्वान् बनेगा और निखिल महीमण्डल में इसका यश प्रसृत होगा। माता-पिता ने उस बालक का नाम इन्द्रभूति रखा।

अग्निभूति

कुछ समय पश्चात् पंचम स्वर्ग का एक और देव अपनी देवायु पूर्ण कर

[1] आव. नि., गाथा ६५८-६६०

पर ब्राह्मणी स्थण्डिला के गर्भ मे आया। जिस समय बालक इन्द्रभूति था, उस समय माता स्थण्डिला ने गर्भकाल पूर्ण होने पर एक महान् तेजस्वी एवं सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने इस द्वितीय पुत्र का नाम गार्ग्य रखा। यही बालक आगे चल कर अग्निभूति के नाम से विख्यात हुआ।

वायुभूति

कालान्तर मे शाण्डिल्य की द्वितीय पत्नी केसरी के गर्भ मे भी पंचम स्वर्ग से च्युत एक देव उत्पन्न हुआ। समय पर केसरी ने भी पुत्ररत्न को जन्म दिया। शाण्डिल्य ने अपने उस तीसरे पुत्र का नाम भार्गव रखा। वही बालक भार्गव आगे चल कर लोक मे वायुभूति के नाम से विश्रुत हुआ।

एक बहुत बड़ा भ्रम

भगवान् महावीर के छठे गणधर मडित और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध मे पूर्वकालीन कुछ आचार्यों और वर्तमान काल के कुछ विद्वानों ने यह मान्यता प्रकट की है कि वे दोनो सहोदर थे। उन दोनो की माता एक थी जिसका कि नाम विजयादेवी था। आर्य मण्डित के पिता का नाम धनदेव और आर्य मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य था। आर्य मण्डित को जन्म देने के कुछ काल पश्चात् विजयादेवी ने अपने पति धनदेव का निधन हो जाने पर धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य के साथ विवाह कर लिया और मौर्य के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए विजयादेवी ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया। मौर्य का अंगज होने के कारण बालक का नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य मण्डित और आर्य मौर्यपुत्र के माता-पिता का परिचय देते हुए 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' मे लिखा है :—

> पत्न्या विजयदेव्या तु, धनदेवस्य नन्दनः।
> मण्डकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत ॥५३
> लोकाचारो ह्यसौ तत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत्।
> भार्या विजयदेवी तां, देशाचारो हि न ह्रिये ॥५४
> क्रमाद् विजयदेव्यां तु मौर्यस्य तनयोऽभवत्।
> स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ॥५५

[त्रिष श पु च., प. १०, स. ५]

आचार्य जिनदासगणी ने भी 'आवश्यकचूर्णि' में इन दोनो गणधरों के सम्बन्ध मे लिखा है :—

"... ... तमि चेव मगहा जणयते मोरिय सन्निवेसे मंडिया मोरिया दो भायरो।"... ...

[आव. चूर्णि, उपोद्घात पृ. ३३७]

मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. V Part I Sthaviravali के पृष्ठ १३६ और १३७ पर मंडित एवं मौर्यपुत्र को माता एक और पिता भिन्न-भिन्न बताते हुए यहां तक लिख दिया है कि उस समय मौर्य सन्निवेश में विधवा विवाह निषिद्ध नहीं था। मुनि श्री द्वारा लिखित पंक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं—

"Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauyraputra were brothers having one mother Vijayadevi, but have different gotras derived from the gotras of their different fathers—the father of Mandit was Dhanadeva of Vasistha-gotra and the father of Maurya-putra was Maurya of Kasyaqa-gotra, as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband.,'

वास्तव में उपर्युक्त दोनों गणधरों की माता का नाम एक होने के कारण ही आचार्यों एवं विद्वानो की इस प्रकार की धारणा बनी कि इनकी माता एक थी और पिता भिन्न।

उपर्युक्त दोनों गणधरों के जीवन के सम्बन्ध मे जो महत्त्वपूर्ण तथ्य समवायांग सूत्र में दिये हुए हैं उनके सम्यग् अवलोकन से आचार्यों एव विद्वानो द्वारा अभिव्यक्त की गई उपरोक्त धारणा सत्य सिद्ध नही होती।

समवायांग सूत्र की तियासीवी समवाय में आर्य मंडित की सर्वायु तियासी वर्ष बताई गई है। यथा :

"थेरेणं मण्डियपुत्ते तेसीइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।"

समवायांग सूत्र की तीसवीं समवाय में आर्य मंडित के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है कि वे तीस वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन कर सिद्ध हुए। यथा :

"थेरेणं मंडियपुत्ते तीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।"

सूत्र के मूल पाठ से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आर्य मंडित ने ५३ वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्य मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में समवायांग सूत्र की पैंसठवीं समवाय में लिखा है कि उन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। यथा :

"थेरेणं मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं आगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइये।"

सभी ग्यारहो गणधरो ने एक ही दिन भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, यह तथ्य सर्वविदित है। उस दशा में यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ही दिन दीक्षा ग्रहण करते समय बड़ा भाई ५३ वर्ष की अवस्था का हो और छोटा भाई ६५ वर्ष का, अर्थात् बड़े भाई से उम्र में १२ वर्ष बड़ा हो ?

स्वयं मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने अपने ग्रंथ Sramana Bhagvan Mahavira, Vol. IV Part I Sthaveravali' के पृष्ठ १२२ और १२४ पर दीक्षा के दिन आर्य मंडित की अवस्था ५३ वर्ष और आर्य मौर्यपुत्र की अवस्था ६५ वर्ष होने का उल्लेख किया यथा :

"Gandhara Maharaja Mandita was fifty-three years old when he renounced the world........ After a period of fourteen years of ascetic life, Mandita acquired Kevala Gyana........and he acquired Moksha Pada ....when he was eighty three years old" (p. 122)

"Gandhara Maharaja Mauryaputra was sixty-five years old when he renounced the world. ....After a period of fourteen years of ascetic life, Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gyana.......at the age of seventynine.

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada.... ...when he was ninety-five years old." (p. 124)

इन सब तथ्यो से उपर्युक्त आचार्यों की मान्यता केवल भ्रम सिद्ध होती है। वास्तव मे ये सहोदर नही थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगमीय वयमान को लक्ष्य मे नही रखते हुए केवल दोनो की माता का नाम एक होने के आधार पर ही दोनो को सहोदर मान लिया और 'लोकाचारो हि न ह्रियै' लिख कर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या एव श्रमणीसंघ की प्रवर्तिनी महासती चन्दनबाला थी।

चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी पुत्री थी। माता-पिता द्वारा आपका नाम वसुमती रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रख कर

चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। दधिवाहन बड़े प्रजा-प्रिय नरेश थे, अतः शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पानगरी मे नियुक्त किये।

कुछ ही दिनों के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरों से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है, अतः चार-पाँच दिन के अन्दर-अन्दर ही आक्रमण कर दिया जाय। शतानीक तो उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में ही था। उसने तत्काल एक बड़ी सेना के साथ चम्पा पर धावा करने के लिये जलमार्ग से सैनिक अभियान कर दिया। तेज हवाओं के कारण शतानीक के जहाज बड़ी तीव्रगति से चम्पा की ओर बढ़े। एक रात्रि के अल्प समय में ही शतानीक अपनी सेनाओं के साथ चम्पा जा पहुँचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

इस अनभ्र वज्रपात से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आप को शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला कर सकने की स्थिति में न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपात्कालीन बैठक बुलाकर गुप्त मंत्रणा की। अन्त में मन्त्रियो के प्रबल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्याग कर बीहड़ वनो की राह पकड़नी पड़ी।

शतानीक ने अपने सैनिकों को खुली छूट दे दी कि चम्पा के प्राकारों एवं द्वारों को तोड़कर उस को लूट लिया जाय और जिसे जो चाहिये वह अपने घर ले जाय। इस आज्ञा से सैनिकों में उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे द्वारो तथा प्राकारों को तोड़कर नगर में प्रविष्ट हो गये।

शतानीक की सेनाओं ने यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमती सहित शतानीक के एक सैनिक द्वारा पकड़ ली गई। वह उन दोनों को अपने रथ में डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवांगना तुल्य रूप-लावण्य पर मुग्ध हो सैनिक राह मे मिलने वाले अपने परिचित लोगो से कहने लगा—"इस लूट में इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुँचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा।"

इतना सुनते ही महारानी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी। महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिंचन व्यक्ति के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुँचा। अपने सतीत्व पर आँच आने की आशंका से धारिणी सिहर उठी। उसने एक हाथ से अपनी जिह्वा को मुख से बाहर खींच-

कर दूसरे हाथ से अपनी ठुड्डी पर अति वेग से आघात किया। इसके परिणाम-स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ में गिर पड़ी।[1]

धारिणी के मरण का कारण—वचन या बलात्

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्बाणों से आहत हो मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशंका से कि कहीं अधखिली पारिजात पुष्प की कली के समान यह सुमनोहर बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनो से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुंचा और उसे विक्रय के लिये बाजार में चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड़ गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुंहमागा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसु-मती को लेकर अपने घर पहुंचा।

उसने बड़े दुलार से उसके माता-पिता एवं उसका नाम पूछा, पर स्वाभि-मानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नही बताया। वह मौन ही रही। अन्त मे लाचार हो धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—"यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नही होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बड़े दुलार और प्यार से रखना"

श्रेष्ठिपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठी परिवार मे घुल-मिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एव विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठी परिवार एवं भृत्य वर्ग के हृदय मे दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उसे श्रेष्ठी परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

---

१ आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक से धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है, देखिये—[त्रि. श. पु., पर्व १०, सं० ४, श्लो. १२७]

चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियो से अठखेलियां करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—"यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं, पर यदि उन्होने कही इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय मे ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप मे चल कर धनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवकों को पुकारा। पर सयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहा उपस्थित नही था। धूप से श्रान्त धनावह को खड़े देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुँची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई। चन्दना के बाल कही कीचड़ से न सन जावें इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ में रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथों से उसका जूड़ा बांध दिया।

मूला ने संयोगवश जब यह सब देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी धनावह जब किसी कार्यवश दूसरे गांव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुलाकर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा। तदनन्तर उसके हाथो मे हथकड़ी एवं पैरो में बेडी डालकर उसे एक भँवारे मे बन्द कर दिया और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हे चन्दना के सम्बन्ध मे कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोपभाजन बनेगा।

चन्दना तीन दिन तक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जब धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्बन्ध मे पूछताछ की। सेवको को मौन देखकर धनावह को शंका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर मे चन्दना के सम्बन्ध मे सच-सच बात बताने के लिये कड़क कर कहा—"तुम लोग मूक की तरह चुप क्यो हो, बताओ पुत्री चन्दना कहां है?"

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर धनावह ने ज्यों ही चन्दना को उस दुर्दशा मे देखा तो रो पडा। चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोईघर की ओर लपका। उसे सूप मे कुछ उडद के बाकलो के अतिरिक्त और कुछ नही मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुँचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"पुत्री, अभी तुम इन उडद के बाकलो से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूँ।"

यह कह कर धनावह किसी लोहार की तलाश मे तेजी से बाजार की ओर निकला।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन मे विचार किया—"क्या मुझ हतभागिनी को इस अति दयनीय विषम अवस्था मे आज बिना अतिथि को खिलाये ही खाना पड़ेगा ? मध्याकाश से अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल चुका है, इस वेला मे अतिथि कहाँ ?"

अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आँखों से अश्रुओं की अविरल धारा फूट पड़ी। उसने अतिथि की तलाश मे द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान मुखमण्डल वाले अति कमनीय, गौर, सुन्दर, सुडौल दिव्य तपस्वी द्वार मे प्रवेश कर उसकी ओर बढ़ रहे हैं। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओं का सागर निमेषार्द्ध में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरदपूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। बेड़ियो से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्षगद्गद स्वर मे अतिथि से प्रार्थना की—"प्रभो ! यद्यपि ये उड़द के बाकले आपके खाने योग्य नही हैं, फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह कर इन्हें ग्रहण कीजिये।"

अपने अभिग्रह की पूर्ति मे कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुँह से सहसा ही ये शब्द निकल पड़े—"हाय रे दुर्दैव ! इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आँगन में आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है ?" इस शोक के आघात से चन्दना की आँखों से पुनः अश्रुओं की धारा बह चली। अतिथि ने यह देख कर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा दिया। चन्दना ने हर्ष विभोर होकर अत्युत्कट श्रद्धा से सूप में रक्खे उड़द के बाकलों को अतिथि के करपात्र मे उंडेल दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, श्रमण भगवान् महावीर ही थे। तत्क्षण "महा दानं, महा दानं" के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियों के निश्वन से गगन गूंज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रों की आकाश से देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवों ने धनावह सेठ के घर पर १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की। सुगन्धित-मन्द-मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्रों नर-नारी वहाँ एकत्रित हो गये और चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुनः उद्भूत हो गई। चन्दना के पैरों मे पड़ी लोहे की बेड़ियां सोने के नूपुरो में और हाथों की हथकड़ियां करकंकणों के रूप में परिणत हो गई। देवियों ने उसे दिव्य आभूषणों से अलंकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियों से जड़े मुकुट को धारण किये हुए स्वयं देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् चन्दना का अभिवादन किया।

कौशाम्बीपति शतानीक भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनावह के घर आ पहुँचे। उनके साथ बन्दी के रूप में आये हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरों पर गिर कर रोने लगा। अब शतानीक और मृगावती को उस अंगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अंक में भर लिया।

चन्दना की इच्छानुसार धनावह उन १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी बना।[1]

इन्द्र ने शतानीक से कहा कि यह चन्दनबाला भगवान् को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी और इसी शरीर से निर्वाण प्राप्त करेगी, अतः इसकी बड़ी सावधानी से सार-संभाल की जाय। यह भोगों से नितान्त विरक्त है इसलिये इसका विवाह करने का प्रयास नहीं किया जाय। तत्पश्चात् देवेन्द्र एवं देवगण अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये और महाराजा शतानीक, महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलो मे लौट आये।

चन्दनबाला राजप्रासादों में रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठों प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आये जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो और वह उनके पास दीक्षित

---

१ चउवन्न महापुरिस चरियं

होकर संसार सागर को पार करने के लिये तप-सयम की पूर्ण साधना मे तत्परता से लग जाव।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भगवान् को केवलज्ञान होने पर चन्दनबाला ने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और भगवान् के श्रमणी संघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओ से अपने समस्त कर्मों को क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद

प्रागैतिहासिक काल में भगवान् ऋषभदेव ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया और उनके पश्चाद्वर्ती अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम रूप धर्म की शिक्षा दी। उन्होने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिस्तात्-आदान-विरमण अर्थात् विना दी हुई बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का त्याग रूप चार याम वाला धर्म बतलाया।[1]

पार्श्वनाथ के बाद जब महावीर का धर्मयुग आया तो उन्होने फिर पांच महाव्रतो का उपदेश दिया। पांच महाव्रत इस प्रकार हैं:–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस तरह दोनो के व्रत-विधान मे संख्या का अन्तर होने से यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ऐसा क्यो?

यही प्रश्न केशिकुमार ने गौतम से भी किया था। इसका उत्तर देते हुए गौतम ने बतलाया कि स्वभाव से प्रथम तीर्थंकर के साधु, ऋजु और जड़ होते है, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एव-जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इस कारण प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के लिये जहाँ मुनि-धर्म के आचार का यथावत् ज्ञान करना कठिन होता है वहाँ चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओ के लिये मुनि-धर्म का यथावत् पालन करना कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरो के शासनवर्ती साधु व्रतो को यथावत् ग्रहण और सम्यक् रीत्या पालन भी कर लेते हैं। इसी आधार पर इन तीर्थंकरों के शासन मे व्रत-निर्धारण मे संख्या-भेद पाया जाता है।

---

१ भरत ऐरावत क्षेत्र मे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ कर मध्य के बाईस अरिहन्त भगवान् चातुर्याम-धर्म का प्रज्ञापन करते हैं। यथा.

सर्वथा प्राणातिपात विरमण, सर्वथा मृषावाद विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण और सर्वथा बहिद्धादान विरमण।

[स्था०, स्था० ४, उ० १, सूत्र २६६, पत्र २०१ (१)]

उपर्युक्त समाधान से ध्वनित होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने मैथुन को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना था।[1]

कुछ लेखकों ने चातुर्याम का सम्बन्ध महाव्रत से न बताकर चारित्र से बतलाया है पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नही होता।

बाईस तीर्थंकरों के समय में सामायिक, सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात चारित्र में से कोई एक होता है। किन्तु महावीर के समय में पाँच मे से कोई भी एक चारित्र एक साधक को हो सकता है। सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय अन्य चार नही रहते। अतः चातुर्याम का अर्थ 'चारित्र' करना ठीक नही।

योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि ने भी याम का अर्थ अहिंसा आदि व्रत ही लिया है।[2] डॉ० महेन्द्रकुमार ने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ जी थे।[3]

श्वेताम्बर आगमों की दृष्टि से भी स्त्री को परिग्रह की कोटि मे ही शामिल किया गया है। भगवान् द्वारा व्रत-संख्या मे परिवर्तन का कारण समय और बुद्धि का प्रभाव हो सकता है। भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के पश्चात् और महावीर के तीर्थंकर होने से कुछ पूर्व सभव है, इस प्रकार के तर्क का सहारा लेकर साधक विचलित होने लगा हो और भगवान् पार्श्व की परम्परा मे उस पर पूर्ण व दृढ़ अनुशासन नही रखा जा सका हो। वैसी स्थिति में भगवान् महावीर ने वक्र स्वभाव के लोग अपनी रुचि के अनुकूल परिग्रह या स्त्री का त्याग कर दूसरे का उपयोग प्रारम्भ न करें, इस भावी हित को ध्यान मे रख कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का स्पष्टतः पृथक् विधान कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। संख्या का अन्तर होने पर भी दोनो परम्पराओं के मौलिक आशय मे भेद नही है। केवल स्पष्टता के लिये पृथक्करण किया गया है।

चारित्र

भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे श्रमणवर्ग को सामायिक चारित्र दिया जाता था जब कि भगवान् महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थापनीय

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २६-२७।
(ख) मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते। स्था० वृ०, ४ उ० सू० २६६। पत्र २०२ (१)

२ अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। पतञ्जलि (योगसूत्र) सू० २०

३ डॉ० महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन-पृ० ६०

चारित्र का भी प्रवर्तन किया। चारित्र के मुख्यार्थ समता की आराधना को ध्यान में लेकर भगवान् पार्श्वनाथ ने चारित्र का विभाग नहीं किया। फिर उन्हे वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु महावीर भगवान् के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ, एतदर्थ साधको की विशेष शुद्धि के लिये उन्होंने सामायिक के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक के रूप मे प्रस्तुत किया। छेदोपस्थापनीय मे जो चारित्र पर्याय का छेद किया जाता है, पार्श्वनाथ की परम्परा में सजग साधकों के लिये उसकी आवश्यकता ही नही थी, अत. उन्होने निर्विभाग सामायिक चारित्र का विधान किया।

भगवती सूत्र के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि जो मुनि चातुर्याम धर्म का पालन करते, उनका चारित्र सामायिक कहा जाता और जब इस परम्परा को बदल कर पंच याम धर्म मे प्रवेश किया, तब उनका चारित्र छेदोपस्थापनीय कहलाया।[1]

भगवान् महावीर के समय में दोनो प्रकार की व्यवस्थाएं चलती थी। उन्होने अल्पकालीन निर्विभाग में सामायिक चारित्र को और दीर्घकाल के लिये छेदोपस्थापनीय चारित्र को मान्यता प्रदान की।

महावीर ने इसके अतिरिक्त व्रतो मे रात्रिभोजन-विरमण को भी अलग व्रत के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उन्होने स्थानाग सूत्र मे स्पष्ट कहा है—"आर्यो! मैंने श्रमण-निर्ग्रंथो को स्थविरकल्प, जिनकल्प, मुंडभाव, अस्नान, अदंतधावन, अछत्र, उपानत् त्याग, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थं परगृहप्रवेश तथा लब्धालब्ध वृत्ति की प्ररूपणा की है। जैसे मैंने श्रमणो को पचमहाव्रतयुक्त सप्रतिक्रमण अचेलक धर्म कहा गया है, वैसे महापद्म भी कथन करेंगे।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के शासन मे दूसरा अन्तर सचेल-अचेल का है, जो इस प्रकार है —

पार्श्वनाथ की परम्परा मे सचेल-धर्म माना जाता था, किन्तु महावीर ने अचेल धर्म की शिक्षा दी। कल्पसमर्थन मे कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर

---

१ सामाइयमि उ कए, चाउज्जाम अणुत्तर धम्म।
तिविहेण फासयतो, सामाइय सजमो स खलु।
छेत्तूण उ परियाय, पोराण जो ठवेई अप्पाण।
धम्ममि पचजामे, छेदोवट्ठाणो स खलु ॥भग०, श० २५, उ ७।७८६।गा० १।२

२ स्थानाग, स्थान ६

का धर्म अचेलक है और बाईस तीर्थंकरो का धर्म सचेलक एवं अचेलक दोनो प्रकार का है।[1]

अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिये यह विधान है कि वे श्वेत और मानोपेत वस्त्र रखें पर बाईस तीर्थंकरो के श्रमणों के लिये ऐसा विधान नही है। वे विवेकनिष्ठ और जागरूक होने से चमकीले, रंग-बिरंगे और प्रमाण से अधिक भी वस्त्र रख सकते थे, क्योंकि उनके मन में उत्तम वस्त्रों के प्रति आसक्ति नही होती थी।

"अचेलक" पद का सीधा अर्थ वस्त्राभाव होता है किन्तु यहाँ "अ" का अर्थ सर्वथा अभाव न मान कर अल्प मानना चाहिये। व्यवहार में भी सम्पदा-हीन को "अधन" कहते हैं। साधारण द्रव्य होने पर भी व्यक्ति व्यवहार-जगत् में "अधन" कहलाता है। आचारांग सूत्र की टीका मे यही अल्प अर्थ मानकर अचेलक का अर्थ "अल्प वस्त्र" किया है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र और कल्प की टीका में भी मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय[3] और श्वेतवस्त्र को अचेल में माना गया है।

जैन श्रमणों के लिये दो प्रकार के कल्प बताये गये हैं—जिनकल्प और स्थाविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह हो सकता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक का श्रुतपाठी हो। जिनकल्पी भी पहले स्थविरकल्पी होता है।[4]

जिनकल्प के भी दो प्रकार है—(१) पाणिपात्र और (२) पात्रधारी। पाणिपात्र के भी चार भेद बतलाये हैं। जिनकल्पी श्रमण नग्न और निष्प्रति-कर्म शरीरी होने से आँख का मल भी नही निकालते। वे रोग-परीषहो को

---

१ आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, होई सचेलो अचेलो य॥ [कल्प समर्थन, गा० ३, पृ० १]

२ अचेल:—अल्पचेल:। [आचा० टी०, पत्र २२१]

३ सधुत्व जीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचेलक.।
[उत्तरा० बृहद् वृत्ति, प० ३५६]

(ख) "अचेलत्व श्री आदिनाथ—महावीर साधूना वस्त्र मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय धवल च कल्पते। श्री अजितादि द्वाविंशती तीर्थंकर साधूना तु पंचवर्णम् ॥
[कल्प सूत्र कल्पलता, प० २।१। समयसुन्दर]

४ जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु।
[विशेषा० बृहद् वृत्ति, पृष्ठ १३, गा० ७ की टीका]

सहन करते, कभी किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं कराते।[1] पात्रधारी हों या पात्र-रहित, दोनों प्रकार के जिनकल्पी रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। अतः यहाँ पर अचेलक का अर्थ सम्पूर्ण वस्त्रों का त्यागी नहीं, किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-धारी समझना चाहिये।

इसीलिये भाष्यकार ने कहा है कि अचेलक दो प्रकार के होते हैं—सदचेल और असदचेल। तीर्थंकर असद्-चेल होते हैं। वे देवदूष्य वस्त्र गिर जाने पर सर्वदा वस्त्ररहित रहते है। शेष सभी जिनकल्पिक आदि साधु सदचेल कहे गये हैं।[2] कम से कम भी रजोहरण और मुखवस्त्रिका का तो उनको सद्भाव रहता ही है।

वस्त्र रखने वाले साधु भी मूर्च्छारहित होने के कारण अचेल कहे गये हैं, क्योंकि वे जिन वस्त्रो का उपयोग करते हैं वे दोषरहित, पुराने, सारहीन और अल्प प्रमाण में होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका उपयोग भी कदाचित् का होता है जैसे भिक्षार्थ जाते समय देह पर वस्त्र डाला जाता है, उसे भिक्षा से लौटने पर हटा दिया जाता है। इस प्रकार कटि-वस्त्र भी रात्रि में अलग कर दिया जाता है।

लोकोक्ति में जीर्ण-शीर्ण-तार-तार फटे वस्त्र को धारण करने वाला नग्न ही कहा जाता है। जैसे कोई बुढिया जिसके शरीर पर पुरानी व अनेक स्थानों से फटी हुई साड़ी लिपटी है, तन्तुवाय से कहती है—"भाई! मेरी साड़ी जल्दी तैयार कर देना। मैं नगी फिरती हूँ।"[3]

तो यह फटा पुराना कपड़ा होने पर भी नग्नपन कहा गया है। इसी प्रकार अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि अचेल माना गया है।

---

१ निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलपि न अ अवणिंति।
बिसहंति जिणा रोग, कारिंति कयाइ न तिगिच्छ॥
[विशेषावश्यक प्रथम भाग, प्रथम अश. पृ० १४, गाथा ७ की टोका की गाथा ३]

२ (क) बृह० भा० १ उ०—दुविहो होति अचेलो, सताचेलो असतचेलोय तित्थयर असत चेला, सताचेता भवे सेसा॥

(ख) सदसतचेलगोऽचेलगो य ज लोग—समयसंसिद्धो।
तेणाचेला मुणओ सतेहिं, जिणा असतेहिं॥
[विशेषावश्यक भाष्य, गा० २५९८]

३ जह थोव-जुन्न-कुच्छिय चेलेहिं वि भण्णए अचेलोत्ति।
वहन्तरसालिय लहु दो पोत्ति नागया मोत्ति॥ [वि० २६०१, पृ० १०३५]

मूल बात यह है कि परिग्रह मूर्च्छाभाव मे है। मूर्च्छाभाव रहित मुनियों को वस्त्रों के रहते हुए भी मूर्च्छाभाव नही होने से अचेलक कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—"न सो परिग्गहो वुत्तो" वह परिग्रह नही है। परिग्रह मूर्च्छाभाव है—"मूच्छा परिग्गहो वुत्तो।"

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के सचेल धर्म का साधुओं में दुरुपयोग समझा और निमित्त से प्रभावित मंदमति साधक-मोह-मूर्च्छा न गिरे, इस हेतु अचेल धर्म के उपदेश से साधुवर्ग को वस्त्र-ग्रहण में नियन्त्रित रखा। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि भगवान् ने वेष धारण के पीछे एक प्रयोजन धर्म-साधना को निभाना और दूसरा साधु रूप को अभिव्यक्त करना कहा है।[1]

डॉ० हर्मन जेकोबी ने भगवान् महावीर की अचेलता पर आजीवक गोशालक का प्रभाव माना है, किन्तु यह निराधार जँचता है, क्योंकि गोशालक से प्रथम ही भगवान् देवदूष्य वस्त्र गिरने से नग्नत्व धारण कर चुके थे। फिर भगवती सूत्र मे स्पष्ट लिखा है—

> "साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओय
> चित्तफलगं च माहणे आयामेंति आयामेत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करोति।"[1]

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि गोशालक ने भगवान् महावीर का अनुसरण करते हुए उनके साधना के द्वितीय वर्ष में नग्नत्व स्वीकार किया।

सप्रतिक्रमण धर्म

अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों के समय में प्रतिक्रमण दोनों समय करना नियत नही था। कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत है कि इन बाईस तीर्थंकरों के समय में दैवसिक और राइय ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नही[2], किन्तु जिनदास महत्तर का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे नियमित रूप में उभयकाल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष के समय मे भी ईर्यापथ और भिक्षा आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियम रूप से प्रतिक्रमण का उनके लिये

---

१ विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं।
पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं। उ० २३

२ देसिय, राइय, पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढमा।

[सप्ततिशतस्थान प्र०। गा० ४८६]

विधान नहीं था।[1] स्थानांग सूत्र में कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म सप्रतिक्रमण है।[2] इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों के लिये दोष लगे या न लगे, प्रतिदिन दोनों संध्या प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बताया है।[3]

स्थित कल्प

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में सभी (१) अचेलक्य, (२) उद्देशिक, (३) शय्यातर पिंड, (४) राजपिंड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (९) मासकल्प और (१०) पर्युषणकल्प अनिवार्य होते हैं। अतः इन्हे स्थितकल्प कहा जाता है। अजितादि बाईस तीर्थंकरों के लिये चार कल्प—(१) शय्यातर, (२) चातुर्याम धर्म का पालन, (३) ज्येष्ठ पर्याय-वृद्ध का वदन और (४) कृतिकर्म, ये चार स्थित और छै कल्प (१) अचेलक, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण, (४) राजपिंड, (५) मासकल्प एवं (६) पर्युषणा ये अस्थित माने गये हैं।[4]

भगवान् महावीर के श्रमणों के लिये मासकल्प आदि नियत हैं। बाईस तीर्थंकरो के साधु चाहें तो दीर्घकाल तक भी रह सकते हैं, पर महावीर के साधु-साध्वी मासकल्प से अधिक बिना कारण न रहे, यह स्थितकल्प है। आज जो साधु-साध्वी बिना खास कारण एक ही ग्राम-नगर आदि मे धर्म-प्रचार के नाम से बैठे रहते हैं, यह शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल नही है।

भगवान् महावीर के निन्हव

भगवान् महावीर के शासन में सात निन्हव हुए है, जिनमें से दो भगवान् महावीर के सामने हुए, प्रथम जमालि और दूसरा तिष्यगुप्त। जो इस प्रकार है :—

---

१ पुरिम पच्छिमएहि उभओ काल पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं कातूण पदोस पच्चूसेसु, अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाण तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्त वा, अड्ढरत्तो वा ताहेचेव पडिक्कमति। नत्थि तो न पडिक्कमंति। जेण ते असढा पण्णवता परिणामगा न य पमादोबहुलो, तेण तेसिं एव भवति, पुरिमा उज्जुजडा, पच्छिमा वक्कजडा नीसाणाणि मग्गति पमादबहुला य, तेण तेहिं अवस्स पडिक्कमितव्व।

[आव० चू०, उत्तर भाग, पृ० ६६]

२ (क) मए समणाणं निग्गथाणं पचमहव्वइए सपडिक्कम्मणे.... [स्थानांग, स्था ९]

(ख) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्सय पच्छिमस्स य जिणाण ।। [आव०नि०गा० १२४१]

३ आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमण रायपिंड मासेसु।

पज्जुसणाकप्पाम्म य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ।। [अभिधान राजेन्द्र, गाथा १]

४ मूलाचार—७।१२५–१२९।

जमालि

जमालि महावीर का भानेज और उनकी एकमात्र पुत्री प्रियदर्शना का पति होने से जामाता भी था। श्रमण भगवान् महावीर के पास इसने भी भावपूर्वक श्रमण दीक्षा ली और भगवान् के केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चौदह वर्ष के बाद प्रथम निन्हव के रूप मे प्रख्यात हुआ।

जमालि के प्रवचन-निन्हव होने का इतिहास इस प्रकार है :—

दीक्षा के कुछ वर्ष बाद जमालि ने भगवान् से स्वतन्त्र विहार करने की आज्ञा मांगी। भगवान् ने उसके पूछने पर कुछ भी उत्तर नही दिया। उसने दुहरा-तिहरा कर अपनी बात प्रभु के सामने रखी, किन्तु भगवान् मौन ही विराजे रहे। प्रभु के मौन को ही स्वीकृति समझ कर पांच सौ साधुओं के साथ जमालि अनगार महावीर से पृथक् हो कर जनपद की ओर विहार कर गया।

अनेक ग्राम-नगरों में विचरण करते हुए वह 'सावत्थी' आया और वहाँ के कोष्ठक उद्यान मे अनुमति लेकर स्थित हुआ। विहार के अन्त, प्रान्त, रूक्ष एवं प्रतिकूल आहार के सेवन से जमालि को तीव्र रोगातंक उत्पन्न हो गया। उसके शरीर मे जलन होने लगी। भयंकर दाह-पीड़ा के कारण उसके लिये बैठे रहना भी संभव नही था। उसने अपने श्रमणों से कहा—"आर्यो! मेरे लिये संथारा कर दो जिससे मैं उस पर लेट जाऊं। मुझसे अब बैठा नहीं जाता।" साधुओं ने "तथास्तु" कह कर संथारा-आसन करना प्रारम्भ किया। जमालि पीड़ा से अत्यंत व्याकुल था। उसे एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था। अतः उसने पूछा—"क्या आसन हो गया?" विनयपूर्वक साधुओं ने कहा—"महाराज! कर रहे हैं, अभी हुआ नही है।"

साधुओं के इस उत्तर को सुन कर जमालि को विचार हुआ—"श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित एवं क्रियमाण को कृत कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि क्रियमाण शय्या संस्तारक अकृत है। फिर तो चलमान को भी अचलित ही कहना चाहिये। ठीक है, जब तक शय्या-संस्तारक पूरा नहीं हो जाता तब तक उसको कृत कैसे कहा जाय?" उसने अपनी इस नवीन उपलब्धि के बारे में अपने साधुओं को बुला कर कहा—"आर्यो! श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत आदि कहते हैं, वह ठीक नही है। चलमान आदि को पूर्ण होने तक अचलित कहना चाहिये।"

बहुत से साधु, जो जमालि के अनुरागी थे, उसकी बात पर श्रद्धा करने

---

१ पियदसणा वि पइणोऽणुरागओ तम्मय चिय पवण्णा। विशे. २३२५

लगे और जो भगवद्वाणी पर श्रद्धाशील थे, उन्होंने युक्तिपूर्वक जमालि को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब यह बात उसकी समझ मे नही आई तो वे उसे छोड़कर पुनः भगवान् महावीर की शरण मे चले गये।

जमालि की अस्वस्थता की बात सुनकर साध्वी प्रियदर्शना भी वहाँ आई। वह भगवान् महावीर के परमभक्त ढक कुम्हार के यहाँ ठहरी हुई थी। जमालि के अनुराग से प्रियदर्शना ने भी उसका नवीन मत स्वीकार कर लिया और ढंक को भी स्वमतानुरागी बनाने के लिये समझाने लगी। ढंक ने प्रियदर्शना को मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त जान कर कहा—"आर्ये! हम सिद्धान्त की बात नही जानते, हम तो केवल अपने कर्म-सिद्धान्त को समझते है और यह जानते है कि भगवान् वीतराग ने जो कहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता।" उसने प्रियदर्शना को उसकी भूल समझाने का मन मे पक्का निश्चय किया।

एक दिन प्रियदर्शना साध्वी ढंक की शाला मे जब स्वाध्यायमग्न थी, ढंक ने अवसर देखकर उसके वस्त्रांचल पर एक अंगार का कण डाल दिया। शाटांचल जलने से साध्वी बोल उठी—"श्रावक! तुमने मेरी साड़ी जला दी।" उसने कहा—"महाराज! साड़ी तो अभी आपके शरीर पर है, जली कहाँ है? साडी का कोण जलने से यदि उसका जलना कहती हैं तो ठीक नही। आपके मन्तव्यानुसार तो दह्यमान वस्तु अदग्ध कही गई है। अतः कोण के जलने से साडी को जली कहना आपकी परम्परानुसार मिथ्या है। ऐसी बात तो भगवान् महावीर के अनुयायी कहे तो ठीक हो सकती है। जमालि के मत से ऐसी बात ठीक नही होती।" ढंक की युक्तिपूर्ण बाते सुन कर साध्वी प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गई।

प्रियदर्शना ने अपनी भूल के लिये "मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु" कहकर प्रायश्चित्त किया और जमालि को समझाने का प्रयत्न किया तथा जमालि के न मानने पर वह अपनी शिष्याओं के सग भगवान् के पास चली गई। शेष साधु भी धीरे-धीरे जमालि को अकेला छोड़कर प्रभु की सेवा में चले गये। अन्तिम समय तक भी जमालि अपने दुराग्रह पर डटा रहा।[1]

जमालि का मन्तव्य था कि कोई भी कार्य लंबे समय तक चलने के बाद ही पूर्ण होता है, अतः किसी भी कार्य को 'क्रियाकाल' मे किया कहना ठीक नही है। भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त 'ऋजुसूत्र' नय की दृष्टि से है। ऋजुसूत्र-नय केवल वर्तमान को ही मानता है। इसमे किसी भी कार्य का वर्तमान ही साधक माना गया है। इस विचार से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय मे कार्यकारी हो कर दूसरे समय में नष्ट हो जाती है।

---

१ विशेष गा० २३०७, पृ० ९३४ से ९३६।

प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय मे और दूसरे समय की क्रिया दूसरे समय में ही कार्य करेगी। इस प्रकार प्रति-समय भावी क्रियाएं प्रति समय होने वाले पर्यायों का कारण हो सकती है, उत्तरकाल भावी कार्य के लिये नही, अतः महावीर का 'करमाणे कडे' सिद्धान्त सत्य है।

जमालि इस भाव को नही समझ सका। उसने सोचा कि पूर्ववर्ती क्रियाओ में जो समय लगता है, वह सब उत्तरकालभावी कार्य का ही समय है। पट-निर्माण के प्रथम समय मे प्रथम तन्तु, फिर दूसरा, तीसरा आदि, इस प्रकार प्रत्येक का समय अलग-अलग है। जिस समय जो क्रिया हुई, उसका फल उसी समय हो गया। विशेषावश्यक भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जमालि को जिस समय 'बहुरत दृष्टि' उत्पन्न हुई, उस समय भगवान् महावीर चपा मे विराजमान थे। जमालि भी कुछ काल के बाद जब रोग से मुक्त हुआ, तब सावत्थी के कोष्ठक चैत्य से विहार कर चम्पा नगरी आया और पूर्णभद्र उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर के पास उपस्थित होकर बोला—"देवानुप्रिय! जैसे आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थ विहार से विचरते है, मैं वैसे छद्मस्थ विहार से विचरने वाला नहीं हूँ। मैं केवलज्ञान को धारण करने वाला अरहा, जिन केवली होकर विचरता हूँ।"

जमालि की असगत बात सुन कर गौतम ने कहा—"जमालि! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तूप, भित्ति आदि मे कही रुकता नहीं, तुम्हें यदि केवलज्ञान हुआ है तो मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दो :—

"(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?"

जमालि इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नही दे सका और शंका, कांक्षा से मन में विचलित हो गया।[1]

भगवान् महावीर ने जमालि को सम्बोधित कर कहा—"जमालि! मेरे बहुत से अन्तेवासी छद्मस्थ हो कर भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं, फिर भी वे अपने को तुम्हारी तरह केवली नही कहते।" बाद में गौतम ने जमालि को लोक का शाश्वतपन और अशाश्वतपन किस अपेक्षा से है, विस्तार से समझाया। बहुत सम्भव है, जमालि का यह 'बहुरत' सम्प्रदाय उसके पश्चात् नही रहा हो क्योंकि उसके अनुयायी उसकी विद्यमानता में ही साथ छोड़ कर चले गये थे। अतः अपने मत को मानने वाला वह अकेला ही रह गया था।[2]

---

१ भग०, श० ९, उ ३३।

२ इच्छामो संबोहणमज्जो, पियदंसणादयो इच्छं।
 बोत्तुं जमालिमेक्कं, मोत्तूण गया जिणसगास॥ वि. २३३२।

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभिनिवेश से उसने स्व-पर को उन्मार्गगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्विषी देव हुआ।

२. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का, जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य मे पधारे हुए थे। उनके पास आत्मप्रवाद का आलापक पढते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नही, वैसे दो, तीन, सख्यात आदि भी जीव नही—किन्तु असख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमे एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नही कहा जा सकता, क्योंकि जीव लोकाकाश-प्रदेश तुल्य है[1], ऐसा शास्त्र मे कहा है।

इस आलापक को पढते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नही होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्तिम प्रदेश मे ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नही बदली तो गुरु ने उसे सघ से बाहर कर दिया।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी में जाकर 'आम्रसालवन में ठहरा। वहाँ 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषों द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया 'आज आप कृपा कर मेरे घर पधारें।" तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बैठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न-पान-व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमें से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले—"श्रावक ! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो ?"

श्रावक ने कहा—"महाराज ! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है ? यदि एक कण में भोजन नही मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।"

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी

---

१ विशेषावश्यक, गा २३३३ से २३३६।

विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एवं सादर उन्हें गुरु-सेवा में भेज कर उनकी संयम शुद्धि में सहायता प्रदान की।

महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रहा है। भगवती सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र झा ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।[1] कुछ इतिहास लेखकों ने मंखलि का अर्थ बांस की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश मे प्रस्तुत कथन प्रमाणित नही होता। वास्तव मे गोशालक का पिता मंखलि-मंख था, मंख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नही होता। मंख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।[2] कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।[3]

जैन सूत्रों मे गोशालक के साथ मंखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका में कहा—"चित्रफलक हस्ते गतं यस्य स तथा"। इसके अनुसार मंख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ में रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय में मंख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रखकर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी 'डाकोत' जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते हैं।

गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहां कहा गया है कि 'मंख' जातीय मंखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मंखली की गर्भवती भार्या भद्रा ने 'सरवण' ग्राम के गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में, जहां कि मंखली जीविका के प्रसंग से चलते

---

१ इन्डोलोजिकल स्टडीज सैकिंड, पेज २४५।।

२ डिक्श० आफ पेटी प्रोपर नेम्स पार्ट १ पेज ४०।

३ (क) केदारपट्टिक, पृ० २४।१,

(ख) हरिभद्रीय आव० वृ०, पृ० २४१।

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभिनिवेश से उसने स्व-पर को उन्मार्गगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्विषी देव हुआ।

२. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का, जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य मे पधारे हुए थे। उनके पास आत्मप्रवाद का आलापक पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नहीं, वैसे दो, तीन, संख्यात आदि भी जीव नहीं–किन्तु असख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमे एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव लोकाकाश–प्रदेश तुल्य है[1], ऐसा शास्त्र मे कहा है।

इस आलापक को पढते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नहीं होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्ति प्रदेश में ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नहीं बदली तो गुरु ने उसे संघ से बाहर कर दिया।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी में जाकर 'आम्रसालवन में ठहरा। वहाँ 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषों द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया 'आज आप कृपा कर मेरे घर पधारें।" तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बैठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न-पान-व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमें से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले—"श्रावक! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो?"

श्रावक ने कहा—"महाराज! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है? यदि एक कण मे भोजन नहीं मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।"

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी

---

१ विशेषावश्यक, गा. २३३३ से २३३६।

विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एवं सादर उन्हें गुरु-सेवा में भेज कर उनकी संयम शुद्धि में सहायता प्रदान की।

महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रहा है। भगवती सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र झा ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।[1] कुछ इतिहास लेखकों ने मंखलि का अर्थ बांस की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश मे प्रस्तुत कथन प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में गोशालक का पिता मंखलि-मंख था, मंख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नहीं होता। मंख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।[2] कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।[3]

जैन सूत्रों मे गोशालक के साथ मखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका मे कहा—"चित्रफलक हस्ते गतं यस्य स तथा"। इसके अनुसार मख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ मे रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय में मख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ मे रखकर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी 'डाकोत' जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते हैं।

गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहां कहा गया है कि 'मंख' जातीय मंखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मंखली की गर्भवती भार्या भद्र ने 'सरवण' ग्राम के गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में, जहा कि मंखली जीविका के प्रसंग से चलते

---

१ इन्डोलोजिकल स्टडीज भाग, पेज २४५।।

२ डिक्श० आफ पेटी प्रोपर नेम्स पार्ट १ पेज ४०।

३ (क) केदारपट्टिक, पृ० २४।१,
  (ख) हरिभद्रीय आव० वृ०, पृ० २४१।

चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मंखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण गोशालक[1] कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ मे लेकर गोशालक मंखपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक में आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मंखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा में एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तेल का घड़ा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग मे आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा— 'तात मंखलि! तात मंखलि! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तेल भूमि पर बह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप में रहने लगा और लोग उसे[2] मासलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतंजलि ने 'मंखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी' माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः" ६।१।२५४ में मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नही जो हाथ मे मस्कर या बांस की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो 'कर्म मत करो' का उपदेश देता है और कहता है— "शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3]

यहाँ गोशालक का नाम स्पष्ट नही होने पर भी दोनों का अभिमत उसी ओर संकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज मे एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की व्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरियं' में गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एवं सुसंगत विवरण मिलता है। उसमे गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहां दिया जा रहा है :—

---

१ भगवती सूत्र, श० १५।१।

२ (क) आचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४१
　(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

३ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः॥　　[पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]

"उत्तरापथ में सिलिन्ध नाम का सन्निवेश था। वहा केशव नाम के एक ग्रामरक्षक की शिवा नाम की प्राणप्रिया एवं विनीता पत्नी की कुक्षि से मंख नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। क्रमशः वह मंख युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मंख अपने पिता के साथ स्नानार्थ एक सरोवर पर गया और स्नान करने के पश्चात् एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहां बैठे-बैठे मंख ने देखा कि एक चक्रवाक-युगल परस्पर प्रगाढ़ प्रेम से लबालब भरे हृदय से अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएं कर रहा है। कभी तो वह चक्रवाक-मिथुन अपनी चंचुओं से कुतरे गये नवीन ताजे पद्मनाल के टुकड़े की छीना-झपटी करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता था तो कभी सूर्य के अस्त हो जाने की आशंका से दूसरे को अपने प्रगाढ़ आलिंगन मे जकड़ लेता था तो कभी जल मे अपने प्रतिबिम्ब को देख कर विरह की आशका से त्रस्त हो निष्कपट भाव से एक दूसरे को अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए मधुर प्रेमालाप में आत्मविभोर हो जाता था।

चक्रवाक-युगल को इस प्रकार प्रेमकेलि मे खोये हुए जानकर काल की तरह चुपके से सरकते हुए शिकारी ने आकर्णान्त धनुष की प्रत्यचा खीचकर उन पर तीर चला दिया। दैव संयोग से वह तीर चकवे के लगा और वह उस प्रहार से मर्माहत हो छटपटाने लगा। चक्रवाक की तथाविध व्यथा को देखकर चकवी ने क्षणभर विलाप कर प्राण त्याग दिये। मुहूर्त्त भर बाद चकवा भी कालधर्म को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चकवे और चकवी की यह दशा देखकर मंख की आंखें मुंद गईं और मूच्छित होकर धरणितल पर गिर पड़ा। जब केशव ने यह देखा तो वह विस्मित हो सोचने लगा कि यह अकल्पित घटना कैसे घटी। उसने शीतलोपचारों से मंख को आश्वस्त किया और थोड़ी देर पश्चात् मख की मूर्च्छा दूर होने पर केशव ने उससे पूछा—"पुत्र! क्या किसी वात दोष से, पित्त दोष से अथवा और किसी शारीरिक दुर्बलता के कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है जिससे कि तुम चेष्टा-रहित हो बड़ी देर तक मूच्छित पड़े रहे? क्या कारण है, सच सच बताओ?"

मंख ने भी अपने पिता की बात सुनकर दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा—"तात! इस प्रकार के चक्रवाक-युगल को देखकर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। मैंने पूर्वजन्म में मानसरोवर पर इसी प्रकार चक्रवाक के मिथुन रूप से रहते हुए एक भील द्वारा छोड़े गये बाण से अभिहत हो विरह-व्याकुला चकवी के साथ मरण प्राप्त किया था और तत्पश्चात् मैं आपके यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ हू। इस समय मैं स्मृतिवश अपनी उस चिरप्रणयिनी चकवी के विरह को सहने मे असमर्थ होने के कारण बड़ा दुखी हूं।"

केशव ने कहा—"वत्स! अतीत दु.ख के स्मरण से क्या लाभ? कराल

चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मंखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण गोशालक[1] कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ में लेकर गोशालक मंखपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक मे आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मंखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा में एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तेल का घड़ा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग मे आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा— 'तात मंखलि! तात मंखलि! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तेल भूमि पर बह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप मे रहने लगा और लोग उसे[2] माखलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतंजलि ने 'मंखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी' माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयो:" ६।१।२५४ में मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नही जो हाथ मे मस्कर या बाँस की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो 'कर्म मत करो' का उपदेश देता है और कहता है— "शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3]

यहाँ गोशालक का नाम स्पष्ट नही होने पर भी दोनों का अभिमत उसी ओर संकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज में एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की व्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरियं' में गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एवं सुसंगत विवरण मिलता है। उसमे गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहां दिया जा रहा है :—

---

१ भगवती सूत्र, श० १५।१।

२ (क) आचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४१
(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

३ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः॥ [पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म न्त को एक चित्रपट पर अंकित करवालो, जिसमे यह दृश्य अंकित हो ल ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी वे की इस दशा को देखकर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी ा।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मख को दो जिसे लिये-लिये ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह शात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक कित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति के साथ लग जाय।"

"प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते है। इस उपाय से का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा—"आपकी बुद्धि की पहुँच बहुत ठीक आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषों को छोडकर इस प्रकार के विषम अर्थ नर्णय कौन जान सकता है?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मख से सब हाल कहा। मंख ा—"तात! इसमे क्या अनुचित है? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा ये। कुविकल्पों की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही क्रम उचित है।"

मख के अभिप्राय को जानकर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग मे जीवन-ाहि हेतु सबल के रूप मे द्रव्य मंख को प्रदान किया।

मख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ लेकर ग्राम, नगर प्रवेशादि मे बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत भूमने लगा। मंख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-तुष्क एवं चौराहो पर ऊचा करके दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट विषय मे उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर स्तार के साथ अपनी आत्मकथा कहकर वह लोगो को चित्रफलक पर अकित क्रवाक-मिथुन की ओर इगित कर कहता—"देखो, मानसरोवर के तट पर स्पर प्रेमकेलि मे निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा ोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह [illegible]"

काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नही देख सकता । जैसे कि कहा भी है :—

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दु.ख से संतप्त होकर मूच्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी, जिनका चर्म से मढा हुआ शरीर सभी आपत्तियो का घर है, उनके दु खो की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान में रखकर यथोचित व्यवहार करो । क्योंकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है । इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह ससार असार है, जहा जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दु.ख हैं ।"

इस प्रकार विविध हेतुओ और युक्तियो से मंख को समझाकर केशव किसी तरह उसे घर ले गया । घर पहुँच कर भी मंख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गडाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय होकर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा ।

मख की ऐसी दशा देखकर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कही कोई छलना-विकार तो नही है, इस विचार से तान्त्रिक लोगों को बुलाकर उन्हे उसे दिखाया । मख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया, पर सब निरर्थक ।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा । उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा—"भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यो दिख रहा है ?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया । वृद्ध पुरुष ने पूछा—"क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है ?"

केशव ने उत्तर दिया—"इसे बडे-बडे निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिकों को दिखाया है ।"

वृद्ध ने कहा—"यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ?" कहा भी है .—

"भयकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने मे कुशल, सिंह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तम्भन करने मे प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने मे सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने मे समर्थ नहीं होते ।"

केशव ने पूछा—"तो फिर अब इसका क्या किया जाय ?"

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवी दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अंकित करवालो, जिसमे यह दृश्य अकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देखकर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मंख को दो जिसे लिये-लिये यह मंख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय।"

"प्राचीन शास्त्रो में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते हैं। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा—"आपकी बुद्धि की पहुँच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषो को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मख से सब हाल कहा। मंख बोला—"तात! इसमें क्या अनुचित है? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये। कुविकल्पो की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है।"

मख के अभिप्राय को जानकर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग मे जीवन-निर्वाह हेतु सबल के रूप मे द्रव्य मंख को प्रदान किया।

मख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ लेकर ग्राम, नगर सन्निवेशादि मे बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो घूमने लगा। मख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एव चौराहो पर ऊचा करके दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय मे उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कहकर यह लोगो को चित्रफलक पर अकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इगित कर कहता—"देखो, मानसरोवर के तट पर परस्पर प्रेमकेलि मे निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।"

काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नही देख सकता। जैसे कि कहा भी है :—

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दु ख से सतप्त होकर मूच्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी, जिनका चर्म से मढा हुआ शरीर सभी आपत्तियों का घर है, उनके दु खो की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान मे रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह ससार असार है, जहां जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दु.ख हैं।"

इस प्रकार विविध हेतुओ और युक्तियो से मंख को समझाकर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पहुँच कर भी मख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गड़ाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय होकर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मख की ऐसी दशा देखकर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कही कोई छलना-विकार तो नही है, इस विचार से तान्त्रिक लोगों को बुलाकर उन्हे उसे दिखाया। मख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया, पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा—"भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यों दिख रहा है ?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुष ने पूछा—"क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है ?"

केशव ने उत्तर दिया—"इसे बड़े-बड़े निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिको को दिखाया है।"

वृद्ध ने कहा—"यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ?" कहा भी है :—

"भयकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने मे कुशल, सिंह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तभन करने मे प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने मे सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने मे समर्थ नहीं होते।"

केशव ने पूछा—"तो फिर अब इसका क्या किया जाय ?"

वृद्ध ने उत्तर दिया—"यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवी दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अंकित करवालो, जिसमे यह दृश्य अंकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देखकर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मंख को दो जिसे लिये-लिये यह मंख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय।"

"प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते है। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा—"आपकी बुद्धि की पहुँच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषों को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मख से सब हाल कहा। मंख बोला—"तात! इसमें क्या अनुचित है? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये। कुविकल्पों की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है।"

मख के अभिप्राय को जानकर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग में जीवन-निर्वाह हेतु सबल के रूप मे द्रव्य मख को प्रदान किया।

मंख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ लेकर ग्राम, नगर सन्निवेशादि मे बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो घूमने लगा। मख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एव चोराहो पर ऊंचा करके दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय मे उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कहकर वह लोगों को चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इंगित कर कहता—"देखो, मानसरोवर के तट पर परस्पर प्रेमकेलि में निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।"

काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-सयोग से सुखी नही देख सकता। जैसे कि कहा भी है :—

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दुःख से संतप्त होकर मूर्च्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी, जिनका चर्म से मंढा हुआ शरीर सभी आपत्तियों का घर है, उनके दु खो की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान मे रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह ससार असार है, जहा जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दु.ख हैं।"

इस प्रकार विविध हेतुओ और युक्तियों से मंख को समझाकर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पहुँच कर भी मख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गड़ाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय होकर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मख की ऐसी दशा देखकर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कही कोई छलना-विकार तो नही है, इस विचार से तान्त्रिक लोगो को बुलाकर उन्हे उसे दिखाया। मख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया, पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा—"भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यो दिख रहा है ?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुष ने पूछा—"क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है ?"

केशव ने उत्तर दिया—"इसे बड़े-बड़े निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिकों को दिखाया है।"

वृद्ध ने कहा—"यह सभी उपक्रम व्यर्थ है, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ?" कहा भी है —

"भयकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने मे कुशल, सिह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तभन करने मे प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने मे सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने मे समर्थ नही होते।"

केशव ने पूछा—"तो फिर अब इसका क्या किया जाय ?"

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासंड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम में पहुंचा और गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला में ठहरा। गोशाला में रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था, अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नहीं चलता और सीख देने पर द्वेष करता। सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूंछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। बिना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते।

माँ के द्वारा यह कहने पर—"हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड़ प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता?" गोशालक उत्तर में यह कहता—"अम्ब! तू मेरे उदर में प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूंगा।"

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नहीं कर लेता तब तक उसे खुलकर भोजन करने की इच्छा नहीं होती। निश्चित रूप से सारे दोष समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनों में प्रथम स्थान देने लगे। विष-वृक्ष और दृष्टि-विष वाले विषधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-झगड़कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला में चला आया, जहां भगवान् महावीर विराजमान थे।

[महावीर चरिय (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमों की मौलिकता

इस विषय में जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मंखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला में उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत-

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुनकर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला बुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते।

इस प्रकार मंख भी अपने कार्यसाधन में दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुँचा। उसका पाथेय समाप्त हो चुका था, अतः जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार बनाकर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एव अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनो कार्य करने लगा।

उसी नगर मे मखली नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह वाणिज्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य मे अकुशल, कृषि कार्यों में सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्रायः सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यों को करने में भी अविचक्षण था। सारांश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था। वह निरन्तर इसी उपाय की टोह में रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे। एक दिन उसने मंख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है।

उसे देखकर मंखली ने सोचा—"अहो! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नही सकता। नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, बिना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है। चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हूं। यह बहुत ही अच्छा उपाय है।"

ऐसा सोचकर वह मंख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मंख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए बड़े विस्तुत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुंचा।

मंखली ने अपनी गृहिणी से कहा—"प्रिये! अब मूख के सिर पर वज्र मारो और विहार-यात्रा के लिये स्वस्थ हो जाओ।"

मंखली की पत्नी ने उत्तर दिया—"मैं तो तैयार ही हूं, जहां आपकी रुचि हो वही चलिये।"

चित्रफलक लेकर मंखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पड़ा और मंखवृत्ति से देशांतर में भ्रमण करने लगा। लोग भी उसे आया देखकर पहले देखे हुए मंख के खयाल से "मंख आ गया, यह मंख आ गया" इस तरह कहने लगे।

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासंड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम में पहुँचा और गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में ठहरा। गोशाला में रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था, अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नहीं चलता और सीख देने पर द्वेष करता। सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूँछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। बिना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते।

माँ के द्वारा यह कहने पर—"हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड़ प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता?" गोशालक उत्तर में यह कहता—"अम्ब! तू मेरे उदर मे प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूँगा।"

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नहीं कर लेता तब तक उसे खुलकर भोजन करने की इच्छा नही होती। निश्चित रूप से सारे दोष समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् मे उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नही होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनों में प्रथम स्थान देने लगे। विष-वृक्ष और दृष्टि-विष वाले विषधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-झगड़कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला मे चला आया, जहा भगवान् महावीर विराजमान थे।

[महावीर चरिय (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमों की मौलिकता

इस विषय मे जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला मे उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत-

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुनकर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला बुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते।

इस प्रकार मंख भी अपने कार्यसाधन में दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुँचा। उसका पाथेय समाप्त हो चुका था, अतः जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मंख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार बनाकर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एव अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनों कार्य करने लगा।

उसी नगर में मंखली नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह वाणिज्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य मे अकुशल, कृषि कार्यों मे सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्रायः सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यों को करने मे भी अविचक्षण था। सारांश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था। वह निरन्तर इसी उपाय की टोह में रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे। एक दिन उसने मंख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है।

उसे देखकर मंखली ने सोचा—"अहो! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नहीं सकता। नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, बिना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है। चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हूं। यह बहुत ही अच्छा उपाय है।"

ऐसा सोचकर वह मंख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मंख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए बड़े विस्तृत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुंचा।

मंखली ने अपनी गृहिणी से कहा—"प्रिये! अब भूख के सिर पर वज्र मारो और विहार-यात्रा के लिये स्वस्थ हो आओ।"

मंखली की पत्नी ने उत्तर दिया—"मैं तो तैयार ही हूं, जहाँ आपकी रुचि हो वहीं चलिये।"

चित्रफलक लेकर मंखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पड़ा और मंखवृत्ति से देशांतर में भ्रमण करने लगा। लोग भी उसे आया देखकर पहले देखे हुए मंख के खयाल से "मंख आ गया, यह मंख आ गया" इस तरह कहने लगे।

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरवण ग्राम में पहुंचा और गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में ठहरा। गोशाला मे रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था, अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नही चलता और सीख देने पर द्वेष करता। सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूंछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। बिना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते।

माँ के द्वारा यह कहने पर—"हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड़ प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता?" गोशालक उत्तर में यह कहता—"अम्ब! तू मेरे उदर मे प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूंगा।"

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नही कर लेता तब तक उसे खुलकर भोजन करने की इच्छा नही होती। निश्चित रूप से सारे दोष समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नही होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनो में प्रथम स्थान देने लगे। विष-वृक्ष और दृष्टि-विष वाले विषधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-झगड़कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला में चला आया, जहां भगवान् महावीर विराजमान थे।

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमों की मौलिकता

इस विषय मे जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला में उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत-

"गोशालाया जातो गोशाल" इस व्युत्पत्ति से भी इस कथन की पुष्टि होती है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने 'सामञ्ञ फलसुत्त' की टीका मे गोशालक का जन्म गोशाला मे हुआ माना है।[1] इतिहास लेखको ने पाणिनि का काल ई० पूर्व ४०० से ई० पूर्व ४१० माना है।[2] गोशालक के निधन और पाणिनि के रचनाकाल मे लगभग एक सौ बयालीस वर्ष का अन्तर है। सभव है, गोशालक-मत के उत्कर्ष-काल मे यह व्याख्या की गई हो।

गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय मे प्रमुख स्थान रहा है। कुछ विद्वानों ने उसे आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी बताया है। पर सही बात यह है कि आजीवक सम्प्रदाय गोशालक के पूर्व से ही चला आ रहा था। जैनागम एवं त्रिपिटक मे गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा है। दोनो का अर्थ एक ही है। प्रतिपक्ष द्वारा निर्धारित इस नाम की तरह वे स्वयं इसका क्या अर्थ करते होगे, यह स्पष्ट नही होता। हो सकता है, उन्होने इसका शुभरूप स्वीकार किया हो।

डॉ० बरुआ ने आजीविक के सम्बन्ध मे लिखा है कि यह ऐसे संन्यासियों की एक श्रेणी है, जिनके जीवन का आधार भिक्षावृत्ति है, जो नग्नता को अपनी स्वच्छता एव त्याग का बाह्य चिह्न बनाये हुए हैं, जिनका सिर मुंडा हुआ रहता है और जो हाथ मे बास के डडे रखते हैं। इनकी मान्यता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख और हानि-लाभ यह सब अनतिक्रमणीय हैं, जिन्हें टाला नही जा सकता। जिसके भाग्य मे जो लिखा है, वह होकर ही रहता है।

गोशालक से महावीर का सम्पर्क

साधना के दूसरे वर्षावास मे जब भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा मे मासिक तप के साथ चातुर्मास कर रहे थे, उस समय गोशालक भी हाथ मे परम्परानुकूल चित्रपट लेकर ग्राम-ग्राम घूमता हुआ प्रभु के पास तन्तुवाय शाला मे आया। अन्य योग्य स्थान न मिलने के कारण उसने भी उसी तन्तुवाय शाला मे चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया।

भगवान् महावीर ने प्रथम मास का पारणा 'विजय' गाथापति के यहा किया। विजय ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु का सत्कार किया और उत्कृष्ट अशन-पान आदि से प्रतिलाभ दिया। त्रिविध-त्रिकरण शुद्धि से दिये गये उसके पारण-दान की देवो ने महिमा की, उसके यहा पंच-दिव्य प्रकट हुए। क्षणभर मे यह अद्भुत समाचार अनायास नगर भर मे फैल गया और दृश्य देखने को जन-समूह उमड़ पड़ा। मंखलिपुत्र गोशालक भी भीड के साथ चला आया और द्रव्य-वृष्टि आदि आश्चर्यजनक दृश्य देखकर दग रह गया। वह वहाँ से लौटकर भगवान्

---

१ सुमगल विलासिनी (दीर्घनिकाय अट्ठकहा) पृ० १४३-४४

२ वासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनीकालीन भारतवर्ष।

महावीर के पास आया और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके बोला—"भगवन् ! आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं। मैंने मन में भली-भांति सोचकर ऐसा निश्चय किया है। मुझे अपनी चरण-शरण मे लेकर सेवा का अवसर दें।" प्रभु ने सहज में उसकी बात सुन ली और कुछ उत्तर नहीं दिया।

भगवान् महावीर के चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के पास 'कोल्लाग' गाव में 'बहुल' ब्राह्मण के यहां हुआ था। गोशालक की अनुपस्थिति मे भगवान् गोचरी के लिये बाहर निकले थे, अतः गोशालक जब पुनः तन्तुवाय-शाला में आया तो वहां प्रभु को न देखकर उसने सारी राजगृही छान डाली मगर प्रभु का कुछ पता नहीं लगा। अन्त में हार कर उदास मन से वह तन्तुवाय-शाला में लौट आया और अपने वस्त्र, पात्र, जूते आदि ब्राह्मणो को बांटकर स्वयं दाढ़ी मूंछ मुंडवा कर प्रभु की खोज मे कोल्लाग सन्निवेग की ओर चल दिया।

शिष्यत्व की ओर

मार्ग में जन-समुदाय के द्वारा 'बहुल' के यहां हुई दिव्य-वृष्टि के समाचार सुनकर गोशालक को पक्का विश्वास हो गया कि निश्चय ही भगवान् यहाँ विराजमान हैं, क्योंकि उनके जैसे तपस्तेज की ऋद्धि वाले अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके चरण-स्पर्श के बिना इस प्रकार की द्रव्य-वृष्टि संभव नहीं है। इस तरह अनुमान के आधार पर पता लगाते हुए वह महावीर के पास पहुँच गया।

गोशालक ने प्रभु को सविधि वन्दन कर कहा—"प्रभो ! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो इस तरह बिना बताये आप यहाँ चले आये ? मैं आपके बिना अब एक क्षण भी अन्यत्र नहीं रह सकता। मैंने अपना जीवन आपके चरणों मे समर्पित कर दिया है। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूं कि आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं।"

प्रभु ने जब गोशालक के विनयावनत अन्तःकरण को देखा तो उसकी प्रार्थना पर "तथास्तु" की मुहर लगा दी। प्रभु के द्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होने पर वह छः वर्ष से अधिक काल तक शिष्य रूप में भगवान् के साथ विभिन्न स्थानो में विचरता रहा, जिसका उल्लेख महावीर-चर्या के प्रसंग में यथास्थान किया जा चुका है।

विरुद्धाचरण

प्रभु के साथ विहार करते हुए गोशालक ने कई बार भगवान् की बात को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे कहीं भी सफलता नहीं मिली। दुराग्रह के कारण उसके मन में प्रभु के प्रति श्रद्धा में कमी आयी किन्तु वह प्रभु से तेजोलेश्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, अतः उस अवधि

तक वह मन मसोस कर भी जैसे-तैसे उनके साथ चलता रहा। अन्ततः एक दिन भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि जानकर वह उनसे अलग हो गया और नियतिवाद का प्रवल प्रचारक एवं समर्थक वन गया। कुछ दिनों के बाद उसे कुछ मत-समर्थक साथी या शिष्य भी मिल गये, तब से वह अपने को जिन और केवली भी घोषित करने लगा।

भगवान् जिस समय श्रावस्ती मे विराजमान थे, उस समय गोशालक का जिन रूप से प्रचार जोरों से चल रहा था। गोशालक के जिनत्व के सम्बन्ध में गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर प्रभु ने कहा—"गौतम ! गोशालक जिन नही, जिन-प्रलापी है।" प्रभु की यह वाणी श्रावस्ती नगरी में फैल गई। गोशालक ने जब यह बात सुनी तो वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर भला-बुरा कहा और स्वय आवेश मे प्रभु के पास पहुँचकर रोष्पूर्ण भाषा बोलने लगा।

महावीर ने पहले से ही अपने श्रमणो को सूचित कर रखा था कि गोशालक यहाँ आने वाला है और वह अभद्र वचन बोलेगा, अतः कोई भी मुनि उससे सभाषण नही करे। प्रभु द्वारा इस प्रकार सावचेत करने के उपरान्त भी गोशालक के अनर्गल प्रलाप और अपमानजनक शब्दो को सुनकर भावावेश में दो मुनि उससे बोल गये। गोशालक ने क्रुद्ध हो उन पर तेजोलेश्या फेंकी, जिससे वे दोनो मुनि काल कर गये। भगवान् द्वारा उद्‌बोधित किये जाने पर उसने भगवान् को भी तेजोलेश्या से पीडित किया। वास्तव में मूढमति पर किये गये उपदेश का ऐसा ही कुपरिणाम होता है, जैसा कि कहा है—"पयः पानं भुजगानां केवलं विषवर्धनम्।" विशेष जानकारी के लिये साधनाकालीन विहारचर्या द्रष्टव्य है।

आजीवक नाम की सार्थकता

गोशालक-परम्परा का आजीवक नाम केवल आजीविका का साधन होने से ही पड़ा हो, ऐसी बात नही है। इस मत के अनुयायी भी विविध प्रकार के तप और ध्यान करते थे। जैसे कि जैनागम स्थानाग मे आजीवको के चार प्रकार के तप बतलाये हैं। कल्प चूरिण आदि ग्रन्थो मे पाँच प्रकार के श्रमणो का उल्लेख है, जिसमें एक औष्ट्रिका श्रमण का भी उल्लेख है। ये मिट्टी के बड़े बर्तन में ही बैठ कर तप करते थे।

उपर्युक्त निर्देशों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाना कठिन है कि आजीवकमति केवल उदरार्थी होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होकर भी कट्टर नियतिवादी थे। उनके मत में पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नही था, फिर भी अनेक प्रकार के तप और

आतापनायें किया करते थे। मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार वे अपनी इस विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही विरोधी लोगों के आक्षेप के पात्र बने। लोग कहने लगे कि ये जो कुछ भी करते है, आजीविका के लिये करते हैं, अन्यथा नियतिवादी को इसकी क्या आवश्यकता है ?

आजीवक नाम प्रचलित होने के मूल में चाहे जो अन्य कारण रहे हो पर इस नाम के सर्वमान्य होने का एक प्रमुख कारण आजीविका भी है।

जैनागम भगवती के अनुसार गोशालक निमित्त-शास्त्र का भी अभ्यासी था। वह समस्त लोगों के हानि-लाभ, सुख-दुःख एव जीवन-मरण विषयक भविष्य बताने मे कुशल और सिद्धहस्य माना जाता था। अपने प्रत्येक कार्य मे वह उस ज्ञान की सहायता लेता था। आजीवक लोग इस विद्या के बल से अपनी सुख-सामग्री जुटाया करते थे। इसके द्वारा वे सरलता से अपनी आजीविका चलाते। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में इस मत को आजीवक और लिंग-जीवी कहा है।

इस तरह नियतिवादी होकर भी विविध क्रियाओं के करने और आजीविका के लिये निमित्त विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों, खासकर जैनों द्वारा 'आजीवक' नाम से प्रसिद्ध हुए हो, यह सगत प्रतीत होता है।

आजीवक-चर्या

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार निर्ग्रन्थों के समान आजीविकों की जीवन-चर्या के नियम भी कठोर बताये गये हैं। 'मज्झिमनिकाय' मे आजीवकों की भिक्षाचरी का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"गाँवों, नगरों में आजीवक साधु होते हैं, उनमे से कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से, यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं। संसार-शुद्धि की दृष्टि से जैनों के चौरासी लाख जीव-योनि के सिद्धान्त की तरह वे चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण मानते हैं। छः लेश्याओं की तरह गोशालक ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है, जिनके कृष्ण, नील आदि नाम भी बराबर मिलते हैं।"

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है :—

"गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, गूलर, बड़, बेर, अंजीर, एवं पिलंखु इन पांच फलों का भक्षण नही करते,

बैलो को लाछित नही करते, उनके नाक, कान का छेदन नही करते एवं जिससे त्रस प्राणियो की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नही करते थे ।[1]

आजीवक मत का प्रवर्तक

अभी तक बहुत से जैन-अजैन विद्वान् गोशालक को आजीवक मत का सस्थापक मानते आ रहे है । जैन शास्त्रो के अनुसार गोशालक नियतिवाद का समर्थक और आजीवक मत का प्रमुख आचार्य रहा है, किन्तु कहीं भी उसका इस मत के सस्थापक के रूप मे नामोल्लेख नही मिलता ।

जैन शास्त्रों मे जो अन्य तीर्थों के चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनमे नियतिवाद का स्थान चौथा है। इससे महावीर के समय मे "नियतिवादी" सघ पूर्व से ही प्रचलित होना प्रमाणित होता है । बौद्धागम 'विनयपिटक' में बुद्ध के साथ एक 'उपक' नाम के आजीवक भिक्षु के मिलने की बात आती है । यदि आजीवक मत की स्थापना गोशालक से मानी जाय तो उसका मिलना सभव नही होता, क्योकि महावीर की बत्तीस वर्ष की वय मे जब पहले पहल गोशालक उनसे मिला तब वह किशोरावस्था मे पन्द्रह-सोलह वर्ष का था । जिस समय वह महावीर के साथ हुआ, उस समय प्रव्रज्या के दो वर्ष हो चुके थे । इसके बाद उसने नौवे वर्ष मे पृथक् हो, श्रावस्ती में छै माह तक आतापना लेकर तेजोलेश्या प्राप्त की । फिर निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीवक सघ का नेता बन गया । निमित्त ज्ञान के लिये कम से कम तीन-चार वर्ष का समय माना जाय तो गोशालक द्वारा आजीवक सघ का नेतृत्व ग्रहण करना लगभग महावीर के तीर्थंकरपद-प्राप्ति के समय हो सकता है । ऐसी स्थिति मे बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने के समय गोशालक के मिलने की बात ठीक नही लगती । फिर बौद्ध ग्रन्थ "दीर्घ निकाय" और "मज्झिम निकाय" मे मखलि गोशालक के अतिरिक्त "किस्स संकिच्च" और "नन्दवच्छ" नाम के दो और आजीवक नेताओ के नाम मिलते है । इससे यह अनुमान होता है कि गोशालक से पूर्व ये दोनो आजीवक भिक्षु थे । इन्होने आजीवक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को लब्धिधारी और निमित्त शास्त्र का ज्ञाता जान कर सघ का नायक बना दिया हो, यह संभव है ।

आजीवक मत की स्थापना का स्पष्ट निर्देश नही होने पर भी गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त से यह अनुमान लगाया जाता है कि उदायी

---

१ इच्चेए दुवालस आजीविओवासगा अरिहंत देवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पचफल-पडिक्कन्ता त० उबरेहि वडेहि बोरेहि, सतरेहि, पिलक्खूहि, पलडुल्हसूणकन्दमूलविवज्जगा अणिल्लछिएहि अणक्कभिण्णेहि तसपाण विवज्जिएहि चित्तेहि वित्ति कप्पेमाणा विहरति ।
[भगवती सूत्र, शतक ८, उ० ५, सू० ३३०, अभयदेवीयावृत्ति, प० ३७०(१)]

कुंडियायन आजीवक संघ का आदिप्रवर्तक हो, जो गोशालक के स्वर्गवास से १३३ वर्ष पूर्व हो चुका था। गोशालक के सम्बन्ध में इन वर्षों में काफी गवेषणा हुई है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने भी बहुत कुछ नयी शोध की है, फिर भी यह निश्चित है कि गोशालक विषयक जो सामग्री जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वान् इस बात को भूल कर मूल से ही विपरीत सोचते हैं। उनका कहना है कि जैन दृष्टि गोशालक को महावीर के ढोंगी शिष्यों में से एक मानती है, पर वास्तव मे ऐसी बात नही है। डॉ० बरुआ ने अपनी इस धारणा की पृष्ठभूमि मे माना है कि—महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद वे अचेलक हुए, तब अचेलक पंथ मे चले गये।[1] इन्होंने यह भी माना कि गोशालक को महावीर से दो वर्ष पूर्व ही जिनत्व प्राप्त हो गया। उनके ये सब विचार कल्पनाश्रित है, फिर भी साधारण विचारकों पर उनका प्रभाव होना सहज है। जैसा कि गोपालदास जीवाभाई पटेल ने बरुआजी के ग्रन्थ से प्रभावित हो कर लिखा—"जैन सूत्रो मे गोशालक के विषय मे जो परिचय मिलता है, उसमे उसको चरित्र-भ्रष्ट तथा महावीर का शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है कि उन लेखो को आधारभूत मानने को ही मन नही मानता।[2]

वास्तव मे गोपालदास ने जैन सूत्रो के भाव को नहीं समझा, वे पश्चिमी विचार के प्रभाव में ऐसा लिख गये। असल मे जैन और बौद्ध परम्पराओं से हट कर यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो संभव है कि गोशालक नाम का कोई व्यक्ति ही हमें न मिले। जब हम कुछ आधारों को सही मानते है, तब किसी कारण से कुछ अन्य को असत्य मान लें, यह उचित प्रतीत नही होता। भले ही जैन और बौद्ध आधार किसी अन्य भाव या भाषा मे लिखे गये हो, फिर भी वे हमे मान्य होने चाहियें। क्योंकि वे निर्हेतुक नही हैं, निर्हेतुक होते तो दो भिन्न परम्पराओं के उल्लेख में एक दूसरे का समर्थन एवं साम्य नही होता। यदि जैन आगम उसे शिष्य बतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसे गुरु लिखते तो यह शंका उचित हो सकती थी, पर वैसी कोई स्थिति नही है।

जैन शास्त्र की प्रामाणिकता

जैन आगमों के एतद्विषयक वर्णनों को सर्वथा आपेक्षात्मक समझ बैठना भी भूल होगा। जैन शास्त्र जहाँ गोशालक एवं आजीवक मत की हीनता व्यक्त करते हैं, वहाँ वे गोशालक को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचा कर मोक्षगामी भी बतलाते हैं, साथ ही उनके अनुयायी भिक्षुओं को अच्युत स्वर्ग तक पहुँचने की

---

१ महावीर नो संयम धर्म (सूत्र कृताग का गुजराती सस्करण), पृ० ३४।

२ आगम और त्रिपिटक—एक अनुशीलन, पृ० ४४-४५।

क्षमता देकर गौरव प्रदान करते हैं ।[1] एकांगी विरोध की ही दृष्टि होती तो उस मे ऐसा कभी संभव नही होता ।

आजीवक वेष

विभिन्न मतावलम्बियों के विभिन्न प्रकार के वेष होते हैं । कोई धातु रक्ताम्बर धारण करता है तो कोई पीताम्बर, किन्तु आजीवक के किसी विशेष वेष का उल्लेख नही मिलता । बौद्ध शास्त्रो में भी आजीवक भिक्षुओं को नग्न ही बताया गया है, वहाँ उनके लिये अचेलक शब्द का प्रयोग किया गया है । उसके लिंग-धारण पर महावीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि वह जब नालन्दा की तन्तुवायशाला मे भगवान् महावीर से प्रथम बार मिला तब उसके पास वस्त्र थे । पर चातुर्मास के बाद जब भगवान् महावीर नालन्दा से विहार कर गये तब वह भी वस्त्रादि ब्राह्मणों को देकर मुंडित हो कर महावीर की खोज में निकला और कोल्लाग सन्निवेश मे उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया ।

आजीवको के आचार के सम्वन्ध का वर्णन "मज्झिम निकाय" मे मिलता है । वहाँ छत्तीसवे प्रकरण मे निर्ग्रन्थ संघ के साधु "सच्चक" के मुख से यह बात निम्न प्रकार से कहलायी गयी है :—

"वे सब वस्त्रो का परित्याग करते हैं, शिष्टाचारो को दूर रख कर चलते हैं, अपने हाथो मे भोजन करते हैं, आदि ।" "दीर्घ निकाय" में भी कश्यप के मुख से ऐसा स्पष्ट कहलाया गया है ।

महावीर का प्रभाव

गोशालक की वेष-भूषा और आचार-विचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस पर भगवान् महावीर के आचार का पूर्ण प्रभाव था । "मज्झिम निकाय" मे आजीवकों के आचार का निम्नांकित परिचय मिलता है :—

"वे भिक्षा के लिये अपने आने अथवा राह देखने सम्बन्धी किसी की बात नही सुनते, अपने लिये बनवाया आहार नही लेते, जिस बर्तन मे आहार पकाया गया हो, उसमे से उसे नही लेते, देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ और चूल्हे पर पकता हुआ भोजन ग्रहण नहीं करते । एक साथ भोजन करने वाले युगल से तथा सगर्भा और दुधमुंहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नहीं लेते । जहाँ आहार कम हो, जहाँ कुत्ता खड़ा हो और जहाँ मक्खियां भिन-भिनाती हों, वहाँ से आहार नही लेते । मत्स्य, मांस, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नही करते....। कोई दिन में एक बार, कोई दो-दो दिन

---

१ भगवती श०, श० १५। सू० ५५६, पत्र ५८८ (१) ।

बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के वे उपवास करते हैं।"

इस प्रकार का आचार निग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त नही पाया जाता। इस उल्लेख से गोशालक पर महावीर के आचार का स्पष्ट प्रभाव कहे बिना नही रहा जा सकता।

निग्रन्थों के भेद

आजीवक और निग्रन्थो के आचार की आंशिक समानता देखकर कुछ विद्वान् सोचते हैं कि इन दोनों के आचार एक हैं, परन्तु वास्तव में दोनों परम्पराओ के आचार मे मौलिक अन्तर भी है। "मज्झिम निकाय" मे जो भिक्षा के नियम बतलाये हैं, संभव है, वे सभी आजीवकों द्वारा नही पाले जा कर कुछ विशिष्ट आजीवक भिक्षुओं द्वारा ही पाले जाते हों। मूल में निग्रन्थ और आजीवकों के आचार में पहला भेद सचित्त-अचित्त सम्बन्धी है। जहाँ निग्रन्थ परम्परा में सचित्त का स्पर्श तक भी निषिद्ध माना जाता है, वहाँ आजीवक परम्परा मे सचित्त फल, बीज और शीतल जल ग्राह्य बताया गया है। अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनमें उग्र तप करने वाले थे, वैसे शिथिलता का प्रवेश भी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

आर्द्रक कुमार के प्रकरण मे आजीवक भिक्षुओ के अब्रह्म सेवन का भी उल्लेख है। इसे केवल आक्षेप कहना भूल होगा, क्योंकि जैनागम के अतिरिक्त बौद्ध शास्त्र से भी आजीवकों के अब्रह्म-सेवन की पुष्टि होती है।[1] वहाँ पर निग्रन्थ ब्रह्मचर्यवास में और आजीवक अब्रह्मचर्यवास में गिनाये गये हैं।[2]

गोशालक ने बुद्ध, मुक्त और न बद्ध न मुक्त ऐसी तीन अवस्थाएँ बतलायी हैं। वे स्वयं को मुक्त—कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था कि मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नही।[3] इन लेखों से स्पष्ट होता है कि आजीवकों मे अब्रह्म-सेवन को दोष नहीं माना जाता था।

आजीवक का सिद्धान्त

आजीवक परम्परा के धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में कुछ जानकारी जैन

१ (क) मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४।
(ख) एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, डॉ० हार्नले, पृ० २६१।

२ मज्झिम निकाय, संदक सुत्त, पृ० २३६।

३ (क) महावीर कथा, गोपालदास पटेल, पृ० १७७।
(ख) श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ० ८३।

और बौद्ध सूत्रों में प्राप्त होती है। गोशालक ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के विषय में भगवान् महावीर के समक्ष जो विचार प्रकट किये, उनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आजीवकों के नियतिवाद का भी विभिन्न सूत्रों में उल्लेख मिलता है। उपासक दशांग सूत्र के छठे और सातवें अध्ययन में नियतिवाद की चर्चा है। वहां कहा गया है कि गोशालक मखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति इसलिये सुन्दर है कि उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि आवश्यक नहीं, क्योंकि उसके मत में सब भाव नियत हैं और महावीर के मत में सब भाव अनियत होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है। बौद्ध सूत्र दीर्घ निकाय में भी इससे मिलता जुलता सिद्धान्त बतलाया गया है, यथा—प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट अथवा दूर का कोई कारण नहीं है। वे बिना निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने या पर के प्रयत्नों पर आधार नहीं रखता। यहां कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्य-बल जैसी कोई वस्तु नहीं है।" प्रत्येक सविचार उच्चतर प्राणी, प्रत्येक सेन्द्रिय-वस्तु, अधमतर प्राणी, प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणिमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु—सर्व वनस्पति बलहीन, प्रभावहीन एवं शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं विधिवश या स्वभाववश होती हैं और षड्वर्गों में से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं।

दिगम्बर परम्परा में गोशालक

श्वेताम्बर परम्परा में गोशालक को भगवान् महावीर का शिष्य बताया गया है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में गोशालक का परिचय अन्य प्रकार से मिलता है। यहां पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि रूप में गोशालक का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि मस्करी गोशालक और पूर्ण काश्यप (ऋषि) महावीर के प्रथम समवशरण में उपस्थित हुए, किन्तु महावीर की देशना नहीं होने से गोशालक रुष्ट होकर चला गया। कोई कहते हैं कि वह गणधर होना चाहता था, किन्तु उसे गणधर पद पर नियुक्त नहीं करने से वह पृथक् हो गया। पृथक् हो कर वह सावत्थी में आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और अपने को तीर्थंकर कहने लगा। उसने कहा—"ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान ही श्रेष्ठ है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। देव या ईश्वर कोई नहीं है। अतः स्वेच्छापूर्वक

शून्य का ध्यान करना चाहिये ।"[1]

आजीवक और पासत्थ

आजीवक संप्रदाय का मूल स्रोत श्रमण परम्परा मे निहित है ।[2] आजीवकों और श्रमणों में मुख्य अन्तर इस बात का है कि वे आजीविकोपार्जन करने के लिये अपनी विद्या का प्रयोग करते है, जब कि जैन श्रमण इसका सर्वथा निषेध करते हैं ।[3] आजीवक मूलत. पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित माने गये हैं । सूत्र कृतांग मे नियतिवादी को "पासत्थ" कहा गया है ।[4] इस पर भी कुछ विद्वान् आजीवक को पार्श्वनाथ की परम्परा मे मानने का विचार करते है । "पासत्थ" का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है, पर उसका अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा करना संगत प्रतीत नही होता । भगवान् महावीर द्वारा तीर्थस्थापन कर लेने पर शिथिलतावश जो उनके तीर्थ मे नही आये, उनके लिये चारित्रिक शिथिलता के कारण पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हो सकता है । सभव है, महावीर के समय में कुछ साधुओ ने पार्श्वनाथ की परम्परा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द विहार करना स्वीकार किया हो ।

पर पार्श्व शब्द केवल पार्श्व-परम्परा के साधुओ के लिये ही नही, किन्तु जो भी स्नेह-बन्धन मे बद्ध हो या ज्ञानादि के बाजू (पार्श्व–सान्निध्य) मे रहता हो, वह चाहे महावीर परम्परा का हो या पार्श्वनाथ परम्परा का हो, उसे "पासत्थ" कह सकते है । टीकाकार ने इसका अर्थ "सदनुष्ठानाद् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था"[5] अच्छे अनुष्ठान के बाजू–पार्श्व मे रहने वाले । अथवा "साधु. गुणानां पार्श्वे तिष्ठति" किया है ।

---

१ मयसरि–पूरणारिसिणो उप्पणो पासणाहतित्थम्मि ।
सिरिवीर समवसरणे, अगहिय मुणिणा नियसेण ।।
बहिणिग्गएण उत्त मज्झ. एयार सागधारिस्स ।
णिग्गइ झुणीण अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स ।।
ण मुणइ जिणकहिय सुय, सपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा, मोक्खं ण णाणाओ ।।
अण्णाणाओ मोक्ख, एव लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो अ णत्थि कोई, सुण्ण झाएह इच्छाए ।।

[भावसग्रह. गाथा १७६ से १७९]

२ हिस्ट्री एण्ड डोक्टराइन्स आफ आजीवकाज पृ० ६८ ।

३ उत्तराध्ययन सूत्र. ८।१३, १५।७ ।

४ सूत्र कृताग, १।१।२ गा० ४ व ५ ।

५ सूत्र कृताग १ श्रु० ३ अ० ४ ३०

"पासत्थ" साधुओं की दो श्रेणियां की गई हैं–सर्वतः पार्श्वस्थ और देशतः पार्श्वस्थ, भगवान् महावीर के तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् भी जो ज्ञानादि रत्नत्रयी से विमुख हो कर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने में लगे रहे, उनको सर्वत. पासत्थ कहा गया है [1] और जो शय्यातर पिंड, अभिहृत पिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिंड आदि आहार का उपयोग करते हों वे देशतः पासत्थ कहलाये।[2]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'पासत्थ" का अर्थ पार्श्व-परम्परा के साधु ही करना उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि "पासत्थ" को शास्त्रो मे अवन्दनीय कहा है। जैसा कि–"जे भिक्खू पासत्थ पसंसति, पसंतं वा साइज्जइ" के अनुसार उनके लिये वंदन-प्रशंसन भी वर्जित किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा का साधु वन्दनीय रहा है। भगवती सूत्र मे तुंगिया नगरी के श्रावको ने आनन्द आदि पार्श्व परम्परा के स्थविरो का वन्दन-सत्कार आदि भक्तिपूर्वक किया है।[3] वे गागेय मुनि आदि की तरह भ० महावीर की परम्परा में प्रव्रजित भी नही हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सन्तानीय श्रमण आजीवक की तरह "पासत्थ" होते तो जैसे सद्दाल-पुत्त श्रावक ने गोशालक के वन्दन-नमन का परिहार किया, उसी तरह पार्श्वनाथ के साधु तुंगिका के श्रावको द्वारा अवंदनीय माने जाते, पर ऐसा नही है। अतः "पासत्थ" का अर्थ पार्श्वस्थ (पार्श्व परम्परा के साधु) करना ठीक नही। आजीवक को पासत्थ इसलिये कहा है कि वे ज्ञानादि-त्रय को पार्श्व मे रखे रहते हैं। इसलिये पासत्था कहे जाने से आजीवक गोशालक को पार्श्व-परम्परा में मानना ठीक नही जंचता।

जैनागमो से प्राप्त सामग्री के अनुसार गोशालक को महावीर की परम्परा से सम्बन्धित मानना ही अधिक युक्तियुक्त एवं उचित प्रतीत होता है।

---

१ दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होई नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जायर कुलादी ॥२२६।
दसण णाणचरित्ते, सत्थो अत्थति तहिं न उज्जमति।
एएण पासत्थो एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२२८।
पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठ बंधहेयओ पासा।
पासत्थिओ पासत्थो, अण्णो वि य एस पज्जाओ ॥२२६।
[अभिधान राजेन्द्र, पृ० ६११ (ख० भा०)]

२ सेज्जायर कुलनिस्सिय, ठवणकल पलोयणा अभिहडेय।
पुव्वि पच्छा संथव, निइअग्गपिंड, भोइ पासत्थो।२३०॥अभि रा० ६११।

३ तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति। भग० सू०, सूत्र १०६॥

छः भेदो से गुणन करने पर चौरासी [८४] होते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करने से इनके मत मे नित्य-अनित्य भेद नही माने जाते।[1]

३. अज्ञानवादी

इनके मत से ज्ञान में झगड़ा होता है, क्योकि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नही और अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। अतः ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है। अज्ञान से ही जगत् का कल्याण है।

इनके ६७ भेद बताये गये है। जीवादि ९ पदार्थों के [१] सत्व, [२] असत्व, [३] सदसत्व, [४] अवाच्यत्व, [५] सदवाच्यत्व, [६] असदवाच्यत्व और [७] सदसदवाच्यत्व रूप सात भेद करने से ६३ तथा उत्पत्ति के सत्वादि चार विकल्प जोड़ने से कुल ६७ भेद होते है।[2]

४. विनयवादी

विनयपूर्वक चलने वाला विनयवादी कहलाता है। इनके लिंग और शास्त्र पृथक् नही होते। ये केवल मोक्ष को मानते है। इनके ३२ भेद है—[१] सुर [२] राजा [३] यति [४] ज्ञाति [५] स्थविर [६] अधम [७] माता और [८] पिता। इन सब के प्रति मन, वचन, काया से देश-कालानुसार उचित

---

१ इह जीवाइपयाइ पुन्न पावं विणा ठविज्जति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्द दुग ॥६४

                    १   २
तस्सवि अहो लिहिज्जई काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं
  १   २ ३   ४
नियइ स्सहाव ईसर अप्पत्ति इमं पय चउक्क ॥६५॥

[प्रवचन सारोद्धार उत्तरार्द्ध सटीक, पत्र ३४४-२]

२ सत १ असंत २ संतासंत ३ अवत्तव्व ४ सयअवतव्वं। ५
असय अवत्तव्वं ६ सयवत्तव्वं ७ च सत्तपया ॥६६
जीवाइ नवपयाणं अहोकमेण इमाइ ठविऊणं।
जइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००
सतो जीवो को जाणइ अहवा किं च तेण नाएणं।
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स।
एवमजीवाईणऽवि पत्तेय सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भगा चत्तारि इमे उ इह हुति।
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नाणाए।

[वही]

दान देकर विनय करे।[1] इस प्रकार ८ को चार से गुणा करने पर ३२ होते हैं। आचारांग में भी चार वादों का उल्लेख है, यथा—"आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।"[2] इसके अतिरिक्त सभाष्य निशीथ चूर्णि में उस समय के निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों का भी उल्लेख है :—

[१] आजीवक [२] ईसरमत [३] उलूग [४] कपिलमत [५] कबिल [६] कावाल [७] कावालिय [८] चरग [९] तच्चन्निय [१०] परिव्वायग [११] पंडरंग [१२] बोहित [१३] भिच्छुग [१४] भिक्खू [१५] रत्तपड [१६] वेद [१७] सक्क [१८] सरक्ख [१९] सुतिवादी [२०] सेयवड [२१] सेय भिक्खू [२२] शाक्यमत [२३] हदुसरक्ख।[3]

बिम्बसार-श्रेणिक

महाराज श्रेणिक अपर नाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास-प्रसिद्ध शिशुनाग वंश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी राजा थे। वाहीक प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण इनको वाहीक कुल का कहा गया है।

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के भक्त राजाओं मे एक प्रमुख महाराजा थे। इनके पिता महाराज प्रसेनजित पार्श्वनाथ परम्परा के उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक थे।[4] उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह नगर मे थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यों में की जाती थी। श्रेणिक-बिम्बसार जन्म से जैन धर्मावलम्बी होकर भी अपने निर्वासन काल में जैनधर्म के सम्पर्क से हट गये हों ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथा-ग्रन्थों मे उल्लेख प्राप्त होता है। इसका प्रमाण है। महारानी चेलना से महाराज श्रेणिक का धार्मिक संघर्ष। यदि महाराज श्रेणिक सिंहासनारूढ़ होने के समय स ही जैन धर्म के उपासक होते तो महारानी चेलना के साथ उनका धार्मिक संघर्ष नहीं होता।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एवं उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमन्त्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय

---

१ सुर १ निवइ २ अइ ३ नाई ४ थविराड ५ अम ६ माई ७ पहसु ८ एएसिं मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो कीरए विणओ।५७।
अट्ठवि चउक्कगुणिया, बत्तीसा हवंति वेणइय भेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं, तिन्नि सया हुंति ते सट्ठा॥
[प्रव० सारो० सटीक, उत्तरार्ध, पत्र ३४४ (२)]

२ आचा० सटीक, श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २०।

३........निशथी सूत्र० चू० भा० १, पृ० १५।

४ श्रीमत्पार्श्वजिनाधीशशासनाम्भोजषट्पद.।
सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा, सोऽणुव्रतधरोऽभवत्॥ [त्रिष, १० प, ६ स० श्लोक ८]

तक जैन धर्मानुयायी नही थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निमंत्रित नही करते। अनाथी मुनि के त्याग, विराग एव उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल चित्त से जैन धर्म में अनुरक्त हुए।[1] यही से श्रेणिक को जैन धर्म का बोध मिला, यह कहा जाय तो अनुचित नही होगा। जैनागम-दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तब कौटुम्बिक पुरुषो ने आकर श्रेणिक को भगवान् के शुभागमन का शुभ-सवाद सुनाया। महाराज श्रेणिक इस सवाद को सुनकर बड़े सतुष्ट एव प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठकर जिस दिशा में प्रभु विराजमान थे उस दिशा मे सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होने प्रभु को वन्दन किया। तदनन्तर वे महारानी चेलना के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने गये और भगवान के उपदेशामृत का पान कर बड़े प्रमुदित हुए। उस समय महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना के अलौकिक सौंदर्य को देखकर कई साधु-साध्वियों ने नियाणा (निदान) कर लिया। महावीर प्रभु ने साधु-साध्वियो के निदान को जाना और उन्हे निदान के कुफल से परिचित कर पतन से बचा लिया।

श्रेणिक और चेलना को देखकर त्यागी वर्ग का चकित होना इस बात को सूचित करता है कि वे साधु-साध्वियों के साक्षात्कार मे पहले-पहल उसी समय आये हों।

श्रेणिक की धर्मनिष्ठा

महाराज श्रेणिक की निर्ग्रन्थ धर्म पर बड़ी निष्ठा थी। मेघकुमार की दीक्षा के प्रसंग में उन्होंने कहा कि निर्ग्रन्थ धर्म सत्य है, श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, मुक्तिमार्ग है, तर्कसिद्ध और उपमा-रहित है।[2] भगवान् महावीर के चरणो मे महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि उन्होने एक बार अपने परिवार, सामन्तो और मन्त्रियों के बीच यह घोषणा की—"कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे नही रोकूंगा।"[3] इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ (तेईस) पुत्र दीक्षित हुए[4] और नन्दा आदि तेईस रानियां भी साध्वियाँ बनी।[5] केवलज्ञान के प्रथम वर्ष में भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो उस

---

१ धम्माणुरत्तो विमलेण चेअसा ॥ उत्तराध्ययन २०

२ ज्ञाताधर्म कथा १।१

३ गुणचन्द्र कृत महावीर चरिय, पृ ३३४

४ अनुत्तरोववाइय, १।१-१० अ। २-१-१३।

५ अंतगड दसा, ७ व, ८ व.

समय श्रेणिक ने सम्यक्त्व-धर्म तथा अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1] मेघकुमार और नन्दिसेन की दीक्षा भी इसी वर्ष होती है।[2]

श्रेणिक के परिवार में त्याग-वैराग्य के प्रति अभिरुचि की अभिवृद्धि उनके देहावसान के पश्चात् भी चलती रही। भगवान् महावीर जब चम्पा नगरी पधारे तो श्रेणिक से पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म आनन्द और नन्दन नामक १० पौत्रों ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय में संलेखना के साथ काल कर क्रमशः सौधर्म आदि देवलोको मे वे देवरूप से उत्पन्न हुए। इस प्रकार महाराज श्रेणिक की तीसरी पीढ़ी तक श्रमण धर्म की आराधना होती रही। नेमिनाथ के शासनकाल मे कृष्ण की तरह भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक की शासन-सेवा व भक्ति उत्कृष्ट कोटि की मानी आकर वीर-शासन के मूर्धन्य सेवकों मे उनकी गणना की जाती है।

महाराज श्रेणिक ने अपने शासनकाल मे ही उस समय का सर्वश्रेष्ठ सेचनक हाथी और देवता द्वारा प्रदत्त अमूल्य हार चेलना के कूणिक से छोटे दो पुत्रो हल्ल और विहल्लकुमार को दिये थे, जिनका मूल्य पूरे मगध राज्य के बराबर आंका जाता था। वीर निर्वाण से १७ वर्ष पूर्व कूणिक ने अपने काल, महाकाल आदि दश भाइयों को अपनी ओर मिलाकर महाराज श्रेणिक को कारागृह में बन्द कर दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर आसीन हो गया। कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक को विविध प्रकार की यातनाएं दीं।

एक दिन कूणिक की माता चेलना ने जब उसे श्रेणिक द्वारा उसके प्रति किये गये महान् उपकार और अनुपम प्यार की घटना सुनाई तो उसको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कूणिक के हृदय में पिता के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और वह एक कुल्हाड़ी ले पिता के बन्धन काटने के लिये बड़ी तेजी से कारागार की ओर बढ़ा।

श्रेणिक ने समझा कि कूणिक उन्हें मार डालने के लिये कुल्हाड़ी लेकर आ रहा है। अपने पुत्र को पितृहत्या के घोर पापपूर्ण कलंक से बचाने के लिये महाराज श्रेणिक ने अपनी अंगूठी मे रखा कालकूट विष निगल लिया। कूणिक के वहाँ पहुँचने से पहले ही आशुविष के प्रभाव से श्रेणिक का प्राणान्त हो गया और पूर्वोपार्जित निकाचित कर्मबन्ध के कारण वे प्रथम नरक मे उत्पन्न हुए।

---

१ (क) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः, सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मं त्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे॥

[त्रिष श., १० प., ६ स०, ३७६ श्लोक]

(ख) एमाइ धम्मकहं, सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।
सम्मत्त पडिवन्ना, केइ पुण देस विरयाइ॥

[नेमिचन्द्रकृत महावीर चरियम् गा. १२६४]

२ तीर्थंकर महावीर दूसरा भाग।

जैनेतर विद्वानों ने भी श्रेणिक का जैन होना स्वीकार किया है। डॉ० वी ए. स्मिथ ने लिखा है—"वह अपने आप मे जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। जैन परम्परा उसे संप्रति के समान जैन धर्म का प्रभावक मानती है।

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बड़ी प्रभावना की थी। अव्रती होकर भी उन्होंने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित किया। प्रथम नारक भूमि से निकलकर वह पद्मनाभ नाम के अगली चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप से उत्पन्न होंगे। वहाँ भगवान् महावीर की तरह वे भी पंच-महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

राजा चेटक

श्रेणिक की तरह राजा चेटक भी जैन परम्परा में दृढ़धर्मी उपासक माने गये हैं, वह भगवान् महावीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि में इनको व्रतधारी[1] श्रावक बताया (माना) गया है। महाराजा चेटक की सात कन्याएँ थीं, वे उस समय के प्रख्यात राजाओं को ब्याही गई थीं। इनकी पुत्री प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, पद्मावती अंग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन को और चेलना मगधराज बिम्बसार को ब्याही गई थीं। इनमें से सुज्येष्ठा ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

चेटक वैशाली के गणतंत्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतन्त्र क ७७०७ सदस्य थे[2] जो राजा कहलाते थे। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे।[3] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार चेटक के दस पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।[4]

महाराज चेटक हैहयवंशी राजा थे। भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ-साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने अपने राज्य, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। अपनी शरण में आये हुए हल्ल एवं विहल्ल कुमार की उन्होंने न केवल रक्षा ही की अपितु

---

१ सो चेडओ सावओ। आ० चू०, पृ० २४५।

२ जातक अट्ठकथा।

३ तीर्थंकर महावीर भाग १।

४ भारतीय इतिहास—एक दृष्टि—पृ० ५६।

उनके न्यायपूर्ण पक्ष का बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया। अपनी शरणागतवत्सलता और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पाधिपति कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिए बड़ा भयंकर युद्ध करना पड़ा और अन्त में वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होंने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

कूणिक के साथ चेटक के युद्ध का और वैशाली के पतन आदि का विवरण आगे कूणिक के प्रसंग मे दिया जा रहा है।

यहां पर अब कुछ ऐतिहासिक तथ्य समक्ष आ रहे हैं जिनसे इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग नरेश चण्डराय, क्षेमराज (जिनके साथ भीषण युद्ध कर अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की) और महामेघवाहन-खारवेल आदि का महाराज चेटक के वंशधर होने का आभास मिलता है। इन तथ्यों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में यथासंभव विस्तृत विवेचन किया जायगा। आशा की जाती है कि उन तथ्यो से भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और एक लम्बी अवधि का भारत का धूमिल इतिहास सुस्पष्ट हो जायगा।

अजातशत्रु कूणिक

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में कूणिक का भी प्रमुख स्थान है। महाराज श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना माता थी। माता ने सिंह का स्वप्न देखा। गर्भकाल में उसको दोहद उत्पन्न हुआ कि श्रेणिक राजा के कलेजे का मांस खाऊं। बौद्ध परम्परानुसार बाहु का रक्तपान करना माना गया है। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। गर्भकाल में बालक की ऐसी दुर्भावना देखकर माता को दुःख हुआ। उसने गर्भस्थ बालक को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर बालक का कुछ नहीं बिगड़ा। जन्म के पश्चात् चेलना ने उसको कचरे की ढेरी पर डलवा दिया। एक मुर्गे ने वहां उसकी कनिष्ठा अंगुली काटली जिसके कारण अंगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक क्रंदन करने लगा। उसकी चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और पुत्र-मोह से व्याकुल हो उसे उठाकर फिर महल मे लाया गया। बालक की वेदना से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस-चूसकर अंगुली का मवाद निकाला और उसे स्वस्थ किया। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रक्खा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का वैर अभी उपशान्त नही हुआ था, अतः बड़े होकर कूणिक के मन में राज्य करने की इच्छा हुई। उसने अन्य दश भाइयों को साथ लेकर अपना राज्याभिषेक कराया और महाराज श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

एक दिन कूणिक माता के चरण-वंदन को गया तो माता ने उसका चरण-

वन्दन स्वीकार नही किया। कूणिक ने कारण पूछा तो बोली—"जो अपने उपकारी पिता को कारावास में बंद कर स्वयं राज्य करे ऐसे पुत्र का मुंह देखना भी पाप है।" उपकार की बात सुनकर कूणिक का पितृ-प्रेम जागृत हुआ और वह तत्काल हाथ में परशु लेकर पिता के बन्धन काटने कारागृह की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने परशु हाथ में लिये कूणिक को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से सोचा—"यह मुझे मारे इसकी अपेक्षा मैं स्वय अपना प्राणान्त करलूं तो यह मेरा पुत्र पितृहत्या के कलंक से बच जायगा।" यह सोचकर श्रेणिक ने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण त्याग दिये।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बडा अनुताप हुआ। वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा। क्षणभर बाद सचेत हुआ और आर्त स्वर मे रुदन करने लगा—"अहो ! मैं कितना अभागा एव अधन्य हू कि मेरे निमित्त से देवतुल्य पिता श्रेणिक कालगत हुए। शोकाकुल हो कूणिक ने राजगृह छोड़कर चम्पा मे मगध की राजधानी बसायी और वही रहने लगा।

कूणिक की रानियो मे पद्मावती,[1] धारिणी,[2] और सुभद्रा[3] प्रमुख थी। आवश्यक चूर्णि मे आठ राजकन्याओं से विवाह करने का भी उल्लेख है।[4] पर उनके नाम उपलब्ध नही होते। महारानी पद्मावती का पुत्र उदाई था[5] जो कूणिक के बाद मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र मे स्थापित की।[6]

चेलना के सग और सस्कारो ने कूणिक के मन मे भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भरदी थी।

आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि जैन ग्रन्थों मे महाराज कूणिक का एक दूसरा नाम अशोकचन्द्र भी उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर के प्रति उसके हृदय मे कितनी प्रगाढ़ भक्ति और अनुपम श्रद्धा थी, इसका अनुमान औपपातिक सूत्र के अधोलिखित पाठ से सहज ही में लगाया जा सकता है :—

तस्स ण कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवओ तद्देवसिअ पवित्तिं णिवेएइ, तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे

१ तस्सण कुणियस्स रण्णो पउमावई णाम देवी होत्था। [निरयावली, सूत्र ८]
२ उववाई सूत्र ७।
३ उववाई सूत्र २१।
४ कुणियस्स अट्ठहिं रायवर कन्नाहिं सम विवाहो कतो। [आव० चूर्णि उत्त० पत्र १६७]
५ आवश्यक चूर्णि, पत्र १७१।
६ आवश्यक चूर्णि, पत्र १७७।

पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेअरणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसिय पवित्ति णिवेदेंति।"

[औपपातिक सूत्र, सूत्र ८]

सूत्र के इस पाठ से स्पष्ट है कि कूरिणक ने भगवान् महावीर की दैनिक विहारचर्या आदि की सूचनाए प्रतिदिन प्राप्त करते रहने की दृष्टि से एक कुशल अधिकारी के अधीन अलग स्वतत्र रूप से एक विभाग ही खोल रखा था और इस पर वह पर्याप्त धनराशि व्यय करता था।

एक समय भगवान् महावीर का चम्पा नगरी के उपवन में शुभागमन हुआ। प्रवृत्ति-वार्ता निवेदक (संवाददाता) से जब भभसार (बिम्बसार) के पुत्र कूणिक ने यह शुभ समाचार सुना तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नयन-नीरज खिल उठे। प्रसन्नता की प्रभा से उसका मुखमंडल प्रदीप्त हो गया। वह शीघ्रता-पूर्वक राज्य सिंहासन से उठा। उसने पादुकाए खोली और खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् एवं चामर रूप सभी राज्यचिह्न उतार दिये। वह एक साटिक उत्तरासग किये अजलिबद्ध होकर भगवान् महावीर के पधारने की दिशा मे सात-आठ कदम आगे गया। उसने बाये पैर को संकुचित कर, दाये पैर को मोड़ कर धरती पर रखा। फिर थोड़ा ऊपर उठकर हाथ जोड़, अंजलि को मस्तक पर लगाकर "णमोत्थुणं" से अभिवादन करते हुए वह बोला—"तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर, जो सिद्ध गति के अभिलाषी और मेरे धर्माचार्य तथा उपदेशक है, उन्हें मेरा नमस्कार हो। मैं तत्र विराजित प्रभु को यही से वन्दन करता हूं और वे वही से मुझे देखते हैं।"[1]

इस प्रकार श्रद्धा सहित वन्दन कर राजा पुन. सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने संवाददाता को एक लाख आठ हजार रजत मुद्राओं का प्रीतिदान दिया और कहा—"जब भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारें तो मुझे पुनः सूचना देना।"

प्रात काल जब भगवान् नगरी मे पधारे और संवाददाता ने कूणिक को यह हर्षवर्द्धक समाचार सुनाया तो कूणिक ने हर्षातिरेक से तत्काल साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओ का प्रीतिदान किया।

तदनन्तर कूणिक ने अपने नगर मे घोषणा करवा कर नागरिकों को प्रभु के शुभागमन के सुसंवाद से अवगत कराया और अपने समस्त अन्तःपुर, परिजन, पुरजन, अधिकारी-वर्ग एव चतुरंगिणी सेना के साथ प्रभु-दर्शन के लिये प्रस्थान किया।

---

१ उववाई और महावस्तु।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूणिक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण मे पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ बड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।[1] भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूणिक आनन्दविभोर हो बोला—"भगवन् ! जो धर्म आपने कहा है, वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नही कह सकता।"

तत्पश्चात् कूणिक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही बड़ा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जेय शत्रुओ को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की, अत· वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास मे आज इसी नाम मे विख्यात है।

कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ बड़ा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयंकर नरसंहार मे मृतको की संख्या एक करोड, अस्सी लाख बतायी गयी है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ-मूसल सग्राम के रूप मे किया है। बौद्ध ग्रन्थो मे भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है, पर जैन आगम 'भगवती सूत्र' मे इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उपलब्ध होता है।

यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रेणिक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूणिक महाराज चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूणिक के युद्ध के कारण जैन साहित्य मे यह बताया गया है कि श्रेणिक द्वारा जो हाथी एव हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे, उनके कारण वे दोनो राजकुमार बड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे। हल्ल और विहल्ल कुमार अपनी रानियो के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ हो प्रतिदिन गगानदी के तट पर जलक्रीडा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार धारण किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ़ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनो कुमार कर रहे है।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूणिक की महारानी

---

१ उववाई सूत्र।

पद्मावती ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी हथियाने का कूणिक के सम्मुख हठ किया। प्रारम्भ में तो कूणिक ने यह कह कर टालना चाहा कि पिता द्वारा उन्हें प्रदत्त हार तथा हाथी उनसे लेना किसी तरह न्यायसंगत नहीं होगा पर अन्त में नारीहठ के समक्ष कूणिक को झुकना पड़ा।

कूणिक ने हल्ल और विहल्ल कुमार के सामने सेचनक हाथी और देवदिन्न हार उसे देने की बात रखी।

हल्ल और विहल्ल ने उत्तर में कहा कि पिताजी द्वारा दिये गये हार और हाथी पर उन दोनों भाइयों का वैधानिक अधिकार है। इस पर भी चम्पा-नरेश लेना चाहते हैं तो उनके बदले में आधा राज्य देदें।

कूणिक ने अपने भाइयों की न्यायोचित मांग को अस्वीकार कर दिया। इस पर हल्ल और विहल्ल बल-प्रयोग की आशंका से अपने परिवार सहित सेचनक पर सवार हो, हार लेकर वैशाली नगर में अपने नाना चेटक के पास चले गये।

हल्ल-विहल्ल के सपरिवार वैशाली चले जाने की सूचना पा कर कूणिक बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेज कर कहलवाया कि हार एवं हाथी के साथ हल्ल और विहल्ल कुमार को उसके पास भेज दिया जाय।

महाराज चेटक ने दूत के साथ कूणिक के पास सन्देश भेजा कि दोनों कुमार उनके शरणागत हैं। एक क्षत्रिय से कभी यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी शरण में आये हुए को अन्याय में पिसने के लिये असहाय के रूप में छोड़ दे। चम्पाधीश यदि हार और हाथी चाहते हैं तो उनके बदले में चम्पा का आधा राज्य दोनों कुमारों को दे दें।

महाराज चेटक के उत्तर से क्रुद्ध हो अपनी और अपने दस भाइयों की प्रबल सेनाओं के साथ कूणिक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराज चेटक भी अपनी, काशी तथा कोशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली गणराजाओं की विशाल वाहिनी के साथ रणांगण में आ डटे। अपने भाई काल कुमार को कूणिक ने सेनापतिपद पर अभिषिक्त किया। काल कुमार ने गरुड़व्यूह की रचना की और महाराज चेटक ने शकटव्यूह की। रणवाद्यों के तुमुलघोष से आकाश को आलोड़ित करती हुई दोनों सेनाएं आपस में भिड़ गईं। दोनों ओर के अगणित योद्धा रणक्षेत्र में जूझते हुए धराशायी हो गये, पर दोनों सेनाओं की व्यूह रचना अभेद्य बनी रही।

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कालकुमार की ओर बढाने का आदेश दिया। दोनों योद्धाओ की आयु मे आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनो ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा—"देवार्य! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर मे चेटक ने कहा—"वत्स! पहले तुम्हे ही प्रहार करना पड़ेगा क्योकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोड़ा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्ध चन्द्राकार फल वाले बाण से काल-कुमार के तीर को अन्तराल मार्ग (बीच राह) मे ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा—"कुमार! अब इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राणों का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुँह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर बनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र-शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनो ओर की सेनाए श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशका से कूणिक के सैनिको के हृदय धड़कने लगे। क्योकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन मे केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह शरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस शर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिये सो गये।

कूरिणक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूरिणक की सेनाएँ शोक-सागर में डूबी हुई और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ९ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूरिणक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ९ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ९ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूरिणक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूरिणक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूरिणक ने आशान्वित हो कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णत विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा—"प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूरिणक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूरिणक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूरिणक के पूर्वभवीय तापस-का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूरिणक को [illegible] 'कंटक' [illegible] भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक [illegible] युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं [illegible] ने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिवली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कालकुमार की ओर बढाने का आदेश दिया। दोनो योद्धाओ की आयु मे आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनो ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा—"देवार्य ! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर मे चेटक ने कहा—"वत्स ! पहले तुम्हे ही प्रहार करना पड़ेगा क्योंकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोडा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्धचन्द्राकार फल वाले बाण से काल-कुमार के तीर को अन्तराल मार्ग (बीच राह) मे ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा—"कुमार ! अब इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राणो का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुँह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर बनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र-शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थी। अनिष्ट की आशका से कूणिक के सैनिकों के हृदय धड़कने लगे। क्योंकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन मे केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह शरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बनाकर अपने अमोघ शर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस शर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अपने हाथी के होदे पर सदा के लिये सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएँ शोक-सागर मे डूबी हुई और वैशाली की सेनाये हर्ष सागर में हिलोरे लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ९ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र मे जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ९ ही भाई प्रतिदिन एक एक शर के प्रहार से ९ दिनों मे यमधाम पहुँचा दिये गए।

इन दिनों मे ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दस भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैवीशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोषित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्वजन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनो इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णत: विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल चलवाऊँगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दस भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा—"प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव मे कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कंटक' नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयंकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंको से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

महाशिला-कंटक युद्ध

चमरेन्द्र के निर्देशानुसार कूणिक महाशिलाकंटक नामक महान् सहारक अस्त्र (प्रक्षेपणास्त्र) को लेकर उद्वेलित सागर की तरह भीषण, विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ रणांगण मे उतरा। काशी कोशल के ६ मल्ली और ६ लिच्छवी, इन १८ गणराज्यो की और अपनी दुर्दान्त सेना के साथ महाराज चेटक भी रणक्षेत्र मे कूणिक की सेना से लोहा लेने आ डटे। दोनो सेनाओ मे बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ। कूणिक की सहायता के लिए शक्र और चमरेन्द्र भी उनके साथ युद्धस्थल में उपस्थित थे। देखते ही देखते युद्धभूमि दोनों पक्षो के योद्धाओं के रुण्ड मुण्डो से आच्छादित हो गयी। चेटक और १८ गणराज्यों की सेनाओ ने बडी वीरता के साथ डट कर कूणिक की सेना के साथ युद्ध किया।

चेटक ने अपने हाथी को आगे बढाया, अपने धनुष पर शरसन्धान कर प्रत्यंचा को अपने कान तक खीचा और कूणिक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। पर इस बार वह तीर शक्र द्वारा प्रदत्त कूणिक के वज्र कवच से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अपने अमोघ बाण को मोघ हुआ देख कर भी सत्यसन्ध चेटक ने उस दिन दूसरा बाण नही चलाया।

कूणिक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित 'महाशिला कटक' अस्त्र का प्रयोग किया। इस यत्र के माध्यम से जो तृण, काष्ठ, पत्र, लोष्ठ अथवा बालुका-कण वैशाली की सेना पर फेंके जाते उनके प्रहार विस्तीर्ण शिलाओं के प्रहारों से भी अति भयंकर होते। कुछ ही समय मे वैशाली के लाखो योद्धा धराशायी हो गये चेटक की सेना मे इन शिलोपम प्रहारो से भगदड मच गई। अठारहों मल्ली और लिच्छवी गणराजाओ की सेनाए इस प्रलय से बचने के लिये रणक्षेत्र मे पीठ दिखा कर भाग गई।

इस एक दिन के महाशिलाकंटक सग्राम मे ८४ लाख योद्धा मारे गये। 'महाशिलाकटक' नामक नरसहारक युद्धोपकरण का प्रयोग किये जाने के कारण इस दिन का युद्ध 'महाशिलाकंटक सग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन कूणिक 'रथमूसल' नामक प्रलयकर स्वचालित यंत्र लेकर अपनी सेनाओं के साथ रणक्षेत्र मे पहुंचा।

महाराज चेटक और उनके सहायक १८ गणराज्यो की सेनाओं ने बड़ी देर तक कूणिक की सेनाओं के साथ प्राणपण से युद्ध किया। चेटक ने आगे बढ़ कर कूणिक पर एक बाण का प्रहार किया, पर चमरेन्द्र के आयस पट्ट से टकरा

कर वह टूक-टूक हो गया। दृढ-प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा बाण नहीं चलाया।

जिस समय युद्ध उग्र रूप धारण कर रहा था उस समय कूणिक ने वैशाली की सेनाओं पर 'रथमूसल' अस्त्र का प्रयोग किया। प्रलय के दूत के समान दैत्याकार लोहसार का बना स्वचालित रथमूसल यन्त्र बिना किसी वाहन, वाहक और आरोही के, अपनी प्रलयकालीन घनघोर मेघ घटाओं के समान घर्राहट से धरती को कँपाता हुआ विद्युत्वेग से वैशाली की सेनाओं पर झपटा। उसमे लगे यमदण्ड के समान मूसल स्वतः ही अनवरत प्रहार करने लगे। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि वह एक क्षण मे चारों ओर सब जगह शत्रुओ का संहार करता हुआ दिखाई दे रहा था।

तपस्वी १२ व्रतधारी श्रावक योद्धा नाग का पौत्र वरुण षष्टभक्त का पारण किये बिना ही अष्टम भक्त तप कर चेटक आदि के अनुरोध पर रथमूसल अस्त्र को विनष्ट करने की इच्छा लिये सग्राम मे आगे बढ़ा। कूणिक के सेना-पति ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वरुण ने कहा कि वह श्रावक होने के कारण किसी पर पहले प्रहार नही करता। इस पर कूणिक की सेना के सेनापति ने वरुण के मर्मस्थल पर तीर का तीक्ष्ण प्रहार किया। मर्माहत होते हुए भी वरुण ने एक ही शरप्रहार से उस सेनापति को मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु सन्निकट जान कर वह युद्धभूमि से दूर चला गया और आलोचना-अनशनादिपूर्वक प्राण त्याग कर प्रथम स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ।

उधर तीव्रगति से चारो ओर घूमते हुए रथमूसल यंत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। युद्ध के मैदान में चारो ओर रुधिर और मांस का कीचड़ ही कीचड़ दृष्टिगोचर हो रहा था।

रथमूसल अस्त्र द्वारा किये गये प्रलयोपम भीषण नरसंहार व रुधिर, मांस और मज्जा के कर्दम के वीभत्स एवं हृदयद्रावक दृश्य को देखकर मल्लियों और लिच्छवियों के १८ गणराज्यो की सेनाओं के अवशिष्ट सैनिक भयभीत हो प्राण बचाकर अपने २ नगरों की ओर भाग गये।

इस एक दिन के रथमूसल संग्राम में ९६ लाख सैनिकों का संहार हुआ। इस दिन के युद्ध में 'रथमूसल' अस्त्र का उपयोग किया गया, इसलिये इस दिन का युद्ध 'रथमूसल संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

सब सैनिको के मैदान छोड़कर भाग खड़े होने पर और कोई उपाय न देख महाराज चेटक ने भी बचे खुचे अपने योद्धाओ के साथ वैशाली मे प्रवेश किया और नगर के सब द्वार बन्द कर दिये।

कूणिक ने अपनी सेनाओ के साथ वैशाली के चारों ओर घेरा डाल दिया। जैन आगम और आगमेतर साहित्य से ऐसा आभास होता है कि कूणिक ने काफी लम्बे समय तक वैशाली को घेरे रखा। रात्रि के समय मे हल्ल और विहल्ल कुमार अपने अलौकिक सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो नगर के बाहर निकल कर कूणिक की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों की वर्षा करते और कूणिक के सैनिको का सहार करते। उस दिव्य हस्तिरत्न पर आरूढ हल्ल विहल्ल का कूणिक के सैनिक बाल तक बाँका नही कर सके।

वैशाली के अभेद्य प्राकार को तोड़ने हेतु कूणिक ने अनेक प्रकार के उपाय और प्रयास किये, पर उसे किंचित् मात्र भी सफलता नही मिली। उधर प्रत्येक रात्रि को सेचनक हाथी पर सवार हो हल्ल विहल्ल द्वारा कूणिक की सेना के संहार करने का क्रम चलता रहा जिसके कारण कूणिक की सेना की बडी भारी क्षति हुई। कूणिक दिन प्रतिदिन हताश और चिन्तित रहने लगा।

अन्ततोगत्वा किसी अदृष्ट शक्ति से कूणिक को वैशाली के भंग करने का उपाय विदित हुआ कि चम्पा की मागधिका नाम की वारागना यदि कूलवालक नामक तपस्वी श्रमण को अपने प्रेमपाश मे फँसा कर ले आये तो वह कूलवालक श्रमण वैशाली का भग करवा सकता है। कूणिक ने अनेक प्रलोभन देकर इस कार्य के लिए मागधिका को तैयार किया। चतुर गणिका मागधिका ने परम श्रद्धालु श्राविका का छद्म-वेश बना कर कूलवालक श्रमण को अपने प्रेमपाश में बाँध लिया और श्रमण धर्म से भ्रष्ट कर उसे मगधेश्वर कूणिक के पास प्रस्तुत किया। कूणिक अपनी चिर-अभिलषित आशालता को फलवती होते देख बड़ा प्रसन्न हुआ और कूलवालक के वैशाली में प्रविष्ट होने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी बीच हल्ल विहल्ल द्वारा प्रतिरात्रि की जा रही अपनी सैन्यशक्ति की क्षति के सम्बन्ध मे कूणिक ने अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा की। मत्रणा के निष्कर्ष स्वरूप सेचनक के आगमन की राह मे एक खाई खोदकर खैर के आज्ज्वल्यमान अंगारो से उसे भर दिया और उसे लचीली धातु के पत्रो से आच्छादित कर दिया।

रात्रि के समय शस्त्रास्त्रो से सन्नद्ध हो हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ हो वैशाली से बाहर आने लगे तो सेचनक अपने विभंग-ज्ञान से उस खाई को अगारों से भरी जान कर वहीं रुक गया। इस पर हल्ल विहल्ल ने कुपित हो सेचनक पर वाग्बाणों की बौछार करते हुए कहा—"कायर! तू युद्ध से कतरा कर अड गया है। तेरे लिये हमने अपने नगर एवं परिजन को छोड़ा, देवोपम पूज्य नानाजी को घोर सकट मे ढकेला, पर आज तू युद्ध से डर कर

स्वामिभक्ति से मुंह मोड़ रहा है, तुझ से तो एक कुत्ता ही अच्छा जो मरते दम तक भी स्वामिभक्ति से विमुख नही होता।"

अपने स्वामी के असह्य वाग्बाणों से सेचनक तिलमिला उठा। मूक पशु बोलता तो क्या उसने अपनी पीठ पर से दोनों कुमारों को उतारा और तत्काल प्रच्छन्न आग में कूद पडा। हल्ल और विहल्ल के देखते ही देखते वह धधकती हुई आग मे जलकर राख हो गया। हल्ल और विहल्ल को यह देख कर बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्हे अपने जीवन से घृणा हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि यदि भगवान् महावीर के चरणों को शरण मे नही पहुँच सके तो वे दोनों अपने जीवन का अन्त कर लेंगे।

जिनशासन-रक्षिका देवी ने उन्हे अन्तर्मन से दीक्षित समझ कर तत्काल प्रभु की चरण-शरण मे पहुँचा दिया। हल्ल और विहल्ल कुमार ने प्रभु महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उधर कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में बड़ी सरलता से वैशाली में प्रवेश पा लिया।

संभव है, उसने वैशाली भंग के लिये नगरी में घूम कर श्रद्धालु नागरिक-जनो मे भेद डालने और कूणिक को आक्रमण के लिए सुविधा प्रदान करने की भूमिका का निर्माण किया हो। बौद्ध साहित्य मे वस्सकार द्वारा वैशाली के सुसगठित नागरिको में फूट डालने के उल्लेख की भी पुष्टि होती है।

पर आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णिकार ने वैशाली भंग मे कूलवालक द्वारा स्तूप के पतन को कारण माना है, जो इस प्रकार है :—

"कूलवालक ने वैशाली मे घूम कर पता लगा लिया कि भगवान् मुनि-सुव्रत के एक भव्य स्तूप के कारण वैशाली का प्राकार अभेद्य बना हुआ है।

दुश्मन के घेरे से ऊबे हुए नागरिकों ने कूलवालक को नैमित्तिक समझकर बड़ी उत्सुकता से पूछा—"विद्वन् ! शत्रु का यह घेरा कब तक हटेगा ?"

कूलवालक ने उपयुक्त अवसर देख कर कहा—"यह स्तूप बडे अशुभ मुहूर्त मे बना है। इसी के कारण नगर के चारो ओर घेरा पड़ा हुआ है। यदि इसे तोड़ दिया जाय तो शत्रु का घेरा हट जायगा।

कुछ लोगो ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। कूलवालक ने कूणिक को सकेत से सूचित किया। कूणिक ने अपने सैनिकों को घेरा-समाप्ति का आदेश दिया। स्तूप के ईषत् भंग का तत्काल चमत्कार देखकर नागरिक बड़ी संख्या में

स्तूप का नामोनिशां तक मिटा देने के लिये टूट पड़े। कुछ ही क्षणों मे स्तूप का चिह्न तक नही रहा।

कूलवालक से इष्टसिद्धि का संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया। उसे इस बार वैशाली का प्राकार भंग करने में सफलता प्राप्त हो गई।

कूणिक ने अपनी सेना के साथ वैशाली में प्रवेश किया और बड़ी निर्दयतापूर्वक वैशाली के वैभवशाली भवनों की ईंट से ईंट वजा दी।

वैशाली भंग का समाचार सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राण-त्याग किया और वे देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुए।

उधर कूणिक ने वैशाली नगर की उजाड़ी गई भूमि पर गधो से हल फिरवाये और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सेना के साथ चम्पा की ओर लौट गया।

परम प्रामाणिक माने जाने वाले 'भगवती-सूत्र' और 'निरयावलिका' में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से यह सिद्ध होता है कि वैशाली के उस युद्ध में आज के वैज्ञानिक युग के प्रक्षेपणास्त्रो और टैंकों से भी अति भीषण सहारकारक 'महाशिलाकंटक' और 'रथमूसल' अस्त्रो का उपयोग किया गया। इनके सम्बन्ध में भगवती सूत्र के दो मूल पाठकों के विचारार्थ यहाँ दिये जा रहे हैं। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :—

"से केणट्ठेणं भते ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे ?"

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा प्रश्न करने पर फरमाया—"गोयमा ! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा तणेणवा, पत्तेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अभिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए मह अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई महासिलाकटए संगामे।"— [भगवती, श० ७, उ० ६]

इस एक दिन के महाशिलाकंटक युद्ध मे मृतकों की संख्या के सम्बन्ध मे गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया—"गोयमा ! चउरासीइं जणसयसाहस्सियाओ वहियाओ।"

इसी प्रकार गौतम गणधर ने रथमूसल संग्राम के सम्बन्ध में प्रश्न किये—
"से केणट्ठेणं भते ! एवं वुच्चइ रहमुसले सगामे ?"

उत्तर में भगवान् महावीर ने फरमाया—"गोयमा ! रहमुसलेणं संगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए असारहिए, अणारोहए, समुसले, महयामहया

जणक्खयं, जणवहं, जणप्पमद्दं, जणसंवट्टकप्पं रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वओ समता परिधावित्था, से तेणट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे।"

गौतम द्वारा 'रसमूसल संग्राम' में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु महावीर ने कहा—"गोयमा ! छण्णउई जणसयसाहस्सीओ वहियाओ।"

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रलय के समान शक्ति रखने वाले वे दोनों अस्त्र कितने भयंकर होंगे।

उन दो महान् शक्तिशाली युद्धास्त्रों को पाकर कूणिक अपने आपको विश्व-विजयी एवं अजेय समझने लगा, तथा संभव है, इसी कारण उसके हृदय में अधिक महत्वाकांक्षाएं जगी और उसके सिर पर चक्रवर्ती बनने की धुन सवार हुई।

उन दिनों भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान थे। कूणिक भगवान् महावीर की सेवा मे पहुचा। सविधि वन्दन के पश्चात् उसने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! क्या मैं भरत-क्षेत्र के छः खण्डो को जीतकर चक्रवर्ती बन सकता हूं ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"नही कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नहीं बन सकते। प्रत्येक उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल में बारह-बारह चक्रवर्ती होते हैं। तदनुसार-प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं, अतः तुम चक्रवर्ती नही हो सकते।

कूणिक ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन् ! चक्रवर्ती की पहचान क्या है ?"

भगवान् महावीर ने कहा—"कूणिक ! चक्रवर्ती के यहां चक्रादि चौदह रत्न होते हैं।"

कूणिक ने भगवान् महावीर से चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और प्रभु को वन्दन कर वह अपने राजप्रासाद में लौट आया।

कूणिक भली भांति जानता था कि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी हैं, किन्तु वह वैशाली के युद्ध में महाशिलाकंटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र का अत्यद्भुत चमत्कार देख चुका था, अतः उसके हृदय में यह भ्रम् घर कर गया कि उन दो कल्पान्तकारी यन्त्रों के रहते संसार की कोई भी शक्ति उसे चक्रवर्ती बनने से नही रोक सकती। उसने उस समय के श्रेष्ठतम शिल्पियों से चक्रवर्ती के चक्रादि कृत्रिम रत्न बनवाये और अष्टम भक्त कर षट्खण्ड-विजय के लिये उन अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों एवं प्रबल सेना के साथ निकल पड़ा।

महाशिलाकण्टक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय दिग्दिगन्त मे कूणिक की धाक जम चुकी थी, अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष और अड़ोस-पड़ोस की कोई राज्यशक्ति कूणिक के समक्ष प्रतिरोध करने का साहस नही कर सकी। कूणिक अनेक देशो को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्र गुफा के द्वार पर दण्ड-प्रहार किया।

तिमिस्र गुफा के द्वाररक्षक देव ने अदृश्य रहते हुए पूछा—"द्वार पर कौन है ?"

कूणिक ने उत्तर दिया—"चक्रवर्ती अशोकचन्द्र ?"

देव ने कहा—"चक्रवर्ती तो बारह ही होते है और वे हो चुके हैं।

कूणिक ने कहा—"मैं तेरहवां चक्रवर्ती हूं।"

इस पर द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुकार की और कूणिक तत्क्षण वही भस्मसात् हो गया। मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का परमभक्त होते हुए भी कूणिक स्वार्थ और तीव्र लोभ के उदय से मार्गच्युत हो गया और तीव्र आसक्ति के कारण वह दुर्गति का अधिकारी बना। कूणिक की सेना कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देखकर भयभीत हो चम्पा की ओर लौट गई।

वस्तुतः कूणिक जीवन भर भगवान् महावीर का ही परमभक्त रहा। कूणिक के महावीर-भक्त होने मे ऐतिहासिको के विचार इस प्रकार हैं :—

डॉ० स्मिथ कहते हैं—"बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है, जैनों का दावा अधिक आधारयुक्त है।"

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार—"महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।" उन्होंने यह भी लिखा है—"जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाइभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं, क्योंकि दोनो जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थो में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कूणिक-अजातशत्रु जीवन भर भगवान् महावीर का परमभक्त रहा।

---

१ कूणिक का वास्तविक नाम अशोकचन्द्र था। अंगुली के व्रण के कारण सब उसे कूणिक कहते थे। [आव० चूरिण]

महाराजा उदायन

भगवान् महावीर के उपासक, परमभक्त अनेकानेक शक्तिशाली छत्रपतियों की गणना में श्रेणिक, कूणिक और चेटक की तरह महाराजा उदायन भी अग्रगण्य नरेश माने गये हैं।

महाराजा उदायन सिन्धु-सौवीर राज्य के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय नरेश थे। आपके राज्य में सोलह बड़े-बड़े जनपद एवं ३६३ सुन्दर नगर और इतनी ही बड़ी-बड़ी खदानें थीं। दस छत्र-मुकुटधारी महीपाल और अनेक छोटे-मोटे अवनीपति एवं सार्थवाह आदि महाराज उदायन की सेवा में निरन्तर निरत रहते थे। सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी वीतिभय नगर था, जो उस समय के नगरों में बड़ा विशाल, सुन्दर और सब प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न था। महाराज उदायन की महारानी का नाम प्रभावती और पुत्र का नाम अभीच कुमार था। केशी कुमार नामक इनका भानजा भी उनके पास ही रहता था। उदायन का उस पर बड़ा स्नेह था।[1]

महाराजा उदायन एक महान् शक्तिशाली राज्य के एकछत्र अधिपति होते हुए भी बड़े धर्मानुरागी और भगवद्भक्त थे। वे भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके न्याय-नीतिपूर्ण शासन में प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। महाराज उदायन की भगवान् महावीर के वचनों पर बड़ी श्रद्धा थी।

एक समय महाराजा उदायन अपनी पौषधशाला में पौषध किये हुए जब रात्रि के समय धर्मचिंतन कर रहे थे उस समय उनके मन में भगवान् महावीर के प्रति उत्कृष्ट भक्ति के उद्रेक से इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई—"धन्य है वह नगर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं। महाभाग्य है उन नरेशों और भव्य नागरिकों का जो भगवान् के दर्शनों से अपना जीवन सफल करते और उनके पतितपावन चरणारविन्दों में सविधि वन्दन करते हैं, उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करके कृतकृत्य हो रहे हैं तथा भगवान् की भवभयहारिणी सकल कल्मष विनाशिनी अमृतमयी अमोघ वाणी सुनकर भवसागर से पार हो रहे हैं। मेरे लिए वह सुनहरा दिन कब उदित होगा जब मैं अपने इन नेत्रों से जगद्गुरु श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करूंगा, उन्हें सविधि वन्दन करूंगा, पर्युपासना-सेवा करूंगा और उनकी पीयूषवर्षिणी वाणी सुनकर अपने कर्णरन्ध्रों को पवित्र करूंगा।

महाराज उदायन की इस प्रकार की उत्कृष्ट अभिलाषा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु से कैसे छिपी रह सकती थी? प्रभु दूसरे ही दिन चम्पा नगरी के पूर्ण-

---

१ भगवती शतक, श० १२, उ० २।

भद्र उद्यान से विहार कर क्रमशः वीतभया नगरी के मृगवन नामक उद्यान में पधार गये। सत्य ही है—उत्कृष्ट अभिलाषा सद्यः फलप्रदायिनी होती है।

भगवान् के शुभागमन का सुसंवाद सुनकर उदायन के आनन्द का पारावार नही रहा। इच्छा करते ही जिस व्यक्ति के सम्मुख स्वयं कल्पतरु उपस्थित हो जाय उसके आनन्द का कोई क्या अनुमान कर सकता है? उदायन ने प्रभु के आगमन का सवाद सुनते ही सहसा सिंहासन से समुत्थित हो सात आठ डग उस दिशा की ओर बढ़कर, जिस दिशा मे त्रिलोकीनाथ प्रभु विराजमान थे, प्रभु को तीन बार भावविभोर हो सविधि वन्दन किया और तत्क्षण सकल परिजन, पुरजन तथा अधिकारीगण सहित वह प्रभु की सेवा मे मृगवन उद्यान में पहुँचा। यथाभिलषित सविधि वन्दना, पर्युपासना के पश्चात् उसने प्रभु का हृदयहारी, पुनीत प्रवचन सुना।

भगवान् महावीर ने ससार की क्षणभंगुरता एवं असारता, वैराग्य की अभयता-महत्ता तथा मोक्ष-साधन की परम उपादेयता का चित्रण करते हुए ज्ञानादि की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की कि सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये। महाराजा उदायन पर भगवान् के वीतरागतामय उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह ससार के भोगोपभोगो को विषतुल्य हेय समझकर अक्षय शिव-सुख की कामना करता हुआ भगवान् से निवेदन करने लगा—"भगवन्! मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये हैं, मुझे यह ससार दावानल के समान दिख रहा है। प्रभो! मैं अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्य सौंपकर श्रीचरणो मे दीक्षित होना चाहता हूँ। प्रभो! आप मुझे अपने पावन चरणो मे स्थान दीजिये।

प्रभु ने फरमाया—"जिस कार्य से सुख प्राप्त हो, उस कल्याणकारी कार्य में प्रमाद मत करो।"

महाराजा उदायन परम सतोष का अनुभव करते हुए प्रभु को वन्दन कर नगर की ओर लौटे। मार्ग मे उनके मन मे विचार आया—"जिस राज्य को महा दुखानुबन्ध का कारण समझ कर मैं छोड़ रहा हूँ उस राज्य का अधिकारी अगर मैंने अपने पुत्र अभीचिकुमार को बना दिया तो वह अधिक मोही होने से राज्य-भोगो मे अनुरक्त एव गृद्ध होकर न मालूम कितने अपरिमित समय तक भवभ्रमण करता हुआ जन्म-मरण के असह्य दुखो का भागी बन जायगा। अतः उसका कल्याण इसी मे है कि उसे राज्य न देकर मेरे भानजे केशिकुमार को राज्य दे दूं। तदनुसार राजप्रासाद में आकर महाराज उदायन ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओ और सामन्तो को अपना निश्चय सुनाया और अपने भानजे केशिकुमार को अपने विशाल राज्य का अधिकारी बनाकर स्वय भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये।

पिता द्वारा अपने जन्मसिद्ध पैतृक अधिकार से वंचित किये जाने के

कारण अभीचिकुमार के हृदय पर बड़ा गहरा आघात पहुँचा फिर भी कुलीन होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरश: पालन किया। वह किसी प्रकार के संघर्ष मे नही उलझा और अपनी चल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कूणिक के पास चम्पा नगरी में जा बसा। सम्राट् कूणिक ने उसे अपने यहां ससम्मान रखा। अभीचिकुमार के मन में पिता द्वारा अपने अधिकार से वंचित रखे जाने की कसक जीवन भर कांटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा, पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नही किया और इस वैर को अन्तर्मन में रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की संलेषना से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना बिना किये असुरकुमार देव हो गया। असुरकुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अंगो का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनो को काटने मे तत्परता से संलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यों के अनुरोध से औषधि-रूप में दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुंचे। मंत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहों से पराजित हो राजर्षि उदायन पुन: राज्य लेने के लिये यहां आ गये हैं। केशी ने कहा—"कोई बात नही, यह राज्य उन्ही का दिया हुआ है, यदि वे चाहेंगे तो मैं समस्त राज्य उन्हें लौटा दूंगा।" दुष्ट मन्त्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशीकुमार से कहा—"राजन्! यह राजधर्म नहीं है, हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नही रहता। अत: येन केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने में ही अपना कल्याण है।"

मंत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यंत्र रचा गया। एक ग्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार बहराया गया, पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनो ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नही खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी मे मुनि को विषमिश्रित दही गूजरी द्वारा बहरा ही दिया गया। दही के अभाव मे मुनि के शरीर मे असमाधि रहने लगी थी, अत: उन्होने दही ले लिया। दही खाने के थोड़ी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सँभल गये और उन्होने समभाव से संथारा-

भद्र उद्यान से विहार कर क्रमशः वीतभया नगरी के मृगवन नामक उद्यान में पधार गये । सत्य ही है—उत्कृष्ट अभिलाषा सद्यः फलप्रदायिनी होती है ।

भगवान् के शुभागमन का सुसंवाद सुनकर उदायन के आनन्द का पारावार नहीं रहा। इच्छा करते ही जिस व्यक्ति के सम्मुख स्वयं कल्पतरु उपस्थित हो जाय उसके आनन्द का कोई क्या अनुमान कर सकता है ? उदायन ने प्रभु के आगमन का संवाद सुनते ही सहसा सिंहासन से समुत्थित हो सात आठ डग उस दिशा की ओर बढ़कर, जिस दिशा मे त्रिलोकीनाथ प्रभु विराजमान थे, प्रभु को तीन वार भावविभोर हो सविधि वन्दन किया और तत्क्षण सकल परिजन, पुरजन तथा अधिकारीगण सहित वह प्रभु की सेवा मे मृगवन उद्यान में पहुँचा। यथाभिलषित सविधि वन्दना, पर्युपासना के पश्चात् उसने प्रभु का हृदयहारी, पुनीत प्रवचन सुना ।

भगवान् महावीर ने ससार की क्षणभंगुरता एवं असारता, वैराग्य की अभयता-महत्ता तथा मोक्ष-साधन की परम उपादेयता का चित्रण करते हुए ज्ञानादि की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की कि सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये। महाराजा उदायन पर भगवान् के वीतरागतामय उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह संसार के भोगोपभोगो को विषतुल्य हेय समझकर अक्षय शिव-सुख की कामना करता हुआ भगवान् से निवेदन करने लगा—"भगवन् ! मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये हैं, मुझे यह ससार दावानल के समान दिख रहा है । प्रभो ! मैं अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्य सौंपकर श्रीचरणो मे दीक्षित होना चाहता हूँ । प्रभो ! आप मुझे अपने पावन चरणो मे स्थान दीजिये ।

प्रभु ने फरमाया—"जिस कार्य से सुख प्राप्त हो, उस कल्याणकारी कार्य में प्रमाद मत करो ।"

महाराजा उदायन परम सतोष का अनुभव करते हुए प्रभु को वन्दन कर नगर की ओर लौटे । मार्ग मे उनके मन में विचार आया—"जिस राज्य को महा दुखानुबन्ध का कारण समझ कर मैं छोड़ रहा हूँ उस राज्य का अधिकारी अगर मैंने अपने पुत्र अभीचिकुमार को बना दिया तो वह अधिक मोही होने से राज्य-भोगो मे अनुरक्त एव गृद्ध होकर न मालूम कितने अपरिमित समय तक भवभ्रमण करता हुआ जन्म-मरण के असह्य दु खो का भागी बन जायगा । अतः उसका कल्याण इसी मे है कि उसे राज्य न देकर मेरे भानजे केशिकुमार को राज्य दे दूं । तदनुसार राजप्रासाद मे आकर महाराज उदायन ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओ और सामन्तो को अपना निश्चय सुनाया और अपने भानजे केशिकुमार को अपने विशाल राज्य का अधिकारी बनाकर स्वयं भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये ।

पिता द्वारा अपने जन्मसिद्ध पैतृक अधिकार से वंचित किये जाने के

कारण अभीचिकुमार के हृदय पर बडा गहरा आघात पहुँचा फिर भी कुलीन होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरश पालन किया। वह किसी प्रकार के संघर्ष मे नही उलझा और अपनी चल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कूणिक के पास चम्पा नगरी मे जा बसा। सम्राट् कूणिक ने उसे अपने यहा ससम्मान रखा। अभीचिकुमार के मन मे पिता द्वारा अपने अधिकार से वञ्चित रखे जाने की कसक जीवन भर काटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा, पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नहीं किया और इस वैर को अन्तर्मन मे रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की सलेषना से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना बिना किये असुरकुमार देव हो गया। असुरकुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र मे मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अगो का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनों को काटने मे तत्परता से संलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर मे भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यों के अनुरोध से औषधि-रूप मे दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुचे। मत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहों से पराजित हो राजर्षि उदायन पुन: राज्य लेने के लिये यहाँ आ गये हैं। केशी ने कहा—"कोई बात नही, यह राज्य उन्ही का दिया हुआ है, यदि वे चाहेंगे तो मैं समस्त राज्य उन्हें लौटा दू गा।" दुष्ट मन्त्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशीकुमार से कहा—"राजन्! यह राजधर्म नही है, हाथ में आई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नही रहता। अत: येन केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने मे ही अपना कल्याण है।"

मंत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यंत्र रचा गया। एक ग्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार बहराया गया, पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनो ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नही खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी मे मुनि को विषमिश्रित दही गुजरी द्वारा बहरा ही दिया गया। दही के अभाव में मुनि के शरीर मे असमाधि रहने लगी थी, अत: उन्होंने दही ले लिया। दही खाने के थोड़ी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सँभल गये और उन्होंने समभाव से संथारा-

आमरण अनशन धारण कर शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान प्राप्त किया और अर्ध मास की सलेखना से ध्रुव, अक्षय, अव्याबाध शाश्वत निर्वाण प्राप्त किया।

यही राजर्षि उदायन भगवान् महावीर द्वारा अन्तिम मोक्षगामी राजा बताये गये हैं। धन्य है उनकी परम निष्ठा, अविचल श्रद्धा व समता को!

भगवान् महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

पोत्तनपुर नगर की बात है, एक बार भगवान् महावीर वहाँ के मनोरम नामक उद्यानस्थ समवशरण में विराजमान थे। पोत्तनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु को वन्दन करने आये और उनका वीतरागपूर्ण उपदेश सुनकर सांसारिक भोगो से विरक्त हो दीक्षित हुए तथा स्थविरो के पास विनयपूर्वक ज्ञानाराधन करते हुए सूत्रार्थ के पाठी हो गये।

कुछ काल के बाद पोत्तनपुर से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। मुनि प्रसन्नचन्द्र, जो विहार मे भगवान् के साथ थे, राजगृह मे भगवान् से कुछ दूर जाकर एकान्त मार्ग पर ध्यानावस्थित हो गये। सयोगवश भगवान् को वन्दन करने के लिये राजा श्रेणिक अपने परिवार व सैन्य सहित उसी मार्ग से गुजरे। उन्होने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मार्ग पर एक पैर से ध्यान मे खडे देखा। भक्ति से उन्हे प्रणाम कर वे महावीर प्रभु के पास आये और सविनय वंदन कर बोले—"भगवन्! नगरी के बाहर जो राजर्षि उग्र तप के साथ ध्यान कर रहे हैं, वे यदि इस समय काल धर्म को प्राप्त करे तो कौनसी गति मे जायें?"

प्रभु ने कहा—"राजन्! वे सप्तम नरक मे जायें।"

प्रभु की वाणी सुनकर श्रेणिक को बडा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—क्या ऐसा उग्र तपस्वी भी नरक मे जाये, यह सभव हो सकता है? उन्होने क्षणभर के बाद पुनः जिज्ञासा करते हुए पूछा—"भगवन्! वे यदि अभी कालधर्म को प्राप्त करें, तो कहा जायेंगे?"

भगवान् महावीर ने कहा—"सर्वार्थसिद्ध विमान मे।"

इस उत्तर को सुनकर श्रेणिक और भी अधिक विस्मित हुए और पूछने लगे—"भगवन्! दोनों समय की बात में इतना अन्तर क्यो? पहले आपने सप्तम नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्ध विमान फरमा रहे हैं? इस अन्तर का कारण क्या है?"

भगवान् महावीर बोले—"राजन्! प्रथम बार जब तुमने प्रश्न किया था, उस समय ध्यानस्थ मुनि अपने प्रतिपक्षी सामन्तो से मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद के प्रश्नकाल में वे ही अपनी भूल के लिये आलोचना कर उच्च विचारो

की श्रेणी पर आरूढ हो गये थे। इसलिये दोनों प्रश्नो के उत्तर मे इतना अन्तर दिखाई दे रहा है।"

श्रेणिक ने उनकी भूल का कारण जानना चाहा तो प्रभु ने कहा—"राजन्! वन्दन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियों ने राजर्षि को ध्यानमग्न देखा। उनमे से एक "सुमुख" ने राजर्षि के तप की प्रशसा की और कहा—"ऐसे घोर तपस्वी को स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ नही है।" पर दूसरे साथी "दुर्मुख" को उसकी यह बात नही जँची। वह बोला—"अरे! तू नही जानता, इन्होने बड़ा पाप किया है। अपने नादान बालक पर राज्य का भार देकर स्वय साधु रूप से ये ध्यान लगाये खड़े है। उधर विरोधी राज्य द्वारा, इनके अबोध शिशु पर, जिस पर कि मन्त्री का नियन्त्रण है, आक्रमण हो रहा है। संभव है, बालकुमार को मत्री राज्यच्युत कर स्वय राज्याधिकार प्राप्त कर ले या शत्रु—राजा ही उसे बन्दी बना ले।

दुर्मुख की बात ध्यानान्तरिका के समय तपस्वी के कानो में पड़ी और वे ध्यान की स्थिति मे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। वे मन ही मन पुत्र की ममता से प्रभावित होकर विरोधी राजा एवं अपने धूर्त मंत्री के साथ घोर युद्ध करने लगे। परिणामो की उस भयकरता के समय तुमने प्रश्न किया, अत: उन्हें सातवी नरक का अधिकारी बताया गया, किन्तु कुछ ही काल के बाद राजर्षि ने अपने मुकुट से शत्रु पर आघात करना चाहा और जब सिर पर हाथ रखा तो उन्हे सिर मुंडित प्रतीत हुआ। उसी समय ध्यान आया—"मैं तो मुनि हूं। मुझे राज-ताज के हानि-लाभ से क्या मतलब?" इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए जब वे अध्यवसायो की उच्च श्रेणी पर आरूढ़ हो रहे थे तब सर्वार्थसिद्ध विमान की गति बतलाई गई।"

इधर जब भगवान् श्रेणिक को अपने कथन के रहस्य को समझा रहे थे उसी समय आकाश में दुन्दुभि-नाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पूछा—"भगवन्! यह दुन्दुभि-नाद कैसा?"

प्रभु ने कहा—"वही प्रसन्नचन्द्र मुनि, जो सर्वार्थसिद्ध विमान के योग्य अध्यवसाय पर थे, शुक्ल-ध्यान की विमल श्रेणी पर आरूढ हो मोह कर्म के साथ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का भी क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन गये हैं। उसी की महिमा में देवों द्वारा दुन्दुभि बजायी जा रही है।" श्रेणिक प्रभु की सर्वज्ञता पर मन ही मन प्रमुदित हुए।

दूसरी घटना राजगृही नगरी की है। एक बार भगवान् महावीर वहाँ के उद्यान मे विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य भगवान् के पास आया और चरणों पर गिर कर बोला—नाथ! आपका उपदेश भवसागर से पार लगाने में जहाज के समान है। जो आपकी वाणी श्रद्धापूर्वक सुनते और तदनुकूल आचरण करते हैं, वे धन्य हैं।"

"मुझे एक बार आपकी वाणी सुनने का लाभ मिला था और उस एक बार के ही उपदेश ने मेरे जीवन को सकट से बचा लिया है। आज तो हृदय खोलकर मैं आपकी अमृतमयी वाणी के श्रवण का लाभ उठाऊंगा।"

इस तरह मन मे दृढ निश्चय कर उसने प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश-श्रवण के प्रभाव से उसके मन मे वैराग्यभाव उदित हो गया। उसको अपने पूर्वकृत्यो पर अत्यन्त पश्चात्ताप तथा ग्लानि हुई। उसने हाथ जोडकर प्रभु से निवेदन किया—"भगवन्! क्या एक चोर और अत्याचारी भी मुनि-धर्म पाने का अधिकारी हो सकता है? मेरा पूर्व-जीवन कुकृत्यो से काला बना हुआ है। क्या उसकी सफाई या निर्मलता के लिए मैं आपकी पुनीत सेवा मे स्थान पा सकता हूं?"

उसके इस निश्छल वचन को सुनकर भगवान् ने कहा—"रोहिणेय! अन्तः-करण के पश्चात्ताप से पाप की कालिमा धुल जाती है। अतः अब तू श्रमणपद पाने का अधिकारी बन गया है। तेरे मन के वे सारे कलुष, जो अब तक के तुम्हारे कुकृत्यो से वचित हुए थे, आत्मालोचना की भट्टी मे जलकर राख हो गये है।"

प्रभु की वाणी से प्रख्यात चोर रोहिणेय देखते ही देखते साधु बन गया और अपने सत्कृत्यों और तपश्चर्या से बहुत आगे बढ़ गया। ठीक ही है, पारस का संयोग लोहे को भी सोना बना देता है। उसी प्रकार वीतराग प्रभु की वाणी पापी को भी धर्मात्मा बना देती है। निर्मल अन्त.करण या सात्त्विक प्रकृति वाला व्यक्ति यदि प्रव्रज्या ग्रहण करे, व्रत-विधान का पालन करे, तो यह कोई बडी बात नही है। किन्तु जब एक जन्मजात कुख्यात चोर प्रभु के प्रताप और उपदेश के प्रभाव से पूज्य पुरुष बन जाय तो निश्चित रूप से यह एक बडो और असा-धारण बात है।

राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार

राजगृही के महाराज श्रेणिक और उनके परिवार की भगवान् महावीर के प्रति भक्ति उल्लेखनीय रही है। उसमें राज-मंत्री अभयकुमार का बड़ा योगदान रहा। भंभसार—श्रेणिक की नन्दा रानी से "अभय" का जन्म हुआ।[1] नन्दा "वेन्नातट" के "धनावह" सेठ की पुत्री थी।

अभयकुमार श्रेणिक—भंभसार का परममान्य मंत्री भी था[2] उसने कई बार राजनैतिक सकटों से श्रेणिक की रक्षा की। एक बार उज्जयिनी के राजा

१ सेणियस्स रन्नो पुत्ते नदा ए देवीए अत्तए अभए नाम कुमारी होत्था।

[निरयावलिका, सू० २१]

२ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ३८।

चंडप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभय ने ही-उस समय राज्य का रक्षण किया था। उसने जहाँ शत्रु का शिविर लगना था, वहाँ पहले ही स्वर्ण मुद्राएं गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभय ने उसे सूचना करवाई–"मैं आपका हितैषी होकर एक सूचना कर रहा हूं कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये हैं। अतः वे आपको पकड़ कर श्रेणिक को संभलाने वाले हैं। श्रेणिक ने उनको बहुत धनराशि दी है। विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख लें।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गड़ी हुई स्वर्ण-मुद्राएं मिलीं। भय खाकर वह ज्यो का त्यों ही उज्जयिनी लौट गया।[1]

राजगृही में एक बार एक द्रुमक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह दीक्षा के लिए नगरी में गया तो लोग उसका उपहास करते हुए बोले–"ये आये हैं बड़े त्यागी पुरुष, कितना बड़ा वैभव छोडा है इन्होंने ?" लोगों के इस उपहास वचन से नवदीक्षित मुनि व्यथित हुए। उन्होने सुधर्मा स्वामी से आकर कहा। द्रुमक मुनि की खेद-निवृत्ति के लिए सुधर्मा स्वामी ने भी अगले ही दिन वहाँ से विहार करने का सोच लिया।

अभयकुमार को जब इस बात का पता चला तो उसने आर्य सुधर्मा को ठहरने के लिए निवेदन किया तथा नगर में आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं की तीन राशियां लगवाई और नगर के लोगो को आमन्त्रित किया। उसने नगर मे घोषणा करवाई कि जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे, वह इन तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राओं को ले सकता ह।

स्त्री, अग्नि और पानी छोड़ने के भय से कोई स्वर्ण लेने को नहीं आया, तब अभयकुमार ने कहा–"देखो वह द्रुमक मुनि कितने बड़े त्यागी हैं। उन्होने जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और सचित्त जल का परित्याग कर दिया है।" अभय की इस बुद्धिमत्ता से द्रुमक मुनि के प्रति लोगों की व्यंग्य-चर्चा समाप्त हो गई।[2] अभयकुमार की धर्मसेवा के ऐसे अनेको उदाहरण जैन साहित्य मे भरे पड़े हैं।

भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान मे आया। देशना के अन्त में अभय ने भगवान् से सविनय पूछा– "भगवन् ! आपके शासन मे अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा ?"

---

१ (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष, पृ० १० – ११, श्लो० १८४।
(ख) आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध।

२ धर्मरत्न प्रकरण–"अभयकुमार कथा।"

उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—"वीतभय का राजा उदयन, जो मेरे पास दीक्षित मुनि है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।"

अभयकुमार ने सोचा—"मैं यदि राजा बन कर दीक्षा ग्रहण करूंगा तो मेरे लिए मोक्ष का रास्ता ही बन्द हो जायगा। अतः क्यों न मैं कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर लूँ।"

अभयकुमार वैराग्य-भावना से श्रेणिक के पास आया और अपनी दीक्षा की बात कही। श्रेणिक ने कहा—"वत्स! दीक्षा ग्रहण का दिन तो मेरा है, तुम्हे तो अभी राज्य-ग्रहण करना चाहिए। अभयकुमार द्वारा विशेष आग्रह किये जाने पर श्रेणिक ने कहा—"जिस दिन मैं तुमको रुष्ट हो कर कहूँ—'जा मुझे आकर मुँह नही दिखाना,' उसी दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।"

कालान्तर में फिर भगवान् महावीर राजगृह पधारे। उस समय भीषण शीतकाल था। एक दिन राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ घूमने गये। सायंकाल उपवन से लौटते हुए उन्होने नदी के किनारे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। रात्रि के समय रानी जगी तो उसे मुनि की याद हो आई। सहसा उसके मुँह से निकला—"आह! वे क्या करते होंगे?" रानी के वचन सुन कर राजा के मन मे उसके प्रति अविश्वास हो गया। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन को जाते हुए उन्होने अभयकुमार को आदेश दिया—"चेलना का महल जला दो, यहाँ दुराचार बढ़ता है।"

अभयकुमार ने महल से रानियों को निकाल कर उसमें आग लगवा दी।

उधर श्रेणिक ने भगवान् के पास रानियों के आचार-विषयक जिज्ञासा रखी तो महावीर ने कहा—"राजन्! तेरी चेलना आदि सारी रानियाँ निष्पाप हैं, शीलवती हैं।" भगवान् के मुख से रानियों के प्रति कहे गये वचन सुन कर राजा अपने आदेश पर पछताने लगा। वह इस आशंका से कि कही कोई हानि न हो जाय, सहसा महल की ओर लौट चला।

मार्ग में ही अभयकुमार मिल गया। राजा ने पूछा—"महल का क्या किया?"

अभय ने कहा—"आपके आदेशानुसार उसे जला दिया।"

"अरे मेरे आदेश के बावजूद भी तुम्हें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये था," खिन्न-हृदय से राजा बोला।

यह सुन कर अभय बोला—"राजाज्ञा-भंग का दण्ड प्राण-नाश होता है, मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ।"

"फिर भी तुम्हे कुछ रुक कर, समय टाल कर आदेश का पालन करना चाहिये था," व्यथित मन से राजा ने कहा ।

इस पर अभय ने जवाब दिया—"इस तरह बिना सोचे समझे आदेश ही नहीं देना चाहिये । मैंने तो अपने से बड़ों की आज्ञा के पालन को ही अपना धर्म समझा है और आज तक उसी के अनुकूल आचरण भी किया है ।"

अभय के इस उत्तर-प्रत्युत्तर एवं अपने द्वारा दिये गये दुष्टादेश से राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा । दूसरा होता तो राजा तत्क्षण उसके सिर को धड से अलग कर देता किन्तु पुत्र के ममत्व से वह ऐसा नही कर सका । फिर भी उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—"जारे अभय ! यहाँ से चला जा । भूल कर भी कभी मुझे अपना मुँह मत दिखाना ।"

अभय तो ऐसा चाहता ही था । अंधा जैसे आँख पाकर गद्‌गद् हो जाता है, अभय भी उसी तरह परम प्रसन्न हो उठा । वह पितृ-वचन को शिरोधार्य कर तत्काल वहाँ से चल पड़ा और भगवान् के चरणों में जाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली ।

राजा श्रेणिक ने जब महल एवं उसके भीतर रहने वालो को सुरक्षित पाया तो उसको फिर एक बार अपने सहसा दिये गये आदेश पर दु.ख हुआ । उसे यह समझने में किंचित् भी देर नही लगी कि आज के इस आदेश से मैंने अभय जैसे चतुर पुत्र एवं राज्य-कार्य में योग्य व नीतिज्ञ मंत्री को खो दिया है । वह आशा के बल पर शीघ्रता से लौट कर पुनः महावीर के पास आया । वहाँ उसने देखा कि अभयकुमार तो दीक्षित हो गया है । अब पछताने के सिवा और क्या होता ? अभयकुमार मुनि विशुद्ध मुनिधर्म का पालन कर विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बने ।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल

जैन परम्परा के प्रायः प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी प्रकार के ग्रन्थों में इस प्रकार के पुष्ट और प्रबल प्रमाण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं जिनके आधार पर पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह माना जाता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७वें वर्ष में हुआ ।

आधुनिक ऐतिहासिक शोधकर्ता विद्वानों ने भी इस विषय में विभिन्न दृष्टियों से गहन गवेषणाएँ करने का प्रयास किया है । उन विद्वानों में सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोबी ने जैन सूत्रों की भूमिका में इस विषय पर चर्चा की है ।

१ अनुत्तरोपपातिक........

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसंग पर डॉ० जैकोबी ने दो स्थानों पर चर्चा की है पर वे दोनो चर्चाएँ परस्पर विरोधी हैं।

पहली चर्चा मे डॉ० जैकोबी ने भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई. पू. ५२६ माना है। इसके प्रमाण मे उन्होंने लिखा है—"जैनों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रों की वाचना वल्लभी मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान मे हुई। इस घटना का समय वीर निर्वाण से ६८० अथवा ६६३ वर्ष पश्चात् का है अर्थात् ई. सन् ४५४ या ४६७ का है, जैसा कि कल्पसूत्र की गाथा १४८ मे उल्लिखित है।"[1]

यहाँ पर डॉ० जैकोबी ने वीर-निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है, क्योंकि ५२६ में ४५४ जोडने पर ६८० और ४६७ जोडने पर ६६३ वर्ष होते हैं।

इसके पश्चात् डॉ० जैकोबी ने दूसरे खण्ड की भूमिका मे भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध मे विचार करते हुए भगवान् महावीर के निर्वाणकाल पर पुनः दूसरी बार चर्चा की है। उस चर्चा के निष्कर्ष के रूप मे उन्होने अपनी पहली मान्यता के विपरीत अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ मे हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ था।[2]

डॉ० जैकोबी ने अपने इस परिवर्तित निर्णय के औचित्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण अथवा आधार प्रस्तुत नही किया। उनके द्वारा बुद्ध को बड़ा और महावीर को छोटा मानने मे प्रमुख तर्क यह रखा गया है कि कूणिक का चेटक के साथ जो युद्ध हुआ उसका जितना विवरण बौद्ध शास्त्रों में मिलता है, उससे अधिक विस्तृत विवरण जैन आगमो मे मिलता है। जहाँ बौद्ध शास्त्रो में अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार द्वारा बुद्ध के समक्ष वज्जियो पर विजय प्राप्ति के लिए केवल योजना प्रस्तुत करने का उल्लेख है, वहाँ जैन आगमो मे कूणिक और चेटक के बीच हुए 'महाशिलाकटक संग्राम', 'रथमूसल सग्राम' और वैशाली के प्राकार-भग तक स्पष्ट विवरण मिलता है। इस तर्क के आधार पर डॉ० जैकोबी ने कहा है—"इससे यह प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के बाद कितने ही वर्षों तक जीवित रहे थे।"

वास्तव मे बौद्ध शास्त्रो मे सम्यक् पर्यवेक्षण से डॉ० जेकोबी का यह तर्क बिल्कुल निर्बल और नितान्त पंगु प्रतीत होगा, क्योंकि वस्सकार की कूटनीतिक चाल के माध्यम से वज्जियों पर कूणिक की विजय का जैनागमो मे दिये गये विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण बौद्ध शास्त्रों मे उपलब्ध होता है।

---

१ एस. बी. ई. वोल्यूम २२, इन्ट्रोडक्टरी, पृ. ३७।
२ 'श्रमण' वर्ष १३, अंक ६।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय भट्ठकहा में वस्सकार द्वारा छलछद्म से वज्जियों मे फूट डाल कर कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण करने, वज्जियो की पराजय व कूणिक की विजय का संक्षेप मे पूरा विवरण उल्लिखित है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि एकता के सूत्र में बंधे हुए वज्जियों में फूट, द्वेष और भेद उत्पन्न करने के लक्ष्य रख कर वस्सकार बड़े नाटकीय ढंग से वैशाली गया। वह वज्जी गणतन्त्र में अमात्य का पद प्राप्त करने में सफल हुआ। वस्सकार ३ वर्ष तक वैशाली में रहा और अपनी कूटनीतिक चालों से वज्जियों मे ईर्ष्या-विद्वेष फैलाकर वज्जियो की अजेय शक्ति को खोखला और निर्बल बना दिया।

अन्ततोगत्वा, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, वस्सकार के संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया और वज्जियों को परास्त कर दिया। केवल 'रथमूसल' और 'महाशिलाकंटक' संग्राम का परिचय बौद्ध साहित्य में नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि राजा कूणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसने अपने राजपुरुषो द्वारा भगवान् महावीर की दैनिक चर्या के सम्बन्ध में प्रतिदिन की सूचना प्राप्त करने की व्यवस्था कर रखी थी। भगवान् महावीर के बाद सुधर्मा स्वामी की परिषद् मे भी वह सभक्ति उपस्थित हुआ।[1] अतः जैनागमो में उसका अधिक विवरण होना और बौद्ध साहित्य मे संक्षिप्त निर्देश होना स्वाभाविक है।

डॉ० जैकोबी ने महावीर के पूर्व निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रों में मिलने वाले तीन प्रकरणों को अयथार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्राप्त सामग्री के अनुसार वह ठीक नही है। बौद्ध साहित्य मे इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कही भी ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण को प्रमाणित करता हो, अपितु ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अतः डॉ० जैकोबी का वह दूसरा निर्णय प्रामाणिक नही कहा जा सकता। डॉ० जैकोबी ने अपने दूसरे मन्तव्य मे महावीर का निर्वाण ४७७ ई. पू. और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होने उस सारे लेख मे यह बताने का यत्न नहीं किया कि यही तिथियाँ मानी जायें, ऐसी अनिवार्यता क्यों पैदा हुई? उन्होंने बताया है कि जैनों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ था, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष पश्चात् हुआ। इतिहास के विद्वानो ने इसे श्री हेमचन्द्राचार्य की भूल माना

१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो० १५-५४

है। इस विषय मे सर्वाधिक पुष्ट धारणाएँ हैं कि भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण को प्राप्त होते है उसी दिन उज्जैन मे पालक राजा गद्दी पर बैठता है। उसका राज्य ६० वर्ष तक चला, उसके बाद १५५ (एक सौ पचपन) वर्ष तक नन्दो का राज्य और तत्पश्चात् मौर्य राज्य का प्रारम्भ[1] होता है, अर्थात् महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है। यह प्रकरण 'तित्थोगाली पइन्नय' का है जो परिशिष्ट पर्व से बहुत प्राचीन माना जाता है। बाबू श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष के अनुसार हेमचन्द्राचार्य की गणना मे असावधानी से पालक राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।[2]

सम्भव है, जिस श्लोक (३३६) के आधार पर डॉ० जैकोबी ने महावीर निर्वाण के समय को निश्चित किया है उसमे भी वैसी ही असावधानी रही हो। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है, न कि ई० पू० ४७७ का। हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि जब भगवान् महावीर के निर्वाण से १६६६ वर्ष बीतेंगे तब चौलुक्य कुल मे चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।[3]

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४३ में हुआ। हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर के निर्वाण से १६६६ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल १६६६–११४२ ई० पू० ५२७ ही माना है।

डॉ० जैकोबी की धारणा के बाद ३२ वर्ष के इस सुदीर्घ काल में इतिहास ने बहुत कुछ नई उपलब्धियाँ की हैं, इसलिए भी डॉ० जैकोबी के निर्णय को अन्तिम रूप से मान लेना यथार्थ नहीं है।

---

१ ज रयणिं सिद्धिगओ अरहा तित्थकरो महावीरो।
त रयणिमवन्तिए, अभिसित्तो पालओ राया।।
पालग रण्णो सट्ठी, पण पण सय वियाणि णंदाणम्।
मुरियाण सट्ठिसय, तीसा पुण पूसमित्ताणम्।। [तित्थोगाली पइन्नय ६२०-२१]

२ Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Palaka after Mahaveera,
[Epitome of Jainism Appendix A, P IV]

३ अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यभय षोडश।
नव षष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा।।
कुमारपाल भूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमाः।
भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः।।
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५-४६]

डॉ० के० पी० जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण को बुद्ध से पूर्व माना है। इनका कहना है कि बौद्धागमों मे वर्णित महावीर के निर्वाण प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण मे किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नही है। सामगाम सुत्त मे बुद्ध महावीर–निर्वाण के समाचार सुनते है और प्रचलित धारणाओ के अनुसार इसके २ वर्ष बाद वे स्वयं निर्वाण प्राप्त करते है।[१] (बौद्धों की दक्षिणी परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ मे होता है और बुद्ध निर्वाण ई० पू० ५४४ मे।)

डॉ० जायसवाल ने महावीर निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध उल्लेखों की अपेक्षा न करने की जो बात कही है वह ठीक है, पर सामगाम सुत्त के आधार पर बुद्ध से २ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य की मान्यता मे १८ वर्ष जोड़कर महावीर और विक्रम के मध्यकाल की अवधि निश्चित करना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नही है। उन्होने सरस्वतीगच्छ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण और विक्रम-जन्म के बीच का अन्तर ४७० वर्ष माना है और फिर १८वें वर्ष मे विक्रम के राज्यासीन होने पर संवत् का प्रचलन हुआ, इस दृष्टि से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत्सर मानने की बात को भूल कहा है। किन्तु इतिहासकारों का कथन है कि यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नही है। आचार्य मेरुतुंग[२] ने वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह अन्तर विक्रम के जन्मकाल से नही अपितु शक राज्य की समाप्ति और विक्रम की विजय से सम्बन्धित है।[३]

डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (हिन्दू सभ्यता) मे डॉ० जायसवाल की तरह भगवान् महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण-प्राप्ति का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। पुरातत्व गवेषक मुनि जिन विजयजी ने भी डॉ० जायसवाल के मतानुसार भगवान् महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।[४]

---

१ जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १-१०३।

२ विक्कम रज्जारम्भा परओ सिरि वीर निव्वुइ भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिण कालो ॥ विचार श्रेणी पृ ३-४

३ The suggestion can hardly be said to rest on any reliable tradition Merutunga places the death of the last Jian or Teerthankara 470 years before the end of Saka Rule and the victory and not birth of the traditional Vikrama [An Advanced History of India by R. C Majumdar., H. C. Roy Chaudhari & K. K. Dutta, Page 85.]

४ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना–भूमिका पृ० १

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का निश्चित मत है कि तत्कालीन सातो धर्माचार्यों मे बुद्ध सबसे छोटे थे। प्रारम्भ मे उनका सघ भी सबसे छोटा था।[1] कौशाम्बी जी ने कालचक्र की बात को यह कह कर गौण कर दिया है कि बुद्ध की जन्म तिथि मे कुछ कम या अधिक अन्तर पड जाता है तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र मे किसी प्रकार का गौणत्व नही आ सकता।[2]

इसी प्रकार डॉ० हर्नले ने अपने "हेस्टिंगाका एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स" ग्रन्थ मे भी इसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार बुद्ध निर्वाण महावीर से ५ वर्ष बाद होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है।

मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास, १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे, यानी भगवान् महावीर से बुद्ध आयु मे लगभग २२ वर्ष बडे थे। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई) और महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)[3] होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण उन्होने ई० पू० ५२७ माना है, जो परम्परा-सम्मत भी है और प्रमाण-सम्मत भी।

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर' में भी विविध प्रमाणों के साथ भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२७ ही प्रमाणित किया गया है।

भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का विचार जिन आधारो पर किया गया है, उन सब मे साक्षात् व स्पष्ट प्रमाण बौद्ध पिटको का है। जिन प्रकरणो मे निर्वाण की चर्चा है वे क्रमश मज्झिमनिकाय-सामगामसुत्त, दीर्घनिकाय-पासादिक सुत्त और दीर्घनिकाय-सगीति पर्याय सुत्त है। तीनो प्रकरणो की आत्मा एक है, पर उनके ऊपर का ढाँचा निराला है। इनमे बुद्ध ने आनन्द और चुन्द से भगवान् महावीर के निर्वाण की बात कही है। कुछ लेखको ने माना है कि इन प्रकरणों मे विरोधाभास है। डॉ० जेकोबी ने उक्त प्रकरणो को इसलिए भी अप्रमाणित माना है कि इनमे से कोई समुल्लेख महापरिनिब्बाण सुत्त मे नही है जिससे कि बुद्ध के अन्तिम जीवन प्रसगो का ब्योरा मिलता है।[4] जहाँ तक बुद्ध से भगवान् महावीर के पूर्व निर्वाण का प्रश्न है, हमे इन प्रकरणो की

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ३३–१५५
२ भगवान् बुद्ध–भूमिका, पृ० १२
३ ईस्वी पूर्व ५२८ के नवम्बर महीने मे और ई पू. ५२७ मे केवल २ महीने का ही अन्तर है। अत महावीर निर्वाण का काल सामान्यत ई पू. ५२७ का ही लिखा जाता है।
४ श्रमण वर्ष १३, अक ६।

वास्तविकता मे इसलिये भी सदेह नही करना चाहिए कि जैन आगमो में महावीर निर्वाण के सम्बन्ध मे इससे कोई विरोधी उल्लेख नही मिल रहा है। यदि जैन आगमो मे भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख होता तो हमें भी इन प्रकरणो की वास्तविकता के सम्बन्ध मे सन्देह हो सकता था। फिर बौद्ध शास्त्रों मे भी इन तीन प्रकरणो के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रकरण होता जो महावीर-निर्वाण मे पूर्व बुद्ध-निर्वाण की बात कहता तो भी हमें गम्भीरता मे सोचना होता। किन्तु ऐसा कोई बाधक कारण दोनों ओर के साहित्य मे नही है। ऐसी स्थिति मे उन्हे प्रमाण-भूत मानना असंगत प्रतीत नहीं होता। इसमे जो कालावधि का भेद है उसे हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

मुनि नगराजजी के अनुसार महावीर की ज्येष्ठता को प्रमाणित करने के लिए और भी अनेक प्रसंग बौद्ध साहित्य मे उपलब्ध होते हैं जिनमे बुद्ध स्वय अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायको मे छोटा स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती मे अनाथ पिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित (कोशल) भगवान् के पास गया और कुशल पूछकर जिज्ञासा व्यक्त की—"गौतम ! क्या आप भी यह अधिकारपूर्वक कहते है कि आपने अनुत्तर सम्यक् सबोधि को प्राप्त कर लिया है ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् सबुद्ध कहे तो वह मुझे ही कह सकता है, मैंने ही अनुत्तर सम्यक् सबोधि का साक्षात्कार किया है।"

प्रसेनजित् ने कहा—गौतम ! दूसरे श्रमण ब्राह्मण, जो संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर और बहुजन सम्मत, पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नायपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली आदि से भी ऐसा पूछे जाने पर वे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकारपूर्वक कथन नही करते। आप तो अल्प-वयस्क व सद्य-प्रव्रजित है, फिर यह कैसे कह सकते है ?"

बुद्ध ने कहा—"क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्प-वयस्क समझकर कभी उनका पराभव या अपमान नही करना चाहिये।" (संयुत्तनिकाय, दहर सुत्त पृ० १।१ के आधार से)

उस समय के सब धर्मनायकों मे बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन मे विहार कर रहे थे। उस समय एक देव ने आकर सभिय नामक एक परिव्राजक को कुछ प्रश्न सिखाये और कहा कि जो इन प्रश्नो का उत्तर दे, उन्ही का तू शिष्य होना। सभिय; श्रमण, ब्राह्मण सघनायक, गणनायक, साधुसम्मत पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित-केश कम्बली, प्रकुन्न कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नायपुत्त के पास क्रमशः गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थंकर उसके प्रश्नो का उत्तर नही दे सके और सभिय के प्रति कोप, द्वेष एव अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे। सभिय परिव्राजक इस पर बहुत असतुष्ट हुआ, उसका मन विविध ऊहापोहों से भर गया। उसने निर्णय किया—"इससे तो अच्छा हो कि गृहस्थ होकर सांसारिक आनन्द लूटूं ?"

सभिय के मन मे आया कि श्रमण गौतम भी संघी, गणी, बहुजन-सम्मत हैं, क्यों न मैं उनसे भी प्रश्न पूछूं। उसका मन तत्काल ही आशका से भर गया। उसने सोचा "पूरण काश्यप और निगण्ठ नायपुत्त जैसे धीर, वृद्ध, वयस्क उत्तरावस्था को प्राप्त, वयातीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित[1] संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुजन-सम्मानित, श्रमण ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नो का उत्तर नही दे सके, उल्टे अप्रसन्नता व्यक्त कर मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं; तो श्रमण गौतम मेरे प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकेंगे ? वे तो आयु मे कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होते हुए भी महर्द्धिक और तेजस्वी होते हैं, अतः श्रमण गौतम से भी इन प्रश्नो को पूछूं।"[2] (सुत्तनिपात महावग्ग सभिय सुत्त के आधार से)

यहां बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्मनायकों को जिण्णा, बुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयोअनुपत्ता, थेरा, रत्तभू, चिरपव्वजिता विशेषण दिये हैं।

(३) फिर एक समय भगवान् (बुद्ध) राजगृह मे जीवक कौमार भृत्य के आम्रवन मे १२५० भिक्षुओ के साथ विहार कर रहे थे, उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के दिन चातुर्मास को कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध अजातशत्रु वैदेही पुत्र आदि राजामात्यो से घिरा हुआ प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। राजा ने जिज्ञासा की—"किसका सत्सग करें, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे ?"

राजमत्री ने कहा—"पूरण काश्यप से धर्मचर्चा करें। वे चिरकाल के साधु व वयोवृद्ध हैं।"

---

१ सुत्त निपात, महावग्ग।

२ पच्छे पुट्ठो ब्याकरिस्सति ! समणो हि गौतमो दहरो चेव, जातिया नवो च पब्बज्जायाति [सुत्त निपात, सभिय सुत्त, पृ० १०६]

दूसरे मंत्री ने कहा—"मक्खलि गोशाल सघस्वामी है।"

अन्य ने कहा—"अजित केश कम्बली सघस्वामी है।"

फिर दूसरे मत्री ने प्रकुद्ध कात्यायन का और इससे भिन्न मत्री ने सजय वेलट्ठिपुत्त का परिचय दिया। एक मत्री ने कहा—"निगण्ठ नायपुत्त सघ के स्वामी है। उनका सत्सग करे।"

सब की बात सुनकर मगध-राज चुप रहे। उस समय जीवक कौमार भृत्य से अजातशत्रु ने कहा कि तुम चुप क्यों हो? उसने कहा—"देव! भगवान् अर्हत् मेरे आम के बगीचे में १२५० भिक्षुओ के साथ विहार कर रहे हैं। उनका सत्सग करे। आपके चित्त को प्रसन्नता होगी।"

यहां पर भी पूरण काश्यप आदि को चिरकाल से साधु और वयोवृद्ध कहा गया हैं।

इन तीनो प्रकरणो मे महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित किया गया है। यह भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नही, अपितु ज्ञान, प्रभाव और प्रव्रज्या की दृष्टि से भी ज्येष्ठत्व बतलाया गया है। इनमे स्पष्टतः बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है।

इन सब आधारो को देखते हुए महावीर के ज्येष्ठत्व और पूर्व निर्वाण मे कोई सदेह नही रह जाता।

इस तरह जहाँ तक भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का प्रश्न है वह पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनो दृष्टियो व आधारो से ई० पू० ५२७ सुनिश्चित ठहरता है।

इसी विषय मे एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र मे सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।[१] इतिहासकार इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण मे इसे एक प्रकाशस्तम्भ मानते हैं। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसी को केन्द्रबिन्दु मानकर इतिहास शताब्दियो पूर्व और पश्चात् की घटनाओ का समय-निर्धारण करता है।

जैन परम्परा मे मेरुतु ग की—"विचार श्रेणी", तित्थोगाली पइन्नय तथा तीर्थोद्धार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थो में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-

---

१ *Dr Radha Kumud Mukherji, Chandragupta Maurya & his times, pp 44-6*

(ख) श्री नेम पाण्डे, भारत का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—प्राचीन भारत, चतुर्थ सस्करण, पृ० २४२।

निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण अवन्ती का माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र राज्यारोहण के दस वर्ष पश्चात् अपना राज्य स्थापित किया था।[1]

इस प्रकार जैन काल गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा से महावीर निर्वाण का समय ई० पू० ३१२+२१५=५२७ होता है।

ऐसे अनेक इतिहास के विशेषज्ञो ने भी महावोर-निर्वाण का असंदिग्ध समय ई० पू० ५२७ माना है। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (श्री जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष २, अंक ४,५ पृ० २१७-८१ व "भारतीय प्राचीन लिपिमाला', पृ० १६३), पं० बलदेव उपाध्याय (धर्म और दर्शन, पृ० ८६), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (तीर्थंकर भगवान् महावीर, भाग २, भूमिका पृ० १६), डॉ० हीरालाल जैन (तत्त्व समुच्चय, पृ० ६), महामहोपाध्याय प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भारत का प्राचीन राजवंश खण्ड २, पृ० ४३६) आदि विद्वान् उपर्युक्त निर्वाणकाल के निर्णय से सहमत प्रतीत होते हैं।

इन सबके अतिरिक्त ई० पू० ५२७ में भगवान् महावीर के निर्वाण को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाला सबसे प्रबल और सर्वमान्य प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्राचीन आचार्यों ने एकमत से महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास पश्चात् शक संवत् के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। यथा :

छहिं वासाणसएहिं, पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं ।
मम निव्वाणगयस्सउ उपज्जिसइ सगो राया ।।
[महावीर चरिय, (आचार्य नेमिचन्द्र) रचनाकाल वि० स० ११४१]

पण छस्सयवस्स पणमासजुदं ।
गमिय वीरनिव्वुइयो सगराओ ।। ८४८
[त्रिलोकसार, (नेमिचन्द्र) रचनाकाल ११वी शताब्दी]

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसुं ।
पणमासेसु गदेसुं सजादो सगणिओ अहवा ।।
[तिलोय पण्णत्ती, भा० १, महाधिकार ४, गा० १४६६]

---

[1] (क) The date 313 B C. for Chandragupta accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malva, as the chronological Datum is found in verse where the Maurya King finds mention in the list of succession of Palak, a king of Avanti [H C. Ray Chaudhary–Political History of Ancient India, P. 295]

(ख) The Jain date 313 B C. if based on correct tradition may refer to acquisition of Avanti, (Malva).

[An Advanced History of India, P. 99]

आचार्य यति वृषभ ने उपर्युक्त गाथा से पूर्व की गाथा संख्या १४९६, १४९७ और १४९८ में वीर निर्वाण के पश्चात् क्रमश. ४६१ वर्ष, ९७८५ वर्ष तथा ५ मास और १४७९३ वर्ष व्यतीत होने पर भी शक राजा के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। अनेक विद्वान् यति वृषभ द्वारा उल्लिखित मतवैभिन्य को देखकर असमंजस मे पड़ जाते है, पर वास्तव मे विचार मे पडने जैसी कोई बात नही है। ४६१ मे जिस शक राजा के होने का उल्लेख है वह वीर निर्वाण स० ४६५ में हो चुका है जैसा कि इसी पुस्तक के पृ० ४६८ पर उल्लेख है। इससे आगे की २ गाथाए- किन्हीं भावी शक राजाओ का सकेत करती हैं, जो क्रमशः वीर निर्वाण संवत् ९७८५ और १४७९३ में होने वाले हैं।

उपरिलिखित सब प्रमाणों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण शक सवत्सर के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष और ५ मास पूर्व हुआ। इसमें शका के लिये कोई अवकाश ही नही रहता, क्योकि भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से प्रारम्भ होकर सभी प्राचीन जैन आचार्यो की काल-गणना शक संवत्सर से आकर मिल जाती है। वीरनिर्वाण-कालगणना और शक संवत् का शक संवत् के प्रारंभ काल से ही प्रगाढ संबन्ध रहा है और इन दोनो काल-गणनाओ का आज तक वही सुनिश्चित अन्तर चला आ रहा है।

इन सब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वीरनिर्वाण-काल ई० पूर्व ५२७ ही असंदिग्ध एवं सुनिश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वीर-निर्वाण संवत् की यही मान्यता इतिहाससिद्ध और सर्वमान्य है।

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण

भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिक थे, अतः इनके निर्वाणकाल का निर्णय करते समय प्रायः सभी विद्वानों ने दोनों महापुरुषो के निर्वाणकाल को एक दूसरे का निर्वाणकाल निश्चित करने मे सहायक मान कर साथ-साथ चर्चा की है। इस प्रकार के प्रयास के कारण यह समस्या सुलझाने के स्थान पर और अधिक जटिल बनी है।

वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् महावीर का निर्वाणकाल जितना सुनिश्चित, प्रामाणिक और असदिग्ध है उतना ही बुद्ध का निर्वाणकाल आज तक भी अनिश्चित, अप्रामाणिक एव सदिग्ध बना हुआ है। बुद्ध के निर्वाणकाल के संबन्ध मे इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं की आज भिन्न-भिन्न बीस प्रकार की मान्यताएं ऐतिहासिक जगत् मे प्रचलित है। भारत के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे 'बुद्ध निर्वाण सवत्' की चर्चा करते हुए लिखा है :—

"बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष मे हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अब तक नहीं हुआ। सीलोन[1] (सिहल द्वीप, लका), ब्रह्मा और स्याम मे बुद्ध का निर्वाण ई० सवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते हैं।[2] चीन वाले ई० स० पूर्व ६३८ मे उसका होना मानते हैं।[3] चीनी यात्री फाहियान ने, जो ई० सन् ४०० मे यहा आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।[4] इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४९७–४००)=१०९७ के आस-पास मानना पड़ता है। चीनी यात्री हुएनत्साग के निर्वाण से १००वें वर्ष में राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६९ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना बतलाया है।[5] जिससे निर्वाणकाल ई० स० पूर्व चौथी शताब्दी के बीच आता है। डॉ० बूलर ने ई० स० पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के बीच[6], प्रोफेसर कर्न[7] ने ई० स० पूर्व ३८८ मे, फर्गुसन[8] ने ४८१ मे, जनरल कनिगहाम[9] ने ४७८ में, मैक्समूलर[10] ने ४७७ मे, पंडित भगवानलाल इन्दरजी[11] ने ६३८ मे (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ[12] ने ४७७ मे, डॉ० बार्नेट[13] ने ४८३ मे डॉ० फ्लीट[14] ने ४८३ मे और वी० ए० स्मिथ[15] ने ई० स० पू० ४८७ या ४८६ मे निर्वाण होने का अनुमान किया है।"

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक "वीर निर्वाण सवत् और जैन कालगणना" मे अपनी ओर से प्रबल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर से वय मे २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध

---

१ कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स (जनरल कनिगहाम सपादित), जि० १ की भूमिका, पृ० ३

२ प्रि ग जि २ यूसफुल टेबल्स, पृ० १६५।

३ वही

४ बी बु, रे वे व, जि १ की भूमिका पृ० ७५

५ बी बु रे वे व; जि १, पृ० १५०

६ इ ए, जि ६, पृ० १५४

७ साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया जि १, पृ० ४९२

८ कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स जि १ की भूमिका, पृ० ९

९ वही

१० मे हि ए स लि, पृ० २९८

११ इ ए जि १०, पृ० ३४६

१२ ड क्रों इ, पृ० ६

१३ बा. एँ. इ, पृ० ३७

१४ ज रॉ ए सो ई. स १९०६, पृ० ९९७

१५ स्मि. अ, हि इ, पृ० ४७, तीसरा सस्करण

के निर्वाण से १४ वर्ष, ५ मास और १५ दिन पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। इससे बुद्ध निर्वाण ई० स० पूर्व ५१२ में होना माना जाता है।

ख्यातनामा चीनी यात्री हुएनत्सांग ई० सन् ६३० में भारत आया था। उसने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में लिखा है—

"श्री बुद्ध देव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है, सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं, कोई कहते हैं कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५०० वर्ष बीत गए, कोई कहते हैं कि अभी निर्वाणकाल को ६०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।[1]

मुनि नगराज जी ने भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से चर्चा करते हुए अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर, बुद्ध से १७ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५ वर्ष पश्चात् हुआ। उन्होंने अपने इस अभिमत की पुष्टि में अशोक के एक शिलालेख, बर्मी इत्जाना सवत् की कालगणना में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ एवं निर्वाण के उल्लेख और अवन्ती नरेश प्रद्योत एवं बुद्ध की समवयस्कता सम्बन्धी तिब्बती परम्परा, ये तीन मुख्य प्रमाण दिये हैं। पर इन प्रमाणों के आधार पर भी बुद्ध के निर्वाण का कोई एक सुनिश्चित काल नहीं निकलता।

इस प्रकार बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में अनेक मनीषी इतिहासवेत्ताओं ने जो उपर्युक्त बीस तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताएं रखी हैं उनमें से अधिकांशतः तर्क और अनुमान के बल पर ही आधारित हैं। किसी ठोस, अकाट्य, निष्पक्ष और सर्वमान्य प्रमाण के अभाव में कोई भी मान्यता बलवती नहीं मानी जा सकती।

हम यहाँ उन सब विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण की चर्चा में न जाकर केवल उन तथ्यों और निष्पक्ष ठोस प्रमाणों को रखना ही उचित समझते हैं जिनसे कि बुद्ध के सही-सही निर्वाण समय का पता लगाया जा सकता है।

हमें आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की घटना के सम्बन्ध में निर्णय करना है। इसके लिये हमें भारत की प्राचीन धर्म-परम्पराओं के धार्मिक एवं ऐतिहासिक साहित्य का अन्तर्वेधी और तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना होगा।

१ भगवान् बुद्ध, पृ० ८६, भूमिका पृ० १२

"बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष मे हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अब तक नही हुआ। सीलोन[1] (सिंहल द्वीप, लका), ब्रह्मा और स्याम मे बुद्ध का निर्वाण ई० सवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते हैं।[2] चीन वाले ई० स० पूर्व ६३८ मे उसका होना मानते हैं।[3] चीनी यात्री फाहियान ने, जो ई० सन् ४०० मे यहा आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।[4] इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४९७–४००)=१०९७ के आस-पास मानना पड़ता है। चीनी यात्री हुएनत्साग के निर्वाण से १००वें वर्ष मे राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६९ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना बतलाया है।[5] जिससे निर्वाणकाल ई० स० पूर्व चौथी शताब्दी के बीच आता है। डॉ० बूलर ने ई० स० पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के बीच[6], प्रोफेसर कर्न[7] ने ई० स० पूर्व ३८८ मे, फर्गुसन[8] ने ४८१ मे, जनरल कनिंगहाम[9] ने ४७८ में, मैक्समूलर[10] ने ४७७ मे, पंडित भगवानलाल इन्दरजी[11] ने ६३८ मे (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ[12] ने ४७७ मे, डॉ० बार्नेट[13] ने ४८३ मे डॉ० फ्लीट[14] ने ४८३ मे और वी० ए० स्मिथ[15] ने ई० स० पू० ४८७ या ४८६ मे निर्वाण होने का अनुमान किया है।"

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक "वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना" मे अपनी ओर मे प्रबल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर से वय मे २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध

---

१ कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स (जनरल कनिंगहाम सपादित), जि० १ की भूमिका, पृ० ३
२ प्रि ग जि २ यूसफुल टेबल्स, पृ० १६५।
३ वही
४ बी बु, रे वे व, जि १ की भूमिका पृ० ७५
५ बी बु. रे वे. व; जि १, पृ० १५०
६ इ ऐं, जि ६, पृ० १५४
७ साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया जि. १, पृ० ४९२
८ कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स जि १ की भूमिका, पृ० ९
९ वही
१० मैं हि ए स लि, पृ० २९८
११ इ ऐं जि १०, पृ० ३४६
१२ ड क्रों इ, पृ० ६
१३ बा. ऐं इ, पृ० ३७
१४ ज रॉ ए सो. ई. स १९०६, पृ० ९९७
१५ स्मि. अ, हि इ, पृ० ४७, तीसरा सस्करण

वस्तुत: उपर्युक्त श्लोक में महाभारतकार ने बुद्ध के प्रसंग मे उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओ के साहित्यो मे बुद्ध सम्बन्धी विवरणों में बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है, अत: श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर बुद्ध को अजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा, क्योकि वास्तव मे भागवतकार ने बुद्ध को राजा अंजन की सुता आंजनी का पुत्र बताया है।

ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त पाठ में अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "बुद्धो नाम्नाऽऽजनिसुत:" के रूप मे पढा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसंगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव में अशुद्ध रूप से लिपिबद्ध किये गये उपर्यंकित अशुद्ध पाठो को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य संसार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा बुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अंजन-सुता के सुत बुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने अजनिसुत के रूप में जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप में सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अंजन की पुत्री का आजनी के रूप में उल्लेख किया है।

यह सब केवल कल्पना की उड़ान नही है अपितु बर्मी बौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। बर्मी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश मे था। महाराजा अजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ में १७ फरवरी को आदित्यवार के दिन ईत्जाना संवत् चलाया।[1] बर्मी भाषा में 'ईत्जाना' शब्द का अर्थ है अंजन।

बर्मी बौद्ध परम्परा में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्जाना संवत् की कालगणना मे इस प्रकार दिया है :—

१. बुद्ध का जन्म ईत्जाना[2] संवत् के ६८वें वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय में हुआ।

२. बुद्ध ने दीक्षा ईत्जाना[3] संवत् ९६ की आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने के समय मे ली।

---

[1] Prabuddha Karnataka, a Kannada Quarterly published by the *Mysore University* Vol. XXVII (1945-46) No 1 PP. 92-93. The Date of *Nirvana of Lord* Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP. 93-94.

[2] Ibid Vol. 11 PP. 71-72

[3] Life of Gautama, by Bigandet Vol. 1 PP. 62-63

यह तो सर्वविदित है कि उस समय सनातन, जैन और बौद्ध ये तीन प्रमुख धर्म-परम्पराएं मुख्य रूप से थी जो आज भी प्रचलित है।

बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध मे जैनागमो मे कोई विवरण उपलब्ध नही होता। बौद्ध शास्त्रो और साहित्य मे बुद्ध के निर्वाण के सम्बन्ध मे जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे वास्तव मे इतने अधिक और परस्पर विरोधी है कि उनमे से किसी एक को भी तब तक सही नही माना जा सकता जब तक कि उसको पुष्ट करने वाला प्रमाण बौद्धेतर अथवा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नही हो जाता।

ऐसी दशा मे हमारे लिये सनातन धर्म के पौराणिक साहित्य मे बुद्ध विषयक ऐतिहासिक सामग्री को खोजना आवश्यक हो जाता है। सनातन परम्परा के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ६ के श्लोक संख्या २४ मे बुद्ध के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होता है जिसकी ओर सभवत: आज तक किसी इतिहासज्ञ की सूक्ष्म-दृष्टि नही गई। वह श्लोक इस प्रकार है—

> ततः कलौ सप्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
> बुद्धो नाम्नाजनसुत., कीकटेषु भविष्यति ॥

अर्थात् उसके बाद कलियुग आजाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजनी (आंजनी) के पुत्ररूप में आपका बुद्धावतार होगा।

इस श्लोक मे प्रयुक्त 'नाम्नाजनसुत. यह पाठ किसी लिपिकार द्वारा अशुद्ध लिखा गया है ऐसा गीता प्रेस से प्रकाशित श्रीमद्भागवत, प्रथम खंड के पृष्ठ ३६ पर दिये गये टिप्पण से प्रमाणित होता है। इस श्लोक पर टिप्पण संख्या १ मे लिखा है— "प्रा० पा०—जिनसुत."

जिन शब्द का अर्थ है—राग-द्वेष से रहित। राग-द्वेष से रहित पुरुष के पुत्रोत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। वास्तव में यह शब्द था 'आंजनि-सुत' जिसकी न पर लगी इ की मात्रा ज पर किसी प्राचीन लिपिकार द्वारा लगा दी गई। तदनन्तर किसी विद्वान् लिपिकार ने किसी जिन के पुत्र होने की सभावना को आकाश-कुसुम की तरह असंभव मानकर 'अजनसुत:' लिख दिया।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से यह प्रमाणित होता है कि वास्तव में इस श्लोक का मूल पाठ 'बुद्धो नाम्नांजनिसुत. था।' श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणो मे प्राचीन इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन प्रतापी राजाओ का किसी घटनाक्रम के प्रसंग मे नामोल्लेख किया गया है।

वस्तुतः उपर्युक्त श्लोक मे महाभारतकार ने बुद्ध के प्रसग मे उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओं के साहित्यों मे बुद्ध सम्बन्धी विवरणों मे बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है, अतः श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर बुद्ध को अजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा, क्योंकि वास्तव मे भागवतकार ने बुद्ध को राजा अजन की सुता आजनी का पुत्र बताया है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पाठ मे अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "बुद्धो नाम्नांऽऽजनिसुतः" के रूप मे पढा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसंगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव में अशुद्ध रूप से लिपिबद्ध किये गये उपर्यंकित अशुद्ध पाठों को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य संसार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा बुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अंजन-सुता के सुत बुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने अंजनिसुत के रूप मे जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप में सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अंजन की पुत्री का आजनी के रूप मे उल्लेख किया है।

यह सब केवल कल्पना की उड़ान नहीं है अपितु बर्मी बौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। बर्मी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश मे था। महाराजा अजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ मे १७ फरवरी को आदित्यवार के दिन ईत्ज़ाना संवत् चलाया।[1] बर्मी भाषा में 'ईत्ज़ाना' शब्द का अर्थ है अंजन।

बर्मी बौद्ध परम्परा में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्जाना संवत् की कालगणना में इस प्रकार दिया है :—

१. बुद्ध का जन्म ईत्जाना[2] संवत् के ६८वें वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय में हुआ।

२. बुद्ध ने दीक्षा ईत्जाना[3] संवत् ६६ की आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में ली।

---

[1] Prabuddha Karnataka, a Kannada Quarterly published by the Mysore University. Vol. XXVII (1945-46) No. 1 PP. 92-93 The Date of Nirvana of Lord Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP. 93-94

[2] Ibid Vol 11 PP 71-72

[3] Life of Gautama, by Bigandet Vol. 1 PP. 62-63

३. बुद्ध को बोधि-प्राप्ति ईत्जाना संवत् १०३ की वैशाखी पूरिणमा को बुधवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुई।

४. बुद्ध का निर्वाण ईत्जाना संवत् १४८ की वैशाखी पूरिणमा को मंगलवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुआ।

एम. गोविन्द पाई[2] ने बुद्ध के जीवन संबंधी ऊपर वरिणत किये गये ईत्जाना संवत् के कालक्रम को ई० सन् पूर्व के अधोवरिणत कालक्रम के रूप में आबद्ध किया है :—

बुद्ध का जन्म : ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार
बुद्ध द्वारा गृहत्याग : ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
बुद्ध को बोधिलाभ : ई० पू० ५४६, अप्रेल ३, बुधवार।
बुद्ध का निर्वाण : ई० पू० ५०१, अप्रेल १५, मंगलवार।[3]

इस प्रकार श्रीमद्भागवत और बर्मी बौद्ध परम्परा के उल्लेखों से बुद्ध के मातामह (नाना) राजा अजन एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होते हैं तथा बर्मी परम्परा के अनुसार ईत्जाना संवत् के आधार पर उल्लिखित बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के कालक्रम से बुद्ध की सर्वमान्य पूर्णायु ८० वर्ष की सिद्ध होने के साथ २ यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था होते ही ई० पूर्व ५५३ में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के ८ वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५४६ में जब वे ३५ वर्ष के हुए तब उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई और ४५ वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के पश्चात् ई० पूर्व ५०१ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण करने पर उनका निर्वाण हुआ।

बुद्ध के जन्म, बुद्धत्वलाभ और निर्वाणकाल को निर्णायक रूप से प्रमाणित करने वाला दूसरा प्रमाण वायुपुराण का है, जो कि आवश्यक चूर्णि और तिब्बती बौद्ध परम्परा द्वारा कतिपय अंशों में समर्थित है। सनातन, जैन और बौद्ध परम्पराओं के युगपत् पर्यवेक्षण से बुद्ध के जन्म, बोधिलाभ और निर्वाण सम्बन्धी अब तक के विवादास्पद जटिल और पहेली बने हुए प्रश्न का सदा सर्वदा के लिये हल निकल आता है।

---

1 Ibid Vol I P 97 Vol II PP 72-73

Ibid Vol II P. 69

3 Prabuddha Karnataka, a Karnatak Quarterly published by the Mysore University Volume XXVII (1945-46) No. 1 PP 92-93 the Date of Nirvana of Lord Mahaveera in Mahaveera Commemoration Volume PP 93-94.

इस जटिल समस्या को सुलझाने में सहायक होने वाले वायुपुराण के वे श्लोक इस प्रकार हैं :—

....

बृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेषु वर्तिषु ॥१६८॥
मुनिकः स्वामिन हत्वा, पुत्र समभिषेक्ष्यति ।
मिषता क्षत्रियाणा हि प्रद्योतो मुनिको बलात् ॥१६९॥
स वै प्रणतसामन्तो, भविष्ये नयवर्जितः ।
त्रयोविंशत्समा राजा भविता स नरोत्तम ॥१७०॥

अर्थात् वार्हद्रथों (जरासध के वशजों) का राज्य समाप्त हो जाने पर वीतहोत्रों के शासनकाल मे मुनिक सब क्षत्रियो के देखते-देखते अपने स्वामी की हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ती के राज्यसिंहासन पर बैठायेगा । हे राजन् ! वह प्रद्योत सामन्तो को अपने वश मे कर तेईस वर्ष तक न्याय-विहीन ढग से राज्य करेगा ।

अन्तिम श्लोक मे जो यह उल्लेख है कि प्रद्योत २३ वर्ष तक राज्य करेगा, यह तथ्य वस्तुत बुद्ध के साथ भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा बोधि, निर्वाण तथा पूर्ण आयु आदि कालमान को निर्णायक एव प्रामाणिक रूप से निश्चित करने वाला तथ्य है ।

तिब्बती बौद्ध-परम्परा की यह मान्यता है कि जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी जन्म हुआ और जिस दिन चण्डप्रद्योत का अवन्ती के राजसिंहासन पर अभिषेक हुआ उसी दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ ।

बुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष थी, उन्होने २८ वर्ष की उम्र मे गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की आयु मे उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई—इन ऐतिहासिक तथ्यो को सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं ।

जिस दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ उस दिन बुद्ध ३५ वर्ष के थे, इस सर्वसम्मत अभिमत के अनुसार बुद्ध और प्रद्योत के समवयस्क होने के कारण यह स्वतः प्रमाणित है कि प्रद्योत ३५ वर्ष की आयु में अवन्ती का राजा बना । वायुपुराण के इस उल्लेख से कि प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया, यह स्पष्ट है कि प्रद्योत ५८ वर्ष की आयु तक शासनारूढ रहा । उसके पश्चात् प्रद्योत का पुत्र पालक अवन्ती का राजा बना ।

जैन परम्परा के सभी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर का जिस दिन निर्वाण हुआ उसी दिन प्रद्योत के पुत्र पालक का उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती मे राज्याभिषेक हुआ ।

इस प्रकार सनातन, जैन और बौद्ध इन तीनों मान्यताओ द्वारा परिपुष्ट

प्रमाणो के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र मे देहावसान हुआ और उस दिन बुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे । बुद्ध की पूरी आयु ८० वर्ष मानी गई है । इससे बुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, बुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, बोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवें वर्ष मे और बुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है ।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र मे छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्री मज्जिनदासगरिण महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है । चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया । तदनन्तर महावीर ने अपने अपरिग्रह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की, पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर सयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास मे रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया । महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहाँ से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये । इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :—

"...... ...ताहे सेणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, ण एस चविकत्ति ।"

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के सदर्भ मे विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्ग गमन के समय १४ वर्ष की थी । तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामाणिक निर्वाणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५९९ मे और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ होना सिद्ध होता है ।

इन सब तथ्यों को एक दूसरे के साथ जोड कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ मे हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ में हुआ ।

अशोक के शिलालेखों में अकित २५६ के अंक जो विद्वानो द्वारा बुद्ध निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ मे हुआ । इस सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले हैं,[1] उनमे शिलालेखो के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अक खुदा हुआ है । इसके सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो का अभिमत

[1] जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख ।

है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक हो सकते है। उसका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्व २६९ में हुआ, इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिग पर विजय प्राप्त की। कलिग के युद्ध मे हुए भीषण नरसंहार को देख कर अशोक को युद्ध से बड़ी घृणा हो गई और वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया। अशोक ने उपर्युक्त १ स० के शिलालेख मे यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २३ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नही कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह संघ मे आया।

सघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार मे लगादी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यो से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धियां की। बौद्ध संघ की काफी अंशों मे अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियो के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओ को शिलाओ पर टकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों मे कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होगे। तो इस तरह उपर्युक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवे वर्ष मे अर्थात् ई० सन् से २४९ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ मे होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण मे उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बडी धार्मिक परम्पराओं में उल्लिखित विभिन्न तथ्यो के आधार पर प्रमाणित एव अशोक के शिलालेखो से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनों परम्पराओ के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थो मे प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है, यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत सयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप मे भारत के इतिहास मे अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर असंदिग्ध एव प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ मे और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ मे हुआ।

प्रमाणों के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र मे देहावसान हुआ और उस दिन बुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे। बुद्ध की पूरी आयु ८० वर्ष मानी गई है। इससे बुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, बुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, बोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवें वर्ष मे और बुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र मे छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्री मज्जिनदासगणि महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर महावीर ने अपने अपरिग्रह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की, पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर संयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास मे रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया। महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहाँ से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :—

"..... ताहे सेणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, ण एस चविकत्ति।"

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के सदर्भ मे विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्ग गमन के समय १४ वर्ष की थी। तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामाणिक निर्वाणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५९९ मे और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ होना सिद्ध होता है।

इन सब तथ्यों को एक दूसरे के साथ जोड कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ मे हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ मे हुआ।

अशोक के शिलालेखो मे अंकित २५६ के अंक जो विद्वानो द्वारा बुद्ध निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ मे हुआ। इस सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले हैं,[1] उनमे शिलालेखो के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अंक खुदा हुआ है। इसके सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो का अभिमत

१ जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक हो सकते है। उसका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्व २६६ मे हुआ, इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। कलिंग के युद्ध मे हुए भीषण नरसहार को देख कर अशोक को युद्ध से बड़ी घृणा हो गई और वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया। अशोक ने उपर्युक्त १ स० के शिलालेख मे यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २½ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नही कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह सघ मे आया।

सघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार मे लगादी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यो से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धियाँ की। बौद्ध संघ की काफी अंशों मे अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियो के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओ को शिलाओ पर टकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों मे कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होगे। तो इस तरह उपर्युक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवे वर्ष में अर्थात् ई० सन् से २४६ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ मे होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण मे उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बड़ी धार्मिक परम्पराओ में उल्लिखित विभिन्न तथ्यो के आधार पर प्रमाणित एव अशोक के शिलालेखो से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनो परम्पराओ के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थो मे प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है, यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत संयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप मे भारत के इतिहास मे अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर असदिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ मे और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ मे हुआ।

निर्वाणस्थली

डॉ० जैकोबी ने बौद्ध शास्त्रों में वर्णित महावीर-निर्वाणस्थली पावा को शाक्यभूमि में होना स्वीकार किया है, जहाँ कि अन्तिम दिनों में बुद्ध ने भी प्रवास किया था। पर जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाण स्थली पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा है, जिसे आज भव्य मन्दिरों ने एक जैन तीर्थ बना दिया है। किन्तु इतिहासकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होते, क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के अठारह गण-राजा उपस्थित थे, जिनका उत्तरी बिहार की पावा में ही होना संभव जँचता है, कारण कि उधर ही उन लोगों का राज्य था, दक्षिण बिहार की पावा तो उनका शत्रु-प्रदेश था।

पं० राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[1] उनका कहना है कि भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुतः गंगा के उत्तरी अंचल में आई हुई पावा में ही हुआ था जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले के अन्तर्गत पपुहूर नामक ग्राम है। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही संभावना व्यक्त की है।[2]

---

१ दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४९४, टिप्पण ३।

२ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८६।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

तीर्थंकर परिचय-पत्र

पितृ नाम

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		समवायांग	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ति
१	ऋषभदेव	नाभि	नाभि	नाभि	नाभिराय
२	अजितनाथ	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु
३	संभवनाथ	जितारी	जितारि	दृढराज्य	जितारि
४	अभिनन्दन	संवर	संवर	स्वयंवर	संवर
५	सुमतिनाथ	मेघ	मेघप्रभ	मेघरथ	मेघप्रभ
६	पद्मप्रभ	धर	धरण	धरण	धरण
७	सुपार्श्वनाथ	प्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	महासेन	महासेन	महासेन
९	सुविधिनाथ	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
१०	शीतलनाथ	दृढरथ	दृढरथ	दृढरथ	दृढरथ
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णुराज	विष्णु	विष्णु
१२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य
१३	विमलनाथ	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा
१४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन
१५	धर्मनाथ	भानु	भानुराज	भानु	भानुनरेन्द्र
१६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन
१७	कुंथुनाथ	सूर	सूर्य	सूरसेन	सूर्यसेन
१८	अरनाथ	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन
१९	मल्लिनाथ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ
२०	मुनिसुव्रत	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र
२१	नमिनाथ	विजय	विजय	विजय	विजयनरेन्द्र
२२	अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय
२३	पार्श्वनाथ	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन
२४	महावीर	सिद्धार्थ*	सिद्धार्थ†	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ

* सत्तरिसयद्वार, प्रवचन सारोद्धार और आव० नि गा. ३८७ से ३८९ में यही नाम दिये हैं।

† श्लो० १८२ से २०५

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ		
		समवायांग	प्रवचन	आवश्यक नि.	हरिवंशपुराण	उत्तरपुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी
२	अजितनाथ	विजया	विजया	विजया	विजया	विजयसेना	विजया
३	संभवनाथ	सेना	सेना	सेणा	सेना	सुषेणा	सुसेना
४	अभिनन्दन	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था
५	सुमतिनाथ	मंगला	मंगला	मंगला	सुमंगला	मंगला	मंगला
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा
७	सुपार्श्वनाथ	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथिवीषेणा	पृथिवी
८	चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	(लक्ष्मणा) लक्ष्मीमती
९	सुविधिनाथ	रामा	रामा	श्यामा	रामा	जयरामा	रामा
१०	शीतलनाथ	नन्दा	नन्दा	नन्दा	सुनन्दा	सुनन्दा	नन्दा
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णुश्री	सुनन्दा	वेणुदेवी
१२	वासुपूज्य	जया	जया	जया	जया	जयावती	विजया
१३	विमलनाथ	सामा	सामा	रामा	शर्मा	जयश्यामा	जयश्यामा
१४	अनन्तनाथ	सुजशा	सुजशा	सुजशा	सर्वयशा	जयश्यामा	सर्वयशा
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुप्रभा	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	अचिरा	अचिरा	ऐरा	ऐरा	ऐरा (अइराए)
१७	कुंथुनाथ	श्री	श्री	श्री	श्रीमती	श्रीकान्ता	श्रीमतीदेवी
१८	अरनाथ	देवी	देवी	देवी	मित्रा	मित्रसेना	मित्रा
१९	मल्लिनाथ	पभावती	प्रभावती	प्रभावती	रक्षिता	प्रजावती	प्रभावती
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	सोमा	पद्मा
२१	नमिनाथ	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्पिला	वप्रिला
२२	अरिष्टनेमि	शिवा	शिवा	शिवा	शिवा	शिवदेवी	शिवदेवी
२३	पार्श्वनाथ	वामा (वम्मा)	वामा	वम्मा	वर्मा	ब्राह्मी	वर्मिला (वामा)
२४	महावीर	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी

जन्म-भूमि

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		सत्तरिसय द्वार	आवश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
१	ऋषभदेव	इक्ष्वाकुभूमि	इक्ष्वाकुभूमि	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेत
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	अयोध्या	विनीता	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	कोसलपुर	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी
७	सुपार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	काशी	वाराणसी	वाराणसी
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी
१०	शीतलनाथ	भद्दिलपुर	भद्दिलपुरी	भद्दिलापुरी	भद्रपुर	भद्दलपुर
११	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहनादपुर	सिंहपुर	सिंहपुरी
१२	वासुपूज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पापुरी	चम्पा	चम्पानगरी
१३	विमलनाथ	कांपिल्य	कंपिल्लपुर	कंपिल्यपुर	काम्पिल्यपुर	कंपिलापुरी
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्यानगरी	अयोध्या	अयोध्यापुरी
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर
१६	शान्तिनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१७	कुंथुनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगरी	मिथलापुरी
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृही	कुशाग्रनगर	राजगृह	राजगृह
२१	नमिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथलापुरी
२२	अरिष्टनेमि	सोरियपुर	शौर्यपुरम्	सूर्यपुरनगर	द्वारावती	शोरीपुर
२३	पार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी
२४	महावीर	कुंडपुर	कुण्डलपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुंडलपुर

च्यवन-तिथि

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		सत्त०द्वार १४गा ५६ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	आषाढ़ कृ० ४	—
२	अजितनाथ	वैशाख शु० १३	ज्येष्ठ कृ० १५
३	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	फाल्गुन शु० ८
४	अभिनन्दन	वैशाख शु० ४	वैशाख शु० ६
५	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	श्रावण शु० २
६	पद्मप्रभ	माघ कृ० ६	माघ कृ० ६
७	सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद कृ० ८	भाद्रपद शु० ६
८	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	चैत्र कृ० ५
९	सुविधिनाथ	फाल्गुन कृ० ९	फाल्गुन कृ० ९
१०	शीतलनाथ	वैशाख कृ० ६	चैत्र कृ० ८
११	श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	ज्येष्ठ कृ० ६
१२	वासुपूज्य	ज्येष्ठ शु० ९	आषाढ कृ० ६
१३	विमलनाथ	वैशाख शु० १२	ज्येष्ठ कृ० १०
१४	अनन्तनाथ	श्रावण कृ० ७	कार्तिक कृ० १
१५	धर्मनाथ	वैशाख शु० ७	वैशाख शु० १३
१६	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	भाद्रपद कृ० ७
१७	कुंथुनाथ	श्रावण कृ० ९	श्रावण कृ० १०
१८	अरनाथ	फाल्गुन शु० २	फाल्गुन कृ० ३
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु० ४	चैत्र शु० १
२०	मुनिसुव्रत	श्रावण शु० १५	श्रावण कृ० २
२१	नमिनाथ	आश्विन शु० १५	आश्विन कृ० २
२२	अरिष्टनेमि	कार्तिक कृ० १२	कार्तिक शु० ६
२३	पार्श्वनाथ	चैत्र कृ० ४	वैशाख कृ० २ विशाखा
२४	महावीर	आषाढ शु० ६	आषाढ शु० ६

च्यवन-नक्षत्र

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशिरा	मृगशिरा
४	अभिनन्दन	पुनर्वसु	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	शतभिषा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	रेवती
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	उत्तराषाढा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराषाढा

च्यवन-स्थल

क्र.स	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सत्त० द्वार १२ गाथा ५४–५६	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा ५२२–२५
१	ऋषभदेव	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
२	अजितनाथ	विजय विमान	विजय विमान	विजय से
३	सम्भवनाथ	सातवाँ ग्रैवेयक	सुदर्शन विमान प्रथम ग्रैवेयक	अधोग्रैवेयक
४	अभिनन्दन	जयत विमान	विजय विमान	विजय से
५	सुमतिनाथ	जयत विमान	वैजयन्त	जयन्त
६	पद्मप्रभ	नौवाँ ग्रैवेयक	ऊर्ध्व ग्रैवेयक प्रीतिकर विमान	ऊर्ध्व ग्रैवेयक
७	सुपार्श्वनाथ	छठा ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक
८	चन्द्रप्रभ	वैजयत विमान	वैजयन्त	वैजयंत विमान
९	सुविधिनाथ	आनत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग	आरण युगल
१०	शीतलनाथ	प्राणत स्वर्ग	आरण १५वाँ स्वर्ग	आरण युगल
११	श्रेयासनाथ	अच्युत स्वर्ग	अच्युत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान
१२	वासुपूज्य	प्राणत स्वर्ग	महाशुक्र विमान	महाशुक्र
१३	विमलनाथ	सहस्रार	सहस्रार स्वर्ग	शतारकल्प से
१४	अनन्तनाथ	प्राणत	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान
१५	धर्मनाथ*	विजय विमान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१६	शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१७	कुंथुनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१८	अरनाथ	सर्वार्थसिद्ध	जयत	अपराजित
१९	मल्लिनाथ	जयंत विमान	अपराजित विमान	अपराजित विमान
२०	मुनिसुव्रत	अपराजित विमान	प्राणत	आनत विमान
२१	नमिनाथ	प्राणत स्वर्ग	अपराजित	अपराजित विमान
२२	अरिष्टनेमि	अपराजित विमान	जयन्त	अपराजित
२३	पार्श्वनाथ	प्राणत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग (इन्द्र)	प्राणत कल्प
२४	महावीर	प्राणत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान

*श्री धर्मनाथ ने स्वर्ग की मध्यम आयु और शेष तीर्थंकरों ने उत्कृष्ट आयु भोगी।

जन्म-तिथि

क्रम	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: सत्त० २१ द्वा. गा. ७८ से ८१		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: हरिवंश पुराण गा १६६-१८०	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गा. ५२६-५४९
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८		चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ ९
२	अजितनाथ	माघ शु. ८	माघ शु. १०	माघ शु. ९	माघ शु. १०	माघ शु १०
३	संभवनाथ	मार्ग. शु. १४	फाल्गुन शु ८	मार्ग. शु. १५	कार्तिक शु. १५	मगसिर शु. १५
४	अभिनन्दन	माघ शु. २		माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु. ८	चैत्र शु. ११	श्रावण शु. ११	चैत्र शु ११	श्रा. शु. ११
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ. १२		कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ १३	आसोज कृ. १३
७	सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १२		ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १२		पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशी कृ. ५		मार्गशी शु १	मार्गशीर्ष शु १	मार्गशी. शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ १२		माघ कृ १२	माघ कृ १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १२		फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन शु. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. १४		फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन शु. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १४	माघ शु. ४*	माघ शु. १४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १३		ज्येष्ठ कृ १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १३	माघ शु. १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १३		ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. १२
१७	कुन्थुनाथ	वैशाख कृ. १४		वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशी. शु. १०		मार्गशी. शु. १४	मार्गशी. शु. १४	मार्गशी शु. १४
१९	मल्लिनाथ	मार्गशी. शु. ११		मार्गशी. शु. ११	मार्गशी. शु. ११	मार्गशी. शु. ११
२०	मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ कृ. ८		आश्विन शु. १२	×	आश्विन शु. १२
२१	नमिनाथ	श्रावण कृ. ८		आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०	आषाढ शु. १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु ५		वैशाख शु १३	श्रावण शु. ६	वैशाख शु. १३
२३	पार्श्वनाथ	पौष कृ. १०		पौष कृ ११	पौष कृ. ११ पर्व ७३ श्लो. ९०	पौष कृ. ११
२४	महावीर	चैत्र शु. १३		चैत्र शु. १३	चैत्र शु १३	चैत्र शु. १३

*कुछ प्रतियों के अनुसार माघ शु. १४। × श्री मुनिसुव्रतस्वामी की जन्मतिथि उत्तर पुराण में दी ही नहीं है।

जन्म-नक्षत्र

क्र०स०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशिर	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	पूर्वाभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रोहिणी
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी

वर्ण

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सन्दर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर सन्दर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा ४६	आव० नि०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	स्वर्ण के समान
२	अजितनाथ	" "	" "	" "	"	"	सुवर्ण के समान पीत
३	संभवनाथ	" "	" "	" "	"	"	—
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "	"	"	चन्द्रमा के समान
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "	"	"	तपाये स्वर्ण के समान
६	पद्मप्रभ	लाल	लाल	लाल	लाल वर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	लाल कमल के समान
७	सुपार्श्वनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	हरित वर्ण	हरित वर्ण	चन्द्रमा के समान
८	चन्द्रप्रभ	गौर श्वेत	गौर श्वेत	चन्द्र गौर	गौर श्वेत	कुन्द पुष्प	चन्द्र गौर
९	सुविधिनाथ	" "	" "	चन्द्र गौर	शंख के समान	"	—
१०	शीतलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान
११	श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "	"	"	सुवर्ण के समान
१२	वासुपूज्य	लाल	लाल	लाल	लाल वर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	कुंकुम के समान
१३	विमलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान

क्र स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा. ४६	माव० नि०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१४	अनन्तनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "	"	"	
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "	"	"	
१७	कुंथुनाथ	" "	" "	" "	"	"	"
१८	अरनाथ	" "	" "	" "	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	प्रियगु (नीले)	प्रियगु (नीले)	प्रियंगु नील	"	"	स्वर्ण के समान
२०	मुनिसुव्रत	काला	काला	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण (मयूर के कंठ के समान)
२१	नमिनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
२२	अरिष्टनेमि	काला (श्याम)	काला (श्याम)	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण
२३	पार्श्वनाथ	प्रियंगु (नीले)	प्रियगु (नीले)	प्रियगु नील	श्यामल	हरितवर्ण	हरित
२४	महावीर	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीले	—

लक्षण

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		प्रवचन० द्वार २६ गा ३७९-८०	सत्त० द्वा. ४२ गाथा १२१-१२२	तिलोय पण्णत्ती गा. ६०४-६०५
१	ऋषभदेव	वृषभ	वृषभ	बैल
२	अजितनाथ	गज	गज	गज
३	सम्भवनाथ	तुरय (अश्व)	अश्व	अश्व
४	अभिनन्दन	वानर	वानर	बन्दर
५	सुमतिनाथ	कुंचु (क्रोंच)	कुंचु	चकवा
६	पद्मप्रभ	कमल	रक्त कमल	कमल
७	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	स्वस्तिक	नद्यावर्त
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्र	चन्द्र	अर्द्धचन्द्र
९	सुविधिनाथ	मगर	मगर	मगर
१०	शीतलनाथ	श्रीवत्स	श्रीवत्स	स्वस्तिक
११	श्रेयांसनाथ	गण्डय खग्गी (गेंडा)	गेंडा	गेंडा
१२	वासुपूज्य	महिष	महिष	भैंसा
१३	विमलनाथ	वराह	वराह	शूकर
१४	अनन्तनाथ	श्येन	श्येन	सेही
१५	धर्मनाथ	वज्र	वज्र	वज्र
१६	शान्तिनाथ	हरिण	हरिण	हरिण
१७	कुंथुनाथ	छाग	छाग	छाग
१८	अरनाथ	नंद्यावर्त	नंद्यावर्त	तगर-कुसुम (मत्स्य)
१९	मल्लिनाथ	कलश	कलश	कलश
२०	मुनिसुव्रत	कूर्म	कूर्म	कूर्म
२१	नमिनाथ	नीलोत्पल	नीलोत्पल	उत्पल (नील कमल)
२२	अरिष्टनेमि	शंख	शंख	शंख
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	सर्प	सर्प
२४	महावीर	सिंह	सिंह	सिंह
				पृ० २१९

शरीर-मान

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर सदर्भ-ग्रथ		
		प्राव० नि०	सप्ततिशत गाया ४६	समवायाग	हरिवश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष
२	अजितनाथ	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,
३	सभवनाथ	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,
४	अभिनन्दन	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,
५	सुमतिनाथ	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,
६	पद्मप्रभ	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,
७	सुपार्श्वनाथ	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,
८	चन्द्रप्रभ	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,
९	सुविधिनाथ	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,
१०	शीतलनाथ	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,
११	श्रेयासनाथ	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,
१२	वासुपूज्य	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,
१३	विमलनाथ	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,
१४	अनन्तनाथ	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,
१५	धर्मनाथ	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	१८० हाथ
१६	शान्तिनाथ	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० धनुष
१७	कुथुनाथ	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,
१८	अरनाथ	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,
१९	मल्लिनाथ	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,
२०	मुनिसुव्रत	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,
२१	नमिनाथ	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,
२२	अरिष्टनेमि	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,
२३	पार्श्वनाथ	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ (रत्नी)	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ
२४	महावीर	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ (रत्नी)	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ

कौमार्य जीवन

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि० गा २९९-३२२	सत्तरि० द्वार ४५ गा १३५ से १३७	हरिवंश पुराण ३३० से ३३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ५८३-५८५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व
३	सम्भवनाथ	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व
४	अभिनन्दन	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व
५	सुमतिनाथ	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
६	पद्मप्रभ	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व
७	सुपार्श्वनाथ	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व
८	चन्द्रप्रभ	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व
९	सुविधिनाथ	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व
१०	शीतलनाथ	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	३५०००० वर्ष	३५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष
१५	धर्मनाथ	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
१७	कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष
२१	नमिनाथ	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
२४	महावीर	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
				पृ० ७३१-७३२	पृ० २१० से २१६	

राज्य काल

क्र सं	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: आवश्यक नि गा २९९-३२२	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१९	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	—
२	अजितनाथ	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांक	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग
३	संभवनाथ	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग
४	अभिनन्दन	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६५००००
५	सुमतिनाथ	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग
६	पद्मप्रभ	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग
९	सुविधिनाथ	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग
१०	शीतलनाथ	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	५० लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष*

*एवं पञ्चखपक्षाब्धिमितसंवत्सरावधौ, राज्यकालेऽप्यमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम् ॥ उत्तर पु., प्र. ५७ श्लो. ४३

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि. गा २६६-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१६	उत्तर पुराण
१२	वासुपूज्य*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
१३	विमलनाथ	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५००००० वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हृ. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हजार चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हृ वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष माडलिक २५ हृ वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हृ. वर्ष चक्रवर्ती
१७	कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती
१८	अरनाथ	२१००० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष माडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष माडलिक २१००० वर्ष चक्रवर्ती
१९	मल्लिनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२०	मुनिसुव्रत	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष
२१	नमिनाथ	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२३	पार्श्वनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
२४	महावीर*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव

*तारांकित ५ तीर्थंकरो ने राज्य का उपभोग ही नही किया

दीक्षा-तिथि

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ		
		सत्त. द्वा. ७६ गाथा १४५ से १४७	हरिवंश पुराण गाथा २२६-२३६	तिलोय पण्णत्ती गाथा ६४४-६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६
२	अजितनाथ	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६
३	संभवनाथ	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	—
४	अभिनन्दन	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु. ६	मार्गशीर्ष कृ. १०	वैशाख शु. ६	वैशाख शु. ६
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३
७	सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १३	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १३	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
९	सुविधिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ६	मार्गशीर्ष शु. १	पौष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२
११	श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. ३०	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. १३	माघ शु. १३	भाद्रपद शु. १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुंथुनाथ	वैशाख कृ. ५	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०
१९	मल्लिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११
२०	मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ शु. १२	वैशाख कृ. ९	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १०
२१	नमिनाथ	श्रावण कृ. ९	आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०	आषाढ कृ. १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ६	श्रावण शु. ४	श्रावण शु. ६	—
२३	पार्श्वनाथ	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	माघ शु. ११	पौष कृ. ११
२४	महावीर	मार्गशीर्ष कृ. १०*	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०

*सत्तरिसय द्वार मे चैत्र शु. १० उल्लेखित है।

तीर्थंकरों के दीक्षा-नक्षत्र

क्र सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सम्भवनाथ	अभिजित	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	मृगशीरा	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	अनुराधा
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	मूल
११	श्रेयानंनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तरा

दीक्षा साथी

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		प्रवचन सारोद्धार गाथा ३८३ से ३८४	सत्तरिसय गाथा १५३–५५	समवायाग समवाय २५	हरिवंशपुराण गाथा ३५०–३५१	तिलोय-पण्णत्ती गा ६६८ से ६६६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
३	संभवनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
४	अभिनन्दन	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
५	सुमतिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
६	पद्मप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१०	शीतलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
११	श्रेयांसनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०६	६७६	६७६
१३	विमलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१६	शान्तिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१९	मल्लिनाथ	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२३	पार्श्वनाथ	३०० पुरुष	३००	३००	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२४	महावीर	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	१०००*

*गत्वा मुनिसहस्रेण निर्वाण सर्ववाञ्छितम् ॥

—उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१२

प्रथम तप

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		सम. गा. २६, प्र० सा० ४३ द्वा०	आवश्यक नि०	सत्त. द्वार ६३ गाथा १४६	हरिवंश पुराण गाथा २१६ से २२०	तिलोयपण्णत्ती गाथा ६४४ से ६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	बेला (छट्ठभक्त)	बेला	बेला	छमास अनसन	षष्ठ उपवास	—
२	अजितनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला (छट्ठभक्त)	अष्टम भक्त	बेला
३	संभवनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	—
४	अभिनन्दन	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
५	सुमतिनाथ	नित्यभक्त	बेला	नित्यभक्त	तेला	तेला	बेला
६	पद्मप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
७	सुपार्श्वनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
८	चन्द्रप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
९	सुविधिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१०	शीतलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
११	श्रेयांसनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१२	वासुपूज्य	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	एक उपवास	एक उपवास	बेला
१३	विमलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१४	अनन्तनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१५	धर्मनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१६	शान्तिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१७	कुंथुनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१८	अरनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१९	मल्लिनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	तीन उपवास	षष्ठ भक्त	बेला
२०	मुनिसुव्रत	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२१	नमिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२२	अरिष्टनेमि	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
२३	पार्श्वनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	एक उपवास	षष्ठभक्त	तेला
२४	महावीर	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला

दीक्षा साथी

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		प्रवचन सारोद्धार गाथा ३८३ से ३८४	सत्तरिसय गाथा १५३–५५	समवायांग समवाय २५	हरिवंश पुराण गाथा ३५०–३५१	तिलोय-पण्णत्ती गा ६६८ से ६६६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
३	संभवनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
४	अभिनन्दन	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
५	सुमतिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
६	पद्मप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१०	शीतलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
११	श्रेयांसनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०६	६७६	६७६
१३	विमलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१६	शान्तिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१९	मल्लिनाथ	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२३	पार्श्वनाथ	३०० पुरुष	३००	३००	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२४	महावीर	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	१०००*

*गन्त्वा मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥

—उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१२

प्रथम तप

क्र सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		सम. गा. २६, प्र० सा० ४३ द्वा०	आवश्यक नि०	सत्त. द्वार ६३ गाथा १४६	हरिवंश पुराण गाथा २१६ से २२०	तिलोयपण्णत्ती गाथा ६४४ से ६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	बेला (छट्ठभक्त)	बेला	बेला	छमास अनसन	षष्ठ उपवास	—
२	अजितनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला (छट्ठभक्त)	अष्टम भक्त	बेला
३	संभवनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	—
४	अभिनन्दन	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
५	सुमतिनाथ	नित्यभक्त	बेला	नित्यभक्त	तेला	तेला	बेला
६	पद्मप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
७	सुपार्श्वनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
८	चन्द्रप्रभ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
९	सुविधिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१०	शीतलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
११	श्रेयांसनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तेला	बेला
१२	वासुपूज्य	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	एक उपवास	एक उपवास	बेला
१३	विमलनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१४	अनन्तनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१५	धर्मनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१६	शान्तिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
१७	कुंथुनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१८	अरनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
१९	मल्लिनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	तीन उपवास	षष्ठ भक्त	बेला
२०	मुनिसुव्रत	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२१	नमिनाथ	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	बेला
२२	अरिष्टनेमि	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
२३	पार्श्वनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	एक उपवास	षष्ठभक्त	तेला
२४	महावीर	बेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला

प्रथम पारणा-दाता

क्र सं	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सम्मत ग्रंथ			दिगम्बर सम्मत ग्रंथ	
		आवश्यक नि० गा. ३२३ से ३२६	सत्त० द्वार ७७ गा १६३-१६५	समवायांग गा. ७६-७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवंश पुराण ७२४
१	ऋषभदेव	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस
२	अजितनाथ	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्माराजा	ब्रह्मदत्त
३	संभवनाथ	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त
४	अभिनन्दन	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्तराजा	इन्द्रदत्त
५	सुमतिनाथ	पद्म	पद्म	पद्म	पद्मराजा	पद्मक
६	पद्मप्रभ	सोमदेव	सोमदेव	सोमदेव	सोमदत्तराजा	सोमदत्त
७	सुपार्श्वनाथ	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्रदत्तराजा	महादत्त
८	चन्द्रप्रभ	सोमदत्त	सोमद	सोमदत्त	सोमदत्तराजा	सोमदेव
९	सुविधिनाथ	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्यमित्रराजा	पुष्पक
१०	शीतलनाथ	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसुराजा	पुनर्वसु
११	श्रेयांसनाथ	पूर्णनंद	नंद	पूर्णनंद	नंदराजा	सुनन्द
१२	वासुपूज्य	सुनन्द	सुनन्द	सुनन्द	सुन्दरराजा	जय
१३	विमलनाथ	जय	जय	जय	कनकप्रभु	विशाख
१४	अनन्तनाथ	विजय	विजय	विजय	विशाखराजा	धर्मसिंह
१५	धर्मनाथ	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धन्य	सुमित्र
१६	शान्तिनाथ	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्रराजा	धर्ममित्र
१७	कुंथुनाथ	व्याघ्रसिंह (वग्गसीह)	व्याघ्रसिंह	वर्गसिंह	धर्ममित्रराजा	अपराजित
१८	अरनाथ	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजितराजा	नन्दिषेण
१९	मल्लिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	नन्दीषेण	वृषभदत्त
२०	मुनिसुव्रत	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ऋषभसेन	वृषभषेन	दत्त
२१	नमिनाथ	दिन्न	दिन्न	दिन्न	दत्तराजा	वरदत्त
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदिन्न	वरदत्त	वरदत्त	नृपति
२३	पार्श्वनाथ	धन्य	धन्य	धन्य	धन्यराजा	धन्य
२४	महावीर	बहुल	बहुल	बहुल	कूल	बकुल

प्रथम पारणा स्थल

क्र स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ	
		आव. नियुक्ति, सत्त० द्वार ७६ ;		समवायांग	उत्तर पुराण	हरिवंश पु० पृ०
		३२३ से ३२६	गा० १६०-१६१	७६-७७	पर्व ४८ से ६६	७२४
१	ऋषभदेव	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
२	अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी	अयोध्या
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
४	अभिनन्दन	साकेतपुर	अयोध्या	साकेतपुर	साकेत (अयोध्या)	विनीता
५	सुमतिनाथ	विजयपुर	विजयपुर	विजयपुर	सौमनस नगर	विजयपुर
६	पद्मप्रभ	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	वर्द्धमान नगर	मंगलपुर
७	सुपार्श्वनाथ	पाटलिखंड	पाटलिखंड	पाटलिखंड	सोमखेट नगर	पाटलिखंड
८	चन्द्रप्रभ	पद्मखंड	पद्मखंड	पद्मखंड	नलिन नगर	पद्मखंड
९	सुविधिनाथ	श्रेय पुर	श्रेय पुर	श्रेय पुर	शैलपुर नगर	श्वेतपुर
१०	शीतलनाथ	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	अरिष्ठ नगर	अरिष्ठपुर
११	श्रेयांसनाथ	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थ नगर	सिद्धार्थपुर
१२	वासुपूज्य	महापुर	महापुर	महापुर	महानगर	महापुर
१३	विमलनाथ	धान्यकड	धान्यकड	धान्यकड	नन्दनपुर	धान्यकटपुर
१४	अनन्तनाथ	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	साकेतपुर	वर्द्धमानपुर
१५	धर्मनाथ	सौमनस	सौमनस	सौमनस	पाटलिपुत्र	सौमनसपुर
१६	शान्तिनाथ	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर
१७	कुंथुनाथ	चक्रपुर	चक्रपुर	चक्रपुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
१८	अरनाथ	राजपुर	राजपुर	राजपुर	चक्रपुरनगर	चक्रपुर
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगर	मिथिला
२०	मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह नगर	राजगृह
२१	नमिनाथ	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर
२२	अरिष्टनेमि	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारवती
२३	पार्श्वनाथ	कोपकट	कोपकट	कोपकट	गुल्मखेट	काम्यकृत
२४	महावीर	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कूलग्राम	कुंडपुर

छद्मस्थ-काल

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ	
		सत्त० ८४ द्वा. गा. १७२-१७४	प्रा० नि० २३८-२४०	हरिवंश पुराण श्लो ३३७-३४०	तिलोय पण्णत्ती गा ६७५-६७८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष
२	अजितनाथ	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष
३	सम्भवनाथ	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष
४	अभिनन्दन	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष
५	सुमतिनाथ	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष
६	पद्मप्रभ	छः महिना	छः महिना	छः मास	छः मास	छः मास
७	सुपार्श्वनाथ	नो महिना	नो महिना	नो वर्ष	नो वर्ष	नो वर्ष
८	चन्द्रप्रभ	तीन महिना	तीन महिना	तीन मास	तीन मास	तीन मास
९	सुविधिनाथ	चार महिना	चार महिना	चार मास	चार वर्ष	चार वर्ष
१०	शीतलनाथ	तीन महिना	तीन महिना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
११	श्रेयांसनाथ	दो महिना	दो महिना	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१२	वासुपूज्य	एक महिना	एक महिना	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१३	विमलनाथ	दो महिना	दो महिना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
१४	अनन्तनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१५	धर्मनाथ	दो वर्ष	दो वर्ष	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१६	शान्तिनाथ	एक वर्ष	एक वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१७	कुंथुनाथ	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१८	अरनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१९	मल्लिनाथ	*एक अहोरात्र	एक अहोरात्र	छः दिन	छः दिन	छः दिन
२०	मुनिसुव्रत	ग्यारह महिना	ग्यारह महिना	ग्यारह मास	ग्यारह मास	ग्यारह मास
२१	नमिनाथ	नव महिना	नव मास	नव वर्ष	नव मास	नव वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	चौवन दिन	चौवन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन
२३	पार्श्वनाथ	चौरासी दिन	चौरासी दिन	चार मास	चार मास	चार मास
२४	महावीर	साढे बारह वर्ष पन्द्रह दिन	साढे बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष

* जं चेव दिवसं पव्वइए तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरण्हकालसमयंसि.... केवलवर णाणदंसणे समुप्पन्ने ।

—ज्ञाता, श्रु. १, अ. ८, सूत्र ८४

केवलज्ञान-तिथि

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव० नि०	सत्त० द्वार८७ गा. १७६-८३	तिलोय पण्णत्ती चौ. महा. गाथा ६७६ से ७०१	हरिवंश पुराण ४२५ पृ.	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	फा कृ ११ उत्तरा.	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ.११	फाल्गुन कृ ११	फाल्गुन कृ.११
२	अजितनाथ	पौ शु ११ रोहिणी	पौष शु. ११	पौष शु १४	पौष शु. १४	पौष शु. ११
३	संभवनाथ	का. कृ ५ मृग.	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ४
४	अभिनन्दन	पौ.शु १४अभि.	पौष शु. १४	कार्तिक शु. ५	पौष शु. १५	पौष शु १४
५	सुमतिनाथ	चै.शु.११ मघा	चैत्र शु. ११	पौष शु. १५	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
६	पद्मप्रभ	चै.शु.१५ चित्रा	चैत्र शु. १५	वैशाख शु. १०	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. १५
७	सुपार्श्वनाथ	फा.कृ.६ विशा.	फा. कृ. ६	फाल्गुन	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ६
८	चन्द्रप्रभ	फा.कृ.७ अनु.	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ ७
९	सुविधिनाथ	का. शु. ३ मूल	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु.२
१०	शीतलनाथ	पौ.कृ.१४पू. षा.	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ १४
११	श्रेयांसनाथ	माघ.कृ.३०श्रव.	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०
१२	वासुपूज्य	माघ शु. २ शत.	माघ शु २	माघ शु. २	माघ शु २	माघ शु. २
१३	विमलनाथ	पौ शु.६ उ.भा.	पौ. शु ६	पौष शु १०	पौष कृ १०	माघ शु. ६
१४	अनन्तनाथ	वै.कृ.१४रेवती	वैशाखकृ १४	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१५	धर्मनाथ	पौ.शु.१५ पुष्य	पौष शु. १५	पौष शु १५	पौष शु १५	पौष शु १५
१६	शान्तिनाथ	पौ.शु ९ भरणी	पौष शु. ९	पौष शु. ११	पौष शु. ११	पौष शु. १०
१७	कुंथुनाथ	चै. शु.३ कृत्ति.	चैत्र शु. ३	चैत्र शु ३	चैत्र शु ३	चैत्र शु ३
१८	अरनाथ	का.शु १२रेव.	कार्तिकशु.१२	कार्तिकशु.१२	कार्तिक शु १२	कार्तिकशु १२
१९	मल्लिनाथ	मार्ग शु ११अश्वि.	मार्गशीर्ष शु.११	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ ११	मार्ग शु ११
२०	मुनिसुव्रत	फा.कृ १२श्रवण	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ६	वैशाख कृ ९
२१	नमिनाथ	मार्ग शु.११अश्वि.	मार्गशीर्ष शु.११	चैत्र शु ३	चैत्र शु. ३	मार्ग. शु. ११
२२	अरिष्टनेमि	आश्वि. कृ. ३० चित्रा	आसोज शु ३०	आसोज शु. १	आश्वि.शु १	आसोज कृ ३०
२३	पार्श्वनाथ	चै कृ. ४विशा.	चैत्र कृ ४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ ४	चैत्र कृ. १३
२४	महावीर	वै.शु ११हस्तो० गा.२६३से२७४	वैशाख शु. १०	वैशाख शु. १० पृ.२२७ २३०	वैशाख शु. १०	वैशाख शु. १०

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-नक्षत्र

क्र. स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	सम्भवनाथ	मृगशिरा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	अभिजित	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	हस्त
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलन	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांस	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तरभाद्रपद	उत्तराषाढा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य.	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	मघा

केवलज्ञान-स्थल

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	
		सप्ततिशतस्थान गा. १८४-१८५	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा. ६७६-७०१
१	ऋषभदेव	पुरिमताल नगरी (शकटमुख उद्यान)	पुरिमताल	पुरिमताल नगर
२	अजितनाथ	अयोध्यानगरी	—	सहेतुकवन
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	सहेतुकवन	सहेतुकवन
४	अभिनन्दन	अयोध्या	अग्रउद्यान	उग्रवन
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहेतुकवन
६	पद्मप्रभ	कौशाम्बी	—	मनोहरउद्यान
७	सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	सहेतुकवन	सहेतुकवन
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	सर्वर्तुकवन	सर्वार्थवन
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	पुष्पकवन	पुष्पवन
१०	शीतलनाथ	भद्दिलपुरी	—	सहेतुकवन
११	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१२	वासुपूज्य	चम्पा	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१३	विमलनाथ	कम्पिलपुर	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर (शालवन)	सहेतुकवन
१६	शान्तिनाथ	गजपुरम्	सहस्राम्रवन	आम्रवन
१७	कुंथुनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन (हस्तिनापुर)	सहेतुकवन
१८	अरनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	श्वेतवन (मिथिला)	मनोहरउद्यान
२०	मुनिसुव्रत	राजगृही	नीलवन (राजगृह)	नीलवन
२१	नमिनाथ	मिथिला	चैत्रवनउद्यान (मिथिला)	चित्रवन
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयन्त	रैवतक	ऊर्जयंतगिरि
२३	पार्श्वनाथ	वाराणसी	अश्ववन (वाराणसी)	शक्रपुर
२४	महावीर	जृंभिका नगरी ऋजु वालिका नदी पृष्ठ ४५	ऋजुकूला नदी (मनोहरवन)	ऋजुकूला नदी पृ. २२७-२३०

तीर्थंङ्करों के चैत्य-वृक्ष

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	ऊंचाई	श्वेताम्बर	दिगम्बर
			समवा. गा. ३३-३७	हरिवंश पृ. ७१६-७२१
१	ऋषभदेव	३ गव्यूति	न्यग्रोध के नीचे ज्ञानोत्पत्ति	वट
२	अजितनाथ	शरीर की ऊंचाई से बारह गुना	शक्तिपर्ण	सप्तपर्ण
३	सम्भवनाथ	"	शाल	शाल
४	अभिनन्दन	"	पियय	सरल
५	सुमतिनाथ	"	प्रियंगु	प्रियंगु
६	पद्मप्रभ	"	छत्राभ	प्रियंगु
७	सुपार्श्वनाथ	"	शिरीष	शिरीष
८	चन्द्रप्रभ	"	नागवृक्ष	नागवृक्ष
९	सुविधिनाथ	"	मांली	साली
१०	शीतलनाथ	"	पिलङ्खु	प्लक्ष
११	श्रेयांसनाथ	"	तिन्दुक	तिन्दुक
१२	वासुपूज्य	"	पाटल	पाटली
१३	विमलनाथ	"	जम्बु	जामुन
१४	अनन्तनाथ	"	अश्वत्थ	पीपल
१५	धर्मनाथ	"	दधिपर्ण	दधिपर्ण
१६	शान्तिनाथ	"	नन्दिवृक्ष	नन्दिवृक्ष
१७	कुंथुनाथ	"	पिलङ्खु	पिलङ्खु
१८	अरनाथ	"	आम्र	आम्र
१९	मल्लिनाथ	"	अशोक	अशोक
२०	मुनिसुव्रत	"	चम्पक	चम्पक
२१	नमिनाथ	"	बकुल	बकुल
२२	अरिष्टनेमि	"	वेतस	मेढाशृंगी
२३	पार्श्वनाथ	"	धातकी	धव
२४	महावीर	३२ धनुष	शाल	शाल

गणधर समुदाय

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	आव० नि० गा. २६६ से ६८	समवायांग	प्रवचन सारोद्धार द्वार १५	हरिवंश पुराण गा. ३४१ से ४५	तिलोय पण्णत्ती गा. ९६१ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४	८४	८४	८४	८४	८४
२	अजितनाथ	९५	९०	९५	९०	९०	९०
३	संभवनाथ	१०२	१०२	१०२	१०५	१०५	१०५
४	अभिनन्दन	११६	११६	११६	१०३	१०३	१०३
५	सुमतिनाथ	१००	१००	१००	११६	११६	११६
६	पद्मप्रभ	१०७	१०७	१०७	१११	१११	११०
७	सुपार्श्वनाथ	९५	९५	९५	९५	९५	९५
८	चन्द्रप्रभ	९३	९३	९३	९३	९३	९३
९	सुविधिनाथ	८८	८६	८८	८८	८८	८८
१०	शीतलनाथ	८१	८३	८१	८१	८१	८७
११	श्रेयांसनाथ	७२	६६	७६	७७	७७	७७
१२	वासुपूज्य	६६	६२	६६	६६	६६	६६
१३	विमलनाथ	५७	५६	५७	५५	५५	५५
१४	अनन्तनाथ	५०	५४	५०	५०	५०	५०
१५	धर्मनाथ	४३	४८	४३	४३	४३	४३
१६	शान्तिनाथ	३६	९०	३६	३६	३६	३६
१७	कुंथुनाथ	३५	३७	३५	३५	३५	३५
१८	अरनाथ	३३	३३	३३	३०	३०	३०
१९	मल्लिनाथ	२८	२८	२८	२८	२८	२८
२०	मुनिसुव्रत	१८	१८	१८	१८	१८	१८
२१	नमिनाथ	१७	—	१७	१७	१७	१७
२२	अरिष्टनेमि*	११	—	११	११	११	११
२३	पार्श्वनाथ	१०	८	१०	१०	१०	१०
२४	महावीर	११	११	११	११	११	११

*(क) कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि के गणधरों की संख्या १८ दी गई है।

(ख) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते। प्रव०, पृ० ८६, भाग–१

प्रथम-शिष्य

क्र.सं	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	
		प्रवचन सारोद्धार ८ द्वार गा. ३०४-३०६	समवायांग गा ३६-४१	सत्तरि. द्वा, १०२ द्वा. गा २१४-२१५	हरिवंश गा. ३४६-३४६	तिलोय प गा ६६४-६६६
१	ऋषभदेव	उपभसेन	उपभसेन	पुंडरीक	वृषभसेन	वृषभसेन
२	अजितनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	केसरीसेन
३	संभवनाथ	चारु	चारु	चारु	चारुदत्त	चारुदत्त
४	अभिनन्दन	वज्रनाग	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाम	वज्रचमर
५	सुमतिनाथ	चमर	चमर	चमरगणी	चमर	वज्र
६	पद्मप्रभ	प्रद्योत	सुव्रत	सुज्ज-सुद्योत	वज्रचमर	चमर
७	सुपार्श्वनाथ	विदर्भ	विदर्भ	विदर्भ	बली	बलदत्त
८	चन्द्रप्रभ	दिन्न पहुव	दिन्न	दिन्न	दत्त	वैदर्भ
९	सुविधिनाथ	वराह	वराह	वराह	विदर्भ	नाग
१०	शीतलनाथ	प्रभुनंद	आनन्द	नद	अनगार	कुंथु
११	श्रेयांसनाथ	कोस्तुभ	गोस्तुभ	कुच्छुभ	कुंथु	धर्म
१२	वासुपूज्य	सुभोम	सुधर्मा	सुभूम	सुधर्म	मन्दिर
१३	विमलनाथ	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दरार्य	जय
१४	अनन्तनाथ	यश	यश	यश	जय	अरिष्ठ
१५	धर्मनाथ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठसेन	सेन
१६	शान्तिनाथ	चक्रायुध	चक्राभ	चक्रायुध	चक्रायुध	चक्रायुध
१७	कुंथुनाथ	संब	सयभू	सब	स्वयंभू	स्वयभू
१८	अरनाथ	कुम्भ	कुंभ	कुम्भ	कुम्थु	कुम्भ
१९	मल्लिनाथ	भिसय	इन्द्र	भिसग	विशाख	विशाख
२०	मुनिसुव्रत	मल्ली	कुम्भ	मल्ली	मल्ली	मल्ली
२१	नमिनाथ	शुंभ	शुंभ	शुभ	सोमक	सुप्रभ
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त
२३	पार्श्वनाथ	आर्यदिन्न	दिन्न	आर्यदत्त	स्वयंभू	स्वयभू
२४	महावीर	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति

प्रथम शिष्या

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ		
		समवायाग	प्रव सा.गा ३०७-९	सत्त द्वा. १०४ गा. २१६-२१७	हरि पुराण परि. ५९	तिलोय प. गा. ११७८ से ११८०	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी
२	अजितनाथ	फलगू	फलगू (फग्गू)	फग्गुणी	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा
३	संभवनाथ	श्यामा	सामा	श्यामा	धर्मश्री	धर्मश्री	धर्मार्या
४	अभिनन्दन	अजीता	अजिया	अजीता	मेरुसेना	मेरुषेणा	मरूषणा
५	सुमतिनाथ	कासवी	कासवी	कासवी	अनन्ता	अनन्ता	अनन्तमती
६	पद्मप्रभ	रति	रति	रति	रतिसेना	रतिषेणा	रात्रिषेणा
७	सुपार्श्वनाथ	सोमा	सोमा	सोमा	मीना	मीना	मीना
८	चन्द्रप्रभ	सुमना	सुमणा	सुमणा	वरुणा	वरुणा	वरुणा
९	सुविधिनाथ	वारुणी	वारुणी	वारुणी	घोषा	घोषा	घोषा
१०	शीतलनाथ	सुलसा	सुजसा	सुजसा	धरणा	धरणा	धरणा
११	श्रेयांसनाथ	धारणी	धारिणी	धारिणी	धारणा	धारणा	धारणा
१२	वासुपूज्य	धरणी	धरिणी	धरणी	वरसेना	वरसेना	सेना
१३	विमलनाथ	धरणीधरा	धरा	धरा	पद्मा	पद्मा	पद्मा.
१४	अनन्तनाथ	पद्मा	पद्मा	पद्मा	सर्वश्री	सर्वश्री	सर्वश्री
१५	धर्मनाथ	शिवा	अज्जासिवा	अज्जासिवा	सव्रता	सुव्रता	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	सुयी (श्रुती)	सुहा	सुई	हरिसेना	हरिषेणा	हरिषेणा
१७	कुंथुनाथ	अंजुया भावितात्मा	दामणी	दामिणी	भाविता	भाविता	भाविता
१८	अरनाथ	रक्षी	रक्खी	रक्खिमा	कुंथुसेना	कुंथुसेना	यक्षिला
१९	मल्लिनाथ	बंधुमती	बंधुमती	बंधुमती	मधुसेना	मधुसेना	बंधुषेणा
२०	मुनिसुव्रत	पुष्पवती	पुष्पवती	पुष्पवती	पूर्वदत्ता	पूर्वदत्ता	पुष्पदन्ता
२१	नमिनाथ	अमिला	अनिला	अनिला	मार्गिणी	मार्गिणी	मंगिनी
२२	अरिष्टनेमि	जक्षिणी (जक्षिणी)	जक्खदिन्ना	जक्खादिन्ना	यक्षी	यक्षिणी	यक्षी
२३	पार्श्वनाथ	पुष्पचूला	पुष्पचूला	पुष्पचूला	सुलोका	सुलोका	सुलोचना
२४	महावीर	चन्दना	चन्दना	चन्दनबाला	चन्दना	चन्दना	चन्दना

पृ० २१८

प्रमुख-शिष्य

क्र.सं	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	
		प्रवचन सारोद्धार ८ द्वार गा. ३०४-३०६	समवायांग गा ३९-४१	सत्तरि. द्वा, १०३ द्वा गा. २१४-२१५	हरिवंश गा. ३४६-३४९	तिलोय प गा. ९६४-९६६
१	ऋषभदेव	उषभसेन	उषभसेन	पुंडरीक	वृषभसेन	वृषभसेन
२	अजितनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	केसरीसेन
३	संभवनाथ	चारु	चारु	चारु	चारुदत्त	चारुदत्त
४	अभिनन्दन	वज्रनाग	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रचमर
५	सुमतिनाथ	चमर	चमर	चमरगणी	चमर	वज्र
६	पद्मप्रभ	प्रद्योत	सुव्रत	सुज्ज-सुद्योत	वज्रचमर	चमर
७	सुपार्श्वनाथ	विदर्भ	विदर्भ	विदर्भ	बली	बलदत्त
८	चन्द्रप्रभ	दिन्न पहव	दिन्न	दिन्न	दत्त	वैदर्भ
९	सुविधिनाथ	वराह	वराह	वराह	विदर्भ	नाग
१०	शीतलनाथ	अमुनन्द	आनन्द	नंद	अनगार	कुंथु
११	श्रेयांसनाथ	कोस्तूभ	गोस्तूभ	कुम्भुभ	कुंथु	धर्म
१२	वासुपूज्य	सुभोम	सुधर्मा	सुभूम	सुधर्म	मन्दिर
१३	विमलनाथ	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दरार्य	जय
१४	अनन्तनाथ	यश	यश	यश	जय	अरिष्ठ
१५	धर्मनाथ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठसेन	सेन
१६	शान्तिनाथ	चक्रायुध	चक्राभ	चक्रायुध	चक्रायुध	चक्रायुध
१७	कुंथुनाथ	संब	सयंभू	संब	स्वयंभू	स्वयंभू
१८	अरनाथ	कुम्भ	कुंभ	कुम्भ	कुम्थु	कुम्भ
१९	मल्लिनाथ	भिसय	इन्द्र	भिसग	विशाख	विशाख
२०	मुनिसुव्रत	मल्ली	कुम्भ	मल्ली	मल्ली	मल्ली
२१	नमिनाथ	सुंभ	शुंभ	शुंभ	सोमक	सुप्रभ
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त
२३	पार्श्वनाथ	अज्जदिन्न	दिन्न	आर्यदत्त	स्वयंभू	स्वयंभू
२४	महावीर	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति

प्रथम शिष्या

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ		
		समवायाग	प्रव सा.गा. ३०७-६	सत्त द्वा. १०४ गा. २१६-२१७	हरि पुराण परि. ५६	तिलोय प. गा ११७८ से ११८०	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी
२	अजितनाथ	फलगू	फलगू (फग्गू)	फग्गुणी	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा
३	संभवनाथ	श्यामा	सामा	श्यामा	धर्मश्री	धर्मश्री	धर्मार्या
४	अभिनन्दन	अजीता	अजिया	अजीता	मेरुसेना	मेरुषेणा	मरूषणा
५	सुमतिनाथ	कासवी	कासवी	कासवी	अनन्ता	अनन्ता	अनन्तमती
६	पद्मप्रभ	रति	रति	रति	रतिसेना	रतिषेणा	रात्रिषेणा
७	सुपार्श्वनाथ	सोमा	सोमा	सोमा	मीना	मीना	मीना
८	चन्द्रप्रभ	सुमना	सुमणा	सुमणा	वरुणा	वरुणा	वरुणा
९	सुविधिनाथ	वारूणी	वारूणी	वारूणी	घोषा	घोषा	घोषा
१०	शीतलनाथ	सुलसा	सुजसा	सुजसा	धरणा	धरणा	धरणा
११	श्रेयांसनाथ	धारणी	धारिणी	धारिणी	धारणा	धारणा	धारणा
१२	वासुपूज्य	धरणी	धरिणी	धरणी	वरसेना	वरसेना	सेना
१३	विमलनाथ	धरणीधरा	धरा	धरा	पद्मा	पद्मा	पद्मा.
१४	अनन्तनाथ	पद्मा	पद्मा	पद्मा	सर्वश्री	सर्वश्री	सर्वश्री
१५	धर्मनाथ	शिवा	अज्जासिवा	अज्जासिवा	सव्रता	सुव्रता	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	सुयी (श्रुती)	सुहा	सुई	हरिसेना	हरिषेणा	हरिषेणा
१७	कुंथुनाथ	अंजुया भावितात्मा	दामणी	दामिणी	भाविता	भाविता	भाविता
१८	अरनाथ	रक्षी	रक्खी	रक्खिमा	कुंथुसेना	कुंथुसेना	यक्षिला
१९	मल्लिनाथ	बंधुमती	बंधुमती	बंधुमती	मधुसेना	मधुसेना	बंधुषेणा
२०	मुनिसुव्रत	पुष्पवती	पुप्फवती	पुप्फवती	पूर्वदत्ता	पूर्वदत्ता	पुष्पदन्ता
२१	नमिनाथ	अनिला	अनिला	अनिला	मार्गिणी	मार्गिणी	मंगिनी
२२	अरिष्टनेमि	जक्षिणी (यक्षिणी)	जक्खदिन्ना	जक्खादिन्ना	यक्षी	यक्षिणी	यक्षी
२३	पार्श्वनाथ	पुष्पचूला	पुप्फचूला	पुप्फचूला	सुलोका	सुलोका	सुलोचना
२४	महावीर	चन्दना	चन्दना	चन्दनबाला	चन्दना	चन्दना	चन्दना

पृ० २१८

साधु-संख्या

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक निर्यु. गा. २५६-२५९	प्रवचन सार. गाथा ३३१-३३४	सत्त. द्वार. ११२ गा. २३२-२३४	हरिवंश पुराण गा. ३५२-३५६	तिलोय प गा. १०९२ से १०९७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०८४
२	अजितनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
३	संभवनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
४	अभिनन्दन	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००
६	पद्मप्रभ	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००
७	सुपार्श्वनाथ	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००
९	सुविधिनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००
११	श्रेयांसनाथ	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००
१२	वासुपूज्य	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००
१३	विमलनाथ	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००
१४	अनन्तनाथ	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००
१५	धर्मनाथ	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००
१६	शान्तिनाथ	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००
१७	कुंथुनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१८	अरनाथ	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
१९	मल्लिनाथ	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२०	मुनिसुव्रत	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००
२१	नमिनाथ	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२२	अरिष्टनेमि	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००
२३	पार्श्वनाथ	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००
२४	महावीर	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००

साध्वी-संख्या

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्र. सा. द्वा. १७ गा. ३३५-३९	सत्त. द्वा. ११३ गा. २३५-२३९	हरिवंश पुराण गा. ४३२-४४०	तिलोय पण्णत्ती गा. ११६६ से ११७६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०००००	३०००००	३५००००	३५००००	३५००००
२	अजितनाथ	३३००००	३३००००	३२००००	३२००००	३२००००
३	संभवनाथ	३३६०००	३३६०००	३३००००	३३००००	३२००००
४	अभिनन्दन	६३००००	६३००००	३३००००	३३०६००	३३०६००
५	सुमतिनाथ	५३००००	५३००००	३३००००	३३००००	३३००००
६	पद्मप्रभ	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००
७	सुपार्श्वनाथ	४३००००	४३००००	३३००००	३३००००	३३००००
८	चन्द्रप्रभ	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००
९	सुविधिनाथ	१२००००	१२००००	३८००००	३८००००	३८००००
१०	शीतलनाथ	१००००६	१००००६	३८००००	३८००००	३८००००
११	श्रेयांसनाथ	१०३०००	१०३०००	१२००००	१३००००	१२००००
१२	वासुपूज्य	१०००००	१०००००	१०६०००	१०६०००	१०६०००
१३	विमलनाथ	१००८००	१००८००	१०३०००	१०३०००	१०३०००
१४	अनन्तनाथ	६२०००	६२०००	१०८०००	१०८०००	१०८०००
१५	धर्मनाथ	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००
१६	शान्तिनाथ	६१६००	६१६००	६०३००	६०३००	६०३००
१७	कुंथुनाथ	६०६००	६०६००	६०३५०	६०३५०	६०३५०
१८	अरनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
१९	मल्लिनाथ	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००
२०	मुनिसुव्रत	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
२१	नमिनाथ	४१०००	४१०००	४५०००	४५०००	४५०००
२२	अरिष्टनेमि	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
२३	पार्श्वनाथ	३८०००	३८०००	३८०००	३८०००	३६०००
२४	महावीर	३६०००	३६०००	३५०००	३६०००	३६०००

श्रावक-संख्या

क्र सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्र. सा. द्वा. २४ गा ३६४-६७	आ० नि०	सत्त. द्वा. ११४ गा. २४०-२४२	हिर. पु. गा. ४४१	तिलोय पण्णत्ती गा ११८१ से ११८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०५०००	३०५०००	३०५०००	३०००००	३०००००	३०००००
२	अजितनाथ	२९८०००	२९८०००	२९८०००	३०००००	३०००००	३०००००
३	सभवनाथ	२९३०००	२९३०००	२९३०००	३०००००	३०००००	३०००००
४	अभिनन्दन	२८८०००	२८८०००	२८८०००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	२८१०००	२८१०००	२८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
६	पद्मप्रभ	२७६०००	२७६०००	२७६०००	३०००००	३०००००	३०००००
७	सुपार्श्वनाथ	२५७०००	२५७०००	२५७०००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	३०००००	३०००००	३०००००
९	सुविधिनाथ	२२९०००	२२९०००	२२९०००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	२८९०००	२८९०००	२८९०००	”	”	२०००००
११	श्रेयांसनाथ	२७९०००	२७९०००	२७९०००	”	”	२०००००
१२	वासुपूज्य	२१५०००	२१५०००	२१५०००	”	”	२०००००
१३	विमलनाथ	२०८०००	२०८०००	२०८०००	”	”	२०००००
१४	अनन्तनाथ	२०६०००	२०६०००	२०६०००	”	”	२०००००
१५	धर्मनाथ	२०४०००	२०४०००	२०४०००	”	”	२०००००
१६	शान्तिनाथ	२९००००	२९००००	२९००००	”	”	२०००००
१७	कुंथुनाथ	१७९०००	१७९०००	१७९०००	१०००००	१०००००	२०००००
१८	अरनाथ	१८४०००	१८४०००	१८४०००	”	”	१६००००
१९	मल्लिनाथ	१८३०००	१८३०००	१८३०००	”	”	१०००००
२०	मुनिसुव्रत	१७२०००	१७२०००	१७२०००	”	”	१०००००
२१	नमिनाथ	१७००००	१७००००	१७००००	”	”	१०००००
२२	अरिष्टनेमि	१७१०००	१६९०००	१६९०००	”	”	१०००००
२३	पार्श्वनाथ	१६४०००	१६४०००	१६४०००	”	”	१०००००
२४	महावीर	१५९०००	१५९०००	१५९०००	”	”	१०००००

श्राविका-संख्या

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		प्र. सा. द्वा. २५ गा. ३६८-७२	समवायांग	सत्त. द्वा. ११५ गा. २४३-२४६	हरिवंश पुराण गा. ४४२	तिलोय प. गा. ११८३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	५५४०००	५५४०००	५५४०००	५०००००	५०००००	५०००००
२	अजितनाथ	५४५०००	५४५०००	५४५०००	,,	,,	५०००००
३	संभवनाथ	६३६०००	६३६०००	६३६०००	,,	,,	५०००००
४	अभिनन्दन	५२७०००	५२७०००	५२७०००	,,	,,	५०००००
५	सुमतिनाथ	५१६०००	५१६०००	५१६०००	,,	,,	५०००००
६	पद्मप्रभ	५०५०००	५०५०००	५०५०००	,,	,,	५०००००
७	सुपार्श्वनाथ	४९३०००	४९३०००	४९३०००	,,	,,	५०००००
८	चन्द्रप्रभ	४९१०००	४९१०००	४९१०००	,,	,,	५०००००
९	सुविधिनाथ	४७१०००	४७१०००	४७१०००	४०००००	४०००००	५०००००
१०	शीतलनाथ	४५८०००	४५८०००	४५८०००	,,	,,	३०००००
११	श्रेयांसनाथ	४४८०००	४४८०००	४४८०००	,,	,,	४०००००
१२	वासुपूज्य	४३६०००	४३६०००	४३६०००	,,	,,	४०००००
१३	विमलनाथ	४२४०००	४२४०००	४२४०००	,,	,,	४०००००
१४	अनन्तनाथ	४१४०००	४१४०००	४१४०००	,,	,,	४०००००
१५	धर्मनाथ	४१३०००	४१३०००	४१३०००	,,	,,	४०००००
१६	शान्तिनाथ	३९३०००	३९३०००	३९३०००	,,	,,	४०००००
१७	कुंथुनाथ	३८१०००	३८१०००	३८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
१८	अरनाथ	३७२०००	३७२०००	३७२०००	,,	,,	३०००००
१९	मल्लिनाथ	३७००००	३७००००	३७००००	,,	,,	३०००००
२०	मुनिसुव्रत	३५००००	३५००००	३५००००	,,	,,	३०००००
२१	नमिनाथ	३४८०००	३४८०००	३४८०००	,,	,,	३०००००
२२	अरिष्टनेमि	३३६०००	३३६०००	३३६०००	,,	,,	३०००००
२३	पार्श्वनाथ	३३९०००	३२७०००	३३९०००	,,	,,	३०००००
२४	महावीर	३१८०००	३१८०००	३१८०००	,,	,,	३०००००

केवल-ज्ञानी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सवर्म-ग्रंथ: प्रवचन द्वा. २१६ गा ३५१-३५४	सत्त. द्वा. ११६ गा. २४७-२४८	ज्ञाता	दिगम्बर संवर्म-ग्रंथ: हरिवंश पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११००-११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव*	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२	अजितनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	संभवनाथ	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००
४	अभिनन्दन	१४०००	१४०००	१४०००	१६०००	१६०००	१६०००
५	सुमतिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
६	पद्मप्रभु	१२०००	१२०००	१२०००	१२८००	१२०००	१२०००
७	सुपार्श्वनाथ	११०००	११०००	११०००	११३००	११०००	११०००
८	चन्द्रप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१८०००	१००००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७०००
१०	शीतलनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
११	श्रेयांसनाथ	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००
१२	वासुपूज्य	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५००५
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१७	कुंथुनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१८	अरनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	३२००	२५५०	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि*	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ*	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर*	७००	७००	७००	७००	७००	७००

*जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति कालाधिकार में भगवान् ऋषभदेव की ४०००० आर्यिकाओं के सिद्ध होने का उल्लेख है।

कल्प सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि की ३०००, भगवान् पार्श्वनाथ की २००० और भगवान् महावीर की १४०० साध्वियों के मुक्त होने का उल्लेख है।

उपरिवर्णित सूचिपट्ट में श्वेताम्बर संवर्म ग्रन्थों के अनुसार केवल पुरुष केवलियों की संख्या दी हुई है।

मनःपर्यवज्ञानी

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सम्मत ग्रंथ			दिगम्बर सम्मत ग्रंथ		
		प्र. द्वा. २२ गाथा ३५५-३५९	समवायांग	सत्त. द्वा. ११७ गा. २५०-२५४	हरि. पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय प. गा. ११०१ से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	अजितनाथ	१२५००	१२५००	१२५००	१२४००	१२४५०	१२४५०
३	संभवनाथ	१२१५०	१२१५०	१२१५०	१२०००	१२१५०	१२१५०
४	अभिनन्दन	११६५०	११६५०	११६५०	११६५०	२१६५०	११६५०
५	सुमतिनाथ	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४००	१०४००	१०४००
६	पद्मप्रभ	१०३००	१०३००	१०३००	१०६००	१०३००	१०३००
७	सुपार्श्वनाथ	९१५०	९१५०	९१५०	९६००	९१५०	९१५०
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	६५००	७५००	७५००
१०	शीतलनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००
११	श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	"	"	"	"	"	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	९०००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
१७	कुंथुनाथ	३३४०	८१००	३३४०	३३५०	३३५०	३३००
१८	अरनाथ	२५५१	२५५१	२५५१	२०५५	२०५५	२०५५
१९	मल्लिनाथ	१७५०	५७००	१७५०	२२००	१७५०	१७५०
२०	मुनिसुव्रत	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२१	नमिनाथ	१२६०	१२६०	१२५०	१२५०	१२५०	१२५०
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	९००	९००	९००
२३	पार्श्वनाथ	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०
२४	महावीर	५००	५००	५००	५००	५००	५००

अवधि ज्ञानी

क्रम	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा. २० गा. ३४८–३५०	सत्त रि.द्वा ११८ गा. २५५–२५७	समवायांग	हरिवंश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णत्ती गा ११०० से ११६१	उत्तर (महा) पुराण
१	ऋषभदेव	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
२	अजितनाथ	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००
३	संभवनाथ	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००
४	अभिनन्दन	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००
५	सुमतिनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
६	पद्मप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
७	सुपार्श्वनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००
१०	शीतलनाथ	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००
११	श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००
१३	विमलनाथ	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००
१४	अनन्तनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१५	धर्मनाथ	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००
१६	शान्तिनाथ	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००
१७	कुंथुनाथ	२५००	२५००	३१००	२५००	२५००	२५००
१८	अरनाथ	२६००	२६००	२६००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	५९००	२२००	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	३९००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
२४	महावीर	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
					पृ० ७३५ से ७४१	पृ० २८७ से २९६	

वैक्रियलब्धि-धारी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन., द्वारा २१८ गाथा २६१–२६३	सत्तरिसय द्वा १२० गाथा २६१–२६३	हरिवंश पुराण श्लो. ३५८–४३१	तिलोय-पण्णत्ती गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००
२	अजितनाथ	२०४००	२०४००	२०४५०	२०४००	२०४००
३	संभवनाथ	१९८००	१९८००	१९८००	१९८००	१९८००
४	अभिनन्दन	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००
५	सुमतिनाथ	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००
६	पद्मप्रभ	१६८००	१६८००	१६३००	१६८००	१६८००
७	सुपार्श्वनाथ	१५३००	१५३००	१५१५०	१५३००	१५३००
८	चन्द्रप्रभ	१४०००	१४०००	१०४००	६००	१४०००
९	सुविधिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
१०	शीतलनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००
११	श्रेयांसनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
१२	वासुपूज्य	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
१३	विमलनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
१४	अनन्तनाथ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
१५	धर्मनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
१६	शान्तिनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१७	कुंथुनाथ	५१००	५१००	५१००	५१००	५१००
१८	अरनाथ	७३००	७३००	४३००	४३००	४३००
१९	मल्लिनाथ	२९००	२९००	१४००	२९००	२९००
२०	मुनिसुव्रत	२०००	२०००	२२००	२२००	२२००
२१	नमिनाथ	५०००	५०००	१५००	१५००	१५००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	११००	११००	११००
२३	पार्श्वनाथ	११००	११००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर	७००	७००	९००	९००	९००
				पृ. ७३५–७३९	पृ. २८७–२९६	

पूर्वधारी

क्र.स	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन सा. २३ गा. ३६०–३६३	समवायांग	सप्त. द्वा. ११६ गा. २५८–२६०	हरिवंश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०
२	अजितनाथ	३७२०	३७२०	२७२०	३७५०	३७५०	३७५०
३	सभवनाथ	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०
४	अभिनन्दन	१५००	१५००	१५००	२५००	२५००	२५००
५	सुमतिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
६	पद्मप्रभ	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००
७	सुपार्श्वनाथ	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०
८	चन्द्रप्रभ	२०००	२०००	२०००	२०००	४०००	२०००
९	सुविधिनाथ	१५००	१५००	१५००	५०००	१५००	१५०० (श्रुत केवली)
१०	शीतलनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
११	श्रेयांसनाथ	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
१२	वासुपूज्य	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
१३	विमलनाथ	११००	११००	११००	११००	११००	११००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९००
१६	शान्तिनाथ	८००	९३०	८००	८००	८००	८००
१७	कुंथुनाथ	६७०	६७०	६७०	७००	७००	७००
१८	अरनाथ	६१०	६१०	६१०	६००	६१०	६१०
१९	मल्लिनाथ	५६८	५६८	६६८	७५०	५५०	५५०
२०	मुनिसुव्रत	५००	५००	५००	५००	५००	५००
२१	नमिनाथ	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०
२२	अरिष्टनेमि	४००	४००	४००	४००	४००	४००
२३	पार्श्वनाथ	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०
२४	महावीर	३००	३००	३००	३००	३००	३००
					पृ ७३५–७३९	पृ. २८७–२९६	

वाणी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन. द्वा १६ गा. ३४४-३४७	समवायाग	मत्त. द्वा १२१ गा. २६४-२६६	हरिवंश पुराण श्लो ३५८ ४३१	तिलोय प. गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१२६५०	१२६५०	१२६५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
२	अजितनाथ	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००
३	संभवनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२१००	१२०००	१२०००
४	अभिनन्दन	११०००	११०००	११०००	११६५०	९०००	११०००
५	सुमतिनाथ	१०६५०	१०६५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०
६	पद्मप्रभ	९६००	९६००	९६००	९०००	९६००	९६००
७	सुपार्श्वनाथ	८४६०	८६००	८४००	८०००	८६००	८६००
८	चन्द्रप्रभ	७६००	७६००	७६००	७६००	७०००	७६००
९	सुविधिनाथ	६०००	६०००	६०००	७६००	६६००	६६००
१०	शीतलनाथ	५८००	५८००	५८००	५७००	५७००	५८००*
११	श्रेयांसनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
१२	वासुपूज्य	४७००	४७००	४२००	४२००	४२००	४२००
१३	विमलनाथ	३२००	३२००	३६००	३६००	३६००	३६००
१४	अनन्तनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१५	धर्मनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१६	शान्तिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
१७	कुंथुनाथ	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०५०
१८	अरनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
१९	मल्लिनाथ	१४००	१४००	१४००	२२००	१४००	१४००
२०	मुनिसुव्रत	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	८००	८००	८००	८००	८००	८००
२३	पार्श्वनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६००
२४	महावीर	४००	४००	४००	४००	४००	४००
					पृ. ७३५ से ७३९	पृ २८७ से २९६	

*शून्य द्वयाद्विपञ्चोक्त वादि मुख्याचितक्रमः ॥ उत्तर पुराण, पर्व ५६ श्लो० ५३

साधक जीवन

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ ग्रथ		दिगम्बर संदर्भ ग्रथ
		आवश्यक निर्युक्ति गा. २९४-२९८	सत्त. १४५ गाथा २९९-३०१	हरिवंश पुराण पृ० ७३२
१	ऋषभदेव	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१ लाख पूर्व एक पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम
३	संभवनाथ	१ लाख-पूर्व-४ पूर्वांग-कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम
४	अभिनन्दन	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम
५	सुमतिनाथ	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम
६	पद्मप्रभ	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम
९	सुविधिनाथ	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम
१०	शीतलनाथ	२५००० पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१००००० वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	साढे सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष	ढाई लाख वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष
१७	कुंथुनाथ	२३ हजार सात सौ पचास वर्ष	२३ हजार ७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४९०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	साढे सात हजार वर्ष	साढे सात हजार वर्ष	साढ़े सात हजार वर्ष
२१	नमिनाथ	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष	ढाई हजार वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	सत्तर वर्ष	सत्तर वर्ष	सत्तर वर्ष
२४	महावीर	४२ वर्ष	४२ वर्ष	४२ वर्ष

आयु प्रमाण

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव. नि. गाथा ३२५-३२७	सत्त द्वा. ४६ गाथा ३०२-३०३	प्र. प्रा. ३८५-३८७	हरि. पुराण गा. ३१२ से ३१६	ति. प. गा. ५७१ से ५८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.
२	अजितनाथ	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”
३	सम्भवनाथ	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”
४	अभिनन्दन	५० ” ”	५० ” ”	५० ” ”	५० ” ”	५० ” ”	५० ” ”
५	सुमतिनाथ	४० ” ”	४० ” ”	४० ” ”	४० ” ”	४० ” ”	४० ” ”
६	पद्मप्रभ	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”
७	सुपार्श्वनाथ	२० ” ”	२० ” ”	२० ” ”	२० ” ”	२० ” ”	२० ” ”
८	चन्द्रप्रभ	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”
९	सुविधिनाथ	२ ” ”	२ ” ”	२ ” ”	२ ” ”	२ ” ”	२ ” ”
१०	शीतलनाथ	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”
११	श्रेयांसनाथ	८४ लाख व.	८४ लाख व	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व	८४ लाख व
१२	वासुपूज्य	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”	७२ ” ”
१३	विमलनाथ	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”	६० ” ”
१४	अनन्तनाथ	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”
१५	धर्मनाथ	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”
१६	शान्तिनाथ	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”
१७	कुन्थुनाथ	९५ ह. वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह वर्ष	९५ ह वर्ष
१८	अरनाथ	८४ ” ”	८४ ” ”	८४ ” ”	८४ ” ”	८४ ” ”	८४००० वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५५ ” ”	५५ ” ”	५५ ” ”	५५ ” ”	५५ ” ”	५५,००० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३० ” ”	३०,००० वर्ष
२१	नमिनाथ	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१० ” ”	१०,००० वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१ ” ”	१,००० वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
२४	महावीर	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष

तीर्थङ्करों के माता-पिता की गति

क्रमांक	तीर्थंकर नाम	माता का नाम	माता की गति	पिता का नाम	पिता की गति
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	सिद्ध	नाभि	नागकुमार
२	अजितनाथ	विजया	"	जितशत्रु	दूसरे देवलोक ईशान मे
३	सम्भवनाथ	सेना	"	जितारि	"
४	अभिनन्दन	सिद्धार्थी	"	संवर	"
५	सुमतिनाथ	मगला	"	मेघ	"
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	"	धर	"
७	सुपार्श्वनाथ	पृथिवी	"	प्रतिष्ठ	"
८	चन्द्रप्रभ	लक्षणा	"	महासेन	"
९	सुविधिनाथ	रामा	तृतीय सनत्कुमार देवलोक मे	सुग्रीव	तीसरे देवलोक सनत्कुमार मे
१०	शीतलनाथ	नन्दा	"	दृढरथ	"
११	श्रेयांसनाथ	विष्णुदेवी	"	विष्णु	"
१२	वासुपूज्य	जया	"	वसुपूज्य	"
१३	विमलनाथ	श्यामा	"	कृतवर्मा	"
१४	अनन्तनाथ	सुयशा	"	सिंहसेन	"
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	"	भानु	"
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	"	विश्वसेन	"
१७	कुंथुनाथ	श्री	चौथे माहेन्द्र देवलोक मे	शूर	चौथे देवलोक माहेन्द्र मे
१८	अरनाथ	देवी	"	सुदर्शन	"
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	"	कुम्भ	"
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	"	सुमित्र	"
२१	नमिनाथ	वप्रा	"	विजय	"
२२	अरिष्टनेमि*	शिवा	"	समुद्रविजय	"
२३	पार्श्वनाथ	वामा	"	अश्वसेन	"
२४	महावीर	१ त्रिशला २ देवानन्दा	" २ सिद्ध	१ सिद्धार्थ २ ऋषभदत्त	आचाराग सूत्र में इन दोनो का बारहवें स्वर्ग में जाने का उल्लेख है २ सिद्ध

(१) जितशत्रु शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः ॥

(२) महावीर के प्रथम माता-पिता के मुक्त होने का⋯⋯सत्तरिसय द्वार आदि मे उल्लेख है।

तीर्थंकरो के पिता एवं माता की गति के सम्बन्ध मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा में मूल भेद तो यह है कि दिगम्बर परम्परा स्त्री-मुक्ति नही मानती।

निर्वाण-तप

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर सदर्भ ग्रंथ		दिगम्बर सदर्भ-ग्रंथ
		प्रवचन द्वार ४५ गा. ४५६	सत्त १५३ द्वार गा. ३१७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६ उपवास	६ उपवास	चौदह दिन
२	अजितनाथ	मासिक तप	मासिक तप	मासिक तप
३	संभवनाथ	" "	" "	" "
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "
६	पद्मप्रभ	" "	" "	" "
७	सुपार्श्वनाथ	" "	" "	" "
८	चन्द्रप्रभ	" "	" "	" "
९	सुविधिनाथ	" "	" "	—
१०	शीतलनाथ	" "	" "	" "
११	श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "
१२	वासुपूज्य	" "	" "	" "
१३	विमलनाथ	" "	" "	" "
१४	अनन्तनाथ	" "	" "	" "
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "
१७	कुंथुनाथ	" "	" "	" "
१८	अरनाथ	" "	" "	" "
१९	मल्लिनाथ	" "	" "	" "
२०	मुनिसुव्रत	" "	" "	" "
२१	नमिनाथ	" "	" "	" "
२२	अरिष्टनेमि	" "	" "	" "
२३	पार्श्वनाथ	" "	" "	" "
२४	महावीर	२ उपवास	२ उपवास	—

निर्वाण-तिथि

क्रं. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवच०	सत्त द्वा. १४७ गा ३०६-३१०	हरिवंश पुराण गा. २६६-२७५	तिलोय प. गा ११८४-१२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	माघ कृ. १४	माघ कृ. १३	माघ कृ १४	माघ कृ. १४	माघ कृ. १४
२	अजितनाथ	चैत्र शु. ५	चैत्र शु ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५
३	संभवनाथ	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ६	चैत्र शु ६	चैत्र शु. ६
४	अभिनन्दन	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ८	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ७	वैशाख शु ६
५	सुमतिनाथ	चैत्र शु १०	चैत्र शु ९	चैत्र शु १०	चैत्र शु १०	चैत्र शु ११
६	पद्मप्रभ	फाल्गुन कृ. ४	मार्गशीर्ष कृ. ११	फाल्गुन कृ ४	फाल्गुन कृ. ४	फाल्गुन कृ ४
७	सुपार्श्वनाथ	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ ६	फाल्गुन कृ. ७
८	चन्द्रप्रभ	भादवा शु. ७	भादवा कृ ७	भादवा शु. ७	भादवा शु. ७	फाल्गुन शु. ७
९	सुविधिनाथ	भादवा शु ८	भादवा शु ९	भादवा शु ८	आसोज शु. ८	भादवा शु. ८
१०	शीतलनाथ	आश्विन शु. ५	वैशाख कृ. २	आश्विन शु. ५	कार्तिक शु. ५	आश्विन शु ८
११	श्रेयांसनाथ	श्रावण शु. १५	श्रावण कृ. ३	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५	श्रावण शु १५
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन शु ५	आषाढ शु १४	फाल्गुन शु ५	फाल्गुन कृ ५	भाद्रपद शु १४
१३	विमलनाथ	आषाढ कृ ८	आषाढ कृ ७	आषाढ कृ ८	आषाढ शु ८	आषाढ कृ. ८
१४	अनन्तनाथ	चैत्र कृ. ३०	चैत्र शु. ५	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१५	धर्मनाथ	ज्येष्ठ शु. ४	ज्येष्ठ शु. ५	ज्येष्ठ शु ४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. ४
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ १३	ज्येष्ठ कृ १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ १४
१७	कुंथुनाथ	वैशाख शु. १	वैशाख कृ. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	चैत्र कृ. १५	मार्गशीर्ष शु. १०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु. १०	फाल्गुन शु० १२	फाल्गुन शु. ५	फाल्गुन कृ. ५	फाल्गुन शु ५
२०	मुनिसुव्रत	फाल्गुन कृ. १२	ज्येष्ठ कृ ९	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ १२	फाल्गुन कृ. १२
२१	नमिनाथ	वैशाख कृ १४	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ १४	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४
२२	अरिष्टनेमि	आषाढ शु. ८	आषाढ शु. ८	आषाढ शु ८	आषाढ कृ. ८	आषाढ शु. ७
२३	पार्श्वनाथ	श्रावण शु. ५	श्रावण शु. ८	श्रावण शु ७	श्रावण शु ७	श्रावण शु ७
२४	महावीर	कार्तिक कृ १४	कार्तिक कृ ३०	कार्तिक कृ. १४	कार्तिक कृ १४	
				पृ. ७२५ से ७२६	पृ. २९९ से ३०२	

तीर्थंकरों के निर्वाण नक्षत्र

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर परम्परा	दिगम्बर परम्परा
१	ऋषभदेव	अभिजित	उत्तराषाढा
२	अजितनाथ	मृगशिरा	भरणी
३	संभवनाथ	आर्द्रा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	पुनर्वसु	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	अनुराधा	अनुराधा
८	चन्द्रप्रभ	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
११	श्रेयांसनाथ	धनिष्ठा	धनिष्ठा
१२	वासुपूज्य	उत्तरा भाद्रपद	अश्विनी
१३	विमलनाथ	रेवती	पूर्वभाद्रप
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	भरणी	भरणी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	स्वाति	स्वाति

निर्वाणस्थली

क्र.स.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ ग्रंथ		
		प्रवचन द्वार. ३४ गा. ३९२	सप्त. १५० द्वा. गा. ३१५	हरिवंश पुराण श्लो १८२ से २०५	उत्तर पुराण	तिलोयपण्णत्ती गा. ११८४ से १२०८
१	ऋषभदेव	अष्टापद	अष्टापद	कैलाश	कैलाश	कैलाश
२	अजितनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
३	संभवनाथ	"	"	"	"	"
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"
६	पद्मप्रभ	"	"	"	"	"
७	सुपार्श्वनाथ	"	"	"	"	"
८	चन्द्रप्रभ	"	"	"	"	"
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"
११	श्रेयांसनाथ	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	चंपा	चंपा	चम्पापुरी	मन्दरगिरि मनोहरोद्यान	चम्पापुरी
१३	विमलनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर
१४	अनन्तनाथ	"	"	"	"	"
१५	धर्मनाथ	"	"	"	"	"
१६	शान्तिनाथ	"	"	"	"	"
१७	कुंथुनाथ	"	"	"	"	"
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	"	"	"	"	"
२०	मुनिसुव्रत	"	"	"	"	"
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयंत गिरि	रेवताचल	उज्जयंत गिरि	(रैवतक) गिरनार	उज्जयंत गिरि
२३	पार्श्वनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
२४	महावीर	पावापुरी	पावापुरी	पावापुरी		पावापुरी
				पृ. ७१९ से ७२०		पृ. २९९ से ३०२

निर्वाण साथी

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन ३३ द्वार गाथा ३८८–३११	आव० नि० गा० ३०६	सत्त० द्वार १५४ गाथा ३१८–३२०	हरिवंश पुराण श्लो. २८३–२८५	तिलोय पण्णत्ती गाथा ११८५ से १२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	अनेक
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	—
३	संभवनाथ	"	"	"	"	"	१०००
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"	अनेक
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"	१०००
६	पद्मप्रभ	३०८	३०८	३०८	३८००	३२४	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"	"
११	श्रेयांसनाथ	"	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०१	६०१	६४
१३	विमलनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६००	८६००
१४	अनन्तनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	६१००
१५	धर्मनाथ	८००	८००	८००	८०१	८०१	८०१
१६	शान्तिनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	५०००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	५३६	५३६	५३६	५३६	५३६	५३३
२३	पार्श्वनाथ	३३	३३	३३	५३६	३६	३६
२४	महावीर	१	१	एकाकी	२१	एकेले	१०००[1]
					पृ० ७२६ से ७२७	पृ० २११ से २०२	

१ मत्वा मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् । [उत्तर पुराण. पर्व ७६, श्लो. ५१२]

पूर्वभव नाम

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		समवायांग	प्रव. द्वार ७ गा ४४-४६	हरिवंशपुराण श्लो. १५०-१५५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभि	
२	अजितनाथ	विमल	विमल वाहन	विमल	विमल वाहन
३	सम्भवनाथ	विमल वाहन	विपुल बल	विपुल वाहन	विमल वाहन
४	अभिनन्दन	धर्मसिंह	महाबल	महाबल	महाबल
५	सुमतिनाथ	सुमित्र	अतिबल	अतिबल	रतिषेण
६	पद्मप्रभ	धर्ममित्र	अपराजित	अपराजित	अपराजित
७	सुपार्श्वनाथ	सुन्दरबाहु	नंदिसेन	नन्दिषेण	नन्दिषेण
८	चन्द्रप्रभ	दीर्घबाहु	पद्म	पद्म	पद्मनाभ
९	सुविधिनाथ	युगबाहु	महापद्म	महापद्म	महापद्म
१०	शीतलनाथ	लष्टबाहु	पद्म	पद्मगुल्म	पद्मगुल्म
११	श्रेयांसनाथ	दिन्न	नलिनीगुल्म	नलिन गुल्म	नलिन प्रभ
१२	वासुपूज्य	इन्द्रदत्त	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर
१३	विमलनाथ	सुन्दर	पद्मसेन	पद्मासन	पद्मसेन
१४	अनन्तनाथ	माहिन्द्र	पद्मरथ	पद्म	पद्मरथ
१५	धर्मनाथ	सिंहरथ	दृढरथ	दशरथ	दशरथ
१६	शान्तिनाथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ
१७	कुन्थुनाथ	रूक्मी (रुप्पी)	सिंहावह	सिंहरथ	सिंहरथ
१८	अरनाथ	सुदर्शन	धनपति	धनपति	धनपति
१९	मल्लिनाथ	नंदन	वैश्रमण	वैश्रमण	वैश्रमण
२०	मुनिसुव्रत	सिंहगिरि	श्रीवर्मा	श्रीधर्म	हरिवर्मा
२१	नमिनाथ	अदीन शत्रु	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
२२	अरिष्टनेमि	शंख	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
२३	पार्श्वनाथ	सुदर्शन	आनंद	आनंद	आनन्द
२४	महावीर	नन्दन	नंदन	नंदन	नन्द

पृ० ७१७ से ७१८

तीर्थंकरों का अन्तरालकाल श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा सम्मत

१. ऋषभदेव	तीसरे आरे के निवासी पक्ष अर्थात् ३ वर्ष साढे आठ मास शेष रहे तब मुक्ति पधारे
२. अजितनाथ	पचास लाख करोड़ सागर
३ संभवनाथ	तीस लाख करोड़ सागर
४. अभिनन्दन	दश लाख करोड़ सागर
५. सुमतिनाथ	नव लाख करोड़ सागर
६ पद्मप्रभ	नब्बे हजार करोड़ सागर
७. सुपार्श्वनाथ	नव हजार करोड़ सागर
८. चन्द्रप्रभ	नव सौ करोड़ सागर
९ सुविधिनाथ	नब्बे करोड़ सागर
१०. शीतलनाथ	नव करोड़ सागर
११. श्रेयांसनाथ	छियासठ लाख छब्बीस हजार एक सौ सागर कम एक करोड़ सागर
१२ वासुपूज्य	चौवन सागर
१३ विमलनाथ	तीस सागर
१४. अनन्तनाथ	नव सागर
१५ धर्मनाथ	चार सागर
१६. शान्तिनाथ	पौन पल्योपम कम तीन सागर
१७ कुंथुनाथ	अर्द्ध पल्य
१८ अरनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष कम पाव पल्य
१९. मल्लिनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष
२०. मुनिसुव्रत	चौवन लाख वर्ष
२१. नमिनाथ	छह लाख वर्ष
२२. अरिष्टनेमि	पांच लाख वर्ष
२३. पार्श्वनाथ	तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष
२४ महावीर	दो सौ पचास वर्ष बाद महावीर सिद्ध हुए

पूर्वभव नाम

क्र.स.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		समवायांग	प्रव. द्वार ७ गा ४४-४६	हरिवंशपुराण श्लो. १५०-१५५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभि	
२	अजितनाथ	विमल	विमल वाहन	विमल	विमल वाहन
३	संभवनाथ	विमल वाहन	विपुल बल	विपुल वाहन	विमल वाहन
४	अभिनन्दन	धर्मसिंह	महाबल	महाबल	महाबल
५	सुमतिनाथ	सुमित्र	अतिबल	अतिबल	रतिषेण
६	पद्मप्रभ	धर्ममित्र	अपराजित	अपराजित	अपराजित
७	सुपार्श्वनाथ	सुन्दरबाहु	नंदिसेन	नंदिषेण	नंदिषेण
८	चन्द्रप्रभ	दीर्घबाहु	पद्म	पद्म	पद्मनाभ
९	सुविधिनाथ	युगबाहु	महापद्म	महापद्म	महापद्म
१०	शीतलनाथ	लष्टबाहु	पद्म	पद्मगुल्म	पद्मगुल्म
११	श्रेयांसनाथ	दिन्न	नलिनीगुल्म	नलिन गुल्म	नलिन प्रभ
१२	वासुपूज्य	इन्द्रदत्त	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर
१३	विमलनाथ	सुन्दर	पद्मसेन	पद्मासन	पद्मसेन
१४	अनन्तनाथ	माहिन्द्र	पद्मरथ	पद्म	पद्मरथ
१५	धर्मनाथ	सिंहरथ	दृढरथ	दशरथ	दशरथ
१६	शान्तिनाथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ
१७	कुन्थुनाथ	रूप्पी (रुप्पी)	सिंहावह	सिंहरथ	सिंहरथ
१८	अरनाथ	सुदर्शन	धनपति	धनपति	धनपति
१९	मल्लिनाथ	नंदन	वैश्रमण	वैश्रमण	वैश्रमण
२०	मुनिसुव्रत	सिंहगिरि	श्रीवर्मा	श्रीधर्म	हरिवर्मा
२१	नमिनाथ	अदीन शत्रु	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
२२	अरिष्टनेमि	शंख	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
२३	पार्श्वनाथ	सुदर्शन	आनंद	आनंद	आनन्द
२४	महावीर	नन्दन	नंदन	नंदन	नन्द

पृ० ७१७ से ७१८

तीर्थंकर और धर्म विच्छेद

१. सुविधिनाथ और शीतलनाथ के अन्तरालकाल मे ¼ पाव पल्योपम तक तीर्थ (धर्म) का विच्छेद। गुणभद्र ने शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग मे काल दोष से धर्म का नाश माना है।

२. भगवान् शीतलनाथ और श्रेयासनाथ के अन्तरालकाल मे ¼ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

३. भगवान् श्रेयासनाथ और वासुपूज्य के अन्तरालकाल मे (पल्योपमं सम्बन्धिन-स्त्रियचतुर्भागा) पौन पल्योपम तीर्थ विच्छेद।

४. भगवान् वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तरालकाल मे ¼ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

५. भगवान् विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तरालकाल मे पौन पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद रहा। जैसे कि पल्योपम सम्बन्धिनस्त्रियचतुर्भागास्तीर्थ विच्छेदः।

६. भगवान् अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तरालकाल मे ¼ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

७. धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तरालकाल मे ¼ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

तिलोयपण्णत्ती मे सुविधिनाथ से सात तीर्थों मे धर्म की विच्छित्ति मानी गयी है। इन सात तीर्थों मे क्रम से पाव पल्य, अर्ध पल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, अर्ध पल्य और पाव पल्य कुल ४ पल्य धर्म तीर्थ का विच्छेद रहा। उस समय धर्म रूप सूर्य अस्त हो गया था।

(तिलोय ४) १२७८।७९।प्र० ३१२

गुणभद्र के उत्तरपुराण के अनुसार उस समय मलय देश के राजा मेघरथ का मंत्री सत्यकीर्ति जैन धर्मानुयायी था। राजा द्वारा दान कैसा हो यह जिज्ञासा करने पर शास्त्रदान, अभयदान और त्यागी मुनियो को अन्नदान की श्रेष्ठता बतलाई। राजा कुछ अन्य दान करना चाहता था, उसको मंत्री की बात से सतोष नही हुआ। उस समय भूति शर्मा ब्राह्मण के पुत्र मुंडशालायन ने कहा—महाराज! ये तीन दान तो मुनि या दरिद्र मनुष्य के लिये हैं। बडी इच्छा वाले राजाओ के तो दूसरे उत्तमदान हैं। शापानुग्रह-समर्थ ब्राह्मण को पृथ्वी एवं सुवर्णादि का दान दीजिये। ऋषि-प्रणीत शास्त्रो मे भी इसकी महिमा बतायी है। उसने राजा को प्रसन्न कर अपना भक्त बना लिया। मंत्री के बहुत समझाने पर भी राजा को उसकी बात पसद नही आयी। उसने मुंडशालायन द्वारा बतलाये कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान इन १० दानो का प्रचार किया।[1] सभव है राज्याश्रित विरोधी प्रचार और दान के प्रलोभनों से नये जैन नहीं बने हो और प्राचीन लोगो ने शनैः शनैः धर्म परिवर्तन कर लिया हो।

[उत्तर० पर्व ७६ पृ० ६६ से ७८। श्लो० ६४ से ६६ तक]

आगामी उत्सर्पिणीकाल के चौबीस तीर्थंकर

१. महापद्म	(श्रेणिक का जीव)*
२. सुरदेव	(सुपार्श्व का जीव)*
३. सुपार्श्व	उदायी*
४. स्वयंप्रभ	(पोट्टिल अरणगार)*
५. सर्वानुभूति	(दृढायु)*
६. देवश्रुति	(कार्तिक)
७. उदय	(शंख)*
८ पेढालपुत्र	(नंद)
९. पोट्टिल	(सुनन्द)
१०. शतकीर्ति	शतक*
११. मुनिसुव्रत	देवकी
१२. अमम	कृष्ण
१३. सर्वभावित	सात्यकि
१४. निष्कषाय	बलदेव (कृष्ण के बड़े भाई नहीं)
१५. निष्पुलाक	रोहिणी
१६. निर्मम	सुलसा*
१७. चित्रगुप्त	रेवती*
१८. समाधि	शताली
१९. संवर	भयाली
२०. अनिवृत्ति	कृष्ण द्वैपायन
२१. विजय	नारद
२२. विमल	अम्बड़
२३. देवोपपात	दारुमृत
२४. अनन्त विजय	स्वातिबुद्ध

* तारांकित पुण्यात्माओं ने भगवान् महावीर के शासनकाल में तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया, यथा :—"समणस्स भगवउ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवेहिं तित्थकर-नामगोयकम्मे निव्वित्तिए तजहा सेणिएणं सुपासेणं, उदाइणा, पुट्टिलेण अणगारेण, दढाउणा, सखेण, सयएण सुलसाए, सावियाए रेवईए।"

[स्थानांग, ठाणा ९, (अभयदेव सूरि) पत्र ५२०, ५२१]

चक्रवर्तियों के नाम व उनका काल

१. भरत	(प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय मे)
२. सगर	(द्वि० तीर्थंकर अजितनाथ के समय मे)
३. मघवा	(पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथजी और १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथजी के अन्तराल काल में)
४. सनत्कुमार	" " "
५. शान्तिनाथ	(सोलहवें तीर्थंकर)
६. कुन्थुनाथ	(सत्रहवें तीर्थंकर)
७. अरनाथ	(अठारहवें तीर्थंकर)
८. सुभूम	(अठारहवें तीर्थंकर व ७वें चक्रवर्ती अरनाथ व १६वें ती० मल्लिनाथ के अन्तरालकाल मे)
९. पद्म	(२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय मे)
१०. हरिषेण	(इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय में)
११. जयसेन	(नमिनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तरालकाल में)
१२. ब्रह्मदत्त	(अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के अन्तरालकाल में)

अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव

बलदेव	वासुदेव	प्रतिवासुदेव	तीर्थंकरकाल
(१) विजय	(१) त्रिपृष्ठ	(१) अश्वग्रीव	भ. श्रेयांसनाथ के तीर्थ-काल में
(२) अचल	(२) द्विपृष्ठ	(२) तारक	भ. वासुपूज्य " " "
(३) सुधर्म	(३) स्वयम्भू	(३) मेरक	भ. विमलनाथ " " "
(४) सुप्रभ	(४) पुरुषोत्तम	(४) मधुकैटभ	भ. अनन्तनाथ " " "
(५) सुदर्शन	(५) पुरुषसिंह	(५) निशुम्भ	भ. धर्मनाथ " " "
(६) नन्दी	(६) पुरुष पुण्डरीक	(६) बलि	भ. अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में
(७) नन्दिमित्र	(७) दत्त	(७) प्रह्लाद*	" "
(८) राम	(८) नारायण	(८) रावण	भ. मुनिसुव्रत और भ. नमिनाथ के अन्तराल काल में
(९) पद्म	(९) कृष्ण	(९) जरासंध	भ. नेमिनाथ के शासनकाल में

* तिलोय पण्णत्ती मे प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण नाम उल्लिखित है।

परिशिष्ट २

चक्रवर्तियों के नाम व उनका काल

१. भरत	(प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय मे)
२. सगर	(द्वि० तीर्थंकर अजितनाथ के समय मे)
३. मघवा	(पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथजी और १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथजी के अन्तराल काल में)
४. सनत्कुमार	" " "
५. शान्तिनाथ	(सोलहवें तीर्थंकर)
६. कुन्थुनाथ	(सत्रहवें तीर्थंकर)
७. अरनाथ	(अठारहवें तीर्थंकर)
८. सुभूम	(अठारहवें तीर्थंकर व ७वें चक्रवर्ती अरनाथ व १६वें ती० मल्लिनाथ के अन्तरालकाल मे)
९. पद्म	(२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय मे)
१०. हरिषेण	(इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय में)
११. जयसेन	(नमिनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तरालकाल में)
१२. ब्रह्मदत्त	(अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के अन्तरालकाल में)

अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव

बलदेव	वासुदेव	प्रतिवासुदेव	तीर्थंकरकाल
(१) विजय	(१) त्रिपृष्ठ	(१) अश्वग्रीव	भ. श्रेयांसनाथ के तीर्थ-काल मे
(२) अचल	(२) द्विपृष्ठ	(२) तारक	भ. वासुपूज्य " " "
(३) सुधर्म	(३) स्वयम्भू	(३) मेरक	भ. विमलनाथ " " "
(४) सुप्रभ	(४) पुरुषोत्तम	(४) मधुकैटभ	भ. अनन्तनाथ " " "
(५) सुदर्शन	(५) पुरुषसिंह	(५) निशुम्भ	भ. धर्मनाथ " " "
(६) नन्दी	(६) पुरुष पुण्डरीक	(६) बलि	भ. अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में
(७) नन्दिमित्र	(७) दत्त	(७) प्रह्लाद*	" "
(८) राम	(८) नारायण	(८) रावण	भ. मुनिसुव्रत और भ. नमिनाथ के अन्तराल काल मे
(९) पद्म	(९) कृष्ण	(९) जरासंध	भ. नेमिनाथ के शासनकाल में

* तिलोय पण्णत्ती मे प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण नाम उल्लिखित है।

तिलोयपण्णत्ती में कुलकर

तिलोयपण्णत्ती मे १४ कुलकरो का वर्णन करते हुए आचार्य ने उस समय के मानवो की अपने-अपने समय मे आई हुई समस्याओ का कुलकरो द्वारा किस प्रकार हल हुआ, इसका बड़े विस्तार के साथ सुन्दर ढग से वर्णन किया है। यह सक्षेप मे यहाँ दिया जा रहा है :—

जब उस समय के मानवो ने सर्वप्रथम आकाश मे चन्द्र और सूर्य को देखा तो किसी आकस्मिक घोर विपत्ति की आशका से वे बड़े त्रस्त हुए। तब प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने निर्णय करते हुए लोगो को कहा कि अनादिकाल से ये चन्द्र और सूर्य नित्य उगते एव अस्त होते हैं पर इतने दिन तेजाग जाति के प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षो के कारण दिखाई नही देते थे। अब उन कल्पवृक्षो का प्रकाश कालक्रम मे मन्द पड़ गया है, अतः ये प्रकट दृष्टि-गोचर होते हैं। इनकी ओर से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नही है।

प्रथम मनु प्रतिश्रुति के देहावसान के कुछ काल पश्चात् सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न हुए। उनके समय मे 'तेजाग' जाति के कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये। अतः सूर्यास्त के पश्चात् अदृष्टपूर्व अन्धकार और चमचमाते तारामण्डल को देखकर लोग बड़े दुःखित हुए। 'सन्मति' कुलकर ने भी लोगो को निर्भय करते हुए उन्हे यह समझाकर आश्वस्त किया कि प्रकाश फैलाने वाले कल्पवृक्षो के सर्वथा नष्ट हो चुकने से सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्ध-कार हो जाता है और तारामण्डल, जो पहले उन वृक्षो के प्रकाश के कारण दृष्टिगोचर नही होता था, अब दिखने लगा है। वास्तविक तथ्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और तारे अपने मण्डल मे मेरु पर्वत की नित्य ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसमे भय करने की कोई बात नही है।

कालान्तर मे तृतीय कुलकर 'क्षेमकर' के समय से व्याघ्रादि पशु समय के प्रभाव से क्रूर स्वभाव के होने लगे तो लोग बड़े त्रस्त हुए। 'क्षेमकर' ने उन लोगो को व्याघ्रादि पशुओ का विश्वास न करने की और समूह बनाकर निर्भय रहने की सलाह दी।

इसी तरह चौथे कुलकर 'क्षेमधर' ने अपने समय के लोगो को सिंहादि हिंसक जानवरो से बचने के लिये दण्डादि रखकर बचाव करने की शिक्षा दी।

पाँचवें कुलकर 'सीमकर' के समय मे कल्पवृक्ष अल्प मात्रा मे फल देने लगे। अतः स्वामित्व के प्रश्न को लेकर उन लोगो मे परस्पर झगड़े होने लगे तो 'सीमंकर' ने सीमा आदि की समुचित व्यवस्था कर उन लोगो को सघर्ष से बचाया।

इन पाँचो कुलकरो ने भोग-युग के समाप्त होने और कर्म-युग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव समुदाय को आगे आने वाले कर्म युग के अनुकूल जीवन बनाने की शिक्षा दी। अपराधियो के लिये ये 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे।

तिलोयपण्णत्ती में कुलकर

तिलोयपण्णत्ती मे १४ कुलकरो का वर्णन करते हुए आचार्य ने उस समय के मानवो की अपने-अपने समय मे आई हुई समस्याओ का कुलकरो द्वारा किस प्रकार हल हुआ, इसका बड़े विस्तार के साथ सुन्दर ढग से वर्णन किया है। वह संक्षेप मे यहाँ दिया जा रहा है :—

जब उस समय के मानवो ने सर्वप्रथम आकाश मे चन्द्र और सूर्य को देखा तो किसी आकस्मिक घोर विपत्ति की आशंका से वे बड़े त्रस्त हुए। तब प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने निर्णय करते हुए लोगो को कहा कि अनादिकाल से ये चन्द्र और सूर्य नित्य उगते एव अस्त होते है पर इतने दिन तेजाग जाति के प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षो के कारण दिखाई नही देते थे। अब उन कल्पवृक्षो का प्रकाश कालक्रम से मन्द पड गया है, अतः ये प्रकट दृष्टि-गोचर होते हैं। इनकी ओर से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नही है।

प्रथम मनु प्रतिश्रुति के देहावसान के कुछ काल पश्चात् सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न हुए। उनके समय में 'तेजाग' जाति के कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये। अतः सूर्यास्त के पश्चात् अदृष्टपूर्व अन्धकार और चमचमाते तारामण्डल को देखकर लोग बड़े दुःखित हुए। 'सन्मति' कुलकर ने भी लोगो को निर्भय करते हुए उन्हे यह समझाकर आश्वस्त किया कि प्रकाश फैलाने वाले कल्पवृक्षो के सर्वथा नष्ट हो चुकने से सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्ध-कार हो जाता है और तारामण्डल, जो पहले उन वृक्षो के प्रकाश के कारण दृष्टिगोचर नही होता था, अब दिखने लगा है। वास्तविक तथ्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और तारे अपने मण्डल मे मेरु पर्वत की नित्य ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसमें भय करने की कोई बात नही है।

कालान्तर मे तृतीय कुलकर 'क्षेमकर' के समय से व्याघ्रादि पशु समय के प्रभाव से क्रूर स्वभाव के होने लगे तो लोग बड़े त्रस्त हुए। 'क्षेमकर' ने उन लोगों को व्याघ्रादि पशुओ का विश्वास न करने की और समूह बनाकर निर्भय रहने की सलाह दी।

इसी तरह चौथे कुलकर 'क्षेमंधर' ने अपने समय के लोगों को सिंहादि हिंसक जानवरो से बचने के लिये दण्डादि रखकर बचाव करने की शिक्षा दी।

पाँचवें कुलकर 'सीमंकर' के समय में कल्पवृक्ष अल्प मात्रा मे फल देने लगे। अतः स्वामित्व के प्रश्न को लेकर उन लोगो मे परस्पर झगड़े होने लगे तो 'सीमंकर' ने सीमा आदि की समुचित व्यवस्था कर उन लोगो को संघर्ष से बचाया।

इन पाँचो कुलकरो ने भोग-युग के समाप्त होने और कर्म-युग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव समुदाय को आगे आने वाले कर्म युग के अनुकूल जीवन बनाने की शिक्षा दी। अपराधियो के लिये ये 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे।

छठे कुलकर 'सीमधर' ने अपने समय के कल्पवृक्षो के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर लोगो मे परस्पर होने वाले झगडो को शान्त कर वृक्षो को चिह्नित कर सीमाए नियत कर दी।

'विमल वाहन' नामक सातवें कुलकर अथवा मनु ने लोगो के गमनागमन आदि की समस्याओ का समाधान करने हेतु उन्हे हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर उन पर सवारी करने की शिक्षा दी।

आठवें मनु 'चक्षुष्मान्' के समय मे भोगभूमिज युगल अपनी बाल-युगल संतान को देखकर बड़े भयभीत होते। चक्षुष्मान् उन्हे समझाते कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्रोपम मुखो को देखो। मनु के इस उपदेश से वे स्पष्ट रूप से अपने बाल-युगल को देखते और बच्चो का मु ह देखते ही मृत्यु को प्राप्त हो विलीन हो जाते।

नवम मनु 'यशस्वी' ने युगलो को अपनी सन्तान के नामकरण महोत्सव करने की शिक्षा दी। उस समय के युगल अपनी युगल-सतति का नामकरण-सस्कार कर थोड़े समय बाद कालकर विलीन हो जाते थे।

दशम कुलकर 'अभिचन्द' ने कुलो की व्यवस्था करने के साथ-साथ बालकों के रुदन को रोकने, उन्हें खिलाने, बोलना सिखाने, पालन-पोषण करने आदि की युगलियो को शिक्षा दी। ये युगल थोड़े दिन बच्चो का पोषण कर मृत्यु को प्राप्त करते।

छठे से दशवें ५ कुलकर 'हा' और 'मा' दोनो दण्ड-नीतियो का उपयोग करते थे।

ग्यारहवें 'चन्द्राभ' नामक मनु के समय मे अति शीत, तुषार और तीव्र वायु से दुखित हो भोग भूमिज मनुष्य तुषार से आच्छन्न चन्द्रादिक ज्योतिष समूह को भी नही देख पाने के कारण भयभीत हो गये। मनु 'चन्द्राभ' ने उन्हें समझाया कि अब भोग-युग की समाप्ति होने पर कर्म-युग निकट आ रहा है। यह शीत और तुषार सूर्य की किरणो से नष्ट होंगे।

बारहवें कुलकर 'मरुदेव' के समय मे बादल गड़गड़ाहट और बिजली की चमक के साथ बरसने लगे। कीचड़युक्त जल-प्रवाह वाली नदियाँ प्रवाहित होने लगीं। उस समय का मानव-समाज इन सत्य और अभूतपूर्व घटनाओ को देखकर बड़ा भय-भ्रान्त हुआ। 'मरुदेव' ने उन लोगो को काल-विभाग के सम्बन्ध मे समझाते हुए कहा कि अब कर्म-भूमि (कर्मक्षेत्र) तुम्हारे सन्निकट आ चुकी है। अत निडर होकर कर्म करो। 'मरुदेव' ने नावो से नदिया पार करने, पहाड़ो पर सीढिया बनाकर चढने एव वर्षा आदि से बचने के लिये छाता आदि रखने की शिक्षा दी।

तेरहवें मनु 'प्रसेनजित' के समय में जरायु से वेष्टित युगल बालको के जन्म से उस समय के मानव बड़े भयभीत हुए। 'प्रसेनजित' ने जरायु हटाने और बालकों का समुचित रूप से पालन करनेकी उन लोगो को शिक्षा दी।

चौदहवें मनु 'नाभिराय' के समय मे बालको का नाभि नाल बहुत लम्बा होता था। उन्होंने लोगो को उसके काटने की शिक्षा दी। इनके समय मे कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और सहज ही उत्पन्न विविध औषधियां, धान्यादिक और मीठे फल दृष्टिगोचर होने लगे। नाभिराय ने भूखे व भयाकुल लोगो को स्वतः उत्पन्न शालि, जौ, वल्ल, तुवर, तिल और उड़द आदि के भक्षण से क्षुधा की ज्वाला शान्त करने की शिक्षा दी।

[तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार ४, गा० ४२१-५०६, पृ० १९७-२०६]

पंचम आरक (दिगम्बर मान्यता)

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार एक-एक हजार वर्ष से एक-एक कल्की और पांच-पांच सौ वर्षों से एक-एक उपकल्पी होता है। कल्की अपने-अपने शासनकाल मे मुनियों से भी अग्रपिंड मागते हैं। मुनिगण उस काल के कल्की को समझाने का पूरा प्रयास करते हैं कि अग्रपिंड देना उनके श्रमण-आचार के विपरीत और उनके लिये अकल्पनीय है, पर अन्ततोगत्वा कल्कियो के दुराग्रह के कारण उस समय के मुनि अग्रपिंड दे निराहार रह जाते हैं। उन मुनियो मे से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान हो जाता है। कल्की भी क्रमशः समय-समय पर असुर द्वारा मार दिये जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय मे चातुर्वर्ण्य संघ भी बड़ी स्वल्प संख्या मे रह जाता है।

इस प्रकार धर्म, आयु, शारीरिक अवगाहना आदि की हीनता के साथ-साथ पचम आरे की समाप्ति के कुछ पूर्व इक्कीसवा कल्की होगा। उसके समय मे वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निदत्त (अग्निल) श्रावक और पगुश्री श्राविका होंगे। कल्की अनेक जनपदो पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपने मत्री से पूछेगा—"क्या मेरे राज्य में ऐसा भी कोई व्यक्ति है जो मेरे वश मे नही है ?"

कल्की यह सुनते ही तत्काल अपने अधिकारियो को मुनि से अग्रपिण्ड लेने का आदेश देगा। वीरागज मुनि राज्याधिकारियो को अग्रपिण्ड देकर स्थानक की ओर लौट पड़ेंगे। उन्हें उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो जायगा और वे अग्निल श्रावक, पगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर कहेंगे —"अब दुष्षमकाल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी और मेरी अब केवल तीन दिन की आयु शेष है। इस समय जो यह राजा है, यह अन्तिम कल्की है। अतः प्रसन्नतापूर्वक हमें चतुर्विध आहार और परिग्रह आदि का त्याग कर आजीवन सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।"

वे चारों तत्काल आहार, परिग्रह आदि का त्याग कर संन्यास सहित कार्तिक कृष्णा, अमावस्या को स्वाति नक्षत्र मे समाधि-मरण को प्राप्त होंगे और सौधर्म कल्प मे देवरूप से उत्पन्न होंगे। उसी दिन मध्याह्न मे कुपित हुए असुर द्वारा कल्की मार दिया जायगा और सूर्यास्तवेला मे भरत क्षेत्र से उसकी सत्ता विलुप्त हो जायगी। कल्की नरक में उत्पन्न होगा। उस दिवस के ठीक तीन वर्ष और साढे आठ मास पश्चात् महाविषम दुष्षमादुष्षम नामक छठा आरक प्रारम्भ होगा।

[तिलोयपण्णत्ती, ४।१५१६-१५३५]

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दार्थानुक्रमणिका

अंग – तीर्थंकरो से अर्थ (वाणी) सुनकर गणधरो द्वारा ग्रथित सूत्र ।

अकल्पनीय – सदोष अग्राह्य वस्तु ।

अघाती-कर्म – आत्मिक गुणो की हानि नही करने वाले आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक चार कर्म ।

अतिशय – सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट गुण ।

अन्तराय-कर्म – लाभ आदि मे बाधा पहुंचाने वाला कर्म ।

अनुत्तरोपपातिक – अनुत्तर-विमान मे जाने वाले जीव ।

अपूर्वकरण गुणस्थान – आठवें गुणस्थान मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण आदि अपूर्व क्रियाए होती है । अतः उसे अपूर्वकरण कहते हैं ।

अभिग्रह – गुप्त प्रतिज्ञा ।

अवग्रह – पाच इन्द्रियो एव मन से ग्रहण किया जाने वाला मति ज्ञान का एक भेद ।

अवसर्पिणीकाल – कालचक्र का दस कोटाकोटि सागर की स्थिति वाला वह अर्द्ध भाग, जिसमे पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श एव प्राणियों की आयु, अवगाहना, सहनन, संस्थान, बल-वीर्य आदि का क्रमिक अपकर्ष होता है ।

अयोगी-भाव – योगरहित चौदहवें गुणस्थान मे होने वाली आत्मपरिणति ।

आचाम्लव्रत – वह तपस्या, जिसमे रूखा भोजन दिन में एक बार अचित्त जल के साथ ग्रहण किया जाता है ।

आरा-अथवा-आरक – अवसर्पिणी एव उत्सर्पिणी के छैः-छैः काल-विभाग ।

उत्सर्पिणी-काल – अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणीकाल के प्रतिलोम (उल्टे) क्रम से उत्कर्षोन्मुख दस कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला काल ।

उपांग – द्वादशांगो मे वर्णित विषय को स्पष्ट करने हेतु श्रुतकेवली अथवा पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचित आगम ।

कल्पवृक्ष – भोग-युग के मानव को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री देने वाले वृक्ष ।

क्षपक श्रेणी — क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मोह-कर्म की प्रकृतियों को क्रमिक क्षय करने की पद्धति।

कालचक्र — दस कोडाकोडी सागर के एक अवसर्पिणीकाल और दस कोडा-कोडी सागर के एक उत्सर्पिणीकाल को मिलाने पर बीस कोडा-कोडी सागर का एक कालचक्र कहलाता है।

कुलकर — कुल की व्यवस्था करने वाला विशिष्ट पुरुष।

केवलज्ञान — ज्ञानावरणीय कर्म को पूर्णरूपेण क्षय करने पर बिना मन और इन्द्रियो की सहायता के केवल आत्मसाक्षात्कार से सम्पूर्ण संसार के समस्त पदार्थों की तीनो काल की सभी पर्यायो को हस्तामलक के समान युगपद् जानने वाला सर्वोत्कृष्ट पूर्णज्ञान।

गच्छ — एक आचार्य का श्रमण परिवार।

गाथापति — एक अत्यन्त वैभवशाली सम्पन्न परिवार का गृहस्वामी।

घाती-कर्म — आत्मिक गुणो की हानि करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म।

च्यवन — देव-गति की आयु पूर्ण कर प्राणी का अन्य गति मे जाना।

छद्मस्थ — ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार छद्म (घाती) कर्मों के आवरणों से आच्छादित आत्मा।

जातिस्मरण-ज्ञान — मति-ज्ञान का वह भेद, जिसके द्वारा प्राणी को अपने एक से लेकर नौ पूर्व-भवो तक का ज्ञान हो जाता है।

— एक मान्यता यह भी है कि जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ९०० पूर्व भवो तक का स्मरण हो सकता है।

जिन — राग-द्वेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाली आत्मा।

देवानुप्रिय — देवो का प्रिय। एक स्नेह पूर्ण सम्बोधन।

द्वादशांगी — गणधरो द्वारा ग्रथित बारह अग शास्त्र।

निकाचित-कर्म — प्रगाढ चिक्कण कर्म-बन्ध, जिसका फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पडता है।

परिणामी-नित्य — विविध अवस्थाओं में परिणमन (परिवर्तन) करते हुए मूल द्रव्य रूप से विद्यमान रहना।

परिषह-परीषह — क्षुधा आदि कष्ट, जो साधुओ द्वारा सहन किये जायें।

पल्योपम — एक योजन (४ कोस) लम्बे, चौडे और गहरे कुए को एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले उत्तरकुरु के यौगलिक शिशुओ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म केश-खण्डो से (प्रत्येक केश के असंख्यात

खण्ड कर) इस प्रकार कूट-कूट कर ठसाठस भर दिया जाय कि यदि उस पर से चक्रवर्ती की पूरी सेना निकल जाय तो भी वह अंश मात्र लचक न पाये, न उसमे जल प्रवेश कर सके और न अग्नि ही जला सके। उसमे से एक-एक केश-खण्ड को सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकालने पर जितने समय मे वह कूआं केश-खण्डो से पूर्णरूपेण रिक्त हो, उतने असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम होता है।

पूर्व — सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व।

पौषध — एक दिन व एक रात तक के लिये चारो प्रकार के आहार व अशुभ-प्रवृत्तियो का त्याग धारण करना।

पौषध शाला — वह स्थान जहाँ पर पौषध आदि धर्म-क्रिया की जाय।

प्रतिक्रमण — अशुभ योगों को त्याग कर शुभ योगों मे जाना।

माण्डलिक-राजा — एक मण्डल का अधिपति।

युग — कृत या सत्ययुग १७,२८,००० वर्ष
— त्रेतायुग १२,९६,००० वर्ष
— द्वापरयुग ८,६४,००० वर्ष
— कलियुग ४,३२,००० वर्ष

कुल ४३,२०,००० वर्ष

ऐसा माना जाता है कि युगो की उत्तरोत्तर घटती हुई अवधि के अनुसार शारीरिक और नैतिक शक्ति भी मनुष्यो मे बराबर गिरती गई है; सम्भवतः इसीलिये कृतयुग को स्वर्णयुग और कलियुग को लौहयुग कहते हैं।

[संस्कृत-हिन्दी कोष वामन शिवराम आप्टे कृत, पेज ८३६, सन् १९६६, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

[संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पेज ८५४, एम. मोन्योर विलियम कृत, १९७० एडीशन]

[युगचतुष्टय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन 'शब्द कल्पद्रुम', चतुर्थ काण्ड, पृष्ठ ४३–४४ पर भी देखें]

रजोहरण — भूमि आदि के प्रमार्जन हेतु काम मे आने वाला जैन श्रमणो का एक उपकरण-विशेष।

लोकान्तिक — ब्रह्म नाम के पाँचवें देवलोक के छः प्रतरो (मंजिलो) मे से तीसरे अरिष्ट नामक प्रतर के पास दक्षिण दिशा मे स्थित त्रसनाड़ी के अन्दर आठो दिशा-विदिशाओं की आठ-कृष्ण, राजियो मे तथा मध्यभाग मे स्थित (१) अर्चि, (२) अर्चिमाल, (३) वैरोचन

(४) प्रभंकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, (८) सुप्रतिष्ठ और (९) रिष्टाभ नामक नौ लोकान्तिक विमानो मे रहने वाले देवो मे से मुख्य ९ देव, जो शाश्वत परम्परा के अनुसार तीर्थंकरो द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से एक वर्ष पूर्व उनसे दीक्षा ग्रहण करने एव संसार का कल्याण करने की प्रार्थना करने के लिये उनके पास आते हैं। ये देव एक भवावतारी होने के कारण लोकान्तिक और विषय-वासना से प्राय. विमुक्त होने के कारण देवर्षि भी कहलाते हैं।

वर्षीदान – दीक्षा-ग्रहण से पूर्व प्रतिदिन एक वर्ष तक तीर्थंकरो द्वारा दिया जाने वाला दान।

विद्याधर – विशिष्ट प्रकार की विद्याओ से युक्त मानव जाति का व्यक्ति-विशेष।

शुक्लध्यान – राग-द्वेष की अत्यन्त मन्द स्थिति मे होने वाला चतुर्थ ध्यान।

शैलेशी अवस्था – चौदहवें गुणस्थान मे मन, वचन एव काय-योग का निरोध होने पर शैलेन्द्र-मेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई स्थिति।

सम्यक्त्व – सम्यक्रूपेण यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान।

स्थविर – दीक्षा, आयु एव ज्ञान की दृष्टि से स्थिरता-प्राप्त व्यक्ति। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रव्रज्यास्थविर, जिनका २० वर्ष का दीक्षाकाल हो, (२) वय-स्थविर, जिनकी आयु ६० वर्ष या इससे अधिक हो गई हो तथा (३) श्रुत-स्थविर, जिन साधुओ ने स्थानाग, समवायाग आदि शास्त्रो का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

सागर–सागरोपम – दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर या सागरोपम कहलाता है।

शब्दानुक्रमणिका

[क] तीर्थंकर, आचार्य, मुनि, राजा, श्रावकादि

(ख)

(ग)

(घ)

(च)

(फ)

(ब)

(भ)

(म)

(ल)

(व)

(ल)

(व)

(श)

(स)

(ह)

[ख] ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

[ग] सूत्र ग्रन्थादि

(घ) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
अंतगड दशा	१ अमोलक ऋषिजी महाराज २. आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज
अग्निपुराण	व्यास
अणुत्तरोववाइय	श्री घासीलालजी महाराज
अभिधान चिन्तामणि	आचार्य हेमचन्द्र
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग १-७	राजेन्द्र सूरि
अमरकोष	अमरसिंह
अरिहन्त अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण	श्रीचन्द रामपुरिया
अशोक के धर्म लेख	जनार्दन भट्ट
आगम और त्रिपिटक-एक अनुशीलन	मुनि श्री नगराजजी
आचारांगसूत्र टीका	
आचारांग सूत्र, भाग १ व २	सम्पादक पुप्फ भिक्खु
आचारांग सूत्र टीका	
आदिपुराण	आचार्य जिनसेन
आप्टे की संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	
आर्य मजुश्री	
आवश्यक-चूर्णि दोनो भाग	आचार्य जिनदास गणि
आवश्यक निर्युक्ति	मलयगिरि
आवश्यक-निर्युक्तिदीपिका	माणिक्य शेखर
आवश्यक मलयवृत्ति, भाग १-३	मलयगिरि
आवश्यक हारिभद्रीय	
इण्डियन एण्टीक्वेरी, वोल्यूम ६	
इण्डियन फिलोसोफी, वोल्यूम १	डॉ राधाकृष्णन्
ईशान संहिता	
उत्तर पुराण	आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
उत्तराध्ययन सूत्र	सम्पादक घासीलाल जी महाराज
उपासकदशा (टीका)	अभयदेव सूरि
उववाई (टीका)	अभयदेव सूरि
ऋग्वेद	
ऋग्वेद-संहिता	
ऋषभदेव-एक अनुशीलन	देवेन्द्र मुनि शास्त्री
एकविंशतिस्थान प्रकरण	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
एन एड्वान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया	आर सी मजूमदार, एच सी राय, राय चौधरी और के.के. दत्ता
एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स	डॉ. हार्नले
एन्शियेन्ट जोग्राफी ऑफ इण्डिया	
एपिटोम ऑफ जैनिज्म, एपेंडिक्स ए.पी. ४	
ओपपातिक सूत्र	आचार्य घासीलाल जी
कम्पेरेटिव स्टडीज दी परिनिब्बान सुत एण्ड इट्स चाइनीज वर्शन	Faιub
कल्प-समर्थन	
कल्पसूत्र-अंग्रेजी अनुवाद	
कल्पसूत्र (गुजराती)	मुनि श्री पुण्य विजयजी
कल्पसूत्र, हिन्दी अ	श्री देवेन्द्र मुनि
कल्पसूत्र किरणावली	
कल्पसूत्र सुबोधा	
कल्पसूत्र (बंगला)	वसतकुमार
कालमाधवीय नागर खण्ड	
कूर्मपुराण	
केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १	
गौतम धर्मसूत्र	
चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स	डॉ राधाकुमुद मुखर्जी
चउप्पन्न महापुरिस चरियं	आचार्य शीलांक
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	आचार्य अमोलक ऋषिजी
जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी	
ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र	श्री घासीलाल जी महाराज
जातक अट्ठकहा	
जैन-दर्शन	महेन्द्र कुमार
जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास	कामता प्रसाद
जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास	पण्डित हीरालाल
जैन परम्परा नो इतिहास भाग १ व २	त्रिपुटी महाराज
जैन सूत्र (एस बी ई) भाग१	
तित्थोगालीपइन्नय	
तिलोय-पण्णत्ति, भाग १ व २	आचार्य यतिवृषभ
त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व १-१०	आचार्य हेमचन्द्र
तीर्थंकर महावीर, भाग १ व २	विजयेन्द्र सूरि
तीर्थंकर वर्धमान	श्रीचन्द रामपुरिया

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
दर्शन दिग्दर्शन	
दर्शनसार	देवसेनाचार्य
दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि	
दशभक्ति	आचार्य पूज्यपाद
दी फिलोसफी ऑफ इण्डिया	
धम्मपद अट्ठकथा	आचार्य बुद्धघोष
धर्मरत्न प्रकाश	
नन्दीश्वर भक्ति	
नारद पुराण	
निरयावलिका	
निशीथसूत्र चूर्णि	
पउम-चरिय	मुनि पुण्य विजयजी
परिशिष्ट पर्व	आचार्य हेमचन्द्र
प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, पूर्व और उत्तर भाग	सिद्धसेन सूरि
प्रश्न व्याकरण	
प्राकृत साहित्य का इतिहास	
पाणिनिकालीन भारत	वासुदेवशरण अग्रवाल
पातञ्जल महाभाष्य	
पार्श्वनाथ	श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म	धर्मानन्द कौशाम्बी
पार्श्वनाथ चरित्र	सकलकीर्ति
पार्श्वनाथ चरित्र	अभयदेवसूरि
पासनाह चरियं	पद्मकीर्ति
पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया	एच सी राय चौधरी
ब्रह्माण्ड पुराण	
बालकाण्ड (वाल्मीकीय रामायण)	
बिलोंग्स ऑफ बुद्धा, भाग२	
भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास भाग १-२	
भगवती सूत्र, हिन्दी अनुवाद	मुनि श्री ज्ञानसुन्दर जी
भगवती सूत्र अभयदेवीया वृत्ति	आगमोदय समिति
भगवान् महावीर	मुनि कल्याण विजयजी
भगवान् महावीर (अंग्रेजी में) १२ जिल्दें	रत्नप्रभ विजयजी
भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध	कामता प्रसाद जैन
भरतेश्वरबाहुबली-वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
भागवत श्रीमद्	व्यास
भारत का वृहद् इतिहास	नेम पाण्डे
भारतीय इतिहास-एक दृष्टि	
भारतीय प्राचीन लिपिमाला	रायबहादुर प गौरीशकर हीराचन्द ओझा
भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान	
भाव सग्रह	
मज्झिम निकाय	
मनुस्मृति	
महापुराण	आचार्य जिनसेन
महाभारत, १ से १८ पर्व	व्यास
महावीर कथा	प गोपाल दास
महावीर चरित्र	आचार्य नेमिचन्द्र
महावीर चरिय	आचार्य गुणभद्र
महावीर नो संयम धर्म	
मूलाचार	
मोन्योर मोन्योर संस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी	सर एम मोन्योर
यजुर्वेद	दामोदर सातवलेकर संस्करण
योगसूत्र	पतजलि
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
रायपसेणी	
लिंगपुराण	
लोक-प्रकाश	
वशिष्ठ स्मृति	
वसुदेव हिण्डी, प्रथम खण्ड	सघदास गणि
वसुदेव हिण्डी, द्वितीय खण्ड	सघदास गणि
वृहत्कल्प भाष्य	
वाजसनेयि माध्यदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता	
वायुपुराण	
वाराहपुराण	
विचार श्रेणी	
विपाकसूत्र	
विविध तीर्थकल्प	
विशेषावश्यक भाष्य	हेमचन्द्र सूरि
विशेषावश्यक वृहद् वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
विष्णु-पुराण	व्यास
वीर विहार मीमासा	
वीर निर्वाण सवत् और जैन कालगणना	मुनि कल्याण विजयजी
वैजयन्ती कोष	
शिवपुराण	
षट् खण्डागम	
सत्तरिसय प्रकरण	सोमतिलक सूरि
समवायांगसूत्र	प घासीलालजी द्वारा सम्पादित
समवायागवृत्ति	
स्कन्ध-पुराण	
स्थानागसूत्र	अमोलक ऋषिजी
स्थानांगसूत्र-टीका	
साइनो इण्डियन स्टडीज, वोल्यूम १ जुलाई १९४५	
सुत्तनिपात	
सुत्तागमे	धर्मोपदेष्टा फूलचन्द जी म
सुमंगल विलासिनी (दीर्घकाय अट्ठकहा)	
सूत्र कृताग	
सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट	
हरिवंशपुराण	आचार्य जिनसेन
हरिवशपुराण	व्यास
हिस्टोरिकल बिगिनिंग्स ऑफ जैनिज्म	
हिस्ट्री एण्ड डोक्टाइन्स ऑफ आजीवकाज	ए एल बाशम